कलशामृत-५

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी समयसार कलश टीका के सन् १९७७-७८ के प्रवचन)

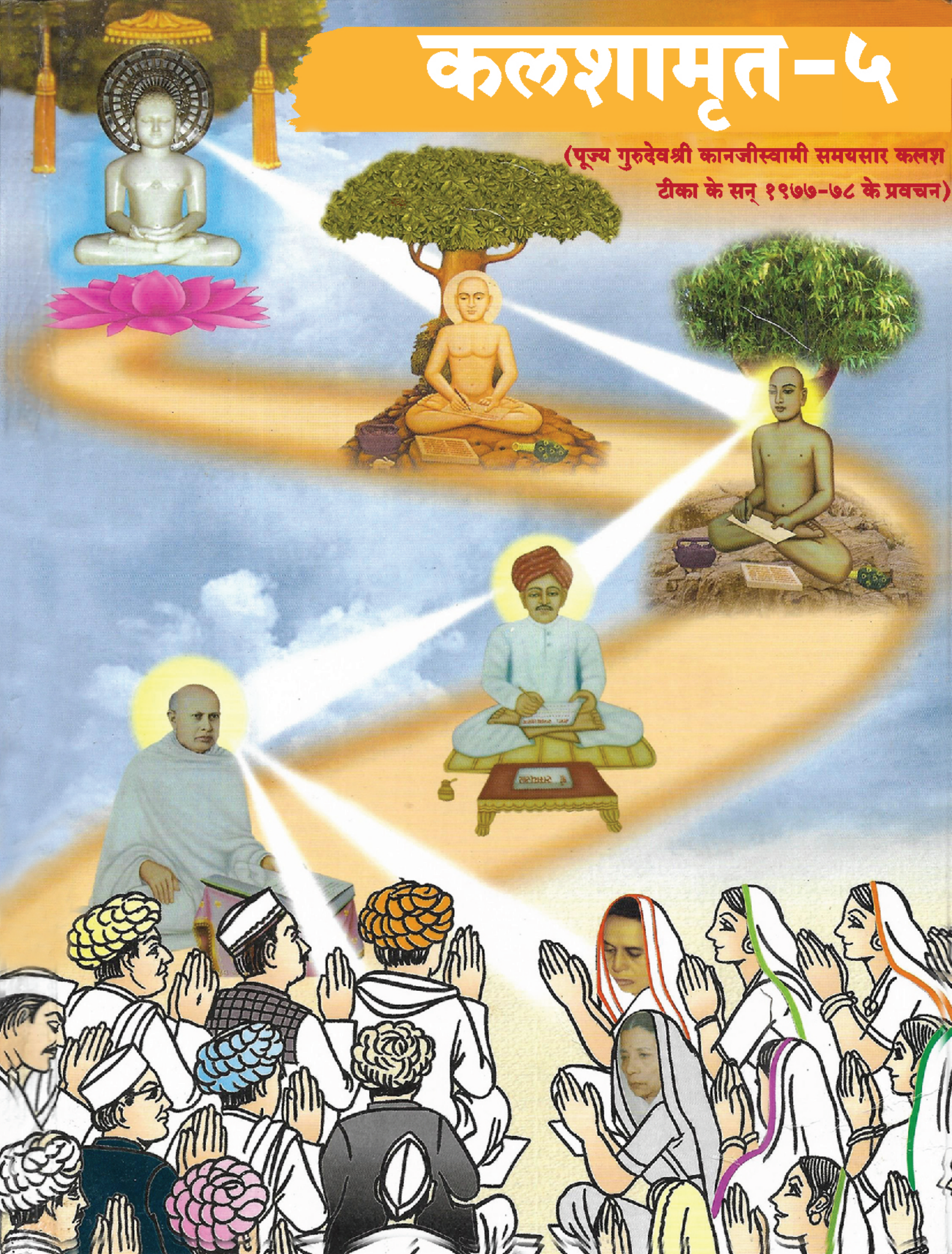

ॐ

परमात्मने नमः

कलशामृत

(समयसार कलशटीका प्रवचन)

भाग-5

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत **परमागम समयसार** की **श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव** रचित **आत्मख्याति टीका** में समागत **समयसार कलश** की **पाण्डे राजमलजी** कृत टीका पर **परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के स्वानुभव मुद्रित आध्यात्मिक शब्दशः प्रवचन

कलश 153 से 185 तक, प्रवचन नं. 161 से 205 तक

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2080	2550	2023

—: प्रकाशन :—

तीर्थधाम स्वर्णपुरी-सोनगढ़ में आयोजित

श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव

के अवसर पर दिनांक **19 जनवरी से 25 जनवरी 2024**

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर

अलीगढ़।

प्रकाशकीय

वर्तमान तीर्थ के नायक चरम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान से प्रगट हुई दिव्यध्वनि की परम्परा में द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना हुई। लगभग 2000 वर्ष पूर्व श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए, जिनका स्थान जैन परम्परा में सर्वोत्कृष्ट है। उन्होंने सदेह विदेहक्षेत्र की यात्रा की, श्री सीमन्धर भगवान के साक्षात् दर्शन की, उनकी वाणी सुनी। वहाँ से वापस आकर वर्तमान में उपलब्ध शास्त्रों में सर्वोत्कृष्ट शास्त्र श्री समयसारजी रचना की।

भगवान 1000 वर्ष पूर्व श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य नामक प्रखर आचार्य हुए। उन्होंने श्री समयसारजी शास्त्र की टीका की तथा मन्दिर पर शोभित कलश की भाँति टीका पर कलशरूपी श्लोकों की रचना की।

कालक्रम से जैसे-जैसे जीवों का क्षयोपशम घटता गया, वैसे-वैसे आचार्य भगवन्तों के भाव जीवों को समझना कठिन लगने से, श्री पण्डित राजमलजी पाण्डेय ने अमृतचन्द्राचार्य के कलशों पर सादी-देशभाषा में टीका की। इस टीका में उन्होंने श्लोक के शब्दों के सीधे अर्थ करते हुए उनके अनुभवगर्भित साररूप भावार्थसहित टीका की रचना की।

श्री समयसारजी शास्त्र पर बहुत आचार्यों तथा ज्ञानी विद्वानों ने टीका लिखी है। परन्तु पण्डित श्री राजमलजी की टीका पूज्य गुरुदेवश्री को इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने इसका अनुवाद करने की प्रेरणा की, उस पर सादी भाषा में भाववाही प्रवचन प्रदान किये।

इन प्रवचनों के क्रम में कलशामृत भाग 5 प्रकाशित करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस पाँचवें भाग में गुरुदेवश्री के निर्जरा अधिकार, बन्ध अधिकार तथा मोक्ष अधिकार के कुछ कलशों पर प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कलश नं. 153 से 185 तक के प्रवचन संग्रहीत हैं, इस प्रत्येक अधिकार में उस-उस तत्त्व का स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट करके, उस प्रत्येक श्वान से रहित अपना त्रिकाली शुद्धात्मा बतलाने का ही आचार्य भगवन्तों से लेकर पूज्य गुरुदेवश्री के तक के प्रत्येक धर्मात्मा का आशय है। उस आशय को समझकर हम भी शुद्धात्म द्रव्य की दृष्टि प्रगट करे, यही भावना है।

पूज्य गुरुदेवश्री की स्वानुभवमयी वाणी जीवों को पंचम काल के अन्त तक स्वानुभव में निमित्त होनेवाली है इस परम्परा में ही यह प्रकाशन एक कड़ी है। इन प्रवचनों के अर्थों का जीव जब इनका अध्ययन / श्रवण करेंगे तभी ख्याल में आयेगा। इसलिए इस सम्बन्धी विशेष विस्तार न करते हुए मुमुक्षु इसका गहराई से अभ्यास करें, ऐसी अपेक्षा रखते हैं।

हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज भी इन प्रवचनों का लाभ प्राप्त कर आत्महित साधे इस उद्देश्य से प्रस्तुत कलशामृत भाग – 5 का हिन्दी रूपान्तरण एवं सी.डी. से मिलान कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। हम सभी सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्त में परिपूर्ण परमात्मा का स्वरूप समझकर, संवररूप धर्म प्रगट करके आत्मिक आनन्द को आस्वादकर सभी जीव तृप्त बनें ऐसी भावनापूर्वक....

प्रस्तुत ग्रन्थ www.vitragvani.com पर उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग

करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया।

गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त

दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो

कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।

2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।

3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।

4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।

5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।

6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।

7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।

8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।

9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖❖❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन	कलश	दिनांक	पृष्ठ सं.
१६१	१५३-१५४	२८-११-१९७७	००१
१६२	१५४	२९-११-१९७७	०२०
१६३	१५४-१५५	३०-११-१९७७	०३३
१६४	१५५	०१-१२-१९७७	०५३
१६५	१५६	०३-१२-१९७७	०६८
१६६	१५७	०४-१२-१९७७	०८५
१६७	१५८	०५-१२-१९७७	१०२
१६८	१५९	०६-१२-१९७७	११८
१६९	१६०	०७-१२-१९७७	१३२
१७०	१६१	०८-१२-१९७७	१४८
१७१	१६२	०९-१२-१९७७	१६५
१७२	१६३	११-१२-१९७७	१८०
१७३	१६३-१६४	१२-१२-१९७७	१९६
१७४	१६४-१६५	१३-१२-१९७७	२१३
१७५	१६६	१४-१२-१९७७	२२९
१७६	१६७	१५-१२-१९७७	२४५
१७७	१६७-१६८	१६-१२-१९७७	२६१
१७८	१६९	१८-१२-१९७७	२७८
१७९	१७०-१७१	१९-१२-१९७७	२९४
१८०	१७२-१७३	२०-१२-१९७७	३११
१८१	१७३	२१-१२-१९७७	३२९
१८२	१७३	२२-१२-१९७७	३४५

১৮৩	১৭৩	২৩-১২-১৯৭৬	৩৬০
১৮৪	১৭৩-১৭৫	২৫-১২-১৯৭৬	৩৭৬
১৮৫	১৭৫	২৬-১২-১৯৭৬	৩৯৬
১৮৬	১৭৬	২৬-১২-১৯৭৬	৪১৬
১৮৬	১৭৬-১৭৮	২৮-১২-১৯৭৬	৪৩৫
১৮৮	১৭৮	২৯-১২-১৯৭৬	৪৫৩
১৮৯	১৭৮-১৭৯	৩০-১২-১৯৭৬	৪৬৯
১৯০	১৭৯	৩১-১২-১৯৭৬	৪৮৬
১৯১	১৭৯-১৮০	০১-০১-১৯৭৮	৫০২
১৯২	১৮০-১৮১	০৩-০১-১৯৭৮	৫১৬
১৯৩	১৮১	০৪-০১-১৯৭৮	৫৩৫
১৯৪	১৮১	০৫-০১-১৯৭৮	৫৫০
১৯৫	১৮১	০৬-০১-১৯৭৮	৫৬৩
১৯৬	১৮১	০৬-০১-১৯৭৮	৫৬৬
১৯৬	১৮১	০৮-০১-১৯৭৮	৫৯০
১৯৮	১৮১	১০-০১-১৯৭৮	৬০৪
১৯৯	১৮২	১১-০১-১৯৭৮	৬১৬
২০০	১৮৩	১২-০১-১৯৭৮	৬২৯
২০১	১৮৩-১৮৪	১৩-০১-১৯৭৮	৬৪৪
২০২	১৮৪	১৪-০১-১৯৭৮	৬৬০
২০৩	১৮৫	১৪-০১-১৯৭৮	৬৬৬
২০৪	১৮৫	১৫-০১-১৯৭৮	৬৯১
২০৫	১৮৫	১৫-০১-১৯৭৮	৬০৬

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

कलशामृत

(अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
श्री समयसार कलश पर प्रवचन)
(भाग - ५)

— ७ —
निर्जरा अधिकार

कलश - १५३

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।२१-१५३।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'येन फलं त्यक्तं स कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः' [येन] जिस सम्यग्दृष्टि जीव ने [फलं व्यक्तं] कर्म के उदय से है जो भोगसामग्री, उसका [फलं] अभिलाष-[त्यक्तं] सर्वथा ममत्व छोड़ दिया है, [सः] वह सम्यग्दृष्टि जीव, [कर्म कुरुते] ज्ञानावरणादि कर्म को करता है, [इति वयं न प्रतीमः] ऐसी तो हम प्रतीति नहीं करते। भावार्थ इस प्रकार है कि जो कर्म के उदय के प्रति उदासीन है, उसे कर्म का बन्ध नहीं है; निर्जरा है। 'किन्तु' कुछ विशेष — 'अस्य अपि' इस सम्यग्दृष्टि के भी 'अवशेन कुतः अपि किञ्चित् अपि कर्म आपतेत्' [अवशेन] बिना ही अभिलाष किये,

बलात्कार ही [कुतः अपि किञ्चित् अपि कर्म] पहले ही बाँधा था जो ज्ञानावरणादि कर्म, उसके उदय से हुई है जो पंचेन्द्रियविषयभोगक्रिया, वह [आपतेत्] प्राप्त होती है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार किसी को रोग, शोक, दारिद्र बिना ही वांछा के होता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव के जो कोई क्रिया होती है, सो बिना ही वांछा के होती है। 'तस्मिन् आपतिते' अनिच्छक है सम्यग्दृष्टि पुरुष, उसको बलात्कार होती है भोगक्रिया, उसके होते हुए 'ज्ञानी किं कुरुते' [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव, [किं कुरुते] अनिच्छक होकर, कर्म के उदय में क्रिया करता है, तो क्रिया का कर्ता हुआ क्या? 'अथ न कुरुते' सर्वथा क्रिया का कर्ता, सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है। किसका कर्ता नहीं है? 'कर्म इति' भोगक्रिया का। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'जानाति कः' ज्ञायकस्वरूपमात्र है। तथा कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'अकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितः' निश्चल परमज्ञानस्वभाव में स्थित है।।२१-१५३।।

कार्तिक कृष्ण ३, सोमवार, दिनांक-२८-११-१९७७, कलश-१५३-१५४, प्रवचन-१६१

कलश टीका (१५३ वें कलश की) अन्तिम दो लाईनें हैं। **सर्वथा क्रिया का कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है।** क्या कहते हैं? जिसे आत्मा राग के विकल्प से भिन्न चैतन्य अखण्ड आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव होकर दृष्टि हुई है। उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अनन्त काल में इसने एक सेकेण्डमात्र भी पर से भिन्न उसका अभ्यास किया नहीं। वह पर से भिन्न हो। शरीर, वाणी, मन तो पर है, परन्तु जो शुभविकल्प—राग, दया, दान आदि उठता है, उससे भी अन्दर चीज़ भिन्न है। और अपने अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञानस्वभाव से वह अभिन्न है। राग से भिन्न है और अपनी अनन्त-अनन्त शक्तियाँ—स्वभाव-गुण है, उनसे वह अभिन्न है। ऐसा जिसे अन्तर में (अभिन्नपना हुआ वह) धर्म की पहली श्रेणी है।

चैतन्य वस्तु परमानन्द ऐसा दृष्टि में लेकर अनुभव करके आनन्द का स्वाद आया हो, उसके स्वाद में प्रतीति आवे कि यह पूरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है। ऐसा है। इसका नाम सम्यग्दृष्टि है। यह सम्यग्दृष्टि भोगक्रिया का कर्ता नहीं। **कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? ज्ञायकस्वरूपमात्र है।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! वह तो जाननस्वभाव—

जानना, देखना, आनन्द, वह उसका त्रिकाली स्वभाव है। उस स्वभाव का जिसने आश्रय लिया, वह ज्ञायकस्वरूपी जीव है। उसे भोग की क्रिया हो। वह तो भोग की बात कही है। वह तो कल स्पष्ट किया था। पर की क्रिया, यह तो निमित्त से कथन है। पर को अज्ञानी आत्मा भी स्पर्श नहीं कर सकता। यह तो (समयसार की) तीसरी गाथा में आया था। स्वयं भगवान आत्मा अनन्त गुण और उसकी निर्मल पर्याय, उसका अपना अनन्त स्वभाव है, उसे चूमता है, उसे वह स्पर्श करता है परन्तु अन्य द्रव्य को तीन काल में चूमता नहीं। आत्मा के अतिरिक्त कर्म, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार (आदि) परपदार्थ को तो वह कभी स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! तथापि यहाँ कहते हैं कि भोगक्रिया करता है, ऐसा कहा। कल यह स्पष्टीकरण किया था।

यह पूर्व के पुण्य के कारण जो सामग्री मिली है, अरे! पाप के कारण से प्रतिकूल (सामग्री मिली तो) जरा पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण जरा आसक्ति का भाव आवे (तो) वह भोग को भोगता है, ऐसा कहा जाता है, तथापि उसमें सुखबुद्धि उड़ गयी है।आहाहा! मेरा आत्मा आनन्दस्वरूप है, वह आनन्द का पिण्ड है! ऐसे आत्मा के आनन्द के स्वाद के (और) भान के कारण उसे भोग की क्रिया की मिठास नहीं है। आहाहा! उसे जहररूप जानता है। इसलिए उसे बन्धन नहीं, ऐसा यहाँ कहना है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया? है?

वह तो **ज्ञायकस्वरूप मात्र है...** वह तो जाननेवाला-देखनेवाला है। जैसे मिथ्यादृष्टिरूप से राग आदि का सर्व का कर्ता मानता था, वहाँ आत्मा के भान में सर्व का ज्ञाता मानता है। यह दृष्टि में अन्तर है। अज्ञानरूप से अपना आनन्द ज्ञानस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का दल! उसे भूलकर राग के कण को भी करे और कर्ता (हो) तो वह ज्ञातापना है, वह उसे छूट गया है। पर का कर्ता होकर वहाँ रुक गया है। धर्मी, अज्ञानी जैसा एक का कर्ता है तो अनन्त का कर्ता (होता है), उसी प्रकार धर्मी एक ज्ञानस्वरूप का जाननेवाला (हुआ) तो वह सभी का जाननेवाला (होता है)। आहाहा! स्व को ज्ञानानन्दरूप से जाने और पर को परज्ञेयरूप से जाने ऐसी बातें हैं। वह ज्ञायकस्वभावमात्र है। धर्मी तो (उसे कहते हैं कि) जिसका जाननेवाला-देखनेवाला ही स्वभाव है। स्वभाववान आत्मा का यह स्वभाव है।

चैतन्यपुंज जलहलज्योति ज्ञायकभाव वह उसका-धर्मी का स्वभाव है। राग का करना या पर के भोग की मिठास का होना, वह अब धर्मी को नहीं है। चाहे तो इन्द्र के इन्द्रासन समकिती हो तो भी उसकी ओर का जो विकल्प उठता है, उसे वह जहररूप जानता है। अथवा उसे ज्ञातारूप जानता है। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञायकस्वभाव को नहीं जानता। पुण्य और पाप आदि के भाव जो विकृतभाव, जो इसका स्वभाव नहीं, उसे रचता, कर्ता, भोक्ता हुआ मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसा है।

इसलिए कहते हैं कि धर्मी तो ज्ञायकस्वभावमात्र है। देखा? मात्र (कहा है)। राग नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं, भोग की सामग्री भी नहीं, वह तो ज्ञायकमात्र है। आहाहा! सूर्य का जैसा प्रकाश स्वभाव है, वैसा चैतन्य का ज्ञायकप्रकाश स्वभाव है। राग हो उसे जाने, द्वेष हो उसे जाने, त्रिकाली को जाने, निमित्त (कि) जिन्हें स्पर्श नहीं करता परन्तु उन्हें भी स्व में रहकर पर को जाने। आहाहा! ऐसा स्वरूप!

कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? है? अन्तिम शब्द है। '**अकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितः**' **निश्चल परम ज्ञानस्वभाव में स्थित है।** यह ज्ञानस्वभाव जो ध्रुव नित्य उसका स्वरूप है, उसमें पर्याय से स्थित है। ध्रुव तो त्रिकाल स्थित है। ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु ध्रुव तो त्रिकाल है। धर्मी उसमें स्थित है। आहाहा! वह राग में आवे तो भी वह ज्ञान में स्थित है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें, इसलिए लोगों को यह बात बैठती नहीं और (इसलिए) बेचारे विरोध करते हैं। अटपटी बातें हैं, भाई! आहाहा!

यह तो **निश्चल परम ज्ञानस्वभाव में स्थित है।** अर्थात् कि उसे रागादि आवे परन्तु उसमें वह स्थित नहीं है। आहाहा! वह जैसे अपने स्वरूप को जानता है, वैसे अपने में रहकर राग को जानता है। तो वह अपने ज्ञानस्वरूप में स्थित है। आहाहा! वह मकान में रहा है या पैसा और व्यापार-धन्धे में खड़ा हो तो खड़ा है, वह ज्ञान में है। बाहर में वह खड़ा नहीं। आहाहा! अज्ञानी पंच महाव्रत पालन करे, व्यवहार दया, दान आदि (करे) परन्तु (वह) ज्ञायक में स्थित नहीं, वह राग में स्थित है। ऐसा दृष्टि में अन्तर है। आहाहा! यह श्लोक पूरा हुआ।

कलश - १५४

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि।।२२-१५४।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सम्यग्दृष्टयः एव इदं साहसं कर्तुं क्षमन्ते' [सम्यग्दृष्टयः] स्वभावगुणरूप परिणमी है जो जीवराशि, वह [एव] एवं निश्चय से [इदं साहसं] ऐसा धीरपना [कर्तुं] करने के लिए [क्षमन्ते] समर्थ होती है। कैसा है साहस? 'परं' सबसे उत्कृष्ट है। कौन साहस? 'यत् वज्रे पतति अपि अमी बोधात् न हि च्यवन्ते' [यत्] जो साहस ऐसा है कि [वज्रे पतति अपि] महान् वज्र के गिरने पर भी [अमी] सम्यग्दृष्टि जीवराशि, [बोधात्] शुद्धस्वरूप के अनुभव से, [न हि च्यवन्ते'] सहजगुण से स्खलित नहीं होती है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई अज्ञानी ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीव के सातकर्म के उदय अनेक प्रकार इष्ट भोगसामग्री होती है; असातकर्म के उदय अनेक प्रकार रोग, शोक, दारिद्र, परीषह, उपसर्ग इत्यादि अनिष्टसामग्री होती है, उसको भोगते हुए, शुद्धस्वरूप अनुभव से चूकता होगा। उसका समाधान इस प्रकार है कि अनुभव से नहीं चूकता है; जैसा अनुभव है, वैसा ही रहता है; वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है। कैसा है वज्र? 'भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि' [भय] वज्र के गिरने पर, उसके त्रास से [चलत्] चलायमान, ऐसी जो [त्रैलोक्य] सर्व संसारी जीवराशि, उसके द्वारा [मुक्त] छोड़ी गई है, [अध्वनि] अपनी-अपनी क्रिया जिसके गिरने पर, ऐसा है वज्र। भावार्थ इस प्रकार है — ऐसा है उपसर्ग-परीषह, जिनके होनेपर, मिथ्यादृष्टि को ज्ञान की सुध नहीं रहती है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? 'स्वं जानन्तः' [स्वं] शुद्धचिद्रूप को [जानन्तः] प्रत्यक्षरूप से अनुभवते हैं। कैसा है स्व? 'अबध्यबोधवपुषं' [अबध्य] शाश्वत जो [बोध] ज्ञानगुण, वह है [वपुषं] शरीर जिसका, ऐसा है। क्या करके (अनुभव करता है?) 'सर्वां एव शंकां विहाय' [सर्वां एव] सात प्रकार के [शंकां] भय को [विहाय] छोड़कर। जिस प्रकार भय छूटता है, उस प्रकार कहते हैं — 'निसर्गनिर्भयतया' [निसर्ग]

स्वभाव से [निर्भयतया] भय से रहितपना होने से। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीवों का, निर्भय स्वभाव है; इस कारण, सहज ही अनेक प्रकार के परीषह-उपसर्ग का भय नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को कर्म का बन्ध नहीं है; निर्जरा है। कैसे है निर्भयपना? 'स्वयं' ऐसा सहज है।।२२-१५४।।

कलश - १५४ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्बध्नेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि।।२२-१५४।।

श्लोक १५४। यह निर्जरा का अधिकार है न? अर्थात् सम्यग्दृष्टि को रागादि होते हैं, वह भी निर्जरित हो जाते हैं, इतना सिद्ध करना है। दृष्टि की प्रधानता से कथन है। समझ में आया? आहाहा! उसके साथ ज्ञान जो है, वह ज्ञान तो राग का कण भी परिणमता है तो मानो कि यह मेरा अपराध है। समझ में आया? ज्ञान ऐसा जाने। दृष्टि के विषय को, त्रिकाल द्रव्य जिसका विषय है, ऐसी दृष्टि के विषय में तो राग उसका विषय नहीं। इसलिए राग उसमें नहीं और राग उसका होता नहीं, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! परन्तु साथ में ज्ञान है, सम्यग्दृष्टि का ज्ञान! वह तो राग का कण भी परिणमता है, वह भी मुझसे (हुआ) मेरा अपराध है, ऐसा वह ज्ञान जानता है। समझ में आया? आहाहा!

एक खूँटे बाँधो न! बहुत बार (भाई) कहते हैं। यहाँ अनेकान्त है, उसका खूँटा यह है। आहाहा! जहाँ आनन्द का नाथ दृष्टि में आया, भगवत्स्वरूप आत्मा की सम्यग्दर्शन में जहाँ भेंट हुई, उसके प्रेम के समक्ष उसे कोई राग का कण आदि आवे या साता के उदय के कारण सामग्री (मिले), अरबों सामग्री हो, वहाँ उसे प्रेम नहीं आता। आहाहा! और असाता के उदय के कारण... यह अब कहेंगे (कि) घोर वेदना (आवे), कोई बात करे कि अब यह वेदना शरीर में आयेगी, ऐसा सुनकर भी सम्यग्दृष्टि को भय नहीं होता।

तीन लोक के देव—स्वर्ग के भवनपति के, व्यन्तर, राजा, सेठिया जिनका नाम सुने कि ऐसा रोग आने के लक्षण दिखते हैं कि पूरे शरीर में कीड़े पड़ेंगे, ऐसा सुनकर कहते हैं कि जगत के प्राणी अपनी दशा को छोड़ नहीं सकते, भय में आ जाते हैं। सम्यग्दृष्टि ऐसी बात सुनने पर भी मेरा '**वपु**' शरीर-ज्ञानशरीर को कोई रोग आता ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह कहते हैं।

'**सम्यग्दृष्टयः एव इदं साहसं कर्तुं क्षमन्ते**' **सम्यग्दृष्टि....** यह निश्चय सम्यग्दृष्टि की बात है, हों! व्यवहार सम्यग्दर्शन, वह कोई सम्यग्दर्शन नहीं है। वह तो राग में व्यवहार करके आरोपित किया है। व्यवहार सम्यग्दर्शन तो एक राग है परन्तु निश्चय समकित का वहाँ आरोप देकर व्यवहार समकित कहा है। वह (समकित) है नहीं। यह जो सम्यग्दृष्टि है, (वह) निश्चय है। आहाहा! पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान की जिसे भेंट हुई, अनुभव हुआ है। आहाहा! भले गृहस्थाश्रम में हो।

कहते हैं कि, **सम्यग्दृष्टि अर्थात् स्वभावगुणरूप परिणामी है जो जीवराशि...** आहाहा! समकितदृष्टि एक ही नहीं। असंख्य सम्यग्दृष्टि हैं। सिद्ध और केवली यहाँ लेना नहीं, वे तो अनन्त हैं। यह तो समकितदृष्टि जीव राशि। तिर्यंच में भी असंख्य सम्यग्दृष्टि हैं! पशु में! आहाहा! स्वर्ग में भी असंख्य समकिती हैं, नरक में असंख्य समकिती हैं। सातवें नरक में भी हैं। आहाहा!

ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव की राशि! क्या है? वह तो स्वभावगुणरूप परिणमा है। आहाहा! पुण्य और पाप के विभावरूप परिणमन जिसे छूट गया है। अभी दृष्टि की अपेक्षा से बात है न? वह विभाव परिणमन ज्ञाता में जाता है, उसे जाने। अर्थात् कि जिसे शुद्ध स्वभाव का परिणमन हुआ है। क्योंकि आत्मा पवित्र और शुद्धता का पिण्ड है। उसका जिसे दर्शन हुआ, उसकी प्रतीति हुई, उसका ज्ञान करके श्रद्धा हुई, वह शुद्धरूप परिणमा है। आहाहा! ऐसी बातें!

यह छह खण्ड के राज में पड़ा हो। परन्तु अभी समकितदृष्टि और उसका विषय अखण्ड की अपेक्षा से वह शुद्धरूप ही परिणमा है। समझ में आया? वह अशुद्धपने परिणमता ही नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। अशुद्धपना है, उसे जानता है। वह ज्ञानस्वभाव

शुद्धपने परिणमता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं लेना कि अशुद्ध है तो उसे बिल्कुल अशुद्धता का वेदन ही नहीं है। ज्ञान से जब ज्ञान जाने, (तब) त्रिकाली को भी जाने, निर्मल पर्याय को जाने और मलिन को भी मुझमें है, ऐसा जाने। आहाहा! समझ में आया?

चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध कहा। वह अभी सिद्ध नहीं। केवल (ज्ञान) हुआ तो भी चौदहवें तक असिद्ध है। असिद्ध है, अर्थात् अभी दोष की दशा है या नहीं? दोष अर्थात् भले कम्पन गया, परन्तु अभी कुछ है या नहीं? प्रतिजीवी गुण का विरुद्ध परिणमन वहाँ कुछ है। आहाहा! तो उसे—चौदहवें गुणस्थानवाले को अभी संसारी कहा, सिद्ध नहीं कहा। क्योंकि उतना भी अभी (अशुद्धता का अंश है)। शुद्ध अनुजीवी गुण तो निर्मल हुए परन्तु प्रतिजीवी गुण हैं, वे अभी निर्मल हुए नहीं। वह तो छूट जाये—सिद्ध हो तब निर्मल होंगे। इस अपेक्षा से उस—चौदहवें गुणस्थानवाले को भी संसारी कहा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि हुआ, तब से उसे राग का परिणमन ही नहीं। किस अपेक्षा से? समझ में आया? आहाहा! केवली हुए तो भी अभी चार कर्म बाकी हैं, उतनी अशुद्धता है। आहाहा! वह जब ज्ञान से बात हो, तब ज्ञान तो स्व को और पर को दोनों को जैसा है, वैसा जाने। यहाँ दृष्टिप्रधान के कथन में ऐसे भेद जो अशुद्ध आदि के हैं, उसरूप सम्यग्दृष्टि परिणमता नहीं, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। अर्थात् कि मेरेपनेरूप परिणमता नहीं, इसलिए अशुद्धपने परिणमता नहीं। अरे... अरे...! ऐसी बातें अब! आहाहा! है?

स्वभावगुणरूप परिणामी है... अब इसमें लोग ऐसा ले लेते हैं कि सम्यग्दृष्टि हुआ तो समाप्त, उसे अशुद्धता है ही नहीं और दुःख नहीं। अशुद्धपना नहीं इसलिए दुःख नहीं। अशुद्धपना, वही दुःख है। वह ज्ञानप्रधान का (कथन) हो, तब वे दोनों बराबर साथ में चाहिए। सम्यग्दृष्टि का विषय और ज्ञान का स्व और पर का विषय दोनों यथार्थ चाहिए। आहाहा! भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर, आहाहा! त्रिलोकनाथ किस अपेक्षा से कहते हैं, उस अपेक्षा से इसे जानना चाहिए।

यह किस नय का वाक्य है? यह निश्चय दृष्टि का, निश्चयनय का वाक्य है। पर्यायनय का जब वाक्य आवे, तब तो उसे ऐसा कहे कि केवली हुए परन्तु अभी उनके प्रतिजीवी गुण मलिन हैं। आहाहा! देखो! यह प्रभु का अनेकान्त मार्ग! यह अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यह तो शुद्धपने परिणमा है, अशुद्ध है ही नहीं। किस अपेक्षा से? दृष्टि और दृष्टि का विषय दोनों शुद्धरूप से है, इस अपेक्षा से शुद्धपने परिणमा है, ऐसा कहा। और निर्जरा का अधिकार है, इसलिए वह अशुद्धपना, शुद्धपने के परिणमन से अशुद्धपना टल जाता है, ऐसा कहना है। परन्तु इससे (कोई) ऐसा ही कहे कि ज्ञानी को तो अशुद्ध(पना) क्षण-क्षण टलता है; इसलिए अशुद्धता (है ही नहीं)। परन्तु टलता है तो एक समय में सभी अशुद्धता टल जाती है? टलती है, यह बात सच्ची है। जितना द्रव्य का आश्रय है, उतनी अशुद्धता तो समय-समय में घटती जाती है, परन्तु घटती जाती है, इसलिए फिर कुछ है ही नहीं? (अशुद्धता) होवे तो उसमें से घटना (हो), हो ही नहीं तो घटने का कहाँ आया? बात समझ में आती है? आहाहा! अभी अन्दर अशुद्धता है। आहाहा!

महा मुनि हैं, तीन कषाय का अभाव (हुआ है) और जिन्हें प्रचुर आनन्द का वेदन है, उन्हें भी अभी पंच महाव्रत के परिणाम (होते हैं), वह जगपंथ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उन्हें भी अभी उतना संसार है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अशुभपने परिणमता नहीं। वह शुद्ध की दृष्टि है और उसका विषय शुद्ध है। इसलिए शुद्धपने परिणमता है, ऐसा कहा है। आहाहा! अब ऐसा सब कहाँ मिलान करने जाये? एकान्त खींचे तो नहीं चलता, यह वीतरागमार्ग है। आहाहा!

उसमें आया है, नहीं? '**असिद्धत्वात्**' परमार्थ वचनिका में। असिद्धत्व है, वहाँ तक संसार है, वहाँ तक व्यवहार है। सिद्ध को व्यवहार नहीं। वरना तो सिद्ध की पर्याय है, वह व्यवहार है परन्तु उन्हें व्यवहार नहीं। वह तो श्रुतज्ञानी जब अपने ज्ञान में निश्चय से जब भेद जानता है कि संसार और सिद्ध ऐसी जीव की दो दशायें हैं, वह व्यवहार से है। निश्चय से द्रव्य में वह संसार अवस्था या मोक्ष अवस्था दोनों नहीं हैं। ऐसी बातें!

है न उसमें ? '**असिद्धत्वात्**' आहाहा ! मोक्षमार्गप्रकाशक में पीछे (प्रकाशित किया है) । जब तक सिद्ध नहीं, वहाँ तक असिद्ध है और वहाँ तक अभी उसे अशुद्धता है। आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को अकेला शुद्ध परिणमन है। वह परिणमन ज्ञाता-दृष्टारूप से गिनकर, अशुद्धता को भी वह जाननेवाला है, मेरा मानकर परिणमता नहीं, इस अपेक्षा से शुद्धरूप परिणमता है, ऐसा कहा है। उसमें जरा आड़ा-टेढ़ा फेरफार करे तो तत्त्व—पूरी बात बदल जाये। समझ में आया ? आहाहा !

सम्यग्दृष्टि स्वभावगुणरूप परिणामा है... स्वभावगुणरूप परिणामा है... त्रिकाली जो ज्ञायक स्वभाव है, आनन्द आदि अनन्त जो स्वाभाविक गुण हैं, उनरूप परिणमा है। आहाहा ! 'सर्वगुणांश, वह समकित'। ऐसा आया न ? श्रीमद् में। अपने रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में (पीछे चिट्ठी प्रकाशित है) सम्यग्दृष्टि को जितने गुण हैं, वे एकदेश प्रगट हुए हैं और सर्वज्ञ को पूर्ण प्रगट हो गये हैं। है चिट्ठी ? टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी ! आहाहा ! वहाँ ऐसा कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को... श्रीमद् ने ऐसा कहा न ? 'सर्वगुणांश, वह समकित।' सर्व गुण प्रगट हो गये। सर्व गुण का अंश प्रगट हुआ है। भाई ! ऐसी बातें अब। और (रहस्यपूर्ण चिट्ठी में) ऐसा कहा कि, सर्व गुण एक अंश—एकदेश परिणमित हुए हैं। परिणमित हुए हैं, हों ! गुण तो गुण पूरे हैं, परन्तु एकदेश परिणमित हुए है, तब दूसरा देश अभी बाकी है न ? अशुद्ध का उतना परिणमन है न ?

यह पहले आ गया है—ज्ञानधारा और कर्मधारा। ज्ञानी को दो धारायें होती हैं। जितना आत्मा के स्वभाव का शुद्धपना—दृष्टि, ज्ञान का परिणमन हुआ, वह ज्ञानधारा, शुद्धधारा है और जितना राग बाकी है, वह कर्मधारा है। आता है ? ज्ञानधारा और कर्मधारा। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को अकेली शुद्ध ज्ञानधारा होती है। आहाहा ! समझ में आया ?

भाई ! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने पर्याय-पर्याय को देखा है। गुण त्रिकाली देखे, त्रिकाली द्रव्य देखा, त्रिकाली पर्याय देखी और एक-एक पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं, वे भी भगवान ने देखे। आहाहा ! ऐसा जो सर्वज्ञ परमात्मा का स्वरूप, उसके जो कथन (हैं, वे), किस नय के हैं, यह इसे जानना चाहिए। समझ में आया ?

एक ही ठिकाने से ऐसा ही पकड़ ले कि लो! यह शुद्ध परिणमन है। अब उसे अशुद्ध है ही नहीं? भाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

यहाँ निर्जरा की प्रधानता से कथन है न! अशुद्धता खिर जाती है और शुद्धता का ही परिणमन है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। **जीवराशि...** (कहा है इसलिए) वह सम्यग्दृष्टि जीवराशि है। एक-दो नहीं, असंख्य हैं। तिर्यंच में, मनुष्य में, स्वर्ग में, व्यन्तर में, नरक में असंख्य सम्यग्दृष्टि हैं! आहाहा! और वे शुद्धरूप परिणमित हुए हैं। समझ में आया? और जयसेनाचार्यदेव की टीका में तो ऐसा लिया है कि यह सब अधिकार पाँचवें गुणस्थान के ऊपर की बात है। तू चौथे से मान ले कि अशुद्धता नहीं, (ऐसा नहीं है)। आता है? आहाहा! जयसेनाचार्य (की) संस्कृत टीका में है। पंचम गुणस्थान की ऊपर यह सब बात है। छठवें-सातवें की मुख्यरूप से (बात है)। गौणरूप से सम्यग्दृष्टि (आ जाता है)। समझ में आया? आहाहा! मुख्यरूप से और गौणरूप से...

आहाहा! **जीवराशि वह निश्चय से ऐसा साहस अर्थात् धीरपना करने के लिये समर्थ होती है।** सम्यग्दृष्टि साहब करने को '**क्षमन्त**' है, धीरज करने को समर्थ है। आहाहा! कैसा है? **धीरपना....** साहस की व्याख्या यह की। धीर... धीर दशा... ज्ञाता-दृष्टापने की दशा को रखने का साहस, धीरता '**क्षमन्ते**' क्षमा का कारण है। आहाहा! किस प्रकार?

सबसे उत्कृष्ट है। सम्यग्दृष्टि का धीरपना, ज्ञातापना, अज्ञानी की अपेक्षा से सर्व से उत्कृष्ट है। ऐसा सर्वोत्कृष्ट तो भगवान को है परन्तु यह दूसरे की अपेक्षा (बात की है)। **सबसे उत्कृष्ट है। कौन साहस? 'यत् वज्रे पतति अपि अमी बोधात् न हि च्यवन्ते' जो साहस ऐसा है कि महान वज्र के गिरने पर भी...** ऊपर से अग्नि के वज्र पड़े। नीचे करोड़-अरबों पड़े। आहाहा!

कल एक लड़की का लेख आया है। एक लेख ऐसा है। त्रास उत्पन्न करे ऐसा! जंगल में विमान टूट गया, जंगल में! कहीं... कहीं गाँव नहीं मिलता, वह टूटा और सब मर गये। वन में उस विमान के टुकड़े हो गये। एक जवान महिला उसमें असाध्य हो गयी। असाध्य होकर ऐसे जहाँ जागी... ऐसे देखे वहाँ... आहाहा! (चारों ओर)

जंगल... जंगल... जंगल... जंगल... पानी का धोध बरसे, हजारों जहरीले मेंढ़क चित्कार करे! सर्प फुंफकार मारे! वनस्पति इतनी उगी हुई उसमें सर्प और बिच्छू! मार्ग न मिले, यह कहाँ जाने का होगा? कहीं नहीं मिलता, कहीं गाँव नहीं मिलता। बहुत लेख आया है। परन्तु महिला / लड़की ऐसी (साहसिक कि) उसने ऐसा का ऐसा एक दिन व्यतीत किया, दो दिन व्यतीत किये, तीन दिन व्यतीत किये। वहाँ खाने की वनस्पति जहर जैसी! आहाहा! परन्तु ऐसा का ऐसा थोड़ा-थोड़ा देह निभाया। और जहाँ जाये वहाँ जहरीले जानवर ने पैर में बटका भरे और पैर सड़ गये। पैर सड़ गये। पैर सड़े और पैर में जीव पड़ गये। जंगल में कहीं रास्ता नहीं मिलता। आहाहा!

इस प्रकार ग्यारह दिन और बारह दिन हुए, वहाँ चलते-चलते एक झोंपड़ी देखी। वह झोंपड़ी शिकारियों की थी। शिकारी वहाँ महीने-दो महीने में शिकार करने आते थे। इसे मौके से आयुष्य है न? वे शिकारी बारहवें दिन झोंपड़ी में आये और इस लड़की को देखा। अरे! यहाँ कहाँ से यह!? पैर में कीड़े पड़े, जीव पड़े! चारों ओर जहरीले जानवरों ने बटके (भरे हैं)। पूरा शरीर (सूज) गया! (शिकारी पूछते हैं), तू यहाँ कहाँ से? (तो लड़की कहती है) विमान टूट गया, सब मर गये और मैं एक रह गयी। आहाहा! देखो! आयुष्य हो तो कैसा हुआ? वे शिकारी शिकार करने झोंपड़ी में महीने-दो महीने में आते थे। जंगल में झोंपड़ी! कहीं गाँव नहीं। वहाँ योग मिल गया। लड़की को उठाकर दवाखाने ले गये। वे बड़े जीव पैर में पड़े हुए, (उन्हें) निकाल दिया।

मुमुक्षु : शिकारी दवाखाने ले गये?

पूज्य गुरुदेवश्री : शिकारी दवाखाने ले गये। गाँव में ले गये, (अकेली) लड़की जंगल में (कैसे रहे)? लोगों को वैसे तो दया आ जाये न? अकेली जंगल में! जानवर, सर्प! बन्दर और सर्प ऐसे फूंफकार मारे! और अकेले जहरीले जानवर! (ऐसे में) उस लड़की ने ग्यारह दिन निकाले, भाई! उन लोगों ने फिर खाने का कहा, (पूछा) बहिन! तू यह वनस्पति खा। यह जहरीली नहीं है, तू खा। वह खायी। वनस्पति बहुत प्रकार की होती है न? वह पहिचाने नहीं और जहरीली वनस्पति! और वे जानकार। 'तू यह खा, माँ! यह खा।' उसे (फिर) दवाखाने ले गये, फिर तो (भली-चंगी) हो गयी। परन्तु उसकी बात लिखी है, त्रासदायक! (बात है)। सुनने से त्रास हो!!

जंगल में जहरीले जानवर! बरसात का प्रपात पड़े! पानी और नदियाँ बहती जायें! इतनी-इतनी वनस्पति उगी हुई, उसमें सर्प और बिच्छू! यह पैर कहाँ रखना? जहाँ पैर रखे वहाँ काटे! परन्तु आयुष्य की स्थिति (थी तो) उसे वह झोंपड़ी मिल गयी और उसे विश्वास आया। वहाँ वे (शिकारी) आये और उसे ले गये। आया है, कल समाचारपत्र में आया है। यहाँ मास्टर है न? वह कटिंग रख गये थे। पढ़ने से त्रास (हो)!

जवान महिला! जंगल में कोई नहीं मिलता! (सर्प) फूंफकार मारे! मेंढ़क, जहरीले मेंढ़क! वे मेंढ़क (पैर में) मारे तो जहर चढ़ जाये! पूरा शरीर जहर-जहर हो जाये!! तथापि आयुष्य के कारण (बच गयी)! ऐसी स्थिति में भी सम्यग्दृष्टि को त्रास नहीं होता, कहते हैं। अभी कल ही पढ़ा था। ...भाई! उसमें से अन्दर कोई आ चढ़ा हो... आहाहा! परन्तु वह निर्भय है, साहस है! आहाहा! मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, उसमें मुझे कोई हिला सके, (ऐसा) है नहीं।

ऐसी व्याधि, वज्रपात गिरे! सिर पर अग्नि पड़ती हो! आहाहा! परन्तु जिसे आत्मा के आनन्द का ध्रुव स्वरूप का भान हुआ... आहाहा! उसे अन्दर में आत्मा के आनन्द के समक्ष प्रतिकूलता के उपसर्ग और परीषह लाख-करोड़ हों, (तथापि) '**क्षमन्ते**'—जाननेवाला-देखनेवाला रहता है। उसे भय नहीं होता। आहाहा!

कहो, (उस लड़की ने) ग्यारह, बारह दिन खाया क्या होगा? उसमें नहीं लिखा परन्तु वनस्पति जहरीली (हो) इसलिए खाया न हो परन्तु जवान लड़की थी, इसलिए ग्यारह-बारह दिन नदी का पानी-बानी पीकर निकाले होंगे। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि असाता के उदय के कारण उससे भी कोई अनन्त प्रतिकूलता आ पड़े, परन्तु समकिती वहाँ से—चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से च्युत नहीं होते। आहाहा! समझ में आया? अभी कल ही पढ़ा है। भाई वह समाचारपत्र रख गये थे। एक आकाश का रखा था। आकाश में ऐसा कि यह तारे हैं, उन्हें दूरबीन से देखे तो मणि-रत्न हों, ऐसे दिखते हैं। (ऐसा) आकाश का कुछ बड़ा लिखा था। उसका अपने कुछ काम नहीं था। आहाहा! न मिले पानी पीने को, न मिले आहार लेने को! कहाँ नजर डाले? कहीं गाँव नहीं होता। अब साहस करके भी (रही), मिथ्यादृष्टि (थी) तो भी इतना साहस किया!

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को... आहाहा! है? **महान वज्र के गिरने पर भी सम्यग्दृष्टि जीवराशि शुद्धस्वरूप के अनुभव से सहजगुण से स्खलित नहीं होती है।** आहाहा! मेरा प्रभु आनन्द का नाथ है, वह आनन्द के स्वाद में से हटता नहीं, कहते हैं। ऐसे प्रतिकूलता के गंज हों तो भी (हटता नहीं)। आहाहा! समझ में आया?

एक वोहरा थे, वे कहते थे। जामनगर में चातुर्मास था तब। एक वोहरा था उसका नाम भूल गये। दाहोदभाई व्याख्यान में आते थे। वे कहें, हम जंगल में चढ़ गये। वहाँ जहाज इस प्रकार से चढ़ गया कि... नीचे क्या कहलाता है? लोहचुम्बक! समुद्र में अन्दर लोहचुम्बक के पर्वत! इसलिए जहाज को खींच लिया। खींचकर कहीं जंगल में रख दिया। नहीं पानी, नहीं आहार, नहीं कुछ। कहे, हम तीन दिन वहाँ रहे। फिर क्या किया? कि वे नारियल थे न? नारियल! और नीचे सड़ा हुआ पानी। पानी के अन्दर (डाले) और नारियल का मीठा पानी हो गया। वह नारियल तोड़कर उसमें से पानी पीवे और खोपरा (खाये) तीन दिन निकाले। वह वोहरा कहता था। तीन दिन (रहे)। ऐसे बहुत लोग थे। पूरा जहाज लोहचुम्बक से खिंच गया, निकले नहीं, फिर तो तीन दिन में दूसरा जहाज आया और उसने अलग किया। जामनगर के वोहरा थे। व्याख्यान में आते थे।

ऐसी स्थिति में भी जंगल में अकेला बाघ और भालू के बीच भी धर्मी—जिसे आत्मा के आनन्द का भान हुआ है। मैं तो चिदानन्दमूर्ति प्रभु हूँ, उन्हें ऐसे प्रसंग में भी भय और शंका नहीं पड़ती कि मेरा नाश होगा! शरीर का नाश तो वह शरीर तो नाशवान है ही। वह तो नाश होगा। आहाहा! कठिन काम, भाई! प्रतिकूलता, असाता का उदय आने पर... आहाहा! (अज्ञानी को) तो कंपकंपी उठे कि यह... पक्षघात का असर लगता है! सम्हालना, पक्षघात होगा... हाय... हाय...! वह काँप उठे! यहाँ कहते हैं, अन्दर में पक्षघात हो गया है। राग से भिन्न पड़कर आत्मा का भान हुआ है तो पक्षघात हो गया है। आहाहा!

बाहर के चाहे जितने उपसर्ग और परीषह हों तो भी **शुद्धस्वरूप के अनुभव से सहजगुण से स्खलित नहीं होती है।** आहाहा! तथापि ऐसे प्लेग आदि गाँव में आवे तो

समकिती वहाँ से जाये भी सही, (वहाँ से) निकल जाये। परन्तु अन्तर में से हटता नहीं। यह सब लेख है। गाँव में प्लेग आया हो और सब बाहर निकले तो स्वयं भी बाहर चला जाये। ऐसा नहीं कि वहीं पड़ा रहे। सबके साथ परिवार को लेकर बाहर दूसरे गाँव में निकल जाये, तो भी अन्दर में वह निर्भय है। आहाहा! ऐसा विकल्प आया कि यहाँ से सब जाते हैं, यहाँ देश में तो कोई रहता नहीं। जोरदार प्लेग हो गया है। प्रतिदिन दो सौ-दो सौ लोग मरते हैं, दस हजार की आबादी हो (और) भागो... भागो... (होता हो तो) स्वयं भागे! इससे उसे भय हुआ है ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो वज्र के बिम्ब को— चैतन्य प्रभु को चिपटा है न! आहाहा! वहाँ ध्रुव के साथ ढिंढोरा बजाया है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि का माहात्म्य है!! यह कहीं साधारण ऐरे-गैरे की बात नहीं है। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है.... है न? **कि—कोई अज्ञानी ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीव के सातकर्म के उदय अनेक प्रकार इष्ट भोगसामग्री होती है,...** साता के उदय से समकिती को इन्द्र के इन्द्रासन हों, चक्रवर्ती के राज हों। समकिती को भोगभूमि जुगलिया में तीन-तीन कोस का शरीर (हो) और आयुष्य रहे, तब तक खाने के कल्पवृक्ष के फल मिलें। तो भी सम्यग्दृष्टि वहाँ है, सम्यग्दृष्टि वहाँ भोगभूमि में भी है, वह साता के कारण (सामग्री के) प्रेम में आ नहीं जाता। आहाहा! वह सामग्री है, इसलिए अनुकूल है, ऐसे प्रसन्न नहीं होता। आहाहा! उस सामग्री में भी धर्मी तो जाननेवाला-देखनेवाला रहता है कि यह है, बस, इतना। यह साता की बात है।

असातकर्म के उदय अनेक प्रकार रोग,... असाता के उदय के कारण शरीर में रोग (आवे)। आहाहा! क्षय रोग, दम... क्या कहलाता है यह? गले का होता है न वह... केंसर! पूरे शरीर में कंपकंपी (हो)। हमारे यहाँ एक नवीन को है न? जवान व्यक्ति है, उसे पूरा शरीर काँपता है। आहाहा! ठीक था तब इन्दौर शिक्षण शिविर में गया था। इन्दौर में शिक्षण शिविर सीखने गया था। ऐसा लड़का है परन्तु अब असाता का उदय ऐसा (आया कि) ऐसे... ऐसे हुआ ही करता है। ऐसे पड़ा रहे, ऐसा जहाँ करे वहाँ हो गया! हाथ से ग्रास ले नहीं सकता। दामोदरभाई का पुत्र। आहाहा! यहाँ था न, यहाँ लाये थे।

ऐसे रोग, असाता के उदय आवे... आहाहा! तथापि यह कहते हैं, देखो! असाता के **रोग, शोक...** सब प्रतिकूलता हो जाये। माँ न रहे, स्त्री न रहे, पिता न रहे, मकान न रहे। आहाहा! **दारिद्र...** एक रोटी मिलना मुश्किल पड़े, ऐसी स्थिति में आ जाये। सम्यग्दृष्टि असाता के उदय से नरक में होता है, लो! आहाहा! तैंतीस-तैंतीस सागर तक जिसे आहार का कण नहीं, पानी का बिन्दु नहीं परन्तु सम्यग्दृष्टि स्वयं अपने ज्ञाता-दृष्टा में से च्युत नहीं होता! समझ में आया? आहाहा!

परीषह, उपसर्ग इत्यादि अनिष्ट सामग्री होती है, उसको भोगते हुए... भोगते हुए (ऐसी) भाषा है। सामग्री को कुछ भोग नहीं सकता, परन्तु उसकी ओर का लक्ष्य जाये और जरा राग हो, उसे भोगता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! (उसे भोगते हुए) **शुद्धस्वरूप अनुभव से चूकता होगा।** किसी को ऐसा लगे कि, ऐसी सामग्री में— प्रतिकूलता में सम्यग्दर्शन से च्युत हो जाता होगा। अनुकूल सामग्री में सम्यग्दृष्टि उसके प्रेम में सम्यक्त्व से च्युत होता होगा। नहीं, तीन काल में नहीं होता। आहाहा! आहाहा!

जिसे नित्यानन्द प्रभु भगवान! सहजात्मस्वरूप प्रभु का जिसे अनुभव हुआ, दृष्टि हुई, सम्यक्त्व हुआ... आहाहा! वह असाता के ढ़ेर पड़े हों तो भी वह उलझन में नहीं आता। उसका सम्यग्दर्शन का शुद्ध परिणमन छूटता नहीं। और साता के ढ़ेर हों... आहाहा! तो उसमें उसे साता का रंग चढ़ता नहीं। आत्मा के आनन्द का रंग चढ़ गया है। समझ में आया? आहाहा!

जैसा अनुभव है, वैसा ही रहता है,... है? आहाहा! वह आत्मा के सम्यग्दर्शन पाने पर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में जैसा है, वैसा ही (रहता है)। यह अनुकूल-प्रतिकूल संयोग में रहता है? वह अनुकूल हो या प्रतिकूलता के ढ़ेर हों... आहाहा! रोटियाँ मिलती न हों, रोटियाँ न हों, सामने देखनेवाला कोई न हो और शरीर में सोलह रोग (हों)। सातवें नरक के नारकी को तो जन्मते ही सोलह रोग (होते हैं)। इसलिए वहाँ (जाये तब) मिथ्यादृष्टि है, परन्तु वहाँ वापस कोई समकित पाता है। सातवें नरक में! जाते हुए मिथ्यादृष्टि होता है वापस निकलते हुए मिथ्यादृष्टि हो जाता है। ऐसा शास्त्र में लेख है, बीच में सम्यग्दृष्टि होता है, तैतीस सागर के दुःख में रहता है परन्तु स्वरूप से (च्युत नहीं होता)।

यहाँ लोग (ऐसा मानते हैं कि) अपने को अनुकूलता हो तो हम निवृत्ति लें, लड़के कुछ दे, हम कमाते हैं, इतना हो, (पश्चात् निवृत्ति लेंगे)। धूल भी नहीं। तो ऐसा कि निवृत्ति ले सकते हैं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि प्रवृत्ति के ढ़ेर प्रतिकूल हों तो सम्यग्दृष्टि अपने भाव में निवृत्ति में ही पड़ा है। आहाहा!

मुमुक्षु : चैतन्य चमत्कार!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चैतन्य (चमत्कार है)। चैतन्य भगवान अन्दर चैतन्य आनन्द का सागर प्रभु का जिसे सम्यग्दर्शन (हुआ)। सम्यग्दर्शन अर्थात् कि मात्र देव-गुरु की श्रद्धा, ऐसा नहीं, अकेली व्यवहार नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह नहीं, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, उसके अनुभव में स्वाद आना, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, उसका नाम समकित है। आहाहा! उसकी तो खबर नहीं होती और अब धर्मी होकर व्रत करो और तप करो। मर गये अनन्त काल से! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **उसका समाधान इस प्रकार है कि अनुभव से नहीं चूकता है,...** ऐसा कि ऐसी ढ़ेर सारी साता वेदनीय की सामग्री (हो), एक-एक दिन के अरबों रुपये आते हों, ऐसी आमदनी की सामग्री हो तो अन्दर कुछ ललचाता होगा? कहते हैं, नहीं। आहाहा! है न अभी वह? एक घण्टे की डेढ़ करोड़ की आमदनी है! दूसरा एक देश है वहाँ एक दिन की अरबों की आमदनी अभी है! अरबों रुपये एक दिन में! अनार्य व्यक्ति! मरकर सब नरक में जानेवाले हैं। आहाहा!

इस आत्मा का सम्यग्दर्शन होने पर, कहते हैं कि सातवें नरक की नारकी की प्रतिकूलता का संयोग हो या स्वर्ग में इन्द्र के इन्द्राणियाँ आदि की सुविधा हो, परन्तु अपने आनन्द के अनुभव से च्युत नहीं होता। आहाहा! कहीं उसकी सुखबुद्धि नहीं होती। आहाहा! कि यह सब सामग्री है, इसलिए हम सुखी हैं। यह माननेवाले तो मिथ्यादृष्टि हैं। सुखी तो आत्मा के आनन्द के अनुभव से सुखी हैं, वह सुखी है। समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! वीतराग का मार्ग तीर्थंकर जिनेन्द्र की ज्ञान की धारा ऐसी कोई अलौकिक है! जगत को समझना भारी कठिन! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि कोई ऐसा माने कि ऐसी सामग्री में सम्यग्दर्शन? अनुभव से

शुद्धस्वरूप के अनुभव में, असाता की घोर सामग्री मिले, साता की अनुकूलता के ढ़ेर मिलें तो अन्तर शुद्ध स्वरूप से च्युत होता होगा ? कि बिल्कुल नहीं। उन्हें ज्ञेयरूप से जानता है। मेरे ज्ञान का परज्ञेय है। वह मेरी चीज़ नहीं, मुझे नहीं, मुझे स्पर्शती नहीं। आहाहा ! शरीर में सोलह रोग हों तो भी समकिती जानता है कि वह रोग मुझे स्पर्श नहीं करते, मैंने उन्हें स्पर्श नहीं किया। आहाहा ! जिसे मैंने स्पर्शा है, चूमा है, वह तो भगवान आनन्द का नाथ प्रभु है। उस आत्मा को मैं तो स्पर्शा हूँ। आहाहा ! ऐसी सम्यग्दृष्टि की दृष्टि ! उसका जो शुद्ध (स्वरूप का) अनुभव (हुआ वह) प्रतिकूलता और अनुकूलता उसे खींच नहीं सकती। समझ में आया ? आहाहा !

यह (अज्ञानी) तो मानता है कि देव-गुरु की हमको श्रद्धा है तो हमको समकित है। अरे ! ऐसा तो अनन्त बार माना है, सुन न ! सम्यग्दर्शन तो राग, शुभराग—दया, दान, व्रत के राग से भिन्न भगवान आनन्द का सागर अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मा सागर है ! आहाहा ! उसे जो अन्दर अनुभव करे और जिसे अन्तर के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन जहर जैसे दिखायी दें, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! निर्जरा अधिकार है न ? (जैसा) **अनुभव है वैसा ही रहता है,...** है ? **वस्तु का ऐसा ही स्वरूप है।**

कैसा है वज्र ? वज्र के गिरने पर उसके त्रास से चलायमान ऐसी जो सर्व संसारी जीवराशि, उसके द्वारा छोड़ी गयी है, अपनी-अपनी क्रिया जिसके गिरने पर,... अपनी श्रद्धा, ज्ञान सब छूट गया, लोग भ्रष्ट हो जाये ऐसी प्रतिकूलता आ पड़े। आहाहा ! **भावार्थ इस प्रकार है कि ऐसा है उपसर्ग परीषह जिनके होने पर मिथ्यादृष्टि को ज्ञान की सुध नहीं रहती है।** कि मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, ऐसी मिथ्यादृष्टि को सुध नहीं रहती। आहाहा ! अनुकूलता की सामग्री में भी मिथ्यादृष्टि को सुध नहीं रहती कि मैं उससे भिन्न हूँ। यह तो जड़ की चीज़ पर है। ऐसी प्रतिकूलता की सामग्री में अज्ञानी वहाँ हाय... हाय... प्रतिकूलता आयी, मुझसे कैसे सहन होगी ? (ऐसे दुःखी होता है)।

सम्यग्दृष्टि प्रतिकूलता को ज्ञान में ज्ञेयरूप से जानता है। मुझे आती है, ऐसा वह मानता नहीं। आहाहा ! यह सम्यग्दर्शन की इतनी महत्ता ! यह सम्यग्दर्शन की महिमा !

अभी चौथे गुणस्थान की, हों! पाँचवाँ और छठवाँ तो कहीं रह गया। बापू! वह दशा तो कोई अलौकिक है! आहाहा! यह तो चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, आत्मा का अनुभव जिसे है, उसे प्रतिकूल सामग्री (हो) या प्रतिकूलता के ढ़ेर हों तो वे ललचा नहीं सकते। दु:ख की सामग्री खींच नहीं सकती, सुख की सामग्री ललचा नहीं सकती। आहाहा! उसे कर्म की निर्जरा होती है। उसे आत्मा के आनन्द के स्वाद की अधिकता में जो कुछ अशुद्धता हुई, वह उसे खिर जाती है। यहाँ दृष्टिप्रधान कथन है न! (इसलिए ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? वापस मिथ्यादृष्टि को सुध नहीं रहती। अब सम्यग्दृष्टि कैसा है? उसकी विशेष बात आयेगी....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कार्तिक कृष्ण ४, मंगलवार, दिनांक-२९-११-१९७७, कलश-१५४, प्रवचन-१६२

कलश-टीका। निर्जरा अधिकार (का) १५४ (कलश है), अन्तिम भाग है न? **भावार्थ इस प्रकार है....** यहाँ से लो। है? **उपसर्ग परीषह जिनके होने पर मिथ्यादृष्टि को ज्ञान की सुध नहीं रहती है।** क्या कहते हैं? जो यह आत्मा चैतन्य और आनन्दस्वरूप है, उसकी जिसे खबर नहीं और यह पुण्य और पाप के रागादि भाव (होते हैं), उसमें एकत्वबुद्धि से मिथ्यादृष्टि हुआ है, उसे परीषह और उपसर्ग आने से शुद्ध नहीं रहती। सुध-बुध उड़ जायेगी। है? **ज्ञान की सुध नहीं रहती है।** है? भाई! जरा सूक्ष्म बात है। निर्जरा अधिकार है न?

यह आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूप नित्य ध्रुव अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का दल, उसका जिसे भान नहीं और जो पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), उनका बन्धन और उनका फल (जो) संयोग (मिले) 'वे मेरे हैं', ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे आत्मा क्या चीज़ है, उसकी उसे खबर नहीं। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि चाहे तो महाव्रत पालता हो परन्तु वह राग है, उसे अपना मानकर चैतन्य त्रिकाली शुद्ध आनन्दकन्द का अनादर करके, उस राग के छोटे में छोटे कण को भी अपना स्वीकार करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! उस मिथ्यादृष्टि को उपसर्ग और परीषह आवे (तब उसे) ज्ञान की सुध नहीं रहती। क्योंकि उसे भान नहीं कि मैं आत्मा आनन्द हूँ। उसे कुछ सुध नहीं रहती।

कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? स्व को अर्थात् शुद्ध चिद्रूप को प्रत्यक्षरूप से अनुभवते हैं। आहाहा! धर्म की पहली (सीढ़ी) सम्यग्दर्शन, धर्म की मोक्षमहल की पहली सीढ़ी ऐसा जो सम्यग्दर्शन (जिसे प्रगट हुआ है), वह सम्यग्दृष्टि जीव त्रिकाली शुद्ध आनन्द ज्ञायक चैतन्यमूर्ति हूँ, (ऐसा) वह उसका आश्रय लेकर उसे अनुभव करता है। आहाहा! समझ में आया? उसे रागादि आवे, उसका वह जाननेवाला रहता है। वह राग मेरा है, ऐसा सम्यग्दृष्टि अन्तर्दृष्टि में मानता नहीं। समझ में आया? आहाहा! वीतरागमार्ग अपूर्व और अलौकिक है!

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि—सत्यदृष्टि अर्थात् जिसकी दृष्टि में परमात्मस्वरूप,

शुद्ध चैतन्यस्वरूप बसा है अथवा उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जिसका वास है... आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में भी... आहाहा! अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप (को अनुभव करता है)। पुण्य-पाप के भाव तो मलिन हैं, मेरे हैं ही नहीं। शुभभाव से भिन्न चैतन्यस्वरूप जो लोक, आनन्द का सागर, उसे अनुभवता हुआ... आहाहा! उसकी शुद्धता को वेदता हुआ, जो त्रिकाली शुद्धस्वरूप है, उसे सम्यग्दृष्टि पर्याय में—अवस्था में शुद्धरूप से वेदता हुआ (परिणमता है)। आहाहा! ऐसी बात है। है?

यह **प्रत्यक्षरूप से अनुभवते हैं।** अर्थात्? कि सम्यग्दृष्टि को राग और निमित्त के सहारे से आत्मा का भान होता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? जो व्यवहार दया, दान, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि जो राग है, उसका सहारा समकिती को नहीं है, उसकी मदद उसे नहीं है। उसे त्रिकाली आनन्द के नाथ का सहारा है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! जन्म-मरण रहित (होने का) सम्यग्दर्शन का उपाय अलौकिक है।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि सम्यक्—सत्यदृष्टि त्रिकाली परमसत्य जो वस्तु, भूतार्थ, सत्यार्थ, अकेला ज्ञायक पूर्ण आनन्दमय, उसके सन्मुख होकर उसका जिसे भान और प्रतीति हुआ है, वह शुद्धता को वेदता है। वह अशुद्धता को वेदता नहीं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ मुख्यपना लेना है। सम्यग्दृष्टि शुद्ध को ही वेदता है और अशुद्ध को वेदता नहीं, (ऐसा जो कहा उसमें) वह अशुद्धता का वेदन यहाँ गौण करके उसे (अशुद्धता) नहीं इसलिए वेदता नहीं, ऐसा कहना है। इतनी अधिक शर्तें! समझ में आया?

जैसे समयसार में ११वीं गाथा में मूल, जैनशास्त्र का मूल है, यह ११ (गाथा में) ऐसा कहा कि सभी पर्यायें झूठी हैं और त्रिकाली भूतार्थ वस्तु एक ही सत्य है। ऐसा जो कहा वह अपेक्षा से कहा है। वे जितनी पर्यायें हैं, उन सबको गौण करके, व्यवहार कहकर 'नहीं' ऐसा कहा गया है। बिल्कुल नहीं, ऐसा नहीं। बिल्कुल पर्याय नहीं तब तो अकेला द्रव्य (हो गया)। द्रव्य का निर्णय करनेवाला ही (कोई) रहता नहीं। आहाहा! पाठ तो ऐसा आया (कि) व्यवहार अभूतार्थ है। पर्यायमात्र झूठी है, ऐसा कहा और त्रिकाली वस्तु ही एक सत्य है।

ऐसा कहने का प्रयोजन त्रिकाली जो सत्य महाप्रभु भगवान, परमानन्दमूर्ति, उसे मुख्य करके निश्चय कहा और वही है, ऐसा कहा तथा पर्याय को गौण करके, व्यवहार करके 'नहीं' ऐसा कहा। परन्तु पर्याय बिल्कुल नहीं, ऐसा नहीं है। समझ में आया? इतनी सब शर्तें अब! इसी प्रकार यहाँ सम्यग्दृष्टि शुद्ध स्वरूप को ही वेदता है, ऐसा कहा तो चौथे, पाँचवें, छठवें में उसे अशुद्धता नहीं? परन्तु मुख्यरूप से शुद्धता को वेदता है और अशुद्धता को गौण करके, व्यवहार कहकर, उसका अभाव कहकर 'नहीं वेदता' ऐसा कहा है। दीपचन्दभाई! ऐसी बातें हैं।

यह यहाँ कहा? कि **शुद्ध चिद्रूप को प्रत्यक्षरूप से अनुभवते हैं।** है? आहाहा! ज्ञानानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर प्रभु है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का ध्रुव प्रभु है। उसे (जो) लिपटा, उसे जिसने पकड़ा ऐसे सम्यग्दृष्टि को शुद्धता का ही वेदन है। क्योंकि दृष्टि शुद्ध है और दृष्टि का विषय है, वह शुद्ध है। आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, बापू! वीतराग का मार्ग कोई अपूर्व है! लोगों को सत्य मिला नहीं (इसलिए) फिर बाहर से मानकर बैठे हैं। बापू! क्या हो? त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा कहा, सर्वज्ञ ने ऐसा कहा, वह मुनि सन्त आड़तिया होकर जगत को बात करते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर ही ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि (को) पुण्य के, दया, दान, व्रत के परिणाम आवें, परन्तु उन्हें वह वेदता है। क्योंकि वह अपने मानता है तो उस जहर को वेदता है। मिथ्यादृष्टि भले जैन नाम धराता हो, अरे! नग्न मुनि (होकर) साधु नाम धराता हो परन्तु अन्दर में पंच महाव्रत के परिणाम जो राग है, वह दुःखरूप है, उसे अपना माना अथवा उनसे मुझे लाभ (है ऐसा) मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अशुद्धता को, मलिनता को, जहर को वेदता है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि (कि जिसे) शुद्ध स्वरूप की दृष्टि (हुई है, उसे) शुद्ध (स्वरूप का) आश्रय है। जिसे पर्यायबुद्धि, रागबुद्धि, अंशबुद्धि छूट गयी है। आहाहा! त्रिकाली आनन्दस्वरूप, वह मैं हूँ, जिसकी दृष्टि में केवलज्ञान की पर्याय भी जो दृष्टि का विषय नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं! जिसकी दृष्टि में सत्यदृष्टि, सम्यक् दृष्टि, सच्ची दृष्टि (हुई है), वह त्रिकाली सत्य है, उसे ही वह स्वीकारता है। आहाहा! इसलिए उसे त्रिकाली जो शुद्ध है, अनन्त गुण का समुद्र, प्रभु! आहाहा!

कहा था न? अमाप शक्ति है!! उसकी गुण की शक्ति का माप नहीं। इतनी शक्ति है! शक्ति अर्थात् गुण। आहाहा! जैसे आकाश का माप नहीं (कि) कहाँ पूरा हुआ? है (माप)? अलोक... अलोक... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त में कहीं (अन्त नहीं दिखता)। अब उसके जो प्रदेश हैं, एक परमाणु (जितनी जगह) रोके उसे प्रदेश कहते हैं। ऐसे अनन्त प्रदेश, जिसका अन्त नहीं, ऐसे अनन्त प्रदेश से भी एक आत्मा में अनन्तगुणे गुण हैं!! आहाहा! चारों दिशा (का) कहीं अन्त नहीं। लोक (पूरा होने के) बाद चारों दिशा देखो तो कहीं अन्त है? फिर हो गया। हो गया—ऐसा है? आहाहा! ऐसे क्षेत्र के अमाप के प्रदेश जो अनन्त हैं, उनसे भी अनन्तगुणे एक भगवान आत्मा में गुण हैं। एक-एक (आत्मा में हैं)। जहाँ वह माप नहीं, उससे अनन्तगुणे गुण हैं! आहाहा! ऐसे अमाप गुण का जिसने ज्ञान में माप लिया! सम्यग्ज्ञान! सूक्ष्म बात, भगवान! मार्ग अलग है, नाथ! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है! आहाहा!

ऐसी अमाप शक्ति का पिण्ड प्रभु, जिसका माप नहीं। यह क्या कहते हैं यह? जैसे क्षेत्र का माप नहीं, वैसे इस भाव का इससे अनन्तगुणा माप नहीं! आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा अमाप अनन्त गुण का एक पिण्ड प्रभु का जहाँ अनुभव हुआ, दृष्टि हुई, तब शुद्धता की ही दृष्टि हुई। यह अनन्त गुण शुद्ध हैं और इसलिए वस्तु भी अखण्ड अभेद शुद्ध है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अमाप शक्ति का भण्डार प्रभु, उसका जिसे दर्शन हुआ; दर्शन अर्थात् श्रद्धा, उसे उससे ज्ञान में—उसकी पर्याय में ज्ञान की वर्तमान पर्याय में उसका ज्ञेय ज्ञान में आ गया। वह वस्तु भले (पर्याय में) नहीं आयी परन्तु अमाप शक्ति का पर्याय में ज्ञान आ गया। आहाहा! और उसकी श्रद्धा में अमाप शक्ति का सागर, उसकी श्रद्धा आ गयी, वह वस्तु भले उसमें न आवे। आहाहा! ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, ऐसा जो धर्मी—उसका धारक... आहाहा! उसे शुद्धता का वेदन है। समझ में आया? इसलिए उसे अशुद्धता निर्जरित हो जाती है, ऐसा यहाँ कहना है। निर्जरा अधिकार है न? आहाहा! समझ में आया? जयसुखभाई! बातें बहुत ऐसी, बापू! आहाहा!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं है। किसी मत में,

किसी सम्प्रदाय में (कहीं नहीं है)। आहाहा! जिसके मत में सर्वज्ञ जीव नहीं, उसके मत में कोई सच्ची बात होती नहीं। क्योंकि भगवान आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है। सभी भगवान आत्मा विराजते हैं। उनकी पर्याय और राग न देखो तो वह सर्वज्ञस्वभावी सभी भगवान हैं। आहाहा!

वह सर्वज्ञ अर्थात् 'ज्ञ' स्वभाव कहो, सर्वज्ञस्वभाव कहो, ज्ञायकभाव कहो (सब एकार्थ है)। ऐसा जो भगवान सर्वज्ञस्वभावी प्रभु! अपने अमाप गुण को भी सर्वज्ञ-ज्ञान में जाने, ऐसी उसमें शक्ति है। शक्ति है! आहाहा! ऐसा जिसे प्रतीति में और ज्ञान की पर्याय में ऐसे परमात्मस्वरूप को प्रतीति में लिया... आहाहा! ऐसे परमात्मा का ज्ञान जिसे अन्दर हुआ, भले वह चौथे गुणस्थान में हो परन्तु उसे शुद्धता का मुख्यरूप से वेदन है, इससे शुद्ध को वेदता है, अनुभवता है, अशुद्धता को अनुभवता नहीं, ऐसा कहने में आया है। ....भाई! ऐसी बातें हैं! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, (ऐसा) अनुभव करनेवाला समकिती जीव कैसा है? '**अबध्यबोधवपुषं**' मेरी चीज़ तो शाश्वत् है। '**अबध्य**' (अर्थात्) मेरा स्वभाव है वह किसी भी वध्य नहीं हो सकता। है? '**अबध्य**' '**अबध्य**'! यह सूक्ष्म बातें, बापू! यह तो अक्षर-अक्षर सन्तों के-दिगम्बर मुनियों के! वे केवली के पथानुगामी हैं, उनकी बातें हैं, भाई! यह कोई वाडा की-सम्प्रदाय की नहीं हैं।

कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध को वेदता-अनुभवता है। क्यों? कि उसका त्रिकाली स्वरूप है, वह अवध्य है। सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ीवाला! उसे आत्मा जो त्रिकाल है, वह शाश्वत् है, अवध्य है। वह किसी से घात हो, ऐसा नहीं है। भले उसमें विकार चाहे जितना होओ, परन्तु वस्तु जो है, वह अवध्य है। वह वस्तु कभी अपूर्ण और अशुद्ध नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

'**अवध्य**' (अर्थात्) अन्दर चिद्घन शाश्वत् है। सम्यग्दृष्टि को शाश्वत् तत्त्व की दृष्टि हुई है। आहाहा! समझ में आया? अरे! अब यह ऐसी बातें! बाहर के साथ कहीं मिलान नहीं खाता। फिर ऐसा कहे कि सोनगढ़ का नया धर्म निकाला। अरे! भगवान! बापू! मार्ग तो यह है, भाई! तुझे नहीं मिला, इसलिए दूसरा मार्ग हो—ऐसा है नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि शुद्ध को अनुभव करता है, वह कैसा है? अवध्य है—शाश्वत् है।

क्य? **ज्ञानगुण...** उसका। आहाहा! क्या कहते हैं? सम्यग्दृष्टि—सत्य दृष्टिवन्त को ज्ञानगुण अवध्य त्रिकाल है। **वह है शरीर जिसका,...** समकिती का शरीर, शाश्वत् (स्वरूप) वह उसका शरीर है। ....भाई! यह (बाहर के पैसे आदि) धूल तो मिट्टी है। आहाहा! समझ में आया? है पाठ? '**अबध्यबोधवपुषं**' आहाहा! ...१५४ क्या कहा?

यह निर्जरा का अधिकार है, इसलिए उसे ऐसा कहा कि मिथ्यादृष्टि जो राग और शरीर और राग के—पुण्य के फल संयोगी चीज़ को मेरी मानता है। अपने अस्तित्व में उसका अस्तित्व है, ऐसा मानता है। वह मेरा है अर्थात् (अपना मानता है)। ऐसा माननेवाल जीवों को अनुकूल या प्रतिकूल परीषह, उपसर्ग आवे (तब) उसे ज्ञान शुद्ध नहीं रहता। वह उलझकर अन्दर में मर जानेवाला है। आहाहा! तब सम्यग्दृष्टि जीव **स्व को अर्थात् शुद्ध चिद्रूप को प्रत्यक्षरूप से अनुभवते हैं।** आहाहा! स्वयं आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे राग की अपेक्षा बिना ज्ञान द्वारा (सीधे) आत्मा को अनुभव करता है। सूक्ष्म बातें, भाई!

यह प्रत्यक्ष ज्ञानपने की अपेक्षा से (बात की है)। सम्यग्दर्शन में प्रत्यक्ष-परोक्षपना नहीं होता। समझ में आया? यहाँ सम्यग्दर्शन में तो अनुभव हुआ, उसकी प्रतीति हुई परन्तु यहाँ प्रत्यक्षपने है, वह मति-श्रुतज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्षपना कहा है। समझ में आया? कहा न? **सम्यग्दृष्टि जीव स्व को अर्थात् शुद्ध चिद्रूप को प्रत्यक्षरूप से अनुभवते हैं।** आहाहा! उसे राग और मन की सहायता बिना, भगवान आत्मा भिन्न है, उसे मति और श्रुतज्ञान (द्वारा) प्रत्यक्षरूप से ज्ञान से उस आत्मा को जानता और वेदता है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए उसे '**अबध्यबोधवपुषं**' धर्मी—सम्यग्दृष्टि का आत्मा कैसा है? कि शाश्वत् जिसका ज्ञानगुण शरीर है। शाश्वत् ज्ञान जिसका शरीर है। आहाहा! है?

'**अबध्यबोधवपुषं**' अवध्य अर्थात् शाश्वत्, अवध्य अर्थात् नहीं घात हो ऐसा, अविनाशी रहनेवाला भगवान और जिसका ज्ञान, वह शरीर है। आहाहा! पुण्य-पाप भी नहीं और यह शरीर-बरीर तो कुछ नहीं। आहाहा! धर्मी जीव को ज्ञानस्वरूप शाश्वत् अवध्य वह उसका शरीर है। आहाहा! उसकी दृष्टि में शाश्वत् आत्मा होने से वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा गिनकर उसका ज्ञानशरीर शाश्वत् है, (ऐसा कहा)। आहाहा! है?

शाश्वत् जो... 'बोध' बोध अर्थात् **ज्ञानगुण, वह है शरीर जिसका,...** आहाहा! यह शरीर तो परमाणु मिट्टी का—धूल का है, वह कहीं आत्मा का नहीं। अन्दर में पुण्य-पाप के भाव हों, वह भी आत्म का स्वरूप नहीं। एक समय की पर्याय है, वह भी त्रिकाली स्वरूप नहीं। पर्याय उसे विषय करे, परन्तु विषय करे शाश्वत् वस्तु को। ध्रुव... ध्रुव... शाश्वत् दल, जो अविनाशी चैतन्यरस से भरपूर भगवान, वह समकिती का शरीर है। कहो, सेठ! यह शरीर-बरीर कहीं रह गया। पैसा भी कहीं रह गया। आहाहा!

भगवान! तू कौन है, इसकी तुझे खबर नहीं। आहा! भाई! तूने तुझे जाना नहीं। जाना हो तो तेरा ज्ञान वह शरीर, ऐसा उसे जाना हो। शरीर मेरा और राग मेरा, वह उसमें है नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

'अबध्यबोधवपुषं' आहाहा! आचार्यों ने भी (गजब) काम किया है न! कभी अवध्य अर्थात् घात नहीं हो, घिसे नहीं, हीन नहीं हो, अपूर्ण नहीं हो—ऐसा त्रिकाली अवध्य पूर्ण शरीर शाश्वत्, वह इसका ज्ञानशरीर है। आहाहा! **कैसा है। क्या करके (अनुभव करता है?)** आहाहा! **'सर्वां एव शंकां विहाय'** अब निःशंकादि आठ गुण लेना है न? समकिती के आठ गुण लेना है, इसलिए उसका उपोद्घात करते हैं।

सात प्रकार के भय को छोड़कर। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को इस लोक का, परलोक का इत्यादि भय नहीं होता। आहाहा! क्योंकि उसका लोक तो शाश्वत् ज्ञानस्वरूप, वह लोक है। आहाहा! कहो, ...भाई! यह ऐसी बातें हैं! ऐसा लगे। वीतरागी मार्ग, भाई! अलौकिक बात है! आहाहा! उसका एक सेकेण्ड भी अनुभव हो तो वह चीज़ ऐसी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

वह सात भय रहित है। सम्यग्दृष्टि जीव (सात भय रहित है)। पहला निःशंक (गुण) है न? निःशंक का अर्थ निर्भय किया है। उसका अर्थ यह कि वस्तु जो नित्यानन्द प्रभु है... वह तो कहा था न? बहिन का शब्द... वचनामृत मिला? वीरचन्दभाई! रसिकभाई (ने) ठीक! उसमें यह है न? यह अन्दर है। स्वर्ण को जंग नहीं लगती। स्वर्ण को जंग नहीं होती। एक बोल। अग्नि में दीमक नहीं होती। १००वें पृष्ठ पर है। १००... १००! कनक अर्थात् स्वर्ण को जंग नहीं होती, प्रभु! एक बार सुन! अग्नि में दीमक नहीं होती। दीमक तो ऐसे धूप निकले तो सडसडाहट होकर तुरन्त मर जाती

है। अग्नि में दीमक कैसी? आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा के द्रव्य को आवरण नहीं होता, अशुद्धि नहीं होती, हीनता नहीं होती, (ऐसे) तीन शब्द हैं। समझ में आया? बहुत सादी गुजराती भाषा में आ गया है। बहुत संस्कृत और कोई बड़े व्याकरण, (ऐसा कुछ नहीं)।

सादी भाषा में (कहते हैं कि) अग्नि को दीमक नहीं होती, स्वर्ण को जंग नहीं होती। प्रभु! तेरे द्रव्य को आवरण नहीं होता, तेरे द्रव्य में अशुद्धता नहीं होती। तेरी शाश्वत् चीज़ में अपूर्णता नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? उसे भय क्या? कहते हैं। ऐसी जो पूर्ण की, शुद्ध की दृष्टि... समझ में आया? आवरण बिना की चीज़ की— वस्तु की अन्दर दृष्टि हुई... आहाहा! और वेदन में आनन्द आया, उसे जगत की किसी चीज़ से अब डर नहीं। आहाहा! यह करनेयोग्य है। आहाहा! है?

भय को छोड़कर... आहाहा! उसे—प्रभु को भय क्या? आहाहा! शाश्वत् वस्तु रक्षित है, रही हुई है, उसे भय क्या? आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि निर्भय है। उसका अर्थ किया कि नि:शंक है। उसका अर्थ किया कि त्रिकाली वस्तु जो है, उसे नि:शंकरूप से अनुभव किया है, माना है, जाना है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। जिसके भव के अन्त आये। अब सिद्ध की पद की शुरुआत की नजदीकता हो गयी! आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दर्शन (प्रगट हुआ)... समझ में आया? उसे भय क्या? सात प्रकार के भय हैं न?

जिस प्रकार भय छूटता है, उस प्रकार कहते हैं—'निसर्गनिर्भयतया' स्वभाव से भय से रहितपना होने से। आहाहा! वस्तु ही भयरहित है। आहाहा! (जिसे) पक्के गढ़ हों, उसे चोर का भय होगा? पक्के गढ़! आहाहा! उसी प्रकार भगवान अन्दर पक्का गढ़ है। शाश्वत् आनन्द की मूर्ति, अनन्त-अनन्त ध्रुव गुणों का पिण्ड प्रभु, उसके स्वभाव से ही उसमें भय नहीं। उसके स्वरूप में ही भय नहीं। आहाहा! समझ में आया? निसर्ग-निर्भय ऐसा लिया है न? वह स्वाभाविक निर्भय है। उसका स्वभाव ही निर्भय है। निर्भय होना और रहना, वह तो पर्याय की अपेक्ष से (बात है)। वस्तु का स्वभाव निर्भय है। आहाहा!

कल उस लड़की की बात नहीं की थी? वह विमान टूट गया न? दक्षिण

अमेरिका में। विमान आधे घण्टे उड़ा, (फिर टूट गया)। घोर जंगल... घोर जंगल! गिरा... टुकड़े-टुकड़े (हो गया) और सब लोग मर गये। एक जर्मन की १७ वर्ष की लड़की असाध्य हुई तो उसमें से (बच) गयी। प्लेन का चूरा! उसके माँ-बाप थे, वे मर गये और घोर जंगल! मूसलाधर बरसात, जहरीले मेंढ़क, जहरीले सर्प, जहरीले बिच्छू, इतनी घास उगी हुई, उसमें पैर रखे वहाँ जहर के बटके भरें! कहीं (कोई) नहीं मिलता। जाना कहाँ? रास्ता कहाँ? उसने ऐसे ग्यारह दिन निकाले, भाई! आहाहा! कौन जाने क्या किया होगा? समाचारपत्र में आया है। ऐसे के ऐसे ग्यारह (दिन निकाले)। पैर में जीवांत पड़ी, सड़ गये। १७ वर्ष की जर्मन की जवान लड़की, परन्तु कौन जाने वह ऐसे साहसरूप से रही! नहीं तो मर जाये। देखे तो वनस्पति भी जहरीली! खाना किसे? उसने क्या किया होगा?

सहज ही बारहवें दिन में उसे जंगल में एक झोंपड़ी मिली। वह झोंपड़ी किसकी थी? कि शिकारियों की झोंपड़ी। (वे लोग) महीने-दो महीने में शिकार करने आते थे। विशाल जंगल, उसमें बारहवें दिन वे आये। आयुष्य है न? और लड़की को देखा (तो) पूरे शरीर में सूजन (और) काटे (हुए)। चारों ओर जीव काटे, बिच्छू काटे! पूरे शरीर में सूजन। वे शिकारी ऐसा तो देखे न? रास्ता देखा हुआ, शिकार करने मोटर में आते होंगे। उसमें उसे डालकर दवाखाने ले गये, गाँव में ले गये। कहो! ग्यारह दिन। आहाहा! लिखा है, (उसे) पढ़ते हुए लोगों को त्रास हो, ऐसा उसमें लेख है। उसमें वह जीवित (रही)। आयुष्य हो वहाँ कहाँ (मरण) हो? पूरे शरीर में जीवांत! दोनों पैरों में इतने कीड़े। बड़े जीव पैर में पड़े! क्योंकि पानी के सब जहरीले जानवर (थे)। आयुष्य है न? आहाहा! उसे जहाँ झोंपड़ी मिली, वहाँ खड़ी रही। वहाँ वे शिकारी आये। अरे! यह क्या? तुम यहाँ कहाँ? जंगल में! ऐसा हुआ। कहो! ऐसी स्थिति में समकिती रखा हो तो (उसे) भय नहीं, ऐसा कहना है। वीरचन्दभाई! आहाहा! यह लेख है, धर्मचन्दभाई चिट्ठी लाये थे। आहाहा! (चारों ओर) ऐसे वृक्ष... वृक्ष... नीचे कुछ दिखता नहीं। अन्धेरा! पानी का प्रपात गिरे। मेंढ़क भी जहरीले मेंढ़क। रणकार मारे! हजारों मेंढ़क। बाघ-सिंह कोई नहीं हो, इसलिए रह गयी। आहाहा!

ऐसी स्थिति में अर्थात् कि सातवें नरक में जैसे समकिती है, उसे शरीर में तो

जन्म से ही सोलह रोग और संयोग की प्रतिकूलता की बेहदता! (तथापि अन्दर) निर्भय है। मेरा चैतन्यशरीर कोई घात सके, ऐसी किसी की ताकत नहीं है। समझ में आया? बापू! सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है और सम्यग्दर्शन का स्वभाव (क्या)? कैसे स्वभाव को उसने जाना है और उसका स्वभाव कैसा हो जाता है? आहाहा! वह लड़की की तो साधारण बात की, परन्तु सातवें नरक के नारकी की पीड़ा देखो तो बापू! जिसका एक क्षण जाना कठिन पड़े, ऐसे तैंतीस सागर वहाँ रहे। आहाहा! जाये तब मिथ्यादृष्टि हो। सातवें नरक में जाये, तब मिथ्यादृष्टि हो। निकले तब वापस मिथ्यादृष्टि हो। बीच में समकित पावे! आहाहा! वह पीड़ा और वे संयोग, परन्तु आत्मा को कहाँ अवरोधक है? आहाहा!

शाश्वत् वस्तु जो अवध्य ध्रुव चीज़ पड़ी है, आनन्द का नाथ, आहाहा! उसे कौन घात करे? और उसे कौन उपसर्ग और परीषह स्पर्श करे? समझ में आया? वहाँ समकिती निर्भय है। वह तो बेचारी मिथ्यादृष्टि बाई (थी), तो भी साहसरूप से (रही), नहीं तो मर जाये। उसमें जाना कहाँ? (उसे ऐसा हो कि) पानी में गिरकर मर जायें। तो भी आयुष्य है न? इसी प्रकार यह त्रिकाली भगवान है न! आहाहा!

जिसकी दृष्टि में शाश्वत् आत्मा है न? उसे कोई भय है नहीं। आहाहा! ऐसी समकित की कीमत है!! ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है! आहाहा! जिसका विषय तो क्या कहना!! सम्यग्दर्शन का विषय शाश्वत् वस्तु का तो क्या कहना!! वह तो अन्दर अनन्त... अनन्त... चैतन्यरत्न के भण्डार भरे हैं! आहाहा! अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान हों तो ऐसी अनन्त... अनन्त... दशायें निकले तो भी वहाँ तो अन्दर खान पड़ी है! जैसे हीरा-माणिक की खान (होती है) उसी प्रकार यह तो चैतन्यरत्न की खान! चैतन्यरत्नाकर! कल आया था। ऐसा आत्मा जिसे दृष्टि में, अनुभव में आया... आहाहा! उसे भय के प्रकार में कोई भय होता नहीं। क्यों? कि निसर्ग निर्भय है। उसका स्वभाव ही निर्भय है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो (अज्ञानी जीव को) कुछ नुकसान जाये या इज्जत जाये वहाँ चिल्लाहट मचाता है, हाय... हाय... मर गये! किसे मुख दिखाना? जहर खाकर गिरो कुँए में। आहाहा! अभी किसी लड़के का नहीं आया था? सोनी... सोनी! सोनी का आया था,

नहीं ? सोनी के लड़के का होगा, सोनी का बाप कहीं अन्यत्र चला गया होगा। उसमें सोने के (गहने) आये होंगे, वे चोरी हो गये। दस हजार के (हों) या (इतना) होगा। दोनों जवान लड़के उलझन में आ गये। दोनों ने जहर पीया! पिता को क्या (मुँह दिखाऊँगा) ? एक तो वहीं का वहीं मर गया था, एक को अस्पताल ले गये थे। समाचारपत्र में आया था। किसी ने बात की थी, हम कहाँ (समाचारपत्र पढ़ते हैं) ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि इससे अनन्तगुणी प्रतिकूलता सातवें नरक में है, परन्तु सम्यग्दृष्टि का स्वभाव निर्भय हो गया है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! **'निसर्ग-निर्भयतया' स्वभाव से भय से रहितपना होने से। भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवों का निर्भय स्वभाव है,...** देखो! वह (मूल) स्वभाव है वह तो निर्भय है परन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि का अपना निर्भय स्वभाव है। स्वाभाविक निर्भय है। आहाहा!

मेंढ़क हो और समकिती हो! इतना छोटा जानवर है, तो भी उसे बाघ और सिंह और सर्प देखे (तो भी निर्भय है)। बाहर जंगल में तिर्यंच में (ऐसे) समकिती होते हैं। बाहर में असंख्य समुद्र में असंख्य तिर्यंच समकिती हैं, आत्मज्ञानी हैं। सिंह, बाघ, रीछ समकिती हैं। असंख्यगुणे तिर्यंच मिथ्यादृष्टि हैं और असंख्य (मिथ्यादृष्टि में) एक समकिती! ऐसे-ऐसे असंख्य (सम्यग्दृष्टि) हैं! आहाहा! वे मेंढ़क समकिती हैं। अन्दर निर्भय है। आहाहा! मुझे कोई निगल जायेगा, खा जायेगा, (ऐसा भय नहीं है)। उसे कौन खाये ओर निगले ? जिसे खाये, निगले, वह तो नाशवान चीज़ है। मुझे (आत्मा को) कौन निगले और (कौन) खाये ? आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। है ?

सम्यग्दृष्टि जीवों का निर्भय स्वभाव है,... सम्यग्दृष्टि के पर्यायस्वभाव की बात है, हों! वस्तु तो निर्भय है, वह अलग (बात है)। आहाहा! **इस कारण सहज ही अनेक प्रकार के परीषह-उपसर्ग का भय नहीं है।** देखा ? आहाहा! स्वाभाविक ही वह (निर्भय है)। आहाहा! अनुकूल-प्रतिकूलता के परीषह और उपसर्ग के सम्बन्ध के समय भी वह भयरहित है। उसे कुछ भय नहीं। ऐसे उपसर्ग आवे, बाघ के, मनुष्य के, तिर्यंच के कि जहाँ खड़ा हो वहाँ बड़ी दीवार हो और सिर पर गिरे। (वह) अजीव का परीषह है। चार प्रकार के परीषह हैं न ? देव, मनुष्य, तिर्यंच और अजीव। सिर पर पत्थर गिरे।

आहाहा! कहते हैं कि उसे उसका अन्दर भय नहीं। मैं तो अरूपी शाश्वत् चैतन्य मेरा शरीर है, उसे उपसर्ग और परीषह स्पर्शे कौन? आहाहा! ऐसी वस्तु! यहाँ तो (अज्ञानी कहता है कि) समकित अर्थात् देव-गुरु सम्बन्धी की श्रद्धा की बात करके बात को कुचल डाला। आहाहा!

जिसके अन्तरात्मा में शाश्वत् वस्तु आनन्दकन्द प्रभु! ज्ञायक चैतन्य ज्योति शाश्वत् मैं हूँ, ऐसा जिसे भान हुआ, (ऐसे) समकितदृष्टि का स्वभाव निर्भय हो गया है, कहते हैं। आहाहा! उसे आजीविका न मिले तो क्या होगा? समझ में आया? वृद्धावस्था हो गयी, लड़के कोई रहे नहीं, सगे-सम्बन्धी मर गये, मेरा कोई शरण रहा नहीं। उसे भय नहीं। आहाहा! जंगल में अकेला हो... आहाहा!

शास्त्र में तो ऐसा कहते हैं, समकिती है, श्रावक की बात आती है। मगरमच्छ पैर पकड़कर अन्दर (पानी में) खींच गया। समकिती श्रावक, अन्दर निर्भय पड़े हैं। आता है, एक कथा में सेठ की बात आती है। अन्दर ले जाते हैं। आहाहा! निर्भय है, शरीर तो जड़ है, वह मेरा कहाँ है? वह घात हो तो भी मेरा कहाँ है? आहाहा! जो घात न हो वह मेरी चीज़ और घात हो वह तो पर की (चीज़) है। सम्यग्दर्शन में इतना जोर है! समझ में आया? आहाहा!

ऐसा वीतराग का मार्ग! जिनेन्द्रदेव (का मार्ग)! ऐसी शाश्वत् चीज़ है, उसका जिसे अनुभव होकर अन्दर प्रतीति हुई है, उस सम्यग्दृष्टि का स्वभाव ही निर्भय हो गया है। जैसे वस्तु में भय नहीं, उसी प्रकार उसकी प्रतीति सम्यग्दर्शन में—पर्याय में किसी का भय नहीं। आहाहा! वस्तु को कोई भय है या वस्तु न्यून हो गयी है, घात होती है, घिस जाती है? आहाहा! ऐसा जो अन्दर भगवान आत्मा, उसका जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसे अपना सम्यग्दर्शन का स्वभाव निर्भय हो गया है। आहाहा! यहाँ तो जरा सी प्रतिकूलता (आवे) तो चिल्लाहट (करे), हाय... हाय... (करे), रोवे। आहाहा!

हमने तो बहुत सब देखा है न! एक महिला रोती थी। पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। आजीविका का साधन नहीं होता। पति कमा नहीं सकता था और बड़ा लड़का मर गया था, खाने का साधन नहीं होता, छोटे लड़के, फिर घर की.... क्या कहलाता है यह? छाछ करने की (होती है न)? मथनी! पीतल की मथनी और पीतल के बर्तन

कहीं रखकर पैसे लाकर रोटियाँ बनावे। आहाहा! फिर वह महिला रोती थी। आहाहा! वह लड़का मर गया। आजीविका का साधन नहीं, घर में पैसा कुछ हो नहीं। घर के बर्तन रखकर कुछ पैसा ले आवे। क्या कहलाता है वह? उधार... या क्या कहलाता है? गिरवी... गिरवी (रख दे)। होवे सौ (रुपये की वस्तु) परन्तु पचास रुपये ले और उसका ब्याज दे। फिर वह महिला रोती थी। ऐ... लड़के! तू चला गया, मुझे यहाँ साधन नहीं, जब से मोडिया बाँधा—विवाह किया, तब से चैन (-सुख) नहीं। ऐसे रोवे। आहाहा! ज्ञानी को ऐसे प्रसंग अनन्त बार बने तो भी डर नहीं, कहते हैं। ऐसा स्वरूप है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञानी तो युद्ध करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : युद्ध करे, वह तो अन्दर राग है। उसे (कर्ताबुद्धि से) करता नहीं। होता है, उसे जानता है। उसकी दृष्टि में—मान्यता में अन्तर है न? वह वस्तु के कारण से नहीं। धर्मी है, वह अपने स्वभाव की दृष्टि रखकर, उसका ज्ञान करके और राग आवे उसका अपने में रहकर ज्ञान करता है। अज्ञानी अपने में से हटकर, अपना अज्ञान करके राग में छिंद जाता है। भाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : दो भाई लड़े किसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहुबलीजी और भरत यह जरा भी लड़े नहीं थे। राग हुआ और क्रिया हुई, उसे जानते थे। कठिन बातें हैं! भरत और बाहुबली सम्यग्दृष्टि थे। वह राग की अस्थिरता के कारण हुआ तो उसे तो वे जानते हैं। वह भी अपने ज्ञान के भाव में रहकर राग और देह की क्रिया को स्पर्श किये बिना उसका ज्ञान करते हैं। आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्वभाव है। (विशेष कहेंगे....)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कार्तिक कृष्ण ५, बुधवार, दिनांक-३०-११-१९७७, कलश-१५४-१५५, प्रवचन-१६३

कलशटीका, अन्तिम दो लाईन है। १५४ (कलश) न? निर्जरा का अधिकार है। **सम्यग्दृष्टि जीव का निर्भय स्वभाव है,...** सम्यग्दृष्टि किसे कहते हैं? कि जिसे यह चिद्-लोक आनन्दस्वरूप विद्यमान त्रिकाली चीज़ है, उसकी अनुभव में दृष्टि हुई है। विद्यमान त्रिकाल शाश्वत् वस्तु है, (यह) बाद में कहेंगे। ज्ञान शाश्वत् वस्तु है। ज्ञान उसका स्वभाव (है और) वस्तु स्वभाववान है। वह विद्यमान टिकता त्रिकाली तत्त्व है। उसके सन्मुख होकर—अन्तर्मुख होकर जो उसकी श्रद्धा और ज्ञान करे, उसे अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, इसलिए उसके भान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी आता है। आहाहा! उसे धर्मी और सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! धर्म की पहली शुरुआतवाला (कहते हैं)।

सम्यग्दर्शन होता किस प्रकार है? कि परसन्मुख का राग आदि का जो झुकाव है, उसका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली विद्यमान पदार्थ है, उसका राग से भेदज्ञान करे। यह प्रथम कर्तव्य है।

मुमुक्षु : शास्त्र पढ़ना, वह कर्तव्य नहीं रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब बातें, व्यवहार है। कर्तव्य तो यह है। शास्त्र का ज्ञान (करना), वह भी जिसमें कर्तव्य नहीं। शास्त्र तो कहीं रह गये, उसका जो ज्ञान हो, उससे भी भेदज्ञान करनेयोग्य है।

यहाँ तो शाश्वत् चीज़ है, उसे पकड़ने की बात है या नहीं? नित्यानन्द प्रभु, स्वरूप अनन्त गुणरूप अस्तित्व जिसका है, विद्यमानपना—मौजूदगीपना है, उसके सन्मुख में जिसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि जीव का निर्भय स्वभाव है।

इस कारण सहज ही अनेक प्रकार के परीषह-उपसर्ग का भय नहीं है। उसे बाह्य की प्रतिकूलता के गंज आवें... आहाहा! या अनुकूलता के सब पर्वत हों, उस ओर

उसका लक्ष्य ही नहीं है। उसे परीषह और उपसर्ग से स्वरूप चैतन्यघन है उसमें उसे भय होने का प्रसंग ही नहीं है। आहाहा! आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य में भय नहीं परन्तु पर्याय में तो भय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में भय है नहीं, उसे तो है ही नहीं। वस्तु में (तो) नहीं परन्तु जिसकी दृष्टि सम्यक् हुई, उसका पर्याय में भी भय नहीं। यह यहाँ कहना है।

मुमुक्षु : उसे भय होता है, वह चारित्र का होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अस्थिरता है, यह प्रश्न यहाँ नहीं। अस्थिरता का जरा भय हो, उसे तो वह जानता है।

मुमुक्षु : आचार्य भी कहते हैं कि भवभय से डरकर हम ऐसा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बातें....

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को भय नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : भय ही नहीं। भयप्रकृति के निमित्त में जुड़ने से जो थोड़ा (भय) होता है, वह होता है। वह उसे उसके स्वरूप में खतौनी नहीं करता। आहाहा! सूक्ष्म बात है न भाई!

यहाँ चैतन्यस्वरूप जो है, अनन्त चैतन्यरत्नाकर सागर भगवान, वह तो शाश्वत् है और उसकी जहाँ दृष्टि हुई तो उसमें है नहीं—वस्तु में नहीं (तो) यहाँ कहाँ है? वस्तु स्वयं शाश्वत् है, उसका भान किया, अब भय किसका? समझ में आया? भय है ही नहीं। वह अस्थिरता का प्रकार (होओ, उसकी बात नहीं है)।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि पहले निकल जाता है, फिर दूसरे निकलते हैं, ऐसा सब भी आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब व्यवहार से बातें (की हैं)। जब ज्ञानप्रधान कथन चलता हो, तब उसकी अस्थिरता में भय है, ऐसा ज्ञान जाने कि मुझमें है। अर्थात् पर्याय में है, वस्तु में नहीं और यहाँ तो वस्तु की दृष्टि की मुख्यता से कथन है; इसलिए उसे भय है ही नहीं। पर्याय में जरा भय हो, वह वस्तु की दृष्टि के विषय में भय है नहीं।

मुमुक्षु : वस्तु में भय नहीं परन्तु वर्तन में भय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भय है ही नहीं। निर्भय, निडर है! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : सर्प काटे तो उतराने जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उतराने जाता है, वह उसका विकल्प है, स्वरूप में वह विकल्प नहीं। ऐसा जानकर उसे विकल्प है ही नहीं (ऐसा कहा है)। अभी तो इस (अपेक्षा से बात चलती है)।

मुमुक्षु : यह तो तीनों काल में किसी को नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसे (अज्ञानी को) है। जिसने (विकल्प को) अपना माना है, उसे है।

मुमुक्षु : परन्तु वह पर्याय में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में है परन्तु यह माना है, वह पर्याय में न? उसने त्रिकाली कहाँ माना है? आहाहा! माना है वह रागादि (मेरे, ऐसा) पर्याय में माना है न? द्रव्य में तो है कहाँ? उसे (द्रव्य की) दृष्टि कहाँ है?

मुमुक्षु : आचार्य लिखते हैं कि हम भव के भय से डरते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह डरकर, इसका अर्थ यह! हम अन्दर में निर्भयरूप से जाते हैं। हमको अब भव का भय नहीं है। अर्थात् भव के भय से हट जाते हैं और अन्तर में जाते हैं। आवे, भाषा तो ऐसी ही आवे न? 'भवभय से डरी चित्त' आता है न? योगीन्द्रदेव (योगसार) में आता है।

मुमुक्षु : पहले दोहे की पहली गाथा में ही आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहली आती है, है न। 'भवभय से डरी चित्त' अर्थात्? चार गति के भव के भय से (डरी चित्त)। यहाँ कहते हैं, अनुकूल-प्रतिकूल परीषह के भय से (डरते हैं) वह नहीं। आहाहा! भव का भय है, भव का कारण जो राग है, वही भव है। उससे भव हो, उसका उसे डर है। वह डर, यह (संयोग के) भय का डर नहीं है।

स्वभाव चिदानन्द प्रभु है। आहाहा! आगे कहेंगे—'**लोकयति**' '**स्वयं लोकयति**'

अन्तिम शब्द है। स्वयं अपने को '**लोकयति इति लोकः**' (अर्थात्) स्वयं खुद अपने को देखता है, वह इसका लोक है। राग विकल्प और संयोगी चीज़ इसकी है नहीं और इसमें है नहीं।

मुमुक्षु : लड़ने जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहीं जाता नहीं। वह जाता है ज्ञान में! आहाहा! समकिती महिला हो, (वह) पानी भरने जाये, कलश भरने जाये, छानना करे। (यहाँ) कहते हैं कि वह करती ही नहीं। उसे जरा जो विकल्प आया है, उसे वह अपने स्वरूप में खतौनी नहीं करती। आहाहा! बातें ऐसी हैं।

यहाँ तो अभी निर्जरा का अधिकार है न? अर्थात् दृष्टि शाश्वत् चीज़ पर पड़ी है। आहाहा! उस ओर की दृष्टि पर्याय के ऊपर और राग के ऊपर थी, उस दृष्टि को पलटा मारा। आहाहा! शाश्वत् चैतन्यघन प्रभु, नित्य प्रभु है, आदि और अन्त नहीं, वह वस्तु शाश्वत् है... है... है... उस पर जिसकी दृष्टि पड़ी और दृष्टि ने उस शाश्वत् तत्त्व को स्वीकार किया, उसे भय नहीं। उसे राग नहीं, फिर यह तो प्रश्न कहाँ है? आहाहा! समझ में आया? यह अन्त में लेंगे।

यहाँ (कहते हैं), (किस प्रकार है) **निर्भयपना? ऐसा सहज है।** देखो? आहाहा! भय होता है और भय से विमुख होता है, ऐसा भी नहीं, ऐसा कहते हैं। सहज ही निर्भय है।

मुमुक्षु : यह तो त्रिकाली स्वभाव में....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में। पर्याय में सहज निर्भय है। वस्तु तो वस्तु है। आहाहा! वस्तु तो वहाँ वस्तु वस्तु को कहाँ स्वीकार करती है? स्वीकारती है तो पर्याय, अनित्य पर्याय नित्य को स्वीकार करती है।

मुमुक्षु : अनित्य, नित्य और अनित्य दोनों को स्वीकारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनित्य नित्य को स्वीकारता है। यहाँ दृष्टि है न? अनित्य को नहीं। ज्ञान हो वह नित्य और अनित्य दोनों का (ज्ञान) करे, परन्तु दृष्टि तो मात्र त्रिकाली नित्य को ही स्वीकार करती है। ऐसा है। वस्तु का स्वभाव ऐसा है।

मुमुक्षु : बहुत उलझन लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझन निकल जाये, ऐसा लगता है। आहाहा! राग भी आवे, विषय की वासना भी हो, उसे यहाँ गिनने में नहीं आया। उसे तो इस ओर दृष्टि के विषय में जिसका झुकाव है, उसे अशुद्धता आकर खिर जाती है, ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि उसे अशुद्धता बिल्कुल ही न हो। समझ में आया?

कल प्रश्न आया था न? कि व्यवहार है, उसे मानना चाहिए या नहीं? मानना चाहिए।

मुमुक्षु : मानना चाहिए या जानना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानना चाहिए।

मुमुक्षु : दोनों हैं, ऐसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है—ऐसा मानना चाहिए।

मुमुक्षु : यह तो ज्ञान से...

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान नहीं, श्रद्धा से मानना चाहिए, ऐसा यहाँ है। यह दोपहर में आयेगा। '**मन्यते**' व्यवहार मानता है।

मुमुक्षु : श्रद्धा का विषय तो अकेला त्रिकाली आत्मा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह वस्तु अलग बात है, परन्तु ज्ञान ऐसा करके मानता है कि यह है। व्यवहार है, ऐसा मानता है, यह बात दोपहर में आयेगी। पहले आ गयी थी, पहला कलश आ गया था। व्यवहार से व्यवहार मोक्षमार्ग स्थापित किया है। है, परन्तु है हेय।

मुमुक्षु : वह परद्रव्य है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह परद्रव्य (कहा वह) तो अपेक्षा से (कहा है), बाकी है इसकी पर्याय का राग-भाग। वह है। यह कहा नहीं? मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में कहा है। शिष्य ने प्रश्न किया कि हम तो निश्चय को मानते हैं और व्यवहार की प्रवृत्ति करते हैं। (तो कहते हैं), नहीं, व्यवहार को व्यवहाररूप मानना। दृष्टि का विषय त्रिकाली है, वह

अलग वस्तु, परन्तु है, ऐसा उसे मानना। तथापि वह हेय है। व्यवहार न माने तो पर्याय (ही) नहीं (ऐसा) इसका अर्थ हुआ। पर्याय स्वयं ही व्यवहार है। वस्तु त्रिकाली निश्चय है और एक समय की पर्याय है, वह भी व्यवहार है। व्यवहार नहीं—ऐसा नहीं है। व्यवहार है, (परन्तु) आश्रय करनेयोग्य नहीं है और वह हेयबुद्धि से जाननेयोग्य, माननेयोग्य है। ....भाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! यह इसमें आयेगा, दोपहर में आयेगा। मोक्षमार्ग निरूपण किया, ऐसा आयेगा। चौदहवें में निरूपण आयेगा। परन्तु पहला व्यवहार स्थापित किया हुआ है। व्यवहार मोक्षमार्ग है। है अर्थात्? राग है, उसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है। वह है, परन्तु है हेय। हो, उसे हेय कहते हैं या न हो, उसे हेय (कहते हैं)? हेय है। है, उसे हेय है या नहीं है, उसे हेय है? आहाहा!

यह तो पहले आ गया है। '**संवृत्तिपत्थ्य**' नहीं? टीका में तो कल्पित और आरोपित, (ऐसे) दो अर्थ किये हैं। व्यवहार मोक्षमार्ग अर्थात् कल्पित मार्ग भी है। आरोपित (कहा) परन्तु है। राग में आरोप किया कि यह व्यवहार (मोक्षमार्ग है), वह आरोपित है न? वह वस्तु मोक्षमार्ग कहाँ है? चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं। दो नय को न माने (और) एक नय को माने तब तो मिथ्यात्व है। दो नय को मानना परन्तु व्यवहारनय हेय है, ऐसा मानना। आहाहा!

(एक) भाई ने प्रश्न किया था। कोठारी आये हैं या नहीं? नहीं आये? कल सवेरे बोल गये कि, कल तो आपने व्यवहार मानना (ऐसा) कहा। (हमने) कहा, हाँ। मानना अर्थात् आदरनेयोग्य है, ऐसा मानना, ऐसा नहीं है। है, पर्याय है।

ग्यारहवीं गाथा में कहा नहीं था? सभी पर्यायें झूठी हैं, ऐसा वहाँ कहा, लो! व्यवहार अभूतार्थ है। व्यवहार अर्थात् पर्याय। पर्यायमात्र झूठी है। अर्थात्? अर्थात् क्या? वह तो त्रिकाल की सत्यता की अपेक्षा से, पर्याय त्रिकाल रहनेवाली नहीं है, इस अपेक्षा से झूठी कहकर, गौण करके झूठी कहा है। परन्तु अभाव करके झूठी कहा है, ऐसा नहीं। यह तो मार्ग... बापू! समझ में आया?

यहाँ तो निर्जरा अधिकार चलता है। अर्थात् उसे (-सम्यग्दृष्टि को) जो भय जरा होता है, उसे यहाँ तो निर्जरित हो जाता है, ऐसा सिद्ध करना है। शाश्वत् वस्तु त्रिकाली

नित्यानन्द ध्रुव का ध्येय है। आहाहा! नित्यानन्द प्रभु ध्रुव स्वरूप का ध्येय (करके) धीरज से धखती पेढी में वह स्थित है। आहाहा! यह बड़ी पेढी होती है न? करोड़ोंपति की धखती पेढी चलती है। ऐसे जिसने ध्येय—ध्रुव को ध्येय में लेकर और ध्यान की धखती पेढी जिसने प्रगट की है। सूक्ष्म बातें, बापू! यह तो परमेश्वर के घर की बातें हैं! अभी सब गड़बड़ी बहुत हो गयी है। आहाहा!

मुमुक्षु : हमारे तो बहुत सरल हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सच्ची है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **सहज है।** अन्तिम भाषा आयी? स्वयं का अर्थ (यह किया)। १५४! **ऐसा सहज है।** सम्यग्दृष्टि को यथार्थ में भय नहीं, ऐसा सहज है। अस्थिरता का जो थोड़ा भय आवे, उस बात को यहाँ गिना नहीं है। दृष्टि के जोर में जो पूर्णानन्द ध्रुव आत्मा पकड़ा है, उसकी पर्याय में उसे भय नहीं है। ध्रुव को पकड़ा, ऐसी जो पर्याय—सम्यग्दर्शन ने ध्रुव को पकड़ा है। यह विद्यमान अनादि-अनन्त नित्यानन्द अनन्त... अनन्त... गुण रत्नाकर का ध्रुव पिण्ड, उसे जिसने अन्तर्दृष्टि से स्वीकार किया, उस वस्तु में (तो भय) नहीं, यहाँ तो अब पर्याय में भय नहीं (ऐसा कहते हैं)। यहाँ निर्जरा लेनी है न? समझ में आया? जयसुखभाई! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

भय नहीं अर्थात्? गाँव में प्लेग चलता हो और स्त्री-पुत्र (हैरान) होते हों तो सम्यग्दृष्टि स्वयं बाहर निकाल जाये।

मुमुक्षु : अरे! सबसे पहले भागे!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मानों कि अभी स्त्री-पुत्र उलझन में हैं और लड़के जवान हैं, लड़कियाँ, बहुयें हैं (वे) उलझन में हैं, चलो भाई! हम गाँव बदल डालें।

मुमुक्षु : उसे भय नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में भय नहीं।

मुमुक्षु : अन्दर में न हो तो बाहर आवे कहाँ से?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अस्थिरता का प्रकृति के सम्बन्ध का थोड़ा (भय) आया

परन्तु उस भय को परमार्थ से गिनने में नहीं आता। वस्तु में भय हो जाये और पर्याय में एकपने भयपना आ जाये तो उसे भय कहा जाये।

मुमुक्षु : श्रद्धा जितना बराबर है, चारित्र जितना नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चारित्र जितने की यहाँ बात ही नहीं। यहाँ तो चारित्र जितने का जो दोष आता है, उसे तो दृष्टि के जोर की अपेक्षा से निर्जरा कहा जाता है।

मुमुक्षु : होवे उसकी निर्जरा या न हो उसकी?

पूज्य गुरुदेवश्री : है, उसकी निर्जरा। कहा नहीं? निर्जरा की दूसरी गाथा! निर्जरा (अधिकार) की दूसरी गाथा आती है कि साता-असाता का वेदन एक समय में है परन्तु वह निर्जरित हो जाता है।

मुमुक्षु : नया कर्म बँधता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बँधता नहीं, बँधता नहीं, इसका अर्थ कि निर्जरित हो जाता है। अन्दर साता-असाता की सुख-दुःख की कल्पना हो जाती है। आहाहा! तथापि वह चली जाती है—निर्जरित हो जाती है। बहुत सूक्ष्म मार्ग, बापू! आहाहा!

ऐसा तीन लोक का नाथ चिद्घन प्रभु! जिसके समक्ष केवलज्ञान की पर्याय की भी कुछ कीमत नहीं!! वह अन्दर बाद में कहेंगे, वह तो स्वयं चिद्लोक है न! मेरा चिद्लोक यहाँ है न! यह हूँ न! आहाहा! इस चिद्लोक को इसलोक और परलोक का भय कैसा? इसलोक अर्थात् शरीर की पर्याय रहे, तब तक ठीक रहेगा या नहीं? परन्तु वह मेरी चीज़ कहाँ है? आहाहा! ऐसा है।

अब १५५ श्लोक।

कलश - १५५

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२३-१५५।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सः सहजं ज्ञानं स्वयं सततं सदा विन्दति' [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [सहज] स्वभाव ही से [ज्ञानं] शुद्धचैतन्यवस्तु को [विन्दति] अनुभवता है — आस्वादता है। कैसे अनुभवता है? [स्वयं] अपने में, आपको अनुभवता है। किस काल? [सततं] निरन्तररूप से [सदा] अतीत, अनागत, वर्तमान में अनुभवता है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निःशंकः' सात भयों से रहित है। कैसा होने से? 'तस्य तद्भीः कुतः अस्ति' [तस्य] उस सम्यग्दृष्टि के [तद्भीः] इहलोकभय-परलोकभय [कुतः अस्ति] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। जैसा विचार करते हुए भय नहीं होता, वैसा कहते हैं — 'तव अयं लोकः तदपरः अपरः न' [तव] भो जीव! तेरा [अयं लोकः] विद्यमान है जो चिद्रूपमात्र, वह लोक है। [तदपरः] उससे अनय जो कुछ है इहलोक-परलोक। विवरण — इहलोक अर्थात् वर्तमान पर्याय, उसमें ऐसी चिन्ता कि पर्यायपर्यन्त सामग्री रहेगी कि नहीं रहेगी। परलोक अर्थात् यहाँ से मरकर, अच्छी गति में जावेंगे कि नहीं जावेंगे, ऐसी चिन्ता। ऐसा जो [अपरः] इहलोक-परलोक पर्यायरूप, [न] जीव का स्वरूप नहीं है। 'यत् एषः अयं लोकः केवलं चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति' [यत्] जिस कारण से [एषः अयं लोकः] अस्तिरूप है जो चैतन्यलोक, वह [केवलं] निर्विकल्प है। [चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति] ज्ञानस्वरूप आत्मा को स्वयं ही देखता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो जीव का स्वरूप ज्ञानमात्र, सो तो ज्ञानमात्र ही है। कैसा है चैतन्यलोक? 'शाश्वतः' अविनाशी है। और कैसा है? 'एककः' एक वस्तु है। और कैसा है? 'सकलव्यक्तः' [सकल] त्रिकाल में [व्यक्तः] प्रगट है। किसको प्रगट है? 'विविक्तात्मनः' [विविक्त] भिन्न है [आत्मनः] आत्मस्वरूप जिसको, ऐसा है, जो भेदज्ञानी पुरुष, उसे।।२३-१५५।।

कलश - १५५ पर प्रवचन

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विवित्कात्मन–
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२३–१५५।।

'**लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विवित्कात्मन–**' भेदज्ञानी को '**व्यक्तो**' ऐसा आगे कहेंगे। वस्तु तो व्यक्त है, परन्तु भान हुआ है, उसे व्यक्त है। आहाहा! अन्तिम लाईन का पहला अर्थ करते हैं।

'**सः सहजं ज्ञानं स्वयं सततं सदा विन्दति**' **सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव ही से शुद्ध चैतन्यवस्तु को अनुभवता है...** आहाहा! वह शुद्ध चैतन्यवस्तु को **आस्वादता है।** राग को नहीं। आहाहा! राग आता है, उतना दुःख है, यह बात अभी यहाँ नहीं लेनी है। यह निर्जरा अधिकार है और दृष्टि के विषय का अधिकार है।

मुमुक्षु : कोई कहे या न कहे, तब आप नहीं कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ना करे तो उसे कहते हैं कि हाँ है? समकिती को पर्याय में जरा भी राग नहीं और दुःख ही नहीं, ऐसा कोई निषेध करे तो एकान्त है, ऐसा भी वहाँ कहते हैं। इन दोनों का मेल करे तो स्पष्ट होता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि समकिती राग का कर्ता नहीं और प्रवचनसार में कहते हैं कि गणधर भी महाव्रत का विकल्प आता है, उसका वह कर्ता है। कर्ता अर्थात् परिणमे, वह कर्ता—ऐसा कहकर उसे कर्ता सिद्ध किया है और उसका—राग का भोक्ता भी है। क्योंकि उतना राग आया, उसका ज्ञानी को भी वेदन है। परन्तु जब दृष्टि के विषय की व्याख्या चलती हो तब उसे राग करनेयोग्य है (ऐसी कर्ताबुद्धि नहीं होने से) इस अपेक्षा से कर्ता नहीं और भोगनेयोग्य है (ऐसी भोक्ताबुद्धि नहीं होने से) इस अपेक्षा भोक्ता नहीं (ऐसा कहा जाता है)। ऐसी बातें हैं। यह तो वीतराग का अनेकान्त मार्ग, भाई! आहाहा!

इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि व्यवहार से भी धर्म होता है और निश्चय से भी धर्म होता है, यह अनेकान्त। ऐसा नहीं। व्यवहार है, निश्चय है, दोनों हैं (ऐसी) उसकी मान्यता में जानना चाहिए। परन्तु वह व्यवहार हेय है, जहर है, परन्तु है न?

मुमुक्षु : आप ऐसा कहते हो कि उसका अभाव करे तब होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो अभी है, उसकी बात है। अभाव तो स्थिरता करे, (तब होता है)। यहाँ तो उसे अभी है, चौथे गुणस्थान में, पाँचवें गुणस्थान में अशुद्धता है, वेदता है, परिणमता है, इसलिए कर्ता कहलाता है। वह ज्ञान की अपेक्षा से स्व और पर दोनों को जानने की अपेक्षा से लिया जाता है। परन्तु दृष्टि की अपेक्षा से जब (बात) चलती है, (तब) वह तो त्रिकाली आनन्द का नाथ जिसे अनुभव में आया, उसे अब अशुद्धता है ही नहीं। वहाँ ऐसा कहे! क्योंकि वस्तु शुद्ध है और उसे शुद्धता के परिणाम से पकड़ा है। अर्थात् उसके परिणाम में और उसके विषय में अशुद्धता है नहीं। परिणाम में अशुद्धता नहीं, (ऐसा कहा)। आहाहा!

मुमुक्षु : किसके परिणाम में अशुद्धता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : समकिती के। जब ज्ञान की प्रधानता से कथन चले, तब कहते हैं कि, उसके परिणाम में अशुद्धता है। अशुद्धता न हो तो पूर्ण शुद्धता होनी चाहिए। आनन्द के साथ थोड़ा दुःख न हो तो आनन्द पूर्ण होना चाहिए। साधक जीव को— सम्यग्दृष्टि को दुःख ही नहीं है, ऐसा कोई कहे तो उसे पूर्ण आनन्द है, ऐसा हो जाना चाहिए। पूर्ण आनन्द तो है नहीं।

मुमुक्षु : बारहवें गुणस्थान में दुःख जरा भी नहीं, तथापि सुख पूरा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अनन्त नहीं, सुख पूरा हो गया है। अनन्त सुख नहीं। बारहवें में सुख पूरा हो गया है, परन्तु अनन्त सुख नहीं। क्योंकि ज्ञानावरणीय है, इसलिए अल्पज्ञ है तो अनन्त सुख नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही।' आता है न? श्रीमद् में आता है। 'जहाँ जहाँ योग्य है' योग्य! 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही; वहाँ वहाँ वह वह आचरे, आत्मार्थीजन वही।' और ऐसा आग्रह न हो कि मुझे बिल्कुल राग है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा!

दृष्टि और दृष्टि के विषय के जोर की अपेक्षा से उसे राग है ही नहीं, ऐसा कहा जाता है। परन्तु जब दृष्टि के साथ ज्ञान हुआ हो, वह ज्ञान राग के कण-कण को जानता है (कि) मेरा अपना दोष है, मेरे कारण से दोष हुआ है, कर्म के कारण से नहीं।

दूसरी अपेक्षा से जहाँ कर्ता-कर्म का अधिकार ले, (समयसार की) ७५, ७६, ७७ (गाथा)। तब कहे कि सम्यग्दृष्टि जीव को व्याप्य-व्यापकपना शुद्ध में है। अशुद्ध का व्याप्य-व्यापकपना उसे है ही नहीं। वह तो कर्म का व्याप्य-व्यापक(पना है)। कर्म व्यापक होकर विकार की व्याप्य-अवस्था करता है। वहाँ ऐसा लेते हैं। आहाहा! चन्दुभाई! वहाँ (ऐसा कहा है कि) कर्म व्यापक होकर विकार की व्याप्य अवस्था करता है। आत्मा व्यापक होकर, स्वभाव है, वह व्यापक होकर विकार (कहाँ से करे)? वहाँ ऐसा लिया।

एक सोमचन्दभाई ने यह प्रश्न किया था। सोमचन्दभाई खारा थे न, जामनगर (में) 'इस जगह यह (कहा) और इस जगह (ऐसा कहा है)? (हमने कहा) जिस जगह जिस प्रकार से कहा है, उस प्रकार से उसे मानना पड़ेगा। यहाँ तो कहा कि समकिती को विकार (होता है वह) कर्म का व्याप्य है और दूसरे प्रकार से कहो तो उसे कर्म का व्यापक का विकार है, तब तक है। जब तक उसे विकार है, तब तक उसका कर्ता-भोक्ता स्वयं है। ऐई!

मुमुक्षु : दो में से एक निश्चित करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों का निश्चित करना चाहिए। जहाँ जिस अपेक्षा से कहा, (वहाँ) उस अपेक्षा से उसे बराबर मानना चाहिए। खींचतान नहीं करनी चाहिए।

अभी कलकत्ता में यह हो गया है न? दिल्ली... दिल्ली। ज्ञानचन्दजी जयकुमार। उन लोगों को दीपचन्द सेठिया की बात घुस गयी है। (वे भाई कहते हैं), समकिती को राग होता ही नहीं। अकेली शुद्धता ही होती है।

मुमुक्षु : इसमें कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : किस अपेक्षा से (बात) कही? वापस दूसरी जगह कहा कि, गणधर जैसे को भी जो पंच महाव्रत विकल्प उठे, वह अशुद्धता है।

मुमुक्षु : यह तो प्रवचनसार में आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु आया न? प्रवचनसार अर्थात् वीतराग की दिव्यध्वनि का सार! वहाँ तो यह आया। दोनों को मानना पड़ेगा। ....भाई! आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई!

यहाँ कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव ही से शुद्ध चैतन्यवस्तु को अनुभवता है...** देखा? भाषा तो ऐसी है। अशुद्धता वेदता ही नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। यह दृष्टि और दृष्टि के विषय के जोर में ऐसा वहाँ कहा जाता है। पर्याय में अशुद्धता है, उसे वेदता है, उसे गौण गिनकर, व्यवहार कहकर 'नहीं वेदता', ऐसा कहा गया है। आहाहा! इतना सब कहाँ (याद रखना)! शुद्ध चैतन्यवस्तु को **आस्वादता है।**

कैसे अनुभवता है? अपने में आपको अनुभवता है। 'स्वयं' (शब्द) है न? (अर्थात् कि) **अपने में आपको अनुभवता है।** आहाहा! शुद्धस्वभाव से शुद्धस्वभाव को वह वेदता है। आहाहा! प्रवचनसार १७२ गाथा (में) अलिंगग्रहण (के) बीस बोल हैं। उनमें छठवाँ बोल यह है। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। यह शब्द है। वह अपने स्वभाव से ज्ञात होता है। वह राग से ज्ञात नहीं होता, व्यवहार से ज्ञात नहीं होता और ऐसा वह प्रत्यक्ष है। मति और श्रुतज्ञान द्वारा वह प्रत्यक्ष होता है। उसे राग की और मन की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! चन्दुभाई! यह इतने सब पहलू (समझने योग्य हैं)।

स्याद्वाद मार्ग है। किस अपेक्षा से कहा है, उस अपेक्षा से जानना चाहिए परन्तु स्याद्वाद का अर्थ ऐसा नहीं कि राग से भी धर्म होता है और वीतरागता से भी धर्म होता है। ऐसा स्याद्वाद नहीं है। वीतरागस्वभाव से धर्म होता है और राग से धर्म नहीं होता।

मुमुक्षु : आप्तमीमांसा में लिखा है कि शुद्ध और शुभ दोनों से धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म अर्थात् वह शुभभाव राग है न? (वह) व्यवहारधर्म, ऐसा कहा, दूसरा क्या? व्यवहार धर्म। ऐसा ही कहे न।

मुमुक्षु : दो जगह मिला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन लाख जगह (भले) कहा हो (तो भी क्या?) राग को

व्यवहारधर्म कहते हैं अर्थात् कि वह है नहीं, उसे धर्म का आरोप दिया जाता है। और चैतन्यमूर्ति भगवान के अवलम्बन से जो शुद्धता प्रगट हुई, वह धर्म, वह निश्चय है। आहाहा! समझ में आया? वह यथार्थ धर्म है। यह तो समकित नहीं कहा? निश्चय शुद्ध चैतन्य वस्तु की अनुभवदृष्टि, वह निश्चय समकित, परन्तु साथ में देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, शास्त्र का ज्ञान, छह काय की दया के राग को व्यवहारचारित्र, व्यवहारदर्शन और व्यवहार ज्ञान कहा। यह आरोपित (कथन से) कहा। परन्तु वह व्यवहाररूप से व्यवहार है परन्तु आरोप से है। आहाहा! ऐसा मार्ग बहुत (गंभीर)! भाई! ऐसी बात है। (मार्ग) है तो सरल परन्तु लोगों ने कठिन करके माना है। आहाहा!

राग आवे, समकिती युद्ध में खड़ा रहे। आहाहा! यहाँ तो यह बात लेनी नहीं। वह राग का अंश है, उसका कर्ता वह है, भोक्ता वह है, उसकी जवाबदारी है। यहाँ तो दृष्टि का विषय और दृष्टि की मुख्यता से जहाँ कथन चलता है, वहाँ तो कहते हैं कि अकेली शुद्धता को ही वेदता है। अशुद्धता को वेदता है, उसे गौण करके, 'वेदता नहीं' ऐसा कहा गया है। गौण करके (कहा गया है)।

मुमुक्षु : वहाँ तो पुद्गल की पर्याय कही।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उसकी—पुद्गल की ही है। आत्मा का स्वभाव नहीं इसलिए पुद्गल की कही। आहाहा! ईश्वरनय से नहीं आया? ४७ नय में आता है। कर्म के निमित्त के आधीन होता है, वह अपना स्वभाव है (अर्थात् कि) पर्याय की योग्यता है। कर्म के कारण नहीं। कर्म के निमित्त में ईश्वरनय अर्थात् स्वयं पराधीन होता है, धाय माता जैसे बालक को दूध पिलाती है, वैसे निमित्ताधीन हो, वह पर्याय की अपनी योग्यता है। कर्म उसे विकार कराता है, (ऐसा नहीं है)। ले! आहाहा!

एक ओर वहाँ (समयसार की) ७५, ७६ (गाथा में) ऐसा कहते हैं कि जितना समकिती को विकार होता है, वह सब उसका व्याप्य नहीं, वह कर्म का व्याप्य—अवस्था है। उसे (विकार को) निकाल डालने के लिये इस दृष्टि से कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य है। आत्मा व्यापक (नहीं, क्योंकि) आत्मा तो शुद्ध है (तो) वह व्यापक होकर तो निर्मल पर्याय व्याप्य होगी। ऐसी बातें हैं, बहुत पहलू, बापू! आहाहा!

(यहाँ कहते हैं कि) **स्वभाव ही से शुद्ध चैतन्यवस्तु को आस्वादता है। कैसे अनुभवता है? अपने में आपको अनुभवता है।** लो! **किस काल? निरन्तररूप से...** लो, ठीक! **अतीत, अनागत, वर्तमान में अनुभवता है।** तीनों काल में समकिती तो शुद्धता को ही अनुभव करता है। आहाहा! **कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव?** निःशंक है। **सात भयों से रहित है।** शंका अर्थात् यहाँ भय लेना। निःशंक अर्थात् भयरहित। **सात भय से रहित है।** आहाहा!

कैसा होने से? कारण कि 'तस्य तद्भीः कुतः अस्तिः' उस सम्यग्दृष्टि के इहलोकभय, परलोकभय कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। जैसा विचार करते हुए भय नहीं होता वैसा कहते हैं... अब कहते हैं कि (भय) क्यों नहीं? कैसा विचार करने से उसे भय नहीं? आहाहा! कैसी भाषा ली है, देखो न! **जैसा विचार करते हुए भय नहीं होता वैसा कहते हैं—'तव अयं लोकः तदपरः अपरः न' भो जीव! तेरा 'अयं लोकः' विद्यमान है जो चिद्रूपमात्र वह लोक है।** देखो! आहाहा! आनन्द और ज्ञानमात्र प्रभु आत्मा! मेरा लोक तो वह है। शरीर और शरीर की पर्याय, वह मेरा लोक ही नहीं है। आहाहा! '**लोक्यन्ते इति लोकः**' स्वयमेव मेरे स्वरूप को मैं अवलोकन करता हूँ, वह मेरा लोक है। आहाहा!

समयसार तो बापू! केवलज्ञान के सब कक्का खुल्ले हैं! आहाहा! ऐसी बात की है! साक्षात् सर्वज्ञ भगवान परमात्मा के श्रीमुख से निकली हुई बात है! वह सन्तों—चारित्र के अनुभवी... चारित्र के अनुभवी! सम्यग्दर्शन, ज्ञान (तो है) यह तो चारित्र के अनुभवी—वेदनवाले, वे ऐसा कहते हैं कि समकिती को भय क्यों नहीं है? इसलोक और परलोक (भय) कहाँ से हो? क्या विचार करने से? कि, तेरा लोक तो यह है—चिद्रूपमात्र वस्तु। राग भी नहीं, शरीर भी नहीं, उसे पहिचाननेवाले—शरीर को पहिचाननेवाले कुटुम्बी शरीर को पहिचानते हैं न? वे आत्मा को तो अन्दर कौन पहिचानते हैं? 'यह मेरा पुत्र, यह मेरा पिता', यह तो शरीर की चेष्टावाले देह को यह मेरा पिता, पुत्र कहते हैं। धर्मी को वे बाहर के संयोग की चेष्टा है ही नहीं। बाहर का लोक उसे है ही नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान, इज्जत वह है ही नहीं।

मुमुक्षु : इस दृष्टि से तो किसी को नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसको (-अज्ञानी को) है, (अपने) मानता है, उसे है। मान्यता में (अपने) मानता है न? वह मान्यता स्वरूप में नहीं है परन्तु पर्याय में मानता है, उसे है। आहाहा! 'यह मेरे हैं' ऐसा मानता है, उसे मान्यता में हैं, परन्तु वह मान्यता कहीं स्वरूप में नहीं है। नयी उत्पन्न की हुई भ्रमणा है। आहाहा!

मेरा लोक तो '**अयं लोकः**', है? '**अयं**' का अर्थ विद्यमान—यह। है न? यह! यह अर्थात् विद्यमान। लोक अर्थात् चिद्रूपमात्र लोक। दोनों के अर्थ किये। '**अयं लोकः**' यह अर्थात् विद्यमान है। यह... ध्रुव चिदानन्द भगवान विद्यमान ध्रुव वह यह! क्या यह? लोक। **चिद्रूपमात्र वह लोक है।** वह तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य, चैतन्यचन्द्र... चैतन्यचन्द्र! वह तो स्वयं चैतन्यचन्द्र चिद् ज्ञान और आनन्द के हिलोर में चढ़ी हुई चीज़ है। वह मेरी चीज़ है। आहाहा! कठिन बात, बापू! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या! आहाहा!

'**अयं लोकः**' यह लोक—विद्यमान लोक। क्या विद्यमान लोक? चिद्लोक। विद्यमान चिद्लोक। है चिद्लोक। मेरी अस्ति चिद्लोक यह मैं हूँ। आहाहा! अकेले ज्ञानस्वभाव (की) मुख्यता से बात की, परन्तु ज्ञान आदि अनन्त विद्यमान स्वभाव है, वह मेरा लोक है। आहाहा! यहाँ तो एक समय की पर्याय भी निकाल दी। क्योंकि वह पर्याय स्वयं निर्णय करती है न? निर्णय इसका (करती है)। यह विद्यमान ध्रुव चिद्लोक, यह मैं, यह मेरा लोक है—ऐसा पर्याय निर्णय करती है। ध्रुव में तो निर्णय है नहीं। आहाहा!

'**तदपरः**' **उससे अन्य जो कुछ है...** शरीर, वाणी, मन, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, सगे-सम्बन्धी... वे '**अपरः**' (अर्थात्) मेरी चीज़ से '**अपरः**' दूसरी चीज़ है। आहाहा! वे मेरी चीज़ नहीं, वे मुझमें नहीं। आहाहा! **अन्य जो कुछ है इहलोक, परलोक। विवरण—इहलोक अर्थात् वर्तमान पर्याय,...** अर्थात् शरीर। **उसमें ऐसी चिन्ता कि पर्याय पर्यन्त सामग्री रहेगी कि नहीं रहेगी।** क्या कहते हैं? इस लोक का भय अर्थात् यह शरीर। शरीर जब तक है, तब तक यह सब सुविधा रहेगी या नहीं? मकान की, सोने की, खाने-पीने की, स्त्री, परिवार की, सेवा करनेवाले की, शरीर रहेगा

तब तक यह सामग्री मुझे रहेगी या नहीं? आहाहा! परन्तु धर्मी तो शरीर ही अपना मानता नहीं, फिर सामग्री रहेगी या नहीं, यह बात ही कहाँ (रहती है)? ....भाई! मूल में चोट की बात है यहाँ!

पर्याय पर्यन्त... (अर्थात्) जब तक शरीर रहेगा (तब तक)। आहाहा! कब काल आयेगा? कैसा आयेगा? शरीर रहेगा जब तक रहेंगे, वहाँ तक यह मकान, खाने-पीने की, सेवाचाकरी (करे), ऐसे मनुष्य रहेंगे या नहीं? ऐसा भय मिथ्यादृष्टि को होता है। शरीर को अपना माने, उसे ऐसा भय होता है। आहाहा! वह इसलोक (भय है)। आत्मा के लोक में इसलोक है नहीं। आहाहा! समझ में आया? अरे! ऐसी बात!

इस लोक की व्याख्या की—**वर्तमान पर्याय....** इस लोक का भय ज्ञानी को नहीं है। क्यों? कि यह लोक मुझसे भिन्न है। यह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! शरीर ही मेरी चीज़ नहीं, फिर शरीर रहे, तब तक सुविधा रहेगी या नहीं? (यह) प्रश्न ही कहाँ है? आहाहा! अभी ऐसा कहते हैं कि जवानी अवस्था में सब कर लें, कमा-बमा कर पैसा-बैसा (इकट्ठे कर लें), फिर वृद्धावस्था आवे तो (काम आवे)। परन्तु यह शरीर ही तेरा नहीं, (यह) तू नहीं। उसकी अवस्था और सुविधा रहे या नहीं, वह तो शरीर के लिये है। तेरे लिये कुछ है ही नहीं। आहाहा!

एक बार वीरजीभाई वढ़वाण (में) बोले थे। (संवत्) १९९९ के वर्ष की बात है। वीरजीभाई तो अभ्यासी थे। बहुत लोग! वढवाण! दरियापरिया के उपाश्रय में। व्याख्यान (में) तीन-तीन हजार लोग! उपाश्रय में समाये नहीं, सामने धर्मशाला थी, वहाँ उतरे थे। (वीरजीभाई) वहाँ कैम्प में आये थे। तब ऐसा कुछ बोले थे कि अभी थोड़ा कमा लें तो...

मुमुक्षु : अभी कमा लेना, बुढ़ापे में खर्च करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा कहते थे। ऐसा कि अभी (जब तक) कमायी है, तब तक (कमा लेना)। मैंने कहा, वीरजीभाई! यह तुम क्या बोलते हो? (संवत्) १९९९ की बात है। सम्प्रदाय में दरियापरिया के पास उपाश्रय तो छोटा है, सामने धर्मशाला है। तीन-तीन हजार लोग! लोग... लोग... तब भी हमारे ऊपर लोगों को प्रेम तो था न!

बरामदे पर भी (लोग) समाये नहीं, बरामदे में! बड़ा बरामदा है। दरियापरिया में खचाखच लोग! तीन-तीन हजार लोग! १९९९ में! वहाँ (वे भाई) आये हुए थे।

मुमुक्षु : आपके व्याख्यान में तब भी लोगों को ऐसा लगता था कि स्थानकवासी का (पंथ) सच्चा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (उन लोगों को) ऐसा लगे कि अपने में ऐसे महाराज पके, इसलिए अपना सच्चा! ऐसा माने न लोग? माने। अरे... भाई! मार्ग तो दूसरा, भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि इसलोक और परलोक का भय क्यों नहीं है? कि धर्मी को यह लोक तो चिद्लोक है, वह उसका लोक है। शरीर को (लोक) उसका लोक ही नहीं है। फिर शरीर रहेगा तब तक सुविधा रहेगी या नहीं? यह प्रश्न ही नहीं है। आहाहा! अमृतलालभाई! यह ऐसी बातें हैं! शरीर में रोग हो, यह हो, (वह हो), ऐसी पीड़ा हो, (तब) कोई डॉक्टर हो, लड़के-बड़के हों तो (कहें कि) घिसो, ऐसा थोड़ा घिसो। अरे! भगवान बापू! परन्तु वह तू नहीं न! वह तेरा लोक ही नहीं न! फिर उसके लिये भय क्या? आहाहा! सूक्ष्म बात है।

यह सम्यग्दृष्टि के निःशंक (गुण की) व्याख्या है। निःशंक, वह निर्भय होता है। निर्भय कहो या निःशंक कहो, उसकी यह व्याख्या है। आहाहा! यह लोक (अर्थात्) वर्तमान पर्याय (अर्थात् कि) शरीर। **उसमें ऐसी चिन्ता कि पर्याय पर्यन्त...** (अर्थात्) शरीर रहे तब तक। **सामग्री रहेगी कि नहीं रहेगी। परलोक अर्थात् यहाँ से मरकर अच्छी गति में जावेंगे कि नहीं जावेंगे...** परन्तु वह गति ही मैं नहीं, वहाँ फिर जाऊँगा (या) नहि जाऊँगा (का) कहाँ (प्रश्न है?) मैं तो चिद्लोक, ज्ञानलोक, आनन्दलोक हूँ। जहाँ हूँ, वहाँ मैं तो आनन्द और ज्ञानलोक हूँ। उसमें मुझे गति है ही कहाँ? आहाहा!

मुमुक्षु : निश्चय से नहीं, व्यवहार से तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से है अर्थात्? निमित्त है, उसे व्यवहार से कहा जाता है। वस्तु है नहीं। आहाहा! पर्याय में गति है। मनुष्यगति (अर्थात्) इस शरीर की बात नहीं। यह शरीर कहीं गति नहीं। यह तो जड़ है। इसकी गति की योग्यता है न? पर्याय

में मनुष्य की योग्यता है, उसे गति कहा जाता है। परन्तु वह गति भी चिद्लोक में है ही नहीं। आहाहा! फिर परलोक में क्या होगा? परलोक अर्थात् दूसरा कौन? परप्रधान लोक मेरा आत्मा आनन्दकन्द, वह परलोक है। आहाहा! बात-बात में बहुत अन्तर, बापू!

मुमुक्षु : सत्य का पुकार!

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य का पुकार है। आहाहा! यह तो धीर का काम है।

परलोक अर्थात् यहाँ से मरकर किस गति में जाऊँगा? परन्तु गति ही मैं नहीं न! मैं तो जहाँ हूँ, वहाँ हूँ। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को गति ही नहीं न! मैं तो चिद्लोक जो आनन्दलोक ध्रुवलोक ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... हूँ। वह तो कायम ऐसा का ऐसा है, वैसा का वैसा है, जो है वह है। ऐसी सम्यग्दृष्टि को दृष्टि होने से उसे इसलोक और परलोक का भय नहीं होता। आहाहा!

(अज्ञानी को) देह में ऐसा आवे वहाँ (ऐसा होता है), अरेरे! अब मैं मर जाऊँगा। परन्तु तू कौन, वह मर जायेगा? बस! अब मैं मर जाऊँगा? परन्तु तू कौन? वह तो जड़ शरीर है, उसकी स्थिति पूरी होगी, (तब) छूट जायेगा, उसमें तू कहाँ आया? आहाहा!

लो, पोपटभाई को देखो न! एकदम दर्द उठा और लड़के ऊपर होंगे। छह लड़के हैं और स्वयं। (मकान में) सात मंजिल है, पाँच-पाँच लाख के सात मकान हैं, उन्हें स्वयं को रहने के इतने तो (मकान) हैं। पाँच-पाँच लाख के सात व्यक्तियों के सात। पैसा बहुत है। (लड़कों को) बुलाया, (लड़कों ने) कहा, बापूजी! ऐसा कहा वहाँ तो देह छूट गयी। परन्तु बापूजी कौन और (पुत्र) कौन? आहाहा! छह-छह लड़के और वे भी सब बड़े हो गये। सबके रहने के मकान अलग। व्यापारी (थे)। आहाहा! दो-पाँच मिनिट में वह गति पलटी परन्तु जीव कहाँ गया? जीव तो ध्रुव... ध्रुव... है वह है।

जिसकी दृष्टि में जीव चिद्लोक है, उसे परलोक की गति और इसलोक की शरीर की स्थिति उसमें है ही नहीं। कठिन बातें! आहाहा! यह लोक और परलोक **पर्यायरूप...** शरीर पर्याय थी न? इस लोक में यह शरीर, परलोक में परगति आदि। **वह जीव का स्वरूप नहीं है।** आहाहा! अरे! वृद्धावस्था आयेगी, आँखें जायेंगी, लकड़ी

लेकर मुश्किल-मुश्किल से चला जा सकेगा, उस समय मुझे कौन सम्हालेगा ? आहाहा ! ऐसा कहते हैं न ? पचास वर्ष हुए हों और स्त्री मर जाये, तब अब फिर दूसरी नहीं करें तो रखेगा (कौन) ? सेवा कौन करेगा ? धब्बा कौन ढाँकेगा ? लड़के हों वे कैसे आवे ? घर की स्त्री हो तो अपने को (ठीक रहे), फिर पचास वर्ष में, साठ वर्ष में विवाह करे ! आहाहा !

इसे तो तीसरी बार कहते थे। इनकार किया। इसके पिता ने कहा तू ले आ। छोटी उम्र में स्त्री गुजर गयी। मनसुख की माँ। अब नहीं। तब तो वकालत भी अच्छी चलती थी और शरीर सब.... अब नहीं। उसमें क्या परन्तु अब। आहाहा !

देखो न ! यह हसमुख का दृष्टान्त ! आया है हसमुख ? नहीं आया। कैसा दृष्टान्त है ! ४२ वर्ष की उम्र ! एक लड़का और लड़की, ग्यारह और तेरह वर्ष के। लाखों की आमदनी, दुकान में लाखों की आमदनी। स्वयं ही कर्ता-हर्ता, स्वयं ने ही दुकान की हुई। (कह दिया), अब नहीं, अब नहीं, भाई ! मुझे अलग करो, भाई ! आहाहा ! उसने काम किया न ! दृष्टान्त दिया है न ? भाई ! मुझे अलग करो। तीन में मेरे हिस्से में जो आता हो वह मेरे हिस्से में आवे उसका चौथा भाग मुझे दो, परन्तु मुझे दुकान से अलग करो। आहाहा !

बापू ! तुझे कहाँ जाना है ? किसका करना है ? इसके लिये निवृत्ति तो लेनी पड़ेगी न इसे ? आहाहा ! क्योंकि अपना (स्वरूप) पर से निवृत्त स्वरूप ही है। आहाहा ! विशेष कहेंगे, लो !

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

कार्तिक कृष्ण ६, गुरुवार, दिनांक-०१-१२-१९७७, कलश-१५५, प्रवचन-१६४

कलशटीका १५५ (कलश)। नीचे है। धर्मी को इसलोक और परलोक का भय नहीं होता। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसने आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप (है, ऐसा जाना है), अनन्त शक्तिवाला और एक-एक शक्ति अनन्त स्वभाववाली! ऐसी अनन्त शक्ति का पूर एकरूप द्रव्य जो वस्तु (है), उसका अनुभव (किया)। उसे राग से भिन्न करके स्वभाव का अनुभव करना, स्वभाव की दृष्टि करना, स्वभाव-सन्मुख होना, उसका नाम सम्यग्दृष्टि—धर्मी है। आहाहा! ऐसी व्याख्या है।

उस धर्मी को इस प्रकार जब अपना स्वरूप आनन्द और ज्ञान है, यह जहाँ भान में आया; अनादि से तो वह पुण्य-पाप और पुण्य-पाप के फल को अपना मानता था, वह तो अज्ञानी है। उसे अपनी शक्तिवाला तत्त्व है, उसकी उसे खबर नहीं। इसलिए स्वरूप जो त्रिकाली है, उसे भूलकर वर्तमान पर्याय—अवस्था और राग-द्वेष (होते हैं), उसे अपना मानता था, वह जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! चाहे तो साधु हुआ हो, बाह्य से त्याग (किया हो) परन्तु अन्तर में जिसे राग के—दया, दान, व्रत के परिणाम (होते हैं) उसके साथ एकताबुद्धि (वर्तती है), उसे भिन्न वस्तु की खबर नहीं। उसे आत्मधर्म कैसे हो? इसकी उसे खबर नहीं, वह अज्ञानी है। और गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, जिसने आत्मा—वस्तु अनन्त शक्ति सम्पन्न है और एक-एक शक्ति अनन्त प्रभुता के सामर्थ्यवाली है, ऐसी अनन्त शक्तियों का सामर्थ्य एकरूप आत्मा है, उसका जिसे भान, वेदन-अनुभव, ज्ञान हुआ है, उसे सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली श्रेणी कहा जाता है। ऐसी बातें हैं!

उस जीव को **इहलोक, परलोक पर्यायरूप जीव का स्वरूप नहीं है।** नीचे आया है न? इसलोक का यह शरीर और परलोक में शरीर-गति मिले, वह कहीं जीव का स्वरूप नहीं है। इसलिए जीव के स्वरूप के अस्तित्व की अस्ति के भानवाला जीव शरीर और परगति का भय उसे नहीं होता। क्योंकि वे उसके नहीं है। आहाहा! ऐसी जवाबदारियाँ हैं।

कैसा है जीव ? **'यतः एषः अयं लोकः केवलं चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति' 'यत्' जिस कारण से 'एषः अयं लोकः'** आहा ! **'एषः' अस्तिरूप है जो चैतन्यलोक... 'एषः'** (अर्थात्) यह—प्रत्यक्ष। **'अयं'** यह जो लोक। अन्दर आत्मा का जो चैतन्यस्वरूप त्रिकाली है, आनन्दस्वरूप आत्मा का त्रिकाली (स्वरूप) वह **अस्तिरूप है जो चैतन्यलोक...** वह चैतन्यलोक अस्ति-विद्यमान है। आहाहा ! धर्मी की दृष्टि में अस्तित्व-मौजूदगीवाला चैतन्य लोक, उसकी दृष्टि में है। आहाहा ! यह धर्म ऐसा है ! यह (अज्ञानी) तो कहें, दया पालो, व्रत पालो और अपवास करो (तो) हो गया धर्म ! वह तो सब अज्ञान है। वह राग की क्रिया है, उसे धर्म मानते हैं ! आहाहा !

अन्दर भगवान आत्मा... जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने जो आत्मा कहा, वह आत्मा तो अन्दर पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति और पूर्ण सुख का सागर है। आहाहा ! उसकी जिसे दृष्टि और उसकी सत्ता का स्वीकार हुआ, पूर्णानन्द के नाथ की जो सत्ता—स्वभाव है, उसका जिसे दृष्टि में स्वीकार हुआ, उसे वर्तमान में भी अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का स्वाद-आस्वाद आवे, तब उसने पूर्ण अस्तित्व को श्रद्धा-माना, ऐसा कहा जाता है। आहाहा !

पूर्ण जो अस्ति—अस्तित्व पूर्ण है, उसे उसने माना कब कहलाये ? आहाहा ! कि उसमें से अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद आवे, तब (माना कहलाये)। भगवान आत्मा का स्वरूप त्रिकाल ज्ञान और आनन्द है। वह उसकी अस्ति में है। वह आत्मा की मौजूदगी—अस्ति में है। अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द उसकी अस्ति में है। यह कहा न ? **अस्तिरूप है...** आहाहा ! ऐसी व्याख्या सुनी न हो, उसमें क्या कहते होंगे (ऐसा किसी को लगे)। यह वह वीतराग का मार्ग होगा ? बापू ! तुझे खबर नहीं।

जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ ऐसे अस्तिवाले तत्त्व को माननेवाले को समकिती कहते हैं। आहाहा ! वह पूर्णानन्द से भरपूर भगवान आत्मा है। मृग की नाभि में, नाभि में कस्तूरी है। मृग की डूंटी में—नाभि में कस्तूरी। उसकी कस्तूरी की उसे खबर नहीं। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा के स्वभाव में अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य (रहे हुए हैं)। आहाहा ! ऐसी अनन्त शक्ति का एकरूप अरूपी तत्त्व (यह भगवान आत्मा है)।

यह प्रत्यक्ष आत्मा, '**अयं लोकः**' ऐसा आत्मा, चैतन्यलोक। आहाहा! लोक की व्याख्या की। यह तो चैतन्यलोक है। उसमें अकेला आनन्द और ज्ञान ही ज्ञात हो, ऐसा वह लोक है। आहाहा! अरे! कभी इसे निज स्वरूप की महिमा आयी नहीं। यह बाहर की धूल और या पुण्य-पाप के भाव की महिमा (आयी है)। यह बाहर की भूतावल— यह पैसा और मकान और सब श्मशान की हड्डियों की चमक (फोरफरस) है। आहाहा!

प्रभु! जिसे सर्वज्ञ परमेश्वर अन्दर आत्मा (कहते हैं), वह आत्मा विद्यमान चिद्लोक है। चिद् अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, यह बाद में कहेंगे। '**लोकयति**'! '**केवलं**' यह है। क्या कहते हैं? अन्दर ज्ञानस्वरूप **निर्विकल्प है।** '**केवलं**' की व्याख्या की। 'एक' आयेगा, उसका दूसरा अर्थ करेंगे। अन्दर भगवान आत्मा, जैसे बर्फ की... क्या कहलाता है वह? शिला होती है न बड़ी? मुम्बई में बहुत आती है। पच्चीस-पच्चीस मण की, पचास मण की बर्फ की शिला (होती है)। ट्रक में (बाहर) निकलते हों, उसमें देखा हो न? इसी प्रकार यह अन्दर में भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द की शिला है। आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान की, अनन्त अतीद्रिय ज्ञान की शिला है, अतीन्द्रिय अनन्त स्वच्छता की शिला है, अनन्त अतीन्द्रिय प्रभुता की शक्ति की यह शिला है। आहाहा! अनन्त सर्वज्ञस्वभाव की भरपूर शिला है यह तो! अनन्त सर्वदर्शी शक्ति की भरपूर अपरिमित स्वभाव की शिला है यह तो। यह क्या होगा? आहाहा!

उसने अपनी चीज़ क्या है, यह सुना नहीं। समझ में आया? बाहर का बाहर (रुका है), यह शरीर, वाणी और मन और बहुत तो अन्दर पुण्य-पाप के भाव हों, उसमें स्वयं रुक गया। 'वे मेरे' (ऐसा मानकर रुक गया)। आहाहा! उनसे रहित भगवान... आहाहा! पर का कारण भी नहीं होता और पर का कार्य भी नहीं होता, ऐसी एक अकार्य नाम की अनन्त अपरिमित शक्ति की यह सत्ता-शिला है। आहाहा! ऐसा आत्मा होगा? वह तो दिखता नहीं, कहते हैं। परन्तु तूने देखा कब है? बाहर के बाहर फांफां मारे हैं। यह शरीर और वाणी और यह धूल और ये पुण्य-पाप के भाव तथा पुण्य-पाप के फल, यह बाहर की धूल, बाहर की पाँच-पचास लाख धूल मिले, वह तेरी चीज़ नहीं, वह तुझमें नहीं, तुझसे नहीं। आहाहा! ऐसा वीतराग का स्वरूप है, प्रभु!

वीतराग हुए, सर्वज्ञ परमेश्वरव हुए, सर्व आनन्द दशा प्रगट की, वे सब अरिहन्त, परमात्मा विराजते हैं। सीमन्धर भगवान (विराजते हैं)। महाविदेह में, अनन्त तीर्थंकर हुए, वे पूर्ण अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, प्रभुता प्रगट की, वह कहाँ से आयी ? कहीं बाहर से आती है ? कुँए में हो वह हौज में आवे। हौज... हौज। इसी प्रकार अन्दर में हो तो पर्याय में आवे। आहाहा!

यह चिद्लोक की व्याख्या चलती है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, चिद्लोक— ज्ञानलोक, आनन्दलोक, स्वच्छतालोक, प्रभुता लोक... आहाहा! इस लोक की व्याख्या करेंगे। '**लोकयति इति लोकः**' ऐसे स्वरूप को स्वयं '**लोकयति**' अर्थात् जाने। '**लोकयति इति लोकः**' यह लोक तेरा है। आहाहा! ऐसी बात कैसी होगी यह ? वह तो दया पाले, एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया... इच्छामि पडिकम्मा आवे न ? हो गया, लो! मिच्छामि दुक्कडम। कुछ खबर नहीं होती। पहाड़े बोले जाता है। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेन्द्रदेव ने जो दशा प्रगट की, उस दशा का सागर आत्मा है, उसमें से प्रगट की है। आहाहा!

यहाँ इतनी व्याख्या किसकी चलती है ? '**चिद्लोक अयं निर्विकल्प**' आहाहा! '**केवल**' अर्थात् निर्विकल्प अभेद वस्तु। वर्तमान पर्याय का अंश है, वह भेद भी जिसमें नहीं। आहाहा! चैतन्यसूर्य... चैतन्यसूर्य, जिनचन्द्र, वीतराग शान्ति का सागर प्रभु, वह निर्विकल्प है, एकरूप अभेद है। 'एक' की व्याख्या बाद में करेंगे। समझ में आया ? ऐसा आत्मा का स्वरूप! आहाहा! वह '**केवल**' है। अन्दर में वह निर्विकल्प वस्तु है, अभेद है।

'**चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति**' आहाहा! उस **ज्ञानस्वरूप आत्मा को...** ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान नहीं। अन्दर जो जानने का स्वभाव है, वह त्रिकाली स्वभाव है, उस जाननशक्ति को **आत्मा को स्वयं ही देखता है।** उस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा को ज्ञान स्वयं देखता है। '**लोकयति**' चिद्लोक को '**लोकयति**' लोक को '**लोकयति**' आनन्द, ज्ञान को ज्ञान से जानते है। आहाहा! ऐसी बातें अब! उसमें मुम्बई जैसी नगरी, पूरे दिन होली सुलगती हो। धमाल... धमाल... धमाल... धमाल... पाप के पोटले!

उसमें ऐसी बात (समझना)! बेचारे को कान में पड़े नहीं, क्या करे? पैसा पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ इकट्ठे किये हों... आहाहा! परन्तु वह कहीं तेरी चीज़ नहीं है। पैसे तेरी चीज़ नहीं हैं, वे पैसे तुझमें नहीं और पैसे में तू नहीं। तू जहाँ है, वहाँ पैसे नहीं और जहाँ पैसे हैं, वहाँ तू नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा... यहाँ '**लोकयति**' शब्द यहाँ पड़ा है न? '**चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति**' यह **ज्ञानस्वरूप आत्मा को स्वयं ही...** स्वयं ही, ऐसा (कहना है)। '**स्वयं एव**' शब्द पड़ा है न? भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ज्ञानचन्द्र, शीतलता-ज्ञान का शीतल सागर भगवान, उसे—**आत्मा को स्वयं ही...** यह शब्द है। (अर्थात्) स्वयं ही अपने को देखता है, जानता है। स्वयं ही अपने को जानता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर को नहीं। **स्वयं ही...** ऐसा शब्द है न? स्वयमेव अर्थात्? स्वयं ही। '**एव**' शब्द पड़ा है। भाई! यह तो अध्यात्मभाषा है! बापू! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं। यह तो तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव ने, वे कहते हैं कि तू जिनचन्द है, भाई! यदि तू जिनचन्द न हो तो पर्याय में जिनचन्द्रपना आयेगा कहाँ से? आहाहा! समझ में आया?

यह स्वयं अपने को स्वयमेव—स्वयं ही। स्वयं ही (अर्थात् कि) पर की सहायता बिना, राग बिना, पर की सहायता बिना अपने आत्मा को स्वयं ही—स्वयं ही देखता है। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहते हैं। भारी शर्तें! शर्त बहुत, शर्त। वह तो दया पालो, व्रत करना, अपवास किये (तो) मानो हो गया धर्मी, लो! अरे! मर गये (यह सब) कर, करके! तेरी चीज़ की खबर नहीं हो और 'यह सब राग की क्रिया मेरी है और उसमें मैं हूँ', (ऐसा माननेवाला) तो मिथ्यादृष्टि है। झूठी दृष्टि है। सच्ची दृष्टि तो चिद्लोक को स्वयं ही स्वयं देखे, वह सच्ची दृष्टि है। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! कठिन बातें ऐसी! है?

'**चिल्लोकं स्वयं एव**' (अर्थात्) यह ज्ञानलोक। ज्ञानस्वरूप का सागर भगवान, उसे स्वयं ही, '**लोकयति**' (अर्थात्) जाने। आहाहा! ज्ञान की वर्तमान पर्याय द्वारा स्वयं चिदानन्द भगवान को ज्ञानपर्याय जाने। किस प्रकार की बातें ऐसी! बापू! मार्ग ऐसा है। यह धर्म का मार्ग तो कोई अलौकिक है, भाई! आहाहा! यह धर्म का स्वरूप वीतराग ने, परमेश्वर ने, जिनेन्द्र ने कहा, वह ऐसा स्वरूप है।

मुमुक्षु : यह बात कहीं नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में तो सब धमाल (चलती है)। यहाँ (तो) सब खबर है न! हो...हा... हो...हा! सामायिक की और प्रौषध किये, और अपवास किये और उपधान किये, यह सब (धमाल है)। आहाहा!

भगवान! यहाँ शब्द तो ऐसा पड़ा है कि '**चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति**' आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु, यह भगवान आत्मा, हों! भगवान हो गये, वे तो हो गये, वे उनमें। आहाहा! बहुत संक्षिप्त भाषा और बहुत माल भरा हुआ है!! '**चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति**' ज्ञानस्वरूप, ज्ञानरूप... ज्ञानरूप। आत्मा ज्ञानरूप (प्रभु है)। जैसे शक्कर का मीठापन रूप है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान रूप है। वह स्वयमेव—स्वयं ही अपने को देखता है। आहाहा! उसे आत्मा का स्वयं लोक—चिद्लोक कहा जात है। आत्मा को शरीर और वाणी और यह मनुष्य और देवगति (आदि) यह लोक उसका नहीं है। आहाहा! है?

भावार्थ इस प्रकार है कि जो जीव का स्वरूप ज्ञानमात्र, सो तो ज्ञानमात्र ही है। यह दया, दान, व्रत आदि के विकल्प—राग, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं। आहाहा! अब ऐसा जानना... परन्तु निवृत्ति कहाँ? स्त्री, पुत्र.... स्त्री का तो हाथ पकड़ा हो, उसे निभाना, उसे पुत्र हो (उन्हें सम्हालना), यह करना या हमारे यह करना? अनादि से होली करता है, सुन न अब! वह तो कषाय की अग्नि से जल गया है। आहाहा!

यह वस्तु तो भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ ने अन्दर शान्त... शान्त... अकषाय ज्ञान... अकषाय ज्ञान, अकषाय आनन्द, अकषाय स्वच्छता, अकषाय प्रभुता... आहाहा! उसे जो लोके—देखे—जाने, वह ज्ञानमात्र ही वस्तु है। आहाहा! उसमें पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत आदि के विकल्प उसमें है ही नहीं, वह तो विकार है। आहाहा! ऐसी बात है। मानो यह वह कहीं नया धर्म निकाला होगा? ऐसा लगे। भगवान! मार्ग तो यह है, बापू! तुझे (खबर नहीं)। अभी तो सब गड़बड़ हो गयी है। धर्म के नाम से कुछ का कुछ कर डाला गया है। आहाहा!

भगवान अन्दर कहते हैं, **ज्ञानमात्र सो तो ज्ञानमात्र ही है।** ऐसा। हम कहते हैं कि

यह चिद्लोक है, परन्तु यह ज्ञानमात्र, वह ज्ञानमात्र ही है। वह कभी रागरूप हुआ नहीं। वह व्यवहार के विकल्परूप (हुआ ही नहीं)। वह ज्ञानमात्र, सो ज्ञानमात्र ही रहा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तेरे दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम (होते हैं), वह तो राग है। उस रागरूप अन्दर भगवान कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! कहो, वीरचन्दभाई! ऐसी बातें हैं! दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई और बड़े-बड़े नगर। बड़ी मोटरें भुं... भुं... करती निकले।

मुमुक्षु : आपकी मोटर कैसे चलती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर तो यह है! आहाहा!

आहाहा! शान्ति से, धीरज से कहते हैं, देख तो सही! धीर होकर नजर में पूरा चिद्लोक है, उसे देख तो सही! आहाहा! यह अल्पज्ञ (पना), राग और उसके फल को तू देखा करता है (परन्तु) उसमें कहीं तू नहीं है। आहाहा! यह भगवान पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान से भरपूर चीज़, वह ऐसी ही रही है। इसने चाहे जितने अवतार किये, नरक के अनन्त अवतार किये... आहाहा! यह निगोद—लहसुन और प्याज में अनन्त जीव (रहे हैं), उसमें तू अनन्त बार रहा, प्रभु! भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! तथापि वह ज्ञानमात्र, वह ज्ञानमात्र ही रहा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह आनन्द का सागर तो आनन्द के सागररूप ही रहा है। आहाहा! यह कहीं एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (की) दशारूप यह वस्तु हुई ही नहीं। वस्तु हुई नहीं! आहाहा! आहाहा!

दो (बार) कहने का आशय यह है। **ज्ञानमात्र सो तो ज्ञानमात्र ही है।** आहाहा! भगवान! तेरी बात तूने सुनी नहीं। आहाहा! तेरा भगवत्स्वरूप है। सभी आत्मायें अन्दर भगवत्स्वरूप है। अरे! इसे कहाँ जँचे? बीड़ी न मिले तो घड़ीक में भाई का मस्तिष्क घूम जाये! आज बीड़ी ठीक से मिली नहीं। आहाहा! दो बीड़ी.... क्या कहलाता है तुम्हारे? सिगरेट! वह पीवे तब तो पाखाने में ठीक से दस्त उतरे। इतने तो जिसके अपलक्षण। अब उसे कहना (कि) तू भगवत्(स्वरूप) है! उसका माप तू निकाल डाल। उसे माप करने का तो अन्दर में है। आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञदेव की पुकार है! जगत के समक्ष प्रसिद्ध

(करते) हैं। यह सन्त आडतिया होकर सर्वज्ञ का माल देते हैं। आहाहा! बापू! तू कौन है? अन्दर भगवान है। आहाहा! तुझमें तो अतीन्द्रिय आनन्द का माल लबालब भरा है! तुझमें सर्वज्ञपना पड़ा है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। अन्दर सर्वज्ञपना पड़ा है। आहाहा! उसे '**लोकयति**'— देखता है। है न?

ज्ञानमात्र सो तो ज्ञानमात्र ही है। कैसा है चैतन्यलोक? यह क्या कहते हैं? कि ऐसा रहा है, इसलिए जान सकेगा। ऐसा है, इसलिए जान सकेगा। यह (निजात्मा) ऐसा का ऐसा रहा है। यह चाहे जिस चीज़ में गया, परन्तु अपने स्वरूप में फेरफार नहीं हुआ। इसलिए तू उसे जान सकेगा, ऐसा (कहते हैं)। आहाहा! तेरी नजर बदलनी चाहिए, कहते हैं। निवृत्त भी कहाँ (होता है)? मार डाला जगत को! दुकान के धन्धे, स्त्री, पुत्र के कारण निवृत्त नहीं होता। उसमें फिर पाँच-पचास लाख, दो-पाँच करोड़ मिले हों (तो पूरा) फँस गया, हो गया। आहाहा! धूल! धूल में गहरा घुस गया। आहाहा! उसमें धर्म के बहाने आवे तो व्रत, तप और भक्ति, उस राग की क्रिया में धर्म मनवा ले। वहाँ भी उसे वापस मार डाला! आहाहा! क्योंकि तुझमें वह नहीं। नहीं, उससे तुझे लाभ हो (यह कैसे बने?) तुझमें चिद्लोक, ज्ञानमात्र, आनन्दमात्र पड़ा है, उसके भाव से तुझे लाभ होगा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। पागल जैसी लगे! बापू! अरे! यह दुःखी है, देखो न! आहाहा!

बुधवार को तो यहाँ पोपटलाल मोहनलाल बैठे थे। दो करोड़! बुधवार को यहाँ से गये, गुरुवार, शुक्रवार रहे और शनिवार की रात्रि में बारह बजे... आहाहा! देह (छूट गयी)। साढ़े नौ से बारह (ढाई) घण्टे सोये, उठे (फिर) जरा विचार में रुके। यहाँ विचार करते, सुनते हुए। बस! एकदम दर्द उठा। पाँच-पाँच लाख के तो सात कमरे (फ्लैट) हैं। छह लड़के और स्वयं सात! सात में एक-एक को पाँच-पाँच लाख के... क्या कहलाते हैं तुम्हारे? ब्लॉक। तुम्हारे मुम्बई का ब्लॉक (फ्लैट)! आहाहा! वह तो सब मुम्बई देखा है न? दो वर्ष पहले नहीं? ८७ वीं जन्मजयन्ती हुई न? देह को ८७ (वर्ष)। तब नहीं वहाँ दादर में आमोदवाले रमणीकभाई, (उनका) ७० लाख का मकान है, उसमें उतरे न? एक मकान सत्तर लाख का। पाँच-छह करोड़ रुपये हैं।

समुद्र के किनारे उतरे थे। शरीर को ८७वाँ (वर्ष) लगा न? ८७। शरीर को, हों! अब ८९वाँ लगेगा। घाटकोपर की प्रार्थना है। शरीर को ८९, हों! वहाँ देखो तो मकान सत्तर लाख का! आहाहा!

वह समुद्र साथ में था न? मैंने तो भाई को पूछा रमणीकभाई को। आमोदवाले हैं। गुजरात है न? हमारे पालेज के पास है। हमारे पालेज के पास अधिक है, भरुच जरा आगे रहता है। वहाँ हमारे भाई दर्शन करने आये थे। हम यहाँ से जाते थे न? (तब) पालेज नहीं था (जाने का)। भरुच में वह पुल है पुल? नदी का। वहाँ से निकलकर आमोद की ओर गये थे। वहाँ दर्शन करने आये थे, कुँवरजीभाई फिर गुजर गये। वहाँ से वड़ोदरा जाने के लिये निकले थे। आहाहा! वे वहाँ के हैं। आहाहा! सत्तर लाख का तो उन्हें एक मकान है! एक मकान सत्तर लाख का, हों! नरम व्यक्ति है। बापू! धूल में कुछ नहीं। तेरे बँगले—हजीरा... यह (देह) हजीरा राख है। इसकी श्मशान में राख होगी।

अन्दर चैतन्यलोक पड़ा है, विराजता है। प्रभु! एक बार सुन तो सही! यह अपने ज्ञान के भाव से ज्ञात हो, ऐसा है—ऐसा कहते हैं। ज्ञानलोक ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा है। यह ज्ञानलोक, राग और दया, दान और पुण्य के विकल्प से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी जवाबदारी की शर्तें! वह सीधासट्ट (था)। दो घड़ी जय णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं... (बोले), पूजा (करे) और भगवान की जरा भक्ति करे (तो) हो गया धर्म! धूल में भी धर्म नहीं, सुन न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि, ज्ञानमात्र वह **कैसा है चैतन्यलोक? 'शाश्वतः'** है। आहाहा! वह चैतन्यस्वभाव तो शाश्वत् है। अनादि का है, अनन्त काल रहेगा। आहाहा! आहाहा! चैतन्यवस्तु ज्ञानस्वरूप प्रभु आत्मा नित्य है, शाश्वत् है, ध्रुव है। आहाहा! आहाहा! उसमें ध्रुव आता है न? प्रवचनसार में नहीं? ध्रुव! ध्रुव है, वह ध्रुव है, बाकी सब अध्रुव है। एक गाथा में ध्रुव आता है। २०० वीं या कितनी में कुछ है। १९२ (गाथा)। भाव खबर होते हैं, भाषा याद नहीं रहती। हजारों शास्त्र (पढ़े हैं)। आहाहा!

ध्रुव तो तू एक है। नित्यानन्द प्रभु ऐसा का ऐसा अनादि से है, कहते हैं। आहाहा!

उसकी वर्तमान पर्याय में पलटा चाहे जितना हुआ हो, मनुष्य हुआ, नारकी हुआ, ढोर हुआ, कीड़ा हुआ, कौवा हुआ... आहाहा! परन्तु वह वस्तु तो वस्तुरूप रही है। वस्तु, वह पर्यायरूप हुई नहीं। आहाहा! उसे तू (देख), अविनाशी है, उसे देख! आहाहा!

और कैसा है? 'एकक:' देखो! आया न एक? उसमें **'केवल:'** था, उसका अर्थ निर्विकल्प किया। **'एकक:'** का अर्थ **एक वस्तु है।** एक वस्तु है... वस्तु है... वस्तु है। आहाहा! देह से भिन्न भगवान और दया, दान, व्रत और हिंसा, झूठ के परिणाम से भी भिन्न एकरूप चिद्लोक भगवान अन्दर स्वयं विराजता है। आहाहा! पामर को प्रभुता से कहना! भाई! तू अन्दर प्रभु है; पामर नहीं। पामर तो तूने माना है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि **एक वस्तु है।** आहाहा! परन्तु कैसी है? कैसा है भगवान? **'सकलव्यक्त:'** (अर्थात्) **त्रिकाल में प्रगट है।** किसे? है तो सही, परन्तु किसे? वस्तु तो है परन्तु किसे? आहाहा! चिद्लोक, आनन्दलोक प्रभु! शाश्वत् है, प्रगट है (परन्तु) किसे? क्योंकि 'है' उसकी स्वीकृति किसे आती है? कि राग से भेद पड़े हुए भेदज्ञानी के लिए वह है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं! ऐसा वीतराग के नाम से (मार्ग कहना)। बापू! मार्ग अलग, नाथ! यह चीज़ तूने सुनी नहीं, प्रभु! जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर की यह आज्ञा है।

'सकलव्यक्त:' है। अर्थात् क्या कहते हैं? कि व्यक्त है, परन्तु किसे? जो जानता है उसे या न जाने उसे? यह प्रश्न हुआ था न? भाई! वारिया नहीं? जामनगर। वीरजीभाई का पुत्र त्रिभुवन। उसने प्रश्न किया था। यह काठियावाड़ में दिगम्बर का अभ्यास पहले में पहले (वीरजीभाई था)। वीरजी वकील जामनगर! ९१-९२ वर्ष में गुजर गये। उन्हें अभ्यास बहुत! इस काठियावाड़ में दिगम्बर शास्त्र का पहला अभ्यास उन्हें था। उनका लड़का त्रिभुवन एक बार पूछता था कि यह कारणपरमात्मा... कारणपरमात्मा आप कहते हो। कारणपरमात्मा अर्थात् त्रिकाली वस्तु। वह कारणजीव कहो, कारणपरमात्मा कहो, ध्रुव कहो। तो आप कारणपरमात्मा कहो, त्रिकाली चीज़ जो यह कही, (वह) शाश्वत् वस्तु। ध्रुव आत्मा, वह कारणपरमात्मा है। तो कारणपरमात्मा (है तो) उसका कार्य तो आना चाहिए। ऐसा प्रश्न किया (था)।

भगवान पूर्णानन्द का नाथ! चिद्लोक, आनन्दलोक, अनन्त शक्ति का सागर! उसे धर्मात्मा ने कारणपरमात्मा कहा है। कार्यपरमात्मा—सर्वज्ञ परमेश्वर हो वह कार्यपरमात्मा है। पर्याय में पर्याय का कार्य पूरा (हुआ)। पर्याय का पूरा कार्य हो, उसे कार्यपरमात्मा (कहते हैं) और द्रव्यरूप से जो वस्तु है, वह कारणपरमात्मा है। वह कारण है तो, उसका कार्य तो आना चाहिए, ऐसा उसने कहा। कार्य तो आता नहीं, कारणपरमात्मा तो अनादि का है। (हमने) कहा कि, परन्तु इसने माना है? माने उसे कारणपरमात या न माने उसे? यह यहाँ कहते हैं न? व्यक्त है परन्तु किसे? आहाहा! यह कहते हैं, देखो! यह कारणप्रभु है। त्रिकाली आनन्द का नाथ कारण है, परन्तु जो स्वीकार करे, उसे कारणरूप से है। 'है' उसकी अस्ति की स्वीकृति न आवे, उसे 'है' कहाँ आया? समझ में आया? आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि भगवान पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यस्वरूप सकल व्यक्त है। किसे? वस्तु तो वस्तु है। सकल प्रगट है परन्तु वह 'है' (ऐसा) जिसे भान हुआ, उसे है। है? **किसको प्रगट है? 'विविक्तात्मनः' भिन्न है आत्मस्वरूप जिसको ऐसा है जो भेदज्ञानी पुरुष, उसे।** आहाहा! यह वार्ता नहीं, बापू! यह कहीं कथा नहीं। यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ की आत्मकथा है! भगवत्कथा है। आहाहा! क्या कहा? कि जिसने भिन्न आत्मस्वरूप जाना है, राग से भिन्न ऐसा भगवान अन्दर पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, ऐसा जिसने जाना है, उसे व्यक्त है। नहीं जाना उसे 'है' ऐसा कहाँ है? उसे तो राग है और पुण्य है और धूल है... आहाहा! भगवान तो अन्दर कहीं छुप गया! आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

'**विविक्तात्मनः**' भिन्न पड़े हुए आत्मस्वरूप को—भेदज्ञानी पुरुष को प्रगट है। आहाहा! जिसे राग से भिन्न पड़कर आत्मा पूर्णानन्द पूर्ण चैतन्यलोक जिसकी दृष्टि में, ज्ञान में, अनुभव में आया, उसे वह प्रगट है। आहाहा! ऐसी सब बातें एक घण्टे में! सम्प्रदाय में जितनी सुनी हो, उससे यह दूसरा प्रकार है। भाई! तुझे वस्तु की (खबर नहीं)।

वीतराग परमेश्वर हुए, वे ऐसा कहते हैं कि वीतराग परमेश्वरस्वरूप ही तू है! आहाहा! उसमें से वीतराग सर्वज्ञपने प्रगट होगा। वीतराग सर्वज्ञपना कहीं बाहर से आता है? आहाहा!

यह १५५ (श्लोक पूरा) हुआ। १५६ (श्लोक)। यह किसका अधिकार चलता है? धर्मी को भय होता नहीं। धर्मी (कि) जिसे आत्मा राग से, पुण्य के परिणाम की क्रिया से भिन्न पूर्णानन्द का नाथ जिसे अनुभव में आया, ऐसे धर्मी को इस शरीर का या परशरीर का या कोई भय उसे होता नहीं। निर्भय चीज़ अन्दर दृष्टि में प्रगट हुई है। आहाहा! वह इसलोक और परलोक का भय नहीं, उसका यह श्लोक था। यह श्लोक किसका था? इसलोक और परलोक का भय नहीं है, इसका है।

अब वेदना का भय नहीं है—यह श्लोक है। धर्मी को (अर्थात्) जिसने चिद्लोक ज्ञानस्वरूप भगवान है, ऐसा जिसे भान और अनुभव हुआ, उसे वेदना का (भय नहीं होता)। शरीर में वेदना (हो), कठोर रोग आवे, चिल्लाहट मचाये... हाय... हाय...! और अनुकूलता की निरोगता का पार न हो, (उन) दोनों के प्रति धर्मी का लक्ष्य नहीं है। वह जड़ है, पर है। उसे वेदना का भय नहीं होता। आहाहा!

एक बार कहा नहीं था? वीरचन्दभाई! लाठी... लाठी, धारूभाई। धीरुभाई पानाचन्द अठारह वर्ष की जवान लड़की थी। दो वर्ष की विवाहित। बहुत वर्ष हुए। दामनगर में विवाह किया था, फिर उसे व्याधि हुई, शीतला निकली। लड़की रूपवान थी, दो वर्ष की विवाहित, उसके पति को नयी थी। दामनगर में विवाही थी। यह तो बहुत वर्ष (पहले की) बात है। फिर उसे शीतला निकली (तो) दाने-दाने में कीड़े (पड़े)। रजाई में, भाई! रजाई में सुलाया परन्तु ऐसे करवट बदले वहाँ हजारों कीड़े यहाँ निकलें, ऐसे बदले वहाँ (हजारों कीड़े ऐसे निकलें।)उसकी माँ को कहती है, माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में किये नहीं। यह कहाँ के आये? क्या हुआ? मुझसे सहन नहीं होता। ऐसे फिरूँ तो ऐसे कीड़े (पड़ते हैं) और ऐसे फिरूँ तो हजारों कीड़े काट खाते हैं। आहाहा! वह पुकार करती थी (फिर) मर गयी। ...बहुत वर्ष हुए। आहाहा!

ऐसी वेदना हो तेा भी धर्मी को भय नहीं (ऐसा) कहते हैं। वह वेदना जड़ को है, आत्मा को नहीं। आहाहा! उस वेदना का भय नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह दूसरी लड़की की बात नहीं की? अमेरिका, दक्षिण अमेरिका में प्लेन उड़ा, प्लेन उड़कर जहाँ आधा घण्टा हुआ (वहाँ) जंगल (आया)। दक्षिण अमेरिका में बड़ा जंगल है,

(वहाँ) प्लेन गिरा। प्लेन के टुकड़े और चूरा (हो गया) और सब लोग मर गये। एक १७ वर्ष की जर्मनी की लड़की थी, वह असाध्य हो गयी। सब मर गये और यह एक असाध्य (हो गयी)। वह जरा साध्य (होश) में आयी वहाँ (देखती है कि) प्लेन का चूरा! माता-पिता साथ में थे, वे मर गये, सब मर गये। आहाहा! यह जंगल... जहरीले मेंढ़क, जहरीले सर्प, बिच्छू! पैर रखे वहाँ बटका भरे। पैर में कीड़े पड़ गये। परन्तु आयुष्य के (कारण बच गयी)। आहाहा! कोई खाने का नहीं, पीने का नहीं, सोने का नहीं। आहाहा! १७ वर्ष की जवान लड़की! सब मर गये, (अब) जाना कहाँ? परन्तु वह हिम्मतवाली न! ऐसे के ऐसे ग्यारह दिन निकाले। चलते... चलते... चलते... शरीर सूज गया, सब काटे न? जीव काटे (इसलिए) पूरा शरीर सूज गया और पैर में कीड़े पड़ गये, इतने बड़े! आहाहा! चलते हुए... उसमें फिर बारहवें दिन एक झोंपड़ी मिल गयी। ग्यारह दिन तो रात-दिन... आहाहा! वह झोंपड़ी मिली और वहाँ खड़ी रही। (वह) झोंपड़ी शिकारियों की थी। शिकारी जंगल में शिकार करने आते थे (इसलिए) वह झोंपड़ी बनायी हुई थी। उसमें वे उस दिन आये। महीने-दो महीने में आते थे। (वे) मौके से आये और उसे देखा, पूरा शरीर सड़ कर बिगड़ गया। चारों ओर सब (काटे) न? और इतनी-इतनी (बड़ी) वनस्पति में पैर रखे तो नीचे जीव बटका भरे, पैर में घुस जाये।

आहाहा! उस बाई को कहते हैं, अरे! तू यहाँ कहाँ से? (तो लड़की कहती है) प्लेन गिरा और सब मर गये। मैं ग्यारह दिन से जंगल में हूँ। किसी (का) कहीं पता नहीं। उसे बेचारी को (गाड़ी में) डालकर दवाखाने ले गये। वह वेदना कितनी होगी? और वह भी (एकदम) निराधार! आहाहा! वहाँ धर्मी जीव हो तो उसे उसका भय नहीं होता (ऐसा) कहते हैं।

(एक जगह) आता है न? वह लक्ष्मण की क्या (कहलाती है)? विशल्या। विशल्या बाई! वह विशल्या पूर्व में चक्रवर्ती की पुत्री थी और किसी ने उठाकर जंगल में रख दिया। अब जंगल में बड़ा अजगर आया। उस अजगर ने उसे पकड़ा, मुख में डाला। थोड़ा इतना (शरीर) बाहर रहा और बाकी सब (अजगर के मुख में)। उसमें

उसका पिता चक्रवर्ती आया। खोजते.... खोजते.... खोजते.... खोजते.... (आया)। उसने कहा कि अजगर को मार डालूँ। (तब विशल्या कहती है), बापू! तुम मारना नहीं। मुझे त्याग है, (मैं) बाहर निकलूँ तो मुझे आहार-पानी का त्याग है। देह छूटकर ही रहेगी। आधी अन्दर निगल गया और आधा (शरीर) बाहर (रहा)। (वहाँ) उसका पिता आया। आहाहा! वह मरकर विशल्या हुई। महिला, राजा की पुत्री। उसके शरीर में ऐसी स्थिति (थी कि) उसकी हवा जिसे लगे (तो) रोगी हो (और) चोट लगी हो, वह मिट जाये। आहाहा!

लक्ष्मण को जब रावण ने बाण मारा, तो लक्ष्मण असाध्य हो गये। वासुदेव जंगल में। आहाहा! अब क्या करना? रामचन्द्रजी साथ में (थे)। महापुरुष उसी भव में मोक्ष जानेवाले। सीताजी को रावण ले गया, लक्ष्मण यहाँ पड़े हैं... आहाहा! हम वहाँ पालेज में गाते थे। अठारह-उन्नीस वर्ष की उम्र की बात है। सत्तर वर्ष पहले की (बात है)। रामचन्द्रजी लक्ष्मण को कहते हैं। (लक्ष्मण) असाध्य (होकर पड़े हैं)। 'आये थे तब तीन जनें और जाऊँ एकाएक... यह माताजी खबर पूछेगी, उन्हें क्या-क्या उत्तर दूँगा? लक्ष्मण ऐ जग न हो... जी... बांधव बोल दे एक बार जी...' हे बांधव! एक बार बोल। सीता (को) रावण ले गया, तू यहाँ पड़ा। माता मुझे पूछेगी (तो) मैं क्या कहूँगा? हम तब वहाँ (यह) गाते थे। यह पर्यूषण के अपवास-बपवास किये हों न? यह तो सत्तर वर्ष पहले की बातें हैं, पिचहत्तर वर्ष पहले की! आहाहा!

उस समय लक्ष्मण असाध्य हो गये। राम कहते हैं कि इसका उपाय (क्या)? किसी ने कहा कि तुम्हारे राज में एक महिला है। भरत को जो राज सौंपा है, (उसमें है)। स्वयं तो वन में थे न? उस महिला के पास ऐसी शक्ति है कि वह यहाँ आवे तो तुरन्त इनकी (विद्या) उतर जायेगी। (रामचन्द्रजी कहते हैं), बुलाओ! जाओ! भरत को कहो। राजा की पुत्री जहाँ अन्दर आयी (तो वहाँ) हजारों लोगों को चोट लगी हुई। जहाँ अन्दर प्रवेश किया (और) हवा (आयी वहाँ), चोट मिट गयी और जहाँ लक्ष्मण के निकट आयी, आयी वहाँ एकदम विद्या उतर गयी! (लक्ष्मण उठकर पूछते हैं), कहाँ गया रावण? मारने (के भाव में) सो रहे थे न? (इसलिए पूछते हैं) कहाँ गया

रावण ? आहाहा ! वह फिर जाकर रावण को मार डालते हैं। यह सब स्थिति ! तथापि वे तो बड़े वासुदेव पुरुष थे न ! मार डालने के बाद भी वापस जलाने स्वयं गये ! वे तो महापुरुष थे न ? हमारी पदवी इतनी बड़ी, इसलिए दूसरा कोई उपाय नहीं। हमारे सामने कोई खड़ा रह सके, यह हमारी पदवी नहीं। इस कारण से हमारे यह करना पड़ा।

यहाँ कहते हैं... आहाहा ! ऐसी स्थिति की दशा में भी यदि समकिती हो तो उसे भय नहीं लगता। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

कलश - १५६

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२४-१५६।।

खण्डान्वयसहित अर्थ— 'सः स्वयं सततं सदा ज्ञानं विन्दति' [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [स्वयं] अपने आप [सततं] निरन्तररूप से [सदा] त्रिकाल में [ज्ञानं] जीव के शुद्धस्वरूप को [विन्दति] अनुभवता है-आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? 'सहजं' स्वभाव से ही उत्पन्न है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निःशंकः' सात भयों से मुक्त है। 'ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीव को [तद्भीः] वेदना का भय [कुतः] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता है। कारण कि 'सदा अनाकुलैः' सर्वदा भेदज्ञान से विराजमान हैं जो पुरुष, वे पुरुष 'स्वयं वेद्यते' स्वयं ऐसा अनुभव करते हैं कि 'यत् अचलं ज्ञानं एषा एका एव वेदना' [यत्] जिस कारण से [अचलं ज्ञानं] शाश्वत है जो ज्ञान, [एषा] यही [एका वेदना] जीव को एक वेदना है, [एव] निश्चय से। 'अन्यागतवेदना एव न भवेत्' [अन्या] इसे छोड़कर जो अन्य, [आगतवेदना एव] कर्म के उदय से हुई है सुखरूप अथवा दुःखरूप वेदना, [न भवेत्] जीव को है ही नहीं। ज्ञान कैसा है? 'एकं' शाश्वत है-एकरूप है। किस कारण से एकरूप? 'निर्भेदोदित-वेद्यवेदकबलात्' [निर्भेदोदित] अभेदरूप से [वेद्यवेदक] जो वेदता है, वही वेदा जाता है-ऐसा जो [बलात्] समर्थपना, उसके कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव का स्वरूप, ज्ञान है, वह स्वरूप है। जो साता-असाता कर्म के उदय से, सुख-दुःखरूप वेदना होती है, वह जीव का स्वरूप नहीं है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को रोग उत्पन्न होने का भय नहीं होता।।२४-१५६।।

कार्तिक कृष्ण ८, शनिवार, दिनांक-०३-१२-१९७७, कलश-१५६, प्रवचन-१६५

कलशटीका, श्लोक-१५६।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२४-१५६।।

आहाहा! धर्मी जीव की व्याख्या है। निर्जरा अधिकार है न? जिसे यह भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप विराजमान है, उसे राग और पर से भिन्न जानकर और चैतन्य शुद्ध आनन्दस्वरूप प्रभु का जिसे वेदन-अनुभव है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहते हैं। आहाहा!

अज्ञानी को अनादि से पुण्य और पाप के रागभाव (होते हैं), उनका उसे वेदन है, उनका उसे अनुभव है। शरीर, पैसा, इज्जत या स्त्री का शरीर या पुरुष का शरीर (हो), उसका किसी को अनुभव नहीं। वह तो पर जड़ (पदार्थ) है। अज्ञानी को पुण्य और पाप के राग और विकार का वेदन—अनुभव है।

मुमुक्षु : परपदार्थ का वेदन नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का वेदन धूल में भी नहीं। यह तो माँस, हड्डियाँ, चमड़ी है। उसे कहीं नहीं भोगा जाता। उस काल में उसे राग हो कि 'यह ठीक है' ऐसे राग को भोगता है। आहाहा! अज्ञानी उस शरीर को भी नहीं भोगता तथा आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी खबर नहीं तो उसे (भी) नहीं भोगता। आहाहा! यह राग और द्वेष के, मोह के परिणाम (होते हैं, उन्हें भोगता है)। यहाँ तो वहाँ तक कहेंगे कि, वे सब पुद्गलाकार हैं, वे चैतन्य का स्वरूप नहीं। वह शुभ और अशुभ भाव, विकार—विभाव, दुःख-जहर का अनुभव अनादि से अज्ञानी को है। आहाहा!

त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा जिनेन्द्रदेव का यह फरमान है, भगवान! एक बार सुन! आहाहा! तूने, तेरी जाति अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसे तूने जाना नहीं, माना

नहीं, अनुभव नहीं किया। आहाहा! अनादि काल का यह अनुकूल संयोगी चीज़ में लक्ष्य करके राग उत्पन्न करे, उस राग को वेदता है। आहाहा! वह जहर है—राग है, वह जहर है। आहाहा!

मुमुक्षु : जहर लगता नहीं और राग मीठा क्यों लगता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ से लगे? सर्प काटा हो उसे नीम कड़वा नहीं लगता। सुना है? सर्प काटा हो, उसका जहर चढ़ा हो, उसे नीम कड़वा नहीं लगता, मीठा लगता है। यह जहर चढ़ा है, यह निर्णय करने के लिये उसे नीम खिलाते हैं। देखा नहीं? यहाँ तो बहुत सुना है न, बापू! आहाहा! वह जहर चढ़ा है या नहीं (यह देखने के लिये) नीम खिलाते हैं। कड़वा लगे तो समझना कि जहर चढ़ा नहीं। इसी प्रकार अज्ञानी को... आहाहा! मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा के जहर लगा है—(चढ़ा है)। उसे यह पुण्य और पाप के भाव मीठे लगते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा का भान नहीं तो कड़वा लगता है, इसका अर्थ यह। आहाहा! परमेश्वर जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ ने जो आत्मा कहा, अन्दर वस्तु है वह तो अतीन्द्रिय आनन्द की शिला है। आहाहा! अरे! इसे खबर कब है? तुम्हारे मुम्बई में नहीं? बर्फ की शिला! हम तो निकलते हैं न, (तब) देखते हैं पच्चीस-पच्चीस मण की, पचास-पचास मण की शिला! वह क्या कहलाता है? ट्रक में निकलती हो। मोटर निकले, (तब) देखा हो। यह पच्चीस-पच्चीस मण की बर्फ की शिला (होती है)। एक ट्रक में पाँच-सात भरी हों। आहाहा! इसी प्रकार यह भगवान आत्मा! शीतल शान्ति, आनन्द और स्वच्छता के भाव से भरपूर शिला अन्दर है। कहाँ खबर है? (अज्ञानी) बेचारे यह दुनिया में बाहर की उलझन में मरकर चैतन्य की जाति को जानने का प्रयत्न नहीं किया। जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वेदन में इसे अनादि से तो शरीर का वेदन (नहीं), यह तो मिट्टी, धूल है। यह तो मिट्टी है। इसका किसी को वेदन, भोग—इसका अनुभव नहीं होता। इसी तरह दाल, भात, सब्जी या मैसुख का अनुभव नहीं होता। क्योंकि वह तो जड़ चीज़ है। मात्र

उसकी ओर लक्ष्य करके 'यह ठीक है' ऐसा राग उत्पन्न करे, उस राग के जहर को वह अनुभव करता है। आहाहा!

ज्ञानी को क्या होगा? (यह) अब कहते हैं। आहाहा! अज्ञानी को यह पुण्य और पाप के राग के भाव जहर (हैं, उनका वेदन है)। अमृत का सागर भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द की शिला आत्मा है... आहाहा! उसे भूलकर शुभ-अशुभ भाव का विकार जो वास्तव में पुद्गलस्वरूप है, (उसे वेदता है)। वह आत्मा का स्वरूप है ही नहीं। आहाहा!

इसकी टीका में तो ऐसा लिखा है, भाई! पुद्गलाकार राग का वेदन ज्ञानी को नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! जिनेन्द्र वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। सम्प्रदाय में तो दया पालो, व्रत करो और अपवास करो, (यह चलता है)। वह तो सब राग की क्रियायें और अभिमान—मिथ्यात्व है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जब उसे इस अज्ञान के वेदन की खबर पड़े (कि) अरे! यह राग (जहर है) और मेरी चीज़ तो रागरहित है। क्योंकि राग तो निकल जाता है, उसका (मूल) स्वरूप नहीं है। स्वरूप हो वह निकले नहीं। निकले, वह इसकी जाति नहीं—स्वरूप नहीं। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत के भाव हों तो भी राग है और हिंसा, झूठ, चोरी, कमाना, यह भोग, वासना, दुकान में धन्धा (करने में) ध्यान रखना, यह सब पापभाव, वासना है। आहाहा! यहाँ तो ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

यह पापवासना और पुण्यवासना दोनों जहर वासना है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! जिनेन्द्र तीन लोक के नाथ, जिनेन्द्र ने जो धर्म कहा, वह कोई अलौकिक है! सम्प्रदाय में तो यह बात चलती ही नहीं। आहाहा! प्रवीणभाई! आहाहा! ऐसा है।

यहाँ कहते हैं, **'सः स्वयं सततं सदा ज्ञानं विन्दति' 'सः'** अर्थात् **सम्यग्दृष्टि जीव...** पहले मिथ्यात्व की बात की। आहाहा! अब, सम्यग्दृष्टि धर्मी, सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं कि जिसे यह पुण्य और पाप का राग विकार—जहर (से भिन्न ऐसे) आत्मा आनन्दस्वरूप का भान हुआ है... आहाहा! (कि) मैं एक आत्मा हूँ और यह आत्मा है, वह अनाकुल आनन्द और शान्ति का सागर है। आहाहा! और पुण्य तथा

पाप के भाव जहर हैं, उनसे भिन्न करके भगवान आत्मा का सम्यक् (अर्थात्) जैसी वह चीज़ है आनन्द, शान्ति और अकेला ज्ञान (स्वरूप है), ऐसा जिसे अन्तर अनुभव होकर सम्यग्दर्शन, सम्यक् अर्थात् सत्य प्रतीति का दर्शन हुआ है। आहाहा! शर्तें बहुत, जवाबदारी बहुत! आहाहा! बाकी तो सब ढोर के जैसे अवतार हैं। फिर अरबोंपति हो और धूलपति हो (तो भी क्या)?

शान्तिलाल खुशाल का सुना नहीं? गोवा! अपने दशाश्रीमाली बनिया थे। दो अरब चालीस करोड़! दो अरब चालीस करोड़!! मर गया पाँच मिनिट में। मुम्बई। मुम्बई में उनकी बहू को यह हुआ... क्या कहलाता है? हेमरेज! घर में चालीस लाख का बँगला! दस-दस लाख के दूसरे बँगले, गोवा में बड़ा (घर था)। उनकी बहिन की दो लड़कियाँ यहाँ ब्रह्मचारी हैं। चौंसठ ब्रह्मचारिणी (बहिनें) हैं, उनमें से यह दो ब्रह्मचारिणी हैं। सबको जानते हैं न! उनके बहनोई पोपटभाई लीमड़ीवाले, पोपटभाई। उनका साला होता है। दो अरब चालीस करोड़।

(उसकी पत्नी को) हेमरेज था तो मुम्बई बतलाने को आये हुए थे। वहाँ वह तो असाध्य ही थी। वहाँ रात्रि में डेढ़ बजे उठा, (कहा कि) 'मुझे दुःखता है। डॉक्टर बुलाओ।' डॉक्टर जहाँ आया वहाँ देह छूट गयी। दो अरब चालीस करोड़ धूल पड़ी (रही)। तेरी मिट्टी—धूल (में) था क्या? वह कहाँ तेरी थी, वह तेरे पास रहे? आहाहा! मर गया, पत्नी असाध्य थी। महीने बाद होश आया, फिर कहा कि सेठ गुजर गये। (तत्पश्चात्) डेढ़ वर्ष असाध्य रही। डेढ़ वर्ष! चालीस लाख का बँगला और यह पैसा... धूल में (रह गये)। दो लड़के थे। असाध्य में और असाध्य में मर गयी। अरे! बापू! तुझे खबर नहीं, भाई!

तू आत्मा कौन है? और क्या चीज़ है, इसकी तुझे खबर नहीं, बापू! आत्मा तो, सर्वज्ञ जिनेन्द्र परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ कहते हैं कि आत्मा अर्थात् कि अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है, वह आत्मा है। आहाहा! अतीन्द्रिय अनाकुल (ऐसे) शब्द भी इसने सुना न हों। आहाहा! जगत का भिखारीपन कर-करके ऐसा का ऐसा मर गया। भगवानस्वरूप भिखारी... भिखारी हो गया। पैसा दो, स्त्री दो, इज्जत दो, भिखारी! यहाँ

तो यह बात है। आहाहा! चैतन्य चक्रवर्ती अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का धनी स्वयं अपनी भावना छोड़कर पर में यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... (करता है)। भगवान भिखारी—याचक हो गया! आहाहा!

जब इसे आत्मा का भान होता है, (तब) राग के विकल्प से भी मेरी चीज़ अन्दर निर्विकल्प शुद्ध (है, ऐसा भान होता है)। यह कहते हैं, देखो! **सम्यग्दृष्टि जीव...** यह सम्यग्दृष्टि जीव। आहाहा! भले गृहस्थाश्रम में हो, नरक में नारकी हो, पशु—तिर्यंच हो, उसे भी आत्मज्ञान होता है। आहाहा! उसे अन्दर राग से भिन्न चैतन्य गोला सत्यदृष्टि में जहाँ उसे ज्ञात हुआ... आहाहा! तब उसे धर्म की पहली श्रेणी शुरु हुई। आहाहा! जन्म-मरण के अन्त को लाने की पहली शुरुआत सम्यग्दर्शन से होती है। आहाहा!

वह **सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप 'स्वयं'** है ने? **'स्वयं'**! आहाहा! सूक्ष्म बात, प्रभु! अभी तो चलता नहीं, (इसकी) हमको खबर नहीं? यहाँ तो ६५ वर्ष तो दीक्षा (लिये को) होंगे, यह मागशर शुक्ल ९। आज क्या है? आज अष्टमी है, सोलह दिन रहे। मागसशर शुक्ल ९, ६५वाँ दीक्षा का (वर्ष) लगता है। ६५ वर्ष! हसमुखभाई! और शरीर को ८८ हुए, यह वैशाख शुक्ल २ (को) ८९ लगेंगे। घाटकोपर की माँग है। आहाहा! बापू! बहुत देखा जगत का। आहाहा! दस-दस हजार मील तो तीन बार हिन्दुस्तान में घूमे हैं। आहाहा! और दुकान पर भी पाँच वर्ष दुकान चलायी थी। पालेज, दुकान है न? पालेज की दुकान है, अभी दुकान है, बड़ी दुकान है। ३०-३५ लाख रुपये हैं, तीन-चार लाख की आमदनी है, दुकान उस समय की है। सब धूलधाणी। मर गया!

मेरे भागीदार थे, मैंने तो उनसे कहा था। बुआ के पुत्र (थे, अभी) उनके पुत्र हैं। मैंने तो उनसे (संवत् १९६६) में कहा, हों! भाई! मैं तो पहले से छोटी उम्र से 'भगत' कहलाता था, भले घर की पिताजी की दुकान थी। मैंने पाँच वर्ष दुकान चलायी। सत्रह वर्ष की उम्र से बाईस (वर्ष ऐसे) पाँच वर्ष (चलायी)। (संवत् १९६८ के) वैशाख में छोड़ दी। मैंने तो १९६६ में कुँवरजीभाई को कहा, हम सब इकट्ठे थे। तीस व्यक्ति। दो दुकानें थीं। मेरे भाई बैठे थे (तो भी) मुझसे तो कहा गया, भाई! तुमको दुकान की ममता बहुत, हों! ६६.... ६६! कितने वर्ष हुए? भाई! मुझे तो ऐसा लगता है, भाई! हम

बनिया हैं न? इसलिए माँस और मदिरा (नहीं खाते-पीते इसलिए) नरक में तो तुम नहीं जाओगे, हों! दुकान में बैठे थे और यह दुकान छोड़कर सामने आहार करने गया। इसी तरह देव में जाने के लक्षण मुझे नहीं लगते, भाई! तथा मनुष्य होओ, यह मुझे दिखाई नहीं देता। पशु होओगे। तिर्यंच में-ढ़ोर में जानेवाले हो, याद रखो! मेरे सामने बोले नहीं, भगवान है यह (ऐसा कहे)। याद रखो तुम्हारी ममता इतनी दिखती है कि तुम्हारे अवतार पशु (में) होंगे। वह भाई मरते हुए... दो लाख की आमदनी, दुकान की (एक) वर्ष की दो लाख की आमदनी, तब दस लाख थे, अभी तो अधिक हो गये, तीस-पैंतीस लाख हुए, तीन-चार लाख की आमदनी है। मरकर मरते समय ममता... ममता... ममता... मैंने यह किया... मैंने यह किया... मैंने यह किया... पागल हो गया पागल। भाई! उनके पुत्र कहें, महाराज ने कहा था, वह हुआ। मरकर ढोर में चला गया। आहाहा! यह संसार के पर्दों की जगत को खबर नहीं। अन्ध के अन्ध ऐसे के ऐसे चलते जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव, आत्मा मेरी चीज़ क्या है यह? ज्ञानानन्द सहजानन्द स्वरूप से भरपूर भगवान आत्मा! उसकी उसे राग के विकल्प से भिन्न पड़कर अपने स्वरूप की प्रतीति का अनुभव होता है कि यह आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दमय है। उसका जरा नमूना (आता है)। सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का थोड़ा आस्वाद आवे। आहाहा! उसे यहाँ धर्म की पहली श्रेणीवाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहाहा! अरे रे! इसे सुनने को भी न मिले, खबर भी न हो। आहाहा! कहो, कालीदासभाई!

यहाँ कहते हैं, **सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप निरन्तररूप से...** आहाहा! **ज्ञान को अर्थात् जीव के शुद्धस्वरूप को अनुभवता है...** वेदता है। आहाहा! धर्मी तो उसे कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप... ज्ञानस्वरूप—ज्ञानस्वभाव ज्ञान का पिण्ड है, उसका जिसे अन्दर आनन्द का वेदन आवे... आहाहा! उसे धर्म की शुरुआत वाला सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इतनी शर्त सहित की बातें हैं। दुनिया में तो सब पोल चलती है, सब खबर है। अररर! जिन्दगी पशु की भाँति चली जाये! धर्म के बहाने भी व्रत, तप और भक्ति (करावे)। वह सब शुभराग है, वह धर्म नहीं। आहाहा!

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को '**स्वयं**' अर्थात् **अपने**

आप... निरन्तर तीनों काल आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। आहाहा! जैसे अज्ञानी को अनादि से अनन्त काल में राग और विकार का ही वेदन है, वह जहर का अनुभव पीता है। धर्मी को निरन्तर आत्मा के आनन्द के पेय होते हैं। आहाहा! अरे! अरे! ऐसी बातें! यह कहते हैं, 'ज्ञान' शब्द प्रयोग किया है? ज्ञान अर्थात् जीव का शुद्ध स्वरूप। शुद्ध स्वरूप है, वह ज्ञान स्वरूप है। जिसमें पुण्य-पाप के राग भी नहीं। शरीर तो जड़, मिट्टी-धूल है। आहाहा! वह तो इसमें है ही नहीं। वह तो परमाणु राख है, श्मशान की राख होकर उड़ जायेगी, बापू! वह चीज़ कहीं तेरी नहीं है, वह कहीं तू नहीं है। आहाहा!

'रजकण तेरे भटकेंगे ज्यों भटकती रेत, फिर नर तन पायेगा कहाँ? चेत चेत नर चेत।' ''रजकण तेरे भटकेंगे ज्यों भटकती रेत...' जैसे रेत उड़े (वैसे उड़ेंगे)। इतनी (चपटी) राख नहीं होगी। श्मशान में इतनी (राख भी) नहीं होगी। हवा आयी, इसलिए (उड़ जायेगी)। रजकण धूल—मिट्टी थी, वहाँ कहाँ तू था वह? आहाहा! 'रजकण तेरे भटकेंगे ज्यों भटकती रेत, फिर नर तन पायेगा कहाँ?' प्रभु! फिर तुझे ऐसा मनुष्यदेह कब मिलेगा? आहाहा! 'चेत चेत नर चेत' आत्मा क्या? उसका ध्यान कर। आहाहा! करने योग्य हो तो यह है, बाकी सब धूल-धाणी और वा-पानी है। आहाहा! समझ में आया?

....सवेरे चाय-पानी चाहिए, ...! उकाला डेढ़-पाव सेर (पीया) हो, तब मस्तिष्क ठीक रहे। धूल भी नहीं अब, सुन न! आहाहा! कुछ खबर नहीं होती, बेचारा क्या करे?

यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि **शुद्धस्वरूप को अनुभवता है—आस्वादता है।** है? आया? आहाहा! जैसे आईसक्रीम का स्वाद लेते हैं, वैसे धर्मी अपने आनन्द का स्वाद लेता है। अन्दर वह आईसक्रीम है! अरेरे! कहाँ सुना (हो)?

मुमुक्षु : आईसक्रीम का स्वाद कोई लेता नहीं, ऐसा आप कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न? आस्वाद लेता है, इसका अर्थ वह राग आता है न? उसका आस्वाद लेता है न? उसी प्रकार यह आनन्द का आस्वाद लेता है।

मुमुक्षु : रोग आवे तो दुःख तो होगा ही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आयेगा, अभी आयेगा। वह रोग की वेदना ही आत्मा की नहीं, यहाँ (ऐसा) कहते हैं। वह तो जड़ की मिट्टी-धूल की है। रोग इसे (-शरीर को) होते हैं, आत्मा को होते हैं? यह (शरीर) तो मिट्टी है। आहाहा! कीली या लोहा लगे, तब नहीं कहते? कि मेरी मिट्टी पकाऊ है, पानी छूने देना नहीं, ऐसी बातें करे (परन्तु) कहाँ भान है? बोलने की खबर नहीं। जगत की पागल की भाँति सब जिन्दगियाँ हैं। जंगवाली कील लगे (तो ऐसा कहे) मेरी मिट्टी पकाऊ है। एक ओर इसे मिट्टी कहता है और एक ओर फिर मेरा कहता है! मिट्टी का स्वामी होता है। धूल का धनी होता है! आहाहा! मार्ग बापू! वीतराग जिनेन्द्रदेव का मार्ग कोई अलग प्रकार है। अभी तो लोगों ने पूरा लोप कर दिया है। आहाहा!

भगवान यहाँ कहते हैं कि शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा पवित्रता का पिण्ड है, उसे धर्मी जीव—प्रथम दशावन्त आस्वादता है। आहाहा! समझ में आया? **कैसा है ज्ञान?** कहते हैं, कैसा है भगवान? ज्ञान शब्द से आत्मा। अन्दर आत्मा कैसा है? **कैसा है ज्ञान? स्वभाव से ही उत्पन्न है।** यह वस्तु स्वाभाविक अनादि की है। उसे किसी ने किया नहीं, नया होता नहीं। आनन्द और ज्ञानस्वरूपी—स्वभावी अनादि से है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें! कभी सुना न (हो) विचारे न।

मैं यहाँ बेचारा कहता हूँ न? उसे शास्त्र में रांका कहा है। शास्त्र में 'वरांका' शब्द आता है। वरांका अर्थात् भिखारी। दुनिया भिखारी, रांका। अरबोंपति सब भिखारी, रांका है। जिसे अन्तर चैतन्य की लक्ष्मी की खबर नहीं और बाहर की लक्ष्मी (माँगता है), वह भिखारी, वरांका, रांक है। आहाहा! भगवानजीभाई! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : (यह बात) यहाँ चलती है, बाहर नहीं चलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो अब मुम्बई भी चलती है न! दस-दस हजार लोग सुनते हैं न! घाटकोपर! वह नहीं? कान्तिलाल सर्वोदय! वहाँ वाँचते थे न? वह हॉल है न? वहाँ दस-दस हजार लोग आते हैं। अब सब आते हैं, यह कुछ दूसरा कहते हैं, ऐसा सबको हो गया है। आहाहा!

एक बार कान्तिभाई मोटाणी के यहाँ उतरे थे न? उस बार लगभग वहाँ उतरने

का है। वहाँ उतरे थे, तब कान्तिलाल आये थे। (आकर कहा), महाराज! आपका यह धर्म तो चार हजार भव के बाद समझ में आयेगा। वह यहाँ आया था। अभी वहाँ गया है, पालीताणा गया है। उसकी महिमा करे न? श्वेताम्बर के मन्दिर बनाये हैं न? वहाँ सर्वोदय के पास (बनाया है)। घाटकोपर, वहाँ धर्मविजय है, उसके पास गये हैं। वह उसकी महिमा करे, ऐई! तुमने इतने लाख खर्च किये और दस लाख खर्च किये और अमुक खर्च किये... धूल भी नहीं, अब सुन न! आहाहा! अभी विनती करने आयेंगे, पहले आया था।

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा कैसा है? **स्वभाव से ही उत्पन्न है।** अर्थात् कि स्वाभाविक वस्तु ही अनादि से है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर/समुद्र! अनन्त आनन्द का समुद्र प्रभु है। अरे! इसने कहाँ देखा है? सुना नहीं, श्रद्धा की नहीं तो देखे कहाँ से अन्दर? और देखे तो वहाँ देखे कहाँ से? आँखें बन्द करके ऐसे करे तो (दिखाई कहाँ से दे?) अभी वस्तु की जहाँ श्रद्धा और पहिचान भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, ज्ञान अर्थात् आत्मा। जाननस्वरूप... जाननस्वरूप है, वह आत्मा। जैसे शक्कर मिठास का पिण्ड है, उसी प्रकार यह भगवान ज्ञानस्वरूपी, चैतन्यसूर्य, चैतन्यचन्द्र है। आहाहा! यह स्वाभाविक वस्तु है, (ऐसा) कहते हैं। यह किसी ने की नहीं, नयी हुई नहीं। है... है... और है... आहाहा! अरे! स्वाभाविक... है?

कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? सात भयों से मुक्त है। आहाहा! धर्मी जीव को तो इस लोक का भी भय नहीं और परलोक का भी भय नहीं। मैं तो आनन्द और ज्ञानमूर्ति हूँ, वह मेरा लोक है, यह शरीर है, वह मेरा लोक नहीं। वह तो जड़ की-मिट्टी की चीज़ है। शरीर रहे, तब तक मुझे पूरी सुविधा रहे (तो) ठीक। जगत को इस लोक का भय है। मरने तक सुविधा रहे तो ठीक। उसके लिये सब सम्हाल करे। धर्मी को वह भय होता नहीं, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि अन्दर अपना ज्ञानशरीर है, अतीन्द्रिय आनन्द उसका शरीर है। यह शरीर तो मिट्टी-धूल का है। आहाहा! समझ में आया? यह कहते हैं। **सात भयों से मुक्त है।**

'ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' सम्यग्दृष्टि जीव को वेदना का भय कहाँ से होवे ? इसलोक, परलोक की बात पहले आ गयी है। अब यह वेदना की व्याख्या है। आहाहा! शरीर में रोग आवे, सड़ान हो,... आहाहा! उसका भय ज्ञानी को-धर्मी को नहीं होता। क्योंकि इस शरीर से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा जाना है। अनुभव में यह चीज़ आ गयी है। अर्थात् यह शरीर की वेदना है, वह मेरी वेदना नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अज्ञानी (को) तो एक ओर शरीर की वेदना (चलती हो),उसमें पीड़ा उठती हो... आहाहा! (अन्त समय में) दबाव में आकर मरकर चला जायेगा। बहुतों की ढ़ोर में-तिर्यंच में गति (होनेवाली) है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि धर्मी को ऐसा भय (नहीं)। ऐसी वेदना ही मुझे नहीं न! मैं तो आनन्द की वेदना का वेदनेवाला हूँ। आहाहा! पुद्गल की वेदना, शरीर की सुख-दुःख की कल्पना, वह पुद्गलस्वरूप है, मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! कैसी बात यह वह! पहला तो एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रिइन्द्रिया, चतुरिन्द्रिया, पंचेन्द्रिया आता था न ? तस्स मिच्छामि दुक्कडम्, जाओ, हो गया धर्म!.... धूल में भी (धर्म) नहीं, (यह) सब जड़ के भंगभेद हैं। आहाहा! अरे बापू! तुझे खबर नहीं, भाई! आहाहा!

भगवान अन्दर है, वह तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्यबिम्ब, जिनचन्द्र है। वीतरागी शीतल चन्द्र है। आहाहा! उसका जिसे भान होकर वेदन (हुआ) है, वह कहता है कि शरीर की वेदना मुझे नहीं, मुझमें नहीं। उस वेदना में मैं नहीं। आहाहा! अरे.. अरे..! ऐसी सब शर्तें! इसे कुछ खबर नहीं होती, उसमें फिर तीस-चालीस वर्ष की जवान अवस्था हो, उसमें पाँच-दस लाख, पच्चीस लाख हो गये हों, दो-पाँच करोड़ हों तो हो गया... मैं चौड़ा और गली सकड़ी! आहाहा! (हमारे) बाहुबली से हम बढ़ गये। किसमें (बढ़ गये) ? पाप में! अरे रे! बापू! तुझे खबर नहीं, भाई!

यहाँ धर्मी जीव को... धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसका जो अनुभव है, राग और पुण्य-पाप के वेदन से भिन्न पड़ा है। आहाहा! इस अपेक्षा से यहाँ कहते हैं, **वेदना का भय कहाँ से होवे ?** है ? **'ज्ञानिनः तद्भीः' वेदना का भय कहाँ से होवे ? अपितु नहीं होता है।** आहाहा! शरीर में रोग आवे, वह तो जड़ की दशा है। वह तो मिट्टी में रोग है।

भगवान तो अरूपी ज्ञानानन्द है। उसके भान में उसकी वेदना उसे नहीं होती। आहाहा! कठिन काम! उसमें हार्टफेल के समय तो घबराहट होती है क्योंकि यह सब रक्त गाढ़ा हो जाता है। उस समय हार्टफेलवाले को यह रक्त है न? वह बर्फ की तरह सर्वत्र जम जाता है। श्वास नहीं ले सकता और घबराहट... घबराहट... घबराहट होती है। आहाहा! हमने तो बहुत देखे हैं न! आहाहा! यह सब रक्त है, वह बर्फ की तरह जम जाता है। इसलिए श्वास को लेने की गति रुंध जाती है, इसलिए घबराहट... घबराहट... घबराहट (होती है)। आहाहा! परन्तु वह वेदना जड़ की है। धर्मी कहता है कि चैतन्य (ऐसे) मुझमें नहीं। आहाहा! ऐसा है यह स्वरूप! उसमें वहाँ तुम्हारे पैसे-फैसे में सुनने का मिले, ऐसा नहीं है। धूल में...! आहाहा!

वेदना का भय कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता है। कारण कि... 'सदा अनाकुलैः' सर्वदा भेदज्ञान से विराजमान हैं... यह क्या कहते हैं? सम्यग्दृष्टि-धर्म की पहली सीढ़ीवाला राग के भाव से भिन्न भेदज्ञान जिसे सदा-निरन्तर वर्तता है। अज्ञानी को-मिथ्यादृष्टि महामूढ़ में निरन्तर राग और आत्मा दोनों एक है, ऐसा निरन्तर वर्तता है। आहाहा! इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को, भले चक्रवर्ती के राज में पड़ा दिखाई दे... आहाहा! परन्तु उसे... आहाहा! अनाकुल **भेदज्ञान से विराजमान हैं...** यह राग का जो विकल्प है, उससे भिन्न पड़ी हुई भेदज्ञान दशा निरन्तर वर्तती है। आहाहा! कठिन काम, बापू! आहाहा! वीतराग का धर्म समझना बहुत अलौकिक बात है! आहाहा! लौकिक मार्ग के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है।

आहाहा! कहते हैं कि **सर्वदा भेदज्ञान से विराजमान हैं...** भाषा ऐसी है कि **'सदा अनाकुलैः'** यह **'सदा अनाकुलैः'** की व्याख्या की है कि धर्मी जीव (को) पर से भिन्न पड़ा हुआ अनाकुल आनन्द का वेदन है, इसलिए वह राग से भिन्न भेदज्ञान में विराजता है, राग में नहीं। आहाहा! ऐसी बातें सुनना कठिन पड़े, वह बेचारा कब समझे और कब (अन्दर) जाये? आहाहा! बापू! ऐसी बाते है। आहाह!

त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव परमात्मा सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजमान हैं, उनकी यह वाणी है। महाविदेह में परमात्मा विराजते हैं—सीमन्धरप्रभु! यह सामायिक

में आज्ञा नहीं लेते ? से भान भी कहा है कि सामायिक किसे कहना ? किसकी आज्ञा ? आहाहा ! सामायिक तो जिसे राग के भाग से आत्मा भिन्न चैतन्यमूर्ति समस्वभावी वीतरागस्वरूप भगवान का जिसे समता का, आनन्द का वेदन आवे, उसे यहाँ सामायिक कहते हैं। आहाहा !

इसलिए कहते हैं कि (धर्मी जीव) भेदज्ञान में विराजता है। अज्ञानी राग और पुण्य-पाप के एकत्व में विराजता है। आहाहा ! (कोई व्याख्यान में) न आया हो और कोई घर में पूछे कि क्या कहते थे ? कौन जाने उसका ऐसा और उसका ऐसा कहते थे। अरे ! भगवान ! बापू ! तुझे सत्य की खबर नहीं है। आहाहा !

यहाँ तो अनाकुल की व्याख्या यह की। क्या की ? '**सदा अनाकुलैः**' धर्मी सदा राग से भिन्न दशा ही वर्तती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को सदा राग की एकता ही वर्ता करती है। आहाहा ! चाहे तो वह णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं करता हो, परन्तु वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि राग के एकत्व में पड़ा है। वह राग है, उसकी उसे एकत्वबुद्धि है। आहाहा ! तब सम्यग्दृष्टि '**सदा अनाकुलैः**' अर्थात् ? राग से भिन्न अनाकुलस्वरूप भगवान आत्मा का है, उसमें वह सदा है। आहाहा ! अरे ! ऐसी बातें ! ऐसा वीतराग का मार्ग है, प्रभु ! आहाहा !

इन्द्र, एकावतारी—एकभवतारी इन्द्र हैं, उनके बीच परमात्मा ऐसा फरमाते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? वह बात यहाँ आयी है। '**सदा अनाकुलैः**' आहाहा ! अर्थात् ? अज्ञानी अनादि के यह पुण्य और पाप के भाव की एकताबुद्धि में दुःखी है। जबकि भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि राग से भिन्न पड़ी हुई अनाकुल चीज़ में स्थित है, इसलिए उसे अनाकुल का वेदन है। अर्थात् अनाकुल की व्याख्या ही यह की है कि भेदज्ञान में रहता है। राग से भिन्न रहता है। वह अज्ञानी राग के एकत्व में रहता है। चाहे तो साधु हो परन्तु पंच महाव्रत के परिणाम राग हैं। उस राग के एकत्व में है, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। आहाहा ! समझ में आया ?

'**सदा अनाकुलैः**' **सर्वदा भेदज्ञान से विराजमान हैं...** आहाहा ! टीकाकार भी (टीका करते हैं न) ! सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसकी दृष्टि में राग से भिन्न पड़ा

हुआ भगवान भासित हो। इससे उसे भेदज्ञान में रहा हुआ कहते हैं। भाषा में—आचार्य की भाषा में (यह है कि) वह सदा अनाकुल में रहता है, राग में नहीं। उस अनाकुल दशा में रहा हुआ, भेदज्ञान में रहा हुआ है वह।

सर्वदा... आहाहा! सर्वदा! '**सदा**' (शब्द) है न? यह राग चाहे तो दया, दान, व्रत (का) हो, परन्तु वह सब विकल्प राग है। धर्मी तो उस राग से भिन्न '**सदा अनाकुलैः**' अर्थात् भेदज्ञान में रहता है। आहाहा! वह राग की एकता में रहता नहीं, राग की भिन्नता में रहता है। आहाहा!

वे पुरुष 'स्वयं वेद्यते' स्वयं ऐसा अनुभव करते हैं कि 'यत् अचलं ज्ञानं एषा एका एव वेदना' 'यत्' जिस कारण से '**अचलं ज्ञानं**' अचल ज्ञान! आत्मा अचल अर्थात् ध्रुव भगवान अन्दर है। नित्य प्रभु है। अनादि-अनन्त नित्य भगवान आत्मा अन्दर विराजता है। आहाहा! अचल अर्थात् चलित नहीं, ऐसा ध्रुवस्वरूप है। '**अचलं ज्ञानं**' (अर्थात्) चलित न हो ऐसा आत्मा। ज्ञान शब्द से आत्मा। **शाश्वत् है जो ज्ञान...** अर्थात् आत्मा। आहाहा!

ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... भगवान, अनादि-अनन्त नित्य प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! ऐसा जो शाश्वत् तत्त्व, **यही जीव को एक वेदना है।** आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा अनाकुल शान्तरस से भरपूर प्रभु! धर्मी को उस शान्तरस का एक ही वेदन है, ऐसा कहते हैं। इसमें से फिर कोई एकान्त खींच जाये कि, उसे अशान्ति जरा भी नहीं (तो ऐसा नहीं है)। यहाँ तो दृष्टिप्रधान के कथन से यह बात है। बाकी धर्मी को भी जितने अंश में स्वभाव का भेद पड़ा है, उतनी तो शान्ति है, परन्तु अभी पूर्ण शान्ति नहीं, पूर्ण आनन्द नहीं, उतना राग है। उस राग का भी उसे वेदन है, परन्तु वह मेरा स्वरूप है—ऐसा नहीं परन्तु वेदन है। आहाहा! अरे... अरे...! ऐसी बातें! समझ में आया?

यह तो सर्वज्ञ का पंथ! सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव का मार्ग है, बापू! यह मार्ग कोई अलग प्रकार है। आहाहा! कहते हैं कि वह एक ही वेदना जिसे है, दो नहीं—ऐसा कहते हैं। उसमें से और वे कहें, देखो! समकिती को एक आनन्द का ही वेदन है, दुःख का नहीं। यह किस अपेक्षा से? यहाँ तो दृष्टिप्रधान कथन से एक ही प्रकार के वेदन को

लिया है। सम्यग्दर्शन की मुख्यता से कथन है, इसलिए अनाकुल वेदन के अंश को ही लिया है। परन्तु जब तक सम्यग्दृष्टि को भी पूर्ण वीतरागता नहीं, उतना उसे राग आता है, उतना दुःख का वेदन है। आहाहा!

पाठ तो यहाँ यह कहा, देखो! क्या कहा? '**एका वेदना**' ऐसा है। किस अपेक्षा से कहा? वह वेदना है, वह पुद्गल के आकार की, राग की है, उसे हेय गिनकर, गौण गिनकर, व्यवहार गिनकर और उसकी वेदना नहीं, ऐसा कहा है। अरे! समझ में आया? '**एका वेदना**' पाठ है। फिर उससे ऐसा ले लेवे कि धर्मी-सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए उसे राग का वेदन है ही नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो दृष्टि और दृष्टि के विषय की मुख्यता से कथन है। इसलिए उसे आनन्द का वेदन एक ही है। गौणरूप से पूर्ण वीतराग न हो, तब तक अभी उसे राग आता है, परन्तु वह दुःख है, उस दुःख को वेदता है। आहाहा!

पूर्ण आनन्द का वेदन परमात्मा को (होता है) और पूर्ण दुःख का वेदन मिथ्यादृष्टि जीव को (होता है)। मिथ्यादृष्टि (अर्थात् कि जो) राग की एकताबुद्धि में पड़ा है, वह पूर्ण दुःखी है। केवली परमात्मा (को) पूर्ण आनन्द है, परन्तु साधक जीव जो सम्यग्दृष्टि है, उसे जितना आत्मा के आश्रय में पड़ा, उतना आनन्द है; जितना अभी राग बाकी है, उतना दुःख है। पूर्ण आनन्द नहीं, उतना वहाँ दुःख है। परन्तु उसे यहाँ दृष्टि की मुख्यता में न गिनकर, एक वेदना है—ऐसा कहने में (आता है)। आहाहा! अपने आप यह पढ़े तो कुछ समय में आये, ऐसा नहीं है। बहीखातों के कारण निवृत्त कहाँ होता है? धूल के कारण! यह भाषा सादी है। भगवान अन्दर है, बापू! चैतन्य का माल अन्दर है! आहाहा!

आचार्य महाराज का पुकार है, सन्त हैं, दिगम्बर सन्त हैं। सन्त जंगल में बसते थे। सनातन जैनधर्म में दिगम्बर मुनि (को) वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं। आनन्द की लहर में जंगल में रहते हैं, बाघ और सिंह के बीच! आहाहा! वे यहाँ कहते हैं, धर्मी को एक वेदना होती है, ऐसा कहते हैं। है? **जीव को एक वेदना है।** कौन सी? **शाश्वत है जो ज्ञान यही...** है न? शाश्वत जो ज्ञानस्वरूप ध्रुव ज्ञानानन्द आत्मा, उसका ही एक वेदन है। आहाहा!

एक घण्टे में कितनी अनजानी बातें! दुनिया की तो सब खबर है न! पूरी दुनिया

देखी है। सब वाडा देखे हैं। एक दुकान का धन्धा किया था, उगाही के लिये जाते थे। लेन-देन करते, लेन-देन! परन्तु यह १७ वर्ष की उम्र से २२ (वर्ष तक)—पाँच वर्ष (किया)। बाईस वर्ष में छोड़ दिया। (संवत् १९६८ के) वैशाख में (छोड़ दिया)। लेन-देन में पैसा लेने मैं जाता था। दो गाँव थे—एक महेरा और एक तलोद। हमारे (यह) दो मुख्यरूप से खास लेन-देन के (गाँव थे)। कितने ही तो न आते हों। उसमें कुछ (नहीं), सब किया है। उगाही को जायें और रास्ते में कोई गाड़ी न हो तो साथ में दो सौ-चार सौ-पाँच सौ पैसे हों तो फिर छतरी हो न? उस छतरी के ऊपर ते सलिया में डाले। यह सब किया हुआ है। क्योंकि अकेले हों और कोई आकर (देखे तो) जेब में देखे, वहाँ देखेगा? कोई आया नहीं कभी। छतरी होती है न छतरी? उसके वे सलिया (होते हैं उसमें) ऊपर थैली रख दे। तब रोकड़ा (रुपये) थे न? तब कहाँ कागजी नोट थे। आहाहा! यह सब धूलधाणी के व्यापार थे।

यहाँ प्रभु कहते हैं, एक बार तू सुन तो सही, प्रभु! तू अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का सागर है, उसमें तेरी नजरें नहीं होती और तेरी नजरें यह जहर का प्याला—पुण्य और पाप के फल में तेरी नजरें! तुझे मिथ्यात्व की नजरबन्दी हो गयी है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो यह **'एका वेदना'** (शब्द आया इसके) आधार से जरा आया।

जीव को एक वेदना है, निश्चय से। है? **'अन्यागतवेदना एव न भवेत्' इसे छोड़कर जो अन्य कर्म के उदय से हुई है, सुखरूप अथवा दुःखरूप वेदना...** देखा? संयोग की बात नहीं ली। अन्दर सुख-दुःख का वेदन है, यह उसे नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। दृष्टि की प्रधानता से (कथन) है न? आहाहा! सुख-दुःख की कल्पना है न? उसका उसे वेदन नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह पुद्गलस्वरूप है, वह मेरी जाति नहीं। आहाहा! मेरी जाति की वह चीज़ नहीं। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, वे मेरी जाति की चीज़ नहीं। आहाहा! वह तो कुजात है।

आहा! **इसे छोड़कर जो अन्य...** उसमें ऐसा लिया है, भाई! अन्य में पुद्गल -आकार वस्तु ऐसा लिया। संस्कृत टीका में (ऐसा लिया है)। पुद्गल-आकार!

संस्कृत टीका (में लिया है)। पुद्गल आकार—यह रागादि पुद्गल-आकार है, मेरा स्वरूप नहीं। शरीर, वाणी, मन और जड़ पैसा, वह तो कहीं बाहर रह गये, परन्तु अन्दर में कोई पुण्य और पाप का भाव आवे अथवा सुख-दुःख की कल्पना (हो), वह पुद्गल का भाव है, मेरा नहीं। आहाहा! यहाँ से मनुष्य को जाना कहाँ? बाबूभाई! बाहर की नौकरी (में) आठ हजार वेतन हो तो मानो, ओहोहो! (हो जाता है)। पन्द्रह हजार वेतन है, इनके नानाभाई का। महीने का पन्द्रह हजार। धूल है सब!

मुमुक्षु : धूल हो तो सब्जी आवे, नहीं तो सब्जी बिना का कोरा रह जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सब्जी, सब्जी के रजकण भी... यह नहीं कहा? खानेवाले का दाने-दाने पर नाम है। सुना है? इसका अर्थ क्या है? कि जो रजकण यहाँ आनेवाले हैं, वे आनेवाले हैं; नहीं आनेवाले नहीं आनेवाले हैं, तेरे प्रयत्न से आवे, इस बात में कुछ माल नहीं है। आता है न? क्या? खानेवाले का दाने-दाने पर नाम है। अर्थात् क्या? वहाँ नाम लिखा है? वे रजकण जो वहाँ आनेवाले हैं, वे उनके कारण से आयेंगे, तेरे कारण से नहीं।

(यहाँ कहते हैं) **इसे छोड़कर जो अन्य कर्म के उदय से हुई है, सुखरूप अथवा दुःखरूप वेदना जीव को है ही नहीं।...** यहाँ स्वरूप की मुख्यता की बात ली है न? समझ में आया? **ज्ञान कैसा है?** (अर्थात्) अन्दर भगवान आत्मा कैसा है? **शाश्वत् है-एकरूप है।** अर्थात् अनेक रागादिरूप वह है नहीं। एकरूप ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप भगवान है। सहजात्म, उन स्वामीनारायण के हैं, वे नहीं, हों! यह तो सहजात्मस्वरूप स्वभाविक आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! वह एकरूप है। एकरूप है, आहाहा! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि एकरूप चैतन्य के ऊपर है, इसलिए एक का ही उसे वेदन है। समझ में आया? आहाहा!

फिर थोड़ी लम्बी बात है, विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १५७

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२५-१५७।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सः ज्ञानं सदा विन्दति' [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [ज्ञानं] शुद्धस्वरूप [सदा] तीनों कालों में [विन्दति] अनुभवता है — आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? 'सततं' निरन्तर वर्तमान है। और कैसा है ज्ञान? 'स्वयं' अनादि-निधन है। और कैसा है? 'सहजं' बिना कारण, द्रव्यरूप है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निःशंकः' कोई मेरा रक्षक है कि नहीं है, ऐसे भय से रहित है। किस कारण से? 'ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीव के [तद्भीः] 'मेरा रक्षक कोई है कि नहीं है-ऐसा भय' [कुतः] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता है। 'अतः अस्य किञ्चन अत्राणं न भवेत्' [अतः] इस कारण से [अस्य] जीववस्तु के [अत्राणं] अरक्षकपना [किञ्चन] परमाणुमात्र भी [न भवेत्] नहीं है। किस कारण से नहीं है? 'यत् सत् तत् नाशं न उपैति' [यत् सत्] जो कुछ सत्तास्वरूप वस्तु है, [तत् नाशं न उपैति] वह तो विनाश को नहीं प्राप्त होती है। 'इति नियतं वस्तुस्थितिः व्यक्त' [इति] इस कारण से [नियतं] अवश्य ही [वस्तुस्थितिः] वस्तु का अविनश्वरपना [व्यक्त] प्रगट है। 'किल तत् ज्ञानं स्वयं एव सत् ततः अस्य अपरैः किं त्रातं' [किल] निश्चय से [तत् ज्ञानं] ऐसा है जीव का शुद्धस्वरूप, वह [स्वयं एव सत्] सहज ही सत्तास्वरूप है। [ततः] तिस कारण से [अस्य] जीव के स्वरूप की [अपरैः] किसी द्रव्यान्तर के द्वारा [किं त्रातं] क्या रक्षा की जायेगी। भावार्थ इस प्रकार है कि सब जीवों को ऐसा भय उत्पन्न होता है कि 'मेरा रक्षक कोई है कि नहीं', सो ऐसा भय, सम्यग्दृष्टि जीव को नहीं होता। कारण कि वह ऐसा अनुभव करता है कि शुद्धजीवस्वरूप, सहज ही शाश्वत है। इसकी कोई क्या रक्षा करेगा?।।२५-१५७।।

कार्तिक कृष्ण ९, रविवार, दिनांक-०४-१२-१९७७, कलश-१५७, प्रवचन-१६६

निर्जरा अधिकार है।

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२५-१५७।।

क्या कहते हैं ? आत्मा शाश्वत् नित्यानन्द प्रभु, उसका जिसे भान हुआ है; भान नहीं उसे तो भय है, 'कोई मुझे रखे तो रहे, कोई मेरी रक्षा करे तो मैं रहूँ, कोई भक्षण करे तो मैं नाश हो जाऊँ' ऐसा अज्ञानी को शरीर, वाणी मेरे हैं, ऐसा माननेवालों को ऐसा त्रास और भय होता है। न्याय समझ में आता है ?

यह शरीर, यह तो मिट्टी-धूल है। यह जिसने मेरा माना और अपना स्वरूप अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत् ध्रुव अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड प्रभु है, ऐसी सत्ता अनादि की है, ऐसा अस्तिरूप आत्मा है, उसकी जिसे खबर नहीं, वह बाहर के रक्षक और भक्षक को; रक्षक हो तो मैं रह सकता हूँ (और) भक्षक हो तो मेरा नाश हो जायेगा—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! पैसा होवे तो मुझे शरण मिले, स्वजन-कुटुम्ब हो तो मेरी रक्षा हो, हथियार और हाथी, घोड़ा, गढ़ हो तो मेरी रक्षा हो, ऐसे अज्ञानी मूढ़ जीव, जिसे आत्मा शाश्वत् है, उसकी खबर नहीं, वह जीव इस प्रकार पर में रक्षकपना देखता है। आहाहा! समझ में आया ?

पर मेरी रक्षा करे तो मैं रहूँ, वह तो इस शरीर को (अपना) माना है। अन्दर आत्मा जो चिदानन्द प्रभु शाश्वत् सच्चिदानन्दस्वभाव, सत् शाश्वत् और ज्ञान और आनन्द अनाकुल शान्ति जिसका स्वभाव है, वह तो शाश्वत् वस्तु है, नित्य है, ध्रुव है, अविनाशी है। ऐसा जिसे अन्तर भान हुआ... समझ में आया ? जिसे उसके अन्तर के आत्मतत्त्व की सत्ता—अस्तित्व, आनन्द और ज्ञानमय मेरी चीज़ शाश्वत् है, ऐसी जिसे (प्रतीति हुई, वह धर्मी जीव है)। (ऐसे) धर्मी को ऐसी दृष्टि में आत्मा शाश्वत् भासित

हुआ है, नाशवान चीज़ से मेरी चीज़ अत्यन्त भिन्न है, (ऐसा भासित हुआ है।) आहाहा! शरीर, वाणी नाशवान है, कुटुम्ब-कबीला, सब मकान और गढ़, हथियार हो तो वह सब नाशवान चीज़ है, उसमें मैं नहीं। धर्मी को ऐसी दृष्टि हुई है कि वह मैं नहीं। आहाहा! मैं तो आत्मा अन्दर शाश्वत् है... है... और है... ऐसी आत्म-चीज़ जो सत्ता... आहाहा! उसकी जिसे अन्तर में नित्य स्वभाव का स्वीकार हुआ है और जिसे अन्तर में पूर्णानन्दस्वरूप का भान होने पर धर्मी को अतीन्द्रिय आनन्द का नमूना, उसकी दशा में नमूना आता है, इसलिए वह धर्मी ऐसा मानता है कि मैं तो नित्य हूँ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

इसने कभी आत्मा क्या चीज़ है और उसका स्वभाव क्या है? ऐसा इसने कभी जाना नहीं। बहार में पाप के थोथा करके, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना (की)। धर्म के नाम से आकर दया, दान, व्रत, भक्ति, तप (किये)। वे सब नाशवान भाव हैं। आहाहा! उनसे यह प्रभु अन्दर शाश्वत् वस्तु (भिन्न है)। यह कहते हैं, देखो!

'सः ज्ञानं सदा विन्दति' सम्यग्दृष्टि जीव... अर्थात् कि मेरा शाश्वत् आत्मा सत्ता से अस्तिरूप से त्रिकाल है, ऐसा जिसे अन्तर में श्रद्धा में, ज्ञान में और वेदन में आया है... आहाहा! उसे धर्मी—सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! उसे सम्यक् अर्थात् सत्य दृष्टिवन्त कहते हैं। आहाहा! वह **सम्यग्दृष्टि...** है? **जीव ज्ञान को अर्थात् शुद्ध स्वरूप के...** भगवान अन्दर शुद्ध स्वरूप प्रभु है, उसकी दशा में रागादि, पुण्य-पाप के भाव दिखते हैं, वे सब विकृत हैं, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा! है? शुद्ध स्वरूप है। शुद्ध पवित्र आनन्द का नाथ, प्रभु! आहाहा! अरे! कैसे जँचे?

सवेरे डेढ़-पाव सेर चाय पीवे तब मस्तिष्क ठिकाने रहे! ऐसे को यह कहना कि तू त्रिकाली आनन्द का नाथ है? किस गज से माप करेगा? आहाहा! सवेरे ठीक से एक चाय, उकाला पीवे, तब उसका मस्तिष्क ठिकाने रहे। नहीं तो ऐसा कहे कि, अभी चाय पीकर नहीं आया और उतावल हो गयी (इसलिए) मस्तिष्क बराबर काम नहीं करता; ऐसे तो जिसके अपलक्षण!...भाई! सुना है या नहीं यह?....यह सब राग की बातें, यह तत्त्व नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अरे! धर्मी जीव को अपना आत्मा शुद्ध शाश्वत् है, ऐसा अन्तर में (भान हुआ है), उसका नमूना—अन्तर के आनन्द का वेदन आया है, उस द्वारा ऐसा जानता है कि यह आनन्द का नाथ त्रिकाली शाश्वत् है। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की पहली शुरुआत कही जाती है।....भाई! सब यात्रा करने निकले और पचास हजार खर्च किये और अमुक (किया), धूल में भी वहाँ धर्म नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! निकले थे न तब? कान्तिभाई!

मुमुक्षु : हमारे करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा (का भान) करना। यह पहिचानते हो न? कहा न यह? इसे दो करोड़ रुपये है, आठ लाख खर्च करके अभी मन्दिर बनाया। आठ लाख इन्होंने डाले और चार लाख जुगराजजी ने डाले हैं।

मुमुक्षु : करोड़ रुपये कहे, पश्चात् उसे धूल कहोगे नहीं!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल है, मिट्टी है। यह तो भाई को बतलाया। बैंगलोर है न? वहाँ बारह लाख का दिगम्बर मन्दिर बनाया। (स्वयं) है श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी और वे जुगराजजी नहीं? मुम्बई। मार्केट नहीं? महावीर मार्केट। उनके पास एक करोड़ रुपये हैं। वे स्थानकवासी हैं परन्तु दोनों यहाँ के प्रेमी हैं। उन्होंने चार लाख डाले, इन्होंने आठ लाख डाले। बारह लाख का मन्दिर बनाया। तब हम वहाँ थे? वहाँ प्रतिष्ठा की। अब वापस प्रार्थना करने आये हैं। क्या करना तब? यह शुभभाव है, यह कहीं धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : करना क्या अभी?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्म का भान हुआ, उसे भी यह शुभभाव आवे, परन्तु वह जानता है कि यह धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : परन्तु करना क्या हमारे?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना राग से भिन्न पड़कर आत्मा शाश्वत् चीज़ को अनुभव करना। यह करने का है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह समझाओ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है न अभी धीरे... धीरे...! आहाहा! भाई! प्रभु का अन्तर का मार्ग ऐसा है, अभी उसे सुनने को मिलता नहीं। अभी तो यह भक्ति करो और व्रत करो और तपस्या करो और अपवास करो, आहार छोड़ो और रूखा आहार करो और आंबेल करो, तुम्हारे धर्म होगा, (ऐसा चलता है)। अरे... भाई! यह सब क्रियायें तो राग की मन्दता हो तो वह पुण्य है; वह धर्म नहीं। भाई! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

यहाँ तो राग की क्रिया से भी प्रभु अन्दर निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्यघन है, वह अन्दर भिन्न विराजता है। आहाहा! अरे! कभी देखा नहीं, जाना नहीं।

मुमुक्षु : उसे देखे बिना यह 'है', ऐसा कहना कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु देखने से पहले जाने तो सही कि यह जाननेवाली एक चीज़ है या नहीं? शरीर को जाने, वाणी को जाने, यह स्त्री, पुत्र, परिवार है—ऐसा जाने, हों! मेरा है, ऐसा प्रश्न नहीं। जाननेवाले की कोई सत्ता है या नहीं? यह ऐसा कहते हैं कि, मैं नहीं ज्ञात होता, परन्तु 'नहीं ज्ञात होता'—ऐसा निर्णय किसने किया? यह ज्ञान ने निर्णय किया। ज्ञानस्वरूपी भगवान की इसे खबर नहीं। आहाहा! शास्त्र की चाहे जितनी धारणा हो और क्रियाकाण्ड के दया, दान, व्रत, भक्ति के चाहे जितने परिणाम हों परन्तु उस वस्तु से (आत्मा) भिन्न चीज़ है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव को शुद्ध स्वरूप (का अनुभव है)। वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्य राग से भिन्न है और अपने निर्मलस्वभाव से वह अभिन्न है। आहाहा! यह तो अलग प्रकार की बातें हैं, बापू! कोई शरण नहीं, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। मरते हुए कोई शरण नहीं, जीते जी भी कोई शरण नहीं। हाय... हाय... मुझे रखो रे... अब मैं मर जाता हूँ। कौन मरे? आत्मा मरे? शरीर मरे? शरीर की अवस्था बदले, उसे मरण कहते हैं। आत्मा तो त्रिकाली आनन्द का का नाथ शाश्वत् वस्तु है। वह जन्मता भी नहीं और मरता भी नहीं। आहाहा!

ऐसी चीज़—अन्तर स्वभाव का अस्तित्व है। ज्ञान का, जानने का, जिसकी सत्ता में सब ज्ञात होता है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है, परन्तु जो जानता है न? कि यह शरीर है। शरीर को खबर है कि मैं शरीर हूँ? उसे—जड़ को / मिट्टी को खबर है? वह

तो धूल है। ज्ञान को खबर है कि यह जड़ है। तो जिसके ज्ञान में—सत्ता में पर चीज़ ज्ञात होती है, वह परचीज़ वास्तव में ज्ञात नहीं होती। वह ज्ञान की वर्तमान दशा ज्ञात होती है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! अरे! क्या करें? पूरी बात का फेरफार हो गया है। आहाहा! समझ में आया?

जिसकी दशा में... दशा में अभी, हों! पूरी चीज़ भिन्न (पड़ी है)। जिसकी वर्तमान ज्ञान की दशा में—हालत में—पर्याय में, यह पर्याय शास्त्रभाषा है, उसमें यह... यह... यह... यह... ऐसा जो ज्ञात होता है, वह जानने की पर्याय ज्ञात होती है, वह (परवस्तु) नहीं। वह जानने की जो दशा है, वह ज्ञात होती है। अब, वह दशा किसकी है? कि जो ज्ञात होता है उसकी? वह दशा जाननेवाला त्रिकाल है, उसकी है। हसमुखभाई! सूक्ष्म बातें हैं, हों! पैसे में, धूल-धमाल में हैरान... हैरान होकर सब चले जायेंगे। आहाहा!

अरबोंपति! नहीं कहा? शान्तिलाल खुशाल, अपने पाणासणा के। दो अरब चालीस करोड़! धूल! दो अरब चालीस करोड़ रुपये! पाँच मिनिट में मर गया। हाय... हाय... इकसठ वर्ष की उम्र। वह मुम्बई में किसी के घर में मर गया। अपने गाँव में गोवा में चालीस लाख का बँगला (था), दस-दस लाख के दो बँगले और दो अरब चालीस करोड़! धूल में भी कुछ नहीं, वह तो जड़ की चीज़ है, तेरी कहाँ से आ गयी? आहाहा! मर गया पाँच मिनिट में। हाय... हाय... यह... मुझे दुखता है, बुलाओं डॉक्टर को। डॉक्टर आता है, वहाँ भाईसाहेब (चले गये)। देह और आत्मा भिन्न है, वैसे क्षेत्र से भिन्न पड़ गये। आहाहा! जाओ अन्यत्र भटकने। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, धर्मी जीव को शुद्धस्वरूप जो आत्मा है, उसका उसे ज्ञान है। ऐसे जीव को तीनों काल '**विन्दति**' आनन्दस्वरूप प्रभु, सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसे वह आस्वादता है और वेदता है। अज्ञानी अनादि काल से वेदता है। क्या (वेदता है)? पुण्य और पाप के, राग और द्वेष के भाव को—जहर को—दुःख को वेदता है। समझ में आया? आहाहा!

दो-पाँच-दस करोड़ पैसे (रुपये) आये और उसे ऐसा लगा कि आहाहा! (यह पैसा) उसके पास आये नहीं। उसके पास तो 'मुझे मिले है' ऐसी ममता उसके पास आयी है। आहाहा! वह ममता दुःखरूप है। आहाहा!

मुमुक्षु : ममता भले दुःखरूप हो परन्तु पैसा तो सुखरूप है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे तो कहीं रह गये, धूल तो इसे स्पर्श भी नहीं करती। इसे स्पर्श करती है ममता। आहाहा! बात में अन्तर है, बापू! पूरी दुनिया से (अलग प्रकार है)। अभी तो सम्प्रदाय में भी यह बात रही नहीं। क्या कहें? पूरी चीज़ का बदला हो गया।

अन्दर भगवान आत्मा... दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वह राग है, शुभ है, विकार है। उससे प्रभु अन्दर भिन्न है। क्योंकि वह राग तो पलटता है। शुभराग हुआ और अशुभ होता है। यहाँ सुनने में अभी शुभराग है, और जहाँ घर में या दुकान में जायेगा तो वहाँ होली सुलगेगी! यह करो... यह तार करो, उसे यह करो... पाप। रजनीभाई! यह पुण्य और पाप के दोनों परिणाम पलटते, नाशवन्त हैं और इनके सामने अन्दर भगवान आत्मा चिदानन्दस्वरूप अविनाशी विराजता है, उसकी इसे खबर नहीं होती। आहाहा! धर्म के नाम से भी दया, दान, व्रत, भक्ति को धर्म मानकर अनन्त काल से भटक मरा है। आहाहा!

अन्दर आत्मा... यहाँ आस्वादता है, ऐसा आया न? किसे आस्वादता है? तीन काल शुद्ध स्वरूप को आस्वादता है। अज्ञानी किसे आस्वादता है? राग और द्वेष को (आस्वादता है)। मैसूर आवे या रसगुल्ला आवे, उसे वह वेदता नहीं, वे तो जड़ हैं। उनकी ओर लक्ष्य करके 'ठीक है' ऐसा राग करे, उसे वह वेदता है। राग को वेदता है, दुःख को वेदता है। अरे... अरे...! यह माप? समझ में आया?

अनादि का अज्ञानी साधु हुआ, दिगम्बर मुनि हुआ, पंच महाव्रत पालन किये तो भी वे पंच महाव्रत के परिणाम दुःखरूप हैं। समझ में आया? राग है। आहाहा! ऐसी बातें भारी कठिन, भाई! उस राग के वेदन में, दुःख के वेदन में इसकी जिन्दगी अनन्त काल गयी। राजा हुआ, अरबोंपति हुआ, तो भी उस राग के वेदन में, दुःख के वेदन में था। आहाहा!

अब, बात गुलाँट खाती है। प्रभु! आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यघन है। घन है, चैतन्य का समूह है, आनन्द का पिण्ड है, सच्चिदानन्द है। सत् शाश्वत् चित्

ज्ञान और आनन्द का सागर है वह। तुम्हारे रुपये की तो गिनती हो कि यह दो करोड़ या तीन करोड़ या धूल करोड़। उसका तो माप नहीं, इतने अन्दर रत्न पड़े हैं। आत्मा में चैतन्य के रत्न, अनन्त गुणरूपी रत्न अन्दर पड़े हैं, भाई! आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा की जिसने स्वसन्मुख होकर, पर से विमुख होकर, निमित्त, राग और एक समय की दशा से भी विमुख होकर पूर्णानन्द के नाथ के सन्मुख होकर जिसने आत्मा को जाना और वेदन किया, उसे धर्मी कहा जाता है। समझ में आया?

यहाँ तो दो-पाँच-दस करोड़ हो, उसमें पाँच लाख खर्च करे तो कहे, ओहोहो! बड़ा धर्मधुरन्धर! समाज भी बड़ी लम्बी पदवियों का सम्मान दे! भभूतभाई! यहाँ तो दुनिया से दूसरी (बात है)। पाँच लाख क्या, तेरे करोड़ दे दे न! उसमें धर्म कहाँ था? वह तो जड़ की चीज़ है। उसमें कदाचित् तूने राग मन्द—कम किया हो तो पुण्य होगा। पुण्य अर्थात् राग। आहाहा! राग अर्थात् जहर। भगवान अमृत का सागर नाथ आत्मा, उससे विरुद्ध भाव राग, उसका नाम जहर है। समझ में आया?

यहाँ उस शुद्ध स्वरूप को जो आस्वादता है, (उसे ज्ञानी कहते हैं)। **कैसा है ज्ञान?** (ज्ञान) अर्थात् आत्मा। **निरन्तर वर्तमान है।** कायम वर्तता है, कायम वर्तता त्रिकाली भगवान, आहाहा! उसे जिसने जाना और अनुभव किया, उसे **कैसा है ज्ञान? अनादिनिधन है।** ज्ञान अर्थात् आत्मा। अनादि—जिसकी आदि (नहीं)। है... है... उसे आदि क्या? जो चीज़ है, उसे आदि क्या? है उसका अन्त क्या? है उसके स्वभाव से वह खाली क्या? आहाहा! बात अलग प्रकार की है।

दुनिया में तो सब चलता है, सब यहाँ तो खबर है न! उस नवमीं को दीक्षा को ६५वाँ वर्ष लगेगा, मागसर शुक्ल ९। तुम्हारे जन्म पहले की सब बातें हैं। (संवत् १९७० के) मागसर शुक्ल ९, रविवार। लो! आज रविवार है। उस मगसर को पन्द्रह दिन रहे, चौंसठ वर्ष पूरे होंगे। जगत को बहुत देखा। आहाहा! अन्तर जब जानने में आया तब खबर पड़ी कि ओ...ई.. यह बात तो कोई दूसरी है!! समझ में आया? सम्प्रदाय में क्रियाकाण्ड बहुत किये। आहाहा! बापू! मार्ग अन्दर अलग है।

चैतन्य का तेज! यह ज्ञान का भण्डार आनन्दसागर प्रभु के सन्मुख देखा ही कहाँ

है ? ऐसे बाहर के बाहर सब होली सुलगती है। यह पुत्र और यह पैसा और यह इज्जत और यह कीर्ति, खाना और पीना... जो देखनेवाला है, उसे देखा नहीं। देखनेवाला पर को देखने में रुक गया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि देखनेवाले को जहाँ देखा... आहाहा! वह तो ज्ञान की मूर्ति और आनन्द का कन्द प्रभु है। उसका वेदन जिसे है, वह जीव अनादिनिधन है। भगवान अनादि-अनन्त है। अनादिनिधन है न ? अनादि अर्थात् आदि नहीं और निधन अर्थात् अन्त नहीं। निधन का अर्थ अन्त होता है। आदि और अन्त बिना की वह चीज़ प्रभु अन्दर है। सत्... सत्.... सत्.... शाश्वत् सत् है।

और कैसा है ? बिना कारण द्रव्यरूप है। 'सहजं' का अर्थ किया। स्वाभाविक वस्तु है। उसे कोई कारण नहीं (कि) किसी ईश्वर ने उसे बनाया है। है... उसे करे कौन ? आहाहा! स्वाभाविक चैतन्यमूर्ति प्रभु, कारण बिना स्वाभाविक वस्तु है। उसका कोई कारण है नहीं... आहाहा! कि भाई! ईश्वर ने उसे उत्पन्न किया। चीज़ नहीं थी ? नहीं थी, उसे उत्पन्न कौन कहाँ करे ? और हो, उसे उत्पन्न कौन करे ? हो, उसे उत्पन्न कौन करे ? और न हो, उसे उत्पन्न कौन करे ? आहाहा! लॉजिक से—न्याय से इसे समझना पड़ेगा या नहीं ? अन्ध दौड़ से ऐसा का ऐसा चलता जाये! आहाहा!

कहते हैं, अनादिनिधन है। है ? **कैसा है ?** सहज है। **कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ?** धर्मी। **कोई मेरा रक्षक है कि नहीं...** यह (भाव) उसे है नहीं। आहाहा! दुनिया में तो अरे! मेरा कोई रक्षक, कोई धनी (है या नहीं ?) दुष्काल पड़े तो गरीब हो तो बनिये को, सेठिया को ऐसा कहे, सेठियों! इस काल हमको (पार) उतारो। हमारे पास साधन नहीं, तुम्हारे पास आधार है। ऐसा कहते हैं न यह सब ? किसान हो (उसमें) आवे, इस काल हमको उतारो! वे इसके रक्षक हुए, धूल के!

धर्मी को कोई रक्षक नहीं, तथा कोई भक्षक नहीं। उस शाश्वत् वस्तु को रखनेवाला कोई नहीं और शाश्वत् वस्तु का कोई नाश करनेवाला नहीं। आहाहा! वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अस्तिरूप से विराजमान है। अर्थात् क्या ? द्रव्य अर्थात् वस्तु। क्षेत्र अर्थात् उसकी चौड़ाई—असंख्यात प्रदेश है वह। काल अर्थात् वर्तमान दशा,

भाव अर्थात् त्रिकाली गुण—शक्ति। वह स्व से है, पर से नहीं। पर से नहीं, इसलिए पर हो तो यह है, ऐसा नहीं। पर मेरा रक्षण करे और पर मदद करे, मुझे कोई सहायता करे तो मैं रह सकूँ, ऐसी वह चीज़ नहीं है। भिन्न है। मूढ़ ने (एकत्व) माना है। वह तो मिट्टी, धूल है। वह तो इसकी उसे खबर नहीं कि मैं मिट्टी हूँ।

दृष्टान्त नहीं दिया था? कल दिया था न? कील लगे, कील, जंगवाली कील (लगे) तो ऐसा कहता है कि मेरी मिट्टी पकाऊ है, पानी छूने देना नहीं। ऐसा वहाँ कहता है कि मेरी मिट्टी पकाऊ है। और वापस मिट्टी का (स्वामी) स्वयं होता है। मिट्टी का मालिक होता है—स्वामी। आहाहा! क्या है यह सब? उटपटांग सब किस प्रकार वर्तता है?

यहाँ कहते हैं, मेरा कोई रक्षक है या नहीं? ऐसे भय से रहित धर्मात्मा है। सम्यग्दृष्टि—धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे शाश्वत् वस्तु की दृष्टि हुई है और अनुभव हुआ है। उसे 'कोई मुझे रखे तो रहूँ, रक्षक हो तो रहूँ—ऐसा उसे नहीं होता। आहाहा! तथा कोई मेरा भक्षक नहीं। रक्षक नहीं तथा भक्षक भी नहीं। तीन काल में कोई मेरा नाश कर सके (ऐसा है नहीं)। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु! शाश्वत् वस्तु नित्य है, उसे रखे कौन? उसे भक्षण कौन करे? नाश कौन करे? आहाहा! मैं मुझसे—त्रिकाली द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मेरी अस्ति मेरे कारण, मुझसे है। पर की (मेरे) अन्दर नास्ति है, वहाँ वह पर मेरी रक्षा करे तो (मैं) रहूँ, (ऐसा कहाँ से आया?) क्या कहा यह? भगवान आत्मा में—वस्तु में शरीर, वाणी, मन, पैसा-लक्ष्मी की नास्ति है। उसमें नहीं तो जिसमें वह नहीं, वह वस्तु उसकी रक्षा करे? वह तो रक्षित, सदा रक्षित ही है। आहाहा!

सत्ता—अस्तिवाली चीज़ शाश्वत् नित्य है, परन्तु उसकी नजर में नहीं आती। आहाहा! त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु! ऐसी शाश्वत् वस्तु की जिसे अन्तर्दृष्टि हुई, उसे 'कोई मुझे रखे' ऐसी रक्षा का भय उसे नहीं होता। आहाहा! आहाहा! यहाँ शरीर रहे, तब तक सामग्री अनुकूल हो तो मुझे ठीक पड़े, ऐसा मानता है न? शरीर की अन्तिम स्थिति तक मुझे सामग्री की अनुकूलता रहे। पैसा, मकान, स्त्री, पुत्र व्यवस्थित रहे तो मेरी सेवा-बेवा करे। ऐसा मूर्ख अनादि से मानता है। आहाहा! परन्तु ऐसा आत्मा

नहीं है। वह तो अपने से रक्षित और अपने से अविनाशी सत्ता—चीज़ है। आहाहा! उसे कोई रक्षक हो, ऐसा उसे भय नहीं है।

किस कारण से 'ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' 'ज्ञानिनः' सम्यग्दृष्टि जीव के 'मेरा रक्षक कोई है कि नहीं है ऐसा भय' कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। आहाहा! मुद्गर, हथियार, भाला ऐसी चीज़ हो तो मेरा रक्षण तो करे। क्योंकि कोई मारने आवे तो ऐसे भाला हाथ में रखे तो मेरा रक्षण (हो)। परन्तु तेरा अर्थात् तू कौन? शरीर तू है? मारने आवे न? हाथ में भाला-बाला हो न तो आ न सके। इसलिए मेरा रक्षण हुआ। परन्तु किसका? शरीर को भी रहना था तो रहा है। वह तेरे कारण नहीं। वह मारा नहीं, इसलिए नहीं। और उसके कारण तेरा—आत्मा का रक्षण हुआ, यह तो तीन काल में है नहीं। आहाहा! भाला रखते हैं, क्या कहलाती है वह? ढाल... ढाल। बड़ी ढाल रखते हैं न? अपने रक्षण के लिये। तो किसका रक्षण? इस शरीर का। उस धर्मी को ऐसे भाला और ऐसे बाण को क्या कहा? ढाल... ढाल। उसकी उसे आवश्यकता नहीं है। आहाहा! शाश्वत् ढाल पड़ी है, उसे रखे कौन? आहाहा! अरे! कैसे बैठे बात?

क्षण में नाशवान (चीज़ पलट जाती है)। देखो न! अभी तो क्षण में देह पलट जाये! आहाहा! हार्टफेल का अभी कितना सुनते हैं! पचास-साठ वर्ष पहले ऐसा कहते थे कि भाई को पाटिया भिंसाय छे। ऐसा कहते थे। पाटिया भिंसाय छे। अभी उसका हार्टफेल नाम आया। हार्ट का अटैक। भाई को दूसरी बार आया। भाई को दूसरी बार आया, तुम्हारे सेठ को। साहूजी। चालीस करोड़। अभी तीन-चार महीने पहले यहाँ आये थे। चालीस करोड़ रुपये हैं। यहाँ सुनने आये थे, बैठे थे। इस २७ तारीख को मर गये। ६६ वर्ष की उम्र, चालीस करोड़ रुपये। अभी व्याख्यान में आये थे। यहाँ भाई के पास कुर्सी में बैठे थे। ६६ वर्ष की उम्र। २२ × ३=६६ और २२ × ४=८८। चले गये क्षण में! उनके बड़े डॉक्टर सदा उनकी (सेवा में) होवें ही वे। ऐसा बड़ा व्यक्ति, बड़ा व्यक्ति! उसके बँगले में हम रह आये हैं। वहाँ सर्वत्र व्याख्यान दिये हैं। कलकत्ता, दिल्ली (सर्वत्र व्याख्यान दिये हैं)। बाकी उसके घर का एक गाँव है। कौन सा गाँव कहा? डालमियानगर। पूरा नगर उसका स्वयं का है। पूरा शहर। वहाँ गये थे। वहाँ भी

थे, व्याख्यान में थे। परन्तु इस बाहर की जंजाल के कारण यह निर्णय करने का समय कहाँ है ? बापू! मोह ने मार डाला!

रात्रि में कहते थे न ? भाई! भगवानजीभाई! मोह की लार! आहाहा! २५ तारीख को हार्टअटैक आया, इसलिए अस्पताल ले गये। २७ को सवेरे देह छूट गयी, लो! धूल है। आहाहा! बापू! वह तो देह छूटा, परन्तु तू कहीं नाशवान है ? अन्दर तेरा मरण हुआ है ? वह तो देह का वियोग हुआ, उसे दुनिया मरण कहती है। परन्तु तेरा तुझे वियोग हुआ ? आहाहा! शाश्वत् अनादि-अनन्त नित्यानन्द सत् सत्ता का उसे वियोग कब हो ? कि जिससे उसे रक्षा की आवश्यकता पड़े। आहाहा! अरक्षक है। स्वयं से ही स्वयं रक्षक है। पर से रक्षक है, ऐसा है नहीं। सूक्ष्म बातें, भाई! धर्म चीज़ ऐसी है। आहाहा! यह तो बाईस-तेईस घण्टे पाप करे, पूरे दिन धन्धा, स्त्री, पुत्र सम्हालना, घण्टे भर मिले (और) सुनने जाये तो कुगुरु लूट ले! श्रीमद् कहते हैं, घण्टे भर सुनने जाये तो कुगुरु लूट ले! अर्थात् ? व्रत करो और तप करो (तो) तुम्हें धर्म होगा। बेचारे की (ऐसी की ऐसी) जिन्दगी जाती है। श्रीमद् ऐसा कहते हैं। यह यात्रा-बात्रा करो (तो) तुम्हारे धर्म होगा। यह कोई कहता था कि (एक भाई ने) पचास हजार खर्च किये, कान्तिलाल ने लाख खर्च किये। ऐसी बातें करते थे। हम कहाँ देखने गये हैं ? भाई आये थे, पोपटभाई... तुम गये भटकने... वे आये... भाई आये थे, पोपटभाई आये थे वहाँ पालीताणा जाने को। आहाहा! अरे! आत्मा क्या चीज़ है, उसकी खबर नहीं होती और यह सब भटका-भटक में धर्म मान लिया। आहाहा! राग की मन्दता करे तो पुण्य-शुभभाव है, और शुभभाव, वह वेदन में जहर है। कठिन बातें, भाई! अन्दर अमृतसागर भगवान (विराजता है)। आहाहा!

आज तो यह आन्धप्रदेश का याद आ गया कि समुद्र बहुत उछला। पचास मील लम्बा! दस मील चौड़ा, उन्नीस फीट ऊँचा पानी का दल! आन्धप्रदेश में! आहाहा! ऐसे तो कहा जाता है कि 'मेहरामण माझा न मूके' चेलैया में नहीं आता ? चेलैयो आता है न ? यह तो बातें रची हैं। एक बाबा आया था और उसके पिता को कहा, माँस चाहिए। (तो पिता ने पूछा) किसका ? तो कहे, तेरे लड़के का माँस। अब, लड़के को बुलाओ! चेलैया पढ़ने गया था। सब बनावटी बात है। चेलैया को खबर पड़ी। बिलखा की

(बात) है न? बिलखा की है, बिलखा में है। सब खबर है, क्या गाँव? और क्या (बात है)? सब बात कहाँ रखना? फिर चेलैया को खबर पड़ती है तो वह बोलता है, 'भागुँ तो मारी भोमका लाजे' भागूँगा नहीं। मेरा पिता करे, वहाँ में जाऊँगा। 'भागुं तो मारी भोमका लाजे, भोरिंग न जड़े भार' भोरिंग अर्थात् सर्प। कहते हैं न? यहाँ सर्प नहीं, नीचे एक नागकुमार देव है। भवनपति के नागकुमार देव हैं। उसे लोग धर्म करके (मान बैठे कि) भोरिंग ने इस पृथ्वी को धार रखा है। सब गप्पागप्प है। कहते हैं ने वे लोग? 'मेहरामण माझा न मूके, चेलैयो सत् न चूके' मेहरामण माझा न मूके (उसमें से) विचार आ गया (कि) यह मेहरामण ने (आन्धप्रदेश में) माझा छोड़ दिया। गाँव के गाँव समाप्त कर दिये। पानी ऐसे उन्नीस फीट ऊँचा और पचास मील लम्बा, दस मील चौड़ा! आहाहा! देह की स्थिति पूरी हो, वह प्रसंग आवे, आवे और आवे। वे संयोग ऐसे बने, किसी के किये होते नहीं, किसी के रोकने से रुकते नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु की मर्यादा आत्मा न रोके। उसकी मर्यादा जो शाश्वत् है, उसे कोई रक्षक हो तो रहे, ऐसा नहीं है। वह तो सत्स्वरूप अनादि-अनन्त भगवान विराजता है। धर्मी की दृष्टि में शाश्वत् आत्मा तैरता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें! वहाँ मुम्बई में कहीं सुनने को मिले, ऐसा नहीं है।

मुम्बई भी बहुत बार देखा है न! पहले तो धन्धे के लिये आया था। (संवत्) १९६६, १९६७ के वर्ष। पालेज से मुम्बई माल लेने आता था। यह तुम्हारे जन्म के पहले की बातें हैं। १९६६, १९६७, १९६८। अन्त में १९६८ में माघ महीने में आया था। मैंने चावल की सौ बोरियाँ ली थीं। सौ बोरी चावल की। बड़ा व्यापार था। यह तो १९६८ की बात है। कितने वर्ष हुए? ६५-६६ (वर्ष हुए)। धूलधाणी और वा-पानी! दुकान में पाँच वर्ष व्यापार किया, हों! (फिर) कहा, अपने को इसमें कुछ रुचता नहीं।

मुमुक्षु : दुकान चालू है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चलती है न दुकान, बड़ी दुकान है। तीस-पैंतीस लाख रुपये हैं। तीन-चार लाख की आमदनी है। वह सब धूल धाणी! इस शाश्वत् आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ प्रयास है। आहाहा! ऐई!

यहाँ यह कहते हैं, **सम्यग्दृष्टि जीव के 'मेरा रक्षक कोई है कि नहीं है ऐसा भय' कहाँ से होवे ?** कारण कि अरक्षकपना है उसे परमाणु मात्र भी अरक्षक नहीं। आहाहा! वह तो त्रिकाली रक्षक ही है। उसे वह रजकण या (दूसरा) कोई हो तो रहे, (ऐसा नहीं है)। कोई परमाणु मात्र अरक्षक नहीं। आहाहा!

यह मरते (समय) स्वजन इकट्ठे हुए हों... आहाहा! एक बार, मुम्बई... मुम्बई न? नानालालभाई के काका का पुत्र अमोलक। राजकोट... राजकोट नानालालभाई करोड़पति थे, उनके काका का पुत्र था, नव विवाहित और अन्त में व्याधि (लागू पड़ी)। बड़ा परिवार। कमरा भर गया। मैं गया। तीनों भाई खड़े थे, करोड़पति! आहाहा! दोनों ओर निमोनिया। श्वास लेने में अन्दर से शोर (मचाये)। वे सब कुटुम्ब-कबीला से पूरा कमरा भर गया। सब पैसेवाले गृहस्थ, धूल भी किसी ने रखा नहीं। आँख में से आँसू बहते जाये। आहाहा! महाराज! मांगलिक सुनाओ! परन्तु मांगलिक सुनते (समय भी) उसे बेचारे को अन्दर (पीड़ा का पार नहीं)। आहाहा! बेचरभाई ने उसके हाथ में कुछ था, (वह दिया और कहा), महाराज को प्रदान करो। परन्तु वह हाथ भी कुछ काम करता नहीं था। आहाहा! कौन से वर्ष की (बात है)? १९९९ की बात है। पूरा कहा जानेवाला परिवार! कमरा भर गया। उसे जागृति (थी), हों! बस! उड़ गया, देह छूट गयी। सब खड़े-खड़े देखे। नानालालभाई करोड़पति। आँख में से आँसू की धारा (बहती जाये)। कौन शरण है? बापू! व्यर्थ का फांफां मारकर मर गया। आहाहा!

आत्मा स्वयं अरक्षक है, देखा? **अरक्षकपना परमाणुमात्र भी नहीं है।** ऐसा कहते हैं। जरा भी अरक्षकपना नहीं। पूर्ण रक्षकपना ही अपना स्वरूप है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **किस कारण से नहीं है? जो कुछ सत्तास्वरूप वस्तु है...** लो! आहाहा! पहली लाईन है। अस्तिवाली चीज़ है, सत्ता है, अस्तिवाला तत्त्व है, उसका नाश कैसे हो? (सत्तास्वरूप) **वस्तु है, वह तो विनाश को नहीं प्राप्त होती है।** आहाहा! वस्तु अस्तिवाली सत्ता भगवान है, उसका तो वस्तुस्थिति से कभी नाश नहीं होता। आहाहा!

'इति नियतं वस्तुस्थितिः व्यक्ताः' इस कारण से अवश्य ही वस्तु का अविनश्वरपना प्रगट है। आहाहा! सत्ता है, भगवान आत्मा है न? है, वह अविनश्वर

है। उसकी सत्ता को कोई नाश कर सके, ऐसा है नहीं। आहाहा! **वस्तु का अविनश्वरपना प्रगट है। निश्चय से ऐसा है जीव का शुद्धस्वरूप वह, 'स्वयं एव सत्'** (अर्थात्) स्वभाव से ही वह चीज़ ऐसी है। आहाहा! यह परमाणु है, यह परमाणु—रजकण, वह भी मूल परमाणु शाश्वत् है। उसकी अवस्था बदलती है। यह खून की, पहले आटा की थी, गेहूँ की थी, धूल की, यह सब अवस्थायें थीं। परमाणु जो मूल है, वह तो शाश्वत् है। आहाहा! अवस्था बदलती। इसी प्रकार भगवान वस्तुरूप से तो शाश्वत् है। आहाहा! उसकी अवस्था—वर्तमान दशा बदलती है, परन्तु दशा बदलने से वस्तु बदल जाती है, ऐसा नहीं है। वस्तु तो ऐसी की ऐसी त्रिकाल आनन्द का दल प्रभु (ऐसी की ऐसी रहती है)। आहाहा!

निश्चय से ऐसा है जीव का शुद्धस्वरूप वह, सहज ही... सहज! सहज ही, ऐसा। स्वाभाविक ही। आहाहा! है, वह स्वाभाविक ही त्रिकाल सत्ता है, कहते हैं। अरेरे! यहाँ तो (अज्ञानी) कहे, मर जाता हूँ। कौन मरे? अरे... बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! **जीव के स्वरूप की किसी द्रव्यान्तर के द्वारा क्या रक्षा की जायेगी।** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा सत्ता शाश्वत् है, उसे अन्य द्रव्य के कारण से रक्षा किस प्रकार हो? आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य (से) रक्षा किस प्रकार हो? आहाहा! है, उसे अन्य द्रव्य से रक्षा किस प्रकार हो? भाषा जरा (ऐसी है)। द्रव्यान्तर (शब्द) है न? (अर्थात्) अन्य। स्वयं वस्तु है, उसे अन्य चीज़ से रक्षा करे तो रहे, ऐसी चीज़ है नहीं। आहाहा! आहाहा!

'एक रे दिन ऐसा आयेगा, मानो जन्मा ही नहीं था। निकालो रे निकालो इसे सब कहे, मानो जन्मा नहीं था...' आहाहा! देह की स्थिति नाशवान है, वस्तु कहाँ नाशवान है? 'सगी रे नारी तेरी कामिनी, वह खड़ी टगटग देखे, इस रे काया में अब कुछ नहीं, ऐसे फूट-फूटकर रोये...' आहाहा! नाशवान चीज़ को नाशवान देखकर रोवे! अन्दर अविनाशी चीज़ की इसे खबर नहीं होती। ऐसे देखे, नजर के वहाँ... अरे! यह तो कुछ नहीं होता, हाय... हाय..! अब पूछना (किसे)? कि हमारे बाद में क्या करना? परन्तु वह कहाँ गया, उसका पूछा? परन्तु ऐसी स्थिति की दशा कैसी थी, उसके कारण से

कहाँ जन्मा और किस अवतार में गया, इसका किसी ने देखा ? वह मरकर नरक में गया या पशु में गया, यह इसे कहाँ पड़ी है ? इसे तो वर्तमान अपनी सुविधा का साधन— मजदूर था, वह सुविधा में से गया, उसे रोता है। वह मरकर पशु में गया या कहाँ (गया)। वह इसे कहाँ स्वपन में नहाना है ? ऐई ! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहाहा !

द्रव्यान्तर के द्वारा... क्या कहा ? '**अपरैः**' है न ? भगवान आत्मा शाश्वत् वस्तु है, उसका जहाँ अन्तर में सम्यग्दर्शन हुआ—सत्य दर्शन हुआ, ऐसे धर्मी को, कोई द्रव्यान्तर (अर्थात्) अन्य द्रव्य रहे तो मैं रहूँ, ऐसा भय उसे नहीं होता। द्रव्यान्तर (अर्थात्) अपने द्रव्य के अतिरिक्त अन्य वस्तु से रहे, वह चीज़ है नहीं। आहाहा ! भाई ! ऐसी बातें, लो ! (द्रव्यान्तर से) **क्या रक्षा की जायेगी।**

भावार्थ इस प्रकार है कि सब जीवों को ऐसा भय उत्पन्न होता है कि 'मेरा रक्षक कोई है कि नहीं',... अरे ! मुझे कौन रखे ? लड़के (भी नहीं)। आहाहा ! पैसे का ढ़ेर कर, ऐसा एक जगह आता है। पाप करके (कमाये हुए) पैसे के ढ़ेर कर, वहाँ। मरते समय ढ़ेर कर। माँग, प्रार्थना कर (कि) मैंने तेरे लिये जिन्दगी व्यतीत की (तो) तू अभी कुछ रक्षा तो कर। आहाहा ! ऐसा श्वेताम्बर शास्त्र सूयगडांग में आता है। ऐसी वैराग्य की बातें तो उनमें होती है परन्तु दृष्टि में अन्तर है। (पैसे के) बड़े ढ़ेर किये ! आहाहा !

वह सिकन्दर नहीं ? अरबों रुपये लूट-लूटकर इकट्ठे किये ? मरते समय हाथ खुल्ले रखकर (कहता है), मैं जाता हूँ। मेरे साथ कुछ नहीं आता। मेरे वरखासन खानेवाले हकीमों ! खड़े रहो, मुझे तुम रख नहीं सके। अरबों रुपये के। फिर कहा, 'मेरा जनाजा इन हकीमों के कन्धे पर उठाना।' मेरा बरखासन खाया परन्तु मुझे रखा नहीं तो यह जनाजा उठवाना, इतना तो करना। आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु आत्मा ! आहाहा ! मेरा कोई रक्षक है या नहीं ? ऐसा भय सम्यग्दृष्टि जीव को नहीं होता। आहाहा ! **कारण कि वह ऐसा अनुभव करता है कि...** आहाहा ! धर्मी जीव कि जिसने आत्मा का ज्ञान किया है... आहाहा ! जिसने आत्मज्ञान किया है, आत्मा का ज्ञान किया है... आहाहा ! वह ऐसा अनुभव करता है कि **शुद्धजीवस्वरूप सहज ही शाश्वत् है...**

मेरा पवित्र प्रभु भगवान! त्रिकाली वस्तु स्वाभाविक ही शाश्वत् है। उसे कोई रखे तो रहे, ऐसी वह कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! यह 'निर्जरा अधिकार' है। धर्मी जीव को अपने आत्मा की शाश्वत् चीज़ के आश्रय से जो वेदन हुआ, उसमें उसे वदन हुआ कि यह तो शाश्वत् चीज़ है। उसे रखूँ तो रहे, ऐसा है नहीं। **सहज ही शाश्वत् है...** स्वभाव से ही वह शाश्वत् है। स्वभाव से ही वह शाश्वत् रही हुई चीज़ है। इसलिए स्वभाव से ही कायम रही हुई चीज़ है, उसे कोई अब रक्षा करनेवाला रहे तो (वह रहे), ऐसा कुछ है नहीं। इसलिए धर्मी को कुछ त्रास नहीं है। कोई रखे तो रहे, ऐसा भय नहीं है। मैं सदा त्रिकाल रक्षित ही हूँ। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो मरने तक सुविधा रखे, मकान की, पैसे की, नौकरों की (सुविधा रखो)। अन्त में देह छूटे तब तक यह सब सुविधा रहे। कुछ न रहे, सुन न! वहाँ तेरा मुँह फट जायेगा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, धर्मात्मा को (अर्थात् कि) जिसे आत्मज्ञान हुआ है, उसे आत्मा शाश्वत् भासित होता है। किसी भी राग के काल में भी उसे तो भेदज्ञान में आत्मा शाश्वत् भासित होता है। समझ में आया? शुभ और अशुभभाव हो, परन्तु उस समय भी आत्मा तो उससे भिन्न शाश्वत् भासित होता है। आहाहा! उसे पूर्व के कर्म के कारण आवें, वे सब खिर जाते हैं, ऐसा कहते हैं। यह निर्जरा अधिकार है न? जरा अशुद्धता हो, (वह) खिर जाती है। कर्म का संयोग आवे, वह छूट जाता है। अपनी दृष्टि शाश्वत् पर होने से अशाश्वत् चीज़ उसे संयोग (में) आवे (तो वह) पृथक् पड़ जाती है, इसकी साथ रहती नहीं। इसका नाम धर्मी और निर्जरा कहा जाता है। विशेष लेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १५८

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूप च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२६-१५८।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सः ज्ञानं सदा विन्दति' [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [ज्ञानं] शुद्धचैतन्यवस्तु को [सदा विन्दति] निरन्तर अनुभवता है-आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? 'स्वयं' अनादि-सिद्ध है। और कैसा है? 'सहजं' शुद्धवस्तुस्वरूप है। और कैसा है? 'सततं' अखण्ड धाराप्रवाहरूप है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निःशंक' वस्तु को जतन से रखा जाये, नहीं तो कोई चुरा लेगा—ऐसा जो अगुप्तिमय, उससे रहित है। 'अतः अस्य काचन अगुप्तिः एव न भवेत् ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' [अतः] इस कारण से [अस्य] शुद्धजीव के [काचन अगुप्तिः] किसी प्रकार का अगुप्तिपना [न भवेत्] नहीं है। [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीव के [तद्भीः] 'मेरा कुछ कोई छीन न लेवे'—ऐसा अगुप्तिमय [कुतः] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। किस कारण से? 'किल वस्तुनः स्वरूपं परमा गुप्तिः अस्ति' [किल] निश्चय से [वस्तुनः] जो कोई द्रव्य है, उसका [स्वरूपं] जो कुछ निज लक्षण है, वह [परमा गुप्तिः अस्ति] सर्वथा प्रकार गुप्त है। किस कारण से? 'यत् स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टुं न शक्तः' [यत्] जिस कारण से, [स्वरूपे] वस्तु के सत्त्व में [कः अपि परः] कोई अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य में [प्रवेष्टुं] संक्रमण को [न शक्तः] समर्थ नहीं है। 'नुः ज्ञानं स्वरूपं च' [नुः] आत्मद्रव्य का, [ज्ञानं स्वरूपं] चैतन्यस्वरूप है। [च] वह ज्ञानस्वरूप कैसा है? 'अकृतं' किसी ने किया नहीं, कोई हर सकता नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि सब जीवों को ऐसा भय होता है कि 'मेरा कुछ कोई चुरा लेगा, छीन लेगा'; सो ऐसा भय, सम्यग्दृष्टि को नहीं होता, जिस कारण से, सम्यग्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है कि 'मेरा तो शुद्धचैतन्यस्वरूप है, उसको तो कोई चुरा सकता नहीं, छीन सकता नहीं; वस्तु का स्वरूप अनादि-निधन है'।।२६-१५८।।

कार्तिक कृष्ण १०, सोमवार, दिनांक-०५-१२-१९७७, कलश-१५८, प्रवचन-१६७

१५८ कलश है।

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूप च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२६-१५८।।

यहाँ निर्जरा का अधिकार है। निर्जरा अर्थात्? आत्मा के अनुभव से, आत्मा वस्तु है, वह त्रिकाल ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उसका अनुभव, उसकी दृष्टि होने पर, उसका अनुभव (होने पर) ज्ञान का और आनन्द का अंश वेदन में आवे। उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहते हैं। उसे पूर्व के कर्म निर्जरित हो जाते हैं। थोड़ी अशुद्धता हो, वह भी गल जाती है और अन्तर दृष्टि में पूर्ण शुद्धता के स्वभाव का आदर है, इसलिए शुद्धता भी बढ़ जाती है। पर्याय में शुद्धता बढ़ती है, उसे यहाँ निर्जरा कहते हैं। सब भाषा अनजानी लगे!

यहाँ निर्जरा का अधिकार है न, तो निर्जरा अर्थात् नि (अर्थात्) विशेष झरना। किसका झरना? कि कर्म का झरना, अशुद्धता का गलना। यह नास्ति से है और शुद्धता की वृद्धि होना, यह अस्ति से है। इसे निर्जरा कहा जाता है। (यह निर्जरा) किसे होती है? (कि) जिसे यह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, नित्य ध्रुव (को) दृष्टि में लेकर जिसने उसका वेदन किया है, (उसे निर्जरा होती है)। ऐसी बात है।

अनादि से अज्ञानी यह पुण्य-पाप के भाव जो कृत्रिम विकार है और उसके फलरूप से संयोगी चीज़ें मिलें, वे मेरी, ऐसा मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता है, वह महा अधर्म की दृष्टि को सेवन करता है। समझ में आया? उसे अधर्म बढ़ता है, उसे कर्म का बन्धन होता है, अशुद्धता बढ़ती है अर्थात् अधर्म बढ़ता है। शुद्धता तो है नहीं। आहाहा!

धर्मी जीव की शुरुआत में... यह यहाँ कहते हैं, देखो! '**सः ज्ञानं सदा विन्दति**'

सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम में प्रथम जिसे धर्म की शुरुआत होती है, जन्म-मरण के अन्त का काल जहाँ आया है, आहाहा! ऐसी अन्तर चीज़ को (अनुभव करता है)। जिसमें भव और भव के भाव का अभाव है, ऐसा भाव (उसे अनुभव करता है)। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है। अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। वह वस्तु वीतरागमूर्ति है। उसमें भव और भव के भाव का उसमें अभाव है। ऐसे राग और भव के अभाव स्वभाव, ऐसा स्वरूप है, ऐसा जिसने दृष्टि में लेकर वेदन किया है, (वह सम्यग्दृष्टि है)। यह सूक्ष्म बात है, भाई!

निर्णय... निर्णय कहा था न? निर्णय तो उसे कहते हैं (कि) वह तो विकल्प सहित अभी निर्णय होता है। पहला विकल्प सहित 'यह चीज़ ऐसी है' ऐसा निर्णय (होता है), परन्तु वह कहीं वास्तविक निर्णय नहीं है। वास्तविक निर्णय तो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु जिसकी दृष्टि में आने पर जिसके अनन्त गुण की संख्या (के) प्रत्येक का अंश व्यक्तरूप से वेदन में आवे, तब उसे सम्यग्दर्शन का निर्णय कहने में आता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो पूरी दुनिया से अलग बात है। आहाहा!

यह कहते हैं, देखो! '**सः**' अर्थात् वह। कौन वह? **सम्यग्दृष्टि जीव...** आहाहा! जिसन पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान, जिसकी ज्ञान की वर्तमान पर्याय—दशा में ज्ञात हो गया है और जानकर उसने प्रतीति की है कि यह आत्मा पूर्ण आनन्द है, वह मैं। ऐसी बातें हैं। जिसे आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, शुद्ध चैतन्यघन की जिसे प्रतीति और अनुभव होकर वेदन हुआ है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। शर्तें बहुत! रुपये में तो कुछ नहीं आवे। पुण्य के कारण धूल इकट्ठी हो जाये। वहाँ कहीं पुरुषार्थ से वह मिलती है, ऐसी चीज़ है नहीं। आहाहा!

यह तो अनन्त पुरुषार्थ है, प्रभु! पूर्ण जिसकी वर्तमान दशा में ज्ञान का अंशपना है, राग का है, उसे अलग रखो। उस अंशपने को (-पर्याय को) पूर्ण रीति से मैं हूँ, ऐसा अनादि से माना है। वह अंश है, वह मैं हूँ—ऐसा माना है। इसका नाम झूठी—मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। परन्तु जिसका अंश है, वह पूरी चीज़ अंशी वस्तु नित्यानन्द प्रभु है। उसकी प्रतीति और ज्ञान करके उसका वेदन लाना। आहाहा! तीन बोल हुए न? कि पूर्णानन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान करके, उसकी प्रतीति करके और उसका चारित्र

अर्थात् वेदन का अंश लाना, ऐसा कहना है। आहाहा! समझ में आया? धर्म चीज़, बापू! महँगी है, अलौकिक है! आहाहा! और इसकी दरकार भी जीवों को कहाँ पड़ी है? इस दुनिया में बाहर में महत्ता में ऐसा का ऐसा मर गया!

महत्ता (वाली) चीज़ तो अन्दर बड़ा भगवान है! साक्षात् परमात्मस्वरूप ही स्वयं अन्दर है। समझ में आया? ऐसे परमात्मस्वरूप पूर्ण स्वरूप, शुद्ध स्वरूप, जिन स्वरूप, वीतराग स्वरूप, अखण्ड स्वरूप, अभेद स्वरूप, सामान्य स्वरूप, एक स्वरूप यह सब उसके विशेषण हैं। अरे! ऐसे स्वरूप को जिसने जाना है, माना है और आंशिक वेदन किया है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

वह जीव **शुद्ध चैतन्यवस्तु को 'सदा विन्दति'** वह तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायकमूर्ति प्रभु, पवित्रता के पिण्ड को, धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव सदा उसे अनुभव करता है। आहाहा! वह राग को अनुभव नहीं करता। अनादि से राग—दया, दान, व्रत और काम, क्रोध के भाव का करना और वेदन करना, वह मिथ्यादृष्टिपना है। आहाहा! उसकी जाति जो है, वह वेदने में आये नहीं। सूक्ष्म बात है।

यह आत्मा अन्दर प्रभु है। 'ज्यों निर्मलता स्फटिक की'—जैसे स्फटिक निर्मल होता है, स्फटिक रत्न देखा है कभी? अपने स्फटिक (की) मूर्ति है। ऐसा स्फटिक का पत्थर एक बार देखा है, जामनगर। जामनगर में (संवत्) १९९१ में वहाँ डॉक्टर थे न? भाई! प्राणजीवन डॉक्टर। बड़े डॉक्टर थे, तब ढाई हजार वेतन था। (तब) समयसार की १००वीं गाथा चलती थी, जामनगर में सब सुनने आये थे। फिर कहे, स्फटिक बताया। ऐसा स्फटिक है। इस प्रकार 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे...' भगवान आत्मा का स्वभाव निर्मल स्फटिक जैसा निर्मल है। अरे... अरे...! आहाहा! 'श्री जिन वीर ने धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव रे, ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की।' यह स्फटिक की निर्मलता तो जड़ की है। इस भगवान की निर्मलता ज्ञान प्रकाश की है। जिसका ज्ञान प्रकाश अन्दर पूर्ण भरा है। आहाहा! उसकी निर्मलता का जहाँ अन्दर भान हो, उस स्व को ज्ञान में ज्ञेय बनाकर उसे जाने और जानकर प्रतीति करके आंशिक वेदन करे, वह जीव सदा आत्मा को अनुभव करता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

अज्ञानी अनादि से पुण्य और पाप और विकार (को वेदता है)। पर को तो वह वेद भी नहीं सकता। शरीर और माँस, हड्डियाँ, चमड़े को क्या भोगे? आत्मा अरूपी है। आहाहा! मात्र परपदार्थ की अनुकूलता मानकर राग करे, उसे भोगता है। प्रतिकूल चीज़ को लक्ष्य में ले कि यह प्रतिकूल है—यह बिच्छू, सर्प, शत्रु को प्रतिकूलता मानकर, द्वेष को वेदता है। उस चीज़ को नहीं वेद सकता। यह पैसे को नहीं वेद सकता परन्तु 'पैसे मुझे मिले' ऐसी जो ममता (होती है), उस ममता को वेदता है। कहो, हसमुखभाई! यह तो सब दूसरी बातें हैं। पूरी दुनिया से अलग प्रकार है। आहाहा!

कहते हैं कि भगवान अन्दर आत्मा स्फटिक जैसा निर्मलानन्द (विराजता है), परन्तु पुण्य-पाप का राग, उस राग की एकताबुद्धि में इसने ताला लगाया है और जिसने ताला खोल दिया (अर्थात्) राग की एकता तोड़ दी और स्वभाव की एकता जिसने प्रगट की, वह अन्दर एक अलमारी खुल गयी। चैतन्यनिधान जिसकी नजर में आये। समझ में आया? उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जैसी चीज़ थी, वैसी प्रतीति, यथार्थ ज्ञान करके हुआ और उसका अंश वेदन में आया, वह '**सदा विन्दति**'। वह निरन्तर वेदता है। देखा? **आस्वादता है।** आहाहा! जाना, प्रतीति की और आस्वादता है। आहाहा! अरे! ऐसी व्याख्या धर्म की! पहली तो छह काय की दया पालो और व्रत करो और अपवास करो, रात्रिभोजन नहीं करो, कन्दमूल नहीं खाओ (यह सरल था।)

मुमुक्षु : छह काय में स्वयं आया या नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : छह काय में स्वयं नहीं, अपने अतिरिक्त पर (आये)। छह काय में अन्दर स्वयं आता है। उसकी दया पालना यह कि, उसे राग से भिन्न करके जैसा उसका पूर्ण स्वरूप है, वैसा उसे स्वीकार करना, प्रतीति करना, इसका नाम जीव की—अपनी दया कही जाती है। समझ में आया? क्योंकि जो भगवान आत्मा जितना, जितने स्वरूप से पूर्ण है, वह पूर्ण उस प्रकार से उसका स्वीकार होकर ज्ञान और प्रतीति हो, तब उसने जितना है, वैसा माना, उसने जीव की—अपनी दया पालन की। आहाहा! ऐसी सब बातें! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, '**विन्दति**' आहाहा! मिथ्यादृष्टि जीव विकार को वेदता है।

विकार को जाने, विकार को माने और विकार को वेदे। आहाहा! विकार (अर्थात्) यह शुभ-अशुभभाव। समझ में आया? यह सब कमाने का भाव है न? दुकान की व्यवस्था, ध्यान रखने का (भाव), वह सब पापभाव है। उस पापभाव को माने, पापभाव को जाने, पापभाव को वेदन करे, यह अनादि का अज्ञानी मूढ़ जीव है। यह तो दूसरा प्रकार है, भाई!

अब यहाँ गुलांट खाता है, पलटा मारता है कि मैं यह पुण्य-पाप नहीं और पुण्य-पाप को जाननेवाली जो पर्याय है, उमना भी मैं नहीं। पुण्य-पाप के फल जो यह बाहर की धूल, मकान आदि है, वह तो मैं नहीं ही.... आहाहा! परन्तु अन्दर जो पुण्य-पाप के विकल्प—राग है, वह मैं नहीं। और उसे वर्तमान में जानने की पर्याय जानती है कि यह राग है, उस पर्याय जितना भी मैं नहीं। मैं तो अखण्ड पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। ऐसा जिसे ज्ञान में, श्रद्धा में, वेदन में आया, वह सदा उसे अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं।

कैसा है ज्ञान? अर्थात् आत्मा। ज्ञान शब्द से यहाँ आत्मा है। पूरा आत्मा! ज्ञान का पुंज प्रभु अर्थात् पूरा आत्मा। है न? **'स्वयं' अनादि सिद्ध है।** यह तो अनादि से है। अनादि से सहज स्वरूप ही यह है। कोई नया हुआ है, किसी कारण से हुआ है, ऐसा नहीं है। यह तो स्वयंसिद्ध चिदानन्द सहजानन्द प्रभु! भगवान आनन्द का दल! ज्ञायक का पूर प्रभु, स्वयंसिद्ध है। स्वयं है। उसे किसी ने किया है या नहीं था और हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो जो हो, वह होगा। क्या हो? आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! वह **अनादि सिद्ध है।** अनादि—आदि नहीं, इस प्रकार वस्तु की—भगवान की सत्ता है। इस आत्मा की, हों! आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! 'पूर्ण इदं' यह ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों से पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा है, वह स्वयंसिद्ध है। वह किसी के कारण से हुआ है या उसे किसी ने किया है, ऐसी वह चीज़ नहीं। आहाहा! **अनादि सिद्ध है। और कैसा है? 'सहजं' शुद्ध वस्तुस्वरूप है।** स्वाभाविक पवित्र स्वरूप है। आहाहा! त्रिकाली पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। आहाहा!

और कैसा है ? 'सततं' अखण्ड धाराप्रवाहरूप है। आहाहा! वह निरन्तर ऐसा का ऐसा शुद्ध चिदानन्द आनन्द पड़ा है। अखण्ड धारा जैसे हो, वैसे ध्रुव धारा है। ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... (धारा है)। ध्रुव अर्थात् नित्य। नित्य धाराप्रवाह! नित्य वस्तु पड़ी है, प्रभु! आहाहा! समझ में आया ? सततं।

कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ? निःशंक है। जिसे उस पूर्ण शुद्ध चैतन्य नित्य ध्रुव का जहाँ ज्ञान, भान और वेदन हुआ, वह धर्मी जीव कैसा है ? कि निःशंक है। **वस्तु को जतन से रखा जाये, नहीं तो कोई चुरा लेगा...** ऐसा धर्मी को नहीं है। मेरी चीज़ की मैं रक्षा रखूँ, गुप्त रखूँ, वरना कोई ले जायेगा, वह चीज़ चोरी हो जायेगी (ऐसी शंका) ज्ञानी को हृदय में नहीं है। बाहर की चीज़ कोई चोर ले जाये, वह चीज़ तो इसकी नहीं। आहाहा! और अन्दर इसकी जो चीज़ है नित्य प्रभु भगवान, उसे कोई चोर ले जाये, ले जाये, हरकर ले जाये, घिसावट कर डाले, घिस डाले, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा कैसा उपदेश यह ? बापू! मार्ग तो ऐसा है, भाई! इसे मिला नहीं। आहाहा!

प्रभु! परमात्मा तीन लोक के नाथ जो हुए, वे पर्याय में हुए। वह शक्ति और स्वभावरूप से थे, उसमें से हुए। आहाहा! अर्थात् प्रत्येक भगवान आत्मा शक्तिरूप से —स्वभावरूप से परमात्मारूप से है। उसे कौन ले जाये ? उसे कौन चोरी कर जाये ? उसे कौन छीन ले ? हाथ में कोई वस्तु हो, उसे छीन ले, उसी प्रकार यह छीनी जाती होगी ? आहाहा!

मेरा कुछ छीन ले। है ? **जतन से रखा जाये, नहीं तो कोई चुरा लेगा ऐसा जो अगुप्तिभय उससे (समकिती) रहित है।** वस्तु नित्यानन्द प्रभु है, उसमें परपदार्थ का प्रवेश नहीं। प्रवेश नहीं तो उसे ले कौन जाये ? आहाहा! नित्यानन्द प्रभु अनादि से जैसा है, वैसा है उसमें... आहाहा! वर्तमान एक समय की दशा का भी जहाँ प्रवेश नहीं तो वहाँ फिर कोई जीव, दूसरा द्रव्य अन्दर प्रवेश कर जाये और उसे ले जाये, (ऐसा कैसे बने ?)

वह फिरोजाबाद के नहीं ? छदामीलाल। कितने करोड़ोंपति! पचास लाख रुपये तो खर्च किये, इससे अधिक धर्मादा के नाम से खर्च किये हैं। चूड़ियों का बड़ा व्यापारी। वहाँ हम गये थे, (तब) उनके मकान में उतरे थे। उनका एक व्यक्ति—नौकर था। बड़ा

पैसेवाला इसलिए पैसे तो पड़े ही हों, पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख तो उसके पास पड़े ही हों। बड़ा गृहस्थ। लौकिक खाते उदार भी जोरदार! धर्म के नाम से मानस्तम्भ बनाया है, पाठशाला बनायी है। हम वहाँ गये थे। हमारे नाम की पाठशाला बनायी है, मानस्तम्भ में फोटो डाला है। बड़ा गृहस्थ! बहुत करोड़पति! उसका व्यक्ति (था उसने) रात्रि में मार डाला! खून... खून... खून... छुरे से (मारा)। सवेरे देखे वहाँ मुर्दा खून में (लथपथ पड़ा था)। देखो! यह दशा!

इसी प्रकार कोई आत्मा को हर सके? पैसे के लिये मार डाला। पैसा ले गया, फिर पकड़ में आ गया। फिर तो बड़ा घोटाला निकला। ऐसा अखबार में आया है। स्वयं को पुत्र नहीं था, भाई के पुत्र को गोद लिया था। उसके भाई ने उसे मरवा डाला। यह संसार...! जलहलती अग्नि है। अखबार में आ गया है। अपने भाई के पुत्र को गोद (लिया था)। (स्वयं को) पुत्र नहीं। उसके भाई ने दगा किया, उस नौकर को कहकर मरवा दिया। पकड़ा गया। आहाहा!

बाहर इस शरीर को, पैसे को लूटे, परन्तु इस भगवान नित्यानन्द प्रभु को कोई लूट सके, ऐसा है? समझ में आया? आहाहा! इससे धर्मी सम्यग्दृष्टि को 'मेरी चीज़ है, वह कोई चोरी कर जायेगा' ऐसा उसे भय नहीं होता। आहाहा! पैसे ले जाये, अरे! स्त्री उठा ले जाये। ले जाते हैं न? देखो न!

मुमुक्षु : सीताजी को ले गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ले गया (था) परन्तु यह तो यहीं का यहीं हुआ। यहाँ एक थे न? बेचारे पति-पत्नी दोनों निकले हुए। उसमें स्त्री को उठाने के लिये एक डाकू निकला। उसमें एक पोस्टमैन निकला। यह पोस्टमैन होता है न? डाकिया। उसने जोर किया (कि) नहीं ले जाने दूँगा। डाकू ने उसे मार डाला। यहाँ (नजदीक में) है। क्या कहलाता है वह? थान। थान। देखा है, हम निकले हैं। आहाहा! वह चोर स्त्री को ले जाता था। उसमें पोस्टमैन निकला, (वह कहे), नहीं ले जाने दूँगा। पोस्टमैन तो बेचारा मध्यस्थ था। उसे मार डाला।

यह आत्मा अन्दर नित्यानन्द प्रभु जिसे दृष्टि में बैठा, उसमें किसी का प्रवेश है?

उसे कोई हर ले, ऐसा है ? उसे कोई चोरी कर जाये, ऐसा है ? कोई उसे लूटकर वह चीज़ चली जाये, ऐसी है ?

मुमुक्षु : सरकार ले जाये....

पूज्य गुरुदेवश्री : सरकार को कुछ भाग (नहीं)। बहुत आमदनी होतो फिर सरकार इन्कम टैक्स डालकर लूटे, बनिया भी सब (बचाने की पद्धति) करे न ? भाग करे, सब भाग करे। बहुओं के, पुत्रों के, फलाने के, ढींकने के (भाग करे)।

आहाहा! यहाँ कहते हैं कि प्रभु! अन्दर नित्यानन्द नाथ (विराजता है)! आहाहा! टंकोत्कीर्ण अनघड़ित घट! आनन्द का नाथ ध्रुव चीज़ है, वह कहाँ जाये ? आहाहा! उसे कौन लूटे ? उसे कौन हरे ? आहाहा! भगवानजीभाई! यह तो ऐसी बातें हैं, बापू! तुम्हारी दुनिया से पूरी अलग जाति है। मुद्दे की बात है। बापू! वह तो ऐसी बात है। आहाहा!

यह अन्दर नित्यानन्द (प्रभु विराजता है)। भगवान सर्वज्ञदेव जिनेन्द्रदेव ने देखा हुआ यह आत्मा अन्दर ध्रुव नित्यानन्द प्रभु है। ऐसा जिसने सम्यग्दृष्टि में देखा और माना है (वह जीव धर्मी है)। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! जिसने स्व त्रिकाली निधान पर नजर डाली और पर्याय तथा राग की नजर उठा ली है। आहाहा! बात-बात में प्रकार अलग लगे। भभूतभाई! आहाहा! इसे तो रस-प्रेम है न! पूरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय छोड़ दिया। उसमें प्रमुख व्यक्ति थे तो भी छोड़ दिया। बापू! मार्ग यह है, भाई! यह सब दुनिया, दुनिया के घर में रही।

अरे! ऐसी बात सुनने को भी मिलती नहीं, उसकी रुचि कब करे ? आहाहा! अशरण... अशरण... पूरा जगत—दुनिया अशरण है। शरण का नाथ अन्दर भगवान पूर्णानन्द प्रभु है, उसकी जिसे शरण मिली, उसका जिसने शरण लिया, ऐसे जीव को 'कोई मेरी चीज़ लूटेगा' ऐसा चोर-भय नहीं होता। समझ में आया ? भाषा तो सादी है, हों! समझ में आये ऐसा है। जवानों को भी समझ में आये ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : भाव ऊँचे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव तो जो है वह है, बापू! क्या हो ? कहो! आहाहा! 'हीरा

मुख से न कहे, लाख हमारा मोल' हीरा ऐसा कहता है मैं लाख रुपये की कीमत का हूँ, करोड़ की कीमत का हूँ? उसी प्रकार यह भगवान चैतन्य हीरा वह कुछ बोलता नहीं कि मैं ऐसी कीमतवाला हूँ। जाननेवाले को जानने में आता है। आहाहा! अरे! अनन्त-अनन्त काल से चौरासी के अवतार में डुबकी मारकर यह मर गया है, दुःखी है... दुःखी! आहाहा!

आत्मा के आनन्द के भान बिना यह पुण्य और पाप के भाव में रचा-पचा दुःख का कीड़ा है, दुःख को वेदता है। आहाहा! मिर्ची का जीव, मिर्ची का चूरा होता है न? मिर्ची का चूरा। पाँच सेर, दस सेर मिर्ची का चूरा। उसमें जीव पड़े। वे मिर्ची को घर बनाते हैं (और) उसमें रहते हैं। मिर्ची का जीव उसमें घर बनाकर रहे, उसी प्रकार अनादि का अज्ञानी अपने निजघर को जाने बिना पुण्य और पाप और फल को निजघर मानकर वहाँ पड़ा है। समझ में आया? आहाहा! जहरीले नाग ने इसे लिपट लिया है। भव और भव के भाव जहर है, भाई! आहाहा! विषकुम्भ कहा है न? मोक्ष अधिकार में।

दया, दान, व्रत, तप का भाव जहर है, राग है, (वह) जहर का भाव है। यह कमाना, कमाना, विषयभोग, वासना, रक्षण करना, ब्याज (इकट्ठा करना) वह पापभाव है। आहाहा! वह पाप और पुण्य के जहरीले जहर (भाव हैं)। उसने जहर लपेट लिया है। भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **जतन से रखा जाये, नहीं तो कोई चुरा लेगा...** ऐसी यह चीज़ नहीं। यह तो परमात्मस्वरूप नित्यानन्द प्रभु है और उसकी जिसे दृष्टि और वेदन हुआ, उसे 'मैं रखूँ तो रहे, वरना चोरी हो जायेगा' ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! यह तुम्हारे तो पैसा-बैसा तिजोरी में डाले।

हमारे वहाँ था। हमारे भी दुकान पर (था)। कुँवरजीभाई की दुकान। बड़ी दुकान, इसलिए बहुत हजारों, लाखों रुपये आते थे। इज्जत बड़ी थी न! घर में पैसे थे और दूसरे रखे। फिर कोई लेने आवे तो तिजोरी में पच्चीस-पचास हजार तो रखना ही पड़े। साहूकार व्यक्ति (इसलिए) कोई लेने आवे तो ना नहीं की जाती कि कल आना। तिजोरी खोलकर देते थे। दो दुकानें थी न? उसमें एक बड़ी दुकान थी।

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! आहाहा! प्रतिकूलता और अनुकूलता का संयोग इन दोनों से (धर्मी) जीव ठगता नहीं। ऐसा माल (—आत्मा) पड़ा है, उसे वेदता है और उसे पर का भय नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : स्वयं ही अकेला वेदे?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं ही। स्वयं स्वरूप चिदानन्द प्रभु! अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का सागर भगवान, उसमें डुबकी मारकर उसे वेदे! आहाहा! अर्थात्? वर्तमान पर्याय जो प्रवर्तित अवस्था है, उसे अन्तर में डाले। आहाहा! उसे 'यह मेरी चीज़ कोई ले जायेगा' ऐसा चोर का भय नहीं होता। उसे तो पूर्व के कर्म हों, वह खिर जाये, कहते हैं। आहाहा! अज्ञानी को तो नये पुण्य-पाप के भाव में अपनापन मानता है। वह तो नये कर्म बाँधता है और वर्तमान दुःख को वेदता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। रजनीभाई!

मुमुक्षु : आत्मा दिखता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'दिखता नहीं'—यह किसने निर्णय किया? यही दिखाई दिया। जिसकी सत्ता में, 'दिखाई नहीं देता'—ऐसा निर्णय (होता है), वही दिखाई दिया है। आहाहा! 'मैं ज्ञात नहीं होता' वह ऐसा कहता है कि 'मैं ज्ञात नहीं होता' वह जानता हूँ। आहाहा! किसी भी चीज़ को जानने में भगवान आत्मा की मुख्यता न हो तो जाने कौन? जाननेवाला तो स्वयं है। आहाहा!

जाननस्वभाव—ज्ञान कहा है न? ज्ञान अर्थात् आत्मा। पूरा ज्ञानस्वरूप ही यह है। चैतन्य के प्रकाश का नूर, चैतन्य के प्रकाश का पूर प्रभु है। आहाहा! यह घोड़ापूर आता है न? नदी में। घोड़ापूर उसे कहते हैं कि यहाँ वर्षा न हो और पाँच-पन्द्रह कोस दूर ऊपर वर्षा हो, सात-आठ इंच वर्षा (पड़ गयी हो) और पानी एकदम ऊँचा आवे, पानी का दल (ऊँचा आवे)। हमारे (यहाँ) तो बड़ी नदी है तो देखा है न! उमराला (में)। हम लड़के (वहाँ) खेलते। शोर मचाये एकदम। लड़कों निकल जाओ। परन्तु क्या है? यहाँ तो वर्षा भी नहीं है। तो कहे, वह... घोड़ापूर आता है। इतना-इतना पानी चला आता है। आहाहा! वर्षा के नदी के पानी इकट्ठे हो गये हों न!

यहाँ प्रभु कहते हैं कि भाई! यह आनन्द का सागर, आनन्द का पूर, अन्दर तेरा

ध्रुव ज्ञानपूर बसता है। आहाहा! उसके सन्मुख देखकर उसे मान और वेदन कर तो तेरे जन्म-मरण मिटेंगे, वरना तो मिटे ऐसा नहीं है। चौरासी लाख में मरण कर-करके कचूमर निकल गया, बापू! घर में छह महीने से लड़का बीमार (पड़ा हो), वह उठे वहाँ फिर स्त्री बीमार पड़े, स्त्री उठे वहाँ स्वयं बीमार पड़े, स्वयं उठे वहाँ फिर छोटा लड़का (बीमार पड़े)। चिल्लाहट मचाये, 'दो वर्ष से खाट खाली नहीं होती।' एक के बाद एक (बीमार ही पड़ते हैं)। वहाँ साधारण (बीमारी में) चिल्लाहट मचाये! यह अनन्त काल से दुःख की खाट से छूटा नहीं है, यह तो देख! आहाहा! दो वर्ष खाट चली। दो-चार लड़के नम्बर से चार-छह महीने (बीमार पड़े हों और) खाट चली हो। एक के बाद एक... एक के बाद एक... बीमार पड़े वहाँ तुझे ऐसा हो गया? आहाहा! बापू! तूने अनन्त भव किये। एक-एक भव में तूने दुःख के पर्वत वेदन किये हैं, बापू! वह तेरे दुःख देखकर जिसे आँख में से आँसू की धारा बह जाये, ऐसे दुःख भोगे हैं, प्रभु! तू भूल गया। आहाहा! यह बाहर की चमकवाली भूतावल देखकर भूल गया। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। है?

ऐसा जो अगुप्तिभय... अगुप्ति अर्थात् गुप्त रखूँ, वरना कोई ले जायेगा। अन्दर वस्तु गुप्त ही है। आहाहा! नित्यानन्द का नाथ सहजात्म प्रभु! शुद्ध ध्रुव अनन्त गुण का पिण्ड, वह ऐसा का ऐसा पड़ा है। आहाहा! वह गुप्त ही है। उसमें कुछ प्रवेश कर जाये और अगुप्ति हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! अरे... अरे..! ऐसी बातें।

'अतः अस्य काचन अगुप्तिः एव न भवेत् ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' इस कारण से शुद्ध जीव के... आहाहा! भगवान आत्मा पुण्य और पाप के राग से रहित है। पुण्य और पाप के भाव क्षणिक कृत्रिम विकार जहर है। उससे प्रभु अन्दर आनन्दकन्द अकृत्रिम नित्य ध्रुव है। आहाहा! ऐसे शुद्ध जीव को किसी प्रकार का अगुप्तिपना नहीं है। अर्थात् कि रखूँ तो गुप्त रहे, वरना अगुप्ति हो जाये, ऐसा नहीं है। वह गुप्त ही है। आहाहा!

जिसमें राग का प्रवेश नहीं, पर्याय का प्रवेश नहीं। आहाहा! पर्याय अर्थात् क्या? अभी (यह खबर न हो)। जैसे सोना है न? सोना। वह कायम है। वह सोना कायम है, उसे द्रव्य कहते हैं और पीलापन, चिकनापन, वजन है, उसे गुण कहते हैं और उसकी जो कण्ठी, कड़ा, अगूँठी होती है, उसे अवस्था / पर्याय कहते हैं। सोना है, उसे द्रव्य

कहते हैं और उसका पीलापन और चिकनापन को गुण कहते हैं और उसकी कड़ा, अँगूठी, कुण्डल की अवस्था हो, उसे पर्याय कहते हैं। उसी प्रकार आत्मा... कल कहते थे न? भाई कुछ दृष्टान्त कहते थे न? दृष्टान्त दे तो समझ में आये, ऐसा कहते थे न? यह दृष्टान्त कहा।

जैसे सोना है, वैसे आत्मा त्रिकाली है। उसमें पीलापन, चिकनाहट, वजन है, उसी प्रकार इसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आदि) शक्तियाँ हैं। उसके जो कुण्डल, कड़ा, अँगूठी होती है वह उसकी (स्वर्ण की) अवस्थायें-पर्याय बदलती है, उसे पर्याय कहते हैं। आहाहा! अरेरे! घर की चीज़ को इसने देखा नहीं, जाना नहीं! वे नहीं कहते? घर के लड़के चक्की चाटे, पड़ोसी को आटा। ऐसी लोग बाहर की बातें करते हैं। आहाहा! उसी प्रकार यह घर के लड़के चक्की (चाटते हैं अर्थात्) घर में है, उसका भान नहीं होता। वह पर की चीज़ को मेरी... मेरी मानकर... आहाहा! पड़ोसी को आटा—आटा दिया। यहाँ अन्दर में आटा नहीं होता। आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! यह कोई बाहर से पैसे से मिल जाये या दया, दान से मिल जाये या व्रत, भक्ति, पूजा से वस्तु मिल जाये, ऐसी यह चीज़ नहीं है। आहाहा!

भगवान पूर्णानन्द का अवलम्बन ले, तब वह ज्ञात हो और ज्ञाता हुआ, वह अब कहाँ जाये? यह कहता है कि मेरी चीज़ है, उसे कौन ले? आहाहा! बाहर में तो कोई शरीर को भी ले लेवे, स्त्री हो तो ले जाये, गहने हों तो लूट ले। आहाहा! उसमें क्या लूटे? नित्यानन्द प्रभु हूँ। आहाहा! नित्यानन्द हूँ, ऐसा जो निर्णय किया है, वह पर्याय भी जिसमें प्रवेश नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! वीतराग के नाम से अभी कुछ का कुछ चलता है। आहाहा! मार्ग बहुत अलग, प्रभु! क्या हो? आहाहा!

बाहर से तुझे यह सब भूतावल (अच्छी) लगे। शरीर अच्छा (हो), पैसा, स्त्री, पुत्र और बँगले, कपड़े और गहनों (से) मुर्दे का शृंगार करे! यहाँ लटकावे और यहाँ लटकावे और यहाँ लटकावे! मुर्दे हैं, यह तो मुर्दा है, जड़ धूल है। तूने अन्दर का भगवान का शृंगार देखा नहीं। आत्मा में तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि शृंगार से भरपूर भगवान है। आहाहा!

उसे जिसने जाना, वह ऐसा कहता है कि **इस कारण से शुद्ध जीव के किसी प्रकार का अगुप्तिपना नहीं है,...** जिसे शुद्ध जीव स्वरूप का ज्ञान और भान हुआ, उसे गुप्त चीज़ है, उसे कोई ले जाये ऐसा भय उसको नहीं होता। है ? **सम्यग्दृष्टि जीव के 'मेरा कुछ कोई छीन न लेवे'....** 'मेरा कोई कुछ' (कहा उसमें) मेरा कोई (अर्थात्) दूसरा, कुछ अर्थात् थोड़ा भी। आहाहा! **'मेरा कुछ कोई छीन न लेवे' ऐसा अगुप्तिभय कहाँ से होवे ?** धर्मी—सम्यग्दृष्टि जीव को जो सच्चा ध्रुव तत्त्व है, उसकी दृष्टि हुई है, ध्रुव को ध्येय में लेकर जिसने ध्रुव का स्वीकार किया है.... आहाहा! (ध्रुव को) ध्येय बनाकर ध्यान में (बनाकर) अन्दर दृष्टि में उसे ध्येय बनाकर जाना, अनुभव किया, जिसने भिन्न जाना उसे 'मेरा कुछ छीन लेगा', ऐसा डर नहीं है। मेरा कुछ—जरा भी कोई—दूसरा छीन न ले, ऐसा उसे है नहीं। यह तो समझ में आये ऐसा है न ? ...भाई! सादी भाषा है। आहाहा!....

यहाँ क्या कहते हैं यहाँ ?.... प्रभु आत्मा अन्दर है, (उसे जिसने जाना है उसे) **'मेरा कुछ कोई छीन न लेवे' ऐसा अगुप्तिभय कहाँ से होवे ?** (अर्थात् नहीं होता)। **किस कारण से ? 'किल वस्तुनः स्वरूपं परमा गुप्तिः अस्ति'** आहाहा! **निश्चय से... 'किल'** अर्थात् निश्चय—वास्तव में। **'वस्तुनः' जो कोई द्रव्य है...** वस्तु है... वस्तु है, विद्यमान चीज़ है, नित्यानन्द प्रभु है। आहाहा! ऐसी चीज़ को **उसका जो कुछ निज लक्षण है...** ज्ञान उसका लक्षण है। ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा लक्ष्य है—द्रव्य और ज्ञान जिसका लक्षण है, उस लक्षण से लक्ष्य जो द्रव्य है, वह ज्ञात होता है। अर्थात् ज्ञान जिसका लक्षण है, **वह सर्वथा प्रकार गुप्त है।** अन्दर ज्ञान गुप्त है। उसमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता। आहाहा!

ऐसा मार्ग कहाँ से निकाला ? यह तो नया मार्ग निकाला है। नया नहीं, बापू! तूने सुना नहीं। वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का अनादि मार्ग यह है। तुझे कान में न पड़े, इसलिए ऐसा लगे कि, नया है। आहाहा! अभी बाहर में तो स्थूल-स्थूल बातें करके व्रत किये और अपवास किये, यह किया, हो गयी निर्जरा और धर्म! धूल में भी वहाँ धर्म नहीं है। तेरे अपवास करके मर जा न! आहाहा! वह तो अप-वास है। राग में रहे, वह बुरा वास है और उपवास तो उसे कहते हैं कि आनन्दकन्द प्रभु के उप अर्थात्

समीप में अन्दर बसे, उसे उपवास कहते हैं। उसकी तो खबर भी नहीं होती। यह वर्षीतप करते हैं या नहीं? किया है कभी? नहीं? ....पाँच-पच्चीस हजार खर्च करके मनावे, अमुक करे और अमुक करे, जाति में वितरण करे, हो गया धर्म! वाह... वाह...! यहाँ कहते हैं, प्रभु! तेरी वाह... वाह तो अन्दर में है। आहाहा!

है? **सर्वथा प्रकार गुप्त है।** कथंचित् गुप्त है, ऐसा नहीं लिया। नित्यानन्द प्रभु दृष्टि का विषय है, वह चीज़ तो सर्वथा गुप्त है। आहाहा! वह पर्याय में भी आती नहीं। उसकी वर्तमान दशा में भी नित्य वस्तु है, वह आती नहीं। ऐसा सर्वथा गुप्त है। आहाहा!

किस कारण से? 'यतः स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टुं न शक्तः' आहाहा! **कारण से वस्तु के सत्त्व में...** वस्तु जो है, उसमें बसे हुए ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आदि गुण) उसका सत्त्व है। सत् का वह सत्त्व है, सत् का वह कस है। सत् भगवान आत्मा वस्तु सत् है। उसका कस—ज्ञान, आनन्द आदि उसका सत्त्व—कस है। उस कस को कोई लूटे, ऐसी चीज़ जगत में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

क्या कहलाता है यह? नाम भी भूल गये। शीशम... शीशम! शीशम को देखा है? अन्दर लकड़ी नहीं हो तो अन्दर कस नहीं होता। चिकना भाग होता है। कसवाला चिकना होता है और ऊपर साधारण होता है। इसलिए कितने ही उसमें से चिकना निकालकर और बन्दूक उसमें रखते हैं। (ऐसा) चिकना भाग होता है, बहुत चिकना (होता है)। शीशम के अन्दर के बीच के भाग में एक चिकना भाग होता है। वह शीशम का कस है। इसी प्रकार इस भगवान आत्मा का कस ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता आदि उसका कस है। आहाहा!

यह सब सुना नहीं। आहाहा! कितने ही तो (यह) सुनने को भी निवृत्त नहीं होते। अरे! जिन्दगी कहाँ पाप में चली जाती है, बापू! आहाहा! भाई! आहाहा! मरण के समय कौन शरण? बापू! आहाहा! ऐसे नजर डाले, कोई मुझे बचावे, कोई मुझे बचावे... भाई! कोई डॉक्टर को लाओ न! मुम्बई से बुलाओ न! अरे! धूल भी नहीं रखे, सुन न! आहाहा! बड़े डॉक्टर को बुलाओ, बड़े डॉक्टर को। भले पचास हजार का खर्चा हो।

बड़ा डॉक्टर सर्जन यहाँ दो-तीन बार आया था। ऑपरेशन भी करता था। हेमन्तकुमार, बड़ा सर्जन। किसी का ऑपरेशन करता था। आहाहा! डॉक्टर भी क्या? डॉक्टर का शरीर भी जड़, मिट्टी—धूल है। वह रखने से रहता है उसका? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, मेरी चीज़ अन्दर ऐसी है, मैं नित्यानन्द प्रभु! कि जिसमें दूसरा द्रव्य क्या करके प्रवेश हो जाये, ऐसी वह चीज़ नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें! यह बाहर के थोथा (आडम्बर) में उलझ गये। शरीर, स्त्री, पुत्र, पैसा और हजीरा!

मुमुक्षु : हजीरा अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : हजीरा अर्थात् मकान। हजीरा किसे कहते हैं, सुना है? जामनगर में हजीरा है। यह लोटिया वोहरा है न? वह मरे, उसे दबावे। नदी के किनारे बड़े हजीरा (होते हैं)। उसे (क्रब को) हजीरा कहते हैं। इसी प्रकार यह तुम्हारे बड़े दस लाख और बीस लाख के मकान—हजीरा दबाये हुए पड़े हैं। नदी के किनारे बड़े (हजीरा हैं)। देखा है? उस ओर सामने नदी के किनारे है। लोटिया वोहरा के (हों) उसे हजीरा कहते हैं, जहाँ उन्हें गाड़ते हैं। (इसी प्रकार) इस बड़े हजीरा में दब गये हैं।

पुण्य और पाप के राग में दब गये, वे भी दब गये, मर गये हैं। आहाहा! जीवित ज्योति चैतन्यमूर्ति भगवान आनन्द का नाथ अन्दर सागर डोलता है। उसे जाना नहीं, माना नहीं और दूसरे सब मीठे बोलकर खुश किये (वे) सब मर जाने के रास्ते हैं।

संक्रमण को समर्थ नहीं है। मेरी चीज़ में दूसरी चीज़ संक्रमित हो जाये, अन्दर प्रवेश करे, ऐसी चीज़ ही नहीं है। आहाहा! तो मुझे किसका भय है? जहाँ जाऊँ वहाँ मैं ध्रुवरूप से हूँ, किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, कोई भी रागादि भाव हुआ, लो न! तो भी मैं तो ध्रुव हूँ, उसमें किसी का प्रवेश नहीं है। आहाहा! इस प्रकार धर्मी को—सम्यग्दृष्टि को श्रद्धा और अनुभव में होने से उसे पर का कोई भय नहीं है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १५९

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२७-१५९।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सः ज्ञानं सदा विन्दति' [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [ज्ञानं] शुद्धचैतन्य वस्तु को [सदा] निरन्तर [विन्दति] आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? 'स्वयं' अनादिसिद्ध है। और कैसा है? 'सततं' अखण्ड धाराप्रवाहरूप है। और कैसा है? 'सहजं' बिना कारण, सहज ही निष्पन्न है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निशंकः' मरण-शंका के दोष से रहित है। क्या विचारता हुआ निःशंक है? 'अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत् ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' [अतः] इस कारण से, [तस्य] आत्मद्रव्य के [मरणं] प्राणवियोग [किञ्चन] सूक्ष्ममात्र (भी) [न भवेत्] नहीं होता, तिस कारण [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि के [तद्भीः] मरण का भय [कुतः] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। जिस कारण से 'प्राणोच्छेदं मरणं उदाहरन्ति' [प्राणोच्छेदं] इन्द्रिय, बल, उच्छ्वास, आयु— ऐसे हैं जो प्राण, उनका विनाश, ऐसा जो [मरणं] मरण कहने में आता है, [उदाहरन्ति] अरिहन्तदेव ऐसा कहते हैं। 'किल (अस्य) आत्मनः ज्ञानं प्राणाः' [किल] निश्चय से [आत्मनः] जीवद्रव्य का, [ज्ञानं प्राणाः] शुद्धचैतन्यमात्र प्राण है। 'तत् जातुचित् न उच्छिद्यते' [तत्] शुद्धज्ञान [जातुचित्] किसी काल में [न उच्छिद्यते] नहीं विनशता है। किस कारण से? 'स्वयं एव शाश्वततया' [स्वयं एव] बिना ही जतन, [शाश्वततया] अविनश्वर है, तिस कारण से। भावार्थ इस प्रकार है कि सभी मिथ्यादृष्टि जीवों को मरण का भय होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभवता है कि 'मेरा शुद्धचैतन्यमात्र स्वरूप है, सो तो विनशता नहीं; प्राण नष्ट होते हैं, सो तो मेरा स्वरूप है ही नहीं; पुद्गल का स्वरूप है। इसलिए मेरा मरण होवे तो डरों; मैं किसलिए डरूँ; मेरा स्वरूप शाश्वत है'।।२७-१५९।।

कार्तिक कृष्ण ११, मंगलवार, दिनांक-०६-१२-१९७७, कलश-१५९, प्रवचन-१६८

कलशटीका, १५९ (श्लोक)। धर्मी को—सम्यग्दृष्टि को मरण का भय नहीं होता। यह श्लोक है।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२७-१५९।।

निर्जरा का अधिकार है न? इसलिए सम्यग्दृष्टि '**सः ज्ञानं सदा विन्दति**' अज्ञानी सदा विकार को वेदता है। शुभ-अशुभराग (होता है) उसके ऊपर दृष्टि होने से अनादि का अज्ञानी विकार को, राग-द्वेष को, दुःख को दुःखी होकर वेदता है। दुःखी होकर अर्थात्? मानो कि मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं कषायवन्त हूँ, ऐसा अज्ञानी अनादि से मानकर विकार को—दुःख को वेदता है।

यहाँ धर्मी शुद्ध चैतन्य ज्ञायकस्वरूप शाश्वत् जो आत्मा अथवा ज्ञान शाश्वत् है, उसे जिसने दृष्टि में लिया है, आत्मभाव का जिसे अन्तर में ज्ञान है और जिसका अन्तर में वेदन है। आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि जीव **शुद्ध चैतन्यवस्तु को...** शुद्ध चैतन्यवस्तु हूँ। अनन्त पवित्र गुण का पिण्ड प्रभु (ऐसी) मैं तो चैतन्यमात्र वस्तु हूँ। उसे **निरन्तर आस्वादता है।** अन्तिम (चरण) लिया है। श्रद्धा करता है, जानता है और आस्वादता है। आहाहा!

शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप की जिसने दृष्टि प्रगट की है, राग और विकल्प से भिन्न पड़कर और भिन्न पड़कर, भिन्न पड़ी हुई चीज़ को अन्तर में (अनुभव करता है)। आहाहा! तिर्यंच हो या नारकी हो या मनुष्य हो, देव हो परन्तु सम्यग्दृष्टि चैतन्य के आनन्द के स्वभाव को ही श्रद्धा करता है, जानता है और वेदता है। आहाहा!

कैसा है ज्ञान? अर्थात् आत्मा। **अनादिसिद्ध है।** अर्थात् आत्मा ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... जो स्वभाव है, वह तो अनादि है। जैसे आत्मा अनादिसिद्ध है, उसी प्रकार उसे ज्ञानस्वभाव अनादिसिद्ध है। **और कैसा है? अखण्ड धाराप्रवाहरूप है।** ज्ञान अर्थात्

आत्मा अखण्ड ध्रुवधारा, जिसकी ध्रुवधारा नित्य—कायम बहती है। आहाहा! ऐसा जो भगवान शुद्ध चैतन्य आत्मा, उसे वह अनुभव करता है।

कैसा है आत्मा अथवा ज्ञान? सहज है। किसी दूसरे कारण बिना वह सहजस्वरूपी वस्तु है। कोई उसे आधार और कर्ता कोई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **बिना कारण सहज ही निष्पन्न है।** स्वाभाविक ही प्राप्त है। स्वभाव चैतन्य वस्तु स्वाभाविक ही प्राप्त है। उसे कोई कारण नहीं तथा उसका कोई सहायक नहीं। निःसहाय—सहज स्वरूप चैतन्य विराजमान है। आहाहा!

कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निःशंक' मरण-शंका के दोष से रहित है। उसे मरण की शंका नहीं कि मैं मर जाऊँगा? मरे कौन? यह कहेंगे। कैसा है सम्यग्दृष्टि? **क्या विचारता हुआ निःशंक है? 'अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत् ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' इस कारण से आत्मद्रव्य के...** भगवान आत्मा! उसे ज्ञानप्राण, आनन्दप्राण, श्रद्धा अथवा दर्शनप्राण, सत्ताप्राण का उसे कभी वियोग नहीं होता। आहाहा!

इस कारण से आत्मद्रव्य के प्राणवियोग सूक्ष्ममात्र नहीं होता,... आहाहा! प्राण अर्थात्? ज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि आत्मा के प्राण हैं। यह इन्द्रिय, बल, श्वास और आयुष्य, वे चार प्राण हैं, वे तो जड़ और पर हैं। इन्द्रियप्राण, बलप्राण, श्वासप्राण, आयुष्यप्राण इन चार के दस (प्राण) होते हैं। इन्द्रियप्राण, वे पाँच हैं, बलप्राण—मन-वचन-काया, यह तीन हैं, (इस प्रकार) आठ और श्वास तथा आयुष्य, (ऐसे) दस (प्राण हैं)। चार (अथवा) दस प्राण, वे तो पुद्गल के परिणाम, पुद्गल की दशा—प्राण है। उसका वियोग हो तो वह तो वियोग होने के योग्य ही है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उसमें मेरे प्राण का वियोग नहीं। वह तो पुद्गल के प्राण का वियोग (होता है)। आहाहा!

देह छूटने के समय यह पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया, श्वास, आयुष्य छूटते हैं। वह तो छूटने के योग्य नाशवान (है तो) वे तो छूटेंगे ही। आहाहा! मैं ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति प्राण से भरपूर भगवान हूँ। आहाहा! मेरा प्राण—जीवन, मैं प्राण—जीवन्त आत्मा हूँ। आहाहा! पहली जीवत्वशक्ति ली है न? ४७ (शक्तियों में) पहली जीवत्वशक्ति ली है न? मेरा जीवन तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, सत्ता के प्राण से मेरा जीवन

है। आहाहा! मैं आनन्द के प्राण से जीनेवाला, (वह) मेरा जीवत्व है। आहाहा! मैं प्राण-जीवन हूँ। (परन्तु) कौन से प्राण? चेतनप्राण, ज्ञानप्राण, आनन्दप्राण, शान्तिप्राण... आहाहा! ऐसे प्राण से मेरा जीवन, जीना, टिकना उसके कारण से है। आहाहा! इन दस प्राण के कारण मेरा जीवन और टिकना (होता है), ऐसा धर्मी नहीं मानता। आहाहा! यह प्राण जहाँ जाये, तब ऐसा कहते हैं, अरे! मैं मर जाता हूँ। आहाहा! कौन मरे? बापू! भाई! तू क्या कहता है? मर जाता हूँ, ऐसा जिसने जाना, वह जाननेवाला चैतन्यप्राण मर जाता है? समझ में आया?

यहाँ सम्यग्दृष्टि की निर्जरा की व्याख्या है न! आहाहा! अज्ञानी को बन्ध का कारण है, ज्ञानी को निर्जरा का कारण है—ऐसा सिद्ध करना है। प्राण जाने पर 'वे प्राण मेरे थे, इन्द्रिय, श्वास, मन, आयुष्य (मेरे थे)'—ऐसा मानकर मिथ्यात्व को सेवन कर मिथ्यात्व के कर्म को वह बाँधता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि 'यह प्राण, इन्द्रिय आदि मुझमें है ही नहीं, मेरे हैं ही नहीं। मेरे प्राण तो ज्ञान, आनन्द और शान्ति मेरे प्राण हैं। वह तो शाश्वत् है। उनका विरह मुझे नहीं होता।' (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

अन्दर वस्तु है न! देह से, राग से भिन्न वस्तु है न! वस्तु है तो वह नित्य है न! नित्य है तो उस नित्य के जो स्वभाव हैं, वे भी नित्य हैं। तो उस स्वभावप्राण का नित्य को वियोग हो, ऐसा कभी है नहीं। अनित्य का वियोग होता है तो वियोग तो उसका स्वरूप ही है। आहाहा! यह मनुष्य मरता है न? फिर पीछे महिलायें रोवे। इस भरे घर में से निकलना कैसे सुहाया? ऐसा रोवे। आहाहा! घर हो, पैसा हो, फर्नीचर हो और एक बड़ा पलंग हो, उसमें पड़ा हो, उसमें से उठा... जा..ओ...! फिर महिलायें रोवे। अरे! भरे घर में से निकलना कैसे सुहाया? श्मशान में तुमको कैसे ठीक पड़ेगा? देखो! ठीक! ऐसे झूठे-झूठ! रोना झूठा, गाना झूठा। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू कौन है? किस प्राण से टिकता तू तत्त्व है, तेरा जीवन (यह है)? तेरा जीवन तो ज्ञान और आनन्दस्वभाव है न? वस्तु चैतन्य का चैतन्यस्वभाव है न? वह स्वभाव शाश्वत् है। उसमें उस स्वभाव का स्वभाववान को वियोग हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। इसलिए धर्मी को स्वभाव का वियोग नहीं होता। आहाहा! यह कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि के मरण का भय कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। जिस कारण से... 'प्राणोच्छेदं मरणं उदाहरन्ति' लोग इसे मरण कहते हैं। लोग इसे मरण कहते हैं। पाँच इन्द्रिय, तीन बल—मन-वचन-काया, श्वास और आयुष्य, ऐसे प्राण के विनाश को मरण कहा जाता है, लोग (उसे मरण) कहते हैं। आहाहा! पाँच इन्द्रियों का वियोग, आयुष्य का वियोग, श्वास का वियोग—श्वास बन्द हो गयी, मन-वचन-काया के वियोग को लोग मरण कहते हैं। आहाहा! उसे धर्मी मरण नहीं मानता। आहाहा! है?

प्राण, उनका विनाश ऐसा जो मरण कहने में आता है, 'उदाहरन्ति' अरिहन्तदेव ऐसा कहते हैं। (पहले) लोग ऐसा कहते हैं, ऐसा कहा। लोगों में ऐसा मरण कहा (जाता है)। तब भगवान क्या कहते हैं? आहाहा! **'उदाहरन्ति' अरिहन्तदेव ऐसा कहते हैं। 'किल आत्मनः ज्ञानं प्राणाः' निश्चय से...** तो शुद्ध द्रव्य का। शुद्ध वस्तु शुद्ध पवित्र भगवान, आहाहा! उसके ज्ञानप्राण हैं। वे तो **शुद्धज्ञानमात्र अर्थात् शुद्धचैतन्यमात्र प्राण है।** आहाहा! शुद्ध चैतन्यप्राण पवित्र भगवान आत्मा! वे आत्मा के प्राण हैं। सम्यग्दृष्टि तो वे प्राण मेरे हैं, ऐसा मानता है। आहाहा! बाह्य पैसा, परिवार और कबीला तो कहीं रह गये, परन्तु यह दस प्राण हैं, उन्हें भी समकिती अपना नहीं मानता। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, मकान, इज्जत और बँगला तो भिन्न प्रदेश में रह गये, परन्तु आत्मा (के) प्रदेश के अन्दर, क्षेत्र में साथ रहे हुए पाँच इन्द्रियाँ जड़, मन-वचन-काया जड़, श्वास हो उसे भी धर्मी अपना नहीं मानता। आहाहा! धर्मी की ऐसी शर्तें और जवाबदारी है। समझ में आया?

अज्ञानी बाहर के (प्राण को) प्राण मानता है। **'किल आत्मनः ज्ञानं प्राणाः'** शुद्ध जीवद्रव्य के शुद्ध ज्ञानमात्र प्राण हैं। शुद्ध चेतना का शुद्ध चैतन्य प्राण है। आत्मा का-स्वभाववान का शुद्ध चैतन्यस्वभाव प्राण है। उस प्राण से वह जीता है। आहाहा! बहुत फेरफार! **'तत् जातुचित् न उच्छिद्यते' 'जातुचित् न उच्छिद्यते'** भगवान ज्ञानस्वभाव आनन्दस्वभाव, दर्शनस्वभाव, अस्तित्व—सत्तास्वभाव... आहाहा! वह प्राण **शुद्धज्ञान किसी काल में नहीं विनशता है। 'न उच्छिद्यते'** (अर्थात्) उच्छेद नहीं होता। वस्तु भगवान आत्मा के ज्ञान, आनन्द प्राण का कभी उच्छेद नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

किस कारण से? 'स्वयं एव शाश्वततया' भगवान आत्मा का ज्ञान और आनन्द

और शान्ति प्राण, प्रभुत्व प्राण, वह तो स्वयं शाश्वत् है। स्वयं शाश्वत् है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की नजर की नजरें शाश्वत् वस्तु के ऊपर है। आहाहा! समझ में आया? वह शाश्वत् तो स्वयं है। आहाहा! है? '**स्वयं एव शाश्वततया**' आहाहा! **बिना ही जतन...** उसका यत्न करे तो रहे, वरना न रहे, ऐसा नहीं है। आहाहा! लोग नहीं कहते? शरीर की सम्हाल रखना! शिक्षा करते हैं, शरीर की सम्हाल करना! धूल की सम्हाल ले नहीं सकता। (जाते समय) सगे-सम्बन्धी ऐसा कहे, पण्डितजी! शरीर की सम्हाल रखना, खाने-पीने में ध्यान रखना! अरर्र! भाई किसका ध्यान रखना? जो अपनी चीज़ नहीं, उसका ध्यान रखना? और जो अपनी चीज़ है, वह तो स्वयं सहज है। उसका ध्यान रखना, वह भी (नहीं है)। वह तो है ही। आहाहा! दूसरे उसके हैं नहीं, उनका ध्यान रखे? आहाहा! शरीर को बनाये रखना, ध्यान रखकर अमुक करना... ऐसी सब बातें करते हैं।

यहाँ कहते हैं, प्रभु चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द सहजानन्द स्वयं शाश्वत् है, उसे यत्न करें तो रखें, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा आत्मस्वभाव सम्यग्दृष्टि जीव को दृष्टि में आया है, प्रतीति में आया है और पूर्ण है, ऐसे स्वभाव (का) जिसे स्वीकार हो गया है। आहाहा! शाश्वत् है और पूर्ण है। ऐसे स्वभाव का धर्मी जीव को शुरुआत में स्वीकार हो गया है। इसलिए उसे यत्न करके रखें तो रहे, ऐसा है नहीं। आहाहा! बहुत अन्तर...!

मुमुक्षु : दुकान को ताला न लगाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : ताला कौन लगाये? यह अँगुलियों की क्रिया (होती है) उससे ताला लगाया जाता है, ऐसा भी नहीं है। अँगुली की दशा ताले को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ताले की चाबी ताले को स्पर्श नहीं करती। क्योंकि प्रत्येक का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। भिन्न अस्तित्व भिन्न अस्तित्व को कैसे स्पर्श करे? समझ में आया? भिन्न अस्तित्व के बाहर (दूसरा) भिन्न अस्तित्व लोटता है परन्तु अन्दर प्रवेश करे या स्पर्श करे, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया?

शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता, तीन काल में कभी स्पर्शा नहीं। शरीर की पर्याय से भिन्न रहकर भगवान (आत्मा ने) अपना अस्तित्व रखा है। उसे स्पर्शा भी नहीं, शरीर को कभी स्पर्शा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : शरीर धर्म का साधन है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी धर्म का (साधन) नहीं, पाप का निमित्त है। आहाहा! '**शरीराद्यम् खलु धर्मसाधनम्**' ऐसा पुरुषार्थसिद्धियुपाय में आता है, वह तो निमित्त के कथन हैं। आहाहा!

यह आत्म-शरीर चैतन्य जिसके प्राण हैं, आनन्द जिसका स्वभाव है। शाश्वत् रहना जिसका सहज स्वयं स्वरूप है। आहाहा! ऐसे प्राण को अपना मानना, उस प्राण का यत्न करूँ तो रहे, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह प्राण है, वे मेरे नहीं, इसलिए उन्हें रखूँ या छूटे, उसके साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! धर्म की कीमत कोई ऊँची है! आहाहा!

कल भाई ने प्रश्न किया था। भभूतभाई ने। कल आहार करके निकले न ? उनका आहार था न ? (वहाँ) चार-छह हाथ ऊँचा नीम था। (उन्होंने पूछा कि) यह सब होकर एक ही जीव है न ? यह तो उस नीम का इतना पत्ता है, उसका एक राई जितना टुकड़ा लो, उसमें असंख्य शरीर हैं। एक शरीर में एक जीव (रहा हुआ है), इसलिए उसे प्रत्येक (वनस्पति) कहा है। आहाहा! पत्ता है न, पत्ता ? उसमें तो असंख्य शरीर हैं। एक पत्ते में तो असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में एक-एक जीव है। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरे नीम का एक जीव अलग है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और अलग। वह जो जीव हो, वह अलग। (यह तो) प्रत्येक पत्ते में एक जीव होता है। प्रत्येक पत्ते में एक जीव, व्यापक हो वह अलग परन्तु दूसरे उसके असंख्य जीव हों, वे अलग। आहाहा! वह एक-एक जीव अन्दर शरीर को स्पर्शा नहीं। आहाहा! शरीर उसे स्पर्शा नहीं।

लहसुन का एक इतना टुकड़ा (हो), उसमें असंख्य शरीर हैं और एक शरीर में अनन्त जीव हैं, तथापि उसमें एक जीव दूसरे जीव को स्पर्शा नहीं है। वह एक जीव कर्म को स्पर्शा नहीं। कर्म शरीर को स्पर्शे नहीं। आहाहा! यह तो पहले कहा जा चुका है। आहाहा! कठिन बात, बापू!

यह पैर जो चलते हैं, वे जमीन को स्पर्शे बिना पैर चलते हैं और आत्मा की

प्रेरणा बिना वे पैर चलते हैं। आत्मा पैर को स्पर्शा नहीं, पैर जमीन को स्पर्शा नहीं। लकड़ी हाथ में रखी है, वह हाथ लकड़ी को स्पर्शा नहीं और लकड़ी को जमीन का सहारा (नहीं), लकड़ी जमीन को स्पर्शी ही नहीं। देवीलालजी! आहाहा! द्रव्य, गुण और पर्याय की ऐसी कोई चमत्कृति है! यह चमत्कार है!! प्रत्येक द्रव्य का, पर्याय का यह चमत्कार है (कि) जहाँ हो वहाँ वह अपने आधार से है। आहाहा! उसे पर का आधार नहीं, पर को स्पर्शा नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, दस प्राण को आत्मा स्पर्शा भी नहीं। इन्द्रिय को आत्मा स्पर्शा ही नहीं। मन, वचन और काया के परमाणु को आत्मा स्पर्शा ही नहीं। यह तीसरी गाथा में आया नहीं? तीसरी (गाथा), समयसार। प्रत्येक पदार्थ अपने धर्म को चूमता है, परन्तु अन्य द्रव्य को वह चूमता नहीं। यह वह कुछ बात है! आहाहा! शक्कर के रजकण जीभ को स्पर्शते नहीं और जीभ को आत्मा स्पर्शता नहीं। ऐसा प्रत्येक तत्त्व चमत्कारवाला है। द्रव्य भी चमत्कारी चीज़ है।

इतना छोटा एक परमाणु (हो), तो भी उसमें अनन्त गुण हैं, अमाप गुण हैं। आकाश के प्रदेश का माप नहीं, उससे अनन्तगुणे एक परमाणु में गुण हैं। यह द्रव्य की चमत्कृति है और अनन्त, अमाप गुण, वह गुण की चमत्कृति है और एक समय की अनन्त पर्यायें हैं, तीन काल के समय से अनन्तगुणी पर्यायें हैं! और एक-एक गुण की एक-एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद स्वतन्त्र है। आहाहा! समझ में आया?

पानी गर्म हुआ, वह अग्नि को स्पर्शा है, इसलिए गर्म हुआ है (ऐसा नहीं है)। (पानी अग्नि को) स्पर्शा ही नहीं। पानी अग्नि को छूता नहीं।

मुमुक्षु : अद्‌भुत लीला है!

पूज्य गुरुदेवश्री : लीला है इसकी! वे कहते हैं, ईश्वर की लीला है। वह नहीं, बापू! यह द्रव्य की लीला है! भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! यह तो कहा था न तब? छुरी सब्जी को स्पर्श नहीं करती और टुकड़े होते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह वीतरागी विज्ञान लेबोरेटरी है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वीतरागी विज्ञान है। चमत्कारी विज्ञान है! आहाहा!

शीशपेन को ऐसे छुरी (से) करते हैं, वह छुरी शीशपेन को स्पर्शती ही नहीं। देवीलालजी! यह अँगुली (दूसरी) अँगुली को स्पर्शी नहीं, स्पर्शती नहीं।

मुमुक्षु : साहेब! ऐसा सब समझने का कारण क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्वतन्त्र पदार्थ है, ऐसा जानना, यह कारण है। उसकी पर्याय स्वयंसिद्ध है, गुण स्वयंसिद्ध है, द्रव्य स्वयंसिद्ध है। (सब) स्वयंसिद्ध है। इसी प्रकार मेरा भगवान द्रव्य भी स्वयंसिद्ध है। त्रिकाली प्राण स्वयंसिद्ध है, वह उसकी पर्याय भी स्वयंसिद्ध है। वास्तव में तो पर्याय को द्रव्य-गुण का भी आश्रय नहीं, ऐसी स्वयंद्धि है। आहाहा!

मुमुक्षु : दर्शनमोहनीय का चूरा उड़ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूरा उड़ जाये! जहाँ हो वहाँ यह किया और मैंने किया... मैंने किया (ऐसा अभिमान करता है)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यह दस प्राण उच्छेद होओ तो वह तो उच्छेद होने के योग्य ही थे। परन्तु मेरे प्राण '**स्वयं एव शाश्वत' बिना ही जतन अविनश्वर है तिस कारण से।** उनका कभी नाश नहीं होता। आहाहा! मेरे प्राण का मरण कभी नहीं होता। आहाहा! वे प्राण सदा जीवित रहते हैं। चैतन्यप्राण, अनन्त गुण और अनन्त प्राण है, चार तो मुख्य लिये हैं। आहाहा! समझ में आया? 'प्राण जीवन प्यारा तारा जीवन ने प्राण तारा जीवन छे, ये तारा प्यारा छे।' शुद्ध, हों! दस प्राण जड़ हैं, वे तो नहीं और जड़ को निमित्त (होने में) पर्याय (की) योग्यता, अशुद्धनय से दस प्राण की योग्यता है, वह भी जीव की नहीं। आहाहा! समझ में आया? उसे यहाँ आत्मा—जीव और प्राणवाला कहते हैं। वह प्राणवाला है। लोग नहीं कहते? कि इस लड़के (में) कुछ प्राण है, बलवन्त है, कुछ इसमें जीवन्त है, वह जीवन धूल का नहीं। भगवान का जीवन प्राण है जो उससे टिकता, जीवित आश्चर्यकारी तत्त्व है! आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है... भावेन्द्रियाँ हैं, वे भी जीव की नहीं तो द्रव्य (इन्द्रियों की) तो बात क्या करना? आहाहा! **सभी मिथ्यादृष्टि जीवों को मरण का भय होता है।** हाय... हाय..! अब मुझे कौन रखेगा? किसी वैद्य को बुलाओ, डॉक्टर को बुलाओ,

मुझसे सहन नहीं होता, यहाँ अन्दर दबाव पड़ता है। परन्तु क्या है? दबाव किसे स्पर्श करता है? आत्मा की पर्याय को शरीर का दबाव स्पर्शता ही नहीं। हार्टफेल हो तब यह होता है न? खून के कतरे बँध जाते हैं। घबराहट... घबराहट (होती है), वह तो जड़ की पर्याय है। भगवान ज्ञानमूर्ति उसे स्पर्शा भी नहीं। उसके ज्ञानप्राण में वह घबराहट है ही नहीं। आहाहा! एक तो रोग का भय, मरण का भय... आहाहा! उसमें देह का दबाव पड़े, दर्द उठे उसका भय त्रास... त्रास... त्रास... ऐसे त्रास में देह छूटे, वह चौरासी के अवतार में भटकने जाता है।

धर्मी को मरण के समय या जीते जी मेरे प्राण ज्ञान और आनन्द है, उनसे जीता हूँ। देह छूटने पर भी मैं ज्ञान के प्राण से छूटा नहीं, मेरे आनन्द के प्राण के कारण यहाँ से मैं जाता हूँ। जहाँ जाऊँ वहाँ मेरे आनन्दप्राण साथ में हैं। आहाहा! समझ में आया? किसी भी संयोग में जाये, किसी भी क्षेत्र में जाये, किसी भी काल में जाये अथवा कोई भी शुभ-अशुभभाव आवे, तथापि वह भगवान (निजात्मा) तो उसमें है ही नहीं। आहाहा! वह तो आनन्द और ज्ञान प्राण का शाश्वत् तत्त्व है, उसमें वह खड़ा है। आहाहा! इसलिए उसे मरण का जरा भी, किंचित् भी त्रास नहीं है, आनन्द है। क्योंकि देह रहो या देह छूटे, मेरे प्राण तो आनन्द और ज्ञान है। जीते जी भी आनन्द के प्राण से जीता है, देह छूटने पर भी आनन्द के प्राण से वहाँ देह छूट जाती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मिथ्यादृष्टि जीवों को मरण का भय होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभवता है कि 'मेरा शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप है...' आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प भी जहाँ नहीं, वहाँ और दस प्राण और उनकी बातें क्या करना? आहाहा! वास्तव में तो द्रव्य स्वभाव भगवान शुद्ध चैतन्य है, वह राग को स्पर्शता ही नहीं। माना है कि मैं राग को स्पर्शता हूँ। यह मान्यता भी जिसमें—चैतन्य में नहीं। आहाहा!

बापू! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की स्थिति की दशा, उन्होंने कहे हुए तत्त्व चमत्कारी है! जगत, बाहर के चमत्कार देखने जाता है, परन्तु यह चमत्कार तो देख! आहाहा!

मुमुक्षु : बाहर में तो इन्द्रिय द्वारा दिखता है, यह तो अतीन्द्रिय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह देखनेवाला तो ज्ञान है न! इन्द्रिय द्वारा कहाँ देखता है? देखनेवाला तो ज्ञान है। इन्द्रियाँ तो निमित्त हैं। निमित्त उसे जानता नहीं, जाननेवाला तो ज्ञान है। आहाहा! वह जाननेवाला ज्ञान, उस ज्ञान की पर्याय, अपने त्रिकाल शाश्वत् (स्वभाव को) स्वीकार करती है। आहाहा!

(समयसार की) ३२० (गाथा में) तो ऐसा आया है न? ३२० में नहीं? मैं तो नित्यानन्द हूँ, पर्याय ऐसा मानती है, मैं पर्याय हूँ, ऐसा नहीं। ३२० गाथा में आ गया है। मैं राग हूँ और पुण्य हूँ, यह तो नहीं परन्तु मैं निर्मल पर्याय हूँ, यह भी नहीं। वह पर्याय ऐसा जानती है कि मैं तो यह (द्रव्य) हूँ। ध्रुव स्वरूप, वह मैं हूँ। आहाहा! अरे! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, वह कहाँ जाये? कहाँ करे? क्या करे?

सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभवता है कि 'मेरा शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप है सो तो विनशता नहीं,...' नित्य (हो वह) विनाश कैसे पाये? (नाश पाये) तो उसे नित्य कैसे कहा जाये? आहाहा! द्रव्य भी नित्य है और गुण भी नित्य है। जो नित्य है, उसका नाश कैसे हो? आहाहा! **प्राण नष्ट होते हैं सो तो...** पुद्गल है। आहाहा!

'अज्ञानी को मरण का डर है, ज्ञानी को आनन्द की लहर जो...' आहाहा! क्योंकि आनन्द का नाथ—धनी जिसे अनुभव में आया है... आहाहा! उसे देह छूटे तो भी आनन्द की लहर है। देह रहे या देह छूटे... आहाहा! उसे तो—सम्यग्दृष्टि को तो आनन्द की लहर है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग! इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसे सत्यदर्शन कहते हैं।

जिसे सत्यसाहेबो पूर्णानन्द का नाथ जिसकी दृष्टि में, ज्ञान में स्वीकार हो गया है... आहाहा! उसे परप्राण मेरे हैं, यह दृष्टि छूट गयी है। राग मेरा है, यह दृष्टि छूट (गयी) है। राग होता है उसकी पर्याय में, समझ में आया? कर्म के कारण नहीं, तो भी पर्याय में होता है, वह भी वस्तु की दृष्टि से देखने पर मेरा नहीं। आहाहा! अपने में अपराध से हुआ विकार है, परन्तु स्वभावदृष्टि से देखते हैं तो कहते हैं, मेरा नहीं है। आहाहा! तो फिर प्राण और यह स्त्री, पुत्र, परिवार को (मेरा मानना)... अरेरे!

प्राण नष्ट होते हैं सो तो मेरा स्वरूप है ही नहीं... आहाहा! है? वह तो जड़ का

-पुद्गल का स्वरूप है... आहाहा! **इसलिए मेरा मरण होवे तो डरूँ... पुद्गल का स्वरूप है। इसलिए मेरा मरण होवे तो डरो, मैं किसलिए डरूँ,....** आहाहा! नि:शंक है, निर्भय है। निस्सन्देह, नि:शंक शुद्ध चैतन्य घन पूर्ण हूँ, उसमें नि:शंक, निस्सन्देह है। इसलिए वह निर्भय है। समझ में आया? ऐसी धर्म की शुरुआत! उसे लोग कुछ मानकर बैठे और फिर कहे कि हम साधु हैं और हम यह हैं, भाई! बापू! यह तेरे आत्मा के हित की बात है। तेरे नाथ का अवलोकन न कर। अर्थात् जिसे जानना है, जाननेवाले को जाने नहीं और सब सिरपच्ची की। दया पालन की, व्रत किये, अपवास किये और.... (ऐसा सुनकर) इसे कठिन लगता है कि, हमारी यह क्रिया भी धर्म नहीं? धर्म नहीं तो धर्म का साधन तो सही न? बहिरंग क्रिया अन्तरंग (क्रिया का साधन तो सही न)? साधन-बाधन कैसा? भाई! तुझे खबर नहीं। राग से भिन्न करना प्रज्ञाछैनी, वह साधन है। राग साधन नहीं है। आहाहा!

मैं किसलिए डरों,.... आहाहा! समझाते हैं न? समझावे (किस प्रकार)? बात करे तब तो (ऐसा ही कहे न?) वरना मैं किसलिए डरूँ? ऐसा विकल्प भी जिसे नहीं। आहाहा! ऐसा **स्वरूप शाश्वत् है।** ऐसा अर्थात् ऐसा **मेरा स्वरूप शाश्वत् है।** आहाहा! अनादि-अनन्त ध्रुव का नाश (हो) या उसमें घिसावट हो, ऐसी मैं चीज़ ही नहीं। अभाव तो नहीं परन्तु घिसावट हो, हीन हो, वह मैं नहीं। आहाहा!

यह आता है या नहीं? कहीं आता है। हीन! ऐसी भाषा कहीं आती है। शाश्वत् को घिसावट नहीं है, हीन नहीं होता। ऐसा शब्द कहीं (आता है)। तब मस्तिष्क में आ गया हो। आहाहा! वस्तु है, और उसका स्वभाव नित्य है। नित्य द्रव्य और नित्य स्वभाव में घिसावट क्या? उसका अभाव तो क्या, परन्तु घिसावट क्या? घट जाये, घट जाये, वह क्या? आहाहा! पूर्ण आनन्द के नाथ में घिसावट—घटना, वह भी जिसके स्वरूप में नहीं। आहाहा! पर्याय में भले राग, द्वेष और मिथ्यात्व से चाहे जो दशा हुई, परन्तु वस्तु में उसकी घिसावट जरा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात बैठना चाहिए न!

यह मरण के भय की बात की। धर्मी को मरण का त्रास नहीं होता। 'जगत को मरण का भय है, धर्मी को आनन्द की लहर है, मेरे मन आनन्द की लहर है...' आहाहा! जो समय जीवन में है, उसी समय मृत्यकाल में भी है। मेरे आनन्दस्वभाव में मैं हूँ।

आहाहा! जीवनकाल में—बाहर के जीवनकाल में भी आनन्दस्वभाव में हूँ और देह के छूटने के काल में भी मैं तो आनन्दस्वभाव में हूँ। उसे मरण का भय या डर या त्रास नहीं होता। आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि—धर्म की मोक्षमहल की पहली सीढ़ी (कहा जाता है)। मोक्षमहल की पहली सीढ़ी—छहढाला में आता है। आहाहा! यह तो वीर के काम हैं, बापू! कायर का यहाँ काम नहीं है। आहाहा!

यह तो पहले आ गया है न? ऊपर से वज्र पड़े। लोग अपनी जगह—स्थान को, भाव को छोड़ दे, ऐसा पूरा जगत (बदल जाये तो भी) धर्मी अपने स्वभाव से च्युत नहीं होता। ऊपर से वज्र पड़े और शरीर में दबकर टुकड़े हों तो वह तो शरीर को हुआ, मुझे कहाँ कोई स्पर्श करता है? आहाहा! वज्रपात पड़ने पर अज्ञानी उसके संयोग में अपने स्थान को छोड़ देता है। धर्मी अपने स्थान को छोड़ता नहीं। आहाहा! सन्तों को घानी में पील डाला। आहाहा! परन्तु वह तो शरीर को पीला है। मुनि तो अन्तर आनन्द की लहर में थे! जैसे तिल को पिलते हैं, वैसे जिन्हें (घानी में पिल डाला), लकड़ी की बड़ी घानी (होती है उसमें) सिर डालकर लकड़ी घुमायी। आहाहा! परन्तु कहते हैं कि वे सन्त तो आनन्द में थे। तू देखता है, उसमें वे नहीं थे। आहाहा! तेली की वह होती है न? क्या कहलाती है? बड़ी लाट... लाट! खड्डा हो, उसमें मुनि को एक के बाद एक लकड़ी के बीच में सिर डाला। आहाहा! ५०० साधुओं को (डाल दिया)! अरे! उस समय कोई जैन नहीं होगा? क्या हो? होने के काल में होता है। तो भी वहाँ उन्हें आनन्द की लहर थी। आहाहा! घानी स्पर्शी नहीं। आहाहा! उन्हें प्रतिकूल ज्ञात नहीं होती थी। क्योंकि जहाँ भगवान अनन्त आनन्द का नाथ है, वहाँ अन्दर दृष्टि पड़ी है। उस आनन्द की दशा को अनुभव करते हैं। देखने में ऐसा आवे और अन्दर (ऐसा हो)। आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आहाहा! जिन्हें आनन्द की बाढ़ आती है, पर्याय में आनन्द की बाढ़ का ऊफान आता है। आहाहा! ऐसे देखो तो पीलते हैं। आहाहा! फाँसी पर चढ़ावे। शरीर को पिरोवे। आहाहा! राजकुमार हो, मुनि हुए हों। आहाहा! अणी की धार पर रखकर (फाँसी पर चढ़ावे)। अन्तर में तो आनन्द है। आहाहा! क्या है यह वह!

जिसकी दृष्टि में अन्दर भगवान भासित हुआ है, उसे यह पीड़ा और दुःख-बुख है ही नहीं। आहाहा! ऐसे स्थान में भी समाधिमरण से देह छूटती है। (यह क्या

होगा?) आहाहा! दृष्टि चैतन्य के आनन्दघन पर है तो दृष्टि है, वैसी ही सृष्टि है। तो वहाँ शान्ति और आनन्द की ही उत्पत्ति है। आहाहा! भाई! यह खेल नहीं है। यह आनन्द के खेल... आहाहा! बातों से मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ निर्जरा कहते हैं न? आहाहा! ऐसी स्थिति में भी कहते हैं, घानी में पिलने से सन्त को निर्जरा होती है। आहाहा! कर्म खिर जाते हैं, अशुद्धता टल जाती है, शुद्धता बढ़ती है। ऐसी बातें हैं। आहाहा! छह (भय) हुए। सात भय है न? सात। इसलोक भय, परलोक भय आया न? अरक्षा, गुप्ति, वेदना, और यह मरण, (ऐसे) छह हुए। एक अकस्मात् रह गया है। सातवाँ भय अकस्मात् (भय) है।

धर्मी को अकस्मात् कुछ है ही नहीं। यद्यपि दुनिया में क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें अकस्मात् कुछ है ही नहीं। आहाहा! जिस समय जो पर्याय; शरीर की, वाणी की, मन की, आत्मा की... आहाहा! होनेवाली हो, वह होती है। वहाँ आगे भी अकस्मात् नहीं तो सम्यग्दृष्टि को कोई अकस्मात् भय है नहीं। ऐसा कि जहाँ खड़ा होऊँगा, वहाँ ऊपर से वृक्ष गिरेगा तो? जहाँ खड़ा होऊँगा, वहाँ बिजली निकलेगी तो? बिजली पड़ती है न? बिजली। आहाहा!

(संवत्) १९७२ के वर्ष, वैशाख महीना था। ज्येष्ठ या वैशाख (था)। वहाँ शिवलाल गोपाणी के सुखलालभाई थे। वर्षा बरसती थी। बोटाद। शिवलाल गोपाणी के भाई सुखलाल थे। (उसका) बहुत लठ्ठ जैसा शरीर था। दुकान पर हाथ लगाकर खड़े थे। बरसात गिरती थी, पत्र (डाक) की राह देखते थे, उसमें बिजली गिरी। १९७२ का लगभग ज्येष्ठ महीना या वैशाख महीना था। तब हम वढवाण 'सुन्दरवाळा के उपाश्रय' में थे। १९७२ की बात है। जब हम वापिस बोटाद गये, तब (कहा) यहाँ बिजली आयी (और) भाई गिर गये, देह छूट गयी। दो वोहरा अन्दर थे, उन्हें जरा आघात हो गया। जीवित रह गये और उनका साला था, वह मर गया। बिजली अन्दर दुकान में गिरी (घुस) गयी। वापस बाहर निकली वहाँ नीम का वृक्ष है, (वहाँ से) फिर निकल गयी। आहाहा!...

यहाँ कहते हैं, परन्तु वह अकस्मात् नहीं है। आहाहा! तो फिर समकिती को कोई अकस्मात् भय है, ऐसा है नहीं। इसका विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६०

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२८-१६०।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सः ज्ञानं सदा विन्दति' [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [ज्ञानं] शुद्धचैतन्यवस्तु को [सदा] त्रिकाल [विन्दति] आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? 'स्वयं' सहज ही से उपजा है। और कैसा है? 'सततं' अखण्ड धाराप्रवाहरूप है। और कैसा है? 'सहजं' बिना उपाय, ऐसी ही वस्तु है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'निःशंकः' आकस्मिक भय से रहित है। आकस्मिक अर्थात् अनचिन्ता; तत्काल ही अनिष्ट का उत्पन्न होना। क्या विचारता है सम्यग्दृष्टि जीव? 'अत्र तत् आकस्मिकं किञ्चन न भवेत् ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' [अत्र] शुद्धचैतन्यवस्तु में, [तत्] कहा है लक्षण जिसका, ऐसा [आकस्मिकं] क्षणमात्र में अन्य वस्तु से, अन्य वस्तुपना, [किञ्चन न भवेत्] ऐसा कुछ है नहीं; तिस कारण [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीव के [तद्भीः] आकस्मिकपना का भय [कुतः] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। किस कारण से? 'एतत् ज्ञानं स्वतः यावत्' [एतत् ज्ञानं] शुद्धजीववस्तु [स्वतः यावत्] आप सहज जैसी है, जितनी है 'इदं तावत् सदा एव भवेत्' [इदं] शुद्धवस्तुमात्र [तावत्] वैसी है, उतनी है। [सदा] अतीत, अनागत, वर्तमान काल में [एव भवेत्] निश्चय से ऐसी ही है। 'अत्र द्वितीयोदयः न' [अत्र] शुद्धवस्तु में [द्वितीयोदयः] और सा स्वरूप [न] नहीं होता है। कैसा है ज्ञान? 'एकं' समस्त विकल्पों से रहित है। और कैसा है? 'अनाद्यनन्तं' नहीं है आदि, नहीं है अन्त जिसका, ऐसा है। और कैसा है? 'अचलं' अपने स्वरूप से नहीं विचलित होता। और कैसा है? 'सिद्धं' निष्पन्न है।।२८-१६०।।

कार्तिक कृष्ण १२, बुधवार, दिनांक-०७-१२-१९७७, कलश-१६०, प्रवचन-१६९

कलशटीका १६० (श्लोक), निर्जरा अधिकार है।

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२८-१६०।।

धर्मी हो तब उसकी दृष्टि कैसी होती है? कि चैतन्य शुद्ध ध्रुव नित्यानन्द प्रभु आत्मा है। उसकी दृष्टि में नित्यानन्द का अनुभव होता है। अनादि से जो अकेले पुण्य और पाप के विकल्प के विकार का वेदन और अनुभव है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे जब धर्म होता है; धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव जो त्रिकाली ज्ञायक और आनन्द, उसे अनुसरकर उसका अनुभव होना कि जो पूर्णानन्दस्वरूप है, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आंशिक आनन्द का वेदन होना, उसका नाम सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहा जाता है। ऐसी बात है।

'**सः ज्ञानं सदा विन्दति**' वह **सम्यग्दृष्टि जीव...** सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा कहा, उन्होंने जो देखा और कहा, वैसा वह स्वयं अन्दर देखे। आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन अनाकुल आनन्दकन्द की दृष्टि करके उसका थोड़ा वेदन आवे, वह सम्यग्दृष्टि जीव है। आहाहा! उस **ज्ञान को अर्थात् शुद्धचैतन्यवस्तु को त्रिकाल आस्वादता (वेदता) है।** आहाहा! धर्मीजीव की दृष्टि में पूरा परमात्मस्वभाव आया होता है। ऐसी बात है। भले वह समकिती गृहस्थाश्रम में हो, चक्रवर्ती के राज में दिखाई दे, परन्तु उसकी दृष्टि का विषय तो पूर्णानन्द है। उसका विषय राज या राग या पर्याय नहीं है। आहाहा! विषय अर्थात् ध्येय। आहाहा! ऐसी वस्तु है। वह सम्यग्दृष्टि जीव....

जैसे अज्ञानी अनादि से एक समय के विरह बिना राग और द्वेष और मिथ्यात्व को वेदता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है... आहाहा! उसे वह वेदता है अर्थात् श्रद्धा करता है, जानता है और स्वरूपाचरण की स्थिरता का

वेदन भी (करता) है। इसका नाम धर्म की पहली श्रेणी का यह विचार है। मोक्षमहल की पहली सीढ़ी!

वह अपने स्वरूप को आस्वादता है। अर्थात्? कि राग के विकल्प से भिन्न पड़ी हुई चीज़ है, वह विकल्परूप से कभी हुई ही नहीं। ऐसी (निर्विकल्प) चीज़ को जिसने अन्तर में दृष्टि में और ज्ञान में लिया, उसे वेदन में शान्ति आती है। वह शान्ति का आस्वाद लेता है। चारित्र की अपेक्षा से शान्ति और आनन्द की अपेक्षा से सुख (वेदता है)। आहाहा! उसे वह वेदता है—आस्वादता है, उसका वह स्वाद लेता है। आहाहा!

कैसा है ज्ञान? सहज ही से उपजा है। स्वाभाविक ही वस्तु है। अनादि-अनन्त और यह कहेंगे। वह चीज़ उत्पत्ति और विनाश रहित है। वस्तु जो है सत्स्वरूप भगवान आत्मा, वह अनादि-अनन्त है। अर्थात्? कि उत्पत्ति और विनाश रहित है। उपजना और अभाव होना, वह स्वरूप में नहीं है। आहाहा! ऐसी चीज़ को जिसने दृष्टि में (लिया है), सम्यग्दर्शन में ऐसी चीज़ जानी है, मानी है... आहाहा! उसे आत्मा सहज स्वरूप है, ऐसा (भासित होता है)। वह स्वाभाविक ही वस्तु है। किसी ने की है और उसके स्वभाव में किसी कारण से वह स्वभाव हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

और कैसा है? अखण्ड धाराप्रवाहरूप है। वस्तु है, वस्तु है, वह तो अखण्ड धारा ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव (स्वरूप है)। उसका अनुभव भी अखण्ड धाराप्रवाह पर (चलता है)। भले उपयोग उसमें न हो, परन्तु उसका वेदन तो धाराप्रवाहरूप से चलता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसे धर्मी को पूर्व के कर्म खिर जाते हैं, अशुद्धता टल जाती है और शुद्धता बढ़ती है। ऐसी जवाबदारी है। आहाहा! ऐसा उस सत् का स्वरूप ही है।

उसे कोई बाह्य चीज़ आकर्षण नहीं कर सकती। धर्मी को अपने स्वरूप के आनन्द के वेदन के समक्ष जगत के इन्द्र और इन्द्राणियों की ऋद्धि भी उसे आकर्षण नहीं कर सकती। आहाहा! समझ में आया? वह आकर्षित हो गया है (अन्तर) आनन्द में! अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु आत्मा है। आहाहा! अरे! यह बात जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा उसे आत्मा कहते हैं कि जो अतीन्द्रिय आनन्द अनाकुल शान्त रस का पिण्ड है। आहाहा! उसका जिसे अन्दर वेदन है, वह निःशंक है। है?

'सहजं' बिना उपाय ऐसी ही वस्तु है। उसे कोई उपाय नहीं, वह तो वस्तु ही ऐसी है। अरे! इसकी नजर वहाँ गयी नहीं न! नाशवान (चीज़) पर नजर है। एक समय की अवस्था नाशवान; दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प भी नाशवान हैं, उसके ऊपर नजर के कारण मिथ्यादृष्टि को उस पर्याय के समीप महा प्रभु विराजता है, (वह दिखाई नहीं देता)। आहाहा! उस पर्याय के निकट महाचैतन्य ध्रुव तत्त्व विराजता है। पर्याय के समीप में है, परन्तु उसके सामने नजर नहीं और राग तथा पुण्य समीप लगते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर (विराजता है)। सर्वज्ञ परमेश्वर हुए, वह सर्वज्ञ पर्याय और अतीन्द्रिय आनन्द आदि अनन्त गुण की पर्याय पूर्ण प्रगट हुई, वह सब शक्तियों में थी। वह अनन्त शक्तियों का संग्रहालय प्रभु, संग्रह का आलय अर्थात् स्थान। आहाहा! उसके सन्मुख होकर वेदन हुआ तो कहते हैं कि वह प्राणी निःशंक है। आहाहा! उसे अकस्मात् भय नहीं है। अर्थात्? अचिन्तित-अकस्मात् कुछ आ जाये और मुझे नुकसान करे तो? ऐसा समकिती को नहीं होता। क्योंकि अचिन्तित चीज़ ही वस्तु ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु दृष्टि में है, उसमें अचिन्तित कुछ हो या अकस्मात् कुछ दूसरा आकर वहाँ उसे दखल करे, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

जिस चीज़ में कर्म का भी जहाँ अभाव है। आठ कर्म जो है, उनका भी जिसमें अभाव है और उस राग के अभावस्वभावस्वरूप वस्तु है। आहाहा! सबके आत्मा में ऐसी भगवत्स्वरूप चीज़ विराजती है। उसकी जब दृष्टि और अनुभव होता है, तब उसे कुछ अकस्मात् भय नहीं रहता। जो है वह है, उसमें अकस्मात् क्या होगा? आहाहा! कोई दीवार के सहारे खड़ा हो और एकदम दीवार गिरे (उसे) लोग अकस्मात् कहते हैं। वृक्ष के नीचे खड़ा हो और वावाझोडुं होकर डाली गिरे, वृक्ष की डाली सिर पर गिरे! अकस्मात्, कहीं खड़ा हो, गाँव में खड़ा हो और बाहर से सिंह आवे। सिंह घूमते (-घूमते) गाँव के पादरे आ जाये। इसलिए मानो अकस्मात् ऐसे खड़ा हो और एकदम उसे पकड़े। ऐसा अकस्मात् आत्मा में नहीं है, कहते हैं। आहाहा! एक गाँव था, वहाँ सिंह सामने आया था। बाहर घूमते-घूमते सामने आया और एक-दो पशुओं को मारा। भैंस को मारकर उसका आळुं खाता था। गाँव का पादर। मनुष्य जाये वहाँ जाये वहाँ हाय... हाय...! मनुष्यों की बस्ती में सिंह आया तो लोगों को अकस्मात् लगता है।

यद्यपि वास्तव में अकस्मात् नहीं है, उस समय में वह पर्याय होनेवाली ही थी। परन्तु इस आत्मा में ऐसा भी अकस्मात् नहीं, कहते हैं। आहाहा!

जो ज्ञानघन अतीन्द्रिय आनन्ददल ऐसा भगवान आत्मा जिसे दृष्टि में और अनुभव में आया, उसे अन्तर में कोई अकस्मात् हो, यह रहा नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसे पच्चीस वर्ष के तीन-चार लड़के हों। पच्चीस, तेईस, इक्कीस, उन्नीस—दो-दो वर्ष के अन्तराल से चार-पाँच लड़के हों और एकदम बाघ, सिंह आया हो, तब उसे मारे। खाने की तैयारी हो, चूरमे के लड्डू बनाये हों और जीमने बैठा (हो), उसमें सिंह आया! आहाहा! अकस्मात् लगता है न? यद्यपि वह अकस्मात् नहीं है। उस समय वह पर्याय होनेवाली, वह होती है। ऐसा अकस्मात्तो आत्मा में भी नहीं है, कहते हैं।

आहाहा! ज्ञान का पूर नूर प्रभु! अकेला ज्ञान स्वाभाविक वस्तु स्वयं है। उसमें अकस्मात् भय (नहीं है)। उस ज्ञान के पूर को अनुभव करनेवाले जीव को अकस्मात् (भय) नहीं होता। आहाहा! देखो न! एक बिहार में हुआ था न? एक करोड़पति सेठिया घोड़ागाड़ी लेकर बाहर घूमने निकला। (उसके पास) घड़ी और ऐसी थोड़ी बहुत लगभग आठ हजार की चीज़ें होंगी। करोड़पति व्यक्ति। पुत्र, पुत्री, बड़े मकान (थे)। बाहर घूमने गया था, जहाँ वापस आया वहाँ सब (समाप्त)! बिहार में भूकम्प हुआ था। (घूमकर) जहाँ (वापस) आया, वहाँ सब नीचे! आहाहा! नहीं मकान, नहीं पैसा, नहीं इज्जत। आहाहा! वह भी वास्तव में अकस्मात् नहीं है। वह तो जिसे ज्ञान के दीर्घपने में उसका ज्ञान नहीं, उसे अकस्मात् लगता है। यहाँ भी जब अकस्मात् कुछ नहीं तो ध्रुव चीज़ में कोई अकस्मात् आवे और कुछ नुकसान हो, ऐसी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा!

तब कहे, बस! धर्मी को जरा भी भय है ही नहीं? तो अर्थ में स्पष्टीकरण किया है न, कि भयप्रकृति है और उसमें जुड़ जाता है। भय होता है, परन्तु वह अस्थिरता का भय है। वस्तु और वस्तु की श्रद्धा और ज्ञान से च्युत हो, ऐसा भय उसे नहीं होता। देखो! ज्ञानी को भी भय है, यह बात सिद्ध की। क्योंकि पूर्ण वीतराग नहीं। इसलिए भय नाम की प्रकृति आवे और उसमें जुड़ भी जाये। परन्तु वह अस्थिरता का जरा भय का अंश

आवे परन्तु वह भय, वस्तु शुद्ध ध्रुव चैतन्य है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान से च्युत हो, ऐसा वह भय नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

अग्नि एकदम ऐसे हड... हड... हड... (सुलगती हो)। पर्वत में लावा होता है न? लावा अर्थात् अग्नि की ज्वाला निकलती है। पाँच-पाँच हाथ चौड़ी और ऐसी लम्बी ज्वाला निकलती है। ऐसा प्रवाह (निकलता है)। पानी का प्रवाह (निकले) वैसे अग्नि की ज्वाला निकलती है। वहाँ खड़ा हो और ऐसा लगे हाय... हाय... कहाँ जाना अब? वह लोगों को अकस्मात् लगता है। वह लावा कहलाता है। अग्नि का धोध निकले, अग्नि निकले। जैसे पानी का प्रवाह निकलता है, वैसे अन्दर अग्नि की ज्वाला (ज्वालामुखी) निकले। निकलती है न? अभी है न सर्वत्र? इसी प्रकार आत्मा के ध्रुव स्वभाव के भान में, कोई अग्नि आवे, ऐसा तीव्र राग (आवे) कि ध्रुवता को भ्रष्ट कर सके, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भय हो, अस्थिरता के कारण हो, बिल्कुल अस्थिरता का भय भी न हो, ऐसा नहीं है। छद्मस्थ है, अभी साधक है, इसलिए उसे अस्थिरता का भय आता है परन्तु वह भय स्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान को च्युत कर डाले, ऐसा भय (नहीं है)। समझ में आया? आहाहा!

अनचिन्ता तत्काल ही अनिष्ट का उत्पन्न होना। अविचारित तुरन्त ही अनिष्ट का उपजना। जो नहीं और एकदम होना। आहाहा! ऐसा वस्तु के स्वरूप में और उसकी दृष्टिवन्त को ऐसा नहीं होता। आहाहा! पूरा पाँच करोड़ का मकान एकसाथ जले-सुलगे, लड़के और परिवार सब उसमें दबकर मर जाये। स्वयं अकेला बाहर खड़ा हो और वहाँ ऊपर से सीमेन्ट कच्ची हो, (वह गिरे)। वे बनानेवाले तुम्हारे क्या कहलाते हैं? कॉन्ट्रेक्टर उनकी साधारण सीमेन्ट हों, उसमें पानी और कंकड़ हों। तो भी वह जहाँ-तहाँ डाले तो वह गिरे। मुम्बई में पूरा करोड़ का एक मकान था न? ऐसे काम करते हुए गिरा। पूरा मकान गिरा और कितने ही लोग अन्दर मर गये। वह भी निश्चय से तो अकस्मात् नहीं है। उस समय वह पर्याय उस प्रकार से बननेवाली थी। आहाहा! जब बाहर के ऐसे संयोगों में भी अविचारित और अनिष्ट का संयोग होने पर भी वह अकस्मात् नहीं तो भगवान आत्मा में कोई अकस्मात् तीव्र विकार आ जाये और उसे

नुकसान कर दे, कोई प्रतिकूल संयोग आवे और उसे दबा डाले, दबा दे—ऐसा नहीं होता। आहाहा! आहाहा! वज्र का हीरा, वह वज्र का हीरा हो तो भी....

मुमुक्षु : वह घिस जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : घिस जाये वह तो ठीक, परन्तु चक्रवर्ती की दासी होती है, शास्त्र में ऐसा आता है कि चक्रवर्ती की दासी में भी ऐसी शक्ति होती है कि हीरा हो, उसे ऐसे (मसलकर) चूरा कर दे! ऐसी तो वह दासी होती है। और हीरा का तिलक करे, कहो! गद्दी पर बैठे न, (तब हीरा का तिलक करे)। ऐसे हाथ में ले, जैसे अमरूद या अनार को ऐसे कर डाले, (वैसे) इतनी उसमें ताकत होती है! दास हों, दासी! पुण्यवन्त प्राणी है न? व्रजनाराच संहनन वाली बाई होती है। अन्दर हड्डियाँ ऐसी मजबूत (हों) कि हीरा ऐसे भस्म कर डाले। ऐसे करे तो चूरा कर डाले! तो भी वह अकस्मात् नहीं है। पूरा था और चूरा हुआ न? वह तो पर्याय का काल था, तत्प्रमाण हुआ है। वह वास्तव में तो उसकी अँगुली के कारण से भी हुआ नहीं। आहाहा! अँगुली तो निमित्त है। उसके उपादान में उसके कारण से वह भस्म की पर्याय हुई है। इसी प्रकार यह ध्रुवनाथ प्रभु... आहाहा!

ध्रुव... ध्रुव... चीज़ प्रभु है। अनादि-अनन्त है, उत्पत्ति-विनाशरहित है, ऐसा जिसे अनुभव हुआ, उसे अकस्मात् कुछ है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? अन्दर चीज़ में कुछ अकस्मात् हो जाये, ऐसी जगत में कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! वह निडर और निर्भयरूप से आत्मा को वेदता है। आहाहा! क्या आया?

अनचिन्ता तत्काल ही अनिष्ट का उत्पन्न होना। यह अकस्मात् है। **क्या विचारता है (धर्मी) सम्यग्दृष्टि जीव? 'अत्र तत् आकस्मिकं किञ्चन न भवेत् ज्ञानिनः तद्भीः कुतः' 'अत्र' शुद्ध चैतन्य वस्तु में...** अन्दर शुद्ध चैतन्य नित्य ध्रुव वस्तु भगवान में नित्य ध्रुव अनन्त गुण का ध्रुवपना, ऐसा जो भगवान आत्मा, उस ध्रुव में। ध्रुव अर्थात् **शुद्ध चैतन्य वस्तु में कहा है लक्षण जिसका ऐसा...** वह तो ज्ञान लक्षण से, ज्ञानस्वभाव से वस्तु है, आनन्दस्वभावी वस्तु है, ईश्वरस्वभावी वस्तु है। उसमें कुछ अकस्मात् नहीं है। आहाहा!

भावनगर में तुम्हारा बड़ा मण्डप था, वह एक क्षण में जलकर राख हो गया। अग्नि लग गयी। व्याख्यान वाँचने का पाण्डाल, पूरा एकदम समाप्त। वह अकस्मात् नहीं है। उस समय उस प्रकार से पर्याय होने का काल था, (इसलिए) हुई है। समझ में आया? जब इस प्रकार से हो तो भी उसे अकस्मात् नहीं मानना, तो आत्मा में कोई अकस्मात् अचिन्तित अनिष्टपना आ जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

लड़के सब समाप्त हों, मकान समाप्त हो जाये, पैसा समाप्त हो जाये, अकेला रहे, रोटियों के समय रोटियों का आटा भी जलकर राख हो गया हो। होता है न? आटा जलता हो। यहाँ नौ-दस बजे हों। गेहूँ का आटा करके पड़ा हो... क्या कहलाता है वह? रोटी बनाने की। उसमें एकदम सुलगे! तो वह स्वयं बाई जो है, वह बाहर निकल जाये, मुश्किल-मुश्किल से निकले।

हमारे पालेज में बहुत बार ऐसा हुआ था। एक बेचारे राणपुरवाले विसाश्रीमाली थे। उनकी दुकान थी (वह) एकदम सुलग गयी। हम देखने गये तब सब जलता था। वे स्वयं बेचारे बाहर खड़े थे। सब देखा है न! राणपुर के विसाश्रीमाली थे। अभी राणपुर में अपना दिगम्बर मन्दिर है न? वहाँ उनका मकान था। वे पालेज में थे। आहाहा! ऐसे बेचारे बाहर खड़े-खड़े देखे! मकान सुलगे! दाने और बर्तन और रोटियाँ और आटा सब सुलगे, तो भी परमात्मा तो ऐसा कहते हैं कि वह अकस्मात् नहीं हुआ। उसकी पर्याय के काल में वह होने का था, वह हुआ है। आहाहा! तो जब अनित्य में भी ऐसा होता है वह अकस्मात् नहीं तो नित्यानन्द प्रभु में अनित्यपने का अकस्मात् कहाँ से आवे? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह तो बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! वीतराग का धर्म बहुत सूक्ष्म, भाई! लोगों को मिला नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, '**आकस्मिक अर्थात् क्षणमात्र में अन्य वस्तु से अन्य वस्तुपना...** है? ऐसा कुछ नहीं होता। ध्रुव ज्ञान लक्षण से लक्षित प्रभु का दूसरा हो जाये, ऐसा कभी है नहीं। आहाहा! चैतन्य द्रव्य जो ध्रुव है, वह दृष्टि में है, वह ध्रुवपना कोई अन्य चीज़ हो जाये या अन्य चीज़ आकर अन्य चीज़रूप उसे कर डाले, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा! अन्य वस्तुपना हो, **ऐसा 'किञ्चन न भवेत्' ऐसा कुछ है ही नहीं,...** आहाहा! भाषा की बात अलग है, वस्तु की स्थिति ऐसी है।

नित्यानन्द प्रभु! सहजात्मा आनन्द का नाथ प्रभु! ऐसा का ऐसा अनादि का सनातन ध्रुव विराजता है। उसमें कोई अकस्मात् है नहीं। आहाहा! **'किञ्चन न भवेत्' क्षणमात्र में अन्य वस्तु से अन्य वस्तुपना ऐसा कुछ है ही नहीं,...** आहाहा! भगवान चैतन्य पलटकर कोई पर्याय में पूरा आ जाये? ध्रुव पलटकर कोई राग में आ जाये? ऐसा उसमें है ही नहीं। आहाहा!

स्वयं ध्रुव है, (इस) दृष्टि की जिसे खबर नहीं, वह दूसरी चीज़ को स्थिर रखने को, नित्य बनाने को व्यर्थ प्रयास करता है। क्या कहा यह? भगवान स्वयं नित्य ध्रुव है। स्वयं आत्मा! उसकी इसे खबर नहीं, इसलिए ऐसे बाहर में सब टिके रहें, यह शरीर, परिवार, पैसा सब टिका रहे (इस प्रकार) उस नित्य को यहाँ आरोपित कर देता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

वह मनुष्य का (कहा न)? सब समाप्त हो गया। करोड़ों रुपये और परिवार। फिर यहाँ जामनगर आया था। जामनगर में एक 'प्रणाम प्रव्रज्या' नाम का (मन्दिर) है। सबको पैर छूते हैं। एक मन्दिर है। जामनगर में एक मन्दिर ऐसा है कि उसके बाबाओं की मान्यता ऐसी (कि) कुत्ते को भी पैर छुए, बिल्ली को भी पैर छुए। सब भगवान है।

मुमुक्षु : सब भगवान है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु भगवान तो अन्दर द्रव्य से है। पर्याय में तो कुत्ता है। सबको पैर छूते हैं। वहाँ आया था, ऐसा मेरा कहना है। वह आया था। पहले उसने मन्दिर में पैसे दिये होंगे, इसलिए सेठिया रूप से भाषण कराया। वह भाषण करते-करते खड़े-खड़े मर गया!! वहाँ ऐसा हुआ और यहाँ ऐसा हुआ। भाषण करता था। और लोगों ने आदर दिया। (तुमको) खबर नहीं होगी, भगवानजीभाई! जामनगर में उस ओर का दरवाजा है न, वहाँ मन्दिर है। वहाँ उनके बाबा (रहते) हैं। वे सबके पैर छूते हैं, कुत्ते को जय भगवान... जय भगवान करे। ऐसा एक विनयपंथ है। उसने पहले कुछ पैसे दिये होंगे। वह बेचारा खाली होकर आया था। भाषण करता था, वहाँ भाषण करते-करते उड़ गया, एकदम देह छूट गयी। आहाहा! वहाँ ऐसा हुआ, यहाँ यह हुआ। परन्तु (यह) सब अकस्मात् कहीं नहीं है। जब बाहर में भी उस-उस काल में उस

प्रकार से पर्याय होती है, वह अकस्मात् नहीं (तो) प्रभु! ध्रुव में तो अकस्मात् कहाँ से आवे? आहाहा!

'किञ्चन न भवेत्' कुछ है ही नहीं,... आहाहा! **तिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव के... 'ज्ञानिनः'** अर्थात् ज्ञानी को अर्थात् ज्ञानस्वरूप ऐसे भगवान के ज्ञानवन्त को। आहाहा! ज्ञान स्वभावी वस्तु ध्रुव है, प्रभु! उसके ज्ञान का जाननेवाला, ज्ञान में उसे जाननेवाला उसे (अर्थात्) ज्ञानी को। आहाहा! **'तद्भीः' आकस्मिकपना का भय 'कुतः' कहाँ से होवे?** आहाहा!

एक गाँव में चद्दर के मकान थे, चद्दर के। और उपाश्रय था। उसमें बड़े बन्दर आये। बाहर से बड़े दो बन्दर (आये)। चद्दर के वे थे न? चद्दर। उसमें बाहर से आकर गिरे और अन्दर लोग बैठे थे, (उन लोगों को) हाय... हाय... (हो गया)। चद्दर है न? चद्दर। चद्दर नहीं यह? लोहखण्ड के चद्दर का मकान (था) और ऐसे उपाश्रय था। सामायिक करके अन्दर में लोग बैठे हुए। (वहाँ) दो बड़े (बन्दर) आये। भडाक..! अभी यहाँ आयेगा... भागमभाग... (हो गयी)। आहाहा! क्योंकि बन्दर आये और अन्दर से हू... हू... करे। चद्दर (ऊपर से) मुहल्ला में तो आ गये। अब वहाँ से कूदकर अन्दर आना (इसलिए वह तो) एक फलाँग छलांग मारकर आवे। आहाहा! भागमभाग (हो गयी)। सामायिक करके सब बैठे थे। भागमभाग (हो गयी)। ऐसा इसमें नहीं है, कहते हैं। अकस्मात् कोई बन्दर आवे और सर्प आवे और समकिती आत्मा के स्वरूप से च्युत हो जाये, ऐसा है नहीं। आहाहा! आहाहा!

सम्यग्दर्शन और उसका विषय (-ध्येय) है, वह अलौकिक बातें हैं! यह साधारण बात नहीं है और इसलिए तो एक अपेक्षा से उस सम्यग्दृष्टि को शुद्ध परिणमन ही कहा है। वह इस अपेक्षा से (कहा है)। दृष्टि निर्विकल्प है और उसका विषय निर्विकल्प अभेद है, तथापि उसकी पर्याय में भय, राग, दोष होता है, उसे ज्ञान जानता है। ज्ञान ऐसा नहीं जानता कि मुझे राग आदि कुछ है ही नहीं। समझ में आया?

कल ही वडौद का बड़ा (लेख) आया है न? कोई वांचनकार होगा, वह कहता होगा, यहाँ का व्यक्ति होगा। समकिती को राग-द्वेष होते ही नहीं। तब कहे, भरत

चक्रवर्ती और बाहुबलीजी तो समकिती थे। दोनों (लड़े) थे। बाहुबलीजी को चक्र मारा, अपने भाई (के साथ) लड़े। उन्हें खबर नहीं? (ऐसा किसी ने पूछा तो कहे), 'वे तो मिथ्यादृष्टि थे, इसलिए (लड़े)।' (वे) सम्यग्दृष्टि थे। तथापि उस प्रकार का राग होता है, उसे जानते हैं कि मेरे परिणमन में है। समझ में आया? और वह मेरा दोष है, दोष है, ऐसा जानते हैं। क्षायिक समकिती हो, उसे भी ऐसा होता है।

श्रेणिक राजा का पुत्र कोणिक था। उसने जेल में डाला था। स्वयं को गद्दी पर बैठने के लिये (राजा श्रेणिक को जेल में डाला)। बहुत वर्ष हो गये और पिता मरता नहीं और स्वयं को गद्दी मिलती नहीं। कैद में डाला। कोणिक (उनका) पुत्र था। इसलिए फिर वह उसकी माँ को कहने गया। माताजी! मैंने तो इस प्रकार से राज के लिये पिता को (कैद किया है)। (माताजी कहती है), अरेरर! भाई! तूने यह क्या किया? तेरा जन्म हुआ, तब मुझे ऐसा स्वप्न (आया) था कि, यह पिताजी का कलेजा खाये, ऐसा यह पुत्र है। इसलिए तेरे जन्म के समय ही डाल आयी, कचरे में डाल आये। उसकी माँ कहती है। वहाँ एक कूकड़ा आया, कूकड़ा! (उसने तुझे) चोंच मारी। राजकुमार (का) अभी जन्म का पहला ही दिन था। (वहाँ) श्रेणिक आये, क्या है? (ऐसा) क्यों हुआ इस बालक को? (तो रानी कहती है) मैंने तो बालक को डाल दिया है। अरेरर! ऐसा शोभा देता है? (रानी कहती है) साहेब! मुझे स्वप्न में ऐसा आया कि यह श्रेणिक राजा का कलेजा (खाता है)। अरे! ऐसा (होता है)? देखो! यह भाई! स्वयं लेने जाते हैं, हों! राजकुमार कचरे में पड़ा (है, उसे) श्रेणिक राजा लेने जाते हैं! कूकड़ा ने (चोंच मारी थी इसलिए) पीड़ा... पीड़ा...। श्रेणिक राजा स्वयं उठाते हैं और पीप होती है न? पीप। उसे (चूस लेते हैं)। (माता कहती है), भाई! तेरे पिता ने ऐसा किया था और तू यह करता है? क्या किया तूने यह? आहाहा!

मुझे तो अभी दूसरा कहना है, हों! वह श्रेणिक राजा, क्षायिक समकिती थे। वे जेल में हैं और यह कोणिक हाथ में हथियार लेकर जेल में जाता है। कैद में डाला है न? श्रेणिक राजा को (ऐसा) लगा कि एक तो (मुझे) जेल में डाला है और मुझे मारेगा (तो)? क्षायिक समकिती हैं, तो भी ऐसी अस्थिरता की प्रकृति है (तो) होता है। जहर चूसकर मर गये। क्षायिक समकिती को राग ही न हो? राग होता है, द्वेष होता है, वासना

होती है, क्रोध होता है, सब होता है। उसकी कर्तृत्वबुद्धि से वे करते नहीं, परन्तु निर्बलता के परिणमन से करे, वह कर्ता होकर करते हैं। कर्तृत्व अर्थात् करनेयोग्य हैं, ऐसी बुद्धि से नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं! क्षायिक समकिती! वह (हथियार) लेकर आता है, वहाँ स्वयं हीरा चूसते हैं! (उन्हें ऐसा कि) यह मुझे मार डालेगा। वे स्वयं हीरा चूसकर (मर जाते हैं), तो भी उन्हें क्षायिक समकित में दोष नहीं है। आहाहा! वह तो अस्थिरता का प्रकार—राग था। कर्तृत्वबुद्धि—करनेयोग्य है, (ऐसी बुद्धि) छूट गयी थी। परिणमन की अपेक्षा से कर्ता थे, उसे वह ज्ञान जानता था। अरे रे! इतनी अधिक शर्तें! समझ में आया? उसे अकस्मात् भय है ही नहीं। आहाहा! (ऐसा) किया था न? वह आया इसलिए हीरा चूसा। आहाहा!

रामचन्द्रजी जैसे पुरुष! पुरुषोत्तम पुरुष! जिनकी राज की नीति में कैसे! और उसी भव से मोक्ष जानेवाले, अन्तिम शरीर। रामचन्द्रजी अर्थात् कौन? ओहोहो! पुरुषोत्तम पुरुष! जन्म से पवित्र... पवित्र... लोक और राज और नीति में तो उनके जैसी कोई नीति नहीं। और आत्मज्ञानी धर्मात्मा! आहाहा! भाई लक्ष्मण गुजर गये, स्वयं प्रतिवासुदेव थे। लक्ष्मण गुजर गये, इसलिए छह महीने तक (उनके मुर्दे को) रखा। आहाहा! तथापि उन्हें आत्मज्ञान का दोष नहीं।

दूसरा कोई आया (और रामचन्द्रजी को कहता है), परन्तु यह तुम्हारा भाई (मर गया है)। (रामचन्द्रजी कहते हैं), मर नहीं गया। (लोग कहते हैं), मर गया है, तुम ऐसा मानते हो कि मर नहीं गया। श्रीकृष्ण में (कहीं) आता है। बलदेव कहते हैं कि, तेरा भाई मरता नहीं, मेरा भाई मरेगा? समकिती (ऐसा कहे), वह चारित्रदोष है। छह महीने तक ऐसे (घूमते हैं)। अन्त में देव आकर तेल निकालने के लिये रेत पिलते हैं। तब बलदेव का लक्ष्य जाता है (और पूछते हैं), अरे! यह क्या करते हो? (तो देव कहते हैं), तेल निकालते हैं। (इसलिए बलदेव कहते हैं), रेत में से तेल निकलेगा? (तो देव कहते हैं), अब मर गये में से (कोई) जीवित होगा? हमको तुम कहने लगे कि रेत में से तेल नहीं निकलता (तो तुम क्या करते हो?) (ऐसा सुना वहाँ) एकदम बदल गये। ओहो! अस्थिरता थी, वह छूट गयी। (कहते हैं), जाओ! इसे जला दो। आहाहा! और स्वयं जब अवसर आया, इसलिए एकदम वीतराग... वीतराग... वीतराग...

वीतराग... वीतरागी स्वरूप भगवान आत्मा की वीतराग दशा प्रगट की। समझ में आया? आहाहा!

देखो! सीताजी को रावण ले गया, वहाँ सीताजी डिगे नहीं। वे सीताजी मरकर स्वर्ग में गयीं। रामचन्द्रजी को जब अन्तिम स्थिति में अन्दर केवल(ज्ञान) प्राप्त करने की तैयारी थी, (तब सीताजी) आकर कहती हैं, तुम नियाणुं करो, प्रतिबन्ध करो। हम वहाँ देव में भोग के लिये उपजेंगे। अरर्र! परन्तु तुम रावण के समय (डिगे नहीं और अभी) यह क्या? रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष! जो अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते-झूलते अभी केवलज्ञान लेनेवाले हैं न! आहाहा! उस समय सीताजी ने ऐसा कहा। सीताजी देव हुए हैं, देव! पुरुष, परन्तु सीताजी का रूप धारण कर उन्हें डिगाने आये, उस समय सीताजी ने ऐसा कहा, तो भी वे समकिती हैं, उन्हें समकित का दोष नहीं। ऐसी बात है। राग की अस्थिरता है। आहाहा! मार्ग बहुत (सूक्ष्म), बापू! वीतराग का मार्ग ऐसा है। उसकी दृष्टि, उसका ज्ञान और उसकी स्थिरता में अस्थिरता और वे सब प्रकार यथार्थरूप से जानना, देखना, वह बहुत अलौकिक बातें हैं!

यहाँ कहते हैं, **सम्यग्दृष्टि जीव के आकस्मिकपना का भय कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता। किस कारण से? शुद्ध जीव वस्तु आप सहज जैसी है,...** है न? **'एतत् ज्ञानं स्वतः यावत्' 'एतत् ज्ञानं' 'स्वतः यावत्'** भगवान चैतन्य ध्रुव नित्य वस्तु, आहाहा! स्वयं सहज ऐसी है—**'स्वतः यावत्'** स्वतः सहज आनन्द का नाथ भगवान आत्मा! आहाहा! ऐसी बातें हैं। अन्दर भगवान स्वयं आत्मा, जिसका मूल स्वरूप है वह तो सहजानन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है। आहाहा! वह तो स्वतः है। पर से नहीं, स्वतः उसका स्वरूप ही ऐसा है। है?

आप सहज जैसी है, जितनी है... जैसी है, जितनी है। **'इदं तावत् सदा एव भवेत्'** जितनी है, वैसी की वैसी वहाँ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जितनी है उतनी की उतनी वहाँ है। वस्तु जो ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु है, अनुत्पत्ति और अविनाश—नाश बिना की, उत्पत्ति और विनाश बिना की जो ध्रुव चीज़ है, वह तो वह जितनी है, उतनी की उतनी है। आहाहा! पर्याय में चाहे जितनी अशुद्धता हुई, जो हुई परन्तु यह वस्तु

तो जितनी है, उतनी की उतनी है। ऐसा धर्मी को दृष्टि में ऐसा वर्तता है। आहाहा! ऐसा मार्ग!

पाण्डव लो न! शत्रुंजय, पाँच पाण्डव ऐसे ध्यान में खड़े हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के रस के रसिक! अतीन्द्रिय आनन्द के... जैसे खाकर (पेट) भरे हुए को डकार आती है, सब खाकर (डकार आती है), उसी प्रकार यह पाँच (पाण्डव) आनन्द की डकार में स्थित हैं। आहाहा! अभी केवल(ज्ञान) नहीं था। वहाँ दुर्योधन का व्यक्ति आकर लोहे के गहने पहनाये। सिर पर लोहे के (गहने पहनाये तथापि) अन्दर में निर्भय हैं। आहाहा! जिसकी दृष्टि पर्याय पर नहीं और संयोग पर नहीं। अन्दर आनन्द का नाथ जितना है, उतना है, वहाँ दृष्टि पड़ी है। कहो, प्रवीणभाई! ऐसा है यह सब! तुम्हारे लोहे के व्यापार से यह अलग प्रकार की बात है। आहाहा!

अरे! कितनों को ऐसा सुनने को मिला नहीं। आहाहा! सुनने को मिला वे भी भाग्यशाली हैं!! बापू! यह तो परमात्मा के घर की बातें हैं, प्रभु! आहाहा!

तीन व्यक्ति (मुनि) तो ध्यान में (लीन हैं)। आहाहा! लोहे के तमतमाते हुए (गहने) पहनाये, कड़ा पहनाया, पैर में पहनाये, अग्नि में डाले वे लोहे के हार पहनाये। आहाहा! दो भाईयों को और उस समय सहज विचार आया कि 'इन भाई को क्या होता होगा?' आहाहा! इतना एक विकल्प आया। साधर्मी और सहोदर। एक माता के गर्भ से एक उदर से उत्पन्न हुए और साधर्मी और बड़े भाई को क्या (होगा)? आहाहा! वह शुभ विकल्प आया। समकिती हैं, मुनि हैं, तो भी विकल्प—राग आया। समकिती को राग हो ही नहीं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

आहाहा! जिन्हें मुनिपना है, अन्दर तीन कषाय का अभाव करके अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं। तथापि जरा (विकल्प आया)। स्वयं की दरकार नहीं परन्तु यह भाई को कैसे होगा? (ऐसा विकल्प आया)। क्योंकि उनसे बड़ी उम्र के थे न? धर्मराजा, भीम और अर्जुन। यह सहदेव और नकुल छोटे हैं। ऐसा विकल्प आया, वहाँ केवलज्ञान अटक गया। तैंतीस सागर के वैमानिक (देव में) गये। तैंतीस सागर केवलज्ञान दूर हो गया। आहाहा! यह ज्ञानी को भी, मुनि को भी ऐसी दशा आवे, राग आवे, भाई! समझ में आया? और वह राग है, वह दुःखमय है, उसे दुःख का वेदन है। आहाहा! तो भी

उसे आत्मज्ञान और मुनिपने को बाधा नहीं है। इसलिए कोई ऐसा ही कहे कि सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता आती ही नहीं, उसे दुःख होता ही नहीं। वह एकान्त है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, शुद्ध जीवस्वरूप (वस्तु) जितनी है, उतनी है। '**इदं तावत् सदा एव भवेत्**' जितनी है—'**इदं तावत्**' उतनी वह है। **वस्तुमात्र वैसी है, उतनी है।** आहाहा! '**इदं तावत् सदा एव भवेत्**' जितनी ध्रुव अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है, जितना है उतना ही। '**इदं तावत्**'—उतना वह है। आहाहा! अशुद्धता आने पर भी चीज़ को घिसावट लगी नहीं। आहाहा! मुनि को इतना राग आया तो भी वस्तु की स्थिति में कुछ घिसावट नहीं। आहाहा! वह तो जितनी है, उतनी नित्यानन्द प्रभु (वस्तु) है। आहाहा! है?

अतीत, अनागत, वर्तमान काल में निश्चय से ऐसी ही है। भूतकाल में भी उतनी थी, भविष्य में भी वैसी और वर्तमान में भी उतनी है। आहाहा! वस्तु द्रव्य स्वभाव जो है, वह तो ध्रुव—उतनी की उतनी भूत, वर्तमान और भविष्य में है। आहाहा! ऐसा धर्मी को—सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में ऐसा आत्मा होने से उसे कोई भय नहीं है। आहाहा! आहाहा!

उमराला की बात है। (वहाँ) प्लेग का समय था। बहुत समय (पहले की) बात है, हों! दस-बारह वर्ष की उम्र होगी। पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। एक तेली का एकदम जवान लड़का था। आहाहा! वृद्ध थे और मर गया। उसे मर जाने के बाद दूसरा एक मर गया। हम लड़के स्कूल में खड़े थे। जनाजा निकालते हैं न? तो उसका पिता पीछे रोवे... और वह स्कूल के पास ही मस्जिद है, वहाँ गाड़ने ले जाये। उस समय की स्थिति देखी हो तो... आहाहा! एकदम जवान... पच्चीस या अट्ठाईस वर्ष का मर गया और वापस दूसरा मर गया! वह हाय... हाय... (करे)! वह मानो अरर्र! यह क्या हुआ? बापू! क्या होगा? भाई!

सम्यग्दृष्टि को... आहाहा! चक्रवर्ती को हजारों पुत्र होते हैं और हजारों पुत्र कदाचित् सागर में—समुद्र में एकसाथ डूब मरे... तो (उस) चीज़ का अन्दर भय नहीं है। वह तो है, उतनी की उतनी है, ऐसी दृष्टि में दिखती है। आहाहा! वहाँ घिसावट नहीं, हीनता नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहा न? जितनी है, उतनी है। अतीत-अनागत (काल में) **निश्चय से ऐसी ही है। 'अत्र द्वितीयोदयः न'** एक वस्तु में दूसरे किसी का उदय होता (नहीं), प्रगट होता नहीं। एक वस्तु / चीज़ ध्रुव नित्यानन्द में दूसरी चीज़ आती नहीं, इसलिए उसमें द्वितीय नहीं है (अर्थात्) उसमें दूसरापन नहीं है। आहाहा! नित्यानन्द प्रभु ध्रुव स्वरूप ऐसी जो वस्तु है, उसमें द्वितीय अर्थात् दूसरी कोई चीज़ वहाँ नहीं आती। आहाहा! **'द्वितीयोदयः न' और सा स्वरूप नहीं होता।**

कैसा है ज्ञान? 'एकं' समस्त विकल्पों से रहित है। वह तो समस्त विकल्प से रहित एकरूप त्रिकाल है। आहाहा! ध्रुव है, जितनी है, उतनी है और एक है। त्रिकाली ध्रुव की बात लेनी है न! अनादि-अनन्त है। है न? अनादि-अनन्त अर्थात् उत्पत्ति और विनाशरहित है। आदि नहीं और अन्त नहीं, उत्पत्ति नहीं (और) विनाश नहीं।

और कैसा है? अपने स्वरूप से नहीं विचलित होता। तीन काल-तीन लोक में ध्रुव चीज़ है, वह अपनी चीज़ में से चलित नहीं होती। आहाहा! वह तो ध्रुवरूप से-ध्रुवरूप से विराजता है। जो सम्यग्दर्शन का विषय है। **और कैसा है? 'सिद्धं' निष्पन्न है।** निष्पन्न अर्थात् वह उस प्रकार से ही प्राप्त है, ऐसा कहते हैं। वह जितना है, उतना ही वह प्राप्त है। इस प्रकार से ही है, इस प्रकार से उसकी निष्पत्ति है, दूसरे प्रकार से है नहीं। ऐसा जिसे अनुभव हुआ, उसे भय नहीं होता। उसे कर्म की निर्जरा होती है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६१

(शार्दूलविक्रीडित)

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।२९-१६१।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'यत् इह सम्यग्दृष्टेः लक्ष्माणि सकलं कर्म घ्नन्ति' [यत्] जिस कारण से [इह] विद्यमान [सम्यग्दृष्टेः] शुद्धस्वरूप परिणमा है जो जीव, उसके [लक्ष्माणि] निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना-अंगरूप गुण, [सकलं कर्म] ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पुद्गलद्रव्य के परिणमन को [घ्नन्ति] हनन करते हैं; भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव के जितने कोई गुण हैं, वे शुद्धपरिणमनरूप हैं, इससे कर्म की निर्जरा है; 'तत् तस्य अस्मिन् कर्मणः मनाक् बन्धः पुनः अपि नास्ति' [तत्] तिस कारण, [तस्य] सम्यग्दृष्टि जीव के [अस्मिन्] शुद्धपरिणाम के होनेपर, [कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्मों का [मनाक् बन्धः] सूक्ष्ममात्र भी बन्ध [पुनः अपि नास्ति] कभी नहीं। 'तत् पूर्वोपात्तं अनुभवतः निश्चितं निर्जरा एव' [तत्] ज्ञानावरणादि कर्म, [पूर्वोपात्तं] सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पहले, अज्ञान-रागपरिणाम से बाँधा था जो कर्म, उसके उदय को [अनुभवतः] जो भोगता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के [निश्चितं] निश्चय से [निर्जरा एव] ज्ञानावरणादि कर्म का गलना है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित-ज्ञानसर्वस्वभाजः' [टंकोत्कीर्ण] शाश्वत जो [स्वरस] स्व-परग्राहकशक्ति, उससे [निचित] परिपूर्ण—ऐसा [ज्ञान] प्रकाशगुण, वही है [सर्वस्व] आदि मूल जिसका—ऐसा जो जीवद्रव्य, उसका [भाजः] अनुभव करने में समर्थ है। ऐसा है सम्यग्दृष्टि जीव, सो उसके नूतन कर्म का बन्ध नहीं है; पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा है।।२९-१६१।।

कार्तिक कृष्ण १३, गुरुवार, दिनांक-०८-१२-१९७७, कलश-१६१, प्रवचन-१७०

(समयसार कलश) १६१ कलश, निर्जरा अधिकार है।

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।२९-१६१।।

क्या कहते हैं? '**यत् इह सम्यग्दृष्टेः लक्ष्माणि सकलं कर्म घ्नन्ति' जिस कारण से विद्यमान सम्यग्दृष्टि...** सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसे यह शुद्ध स्वरूप चिद्घन आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप का अनुभव हुआ हो। अनादि से जो पुण्य और पाप, राग और द्वेष का अनुभव है, वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का वेदन है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि—धर्मी होता है, (उसे) धर्म की पहली सीढ़ी (प्रगट हुई है)। छहढाला में आता है न? 'मोक्षमहल की पहली सीढ़ी' सम्यग्दर्शन। आहाहा! वह सम्यग्दर्शन क्या है? कहते हैं कि **विद्यमान सम्यग्दृष्टि अर्थात् शुद्धस्वरूप परिणमा है...** आहाहा! पुण्य और पाप के जो अशुद्ध (भाव) हैं, उनका परिणमन छोड़कर शुद्ध चैतन्य ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा का जिसे सम्यग्दर्शन में शुद्ध परिणमन हुआ है। आहाहा! ऐसी बात है।

क्योंकि आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप त्रिकाली परम आनन्दस्वरूप है। उसका सम्यग्दृष्टि को शुद्ध परिणमन होता है। शुद्ध चैतन्यघन आत्मा पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान से, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। आहाहा! वह जो ध्रुव चीज़ है, उसके सन्मुख होकर जिसका शुद्ध परिणमन हुआ, उसे सम्यग्दृष्टि—धर्मी—मोक्षमार्ग का पहला सोपान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव परमेश्वर सर्वज्ञ ज्ञान में जो देखा, वैसा वाणी द्वारा आया। वे भगवान ऐसा कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, उसका स्वरूप क्या? शुद्ध

चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के स्वसन्मुख होकर उसमें शुद्ध का अनुभव हो, (उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है)। समझ में आया? आहाहा! तुम्हारी हिन्दी चलती है। झाँझरी कहते हैं कि हिन्दी में लेना। (ऐसा) मार्ग है, प्रभु!

वीतराग परमेश्वर जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि शुद्ध स्वरूप से परिणमा है। आहाहा! थोड़ी अशुद्धि है, जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो, तब तक सम्यग्दृष्टि को भी अशुद्ध पुण्य-पाप का परिणमन है, परन्तु उसे यहाँ गौण करके मुख्यरूप से शुद्ध परिणमन है, ऐसा लिया है। आहाहा! समझ में आया? धर्म की पहली सीढ़ी, 'मोक्षमहल की पहली सीढ़ी' आता है न? छहढाला में आता है। आहाहा!

यह देह तो जड़, मिट्टी-धूल है, (यह) भिन्न है। अन्दर आठ जड़ कर्म के रजकण हैं, वे पुद्गल भिन्न हैं और उसमें पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे अशुद्ध और मलिन हैं। आहाहा! उनसे (भिन्न) भगवान आत्मा पूर्ण निर्मलानन्द चिदानन्दस्वरूप है। आहाहा! उसकी दृष्टि होना, शुद्ध चैतन्य वस्तु की दृष्टि होना और उसमें शुद्ध चैतन्य का परिण्मन (होना), पर्याय में निर्मल परिणमन होना... आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

यह कहते हैं। है? मूल श्लोक अमृतचन्द्राचार्यदेव के हैं और टीका राजमल्लजी (की है)। जैनधर्मी—जैनधर्म के मर्मी! उन्होंने टीका बनायी है। कहते हैं कि **जिस कारण से विद्यमान सम्यग्दृष्टि अर्थात् शुद्धस्वरूप परिणमा है, जो जीव,...** आहाहा! विद्यमान वस्तु है, वस्तु त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु, जिनस्वरूपी प्रभु है। यह तो बारम्बार कहते हैं न? 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, मतमदिरा के-मदिरा पान सो, मतवाला समझै न।' 'घट घट अन्तर जिन बसे' अन्दर आत्मस्वरूप जिनस्वरूप है। आहाहा! अन्दर वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा है। पुण्य-पाप के भाव तो राग है, विकार है। नौ तत्त्व में पुण्य-पाप तत्त्व को आस्रवतत्त्व में डाला है, वह आत्मतत्त्व नहीं है। आहाहा! आत्मा तो जिनस्वरूप है। अकषायस्वभाव वीतरागस्वरूप जिनस्वरूप है।

'घट घट अन्तर जिन बसे' बनारसीदास का यह वाक्य है। समयसार नाटक! घट

घट अन्तर जिन बसे' आहाहा! अन्दर अकषाय पूर्ण वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा (विराजता) है, जिसकी शक्ति—जिसका स्वभाव... आहाहा! जिसे आत्मा कहते हैं, उसका स्वभाव तो वीतरागस्वरूप है। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' जैनपना कहीं बाहर में नहीं है। आहाहा! राग जो पुण्य-पाप का विकल्प अर्थात् राग (उठता है), उसकी एकता तोड़कर स्वभाव की दृष्टि प्रगट करना, उसका नाम जैन है। जैन कोई सम्प्रदाय—वाडा नहीं, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया? परन्तु मत-मदिरा (अर्थात्) अपने अभिप्राय की मदिरा पीये हुए। 'मतवाला समझे न' यह वस्तु ऐसी है, ऐसा समझते नहीं। 'मैं रागवाला हूँ, मैं पुण्यवाला हूँ, राग का फल संयोग मिले, वह मैं हूँ'—ऐसे अभिप्रायवाले ने मत की मदिरा—शराब पी है। आहाहा! 'मतवाला समझे नहीं' वह मतवाला—अभिप्रायवाला, आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, पूर्णानन्द है, ऐसा समझता नहीं। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ीवाला... आहाहा! कहते हैं, **शुद्धस्वरूप परिणमा है, जो जीव,...** आत्मा शुद्धरूप से परिणमित हुआ है। आहाहा! क्योंकि वस्तु है, वह शुद्धस्वरूप है। त्रिकाली भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् कायम रहनेवाला और चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द। ज्ञान और आनन्द से भरपूर प्रभु आत्मा है। आहाहा! भारी सूक्ष्म बातें, बापू! ऐसा मार्ग है। ऐसा प्रभु शुद्ध स्वरूप परिणमे, जैसा उसके द्रव्य और गुण का शुद्ध स्वरूप है, वैसा ही उसकी पर्याय में—अवस्था में शुद्ध परिणमे... आहाहा! उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि—धर्मी कहा जाता है। आहाहा! शर्तें बहुत कठिन!

मार्ग तो प्रभु का ऐसा है। वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं यह चीज़ है नहीं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव के श्रीमुख से जो वाणी निकली, ऐसी चीज़ अन्य में कहीं है ही नहीं।

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकित होता है। उसे पूर्णानन्दस्वरूप में शंका नहीं होती। आहाहा! पूर्ण वीतराग आनन्दकन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि सम्यग्दृष्टि को हुई है तो वह निःशंक है, निर्भय है। आहाहा! समझ में आया? **निःशंक...** है।

नि:कांक्षित... है। शुभभाव का फल और शुभभाव मेरा है, ऐसी उसकी इच्छा नहीं, रुचि नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव—धर्म की पहली सीढ़ीवाला... आहाहा! नि:कांक्षित है। शुभभाव की इच्छा भी नहीं और शुभभाव के फल की (भी) उसे इच्छा नहीं। शुभराग है, उस राग की जिसे इच्छा नहीं, रुचि नहीं। आहाहा! राग होता है परन्तु (उसकी) रुचि नहीं, उसकी कांक्षा नहीं, उसकी अभिलाषा नहीं, उसकी इच्छा नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। (वह) नि:कांक्षित है।

निर्विचिकित्सा... द्वेष नहीं। किसी भी चीज़ के प्रति उसे द्वेष नहीं। जैसे नि:कांक्षित में राग नहीं, वैसे निर्विचिकित्सा में द्वेष नहीं। किसी भी चीज़ के प्रति द्वेष नहीं। सम्यग्दृष्टि तो किसी भी प्रतिकूल चीज़ को भी ज्ञेयरूप से जानता है। वह प्रतिकूल है—ऐसा द्वेष नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

पहले नि:शंक कहा। वस्तु पूर्ण आनन्दस्वरूप है, वह मैं हूँ, उसमें शंका नहीं और शुभभाव की इच्छा—अभिलाषा नहीं और प्रतिकूलता में जिसे द्वेष नहीं। आहाहा! तीन हुए।

अमूढदृष्टि... सम्यग्दृष्टि उलझन में नहीं आता। मूढदृष्टि नहीं है। चाहे जैसा प्रसंग हो, परन्तु अमूढदृष्टि है। अन्यमत के चाहे जैसे प्रश्न हों, चाहे जो शास्त्र हो परन्तु उनमें उसकी मूढ़ता नहीं होती। उसमें कोई मार्ग है या उसमें कुछ है, ऐसी मूढ़ता सम्यग्दृष्टि को नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा और वीतराग भगवान ने (जो) कहा, उसमें उसकी मूढ़ता नहीं और इसके अतिरिक्त दूसरे मार्ग में मूढ़ता नहीं कि दूसरे में कुछ है, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर परमात्मा की वाणी है, भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, मूढ़ नहीं है। आहाहा! धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव मूढ़ नहीं है। अन्य (मत में) कोई महा पुण्यवन्त प्राणी हो और लाखों-करोड़ों (लोग) उसे माने तो उसको मूढ़ता (नहीं होती) कि उसमें कुछ होगा। ऐसा मूढ़ नहीं होता। समझ में आया? दूसरे में बाहर के बहुत चमत्कार हो, उससे क्या? चैतन्य चमत्कार वस्तु जिसे दृष्टि में आयी... आहाहा! उसे दूसरे चमत्कार की महिमा नहीं होती। आहाहा!

उपगूहन... अपने दोष हैं, उन्हें छिपाता है, प्रगट नहीं करता, टालता है। आहाहा! समझ में आया?

स्थितिकरण... वस्तुस्वरूप में स्थितिकरण—स्थिरता का करनेवाला है। राग में स्थिरता करनेवाला नहीं। समझ में आया? यह आठ अंग है। समकिती के नि:शंक आदि आठ आचार हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात, प्रभु! यह मार्ग ऐसा है, प्रभु का ऐसा मार्ग जिसे हाथ आया, उसके भव का अन्त! उसे फिर भव होते नहीं। आहाहा!

ऐसा जो सम्यग्दर्शन स्थितिकरण (अर्थात्) अपने आत्मा को स्थिर करे और दूसरे आत्मायें भी वीतराग स्वभाव से भ्रष्ट होते हों, उनकी भी स्थिति करे कि प्रभु! मार्ग यह है, दूसरा मार्ग नहीं है।

वात्सल्य,... उसे आत्मा के प्रति प्रेम है और साधर्मी के प्रति भी उसे प्रेम है, वह राग है, वह विकल्प है। आहाहा! धर्मी को धर्मात्मा के प्रति वात्सल्य होता है। जैसे गाय को बछड़े के प्रति वात्सल्य अर्थात् प्रेम है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को (दूसरे) सम्यग्दृष्टि आदि धर्मात्मा के प्रति प्रेम है। आहाहा! समझ में आया?

प्रभावना.... (अर्थात्) अन्तर स्वरूप की प्रभावना। प्र (अर्थात्) विशेष शुद्धि की वृद्धि करे। अन्तर में शुद्धि की वृद्धि करे, वह निश्चय प्रभावना है। बाहर में देव-गुरु-शास्त्र के शुभभाव आते हैं तो प्रभावना करता है। यह व्यवहार प्रभावना है। आहाहा! समझ में आया?

यह **अंगरूप गुण...** हैं। यह आठ अंग हैं। अंगी समकित दृष्टि है। जैसे अंगी यह शरीर है और यह अंग हैं—हाथ, पैर यह अंग हैं। उसी प्रकार अंगी सम्यग्दृष्टि है, उसके आठ अवयव—अंग हैं। समझ में आया? भाषा तो सादी है, भाई! वस्तु तो जो है, वह है।

अनन्त काल में अनन्त तीर्थंकर ऐसा कहते आये हैं। परमात्मा विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ (विराजते हैं)। वहाँ सीमन्धरस्वामी के पास संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया है। समझ में आया? भगवान मौजूद विराजते हैं। करोड़ पूर्व का आयुष्य है, पाँच

सौ धनुष का देह है, अरबों वर्षों से है, अभी अरबों वर्ष रहनेवाले हैं। महाविदेह में भगवान मौजूद है। वहाँ से यह वाणी आयी है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, यह आठ अंग हैं। जैसे दो हाथ, दो पैर, बीस अँगुलियाँ हैं, वे अंगी जो शरीर है, उसके यह अंग हैं। उसी प्रकार समकिती है, वह अंगी है, यह उसके आठ अंग हैं। आहाहा! है? **अंगरूप गुण...** है तो पर्याय, परन्तु गुण कहने में आये हैं। समकित भी पर्याय है। समकित गुण नहीं, गुण तो त्रिकाल है। द्रव्य और गुण जो है, वह तो त्रिकाली है और प्रगट होती है, वह पर्याय होती है। सम्यग्दर्शन भी पर्याय है। अरे! केवलज्ञान भी पर्याय है। गुण तो त्रिकाली ज्ञानगुण है। भगवान आत्मा द्रव्य—वस्तु है और उसका ज्ञानगुण त्रिकाल है। उसकी केवलज्ञान आदि पर्याय है। मति-श्रुत आदि वह सब पर्याय—अवस्था है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी आत्मा की एक निर्मल पर्याय है। उसे यहाँ गुणरूप से (कहा गया है)। समझ में आया?

ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के पुद्गल द्रव्य के परिणमन को हनन करते हैं... आहाहा! सम्यग्दृष्टि—सत्यदृष्टि सत्स्वरूप भगवान पूर्ण स्वरूप की दृष्टि (हुई) और अनुभव में आया, उसे यह आठ अंग प्रगट होते हैं। इन आठ अंग द्वारा पूर्व के बाँधे हुए जो कर्म हैं, उनकी वह निर्जरा करता है। समझ में आया? निर्जरा अधिकार है न? आहाहा!

अपना जो निज ध्रुव स्वरूप, पूर्ण ध्रुव (स्वरूप है), उसकी अन्तर्दृष्टि हुई, बहिरात्मपना छूट गया, राग और पुण्य के फल और पुण्य मैं हूँ—ऐसी बुद्धि बहिरात्म—मिथ्यादृष्टि है, वह बुद्धि छूट गयी। आहाहा! मैं तो भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, वह पूर्णानन्द क नाथ मैं हूँ। आहाहा! ऐसी दृष्टिवन्त को यह आठ अंग (होते) हैं, उसके अवयव हैं। सम्यग्दर्शन अवयवी है—अंगी है (और) यह आठ उसके अंग—अवयव हैं। आहाहा! इन आठ अंग द्वारा पूर्वकर्म का नाश करता है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म तो परपदार्थ है, उसका क्या नाश करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो निमित्त से कथन है। निर्जरा तो तीन प्रकार की है। यह तो कहा था न? निर्जरा तीन प्रकार की है। एक तो कर्म खिरते हैं, वह निर्जरा है। यह

निमित्त का कथन है। अशुद्धता का नाश हो, वह अशुद्ध निश्चयनय की पर्याय का कथन है और शुद्धि की वृद्धि होती है, वह भी निर्जरा है। पहले यह तीन प्रकार कहे थे। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो परमात्मा जिनेन्द्रदेव का मार्ग है। आहाहा! इसने अनन्त काल में 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' मुनिव्रत लिया, पंच महाव्रत पालन किये, अट्ठाईस मूल (गुण) लिये। ऐसा 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' छहढाला में आता है। 'पै (निज) आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो' आहाहा! यह पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के भाव, आस्रव हैं, दुःख हैं। आहाहा! तो कहा कि 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।' आंशिक भी सुख नहीं मिला क्योंकि वह तो सब विकार, राग, दुःख है। आहाहा! समझ में आया?

आत्मभगवान अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द का तो भण्डार—निधान आत्मा है। उसका ज्ञान हो तो वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रिय आनन्द का अंश व्यक्तरूप से स्वाद आता है। महाव्रत धारण करके अनन्त बार मुनि हुआ परन्तु आत्मज्ञान किया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : लौकिक पठन में क्या था?

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक पठन में धूल है। वहाँ तो सब पाप है। यह रामजीभाई बड़े वकील थे। वकालत का सब पाप था।

मुमुक्षु : बड़े या खोटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटे। परन्तु दुनिया में तो ऐसा कहे न? पैंतीस वर्ष पहले कोर्ट में जाते थे (तो) पाँच घण्टे के दो सौ रुपये लेते। दो सौ रुपये! वह पठन सब मूढ़ और अज्ञान था। यह सब डॉक्टर बड़ी डिग्रियाँ लगाते हैं न? वह तो सब जानपना अज्ञान था, अज्ञान। वह कुज्ञान है। आहाहा!

यह तो आत्मज्ञान! आत्मज्ञान में राग भी नहीं, पर भी नहीं और पर्याय भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मज्ञान का फल क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चिदानन्द स्वरूप जाने, वह उसका स्वरूप। आत्मा अर्थात् अनन्त आनन्द और जिसमें अमाप अनन्त गुण की संख्या पड़ी है। कहा था न ? आकाश के प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुणे गुण एक आत्मा में हैं। आहाहा! आकाश, आकाश है न ? खाली... खाली... खाली... इस लोक में जैसे खाली है (वैसे) अलोक... अलोक... अलोक... अलोक... कहीं अन्त नहीं, ऐसा आकाश है। उसके जो अनन्त प्रदेश हैं, उनसे अनन्तगुणे एक आत्मा में गुण हैं। आहाहा!

भाई! उसका भासन होना चाहिए। आहाहा! आकाश... आकाश... आकाश... कहीं अन्त है ? इस लोक के बाद (कहीं अन्त है) ? अन्त कहीं नहीं, उसके प्रदेश की अनन्तता से अनन्तगुणे इस आत्मा में अनन्तगुणे गुण हैं!! संख्या से (अनन्तगुणे)! और एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं और एक-एक गुण में अनन्त शक्ति है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, (उसके) सन्मुख होकर उसका ज्ञान होना, जिस ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आंशिक आवे, जिस ज्ञान में शक्ति का अंश प्रगट हो... आहाहा! उसे आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन कहते हैं। समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि अभी ऐसे होते हैं। इसके पश्चात् श्रावक का पाँचवाँ गुणस्थान, वह तो कोई अलौकिक बातें हैं! आहाहा! उसे तो अन्दर शान्ति की धारा होती है, शान्ति बढ़ गयी होती है। सर्वार्थसिद्धि के एकावतारी जीव को चौथे गुणस्थान में जो शान्ति है, उसकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान में शान्ति बढ़ गयी है। अन्तर शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषाय परिणमन बढ़ गया होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! वीतराग के अतिरिक्त यह बात है नहीं।

यहाँ कहते हैं कि, इन ज्ञानावरणादि कर्म को हनन करता है। जैसे सूर्य की किरण अन्धकार का नाश करती है... आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा के सम्यग्दर्शन के आठ अंग प्रकाशमय हैं, वे कर्म के रजकणों का उदय आवे तो, उसका नाश कर डालते हैं। इसका नाम निर्जरा है। शुद्धि की वृद्धि करते हैं, अशुद्धता गलती है, कर्म टलते हैं। तीनों को निर्जरा कहा जाता है। आहाहा! भाषा तो सादी है।

मुमुक्षु : तीनों काम एकसाथ होते हैं या आगे-पीछे होते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक साथ तीनों (होते हैं)। आगे-पीछे नहीं, तीनों एकसाथ (होते हैं)। यहाँ तो कर्म गलते हैं, यह अपेक्षा लेना है। कर्म तो उनके कारण से गलते हैं, वे तो जड़ हैं। जड़ को आत्मा गलावे, ऐसा नहीं है। आत्मा अशुद्धता टालता है और सम्यग्दर्शन की शुद्धता बढ़ाता है, इससे वे कर्म अपने आप वहाँ नाश होने के योग्य थे, वे नाश होते हैं। अरे... अरे! ऐसी बातें हैं। आहाहा! समझ में आया?

मार्ग ऐसा है, भाई! अनन्त काल में कभी इसने आत्मज्ञान की दरकार की ही नहीं। समझ में आया? दूसरा जानपना किया, शास्त्र का (जानपना) किया। वह सब निरर्थक है। इस संसार के सब पठन बी.ए. और एल.एल.बी. सब शून्य हैं। पाप के पठन है।

मुमुक्षु : पैसा खर्च करके पास होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा खर्च करके पास (होता है)! आहाहा!

यह तो आत्मज्ञान, जिसमें कर्म की निर्जरा हो और जिसमें अशुद्धता टल जाये। शुद्धता स्वभाव का भान होने पर, अनुभव होने पर सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता गल जाती है। उसका नाम निर्जरा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? यह अपवास किये और निर्जरा की... (यह बात) गप्पागप्प है। अप-वास, वह तो अपवास है, बुरा वास है। राग का शुभभाव हो, वह बुरा वास है। उप-वास तो उसे कहते हैं कि चैतन्य शुद्ध वस्तु के उप अर्थात् समीप में बसे, अन्दर जाये, एकाकार (हो), आहाहा! ऐसी बात है। उसे यहाँ निर्जर होती है, (ऐसा) कहते हैं। है न?

आहाहा! **ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के पुद्गल द्रव्य (जड़) के परिणमन को हनन करते हैं...** वास्तव में तो यहाँ अशुद्धता टलती है और शुद्धता बढ़ती है, तब कर्म उनके कारण से नाश पाते हैं। वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव के जितने कोई गुण हैं... विशेष (गुण) डाले हैं। संस्कृत में डाले हैं, गुजराती में डाले हैं। यह कहे न? संस्कृत में है, लो! पृष्ठ यह निकला! संस्कृत में है। संवेग, निर्वेद। संवेग (अर्थात्) शुद्धता प्रगट करने

का जिसे अन्दर वेग है। आहाहा! निर्वेद (अर्थात्) पर से, राग से निर्वेद है—उदास है। निन्दा (अर्थात्) राग आदि का कोई विकल्प हुआ हो तो उसकी निन्दा करे। शुभभाव की बात है। गृहणा, उपशम, भक्ति। आत्मा की, हों! और पर की भक्ति—शुभराग। वात्सल्य और अनुकम्पा। वहाँ संस्कृत में ऐसे बोल लिये हैं। इसकी संस्कृत है। '(परम) अध्यात्म तरंगिणी' संस्कृत में यह सब है। सब देखा है न! पाठ में है, हों! संस्कृत में है। सम्यग्दृष्टि के आठ गुण हैं, साथ में यह आठ भी हैं। आहाहा!

तिस कारण सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध परिणाम के होने पर... जितने शुद्ध परिणाम (हुए)—पवित्र सम्यग्दर्शन, ज्ञान, स्वरूपाचरण आदि स्थिरता के जितने परिणाम हुए, वे परिणाम **ज्ञानावरणादि कर्मों का सूक्ष्ममात्र भी बन्ध करते नहीं।** है? वे परिणाम सूक्ष्ममात्र भी बन्ध नहीं करते। इसमें से कोई ऐसा निकाल ले कि, सम्यग्दृष्टि को तो बिल्कुल बन्ध है ही नहीं। ऐसा नहीं है। यह तो जितना शुद्ध परिणमन है, उतना उसे बन्ध नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अभी राग है, संकल्प-विकल्प उठते हैं, उतना आस्रव भी है और उतना बन्ध भी है। सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए बन्धरहित हो गया, ऐसा नहीं है। अरे! चारित्रवन्त सच्चे सन्त मुनि हों, जिन्हें तीन कषाय का अभाव (हुआ हो) और छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हों! क्षण में छठवाँ (प्रमत्त) और क्षण में (सातवाँ) अप्रमत्तदशा के आनन्द का अनुभव (होता हो)! उन मुनि को भी जो छठवें गुणस्थान में आनेवाले महाव्रत आदि के विकल्प उठते हैं, वह बन्ध का कारण है। आहाहा!

यहाँ तो शुद्ध परिणमन है, उससे बन्ध नहीं है, इतना समझना। उसमें से कितने ही ऐसा निकालते हैं कि सम्यग्दृष्टि हुआ, उसे बिल्कुल बन्ध है ही नहीं और आस्रव है ही नहीं। (परन्तु) ऐसा है नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् अभी जितना राग भाग उत्पन्न होता है, उतना आस्रव भी है, उतना बन्ध भी है, उतना कर्मबन्धन होता है। आहाहा! दसवें गुणस्थान तक छह कर्म का बन्ध है। थोड़ा लोभ है न? लोभ! दसवें (गुणस्थान में) तो छह कर्म का बन्ध होता है, ऐसा पाठ है। आहाहा! दसवें गुणस्थान में लोभ का अंश है, वहाँ छह कर्म बँधते हैं। यदि दसवें में बँधते हैं तो चौथे, पाँचवें, छठवें में बिल्कुल बन्ध नहीं? जितना राग उत्पन्न होता है, उतना तो उसे आस्रव और बन्ध है। परन्तु यहाँ शुद्ध परिणमन है, वह बन्ध का कारण नहीं। समझ में आया?

खींचतान कर डाले कि सम्यग्दृष्टि हुआ, उसे राग भी नहीं और उसे द्वेष भी नहीं, (ऐसा नहीं है)। समकिती को चौथे, पाँचवें (गुणस्थान में) आर्तध्यान और रौद्रध्यान भी होता है। छठवें गुणस्थान में आर्तध्यान होता है, रौद्रध्यान नहीं। आहाहा! जितने अंश में राग आया, उतने अंश में तो बन्ध है। आहाहा! समझ में आया?

श्रेणिक राजा, लो! श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती, तीर्थंकर गोत्र बाँधा है। वर्तमान में पहले नरक में हैं। चौरासी हजार वर्ष की स्थिति है। वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी के पहले तीर्थंकर होंगे। क्षायिक समकिती। उन्हें मृत्यु के समय जहर खाने का भाव हो गया। उनका पुत्र जेल में मारने आया, वह (वास्तव में) मारने नहीं आया था, आया तो था छुड़ाने, परन्तु उन्हें शंका पड़ी कि इसने मुझे जेल में डाला है, मारने आया (लगता) है। जहर पिया। इतना राग तो है। क्षायिक समकिती हैं तो इतना राग है, उतना बन्ध है और उतना आस्रव है। समझ में आया?

मुमुक्षु : गुणस्थान अनुसार बन्ध तो होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जितना राग है, उतना बन्ध होता ही है। यहाँ ते जितना शुद्ध परिणमन हुआ है, उससे बन्ध नहीं है, उससे निर्जरा है, इतना कहना है। आहाहा! उसमें से ऐसा निकाले कि सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिए उसे कोई बन्ध ही नहीं, राग ही नहीं, दुःख ही नहीं। जितना राग है, उतना दुःख है। समय में आया? आत्मा के आनन्द का जितना अनुभव आया, उतना सुख है और जितना राग आता है, उतना दुःख है। मिथ्यादृष्टि को अकेला दुःख है, केवली को अकेला आनन्द है, साधक को आनन्द और दुःख दोनों साथ में है। समझ में आया, क्योंकि अपूर्ण है न? जब तक पूर्ण आनन्द (प्रगट) न हो तब तक आकुलता का राग आता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यहाँ पहले कहा न? **सूक्ष्ममात्र भी बन्ध कभी नहीं।** परन्तु किसके कारण? कि इस जीव को **शुद्ध परिणाम के होने पर...** वह जितने शुद्ध परिणाम हुए, उसके कारण। उसमें से कितने ही ऐसा निकालते हैं कि समकिती को शुद्ध परिणाम होते हैं, जरा भी अशुद्ध नहीं होते। ऐसा नहीं है। अशुद्ध न हो तो वीतरागता (पूर्ण) होनी चाहिए। आहाहा! समझ में आया?

भाषा इतनी लेना कि **शुद्ध परिणाम के होने पर... 'अस्मिन्'** सम्यग्दर्शन, वह शुद्ध परिणाम है। सम्यग्दर्शन के जो आठ अंग हैं, वे शुद्ध है। आहाहा! वे **शुद्ध परिणाम के होने पर...** उसके कारण आंशिक बन्ध नहीं। परन्तु पूर्व का थोड़ा कर्म (उदय) आया वह खिर जाता है। समझ में आया? वीतरागमार्ग तो अनेकान्त है। ऐसा एकान्त मान लेना कि सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए बिल्कुल आस्रव और बन्ध है ही नहीं, ऐसा नहीं है। आस्रव, बन्ध बिल्कुल (न हो ऐसा) तो तेरहवें (गुणस्थान) में केवली को होता है। आहाहा! अरे! चौदहवाँ गुणस्थान है, वहाँ तक असिद्ध है। वहाँ तक सिद्ध नहीं हुए, इसलिए असिद्ध है। उदयभाव के २१ बोल आते हैं न? उदयभाव के २१ बोल (आते हैं)। तत्त्वार्थसूत्र (में आते हैं)। २१ बोल में असिद्धभाव लिया है। असिद्ध! अभी सिद्ध नहीं (हुए) तो इतना दोष है। आहाहा! वहाँ तक संसारी कहा है। असिद्ध अर्थात् सिद्ध नहीं। चौदहवें गुणस्थान में भी अभी प्रतिजीवी गुण का विपरीत परिणमन है। आहाहा! कठिन बातें, बापू! समझ में आया?

यहाँ तो **शुद्ध परिणाम के होने पर...** यह परिणाम की अपेक्षा से ऐसा लिया। परन्तु उसे शुद्ध परिणाम हुए, इसलिए बिल्कुल बन्ध ही नहीं है, ऐसा नहीं है। चौथे में तो अभी तीन कषाय का राग है, पाँचवें में दो कषाय का राग है, छठवें में एक संज्वलन का राग है। जितना राग है, उतना बन्ध तो है। आहाहा! फिर कहते हैं न? ज्ञानी के भोग निर्जरा का हेतु है। यह आता है, आ गया। यह किस अपेक्षा से? भोग का भाव तो पाप है। परन्तु दृष्टि में शुद्धता पड़ी है और उसकी मुख्यता करके भोग का भाव खिर जाता है, ऐसे मुख्य करके कहा है। गौणरूप से तो भोग का भाव पाप है। ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है तो फिर भोग छोड़कर अन्दर वीतरागता प्रगट करना तो रहती नहीं। समझ में आया? ऐसे एकान्त पकड़े तो ऐसा नहीं चलता। आहाहा!

मुमुक्षु : भोग के समय निर्जरा होती है, इतनी शुद्धता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मुख्यता की दृष्टि से, द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से निर्जरा कहा। परन्तु गौणरूप से अन्दर राग है, उतना बन्ध है। आहाहा! अभी पूर्ण शुद्धता हो गयी है? पूर्ण शुद्धता तो केवलज्ञान में है। आहाहा! भाई! यहाँ परमात्मा के मार्ग में तो समय-समय का लेखा है। यहाँ बहुत कहते हैं, अभी बड़ा विवाद यह है न? कि **शुद्ध**

परिणाम के होने पर... कर्म का सूक्ष्ममात्र भी बन्ध नहीं है। यह शुद्धता की अपेक्षा की बात है। जितनी अभी अशुद्धता बाकी है (उतना बन्ध है)। समकिती को बाकी है, पाँचवें में बाकी है, मुनि को बाकी है। आहाहा! दसवें (गुणस्थान) तक अशुद्धता है। बापू! यह बात है, उसका निषेध नहीं होता। उसे कुछ बन्ध ही नहीं, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

शुद्ध परिणाम के होने पर कर्म का... 'मनाक् बन्धः' है न? आहाहा! थोड़ा भी बन्ध **'पुनः अपि नास्ति' कभी भी नहीं।** ऐसा कहा, लो! जितने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता के परिणाम हुए, उतने शुद्ध हैं। उन शुद्ध परिणाम से बन्ध नहीं है। समझ में आया? वहाँ अभी पूर्ण शुद्ध नहीं है। पूर्ण शुद्ध हो, तब तो वीतराग हो जाये, केवली हो जाये। आहाहा! जब तक यथाख्यातचारित्र प्रगट न हो, तब तक तो अशुद्धता है। आहाहा! समझ में आया?

यह विवाद है न? दीपचन्दजी सेठिया को यही दिक्कत थी न? अभी वडोद में कुछ यह चर्चा चली है। वडोद... वडोद। कोई मुमुक्षु पढ़ता होगा वह ऐसा कहता है कि समकिती को बिल्कुल राग होता ही नहीं। यहाँ का वाँचनकार कोई मुमुक्षु होगा। वडोद... वडोद। (एक) भाई वहाँ गये होंगे, (उन्होंने कहा) ऐसा नहीं है। यहाँ की ओर का वाँचन होगा तो वह कहे उसे बिल्कुल बन्ध नहीं। राग है ही नहीं। अरे! ऐसा नहीं, भाई! देवीलालजी! कौन वाँचता होग? कुछ नाम नहीं दिया। अधेड़ व्यक्ति था, ऐसा लिखा है। अधेड़ अर्थात् आधेड़। हमारे आधेड़ कहते हैं न? ४०-५० वर्ष के कोई (भाई) आधेड़ मन्दिर में वाँचन करते होंगे। ऐसा नहीं होता। आहाहा!

धर्मी को तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और जितनी स्वरूप की शुद्धता प्रगट हुई है, उतना बन्ध का कारण नहीं और जितना अशुद्ध भाव है, वह समकिती को, पंचम गुणस्थानवाले को, मुनि को जितनी अशुद्धि बन्ध का कारण है। ऐसा करके स्वच्छन्द करे (कि) सम्यग्दृष्टि हुए इसलिए हमारे अब कोई बन्ध नहीं है। वह तो स्वच्छन्दी है। समझ में आया?

'मनाक् बन्धः' 'पुनः अपि नास्ति' ऐसा है न? थोड़ा भी बन्ध नहीं। उस शुद्ध परिणाम से थोड़ा भी बन्ध नहीं, ऐसा लेना। परन्तु उसे बिल्कुल बन्ध ही नहीं, ऐसा नहीं

लेना। वह तो मार्ग से विरुद्ध हो जाता है। आहाहा! क्षायिक समकिती श्रेणिक राजा! (उन्हें) जहर खाने का भाव था, वह राग था, दु:ख था। समकित को दोष नहीं। चारित्रदोष से समकित को दोष नहीं, परन्तु चारित्रदोष है, वह दोष है। समझ में आया? चारित्रदोष से समकित को दोष लगे, ऐसा नहीं है। परन्तु समकिती को भी जितनी अशुद्धता आदि चारित्रदोष है, वह जितनी अशुद्धि है, वह बन्ध का कारण है। ऐसा मार्ग है, प्रभु! तब वे ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दर्शन बिना भी हम अपवास और व्रत करें, उसमें हमको निर्जर है! वह मिथ्यात्व है। समझ में आया?

मुमुक्षु : दृष्टिप्रधान कथन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टिप्रधान कथन है। दृष्टि का जोर देते हुए सम्यग्दर्शन का विषय पूरा भगवन पूर्ण है, उसकी दृष्टि का जोर देते हुए उसके भोग को निर्जरा कहा है। परन्तु ऐसा मान ले कि उसका भोग कर्मबन्ध का हेतु है ही नहीं, निर्जरा का हेतु है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! वीतरागमार्ग में ऐसी बात है, अन्यत्र कहीं किसी जगह है नहीं। आहाहा! वास्तव में ऐसी बात तो श्वेताम्बर में भी नहीं है। क्योंकि (उन्होंने) तो कल्पित शास्त्र बनाये हैं। दिगम्बर में से श्वेताम्बर निकले। दो हजार वर्ष हुए। आहाहा! उसमें भी यह वस्तु नहीं है, कल्पित वस्तु है।

यह तो अलौकिक परमात्मा की त्रिकाल दिव्यध्वनि! आहाहा! कहते हैं कि शुद्धता के परिणाम से बन्ध नहीं है। **'तत् पूर्वोपात्तं अनुभवतः निश्चितं निर्जरा एव' 'तत्' ज्ञानावरणादि कर्म—'पूर्वोपात्तं' सम्यक्त्व उत्पन्न होने के पहले अज्ञान राग परिणाम से बाँधा था जो कर्म—उसके उदय को 'अनुभवतः' जो भोगता है...** भोगता है अर्थात्? इतना राग अभी है। तथापि यहाँ उसकी गिनती नहीं गिनकर, भोगता है वह निर्जरा हो जाती है, ऐसा कहा है। परन्तु जितना राग का भोग है, उतना उसे अभी बन्धन है। ज्ञानावरणीय (आदि) आठ कर्म बँधते हैं। चौथे, पाँचवें, छठवें में सात-आठ कर्म बँधते हैं, (ऐसा) नहीं आता? आयुष्य हो तो आठ कर्म बाँधता है और न हो तो सात बाँधता है। .....भाई! ऐसी बात है, बापू!

मुमुक्षु : कर्मों की निर्जरा होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जितनी शुद्धता है, उतने प्रमाण में पूर्व की निर्जरा होती है। परन्तु पूर्व का उदय आया, उसे यहाँ भोगे और भोगे वह पाप परिणाम अशुद्ध है, उसका भी बन्धन न हो, ऐसा नहीं है। यह भगवान का मार्ग स्वच्छन्द (मार्ग) नहीं है।

पुरुषार्थसिद्धि उपाय में आया है। जितने अंश में शुद्धि, उतने अंश में निर्जरा। जितने अंश में राग, उतने अंश में बन्ध। पुरुषर्थासिद्धि उपाय, अमृतचन्द्राचार्य (कृत) आहाहा! वहाँ तो यहाँ तक कहा है कि तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भी अपराध है। शुभभाव है न? पुरुषार्थसिद्धि उपाय में अपराध गिना है। अमृतचन्द्राचार्यदेव (का) मूल पाठ है। तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव शुभ है न? वह कहीं शुद्ध नहीं। शुद्ध से बन्धन होगा? शुभ से बन्धन है। (जितना) शुभ है, उतना राग है। आहाहा! समझ में आया? उतना अपराध है। सम्यग्दृष्टि को भी शुभभाव में तीर्थंकरगोत्र बँधे, उतना अपराध है। पुरुषार्थसिद्धि उपाय में है। अमृतचन्द्राचार्यदेव (का लिखा हुआ है)।

यहाँ तो यह कहा कि भोगता है अर्थात्? (भाव) आते हैं परन्तु उसकी दृष्टि उनके ऊपर नहीं है, इसकी अपेक्षा से निर्जरा है, ऐसा कहा है। परन्तु पर्यायदृष्टि से उसे देखने पर जितना राग भोगता है, उतना उसे बन्धन है। ऐसी बात है। आगे-पीछे करे, वह नहीं चलता। सत्य को सत्यरूप से रखना चाहिए। आहाहा! है?

है? '**ज्ञानावरणादि कर्म का गलना है।** जितना भोगता है, वह सब सम्यग्दृष्टि को गलना है। **कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? शाश्वत् जो स्वपरग्राहकशक्ति...** आहाहा! ज्ञानस्वभाव, भगवान आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव, त्रिकाली सर्वज्ञस्वभाव है, वह स्वपरग्राहक शक्ति है। स्व को, पर को जानने की शक्ति है। वह स्व-पर को जाने, पर को (अपना) माने, ऐसी कोई शक्ति उसमें नहीं है। आहाहा! है?

सर्वज्ञशक्ति आत्मा में है। ४७ शक्ति का वर्णन आया है न? सर्वज्ञशक्ति, आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है। सर्वदर्शीशक्ति है, प्रभुत्वशक्ति है। यह सर्वज्ञशक्ति है, वह तो स्व-पर को जानने की शक्तिवाला तत्त्व है। उसमें से जो पर्याय प्रगट हो, वह भी स्व-पर को जानने की ताकतवाली है।

उससे परिपूर्ण ऐसा प्रकाशगुण, वही है आदि मूल जिसका ऐसा जो जीवद्रव्य,...

आहाहा! ऐसा जीवद्रव्य है, कहते हैं। परिपूर्ण ज्ञान शक्ति से भरपूर भगवान, उसे जिसने समकित में अनुभव किया, माना और जाना, ऐसा जीवद्रव्य। **उसका अनुभव करने में समर्थ है।** आनन्द और ज्ञान का अनुभव करने में समकिती समर्थ है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्या कहते हैं?

आत्मा में ज्ञ—ज्ञान स्वभाव है, वह स्व-पर को जानने की शक्तिवाला तत्त्व है। सम्यग्दृष्टि उसे अनुभव करता है। राग को अनुभव करता है, उसे यहाँ गौण करके अकेला ज्ञायक शक्ति को ही अनुभव करता है, ऐसा कहा गया है। समझ में आया? प्रवीणभाई! आहाहा! **उसका अनुभव करने में समर्थ है।**

ऐसा है सम्यग्दृष्टि जीव, सो उसके नूतन कर्म का बन्ध नहीं है, पूर्वबद्ध कर्म की निर्जरा है। इतनी अपेक्षा से। जितनी शुद्धता प्रगटी है, उतनी पूर्व के उदय की निर्जरा है। बन्ध है नहीं। निर्मल... निर्मल... निर्मल... भगवान परमात्मा, ऐसे निर्मल स्वरूप की दृष्टि और अनुभव हुआ है, उसे निर्मलता के कारण से अशुद्धता गलकर कर्म गलते हैं, इतना कहने का आशय है। परन्तु अशुद्धता है, उतना बन्धन है, वह भी गौण में जानना चाहिए। विशेष लेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६२

(मन्दाक्रान्ता)

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य।।३०-१६२।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'सम्यग्दृष्टिः ज्ञानं भूत्वा नटति' [सम्यग्दृष्टिः] शुद्धस्वभावरूप होकर परिणत हुआ जीव, [ज्ञानं भूत्वा] शुद्धज्ञानस्वरूप होकर, [नटति] अपने शुद्धस्वरूपरूप परिणमता है। कैसा है शुद्धज्ञान? 'आदिमध्यान्तमुक्तं' अतीत, अनागत, वर्तमानकालगोचर, शाश्वत है। क्या करके? 'गगनाभोगरंगं विगाह्यं' [गगन] जीव का शुद्धस्वरूप है [आभोगरंगं] अखाड़े की नाचने की भूमि, उसको [विगाह्यं] अनुभवगोचर करके, ऐसी है ज्ञानमात्र वस्तु। किस कारण से? 'स्वयं अतिरसात्' अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय जो सुख, उसे प्राप्त होने से। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'नवं बन्धं रुन्धन्' [नवं] धाराप्रवाहरूप परिणमा है जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलपिण्ड, ऐसा जो [बन्धं] जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाहरूप, उसको [रुन्धन्] मेटता हुआ; क्योंकि 'निजैः अष्टाभिः अंगैः संगतः' [निजैः अष्टाभिः] अपने ही निःशंकित, निःकांक्षित इत्यादिरूप कहे जो आठ [अंगैः] सम्यक्त्व के सहारे के गुण, उनसे [संगतः] भावरूप परिणमा है, ऐसा है। और कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'तु प्राग्बद्धं कर्म क्षयं उपनयन्' [तु] दूसरा कार्य ऐसा भी होता है कि [प्राग्बद्धं] पूर्व में बांधा है जो ज्ञानावरणादि [कर्म] पुद्गलपिण्ड, उसका [क्षयं] मूल से सत्तानाश [उपनयन्] करता हुआ। किसके द्वारा? 'निर्जरोज्जृम्भणेन' [निर्जरा] शुद्धपरिणाम के [उज्जृम्भणेन] प्रगटपना के द्वारा।।३०-१६२।।

कार्तिक कृष्ण १४, शुक्रवार, दिनांक-०९-१२-१९७७, कलश-१६२, प्रवचन-१७१

कलशटीका १६२ अन्तिम कलश। निर्जरा (अधिकार) को अन्तिम (कलश)।

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य।।३०-१६२।।

'सम्यग्दृष्टिः ज्ञानं भूत्वा नटति' सम्यग्दृष्टि अर्थात् शुद्ध स्वभावरूप होकर परिणत हुआ जीव... आहाहा! अनादि से अशुद्ध परिणमनवाला जीव और वह मैं, (ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अशुद्ध विकार का, मिथ्यात्व का परिणमन है, वह अशुद्ध परिणमन वह मैं, ऐसा जो मिथ्यात्व भाव, उसे अकेली अशुद्ध परिणति ही होती है। संसार में भटकने की दशा (उसे कहा जाता है)। उसके सामने यह सम्यग्दृष्टि (जीव की बात कहते हैं)।

यह सम्यग्दृष्टि शुद्ध स्वभावरूप होकर परिणमित हुआ है। द्रव्य का जो पवित्र शुद्ध वस्तु का स्वभाव, उसरूप जिसका परिणमन हुआ है। आहाहा! त्रिकाल अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, पवित्रता का पिण्ड है। उसकी पवित्रता के दृष्टि के लक्ष्य से जो पवित्रता का वर्तमान में परिणमन—दशा होती है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! उसे परिभ्रमण रहित कहते हैं। समझ में आया? और जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, उसका जिसे आश्रय और अवलम्बन नहीं और अकेले पुण्य और पाप के मिथ्यात्व भाव के अवलम्बन में परिणमन में है, वह परिभ्रमण में अनन्त भव में भटकनेवाला है। आहाहा! यह (सम्यग्दृष्टि जीव) अनन्त भव के अभावस्वभावरूप है। सूक्ष्म बात है। रविवार को वाँचना, वह वेदान्त का आया है न? व्याख्यान के बाद सुननेयोग्य है। परसों वे भावनगरवाले आवे न जरा।

अपने शुद्ध स्वरूपरूप परिणमता है। आहाहा! '**ज्ञानं भूत्वा**' पहली व्याख्या तो की—सम्यग्दृष्टि की व्याख्या की। '**सम्यग्दृष्टिः ज्ञानं भूत्वा नटति**' अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि

शुद्ध स्वभावरूप होकर '**नटति**' अर्थात् परिणमता है। आहाहा! अज्ञानी विकाररूप होकर परिणमता है और नाचता है। आहाहा! चाहे तो वह पंच महाव्रत के परिणाम (हों तो भी) अशुद्ध है और उसरूप परिणमकर नाचता है और वे मुझे लाभदायक हैं, यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की व्याख्या करके पश्चात् '**ज्ञानं भूत्वा**' (कहा)।

'**सम्यग्दृष्टिः ज्ञानं भूत्वा**' अर्थात् शुद्ध स्वरूप का जिसे अन्तर परिणमन है, वह '**ज्ञानं भूत्वा**' (अर्थात्) स्वभावभूत होकर परिणमता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा। '**ज्ञानं भूत्वा**' **शुद्ध ज्ञानस्वरूप होकर... अपने शुद्ध स्वरूपरूप...** '**नटति**' है? '**नटति**' अर्थात् परिणमता है, नाचता है। आहाहा! बात बहुत (सरस आयी है)। धर्मी उसे कहते हैं, सुख के पंथ में गया उसे कहते हैं और जन्म-मरण का अन्त जिसे आया उसे कहते हैं कि जो शुद्ध स्वरूप से '**नटति**' आहाहा! जैसा उसका त्रिकाली शुद्ध स्वभाव है, उसरूप जो नाचता है अर्थात् परिणमता है। आहाहा! ऐसी बात है।

('**सम्यग्दृष्टिः**) **ज्ञानं भूत्वा**' है न? **शुद्ध ज्ञानस्वरूप...** ज्ञान को यह शब्द लागू किया—शुद्ध ज्ञान। शुद्ध ज्ञान अर्थात् शुद्ध आत्मा। शुद्ध आत्मा होकर अपने शुद्ध स्वरूप से नाचता है, परिणमता है। आहाहा! यहाँ तो अभी (लोग) सम्यग्दृष्टि की व्याख्या (ऐसी करते हैं कि) साधारण (कि) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (हो, वह सम्यग्दृष्टि), ऐसा मानकर बैठते हैं। आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है, ऐसा सिद्ध करेंगे। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो बन्ध है, वही मुख्य बन्ध—संसार है। इसलिए यह जो भाव टला है, मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धा का परिणमन और अनन्तानुबन्धी का अस्थिरता का उग्र परिणमन, वह जिसे गया है, उसे सम्यग्दर्शन में नया मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से बन्ध नहीं होता, वह बन्ध नहीं होता। जरा राग आदि होता है, उसके कारण बन्ध भी है, परन्तु वह बन्ध अल्पस्थिति और अल्प रसवाला है। इसलिए मुख्यरूप से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के कारण जो बन्धन था, वह बन्धन इसे नहीं है। इसलिए बन्धन नहीं करता, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? आहाहा!

अर्थ में सब किया है। अपने यह गुजराती अर्थ में सब किय है। अविरती सम्यग्दृष्टि

को तुम बन्ध नहीं कहते तो उसे चारित्रमोह का उदय (तो) है, राग होता है, घातिकर्म है तो गुण की पर्याय भी कितनी ही घात होती है और उसे तो तुम कहते हो कि बन्धन नहीं? कहा, भाई! यहाँ मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के भाव को ही बन्ध का कारण गिना है। मुख्य मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, वही संसार है और वही बन्धन है, और वही मिथ्यात्व है, वह आस्रव है। आहाहा! ऐसा (कहा) परन्तु इससे गौणरूप से जो रागादि हैं, वे आस्रव हैं और बन्ध हैं, उनका यहाँ निषेध नहीं। परन्तु उन्हें गौण गिनकर बन्धन नहीं, ऐसा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? अर्थ में सब है। मूल समयसार (में) बहुत लम्बा लेख है। आहाहा!

यहाँ (कहते हैं), **अपने शुद्ध स्वरूपरूप परिणमता है। कैसा है शुद्ध ज्ञान?** ज्ञान अर्थात् आत्मा। शुद्ध स्वरूप भगवान आत्मा कैसा है? '**आदिमध्यान्तमुक्तं**' जिसकी आदि नहीं, जिसका मध्य नहीं, जिसका अन्त नहीं। उससे (आदि-मध्य-अन्त से) वह रहित है। आहाहा! भगवान आत्मा... पर्याय है, उसकी आदि भी है और पर्याय का अन्त भी है। परन्तु वस्तु जो है, उसकी आदि भी नहीं, मध्य नहीं, अन्त नहीं। उत्पत्ति नहीं, विनाश नहीं। वह ध्रुव आदि, मध्य, अन्त से मुक्त है। आहाहा! ऐसा जो यह भगवान आत्मा, नित्यानन्द प्रभु, आहाहा! वह आदि-मध्य-अन्त से रहित है।

अतीत... अतीत अर्थात् भूतकाल। **अनागत...** अर्थात् भविष्य। **वर्तमान...** यह वर्तमान। इन **कालगोचर शाश्वत् है। 'तुक्तं'** अर्थात् उससे रहित है अर्थात् शाश्वत् है। आदि, मध्य, अन्त से रहित है अर्थात् शाश्वत् वस्तु है। आहाहा! वह शाश्वत् वस्तु है, उसकी दृष्टि करने से जो सम्यग्दर्शन होता है, उसमें अकेला शुद्ध का परिणमन गिनने में आया है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी व्याख्या और यह सब (समझना)। बाहर से माँडकर बैठे—यह सामायिक की और प्रतिक्रमण किया, दान दिया और मन्दिर बनाया.... बापू! वह तो पुण्य की क्रिया, उसके कारण से होती है। उसमें राग की मन्दतावाला जीव हो तो उसे शुभभाव—पुण्य बँधता है। वह कहीं धर्म नहीं या धर्म का कारण भी नहीं। आहाहा!

धर्म और धर्म का कारण—धर्म उसे कहते हैं कि जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष

रहित शुद्ध परिणमन होता है, उसे धर्म कहते हैं और उस धर्म का कारण त्रिकाली शाश्वत् द्रव्य है। समझ में आया? आहाहा!

क्या करके? 'गगनाभोगरङ्गं विगाह्य' 'गगन' जीव का शुद्धस्वरूप... जैसे आकाश निर्मल है, वैसे आत्मा शुद्ध निर्मल स्वरूप है, उसे गगन कहा। दूसरा अर्थ किया है कि आकाश में रमते हैं। परन्तु यह गगन। **जीव का शुद्धस्वरूप...** यह शुद्धस्वरूप त्रिकाली शुद्धस्वरूप ही है। पर्याय में जो अशुद्धता एक क्षण की, एक समय की है, इसके अतिरिक्त पूरी चीज़ शुद्ध ही है। समझ में आया? वह त्रिकाल आनन्द का नाथ प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है।

मस्तिष्क में एक ऐसा विचार आ गया। श्रुत को अनीन्द्रिय कहा है न! 'श्रुतम् अणिन्द्रियम्' भाई! तत्त्वार्थसूत्र में भले मन अर्थ किया। मन से। परमार्थ से श्रुतज्ञान अनीन्द्रिय है। अन्दर जो भावश्रुतज्ञान (हुआ), आत्मा के आश्रय से शुद्ध परिणमन (हुआ), वह अनीन्द्रिय है। अपने दोपहर में आ गया था न? उसमें—मस्तिष्क में आया। अनीन्द्रियम् भगवान है। तत्त्वार्थसूत्र में ऐसा लिया कि '**श्रुतम् अणीन्द्रियम्',** पण्डितजी! अनीन्द्रिय का अर्थ वहाँ मन किया है। श्रुतज्ञान में मन है, वह व्यवहार से बात की है। आहाहा! और मति में भी मन और इन्द्रिय कहा है। मन अर्थात् अनीन्द्रिय और इन्द्रिय। अनीन्द्रिय और इन्द्रिय जिसमें निमित्त है। अर्थात् निश्चय से तो अनीन्द्रिय अपना स्वभाव और व्यवहार से मन का, इन्द्रिय का सम्बन्ध है, वह व्यवहार है। अन्तर में जो मति और श्रुतज्ञान है, स्व चैतन्य के अवलम्बन से हुआ, वह तो अनीन्द्रिय ही है। समझ में आया? यह तो दोपहर में आया था न? उसे मन और इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है। ऐसा जो अनीन्द्रिय ज्ञान है अथवा उसे मन और इन्द्रिय से हुए ज्ञान की भी जिसे अपेक्षा नहीं है। मन और इन्द्रिय के निमित्त से हुआ जो क्षयोपशमज्ञान, उसकी भी जिसे सम्यग्ज्ञान में अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? क्योंकि नियमसार में दूसरी गाथा में कहा कि निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान परम निरपेक्ष है। समझ में आया? जो आत्मा अन्दर परमानन्द का नाथ प्रभु, उसकी अनुभव में प्रतीति और उसका ज्ञान और उसकी रमणता (हुई), वह निश्चय मोक्षमार्ग परम निरपेक्ष है। अर्थात् कि उसे राग के व्यवहार की कोई अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो यह आया न ? '**गगन**' शुद्ध जीवस्वरूप एक गगन... आहाहा ! '**विगाह्य**' अवगाहता है, अन्दर अवगाहता है। मन और राग का अवलम्बन छोड़कर... आहाहा ! शुद्ध चैतन्यवस्तु जो महाभण्डार भगवान निधान। है ? वह शुद्ध स्वरूप **अखाड़े की नाचने की भूमि,...** है। आहाहा ! अखाड़ा होता है न ? वैसे यह शुद्ध स्वरूप ध्रुव, यह नाचने की—परिणमन की भूमिका यह है। आहाहा ! ऐसी बातें ! कभी करने का कुछ सूझा नहीं हो और बाहर की बातों में पड़े, ऐसे के ऐसे मर गये। आहाहा !

कहते हैं कि **जीव का शुद्धस्वरूप है... 'आभोगरङ्गं' अखाड़े की नाचने की भूमि,...** अर्थात् शुद्ध परिणमन की वह भूमि है। आहाहा ! समझ में आया ? शुद्ध जीव स्वरूप, त्रिकाली शुद्ध स्वरूप में नाचने का वह अखाड़ा है अर्थात् परिणमने का वह अखाड़ा है। आहाहा ! भाषा भी कैसी ? भगवान शुद्ध चैतन्य भूमि... शुद्ध चैतन्य भूमि, उसे शुद्ध परिणमन की भूमिका वह है। आहाहा ! शुद्ध परिणमन का वह अखाड़ा है, वह जगह है, वह स्थान है। आहाहा ! समझ में आया ? यह तो ऐसी बात है, भाई !

अखाड़े की भूमि, उसको अनुभवगोचर करके,... देखो ! क्या कहते हैं ? जो आत्मा ध्रुव अनादि-अनन्त, आदि-मध्य-अन्तरहित, मुक्त है, वह शुद्ध परिणमन की भूमिका—स्थान है। उस स्थान को अवगाहकर, ऐसी बात है। '**विगाह्य**' है न ? (अर्थात्) अनुभवगम्य करके। आहाहा ! जो प्रभु आत्मा शुद्ध स्वरूप से सम्यग्दृष्टि परिणमा है, वह बात पहले कही। अब उस शुद्ध परिणमन की भूमि क्या ? कि शुद्ध आदि-मध्य-अन्तरहित वस्तु। उसके ऊपर परिणमन (होता है)। वह नाचने की भूमि है। आहाहा ! ध्रुव वस्तु, वह नाचने की परिणमन की भूमिका है। आहाहा ! जन्म-मरण (रहित होने की) पद्धति तो यह है। बाकी सब जन्म-मरण कर-करके कचूमर निकल गया, उसकी इसे थकान नहीं लगती। आहाहा !

भगवान पवित्र परिणमन का स्थान—भूमिका तो त्रिकाली द्रव्य है। आहाहा ! वैसे त्रिकाली द्रव्य को '**विगाह्य**' अर्थात् कि अनुभव करके। आहाहा ! त्रिकाली ध्रुव शुद्धस्वरूप, वह शुद्ध परिणमन का अखाड़ा—जगह है.... आहाहा ! उसे '**विगाह्य**' विशेष करके अन्दर पकड़कर, अन्दर जाकर परिणमन करना। आहाहा ! ऐसा मार्ग है।

'विगाह्य' अनुभवगोचर करके,... अर्थात्? अनुभवगम्य करके। अनुभव में ज्ञात हो जाये, ऐसा करके। आहाहा! वह त्रिकाली चीज़ आनन्द का नाथ प्रभु, उसमें **'विगाह्य'** (अर्थात्) अनुभव करके। अर्थात् उसे बराबर ज्ञान में लाकर। आहाहा! उस स्वरूप में जाकर अथवा ज्ञान की पर्याय में उसे लाकर। ऐसी बातें हैं। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर होने का मार्ग, (जो) हुए हैं, वे होने का मार्ग कहते हैं। पूर्ण स्वरूप वीतराग मोक्ष की मुक्तदशा प्राप्त—भावमुक्ति (पाये हुए), वे मुक्त होने का यह उपाय है, ऐसा वर्णन करते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : लीला लहर है!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

अनुभवगोचर करके,... अर्थात्? वह वस्तु जो अनादि से अगम्य थी, उसे वर्तमान ज्ञान में गम्य करके। वर्तमान ज्ञान उसमें जाकर जो वस्तु ग्राह्य हो जाये, गम्य हो गयी। ज्ञान की पर्याय में वह चीज़ कितनी है, कैसी है, यह ख्याल में आ गया। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लोगों को कठिन लगे। यह व्रत, तप और भक्ति करते-करते (होता है), उसे साधन कहो, वरना तुम्हारा एकान्त है, ऐसा (लोग) कहते हैं। आहाहा! कुछ नहीं, बापू! उन्हें बैठा हो वह कहे। मार्ग तो यह है। आहाहा! व्रत, तप, भक्ति वह तो विकल्प—राग है। वह तो स्वरूप में नहीं और यहाँ स्वरूप को ग्राह्य करना है, उसमें राग का काम (नहीं), वहाँ व्यवहार का काम ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? पहला निर्धार—निर्णय तो कर। आहाहा! कि ज्ञान की वर्तमान पर्याय को त्रिकाली में **'विगाह्य'** अर्थात् त्रिकाली का पर्याय में अनुभव करके। आहाहा!

ऐसी है ज्ञानमात्र वस्तु। अर्थात् क्या कहा? अनुभवगम्य हो, ऐसी है ज्ञानमात्र वस्तु। आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय से अनुभव हो सके और गम्य हो सके, ऐसी वस्तु है। राग और पुण्य से गम्य हो सके, ऐसी वह चीज़ नहीं। आहाहा! यहाँ तो भगवत्स्वरूप, सब परमात्मस्वरूप से अन्दर हैं। उसे अवगाहे जा! (ऐसा) कहते हैं। जैसे समुद्र में मोती लेने जाते हैं न? अन्दर प्रवेश करते हैं। आहाहा! ध्रुव आदि-मध्य-अन्त रहित, आदि-मध्य-अन्त से मुक्त है, रहित है। ऐसी शाश्वत् वस्तु भगवान आत्मा का **'विगाह्य'**

उसे ग्राह्य कर—विशेष ग्रहण कर। अर्थात् उसका अनुभव कर। आहाहा! और वह अनुभवगम्य हो सके, ऐसी वह चीज़ है। समझ में आया? वह व्यवहार दया, दान के विकल्प हैं, उनसे आत्मा गम्य हो सके, ऐसी (वह) चीज़ नहीं। आहाहा! अरेरे! व्यवहार का बड़ा विवाद। कहीं साधन कहा हो तो (उसे) लग पड़े। परन्तु बापू! वह तो जिसे अन्तर साधन हो गया है, उसे उस राग की मन्दता का आरोप देकर साधन कहा है। परन्तु क्या हो? भाई! आहाहा!

यहाँ तेरा नाथ अन्दर विराजता है न, कहते हैं। आहाहा! उसे अवगाह में तो ज्ञान की दशा ही काम आवे। आहाहा! दया, दान, व्रत और भक्ति के परिणाम वहाँ काम नहीं करते। आहाहा! क्योंकि वह तो राग है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

ऐसी है ज्ञानमात्र वस्तु। कैसी? कि अनुभवगोचर हो सके ऐसी। ज्ञान से गम्य हो सके ऐसी। राग और पुण्य से गम्य हो सके, ऐसी वह वस्तु नहीं है। आहाहा! है? आहाहा! **किस कारण से? 'स्वयं अतिरसात्'** आहाहा! **'स्वयं अतिरसात्'; अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय जो सुख उसे प्राप्त होने से। 'अतिरस'** का अर्थ किया। आहाहा! स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसे ज्ञान से गम्य करने से उसे अनाकुल आनन्द का रस आता है। आहाहा! श्लोक भी कैसा! आहाहा! यह सिद्धान्त कहलाता है! आहाहा! सिद्ध हो गयी वस्तु और सिद्ध होने की वस्तु। आहाहा!

कहते हैं कि **'स्वयं अतिरसात्'** वह स्वयं वस्तु जो ज्ञानगम्य और अनुभवगम्य हो, वह अनाकुल आनन्दरसमय है। इसलिए उसकी पर्याय में स्वयं अति रस आता है। अतीन्द्रिय आनन्द का रस आता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश कैसा लगे? कान्तिभाई! सूक्ष्म... सूक्ष्म लगे सब। बापू! भाई! तेरी चीज़ ऐसी है अन्दर, आहाहा! उसे कहते हैं, मन काम नहीं करता, इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, राग काम नहीं करता—ऐसी वह चीज़ है। वहाँ तो वह अतीन्द्रिय आनन्द के रसवाली चीज़ अनुभवगम्य होने पर उसे आनन्द का अति रस आता है। आहाहा! राग में एकाग्र होने पर तो वहाँ जहर का रस आता है। यहाँ आनन्द का (रस) है, वहाँ आकुलता का रस है। चाहे तो वह पुण्य के परिणाम हो या पाप के, आहाहा! वे सब आकुलता के रसवाले हैं। आहाहा!

संसार के पठन, संसार के धन्धे के भाव, वे सब कहते हैं कि जहर के—आकुलता के रसवाले हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा, '**स्वयं अतिरसात्**' स्वयं (अर्थात्) जिसके अतीन्द्रिय आनन्द को किसी पर की अपेक्षा नहीं। आहाहा! स्वयं अति अतीन्द्रिय आनन्दमय है परन्तु उसके अनुभव के लिये '**अतिरसात्**' दशा प्रगट होती है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

'**स्वयं अतिरसात्**' वह तो **अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय जो सुख...** है। **उसे प्राप्त होने से।** ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान ज्ञानगम्य होने पर ज्ञान की पर्याय में वह वस्तु ज्ञात होने से जो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसे वह पाता है। समझ में आया? ऐसी चीज़ है।.....

वेदान्त का एक पत्र आया है। परसों पढ़ेंगे, सब भावनगरवाले (आवें तब)। अमरेली का वेदान्ती है। भाई हिम्मतलाल ने यह बहिन का वचनामृत दिया होगा, (उसे) पढ़कर... आहाहा! वह पत्र आयेगा। परसों बात। ओहोहो! यह पुस्तक क्या है, यह वह! यह तो अनुभूति का आकार बाहर आया है! है न उसमें? वह वेदान्ती (ऐसा लिखता है)! कोई वेदान्ती है। भाई ने दिया होगा। आहाहा! ऐसी कोई पुस्तक बाहर आयी है! वह ऐसे प्रसन्न-प्रसन्न हो गया, वेदान्ती! आत्मा के जिज्ञासु के लिये यह परम सुशास्त्र है, ऐसा (लिखा है)। आहाहा! परन्तु जिसे गरज हो उसे। जिसे आत्मा की गरज हो, उसके लिये है। भूखे को भोजन, तृप्ति और पुष्टि। आहाहा! यह तो बापू! मार्ग यह है न, भाई! आहाहा!

(यहाँ कहते हैं), '**स्वयं अतिरसात्**' आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अनाकुल लक्षण स्वरूप है और उसे ज्ञानगम्य करने से वह अतीन्द्रियरस को पाता है। क्या कहा, समझ में आया? जहाँ हो वहाँ दो (बातों की) अधिक मुख्यता कहते हैं—ज्ञान और आनन्द, ज्ञान और आनन्द। जहाँ आत्मा अपने स्वयं ज्ञान से जहाँ अन्दर ग्राह्य होता है—अनुभव करता है, वस्तु का अनुभव (होता है), वह ज्ञानगम्य से होता है। निर्मल परिणति से अन्दर (ज्ञायक) ग्राह्य होता है। उसके साथ अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्दस्वरूप

भगवान भी उसमें प्राप्त होता है। ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय की प्राप्ति होती है। आहाहा!

एक-एक श्लोक में कितना डाला है! आहाहा! यह वीतराग परमात्मा जिनेन्द्रदेव के भक्त समकिती ज्ञानी... आहाहा! यह तो मुनि हैं। टीका में मुनि अर्थ किया है। आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा वर्तमान ज्ञान से वस्तु को '**विगाह्य**' (अर्थात्) अनुभव करे। आहाहा! तब उसे अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान को पर्याय में पाता है। अतीन्द्रिय आनन्द पर्याय में पाता है। आहाहा! ऐसी बात है। उसे दूसरे प्रकार से खतौनी कर डालना, भाई! यह मार्ग नहीं है। आहाहा! प्रभु! तेरे घर की बात तुझसे करें और तुझे न रुचे और घर बाहर की—व्यवहार की बातें रुचे और (ऐसा कहे कि), उससे होता है। समझ में आया? आहाहा! उसका घर अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय है। आदि-मध्य-अन्त से रहित अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उसे वर्तमान ज्ञान से अवगाहते हुए.... आहाहा! वर्तमान ज्ञान की पर्याय को, राग से भिन्न की हुई पर्याय को अन्तर में अवगाहते हुए जो ज्ञान में अनुभवगम्य हो कि यह चीज़ है, उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द प्रभु! वह अतीन्द्रिय आनन्दरस भी पर्याय में प्राप्त होता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

ओहो! अन्तिम श्लोक यह निर्जरा का श्लोक है। एक व्यक्ति कहता है कि तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो, (परन्तु) मैं पन्द्रह दिन में पढ़ गया! बहुत अच्छी बात है, बापू! ऐसा कि पढ़ गया अर्थात् उसमें सब आ गया और तुम तो कहते हो कि ऐसा है और ऐसा है और ऐसा है। अरे... भगवान! उसके एक पद को पहुँच जाना महापुरुषार्थ चाहिए! आहाहा! उसे बहुत कीमत चुकानी पड़ती है। यह एक श्लोक तो देखो! आहाहा! निर्जरा का अधिकार है न! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का नाश होकर सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण की स्थिरता प्रगट हुई। आहाहा! वह कर्म को निर्जरा करती है। और उतना बन्धन नहीं। तीव्र जो अनन्तानुबन्धी है, वह बन्धन नहीं। उसे सर्वथा बन्ध नहीं, ऐसा कोई मान ले तो वह भूलवाला है। यहाँ तो 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही' आहाहा! जिस जगह जिस अपेक्षा से कहा, उस जगह

उस अपेक्षा से समझना। दूसरी अपेक्षा घालमेल करके समझे तो वह वस्तु नहीं बैठेगी। आहाहा!

कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? आहाहा! **'नवं बन्धं रुन्धन्' 'नवं' धाराप्रवाहरूप परिणमा है जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलपिण्ड ऐसा जो बन्ध अर्थात् जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाहरूप, उसको मेटता हुआ,...** नया बन्धन ही मिटा देता है, कहते हैं। इतनी अपेक्षा से, हों! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से जो नया आवरण था, उसे मिटा देता है। समझ में आया? और वही मूल संसार है। मिथ्यात्व, वही संसार; मिथ्यात्व, वह आस्रव; मिथ्यात्व, वह भावबन्ध... आहाहा! मिथ्यात्व, वह दुःख का समुद्र। आहाहा! और भगवान सुख का सागर, उसका सम्यग्दर्शन वह भी सुख के सागर की वहाँ गन्ध आयी है। आहाहा! **'अतिरसात्'** आया न? अतीन्द्रिय आनन्द का रस आया। आहाहा!

कैसा है वह? कि वह नये कर्म को मिटाता हुआ। उसमें सर्वथा मिटाता हुआ, ऐसा नहीं (लेना)। जितने प्रकार से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी गये, उतने प्रकार से मिटाता हुआ, ऐसा लेना। समझ में आया? मूल यही है, संसार के मूल ये हैं। जिसके वृक्ष के मूल तोड़े, उसके पत्ते पन्द्रह दिन में, महीने में सूखकर ही रहेंगे। समझ में आया? इसी प्रकार जिसने वस्तु के स्वरूप की अनुभव दृष्टि करके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का नाश किया, उसने मूल तोड़ डाला। अब अस्थिरता के थोड़े पत्ते बाकी हैं, वे खिर जायेंगे। स्वरूप में स्थिरता करते-करते खिर जायेंगे।

जीव के प्रदेशों से एक क्षेत्रावगाहरूप,... एकक्षेत्रावगाह अर्थात् जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञानावरणादि परमाणु आवे, एक क्षेत्र में रहे। **उसको मेटता हुआ,...** सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञान से ज्ञानस्वरूप भगवान को अवगाहकर—अनुभव करके उसके अतीन्द्रिय आनन्द के रस को प्राप्त करके नये कर्म एकक्षेत्रावगाह आते थे, उन्हें मिटा देता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें! अभी बात किस पद्धति से है, यह बात पकड़ना कठिन पड़े, उसे अन्दर में जाना, वह तो अलौकिक बातें, बापू! आहाहा! और करने का हो तो यही है। आहाहा! बाकी तो सब ठीक है।

एक क्षेत्रावगाहरूप, उसको मेटता हुआ; क्योंकि 'निजैः अष्टाभिः अङ्गैः सङ्गतः'

(क्योंकि) अपने ही निःशंकित, निःकांक्षित इत्यादिरूप कहे जो आठ सम्यक्त्व के सहारे के... देखो ? '**निजैः अष्टाभिः**' अपने अष्टांग अवयव। समकित के साथ रहनेवाले (गुण)। समकित अवयवी है और समकित के साथ आठ बोल (गुण) उसके अवयव हैं। वे साथ में विराजते हैं। आहाहा! समकित के संग में आठ बोल रहे हुए हैं। आहाहा! निःशंक, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। आहाहा! यहाँ निश्चय की बात है, हों! व्यवहार के जो आठ बोल हैं, वे तो पुण्य—विकल्प हैं।

यहाँ तो सम्यक् की संगत कहा है न! पाठ ऐसा है न! देखो! '**निजैः अष्टाभिः अङ्गैः**' निज अर्थात् सम्यग्दर्शन जो है, उसके साथ निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ आठ अंग रहे हुए हैं। सम्यग्दर्शन अंगी है, उसके साथ आठ निश्चय अंग रहे हुए हैं। जिसे अन्दर निःशंकपना प्रगट हुआ है। पूर्ण परमात्मा मैं हूँ, ऐसी निःशंक दशा प्रगट हुई है। जिसे पुण्य के परिणाम की भी आकांक्षा मिट गयी है। आहाहा! समझ में आया ? जिसे प्रतिकूलता (स्वरूप) ज्ञेय को देखकर द्वेष हो, वह टल गया है। जिसे द्वेष नहीं। आहाहा!

अमूढ़दृष्टि। मूढ़दृष्टि गयी है और अमूढ़दृष्टि हुई है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द -स्वरूप के अनुभव की अन्दर प्रतीति जो सम्यग्दर्शन हुआ, उसके आठ अंगसहित वह समकित विराजता है। आहाहा! यह निश्चय की बात है, हों!

'**निजैः अष्टाभिः अङ्गैः सङ्गतः**' अपने अष्टांग से सहित, ऐसा। '**अङ्गैः**' है न ? अपने **निःशंकित, निःकांक्षित इत्यादिरूप कहे जो आठ सम्यक्त्व के सहारे के गुण,...** समकित के साथ रही हुई पर्याय। आहाहा! गुण अर्थात् पर्याय। समझ में आया ? '**अङ्गैः**' आहाहा! यह सब उसके अंग हैं। समकित के सहारे के साथ रहनेवाले आठों निःशंक, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना (आदि गुण हैं)। वात्सल्य—प्रेम, अन्दर आत्मा का प्रेम जगा है। आहाहा! वात्सल्य और प्रभावना (अर्थात्) शुद्ध स्वरूप की प्र—विशेष वृद्धि होना। अन्दर समकित के साथ रहे हुए आठ अंग हैं। आहाहा!

एक जगह आता है न ? कि तुम समकिती हो तो वात्सल्य करो, हमको समझाओ।

समझ में आया ? ऐसा कहा। अरे ! परन्तु यह वात्सल्य कैसा ? बापू ! भाई ! समकिती को वात्सल्य होता है, अर्थात् जो भूलवाले हैं, उन्हें तुम जाकर समझाओ। क्योंकि समकित का वात्सल्य एक अंग है। जगत (के जीवों के) अनेक प्रकार हैं।

मुमुक्षु : कोई समझने गया नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चर्चा करने के लिये, समझाने के लिये आना था, परन्तु तुमने उसे इनकार किया। अरे ! ऐसा कहे न ? बेचारा उसे तो ऐसा हो न ? उसने ऐसा लिखा है कि बातचीत नहीं करते। अपनी बात छोड़ते नहीं और किसी की सुनते नहीं। ऐसी शैली है, बापू ! कठिन बात है, भाई ! आहाहा ! जीव कहाँ अटकता है और कहाँ भूलता है ? यह बातें बहुत कठिन हैं, बापू ! आहाहा !

समकित के सहारे के वे अंग हैं। आहाहा ! उस **भावरूप परिणमा है,...** आहाहा ! समकित के नि:शंक आदि आठ अंग हैं, ऐसे भावरूप परिणमा है। आहाहा ! उसे यहाँ आठ अंग कहा। वे व्यवहार के शुभभाव (रूप) नि:शंक आदि नहीं। आहाहा ! व्यवहार हो, परन्तु यहाँ तो नहीं। यहाँ तो अन्दर के जो निश्चय के हैं, उन्हें यहाँ गिनने में आया है। आहाहा ! यहाँ तो शुद्ध परिणमन लेना है न ! समकित का परिणमन शुद्ध और उसके साथ आठ अंग का शुद्ध परिणमन (लेना है)। आहाहा ! उस शुद्ध परिणमन में तो निश्चय के नि:शंक आदि (गुण) आते हैं। व्यवहार नि:शंक, नि:कांक्षित विकल्प— राग है। वह यहाँ नहीं आते। आहाहा !

यह आठ अंगरूप परिणमा है, ऐसा कहा। पहले ऐसा कहा न ! सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप परिणमा है। इसी प्रकार यह समकितरूप परिणमा है, वैसे यह समकित के आठ अंगरूप भी परिणमा है। आहाहा ! वह वीतरागी पर्यायरूप हुआ है, ऐसा कहते हैं। एक श्लोक में तो पूरे शास्त्र का रहस्य अन्दर आ जाता है। श्रीमद् कहते हैं न कि ज्ञानी का एक वाक्य अनन्त आगम से भरपूर है। नहीं ? आहाहा !

'सङ्गतः' 'सङ्गतः' का अर्थ यह किया। **और कैसा है... ?** आहाहा ! **ऐसा है। और कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ? 'तु प्राग्बद्धं कर्म क्षयं उपनयन्' दूसरा कार्य ऐसा भी होता है...** अर्थात् कि परिणमन तो हुआ, वह तो एक कार्य हुआ परन्तु दूसरा कार्य भी

वहाँ होता है। आहाहा! **पूर्व में बाँधा है जो ज्ञानावरणादि...** आठों कर्म, हों! आठों। आहाहा! **पुद्गलपिण्ड, उसका मूल से सत्तानाश करता हुआ।** वे बंशीधरजी कहते थे न? सत्यानाश। आठ कर्म का सत्यानाश कर डाला। मूल में से उखाड़ डालते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **उसका मूल से सत्तानाश...** आहाहा! उसके अस्तित्व का ही नाश करता हुआ, कहते हैं। यहाँ तो आठों कर्मों का नाश कहा। यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के सम्बन्ध में जो आठ कर्म थे, उनका वह नाश करता है, इतना। इसमें आठों कर्मों का नाश हो जाये तो हो गया, केवल(ज्ञान) हो जाये। यहाँ तो निर्जरा अधिकार है।

'प्राग्बद्धं' पूर्व में बाँधा... 'प्राग्बद्धं' 'प्राग्बद्धं' है न? (अर्थात्) पूर्व में बाँधे हुए। वे चार नहीं आते? प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव। प्राग— पूर्व में जो बाँधे हुए, उनका नाश करता हुआ। आहाहा! वह सहज होता है। नाश करना, ऐसा कुछ नहीं है परन्तु यह तो ऐसे शुद्ध परिणमन होता है, वहाँ अशुद्ध परिणाम से बाँधे हुए जो कर्म हैं, वे नाश हो जाते हैं, ऐसा कहना है। नाश करूँ और नाश हो, वह जड़ है उसे कर्म नाश करूँ, ऐसा कुछ है नहीं। जड़ का नाश होना, अर्थात् कि वह कर्म की पर्याय अकर्मरूप हो जाना, वह उसका उस काल का स्वभाव था, वह हुई है। यहाँ शुद्धरूप परिणमा, इसलिए कर्म को निर्जरित होना पड़ा, ऐसा नहीं है। निमित्तपना यह था, इसलिए कर्मरूप हुई पर्याय अकर्मरूप होती है, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! क्या है?

मूल से सत्तानाश करता हुआ। किसके द्वारा? आहाहा! **'निर्जरोज्जृम्भणेन' 'निर्जरा' शुद्ध परिणाम के प्रगटपना के द्वारा।** देखा? **शुद्ध परिणाम के प्रगटपना के द्वारा।** आहाहा! शुद्ध स्वरूप है भगवान आत्मा का, उसका शुद्ध प्रगटरूप से परिणमना (होता है), इसलिए उसे पूर्व कर्म का नाश हो जाता है। आहाहा! इतना उस प्रकार का जो मिथ्यात्व है न! और उस प्रकार के ज्ञानावरणादि नाश होते हैं। आहाहा!

(समयसार की) मूल टीका में बहुत लिया है। उसे घातिकर्म भी है। पर्याय में घात भी स्वयं से होता है, अभी चारित्रमोह का उदय भी है, उसका बन्ध भी है, आस्रव भी है और तुम एकदम ऐसा कैसे कहो? (तो समाधान दिया है कि) भाई! यह

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभाव की अपेक्षा से बात की है, इतना यहाँ लेना। सर्वथा लेना, ऐसा नहीं होता। समकित से सर्वथा आठों कर्मों का बन्ध रुक गया तब तो केवल(ज्ञान) हो जाये। (केवलज्ञान हो) तो भी अभी वहाँ अशुद्धता है। चार कर्म बाकी हैं न? उतनी अपनी अवस्था, हों! कर्म के कारण नहीं।

शुद्ध (परिणमन) परिणाम के प्रगटपना के द्वारा। आहाहा! निर्जरा की व्याख्या यह की है। **शुद्ध परिणाम के प्रगटपना के द्वारा।** यह वृद्धि की अपेक्षा से (कहा), देखा? उन कर्मों का नाश होता है परन्तु यहाँ शुद्ध परिणमन बढ़ा, बढ़ा तो उन कर्म का नाश होता है, ऐसा यहाँ कहने में आता है। वास्तव में तो कर्म का नाश होता है, वह निर्जरा, उतने प्रकार की अशुद्धता गलती है, वह निर्जरा और शुद्धता बढ़ती है, वह निर्जरा। ऐसे तीन प्रकार चले हैं। आहाहा!

शुद्ध परिणाम के प्रगटपना के द्वारा। होता है। आहाहा! यह निर्जरा पूरी हुई। (अब) बन्ध अधिकार है, वह विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

— ८ —

बन्ध अधिकार

कलश - १६४

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटन्नाटयद्–
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति।।१–१६३।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'ज्ञानं समुन्मज्जति' [ज्ञानं] शुद्धजीव [समुन्मज्जति] प्रगट होता है। भावार्थ — यहाँ से लेकर, जीव का शुद्धस्वरूप कहते हैं। कैसा है शुद्धज्ञान? 'आनन्दामृतनित्यभोजि' [आनन्द] अतीन्द्रिय सुख, ऐसी है [अमृत] अपूर्व लब्धि, उसका [नित्यभोजि] निरन्तर आस्वादनशील है। और कैसा है? 'स्फुटं सहजावस्थां नाटयत्' [स्फुटं] प्रगटरूप से [सहजावस्थां] अपने शुद्धस्वरूप को [नाटयत्] प्रगट करता है। और कैसा है? 'धीरोदारं' [धीर] अविनश्वर सत्तारूप है। [उदारं] धाराप्रवाहरूप परिणमनस्वभाव है। और कैसा है? 'अनाकुलं' सब दुःख से रहित है। और कैसा है? 'निरुपधि' समस्त कर्म की उपाधि से रहित है। क्या करता हुआ, ज्ञान प्रगट होता है? 'बन्धं धुनत्' [बन्धं] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड का परिणमन, उसको [धुनत्] मेटता हुआ। कैसा है बन्ध? 'क्रीडन्तं' प्रगटरूप से गर्जता है। किसके द्वारा क्रीड़ा करता है? 'रसभावनिर्भरमहानाट्येन' [रसभाव] समस्त जीवराशि को अपने वशकर उत्पन्न हुआ जो अहंकारलक्षण गर्व, उससे [निर्भर] भरा हुआ जो [महानाट्येन] अनन्त काल से लेकर, अखाड़े का सम्प्रदाय, उसके द्वारा। क्या करके ऐसा है बन्ध? 'सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा' [सकलं जगत्] सर्व संसारी जीवराशि को, [प्रमत्तं कृत्वा] जीव के शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट कर। किसके द्वारा? 'रागोद्गारमहारसेन' [राग] राग–द्वेष–मोहरूप अशुद्धपरिणति का [उद्गार] अति ही आधिक्यपना, ऐसी जो [महारसेन] मोहरूप मदिरा,

उसके द्वारा। भावार्थ इस प्रकार है—जिस प्रकार किसी जीव को मदिरा पिलाकर, विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पद से भ्रश्ट कर दिया जाता है; उसी प्रकार अनादि काल से लेकर सर्व जीवराशि, राग–द्वेष–मोहरूप अशुद्धपरिणाम से मतवाली हुई है, इससे ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता है। ऐसे बन्ध को, शुद्धज्ञान का अनुभव मेटनशील है; इसलिए शुद्धज्ञान, उपादेय है।।१–१६३।।

मागसर शुक्ल १, रविवार, दिनांक-११-१२-१९७७, कलश-१६३, प्रवचन-१७२

मुमुक्षु : बन्ध अधिकार शुरु होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसलिए कहा है न निर्जरा पूरी हुई न? उसका अर्थ हो गया या नहीं?

बन्ध अधिकार।

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटन्नाटयद्–
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति।।१–१६३।।

अन्तिम शब्द है। क्या कहते हैं? **ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव प्रगट होता है।** आहाहा! किस प्रकार? अनन्त काल से तो पुण्य और पाप और मिथ्यात्व की वह उत्पत्ति करता है कि जो संसार का दुःख है और दुःख के परिभ्रमण में जाने का (कारण है)। आहाहा! जब आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है, उसकी यहाँ बात है। '**ज्ञानं समुन्मज्जति**' ज्ञायकभाव जो शुद्ध चैतन्यघन है, वह '**समुन्मज्जति**' सम्यक् प्रकार से उत्पन्न होता है। अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि ज्ञायकभाव पर दृष्टि (करके) शुद्धता को प्रगट करता है। क्या कहा?

'**ज्ञानं समुन्मज्जति**' **ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव...** त्रिकाली शुद्ध चैतन्यमूर्ति पवित्र पिण्ड प्रभु, आहाहा! जिसकी पर्याय में विकार होने पर भी वस्तु तो निर्विकारी शुद्ध चैतन्यघन है। आहाहा! वह शुद्ध जीव अर्थात् ज्ञान। ज्ञान अर्थात् शुद्ध जीव। '**समुन्मज्जति**' (अर्थात्) सम्यक् प्रकार से '**मुन्मज्जति**' (अर्थात्) प्रगट होता है। आहा! बन्ध को

टालकर अपना अबन्ध स्वभाव ज्ञायकभाव... बहुत सूक्ष्म बातें! उस ज्ञायकभाव को ध्रुव स्वभाव जो प्रमत्त-अप्रमत्तदशा से भी रहित है... आहाहा! ऐसे ज्ञायकभाव को नित्य ध्रुव स्वभाव की दृष्टि करके, उसका सम्यग्दर्शन में स्वीकार करके वह शुद्ध जीव पर्याय में प्रगट होता है। अरे! ऐसी बात है। तब वह धर्मी (कहलाता है) और सुख के पंथ में पड़ा है। बाकी तो राग और पुण्य-पाप और विकार, वह मैं और विकार के फलरूप से भी मैं, (ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि चार गति में दुःखी है। समझ में आया? उसे दुःख का भोजन है। आहाहा! चाहे तो वह अरबोंपति हो और राजा हो, सेठ हो, परन्तु जिसे अन्दर आत्मस्वभाव चैतन्यघन की दृष्टि नहीं हुई, उसे देखा नहीं, जाना नहीं और यह पुण्य और पाप के मिथ्यात्वभाव में दुःखी होकर उसे वेदता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है।

जब धर्मी होता है तब '**ज्ञानं समुन्मज्जति**' उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष प्रगट होते हैं। उसे वह करता है, वेदता है और दुःख को अनुभव करता है। आहाहा! समझ में आया? वह अरबोंपति व्यक्ति भी दुःख को अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं। मिथ्यादृष्टि देव भी दुःख को अनुभव करते हैं। आहाहा! आनन्दामृत प्रभु भगवान आत्मा जिसे सम्यग्दर्शन में दिखाई दिया नहीं, प्रतीति आयी नहीं... आहाहा! वह जीव चाहे तो अरबोंपति हो, देव हो, राजा हो, सेठ हो, वह पुण्य के विकारी भाव को—दुःख को वेदता है। आहाहा! उसे सुख की गन्ध नहीं है।

धर्मी जीव... अब दृष्टि गुलांट खाती है। जो बन्धभाव—राग और द्वेष आदि बन्धभाव—दुःखभाव को छेदनेवाला सम्यग्दर्शन भाव प्रगट होता है। उस सम्यग्दर्शन में शुद्ध जीव सम्यक् प्रकार से उल्लसित होता है। आहाहा! ऐसी बात है। जो ज्ञायकभाव त्रिकाली ध्रुव, ऐसे स्वभाव को जिसने पकड़ा है, उसका जिसने स्वसन्मुख होकर स्वीकार किया है, उस जीव को आत्मा उल्लसित हुआ है—आत्मा प्रगट हुआ है। आहाहा! अज्ञानी को दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम मेरे हैं, उसे मिथ्यात्वभाव उल्लसित हुआ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी भाषा! देवीलालजी! आहाहा! बन्ध अधिकार है न? यह अभी विशेष कहेंगे।

पहला अर्थ इतना है। यह अन्तिम शब्द है। गाथा (कलश) का अन्तिम शब्द है, वह अर्थ में पहला लिया है। है न? गाथा (कलश) में अन्तिम (शब्द है) '**ज्ञानं समुन्मज्जति**' आहाहा! वह बन्ध का टालनेवाला भगवान आत्मा... आहाहा! जो भूतार्थ त्रिकाल सत्य ध्रुव स्वरूप भगवान शुद्ध चैतन्यघन, उसका जिसको दृष्टि में स्वीकार हुआ है, ज्ञान में वह ज्ञात हुआ है, और स्वरूप के आनन्द में उसे वेदन में आया है। आहाहा! उसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है अर्थात् आत्मा प्रगट हुआ है। आहाहा! ऐसा लोगों को महँगा लगे, (परन्तु) मार्ग तो यह है, भाई! चाहे तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा लाख, करोड़ करे। हिंसा की तो बात ही क्या करना? हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, वह तो महा दुःखदायक भाव है, परन्तु यह व्रत, तप और भक्ति आदि के भाव भी दुःखदायक भाव हैं, रागभाव दुःखदायक हैं।

चैतन्यस्वभाव का जहाँ भान होता है... आहाहा! जिसमें यह पुण्य-पाप और राग है नहीं, परन्तु जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान और स्वच्छता का भण्डार प्रभु स्थित है... आहाहा! उसका जिसे भान होता है, सम्यग्दर्शन में आनन्द की प्रतीति होती है, उसे आत्मा उल्लसित हुआ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसे पर्याय में आनन्द की स्वभाव की बाढ़ आती है। अज्ञानी को पर्याय में विकार की बाढ़ आकर दुःखी होता है। आहाहा! समझ में आया? इस पहले शब्द में ही इतना डाला है!

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन सम्यक् प्रकार से—सच्ची रीति से सत्य है, वह उत्पन्न होता है। जैसा उसका सत्य स्वरूप है... आहाहा! वैसा सम्यग्दृष्टि को पर्याय में निर्मल दशा उत्पन्न होती है, वह '**ज्ञानं समुन्मज्जति**' का अर्थ है। आहाहा! इसे धर्म कहा जाता है। यद्यपि धर्म चारित्र है, परन्तु उसका मूल यह है, इसलिए यहाँ से धर्म के कारण की शुरुआत होती है। आहाहा! समझ में आया?

'ज्ञानं समुन्मज्जति' भावार्थ—यहाँ से लेकर जीव का शुद्धस्वरूप कहते हैं। जीव का शुद्ध (स्वरूप)। पुण्य और पाप के राग के विकल्प से रहित (शुद्धस्वरूप है)। वह (पुण्य-पाप के विकल्प) तो क्षणिक विकृत अवस्था है। वस्तु है, वह उससे नित्य ध्रुव वस्तु भिन्न है। आहाहा! वह ज्ञायकस्वभाव जिसे (समयसार की) छठवीं गाथा में

कहा है न? '**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।**' आहाहा! जो वर्तमान प्रमत्त-अप्रमत्त दशाओं के गुणस्थान के भेद हैं, वे उसमें नहीं हैं। आहाहा! वह तो ज्ञायक चैतन्यचन्द्र शान्ति और आनन्द के रस से भरपूर प्रभु, उसका जहाँ अन्तर में आश्रय होता है, उसे अवलम्बता है, उसके पक्ष में जाता है, जो राग और पुण्य के पक्ष में अनादि का है, वह पक्ष बदल डालता है। ऐसी बातें हैं। पडखूं समझते हैं, सेठ? करवट! ऐसे (हो तो) करवट ऐसे कर डाले। (अर्थात्) दिशा बदलता है।

अनादि का विकार के भाव के पक्ष में चढ़कर 'वह मैं हूँ'—ऐसा स्वीकार किया है, वह मिथ्या-झूठी दृष्टिवन्त दुःखी है। तब धर्मी... यहाँ से शुद्धस्वरूप प्रगट होता है। आहाहा! **कहते हैं,...** इसका अर्थ वह प्रगट होता है, उसे **कहते हैं...** (कहते हैं)। आहाहा! सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव परमेश्वर ने जो आत्मा शुद्ध एवं ध्रुव कहा है, उसे जो जीव अवलम्बता है... आहाहा! उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता उत्पन्न होती है, वह आत्मा शुद्धरूप से उल्लसित हुआ है—प्रगट हुआ है, ऐसा कहा जाता है। है?

कैसा है शुद्ध ज्ञान? अब विशेष (कहते हैं)। आहाहा! '**आनन्दामृतनित्यभोजि**' आहाहा! जैसे अज्ञान में अनादि पुण्य और पाप के भाव और उनके फल मैं, ऐसी मान्यता में दुःखी था, वह दुःख को वेदता था। नित्य कायम, वह दुःख को वेदता था। आहाहा! तब उससे दृष्टि बदलकर सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्य जैसी पूर्ण वस्तु है, पूर्ण सत्य नित्यानन्द प्रभु का जहाँ अन्तर में सन्मुख होकर स्वीकार हुआ, उसे आनन्दरूपी लब्धि का—अमृत का अनुभव है। आहाहा! धर्मी को आनन्द के अमृत का भोजन है। आहाहा! अज्ञानी को राग और द्वेष के दुःख का भोजन है, जहर का भोजन खाता है। बात-बात में बहुत अन्तर! आहाहा!

मुमुक्षु : उसे लोग मजा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया पागल है तो पागल मजा कहे न? पागल दुनिया, पागल (है)। पैसा तो करोड़ और दो करोड़, पाँच-पचास करोड़ हो, वहाँ यह सुखी है, ऐसे पागल उसे सुखी कहते हैं। आहाहा! ऐसे लाख-लाख का महीने में वेतन आता हो, ऐसे बड़े कार्यकर्ताओं को लोग सुखी कहते हैं। मूढ़ लोग पागल, उसे सुखी कहते हैं। बात में अन्तर है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, मांगलिक की क्या शुरुआत की? आहाहा! 'बन्ध अधिकार' शुरु करते हुए, उसका नाश करनेवाला कैसा है, उसकी बात की है। आहाहा! यहाँ तो तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव परमेश्वर की यह वाणी है। सन्त इस द्वारा जगत को कहते हैं। आहाहा! भाई! भगवान अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द का घर, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द का स्थान भगवान आत्मा है। आहाहा! '**स्वयं ज्योति सुखधाम**' वह आनन्द का स्थल है, प्रभु कहते हैं। आहाहा! अतीन्द्रिय अमृत के आनन्द का वह स्थल—जमीन है, भूमि है। उसमें से अतीन्द्रिय आनन्द उत्पन्न होता है। आहाहा!

कहते हैं, शुद्ध ज्ञानस्वरूप पवित्र है, ऐसा जो सम्यग्दर्शन में भान हुआ, तब उसे क्या होता है? '**आनन्दामृतनित्यभोजि' अतीन्द्रिय सुख, ऐसा है...** देखा? भाषा अमृत (प्रयोग की है)। अमृत का अर्थ किया **अपूर्व लब्धि...** आहाहा! अर्थात्? जो पुण्य-पाप के भाव को-दुःख को भोगता (था, वह अब) यह अपूर्व लब्धि है, (उसे भोगता है)। अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति, वह अपूर्व लब्धि—अमृत है, ऐसा कहते हैं। अ-मृत है या नहीं? जीवतीजागती ज्योत अन्दर है! आहाहा! जैसा जीव का अमृत और अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव जीवित है, वैसी ही पर्याय में जीवित अनन्त आनन्द के अमृत की लब्धि प्रगट हुई है, कहते हैं। आहाहा!

मांगलिक में नहीं आता? 'अंगूठे अमृत बसे लब्धि तणा भण्डार' यह नहीं, बापू! आहाहा! भाई! तेरी चीज़ इतनी बड़ी है, प्रभु! तुझे खबर नहीं। तेरा भगवान तो अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द के रस से छलाछल भरा है। आहाहा! गजब मांगलिक किया है न! आहाहा!

मुमुक्षु : आपने मांगलिक शुरु किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसा अन्दर भगवान आत्मा अनन्त आनन्द के अमृत के स्वरूप से भरपूर है, उसे पर्याय में आनन्द का अमृतपना—अपूर्व लब्धि प्रगट होती है। पूर्व में कभी प्रगट नहीं हुई थी, ऐसा कहना है। आहाहा! स्वर्ग के भव किये, मुनिपने (में) पंच महाव्रत पालन किये, हजारों रानियाँ छोड़कर दीक्षा ली, परन्तु वह सब राग की क्रिया थी। आहाहा! यह आनन्द अपूर्व लब्धि है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसी बातें हैं, भाई! इसलिए लोगों को कठिन लगता है। बेचारों को ऐसा लगता है कि सोनगढ़वाले तो एक निश्चय की ही बात करते हैं, व्यवहार की (बात) नहीं करते। निश्चय अर्थात् सत्य, निश्चय अर्थात् वास्तविक। निश्चय अर्थात् उचित, भूतार्थ, विद्यमान पदार्थ वह निश्चय। आहाहा! ऐसी बात है परन्तु अभी लोगों को मुश्किल पड़ गयी है। आहाहा!

भाषा देखो! '**आनन्दामृत**' इतना तो ठीक परन्तु '**नित्यभोजि**' आहाहा! **अतीन्द्रिय सुख, ऐसा है अपूर्व लब्धि, उसका निरन्तर आस्वादनशील है।** शुद्ध जीव का भान होने पर पर्याय में आनन्द अमृत (की) अपूर्व लब्धि हुई, उसका वह धर्मी नित्य अनुभव भोजन करनेवाला है। आहाहा! कहो, सवेरे चाय का डेढ़-पाव सेर उकाला चाहिए, दस बजे रोटियाँ (चाहिए), दोपहर को कुछ करते होंगे और शाम को फिर वापस भजिया-फजिया और पूड़ी और अमुक और पूंछड़ा... आहाहा! बेचारे दुःख को भोगते हैं, उस वस्तु को नहीं। आहाहा! भाई! वह वस्तु तो पर है, जड़ है, उसे आत्मा कैसे भोगे? भगवान आत्मा तो अरूपी है, जिसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं। वह रंग, गन्धवाली वस्तु को कैसे भोगे? आहाहा! उसके सामने बात चलती है। इस '**आनन्दामृत**' के सामने। वह तो दुःख को भोगता है, राग-द्वेष के परिणाम को—दुःख को भोगता है। आहाहा! यह भी वह नित्यभोजी है। (अर्थात्) निरन्तर (भोगता है)। अज्ञानी को निरन्तर... आहाहा! दुःख के ग्रास हैं, उसे दुःख के भोजन हैं। कान्तिभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

वह वस्तु मुक्त ही है। भगवान स्वरूप मुक्त है, उसका पर्याय में भान हुआ तो इतना पर्याय में मुक्त हो गया। आहाहा! क्या कहा यह? यह अन्तिम कलश में आयेगा। एक ओर मुक्ति को स्पर्श करता है, एक ओर संसार को (स्पर्श करता है)। आहाहा! भाई! सूक्ष्म बातें हैं न, बापू! यह तो अपूर्व—अनन्त काल में कभी एक सेकेण्ड हुआ नहीं, ऐसा अनन्त काल... अनन्त काल... आहाहा! मुनिपना पालन किया, पंच महाव्रत लिये तथापि वह तो राग और दुःख है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा का स्वभाव वह राग नहीं, दुःख नहीं। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द की खुराक से भरपूर है। आहाहा! वह समकिती जीव, उस

अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन नित्य अनुभव करता है। आहाहा! ऐसी व्याख्या! ज्ञानी आहार-पानी लेता हो, (वह) खाते समय की क्रिया कहीं उसकी नहीं है, वह तो जड़ की है। उस ओर का जरा राग होता है, परन्तु राग से भिन्न पड़े हुए भगवान का आनन्द का स्वाद तो उसे निरन्तर है। आहाहा! है?

अतीन्द्रिय सुख... आनन्द की व्याख्या की और अमृत की व्याख्या की—मरे नहीं ऐसी **अपूर्व लब्धि...** जीता-जागता भगवान जहाँ जागा... आहाहा! सम्यग्दर्शन में जहाँ उसका भान हुआ, वहाँ कहते हैं कि वहाँ आनन्द की अपूर्व लब्धि प्रगट हुई। आहाहा! कहो, 'लब्धितणा भण्डार' यह है! लोग बाहर के चमत्कार देखे और हा...हो... और हा... मर गये ऐसे के ऐसे! परदेश में जाते हैं और फिर कुछ दो-पाँच हजार, दस हजार वेतन हो, वहाँ तो दस हजार का वेतन उन भंगियों को भी होता है। महीने में पच्चीस-पचास हजार वेतन हो वहाँ मानो कि अपने ओहोहो! उसका पिता भी ऐसा माने कि ओहो! लड़का कर्मी जागृत हुआ। कर्मी जागृत हुआ (अर्थात्) पापी (जागृत हुआ)। आहाहा! वह दु:ख का वेदन करनेवाला है।

यहाँ धर्मी गरीब हो, जिसे एक रोटी खाने का साधन भी न हो... आहाहा! समझ में आया? परन्तु जिसे आत्मा के आनन्द के नाथ की जहाँ सम्हाल हुई... आहाहा! अतीन्द्रिय अमृत के सागररूप भगवान आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर अतीन्द्रिय आनन्द जहाँ पर्याय में आया... आहाहा! वह चाहे जिस प्रसंग में उस अतीन्द्रिय आनन्द का ही भोजी है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

यह आनन्दस्वरूप है, उसका अभी भान भी नहीं और यह व्रत, तप और भक्ति में धर्म मानकर इससे कल्याण होगा, यह दृष्टि तो मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। मिथ्या अर्थात् झूठी दृष्टि है और यह त्रिकाली आनन्द के नाथ को रागरहित अनुभव करना, जानना, वह सम्यग्दर्शन है। सत्यदृष्टि है, सच्ची दृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

नरक के नारकी जीव भी सम्यग्दृष्टि हैं। श्रेणिक राजा लो न, अभी वहाँ पहली नरक में हैं न? तीर्थंकर होनेवाले हैं। आगामी चौबीसी के भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकर

होनेवाले हैं। आहाहा! वे अभी नरक में हैं। चौरासी हजार वर्ष की स्थिति है। आहाहा! उन्हें राग है, उतना दुःख का वेदन है, परन्तु यहाँ इस ओर आनन्द का अनुभव भी साथ में है। आहाहा! समझ में आया?

देखो न! कल बात नहीं की थी? एक क्षण के दुःख प्रभु! क्या कहें? कहते हैं। एक क्षण का नारकी का दुःख संयोग का नहीं, हों! अन्दर विकार का दुःख है, उसकी व्याख्या करने करोड़ों जीभ और करोड़ों भव (हो तो भी) एक क्षण के दुःख की व्याख्या नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसे दुःख में प्रभु! तूने असंख्य अरबों वर्ष व्यतीत किये हैं। क्यों व्यतीत किये और कैसे हुआ? आहाहा! और जिसकी शरीर की दुर्गन्ध इतनी, नारकी के शरीर की दुर्गन्ध इतनी कि एक इतना टुकड़ा यदि दुर्गन्ध का यहाँ लावे तो पाँच सौ कोस के मनुष्य मर जायें! अरे! प्रभु! असंख्य अरब वर्ष वहाँ व्यतीत किये हैं! क्या है यह वह? आहाहा! वस्तु है, और जब तक उसकी अवधि है, तब तक क्या होगा? चाहे जितने टुकड़े हों, दुःख हों... आहाहा! परमाधामी शरीर के टुकड़े करे तो टुकड़े वापस मिल जाते हैं, इकट्ठे हो जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जिसने बन्ध और आत्मा के दो टुकड़े किये, पृथक् (किये)... आहाहा! अब वह स्वभाव प्रगट हुआ, वह अब कभी पृथक् नहीं होगा। आहाहा! ऐसी बातें लोगों को ऐसी (कठिन) लगती है। अभ्यास में नहीं और परिचय में नहीं, सुनने को मिले नहीं, बाहर की हो...हा... हो...हा... हो...हा... अपवास किये हैं और यह बालब्रह्मचारी दीक्षा लेते हैं और उसका सत्कार करो और उसे नारियल दो और हार पहनाओ... आहाहा! धूल भी दीक्षा नहीं, बापू! दीक्षा किसे कहना? भाई! दीक्षा तो चारित्र है। चारित्र से पहले समकित किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती और उसे दीक्षा हो गयी? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि धर्मात्मा जिसे सम्यग्दर्शन शुरुआत की पहली दशा हुई, वह आनन्द अमृत का नित्य भोजन करता है, कहते हैं। आहाहा! वह शान्ति और आनन्द को वेदता है। भाषा देखो न! '**आनन्दामृतनित्यभोजि**' आहाहा! भगवानजीभाई! कभी वहाँ सुनने को मिले नहीं, ऐसी यह बात है। आहाहा! अज्ञानी अनादि से मुनि हुआ तो भी

दु:ख के वेदन को हमेशा वेदता है। आहाहा! तब सम्यग्दृष्टि जीव अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को जगाया है न! इसलिए उसकी पर्याय में भी आनन्द की अपूर्व अमृतलब्धि प्रगट हुई कहते हैं। पूर्व में अनन्त काल में नहीं हुआ था, वह अपूर्व (लब्धि) प्रगट हुई, कहते हैं। आहाहा! और जिसके फलरूप से कार्यरूप से अनन्त आनन्द सिद्ध होगा, उसे तो अनन्त आनन्द का अनुभव (होगा)। आहाहा! अनन्तानन्त... अनन्तानन्त ऐसा आनन्द वहाँ (प्रगट होगा)। यहाँ भी आनन्दामृत का भोजी है। आहाहा! वह प्रतिकूल परीषह और उपसर्ग के समय भी उसका आनन्द का अनुभव है, वह हटता नहीं। समझ में आया? कदाचित् कोई सन्तों को, मुनियों को घानी में पील डाले, परन्तु उस अमृत के भोजन से वे च्युत नहीं हुए। समझ में आया? ऐसा उपदेश! आहाहा! यह एक शब्द से तो गजब अर्थ किया है! वस्तु की स्थिति (यह है)।

'**आनन्दामृतनित्यभोजि**' नित्य, आहाहा! **निरन्तर आस्वादनशील है।** भाषा देखो! **निरन्तर आस्वादनशील है।** अतीन्द्रिय आनन्द का निरन्तर भोग, वह जिसका स्वभाव हो गया है। आहाहा! है? भाषा देखी? आहाहा! '**नित्यभोजि**' उसका ऐसा (अर्थ होता है)। '**नित्य**' (अर्थात्) **निरन्तर आस्वादनशील है।** आस्वादन स्वभाव है। आहाहा!

ऐसी है अपूर्व लब्धि,... आहाहा! **और कैसा है?** वह ज्ञान अर्थात् आत्मा प्रगट हुआ वह (कैसा है)? '**स्फुटं सहजावस्थां नाटयत्**' आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा का परिणमन शुद्ध हो गया। आहाहा! इसीलिए उसे **प्रगटरूप से... 'सहज' अपने शुद्धस्वरूप को... 'सहजावस्थां'** (शब्द) है न? '**सहजावस्थां' अपने शुद्धस्वरूप को...** देखा? सहज अवस्था अर्थात् पर्याय नहीं ली। स्वाभाविक अवस्था अर्थात् सहज धरनेवाला ऐसा भगवान। आहाहा! समझ में आया? बापू! यह तो तीन लोक के नाथ के मार्ग की बातें हैं, भाई! यह कोई वार्ता, कथा (नहीं है)। आहाहा! परमेश्वर होने की बातें हैं, बापू! तू परमेश्वर है! तेरा स्वरूप तो प्रभु, तू भगवानस्वरूप ही है। आहाहा! उस भगवत्स्वरूप में से पूर्ण भगवत्दशा प्रगट होगी। उसके पहले अभी सम्यग्दर्शन में भी... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नमूना आया। आहाहा! कि यह आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप ही है। समझ में आया?

'**सहजावस्थां**' (कहा) परन्तु वहाँ अवस्था नहीं ली। अपना त्रिकाली शुद्ध स्वरूप लिया। आहाहा! उसे '**नाटयत्**' **प्रगट करता है।** देखा? अर्थात् शुद्धस्वरूप को परिणमता है। '**नाटयत्**' अर्थात् नाचता है। त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन प्रभु, उसे सम्यग्दृष्टि परिणमाता है। शुद्धरूप परिणमता है। ऐसी व्याख्या है। आहाहा! '**सहजावस्थां**' अवस्था अर्थात् यहाँ पर्याय नहीं ली। यहाँ सहज स्वरूप जो त्रिकाली, उसे '**नाटयत्**' अर्थात् पर्याय में परिणमाता है। यहाँ पर्याय लेना। समझ में आया? आहाहा!

'**सहजावस्थां**' स्वाभाविक सहज मूर्ति प्रभु अन-आदि और अनुत्पन्न और अविनाशी ऐसी उत्पन्न और व्यय बिना की चीज़ जो त्रिकाली आनन्द प्रभु, ऐसी चीज़ को नाचता है। '**नाटयत्**' **प्रगट करता है।** वह परिणति—पर्याय में उस शुद्ध स्वरूप को प्रगट करता है। आहाहा! सहज अवस्था का अर्थ यह कि स्वाभाविक वस्तु जो शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द प्रभु, उसे पर्याय में प्रगट करता है। नाचता है... नाचता है। पर्याय में नाचता है अर्थात् परिणमता है। आहाहा! ऐसी व्याख्या! वे तो कहें, दया पालो और इच्छामि पडिकम्मणा इरिया... तस्स मिच्छामिदुक्कडम्, लो! हो गया। धूल भी नहीं, भाई! तू (भ्रमणा में पड़ गया)। बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

जिनेन्द्र वीतराग परमेश्वर पूर्ण आनन्द को प्राप्त परमात्मा को इच्छा बिना वाणी निकली, उस वाणी में तो प्रभु यह आया है। आहाहा! समझ में आया?

शुद्ध स्वरूप को '**नाटयत्**' वहाँ परिणमन लिया। सहज अवस्था में त्रिकाली शुद्ध स्वरूप लिया। सम्यग्दृष्टि उसे पर्याय में प्रगट करता है अर्थात् परिणमाता है। आहाहा! जो राग और विकाररूप परिणमता था—होता था, वह अब शुद्धरूप होता है और परिणमता है, नाचता है। ऐसी बातें!

मुमुक्षु : अध्यात्म की मस्ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मस्ती है। वस्तु है न? वस्तुस्थिति यह है। आहाहा! ऐसी वस्तु कहीं अमेरिका-बमेरिका में मिले, ऐसी नहीं है। ....भाई! यह बाहर भटकते हैं न? लन्दन और वहाँ ऐसी वस्तु सुनने को भी मिले, ऐसा नहीं है। वहाँ पच्चीस-पच्चीस हजार वेतन मिले और धूल मिले, उसमें आत्मा को तो नुकसान—दुःख है। आहाहा!

आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! धूल के ढ़ेर देखे, उसमें प्रसन्न हो जाये। यहाँ तो अन्दर आनन्द का ढ़ेर देखे, वहाँ आनन्द से प्रसन्न हो जाये, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसके स्वभाव में तो अतीन्द्रिय आनन्द का ढ़ेर पड़ा है। भर... भर! 'भर' शब्द आता है न? अपने गाड़ा का भर नहीं कहते? गाड़ा में भर भरा है। वह 'भर' शब्द अपने आता है। शास्त्र में तो सब शब्द हैं। इसी प्रकार भगवान आनन्द का भर है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का भर—पूरा गाड़ा वहाँ भरा है। आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि जीव पर्याय में परिणमाता है। जितने गुण हैं, उतने का शुद्ध परिणमन आंशिक सब परिणमता है। इसलिए ऐसा कहा न? सम्यग्दृष्टि—'सर्व गुणांश वह सम्यक्त्व' श्रीमद् ने ऐसा कहा और रहस्यपूर्ण चिट्ठी में ज्ञानादि एकदेश (परिणमते हैं)। एकदेश अर्थात् सभी गुणों का एक भाग जिसे प्रगट हुआ है। सर्वज्ञ को ज्ञानादि पूर्ण गुण की पूर्ण पर्याय जिन्हें प्रगट हुई है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव '**सहजावस्थां**' सहज स्वरूप जो प्रभु ध्रुव नित्यानन्द! उसे पर्याय में परिणमाता है। आहाहा! उसे शुद्ध परिणमन बहता है। आहाहा!

और कैसा है? कैसा है आत्मा का स्वरूप? धीर उदार। धीर (अर्थात्) जिसकी अविनाशी सत्ता है। धीर अर्थात् जिसकी अविनाशी सत्ता है, धीर है। जिसकी सत्ता अर्थात् भगवान आत्मा का अस्तित्व अविनश्वर है, धीर है, शाश्वत् है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! धीर है। भगवान आत्मा का स्वरूप धीर है। धीर अर्थात् जैसे धीरजवाला मनुष्य है, वैसे यह धीर है, ध्रुव है। भगवान आत्मा का स्वभाव अविनश्वर है। आहाहा! ऐसी सत्ता है। नाश न हो, ऐसी उसकी सत्ता है। नाश न हो, ऐसा जिसका अस्तित्व है। आहाहा!

यह मरने पर कहते हैं न? ऐ... जीव गया, मर गया। मरे कौन?

मुमुक्षु : वापस हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वापस हुआ अर्थात् इस भव में से निकलकर दूसरे भव (में गया), उसे वापस हुआ, ऐसा कहते हैं। भटकने के (लिये) अन्यत्र गया, ऐसा। आहाहा! यहाँ मनुष्य हो वह मरकर वापिस कुत्ती के गर्भ में बच्चा हो। अरर्र! इसने ऐसे अवतार

किये, बापू! उन्हें मिटाने का उपाय यहाँ कहते हैं। पहले बन्ध का नाश करनेवाला कैसा है, (उसकी बात की)। बन्ध को रखनेवाला तो कैसा है? वह तो मिथ्यादृष्टि अनादि से है, कहते हैं। आहाहा! भावबन्ध है न? उसे नाश करनेवाला भगवान है कैसा? आहाहा! कैसा है? धीर है।

'उदारं' धाराप्रवाहरूप परिणमनस्वभाव है। त्रिकाली सत्ता है और वर्तमान में परिणमन की शुद्ध अखण्ड धारा बहती है। शुद्ध जीव प्रगट हुआ है न? इसलिए अखण्ड धारा **धाराप्रवाहरूप परिणमनस्वभाव है।** वस्तु तो अविनाशी है परन्तु पर्याय में धाराप्रवाहरूप से बदलना-परिणमना, वह उसका पर्यायस्वभाव है। आहाहा! समझ में आया?

और कैसा है? यह ज्ञान अर्थात् आत्मा। **'अनाकुलं' सब दुःख से रहित है।** आहाहा! जिसमें शारीरिक, मानसिक कोई दुःख जिसमें नहीं। आहाहा! जिसमें आत्मा का सुख है, आत्मिक सुख है। ऐसा कहते हैं न? यह शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख। वह कोई दुःख नहीं, वहाँ तो आत्मिक सुख है। अनाकुल है। अर्थात् नकार से कहा न? आकुलता रहित है, ऐसा कहा, दुःखरहित है, ऐसा कहा। अस्ति से कहें तो सुखरूप है परन्तु नास्ति से (कहें तो) आकुलतारहित है अर्थात् दुःखरहित है।

सब दुःख से रहित है। और कैसा है? ज्ञान। यहाँ ऊपर ज्ञान आया न? **'ज्ञानं समुन्मज्जति'** वहाँ से शब्द उठा है। ज्ञान अर्थात् आत्मा। अर्थात् कैसा-कैसा है, ऐसा कहकर ज्ञान को कहते हैं। **'निरुपधि' समस्त कर्म की उपाधि से रहित है।** आहाहा! भगवान आत्मा और उसकी परिणति में भी वह जीव सर्व कर्म की उपाधि से रहित है। आहाहा! वस्तु है, वह तो सर्व कर्म से रहित ही है, परन्तु जो वस्तु की परिणति प्रगट हुई, दृष्टि (प्रगट हुई), वह पर्याय भी सर्व कर्म की उपाधि से रहित है। आहाहा! देखो! यह सन्तों की वाणी तो देखो! दिगम्बर मुनि... आहाहा! अमृत का उत्तराधिकार छोड़ गये हैं। आहाहा!

इसका पिता वह धूल—पैसा रख जाता है। उत्तराधिकार। और दो-चार लड़के हों तो मरने पर चाबी रखते हों न? मर जाये (तो) तुरन्त बड़ा (लड़का हो वह) चाबी

ले लेवे। यह हुआ है न? यह तो सब पहले की बात है। नाम, ठाम, गाँव सब खबर है। आहाहा! सब लुटेरे हैं। लुटेरों की फौज है। नियमसार में कहा है न? ठगों की टोली है। पिता को पुत्र ठगों की टोली, पुत्र को पिता ठगों की टोली, सब ठगों की टोली है। ...भाई! आहाहा! उसे बड़ा किया, यह सब किया। किसलिए? अब बुढ़ापे में हमको बराबर पालन कर, सब सुविधा दे। एक-दो नौकर रख दे, ऐसा कर दे, वैसा कर दे। तेरी माँ मर गयी है तो एक पकानेवाली रख और सब व्यवस्था कर। यह लुटेरे हैं। आहाहा!

'निरुपधि' समस्त कर्म की उपाधि से रहित है। क्या करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है? (ज्ञान) अर्थात् आत्मा। सम्यग्ज्ञान अन्दर प्रगट हो वह। ज्ञानस्वरूपी प्रभु आत्मा किस प्रकार प्रगट होता है? आहाहा!

'बन्धं धुनत्' ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड का परिणमन,... अर्थात् कर्मरूप पर्याय। **उसको मेटता हुआ।** निमित्त से कथन है। वास्तव में तो अशुद्धता को टालता हुआ। अर्थात् वहाँ कर्म अपने आप टल जाते हैं। परन्तु एकदम सीधे कर्म टालता हुआ, ऐसा लिया। समझ में आया? आहाहा! ऐसी व्याख्या इसे याद रहना मुश्किल पड़े। स्त्री न आयी हो और घर में पूछे कि क्या सुनकर आये? (तो कहे), कौन जाने कुछ ऐसा कहते थे, ऐसा है और वैसा है और वैसा है... अरे... भाई! तेरे घर की बातें हैं, प्रभु! आहाहा! तूने कभी सुनी नहीं। आहाहा! रुचि से सुनी नहीं। **'तत्प्रीति (प्रीति) चित्तेन्'** आता है न? तूने प्रीति से ऐसी बात सुनी नहीं और प्रीति से ऐसी बात सुने, उसे रुचि होती है और वह मोक्ष का भाजन हो जाता है, वह सिद्ध हो जाता है! आहाहा!

कैसा है आत्मा? अथवा कैसा है ज्ञान? वह ज्ञानस्वरूप आत्मा। ज्ञानावरणादि कर्मरूप (पुद्गलपिण्ड का) परिणमन, कर्मरूप पर्याय है **उसको मेटता हुआ।** वह कर्मरूप पर्याय है, वह अकर्मरूप हो जाये, उसे कर्म को मिटाया, ऐसा कहा जाता है। बाकी कर्म की पर्याय अकर्मरूप हो, वह उसके कारण से होती है। परन्तु यहाँ शुद्ध चैतन्य के परिणमन के जोर से अशुद्धता टलती है तो साथ ही कर्म भी उतना टल जाता है, इसलिए कर्म टलता है ऐसा कहा गया है। आहाहा!

कैसा है बन्ध ? क्रीड़ा करता है.... आहाहा! **प्रगटरूप से गर्जता है।** आहाहा! भावबन्ध—विकार भाव और कर्म। निमित्त से यह और वह। गरजता है (अर्थात्) मुझे गर्व है कि मैंने बहुतों को उल्टा कर दिया! पूरी दुनिया को मैंने वश में कर लिया है। महान मानधाता साधु पंच महाव्रत के पालन करनेवाले, नग्न दिगम्बर, जंगलवासी को भी मैंने नीचे गिरा दिया है। यह राग मेरा है, ऐसा मानकर वहाँ मर गये हैं। समझ में आया ? है ?

क्रीड़ा करता है अर्थात् प्रगटरूप से गर्जता है। बन्ध है, वह गरजता है कि मैं हूँ। मैंने किसी को नीचा गिरा डाला। राग का शुभ परिणाम आवे, वहाँ वह प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। दया, दान, व्रत के परिणाम शुभ हैं (उसमें) प्रसन्न हो जाये, (तब) बन्ध कहता है कि मुझे गर्व है। मैंने इस मानधाता को नीचे गिराया है! आहाहा! ऐसी बातें हैं।

प्रगटरूप से गर्जता है। किसके द्वारा क्रीड़ा करता है ? 'रसभावनिर्भरमहानाट्येन' समस्त जीवराशि को अपने वशकर उत्पन्न हुआ जो अहंकारलक्षण... देखा! रस का अर्थ यह किया है। आहाहा! अहंकार लक्षण (कहा), वह उसका रस है। रस चढ़ गया है। राग का, पुण्य के परिणाम का, पाप के परिणाम का अज्ञानी को रस चढ़ गया है। आहाहा! बन्ध और उसके रस में डूब गया है, कहते हैं। आहाहा! हमने इतने पुण्य किये हैं, हम ऐसे व्रत पालते हैं, हम इतनी तपस्यायें करते हैं। आहाहा! वह सब विकल्प का इसे अभिमान हो गया है। आहाहा! समझ में आया ?

यह '**रसभाव**' की व्याख्या है। **वशकर उत्पन्न हुआ जो अहंकारलक्षण...** ऐसे इसके रस की व्याख्या की। उसमें एकाकार हो गया है। रस अर्थात् राग में एकाकार हुआ है, वह बन्धभाव। आहाहा! रस की व्याख्या आती है न ? कि राग के—दया, दान, व्रत के परिणाम में भी एकाकार हो गया है, यह बन्ध को अहंकार है कि मैंने मानधाता को नीचे गिराया है। हमने दीक्षा ली है, हमने स्त्री, पुत्र छोड़े हैं, दुकान का धन्धा लाखों की आमदनी छोड़ी है। ऐसा उसे अहंकार हो जाता है। आहाहा! अहंकार का जिसे रस चढ़ गया है, कहते हैं। बन्ध अधिकार ऐसा कहता है कि पर को हमने अहंकार के रस में चढ़ा दिया है, नीचे गिरा दिया है। आहाहा!

'**रसभाव**' फिर '**निर्भर**' है न? **भरपूर जो....** अहंकारलक्षण गर्व से भरपूर है। आहाहा! बन्ध कहता है कि जहाँ-तहाँ उसके शुभभाव में, पाप के भाव में मिठास है, ऐसे अहंकार के गर्व में मैंने उसे चढ़ा दिया है। आहाहा! हमने इतना कमाया, इतने हुए... आहाहा! बाप कुछ छोड़कर नहीं गये थे, हमने बाहुबल से सब (इकट्ठा) किया (ऐसे गर्व में) मार डाला है न? बाप के पास कुछ नहीं था और हमारे पास पाँच करोड़ हुए, दस करोड़ हुए, धूल करोड़ हुए.... आहाहा! इस राग के रस से अहंकार में चढ़ा दिया है। ऐसी बातें!

अबन्धस्वरूप भगवान शुद्ध चैतन्यघन को भुलाकर बन्ध कहता है कि मैंने मेरे राग के अहंकार में उसे चढ़ा दिया है। यह अहं जो है त्रिकाली आनन्द का नाथ अहं है, ऐसी सत्ता की दृष्टि छुड़ाकर पुण्य और पाप के राग के रस में मैंने उसे चढ़ा दिया है, वहाँ मेरी जीत है। आहाहा! बहुत कठिन बातें! यथार्थ वस्तु यह है, वस्तुस्थिति ऐसी है, बापू! लोगों को पकड़ में न आये या न समझ में आये, इससे वस्तु कहीं दूसरी हो जायेगी? और लोगों को सरल में चढ़ा दिया है कि व्रत करो, अपवास करो, तुम्हारा कल्याण होगा। मार डाला है! बन्ध अधिकार कहता है कि मैंने उसे अहंकार में चढ़ा दिया है। वह तो राग की क्रिया है। आहाहा! वह तो बन्ध की क्रिया है। यह कैसे बैठे?

भरा हुआ जो 'महानाट्येन' अनन्त काल से लेकर... आहाहा! है? **अखाड़े का सम्प्रदाय,...** यह नाचने का ही सम्प्रदाय है, कहते हैं। विकार के अहंकार में नाचने का ही यह सम्प्रदाय है। आहाहा! (इसलिए) पूरा समुदाय ऐसा कहता है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा पुण्य-पाप के राग से रहित प्रभु है, उसे राग के रस में मैंने चढ़ा दिया है, कहता है। हम यह दया पालते हैं, हम व्रत करते हैं, हमने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया। आजीवन ब्रह्मचर्य तो शुभराग है, वह कहाँ ब्रह्म—आत्मा का (आचरण है)? आहाहा! हम बालब्रह्मचारी हैं! क्या है प्रभु तुझे? आजीवन ब्रह्मचारी तो वस्तु है, आनन्द में रमना, वह वस्तु है और इस बाहर के मात्र त्याग में उसे चढ़ा दिया है न? **उसके द्वारा। क्या करके ऐसा है बन्ध?** यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल २, सोमवार, दिनांक-१२-१२-१९७७, कलश-१६३-१६४, प्रवचन-१७३

कलशटीका, १६३ कलश (का) अन्तिम भाग है न! **अनन्त काल से लेकर अखाड़े का सम्प्रदाय,...** अर्थात् यहाँ ऐसा कहते हैं कि राग और द्वेष विकार, वह अखाड़ा है, उसमें नाचता है। जीव अनादि से अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर विकार में नाचता है। यह अखाड़ा उसका सम्प्रदाय है। आहाहा! यह दुःख के अखाड़े में नाचता है। पर्यायबुद्धि से बात है न!

क्या करके ऐसा है बन्ध ? यह बन्ध है। राग का अखाड़ा है, उसमें रमता है, वह बन्ध है। भगवान आत्मस्वरूप, वह अबन्ध है। अबन्धस्वरूप को भूलकर राग आदि विकार के अखाड़े में नाच रहा है, परिणम रहा है, वह संसार है। कैसा है बन्ध? है?

'सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा' आहाहा! **सर्व संसारी जीवराशि को...** संसारी (जीवराशि) अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर साधु (होकर) नौवें ग्रैवेयक गया, वह सब जीवराशि **'प्रमत्तं कृत्वा' जीव के शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट कर।** आहाहा! वह राग के बन्धभाव में रमनेवाले उन्हें (देखकर) बन्ध को गर्व हुआ है कि बड़े महात्मा को मैंने गिराया है! आहाहा! हम महाव्रत पालते हैं, ऐसे राग की एकता में रमनेवाले, यह बन्ध कहता है कि ऐसों को मैंने भ्रष्ट किया है। आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों का गर्व लेना है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा। यहाँ अधिक मिथ्यात्व का है। मूल मिथ्यात्व के विषय की बात खास है। राग का अर्थ यह है। आत्मा के जानने-देखने के उपयोग में राग को उपयोग भूमिका में एकता करना, वही बन्ध है और वही संसार है। आहाहा! अस्थिरता की बात है, उसे यहाँ गौण कर रखी है। समझ में आया?

दूसरे प्रकार से कहें तो पर्यायबुद्धि में बन्धभाव को अपना मानता है। आहाहा! वह शुद्धस्वरूपी चैतन्य शाश्वत् असली तत्त्व से बँधे, उसे भ्रष्ट किया है। आहाहा! उसके बादशाही के स्थान में से उसे भ्रष्ट कर दिया है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान के स्थान से राग की एकता के भावबन्ध ने उसे स्वभाव की स्थिति से भ्रष्ट किया है। आहाहा!

'**प्रमत्त कृत्वा**' पूरे जगत के जीवों को (शुद्ध स्वरूप से) '**भ्रष्ट कर। किसके द्वारा ? राग-द्वेष-मोह...** पाठ में तो रागोद्गार है। राग का अर्थ कि विकल्प जो विकार है, उसके उदय में उसका जुड़ान हो जाता है। आहाहा! राग के उदय में एकाकार हो जाता है, वह आत्मा को निगल जाता है। राग का जो विकल्प उठता है, (भले) सूक्ष्म राग हो परन्तु उसका उद्गार उल्लसित होकर आत्मा उसमें एकाकार हो जाता है, वह बन्धभाव है।

राग '**उद्गार**' **अति ही आधिक्यपना,...** है, ऐसा कहा। राग का—अशुद्ध परिणति का, ऐसा। पाठ में राग है तो फिर राग का अर्थ किया। राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि जो विकार, उसका बहुत ही अधिकपना है। आहाहा! उससे पृथक् पड़कर चैतन्य का अधिकपना पृथक् होना चाहिए, उसके बदले राग का अधिकपना हो गया है। आहाहा! समझ में आया? बाहर की चीज़ तो कहीं रह गयी। राग के भाव में जिसे बहुत ही स्वभाव से पृथक् अधिकपना गया है। आहाहा! ऐसा बन्ध—राग के एकतापने का जो बन्ध, उसने स्वरूप से भ्रष्ट कर दिया है और बन्धभाव में उसे रमाया है। आहाहा!

ऐसी जो मोहरूप मदिरा,... '**महारसेन**' है न? आहाहा! पर में, राग में सावधानी है, वह मोहरूपी मदिरा पी है। आहाहा! **मोहरूप मदिरा, उसके द्वारा।** उसे अधिक हो गया है। वह भाव ही जिसे अधिक भासित होता है। राग का भाव ही जिसे अधिक भासित होता है। भगवान अन्दर राग से भिन्न है, उस चीज़ को वह बन्धभाव देखने नहीं देता। आहाहा!

मुमुक्षु : यह सब अज्ञानी को तो कुछ खबर नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए यहाँ कहते हैं न? कि उसे खबर नहीं, इसलिए कहते हैं, मूढ़ है। जिसे अन्तर स्वरूप है, उस पर दृष्टि नहीं, उसकी दृष्टि राग पर है। राग के अधिकपने में वह स्वयं रगड़ गया है। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, वीतरागस्वरूपी भगवान, जिनस्वरूपी को राग की अधिकता में बन्ध ने जोड़ दिया है। आहाहा! उसे जहाँ-तहाँ राग ही भासित होता है। मैं अन्दर राग से भिन्न हूँ, ऐसा भासन नहीं। आहाहा! क्रियाकाण्ड में भी जहाँ-तहाँ उसे मैं राग करता हूँ, पुण्य करता हूँ, ऐसा ही अज्ञानी को भासित होता है, कहते हैं।

मोहरूप मदिरा, उसके द्वारा। भावार्थ इस प्रकार है—जिस प्रकार किसी जीव को मदिरा पिलाकर विकल किया जाता है,... गहल-पागल (किया गया हो)। **सर्वस्व छीन लिया जाता है,...** आहाहा! मदिरा पिलाकर सर्वस्व छीन लिया (गया हो)। आहाहा! अभी तो कोई दूसरा कुछ करते हैं। मस्तिष्क (में कुछ करके) लूट लेते हैं। कुछ विद्या-बिद्या करते हैं, क्या कहते हैं? मुम्बई में ऐसे कितने ही लोग होते हैं न? इसका मस्तिष्क अस्थिर कर डालते हैं। बलुभाई को किया था। हैं ऐसे लोग। ऐसी कुछ विद्या होती है, (इसलिए) फिर उसे ही देखता है और उसके पीछे-पीछे जाता है। उसका (सर्वस्व) ले लेवे। बलुभाई कहते थे। इसी प्रकार इस राग को ही देखता है। अज्ञानी जहाँ-तहाँ राग को ही देखता है। भगवान अन्दर रागरहित महाप्रभु! क्षणिक राग जो पर्यायबुद्धिवाला, उसे ही देखता है, कहते हैं। आहाहा! उसे गहल कर डाला है, पागल कर डाला है। आहाहा!

किसी जीव को मदिरा पिलाकर विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पद से भ्रष्ट कर दिया जाता है,... है न? **उसी प्रकार अनादि काल से लेकर सर्व जीवराशि राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम में मतवाली हुई है।** पाठ में तो अकेला राग ही है। राग का अर्थ मोह। राग अर्थात् पर में मोह। उसे यहाँ रागादि शब्द प्रयोग किया है।

अनादि काल से लेकर सर्व जीवराशि राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम में मतवाली हुई है। आहाहा! धर्म के बहाने भी उस क्रियाकाण्ड में जो राग होता है, उसमें गहल-पागल हो गया है कि हम धर्म करते हैं। आहाहा! जिसे राग का रस चढ़ गया है, कहते हैं। उसने चैतन्य के रस को लूट डाला है। आहाहा! **मतवाली हुई है, इससे ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता है।** इसलिए उसे आठों कर्म का बन्धन होता है।

ऐसे बन्ध को शुद्ध ज्ञान का अनुभव... अब योगफल यह लेना है कि, ऐसे बन्ध को **शुद्ध ज्ञान का अनुभव...** भगवान आत्मा! पवित्र का पिण्ड प्रभु शुद्ध चैतन्यघन का अनुभव, वह बन्ध को मिटानेवाला है। आहाहा! किसी क्रियाकाण्ड से वह बन्ध मिटे, ऐसा (नहीं है)। क्योंकि क्रियाकाण्ड का भाव स्वयं बन्ध है। आहाहा! लोगों को ऐसी बातें सूक्ष्म पड़ती हैं, साधु को कठिन पड़ता है।

ऐसे बन्ध को शुद्ध ज्ञान का अनुभव मेटनशील है,... (अर्थात्) मिटाने का जिसका स्वभाव है। आहाहा! मैं ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, उसका जो अनुभव करना, वह ऐसे बन्ध को मिटाने के स्वभाववाला भाव है। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए शुद्ध ज्ञान उपादेय है। अकेला चैतन्यघन प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर / समुद्र प्रभु, ऐसा शुद्ध आत्मा, वही एक अंगीकार करनेयोग्य है। वही आदरणीय और ग्रहण करनेयोग्य है। आहाहा! बाकी कोई भी दया, दान, व्रत आदि के राग को अंगीकार करनेयोग्य नहीं। क्योंकि वह तो बन्धभाव है। आहाहा! कठिन काम!

मुमुक्षु : व्यवहार का तो भुक्का उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस वस्तु में व्यवहार है ही नहीं। अज्ञानी ने व्यवहार खड़ा किया है। यहाँ तो कहेंगे कि उपयोग जो है, ज्ञान और दर्शन का उपयोग, लो! दोपहर में भी उपयोग आया था। ज्ञेय के अवलम्बन बिना का (उपयोग)। यहाँ जो जानने-देखने का उपयोग है, उसमें राग को अपना करता है, वही भावबन्ध और मिथ्यात्व है। समझ में आया? यहाँ मुख्य यह बात ली है।

ज्ञानी को भी.... अभी लेंगे (कि) समकिती है, जिसने राग की एकता तोड़ी है और स्वभाव की एकता की है, उसे विषय भोग सेवन करे तो भी उसे बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि वह राग और उपयोग में एकत्व नहीं करता। आहाहा! अभी मुख्य बात यह लेनी है। समझ में आया? आहाहा! बोल लेंगे।

इसलिए शुद्ध ज्ञान... ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञान अर्थात् जानना... जानना... जानना... जिसका स्वरूप, वह आत्मा। जिसमें जानना... जानना... जानना... जानना... जिसका सत्त्व, सत् का सत्त्व जानना... जानना... जानना... ऐसा जो शुद्ध ज्ञान अथवा शुद्धात्मा, वही सम्यग्दृष्टि को उपादेय और आदरणीय है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें सूक्ष्म पड़े परन्तु क्या हो?

कलश - १६४

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ।।२-१६४।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — प्रथम ही बन्ध का स्वरूप कहते हैं — 'यत् उपयोगभूः रागादिभिः ऐक्यं समुपयाति स एव केवलं किल नृणां बन्धहेतुः भवति' [यत्] जो [उपयोग] चेतनागुणरूप [भूः] मूलवस्तु, [रागादिभिः] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम के साथ, [ऐक्यं] मिश्रितपनेरूप से [समुपयाति] परिणमती है, [स एव] एतावन्मात्र [केवलं] अन्य सहायबिना, [किल] निश्चय से [नृणां] जितनी संसारी जीवराशि है, उसके [बन्धहेतुः भवति] ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का कारण होता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि बन्ध का कारण इतना ही है कि और भी कुछ, बन्ध का कारण है? समाधान इस प्रकार है कि बन्ध का कारण इतना ही है, और तो कुछ नहीं है-ऐसा कहते हैं — 'कर्मबहुलं जगत् न बन्धकृत् वा चलनात्मकं कर्म न बन्धकृत् वा अनेककरणानि न बन्धकृत् वा चिदचिद्वधः न बन्धकृत्' [कर्म] ज्ञानावरणादि कर्मरूप बाँधने को योग्य हैं जो कार्मणवर्गणा, उनसे [बहुलं] घृतघट के समान भरा है-ऐसा जो [जगत्] तीन सौ तेतालीस राजुप्रमाण लोकाकाशप्रदेश, [न बन्धकृत्] वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है। समाधान इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्धपरिणामों के बिना, कार्मणवर्गणामात्र से बन्ध होता, तो जो मुक्तजीव हैं, उनके भी बन्ध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्धपरिणाम हैं तो ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध है, तो फिर कार्मणवर्गणा का सहारा कुछ नहीं है; जो रागादि अशुद्धभाव नहीं हैं, तो कर्म का बन्ध नहीं है, तो फिर कार्मणवर्गणा का सहारा कुछ नहीं है। [चलनात्मकं कर्म] मन-वचन-काययोग, [न बन्धकृत्] वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो मन-वचन-काययोग, बन्ध का कर्ता होता, तो तेरहवें गुणस्थान में मन-वचन-काययोग है सो उनके द्वारा भी कर्म का बन्ध होता; इस कारण जो रागादि अशुद्धभाव है तो कर्म का

बन्ध है, तो फिर मन-वचन-काययोगों का सहारा कुछ नहीं है; रागादि अशुद्धभाव नहीं है, तो कर्म का बन्ध नहीं है, तो फिर मन-वचन-काययोग का सहारा कुछ नहीं है। [अनेककरणानि] पाँच इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, छठा मन, [न बन्धकृत्] ये भी बन्ध के कर्ता नहीं हैं। समाधान इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव के पाँच इन्द्रियाँ हैं, मन भी है, उनके द्वारा पुद्गलद्रव्य के गुण का ज्ञायक भी है। जो पाँच इन्द्रिय और मनमात्र से कर्म का बन्ध होता, तो सम्यग्दृष्टि जीव को भी बन्ध सिद्ध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्धभाव है तो कर्म का बनध है, तो फिर पाँच इन्द्रिय और छठे मन का सहारा कुछ नहीं है; जो रागादि अशुद्धभाव नहीं है तो कर्म का बन्ध नहीं है, तो फिर पाँच इन्द्रिय और छठे मन का सहारा कुछ नहीं है। [चित्] जीव के सम्बन्धसहित एकेन्द्रियादि शरीर, [अचित्] जीव के सम्बन्धरहित पाषाण, लोह, माटी, उनका [वधः] मूल से विनाश अथवा बाधा-पीड़ा, [न बन्धकृत्] वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है। समाधान इस प्रकार है कि जो कोई महामुनीश्वर भावलिंगी, मार्ग चलता है; दैवसंयोग (से) सूक्ष्म जीवों को बाधा होती है, सो जो जीवघातमात्र से बन्ध होता, तो मुनीश्वर के कर्मबन्ध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि—जो रागादि अशुद्धपरिणाम है तो कर्म का बन्ध है, तो फिर जीवघात का सहारा कुछ नहीं है; जो रागादि अशुद्धभाव नहीं है तो कर्म का बन्ध नहीं है, तो फिर जीवघात का सहारा कुछ नहीं है।।२-१६४।।

कलश - १६४ पर प्रवचन

१६४ (कलश)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ।।२-१६४।।

प्रथम ही बन्ध का स्वरूप कहते हैं—'यत् उपयोगभूः रागादिभिः ऐक्यं समुपयाति स एव केवलं किल नृणां बन्धहेतुः भवति' जो चेतनागुणरूप 'भूः' अर्थात् **मूल...** भूमिका **वस्तु...** आहाहा! चेतनास्वरूप की मूल भूमिका पृथ्वी है। जानन-देखन स्वभाव

जिसकी पृथ्वी अर्थात् भू—जमीन है, जिसका वह स्थान है। आहाहा! ऐसे चेतनागुणरूप। '**उपयोग**' शब्द है न? उसकी व्याख्या **चेतनागुणरूप मूल वस्तु... 'भूः'**

'**रागादिभिः**' **राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम के साथ मिश्रितपनेरूप से** '**ऐक्यं**' है न? '**ऐक्यं**' जानने-देखने के उपयोग के साथ राग की एकता—मिश्रितपना करता है, वही मिथ्यात्व है और वही बन्ध का कारण है। आहाहा!

'**उपयोगभूः रागादिभिः ऐक्यं समुपयाति**' आहाहा! जानने-देखने के व्यापार में जो राग और अपनी भूमिका उपयोग में एकत्व करता है... आहाहा! जो उपयोगभूमि से राग पृथक् है। जानने-देखने के स्वभाव से राग पृथक् है। चाहे तो वह मिथ्यात्व का राग हो या चाहे तो चारित्रमोह का राग (हो), अज्ञान से हुआ राग, दया, दान और व्रत का हुआ राग... आहाहा! वह चैतन्य का उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन के उपयोग में उस राग को जो एकरूप मिश्ररूप मानता है, एकपने मानता है, वही मिथ्यात्व बन्ध का कारण और संसार है। आहाहा! क्योंकि प्रभु जिनस्वरूप है। वीतराग अकषायस्वरूप प्रभु आत्मा है। उसे वर्तमान जानने-देखने के व्यापार में वह अबन्ध परिणाम है, उसके साथ राग के बन्धभाव को एक करता है। आहाहा! अबन्धभाव में राग के भाव के बन्ध को एक करता है, वही बन्ध का कारण है। सूक्ष्म बात है, भाई! शरीर, वाणी, मन, कर्म तो पर रह गये, उन्हें तो वह कर नहीं सकता, परन्तु यह मान्यता में एक कर सकता है। उल्टी मान्यता में (एक कर सकता है)। आहाहा! तथापि वह विपरीत मान्यता उस स्वभाव में नहीं है। आहाहा! वह पर्याय में मिथ्याश्रद्धा की दृष्टि उत्पन्न करता है।

ओहो! भगवान तो ज्ञातादृष्टा है न, कहते हैं। प्रभु चैतन्य तो ज्ञातादृष्टा उपयोग भूमि है न! आहाहा! उसमें जो कोई शुभ-अशुभराग को एकपने, स्वभाव और विकार को मिश्रितपने मानता है, वह मिथ्यादृष्टि बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, उपवास का विकल्प—राग उठता है, वह जानने-देखने के परिणाम के साथ उस राग के परिणाम को एक करता है अथवा अपने जानने-देखने के भाव में राग को लाता है। आहाहा! ऐसा अधिकार है। आहाहा!

जिसमें नहीं, उसमें (अर्थात् कि) उपयोग में लाता है, कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा तो ज्ञातादृष्टा है, परन्तु उसके परिणाम में भी ज्ञातादृष्टा के परिणाम हैं, वह उपयोग है। त्रिकाल उपयोग है, परन्तु उसमें वह एकत्व कर नहीं सकता। परन्तु उस त्रिकाल उपयोग में से जो उपयोग होता है, उसमें राग को एक करता है। आहाहा! समझ में आया? पर्याय में एकता करता है न? द्रव्य में कहीं एकता (नहीं होती)। द्रव्य तो द्रव्य है ही। आहाहा! ऐसी बात पड़ी रही और पूरा मार्ग कहीं जोड़ दिया। आहाहा!

'समुपयाति' उपयोगभूमिका में। आहाहा! ऐसे तो चेतनागुण मूल वस्तु त्रिकाल है, तथापि उसके परिणाम में अकेले जानने-देखने के परिणाम होना चाहिए, ऐसा न होकर, उन जानने-देखने के परिणाम में राग की एकता करता है। आहाहा! समझ में आया? **'समुपयाति' परिणमती है।** राग को ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ एकपने परिणमता है। आहाहा!

एतावन्मात्र अन्य सहाय बिना... कहते हैं कि इतना ही मात्र। दूसरा कोई कारण नहीं है, ऐसा। बन्ध के कारण में इतना ही कारण, दूसरा कोई बन्ध का कारण नहीं। आहाहा! निमित्त चाहे जो हो परन्तु वे बन्ध के कारण नहीं, ऐसा कहते हैं। उसका यह जो अशुद्ध उपादान परिणाम राग की एकता के परिणाम, वह एक ही बन्ध का कारण है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! आहाहा!

अन्य सहाय बिना... 'केवलं' लिया न? केवल **'किल'**। **अन्य सहाय बिना... निश्चय से जितनी संसारी जीवराशि है, उसके 'बन्धहेतुः भवति' ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का कारण होता है।** आहाहा! दूसरा कोई कारण नहीं है, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं राग बाँधता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं राग को पकड़ता है और अपने एकत्वरूप से मानता है, वह मिथ्यात्व, वह एक ही बन्ध का कारण यहाँ गिनने में आता है। समझ में आया? जो अनन्त संसार का कारण है। राग के विकल्प को निर्विकल्प भगवान आत्मा के साथ एकत्व करके जुड़ता है, मिश्रित कर डालता है। अमृत को और जहर को मिश्रित करता है। आहाहा! भगवान तो अमृतसागर है, प्रभु! और राग चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का हो परन्तु जहर है। यह कठिन पड़ता है! आहाहा! श्वेताम्बर में तो यह देखो न

उपधान और धमाधम (चलती है)। लोग प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। दो-पाँच लाख खर्च करे मानो कि ओहोहो! अरे... भगवान! भाई! यह जड़ मैंने खर्च किये, यह (मान्यता) तो मिथ्यात्व है परन्तु उसमें कदाचित् राग मन्द किया हो, उस राग को आत्मा के चैतन्य स्वभाव के साथ एकता करे, बस! (वह) एक ही संसार है, बन्ध है। गजब है! लाखों, करोड़ों के दान करे, लाखों मन्दिर बनावे, रथयात्रा-गजरथ निकाले, दस-दस लाख खर्च करे... आहाहा!

अभी यहाँ 'चित्तल' के पास कोई एक गाँव है। 'वाई' 'वाई' गाँव है, वहाँ हाथी आया। ब्राह्मण ने पूजा की। गणेश को सूँड सही न? पूजा करके उसकी सूँड में सवा रुपया रखा। उसके स्वामी ने ऐसे सूँड ऊपर (करके) रुपया देने गया वहाँ चवन्नी गिर गयी। वह ब्राह्मण चवन्नी लेने गया, वहाँ (उसे) सूँड में पकड़कर फेंका, (वहीं) मर गया! वह आरती उतारता है, पैसा रखता है, (उसे ही मार डाला)!

मुमुक्षु : वह पैसा क्यों ले जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उस (सूँड में से) गिर गया। सवा रुपया सूँड में रखा था, वह उसके महावत को देते हुए चवन्नी गिर गयी तो वह चवन्नी लेने गया, उसमें उसकी सूँड ने पकड़कर फेंका तो वह टूट गया... क्या कहलाता है? किडनी टूट गयी। आहाहा! अभी हुआ है। चित्तल के पास वाई (गाँव है, वहाँ हुआ है)। आहाहा! हाथी ने क्या किया और उसको क्या हुआ? हाथी भी राग की एकता में जुड़ गया और मरनेवाला ऐसा मानो कि मैंने आरती उतारी और मुझे (मार डाला)। आहाहा! राग की एकता में जुड़ा है (और) नये अनन्त संसार के कारण और बन्ध किये। आहाहा!

बन्धहेतु एक ही है न? ऐसा कहा। है न? **'केवलं'** (अर्थात्) दूसरा नहीं। आहाहा! यहाँ तो (मिथ्यात्व), अव्रत, प्रमाद और कषाय (योग), पाँच बन्ध के हेतु कहे हैं, उसमें यह एक ही बन्ध का कारण है। संसार का मूल कारण एक ही है। ऐसे पाँच (कारण) लिये हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। वह यहाँ नहीं। यहाँ तो राग की एकता करे, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह पर की सहायता और दूसरे की अपेक्षा बिना अकेला बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

भाषा है न? देखो न! '**केवलं**' '**किल**' अकेला वास्तव में। वापस ऐसा शब्द है। यह मिथ्यात्वभाव अर्थात् भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु को परिणाम में राग की एकता करता है। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो परन्तु जो अविकारी स्वभाव में साथ में विकार को जोड़ देता है, वह मिथ्यात्व अकेला ही दूसरे की सहायता बिना, दूसरे तत्त्व और दूसरे भाव की सहायता बिना अकेला बन्ध का कारण है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! यह सब सुना भी नहीं, पूरी जिन्दगी ऐसी की ऐसी हीरा और माणिक में (पूरी की)। आहाहा!

तीन लोक का नाथ आत्मा अन्दर मुक्तस्वरूप है। आहाहा! मुक्तस्वरूप के साथ रागबन्ध और एकता करता है... आहाहा! परिणाम में (एकता करता है), द्रव्य में तो एकता हो ही, (ऐसा) कहाँ है? आहाहा! परिणाम में एकता की, तो भी द्रव्य तो जो शुद्ध है, वह शुद्ध ही है। उसमें जरा भी अशुद्धता नहीं होती। आहाहा! ऐसा मार्ग है। आहाहा! जो कोई भगवान आत्मा जिसकी चैतन्यभूमिका हो, जानना-देखना वही जिसका स्थान और भूमिका है, उसमें जिसने राग का कोई भी छोटे में छोटा सूक्ष्म विकल्प... आहाहा! गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी स्वयं अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वीतरागमूर्ति प्रभु के साथ इस राग को एकत्व करता है, वह अकेला मिथ्यात्व, दूसरे निमित्तों की सहायता बिना अकेला बन्ध का कारण है। आहाहा! आहा! यह नरक और निगोद का कारण है, कहते हैं। दो शब्द पड़े हैं न?

'**केवलं**' और '**किल**' अर्थात् निश्चय से ऐसा (इसका अर्थ है)। कथंचित् व्यवहार से और कथंचित् यह निश्चय से, ऐसा (नहीं)। आहाहा! '**किल**' निश्चय से कहते हैं कि भगवान वीतरागमूर्ति को राग के साथ जोड़ देता है, मिश्र कर डालता है, अकेला वीतरागभाव रखता नहीं, उसके साथ राग को मिश्रित करता है, ऐसा जो मिथ्यादृष्टि बन्धभाव, वही बन्ध का कारण है। आहाहा!

जितनी संसारी जीवराशि है, उसके ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का कारण होता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि बन्ध का कारण इतना ही है कि और भी कुछ बन्ध का कारण है? बन्ध का कारण यह एक ही है या दूसरा कोई (बन्ध का) कारण है? आहाहा!

समाधान इस प्रकार है कि बन्ध का कारण इतना ही है,... है? आहाहा! जिनस्वरूपी भगवान को राग के साथ एकत्व करना, यह एक ही बन्ध का कारण है। आहाहा! पर (के साथ) तो एकत्व माने तो भी होते नहीं और यह तो (एकत्व) माने तो पर्याय में मान्यता होती है। मान्यता, हों! आहाहा! तथापि वह मान्यता द्रव्यस्वभाव में नहीं है। आहाहा! क्या द्रव्य और क्या पर्याय! ऐसा प्रभु का मार्ग है। तेरा पंथ ही यह है, कहते हैं, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! तू कौन है अन्दर? और कहाँ तूने अपना मानकर पड़ा है? आहाहा! तुझे खबर नहीं, (ऐसा) यहाँ कहते हैं। आहाहा! वह तो जाननेवाला-देखनेवाला चेतन, चेतनभूमिका, वह तो सर्वस्व चैतन्य है। आहाहा! उसके परिणाम तो अकेले जानने-देखने के होना चाहिए। इतना न करके उसे राग और दया, दान, व्रतादि (परिणाम के साथ एकता करता है)। मूल तो भूल यहाँ है न? पाप के परिणाम तो ठीक, आहाहा! शुभराग को अपने वीतरागमूर्ति प्रभु के साथ एकरूप करता है, मानता है, श्रद्धा करता है। आहाहा! यह एक ही बन्ध का कारण है।

और तो कुछ नहीं है;... है न? यह तो एकान्त कर दिया! बन्ध के पाँच कारण हैं न? यहाँ अभी मुख्य बन्ध का कारण एक ही लिया है। आहाहा! अव्रत के परिणाम अल्प हैं, उसे अल्प स्थिति, रस का बन्ध पड़ता है। वह कहीं संसार को बढ़ानेवाला नहीं है, भव बढ़ानेवाला नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : थोड़ा बन्ध होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बन्ध होता है परन्तु फिर निर्जरित होने के लिये बन्ध होता है। ऐसा गिनकर यहाँ (एक ही बन्ध का कारण कहा)। तथापि फिर आगे कहेंगे कि ऐसा मानकर तू स्वच्छन्दी हो जाये कि, हमारे तो विषयभोग भोगते हुए भी निर्जरा है। तो तुझे वह भोगने का भाव हुआ है, वह रूखेपने रहा है? (भोगने का भाव) हुआ तो हो गया! मिथ्यात्व हुआ है और बन्ध का ही कारण है। विषय के भोग में रस आया तो वह मिथ्यात्व ही है। आहाहा! यह तो कहेंगे कि समकिती विषयभोग भोगने पर भी उसे वे भोग निर्जरा का हेतु है, बन्ध का कारण नहीं। क्योंकि राग को अपने उपयोग में मिलाता नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। इसलिए बात न बैठे, उसे एकान्त लगे ऐसा है न यह? यहाँ एकान्त ही कहा है। आहाहा! ऐसा कहते हैं।

और तो कुछ नहीं है;... ऐसा कहते हैं। **'कर्मबहुलं जगत् न बन्धकृत् वा चलनात्मकं कर्म न बन्धकृत् वा अनेककरणानि न बन्धकृत् वा चिदचिद्वधः न बन्धकृत्'** आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! **ज्ञानावरणादि कर्मरूप बँधने को योग्य हैं जो कार्मणवर्गणा,...** कर्म होने के योग्य परमाणु का समूह पूरे लोक में भरा है। **उनसे 'बहुल' घृतघट के समान...** (अर्थात्) जैसे घी का घड़ा पूरा भरा हो, ऐसे वह कर्मवर्गणा से भरपूर पूरा लोक है, पूरा घट है। आहाहा! कर्म होने के योग्य परमाणु का समूह। घृतघट की भाँति पूरा लोक भरा हुआ है। आहाहा! समझ में आया?

तीन सौ तैतालीस राजुप्रमाण लोकाकाशप्रदेश... कार्मणवर्गणा भरी पड़ी है, पूरे लोक में भरी पड़ी है। जहाँ सिद्ध भगवान हैं, वहाँ भी कार्मणवर्गणा भरी पड़ी है। कर्म होने के योग्य, कर्म नहीं। आहाहा! कार्मणवर्गणा का समूह ३४३ राजुलोक पूरा भरा है, कहते हैं। आहाहा! **वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है।** वह कार्मणवर्गणा बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा!

समाधान इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध परिणामों के बिना कार्मणवर्गणामात्र से बन्ध होता... नहीं। राग की एकताबुद्धि बिना कार्मणवर्गणा के ढ़ेर पड़े हैं, परन्तु वे बन्ध का कारण नहीं हैं। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग! वीतराग ने वापस वस्तु रखी है, कार्मणवर्गणा योग्य परमाणु है, यह बात रखी है। अन्यत्र ऐसी (बात) कहीं नहीं है। आहाहा! कर्म होने के योग्य के समूह के पिण्ड पूरे लोक में भरे हैं। यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! कर्म की वर्गणा। वर्गणा अर्थात् समूह, ढ़ेर, वह तो पूरे लोक में भरा है। जहाँ सिद्ध भगवान (हैं, वहाँ) भी कार्मणवर्गणा पड़ी है, वहाँ विराजते हैं। आहाहा! यह कहेंगे...

जो रागादि अशुद्ध परिणाम हैं तो ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध है,... समझ में आया? क्योंकि (रागादि अशुद्ध) **परिणामों के बिना कार्मण वर्गणामात्र से बन्ध होता...** नहीं। (यदि अशुद्ध परिणाम बिना भी बन्ध होता हो तो) **जो मुक्त जीव हैं, उनके भी बन्ध....** हो। मुक्त जीव हैं, जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं, वहाँ कार्मणवर्गणा का ढ़ेर पड़ा है। यदि वह बन्ध का कारण हो तो उन्हें भी बन्ध होगा। राग की एकता का कारण नहीं, इसलिए वह बन्ध का कारण है नहीं। आहाहा! आहाहा! है न?

मुक्त जीव हैं, उनके भी बन्ध होता। कार्मणवर्गणा भरी है, उससे यदि बन्ध होवे तो मुक्त जीव को (भी) बन्ध होता। जहाँ सिद्ध विराजते हैं, (सिद्ध भगवान तो) अरूपी घन हैं, उनके आत्मा के अन्दर में वहाँ अनन्त कर्म की वर्गणा पड़ी है। आहाहा! समझ में आया? और उसका जो पूरा ज्ञानशरीर इतनी बड़ा है, उसके अन्दर में तो अनन्त कर्म की वर्गणा पड़ी है। अनन्त निगोद जीव वहाँ पड़े हैं। आहाहा! परन्तु वे निगोद के जीव राग की एकता करते हैं, इसलिए कर्म का बन्ध है। कर्मवर्गणा से बन्ध हो तब तो सिद्ध को होना चाहिए। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें सुनने को निवृत्ति नहीं मिलती और हो... हा... (करके) ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

है? **मुक्त जीव हैं, उनके भी बन्ध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध परिणाम हैं तो ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध है, तो फिर कार्मणवर्गणा का सहारा कुछ नहीं है;....** आहाहा! बन्ध में उसकी कोई मदद नहीं है। आहाहा! आहाहा! दो-दो बातें लेंगे, हों! दो-दो। क्या दो-दो? कि अशुद्ध रागादि परिणाम हैं तो बन्ध है। ज्ञानावरणादि (कर्म का) सहारा कुछ नहीं। अब विशेष (अर्थ) करते हैं।

जो रागादि अशुद्ध भाव नहीं हैं तो कर्म का बन्ध नहीं है, तो फिर कार्मणवर्गणा का सहारा कुछ नहीं है। आहाहा! दो-दो बार एक बात को सिद्ध करते हैं। क्या कहा यह? कि, यदि रागादि अशुद्ध परिणाम है तो उसे कर्म का बन्ध होता है। **कार्मणवर्गणा का सहारा कुछ नहीं है। जो रागादि अशुद्ध भाव नहीं हैं...** पहले नास्ति से लिया। अब नहीं तो कर्मबन्ध नहीं। तो (फिर) कार्मणवर्गणा का सहारा भी नहीं। तो कार्मणवर्गणा उसमें है नहीं। आहाहा!

'चलनात्मकं कर्म' अब दूसरा बोल लिया। **मन-वचन-काययोग...** यह मन, वचन और काया का योग—कंपन **वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है।** आहाहा! **भावार्थ इस प्रकार है कि जो मन-वचन-काययोग बन्ध का कर्ता होता तो तेरहवें गुणस्थान में मन-वचन-काययोग है...** आहाहा! दो मन के, दो वचन के और तीन काया के ऐसे सात योग वहाँ तेरहवें (गुणस्थान में) हैं। समझ में आया? सत्य और व्यवहार—दो मन योग। सत्य और व्यवहार—दो वचनयोग। औदारिक, मिश्र और कार्मण ऐसे सात योग हैं। तथापि बन्ध का कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

रागादि अशुद्ध भाव है तो कर्म का बन्ध है, तो फिर मन-वचन-काययोगों का सहारा कुछ नहीं है;... मन-वचन-काया है, इसलिए बन्ध है, (ऐसी) उसकी कोई सहायता नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें? मन, वचन और काया की क्रिया और भाव तो तेरहवें में भी है, कहते हैं। यदि उनसे बन्ध होता हो तो उसे बन्ध (होना चाहिए) परन्तु उन्हें तो बन्ध है नहीं। राग की एकताबुद्धि बिना मात्र कार्मणवर्गणा से बन्ध नहीं होता और बन्ध होता है तो राग की एकताबुद्धि से होता है, वर्गणा से नहीं। आहाहा! ऐसे लॉजिक से तो समझाया है। यहाँ बड़ी-बड़ी बातें करे और लोगों को प्रसन्न-प्रसन्न कर डाले ऐसे! इसने ऐसा किया और इसने व्रत पालन किये और इसने अपवास किये, उसमें इसने (उत्सव) मनाया। क्या कहलाता है? व्रत किये उसे मनाया। क्या कहलाता है? उद्यापन किया। उसमें पाँच लाख खर्च किये। हाथी के हौदे बैठाकर आये, फिर उसे माला दी। अरे... प्रभु! क्या है परन्तु यह सब? यह सब क्रियायें तो पर की है, उसमें यदि तूने राग की एकता की हो तो मिथ्यात्व और बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसी बात कठिन लगती है। यह तो तुम अकेला निश्चय... निश्चय कहते हो। परन्तु निश्चय अर्थात् सत्य ही यह है। समझ में आया? आहाहा!

मन-वचन-काययोगों का सहारा कुछ नहीं है;... है न? **'अनेककरणानि' पाँच इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, छठा मन...** पाँच इन्द्रियाँ और छठा मना। **ये भी बन्ध के कर्ता नहीं हैं।** आहाहा! यह जड़ पाँच इन्द्रियाँ बन्ध के कर्ता नहीं, तथा मन।

समाधान इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव के पाँच इन्द्रियाँ हैं,... आहाहा! **मन भी है,...** आहाहा! **उनके द्वारा पुद्गलद्रव्य के गुण का ज्ञायक भी है।** पुद्गलद्रव्य के गुण का ज्ञानी जाननेवाला भी है। आहाहा! **जो पाँच इन्द्रिय और मनमात्र से कर्म का बन्ध होता तो सम्यग्दृष्टि जीव को भी बन्ध सिद्ध होता।** आहाहा! यहाँ तो मिथ्यात्व सम्बन्धी बात लेनी है न? इसलिए (ऐसा कहा)। उसमें से वापस ऐसा ही एकान्त निकाले कि देखो! सम्यग्दृष्टि को कुछ भी बन्ध है ही नहीं, उसे राग है ही नहीं। यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो मुख्य एकताबुद्धि के राग की, मिथ्यात्व की बात है। फिर

अस्थिरता का राग है, उतना बन्ध भी है। उसकी बात यहाँ गौण करके कही है। परन्तु उसे निकाल ही डाले, (ऐसा नहीं चलता)।

पाँच बन्ध के कारण कहे, उसमें यहाँ एक मिथ्यात्व बन्ध का कारण कहा और अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग को कर्मबन्ध के कारण नहीं ही, ऐसा एकान्त कहे (तो ऐसा नहीं है)। ऐसा है, देवीलालजी! पाठ ऐसा बोलता है। सम्यग्दृष्टि के पाँच इन्द्रिय के भोग बन्ध का कारण नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। क्योंकि उसे राग की एकताबुद्धि नहीं है। यह सिद्ध करना है। आहाहा! परपदार्थ के साथ एकताबुद्धि है ही नहीं, परन्तु राग के साथ भी एकताबुद्धि नहीं। इसलिए भोग का भाव राग है, वह यहाँ गिनने में ही नहीं आया। आहाहा! विषय में राग तो होता है, परन्तु कहते हैं कि राग की एकताबुद्धि समकिती को नहीं है, इसलिए उसे बन्ध का कारण भोग नहीं। परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं कि उस भोग में जरा भी राग नहीं और भोग भोगता है। एकताबुद्धि नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! मुनि को भी जितना पंच महाव्रतादि का अस्थिरता भाव आता है, (उतना बन्ध है)। उसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद (ऐसे) तीन बन्ध तो नहीं, परन्तु एक कषाय का भाव अभी है। परन्तु यहाँ मुख्यरूप से राग की एकताबुद्धि त्रिकाली स्वभाव में विभाव को एकरूप मानना, वह मिथ्यात्व और वह बन्ध का कारण है। अनन्त संसार का वह कारण है, उसे यहाँ साबित करना है। समझ में आया? फिर वे सब अभी इसमें से ऐसा ही खींचते हैं न? कि ऐसा है और वैसा है, देखो! यह लिखा! (सम्यग्दृष्टि के) भोग को बन्ध नहीं है। अर्थात् उसे राग ही नहीं है। कौन सा राग नहीं? राग की एकताबुद्धि का राग नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसे भगवान के अनेकान्त के वयन, स्याद्वाद की अपेक्षा के वयन न समझे और एकान्त खींचता है। आहाहा!

यह शुभराग आया तो भी कहते हैं कि उसके साथ एकताबुद्धि नहीं। समकिती को अशुभराग आया, परन्तु एकताबुद्धि नहीं। वह अनन्त संसार का कारण है, वह इसे नहीं है; इसलिए बन्ध का कारण नहीं, ऐसा कहना है। आहाहा!

यह कहते हैं कि यह सब क्रियाकाण्ड जो शुभभाव है, वह धर्म का कारण है !

कहाँ ले गये!! यह दया, व्रत, भक्ति, यात्रा और धूमधाम, लाखों रुपये खर्च करे। कल बड़ी शोभायात्रा थी न? तीन दिन के, चाँदी के वे थे न और एक बाई बैठी, मानो ओहोहो! पाँच-दस हजार दिये होंगे तो पुस्तक या कुछ (लेकर) बैठा था। सब ऐसा माने कि मानो इसमें धर्म होता है। अरे... भगवान! मार्ग बापू! कल देखा था, रास्ते में ही आया था। तलेटी में जाना था न? रास्ते में सब निकले। एक व्यक्ति ने बड़ा नया मन्दिर बनाया है न? वहाँ सब माला लेकर जाते होंगे। फूलमाला! जवान लड़का! साधु साथ में थे। उन लोगों में रिवाज (ऐसा कि) आधा खुला रखे। साधु वस्त्र पहने न? एक ओर आधा खुला रखे।

मुमुक्षु : यह नग्नपने का प्रमाण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुझे यही कहना है। नग्नपने में से श्वेताम्बर निकले हैं, तब इतना जरा चिह्न रखा। स्थानकवासी को तो वह भी नहीं होता। यह सब निकले थे। एक ओर उघाड़ा रखते हैं। है न वह? मूल तो यह दिगम्बर की शैली का भाग इस प्रकार से रखा है। मूल मार्ग तो दिगम्बर ही था। आहाहा! वस्त्र रखना, वह मुनि का मार्ग ही जैनधर्म में नहीं है। समझ में आया? ऐसा कहा न? जन्मे प्रमाणे रूप कहा। दो जगह आता है। भगवान ने तो जन्मे प्रमाणे मुनि का रूप कहा है। वस्त्रसहित का रूप वह मुनिपना है ही नहीं, व्यवहार मुनिपना भी नहीं है। आहाहा! ऐसा है, बापू! क्या हो? एक ने (ऐसा) खींचा कि पुण्य के दया, दान के परिणाम धर्म हैं। तब दूसरे ने खींचा कि सम्यग्दृष्टि को चाहे जैसा राग हो, परन्तु बन्ध का भी कारण नहीं। ऐसा नहीं है। यहाँ तो अनन्त संसार की वृद्धि का कारण मिथ्यात्व (गया), उसे—सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं, (ऐसा कहा)। समझ में आया? नहीं तो यहाँ तो भोग लिये हैं। देखो! है? आहाहा!

जो रागादि अशुद्ध भाव है तो कर्म का बन्ध है, तो फिर पाँच इन्द्रिय और छठे मन का सहारा कुछ नहीं है;.... उसे इन्द्रियाँ और मन का भोग बिल्कुल बन्ध का कारण नहीं, कहते हैं। ऐसी बातें हैं। अल्प बन्ध और स्थिति की गिनती नहीं गिनी। सम्यग्दृष्टि को भी जब भविष्य के भव का बन्ध पड़ता है तो अशुभभाव के समय उसे भव का बन्ध नहीं पड़ा। इतना सम्यग्दर्शन का बल है! भविष्य का बन्ध पड़े, जब शुभभाव आवे तब

स्वर्ग का नया बन्ध पड़ता है। अथवा नारकी और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को स्वर्ग में रहना हो तो शुभभाव आवे तब बन्ध पड़ता है। समकिती को अशुभभाव होता है, परन्तु उस समय भविष्य के भव का बन्ध नहीं पड़ता। समझ में आया? आहाहा! इतना सम्यग्दर्शन का—श्रद्धा का जोर है, भाव तो शुभ-अशुभ दोनों आते हैं। परन्तु उसे अशुभभाव के समय भवबन्ध नहीं है। उसे गति का बन्ध नहीं है। गति का अर्थात् भव का, हों! गतिबन्ध पड़ता है। समय-समय नारक आदि गति का बन्ध पड़ता है परन्तु भव का बन्ध नहीं। आहाहा! जब उसे शुभभाव होंगे, तब उसे यहाँ स्वर्ग का बन्ध पड़ेगा। इसी प्रकार नारकी को शुभभाव आवे, तब मनुष्य का बन्ध पड़ेगा। अशुभभाव के समय मनुष्य का भव नहीं पड़ता। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **जो रागादि अशुद्ध भाव नहीं है तो कर्म का बन्ध नहीं है, तो फिर पाँच इन्द्रिय और छठे मन का सहारा कुछ नहीं है।** आहाहा! कार्मणवर्गणा से बन्ध हो तो सिद्ध को (बन्ध) होता। मन-वचन-काया से बन्ध हो तो केवली को होता। पाँच इन्द्रिय और क्रिया से, पाँच इन्द्रिय के विषयादि से बन्ध हो तो समकिती को होता। समझ में आया? आहाहा!

अब एक बोल रहा है, वह विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल ३, मंगलवार, दिनांक-१३-१२-१९७७, कलश-१६४, १६५, प्रवचन-१७४

कलशटीका १६४ (कलश का) अन्तिम भाग है। '**चित्**' शब्द है न, वहाँ से (लेना है)। क्या चलता है? कि इस आत्मा को जो नया बन्धन होता है, उसमें राग, द्वेष की एकताबुद्धि (है, वह मुख्य बन्ध का कारण है)। स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु, जिसका द्रव्यस्वभाव तो अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय प्रभुता से भरपूर है। ऐसे द्रव्यस्वभाव के साथ जो कोई प्राणी अपने उपयोग में यह कोई भी शुभ या अशुभराग को अपने में एकतारूप माने (वह बन्ध का कारण है)। कोई शुभराग दया, दान या पाप या पुण्य का जो राग है, वह आत्मा के स्वभाव के साथ उसके उपयोग में एकताबुद्धि करे, वह मिथ्यादृष्टि है। संसार के भाव में भटकनेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ परवस्तु की एकता की बात नहीं है। परवस्तु तो पृथक् (रह गयी)। स्त्री, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत वह तो पर / भिन्न चीज़ है। वह तो उसमें (-आत्मा में) है नहीं। आहाहा! परन्तु उसमें होनेवाला जो शुभ-अशुभराग... सूक्ष्म बातें, बापू! उसे उपयोगभूमिका में एकता करे... आहाहा! वह उसे बन्धन का कारण है। संसार की वृद्धि का कारण, भटकने का वह (मुख्य कारण है)। राग और शुद्ध चैतन्यस्वभाव और उसके साथ विभाव राग दोनों की एकताबुद्धि करे, वह संसार में भटकने का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

पश्चात् कहते हैं कि इस जगत में कर्म की वर्गणा से भरपूर लोक है। कर्म होने के योग्य ऐसे परमाणु / पुद्गल पूरे लोक में भरे हैं। वह बन्ध का कारण नहीं। यदि यहाँ राग की एकता नहीं तो वे वर्गणायें बन्ध का कारण नहीं। राग की एकता, वह बन्ध का कारण है। यहाँ अनन्त संसार की बात है। आहाहा! छोटे में छोटा राग भी स्वभाव त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल समुद्र शुद्ध चैतन्य भगवान के साथ राग का छोटा कण भी (मिलावे), चाहे तो दया, दान का राग हो या चाहे तो संसार के हिंसा, झूठ आदि का राग हो, उस राग के साथ त्रिकाली पवित्र पिण्ड प्रभु ध्रुव अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान और अनन्त पवित्र गुणों का पिण्ड आत्मा है, उसे त्रिकाली पवित्र के साथ राग के

क्षणिक विभाव को एकत्व करे, वह उसे अनन्त संसार के बन्धन का कारण है। आहाहा!

चाहे तो लोक में कर्म होने के योग्य वर्णणा पड़ी है, पूरा लोक भरा है, तो भी वह बन्ध का कारण नहीं। दूसरी बात, '**चलनात्मकं**' यदि वह कर्मवर्गणा बन्ध का कारण हो तो सिद्ध भगवान जहाँ विराजते हैं, वहाँ अनन्त कर्मवर्गणा पड़ी है (तो उन्हें भी बन्धन होना चाहिए।) समझ में आया? वह कर्मवर्गणा कर्म, वह कहीं बन्ध का कारण नहीं। आहाहा! तथा मन-वचन-काया की क्रिया बन्ध का कारण नहीं। क्योंकि मन-वचन की क्रियायें तो भगवान केवली को भी हैं। परन्तु राग की एकता नहीं, इसलिए वह कम्पन क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आया न यह? '**चलनात्मकं**'

इन्द्रियाँ—यह पाँच इन्द्रियाँ और मन की जो क्रिया होती है, वह बन्ध का कारण नहीं है। क्योंकि इन्द्रियों के विषय की वासना और यह क्रिया, वह तो समकिती को भी होती है। तथापि समकिती को राग की एकता नहीं तो मिथ्यात्व नहीं, इसलिए बन्धन नहीं। अनन्त संसार का बन्ध नहीं। जितना राग है, उतना बन्धन है, उसकी यहाँ गिनती गिनी नहीं। आहाहा! पाँच इन्द्रिय के विषय—स्पर्श के, रस के, गन्ध के, रूप के, श्रवण के ये भोग। पाँच इन्द्रिय के विषय और मन का राग, मन का विषय आदि... आहाहा! वह बन्ध का कारण नहीं। ऐसा कहते हैं।

यहाँ बन्ध का कारण तो मिथ्यात्व को लेना है और वह मिथ्यात्व किसे होता है? कि, जिसे स्वभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु पड़ा है, उसके साथ विकार के कण को भी मिलावे, एकपने माने, उसे मिथ्यात्व का अनन्त संसार का बन्धन का कारण खड़ा होता है। आहाहा! अरे! यहाँ बड़ा अरबोंपति बादशाह हो, एक दिन के अरबों रुपये पैदा करता हो, एक दिन के! दिन के, हों! है न अभी? एक राजा है। एक दिन की अरबों की आमदनी! अभी है। और एक देश ऐसा है कि एक घण्टे के डेढ़ करोड़ की आमदनी! एक घण्टे में डेढ़ करोड़! आहाहा! यह सब अन्दर में राग की एकतावाले जीव हैं। आहाहा! यह मिथ्यादृष्टि (को) पैसा है, उसके कारण से उसे बन्धन नहीं। उसे राग की एकता के कारण मिथ्यात्व का बन्धन है, वह अनन्त संसार में भटकनेवाले हैं। आहाहा!

इसलिए कहते हैं कि मन-वचन और काया की क्रिया भी बन्ध का कारण नहीं है। यदि वह बन्ध का (कारण) होवे तो केवली को मन-वचन-काया तीनों हैं। है? आहाहा! अब चौथा बोल आता है, जरा सूक्ष्म है।

'चित्' जीव के सम्बन्ध सहित एकेन्द्रियादि शरीर,... यह एकेन्द्रिय वनस्पति के जीव। पानी के, पृथ्वीकाय के, अग्नि के, वायु के। जिसमें जीव है और शरीर है। यह पत्ते दिखते हैं, यह नीम का शरीर दिखता है। अन्दर जीव है वह तो भिन्न है। यह पत्ता है न? नीम का इतना एक पत्ता! उसमें असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में एक-एक जीव हैं, और एक-एक जीव के साथ एक-एक तैजस और कार्मणशरीर है। उस एकेन्द्रिय जीव का कोई घात करे... है? एकेन्द्रिय है? एकेन्द्रिय है न?

एकेन्द्रियादि... तथा दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का भी कोई घात हो... आहाहा! **जीव के सम्बन्ध रहित पाषाण,...** एकेन्द्रियादि जीव का शरीर और उसी जीव के सम्बन्धरहित **पाषाण, लोह, माटी उनका मूल से विनाश अथवा बाधा-पीड़ा...** आहाहा! लकड़ी के टुकड़े करे और नीम के जीव को मारे, वह बन्ध का कारण नहीं, कहते हैं। थोड़ी सूक्ष्म बात है। उसे अन्दर राग जो विकृत क्षणिक उपाधि विभाव (होता है), चाहे तो शुभ हो या अशुभ, वह त्रिकाली परमात्मा पवित्रता का पिण्ड प्रभु, त्रिकाली नित्यानन्द भाव। उसे क्षणिक विकृत अवस्था जो राग—पुण्य का या पाप का, शुभ या अशुभ का... आहाहा! उस एक समय की विकृत दशा को त्रिकाली स्वभाव के साथ एकता करे... सूक्ष्म बात है, बापू! अनन्त काल से भटकता है। आहाहा! इस कारण वह परिभ्रमण कर रहा है, कहते हैं।

एकेन्द्रियादि के जीव का घात हो, इससे यहाँ पापबन्धन होता है, ऐसा नहीं है, कहते हैं। है? एकेन्द्रियादि अर्थात् दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय का शरीर। **जीव के सम्बन्ध रहित पाषाण, लोह, माटी उनका मूल से विनाश....** मूल से नाश करे। आहाहा! पंचेन्द्रिय जीव का घात हो... आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव, जिसे राग की एकता टूटकर स्वभाव की एकता (करके) ज्ञाता-दृष्टा हुआ है, उसकी लड़ाई में, कहते हैं लाखों पंचेन्द्रिय मनुष्य मरे, उसका उसे बन्ध नहीं और वह बन्ध का कारण भी नहीं। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जिसने राग और स्वभाव दो भिन्न किये हैं, ऐसे जीव को उसके शरीर से या हथियार से उस पंचेन्द्रिय के प्राण जाये, उसका उसे बन्धन नहीं है। सूक्ष्म बात है।

मुमुक्षु : यह चौथा बोल है, वह मुनि की अपेक्षा से बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह तो सबकी बात है। दृष्टान्त मुनि का देंगे परन्तु है बात सब समकिती की।

मुमुक्षु : समकिती को.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भी नहीं। उसे राग की एकता नहीं, (इसलिए) वध हो उसमें बन्ध नहीं। मुनि का दृष्टान्त देंगे।

मुमुक्षु : तीसरे बोल में सम्यग्दृष्टि की बात लेनी है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र सम्यग्दृष्टि की बात है। परन्तु यह दृष्टान्त यहाँ देंगे कि, यदि पंचेन्द्रिय जीव के वध से बन्ध होता हो तो कहेंगे, देखो!

बाधा-पीड़ा वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है। आहाहा! दूसरे के शरीर का नाश हो, करे। उसके शरीर से नाश हो और उसे बाधा-पीड़ा उपजावे और बड़े पत्थर के टुकड़े चूरा करे.... आहाहा! तथापि **वह भी बन्ध का कर्ता नहीं है।**

समाधान इस प्रकार है कि जो कोई महामुनिश्वर... अब यह तो दृष्टान्त है। **भावलिंगी...** आहाहा! जिन्हें अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का उफान आया है। मुनि उसे कहते हैं। भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय... अतीन्द्रिय आनन्द का महा पिण्ड है। भगवान आत्मा, हों! आहाहा! उसमें दुःख नहीं, उसमें राग नहीं। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का पुंज प्रभु है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के पुंज की जिसे दृष्टि हुई है और तदुपरान्त.... यह तो मुनि का दृष्टान्त देते हैं कि जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वसंवेदन राग से भिन्न पड़कर प्रचुर आनन्द का वेदन है, ऐसे को भावलिंगी सन्त कहते हैं। आहाहा!

महामुनिश्वर भावलिंगी.... आहाहा! अन्तर में जिसे आनन्द का उफान आया है, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को उस अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन है परन्तु उसका दृष्टान्त न देकर यह दृष्टान्त दिया है कि जो लोगों को शीघ्र ख्याल में आवे। बाकी समकितदृष्टि भी बन्ध के परिणाम से रहित ही हैं। आहाहा! समझ में आया?

महामुनिश्वर भावलिंगी.... आहाहा! जिसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान जिसकी दशा में उछल गया है! आहाहा! यह इन्द्रिय के विषयों में राग है, वह तो जहर है। वह जहर का अनुभव है। आहाहा! पाँच इन्द्रिय के विषय, उनकी प्रशंसा (करे), शरीर का स्पर्श करे, सुगन्ध करे, रूप देखे, रस खाये, उन सब पाँच इन्द्रिय के विषयों को ज्ञानी भोगे। भोगने का अर्थ कि उसके संयोग में आवे तो भी स्वभाव में एकता है, इसलिए उसे बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बातें! यह तो जन्म-मरण रहित होने की बातें सूक्ष्म बहुत! आहाहा!

महामुनिश्वर भावलिंगी मार्ग चलता है,.... मार्ग में चलता है। **दैवसंयोग सूक्ष्म जीवों को बाधा होती है,...** आहाहा! अरे! कोई छोटा जीव उड़ते हुए आये, यह बारीक जीव आते हैं न? कीट-कीट आती है। कीट जानते हो? खेत में होती है। यह मुनि तो ऐसे (जहाँ) चलते हों वहाँ हो नहीं परन्तु ऐसे पैर जहाँ रखे, वहाँ वह नीचे घुस जाये (और) मर जाये। परन्तु मुनि को बन्ध नहीं है। समझ में आया?

सूक्ष्म जीवों को बाधा होती है, सो जो जीवघातमात्र से बन्ध होता तो मुनिश्वर के कर्मबन्ध होता। जीव के घात से बन्धन हो तो मुनि के शरीर से प्राण का घात तो होता है परन्तु उन्हें बन्धन नहीं है। कठिन बात है।

मुमुक्षु : भावहिंसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव ज्ञातादृष्टा है। जिसमें उसे मारने की इच्छा ही नहीं और इच्छा है, उसके साथ एकता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! बहुत कठिन काम है। जैनदर्शन को समझना, जैनदर्शन अर्थात् विश्वदर्शन—विश्वपदार्थ का स्वभाव। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अचिन्त्य प्रभु भगवान! निर्मलानन्द का नाथ, उसके साथ जिसकी एकता हुई है और राग की जिसे एकता टूट गयी है, ऐसे सन्त भावमुनि जब चलते हैं (और) उनके शरीर से नीम की कोर (पैर के नीचे आ जाये), चलते हुए नीचे न हो (परन्तु) जहाँ चलें वहाँ ऊपर से कोर पड़े, शरीर से जीव घात हो जाये। कोर... कोर... (अर्थात्) फूल। आहाहा! परन्तु नीचे आ जाये। ईर्या(समिति से) चलते थे,

वहाँ एकदम हवा आयी और (वह नीम का फूल) एकदम पैर के नीचे आ गया, तथापि उस घात से मुनि को बन्ध नहीं है। आहाहा!

बन्ध का कारण तो राग और स्वभाव त्रिकाली प्रभु के साथ राग रंक, एक समय की विकृत दशा... आहाहा! महाप्रभु के साथ उसे जो मिलावे... सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा! आनन्द का सागर प्रभु! अतीन्द्रिय ज्ञान का पर्वत! उसे यह कृत्रिम, क्षणिक विकार को मिलावे, मिलावे। ....भाई! ऐसी बातें हैं तो वह बन्ध का कारण है। परन्तु जिसने राग को और भगवान आत्मा के स्वभाव को भिन्न करके ज्ञाता-दृष्टा आनन्द का स्वाद आया है... आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान जिसे ज्ञाता-दृष्टा प्रगट हुआ है, उसे चलते... चलते लिया है न? एकेन्द्रिय जीववध हो जाये... आहाहा!

जीवघातमात्र से बन्ध होता तो मुनिश्वर के कर्मबन्ध होता। परन्तु उसे बन्धन है नहीं। आहाहा! इसके भावार्थ में भरा है, नहीं? ऐसा कि यह तो (मुनि का) नाम दिया है। बाकी समकिती को लेना। उसमें मूल पाठ में आया है। सम्यग्दृष्टि को राग के सम्बन्ध का अभाव होने से राग की एकताबुद्धि का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता।

मुमुक्षु : (समयसार में बन्ध अधिकार की २३७ से २४१ गाथा के) भावार्थ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भावार्थ में आता है न! **यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि होती है, वही निश्चय है। बन्ध का कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि - मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन राग-द्वेष-मोहभावों को अपने उपयोग में करता है, वे रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक, मन-वचन-काय के योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतन का घात-बन्ध के कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के, यथाख्यात चारित्रवानों के, केवलज्ञानियों के और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। परन्तु उनके तो बन्ध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (-कारणों में) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं।**

यहाँ समितिरूप प्रवर्तनेवाले मुनियों का नाम लिया... यह कहना है। क्या कहना है? कि (मुनिराज) समिति से चलते हैं और उसमें घात हो जाता है तो उसे बन्ध का कारण नहीं है। उस समिति का नाम लिया। है न? **और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया इसका यह कारण है कि-अविरत तथा देशविरत के बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए चारित्रमोह सम्बन्धी राग से किंचित् बन्ध होता है; इसलिए सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा में उनका नाम नहीं लिया। वैसे अंतरंग की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्बाध ही जानना चाहिए।** यह यहाँ कहना है। वह तो समिति से चलता है, उसका दृष्टान्त देकर सिद्ध किया। इसे (—सम्यग्दृष्टि को) समिति नहीं, इसलिए उनका दृष्टान्त (दिया)। बाकी दृष्टि की अपेक्षा से तो यह भी निर्बन्ध ही है। समझ में आया? यह लेना है। यह दृष्टान्त दिया इसलिए यह मुनि के लिये (बात) है, ऐसा नहीं। सबको लागू (पड़ता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : मुख्यपने के पहले बोल में सिद्ध को, दूसरे बोल में अरिहन्त को, तीसरे बोल में....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टान्त दिया। यह तो दृष्टान्त दिया परन्तु यह वस्तु तो सम्यग्दृष्टि के लिये ही है। यह तो सिद्धान्त सिद्ध करने के लिये कहते हैं, मन-वचन और काया की क्रिया से (बन्ध) होता हो तो केवली को भी हो। वर्गणा से होता हो तो सिद्धा को हो। समझ में आया? यह तो दृष्टान्त दिया। परन्तु सिद्ध यह करना है कि राग की एकताबुद्धि है, उसे बन्ध होता है। राग की एकताबुद्धि नहीं, उसे बन्ध नहीं होता, यह सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें हैं, बहुत सूक्ष्म!

यहाँ यह कहा, देखो! १६४। **भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध परिणाम है तो कर्म का बन्ध है...** उस जीवघात से नहीं, ऐसा कहते हैं। **तो फिर जीवघात का सहारा कुछ नहीं है...** है? आहाहा! एकेन्द्रिय आदि मरे, उसकी मदद बन्ध के कारण में है नहीं। वह कारण है ही नहीं। आहाहा! फिर कहेंगे कि समकिती स्वच्छन्दी नहीं। स्वच्छन्दी होकर निरर्गलरूप से वांछा से हिंसा करे और बन्ध न हो, ऐसा नहीं है। जाननेवाला रहे और इच्छा करे—दोनों एक साथ रह नहीं सकते। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि को भी

निर्बन्ध कहा है। आहाहा! अस्थिरता के राग की उसे एकता नहीं है। इसलिए उसे निर्बन्ध ही कहना, यहाँ अस्थिरता के राग को गिनना नहीं, कहते हैं।

मुमुक्षु : बहुत जवाबदारी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य क्या है? और मिथ्यात्व की नीचता—हलकाई कितनी है, यह बात है। आहाहा!

चाहे तो सम्यग्दृष्टि बड़े चक्रवर्ती के राज में पड़ा हो, इन्द्र के इन्द्रासन में पड़ा हो परन्तु उसे राग की एकता नहीं, इसलिए उसे बन्ध के कारण नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए सम्यग्दृष्टि, बाह्य के कारणों से बन्ध नहीं, इसलिए निरर्गल होकर वांछा करके काम करे, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं होता। आहाहा! कांक्षा से प्रवृत्ति हो और माने कि हमको कांक्षा नहीं और बन्ध नहीं (तो) ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जैनधर्म को समझना, बापू! कठिन बात है।

दुनिया में तो राज अनन्त बार मिले। एक-एक दिन की अरबों की आमदनी के राज अनन्त बार मिले। अभी है न? अरब देश में एक राजा है, (उसे) एक दिन की अरब की आमदनी है! एक अरब की! अभी है। उसमें—धूल में क्या है? आहाहा! परन्तु वह फिर मरकर नरक में जानेवाला है। क्योंकि माँस और मदिरा खाता (-पीता) हो, (इसलिए नरक में जानेवाला है) और यहाँ मदिरा, माँस न पीता(खाता) हो और पैसेवाला हो तो वह महामोहनीय राग की एकता में पड़े हैं, वे भी तिर्यंच और ढ़ोर में जानेवाले हैं—पशु में जानेवाले हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। कहो, कान्तिभाई!

पंचेन्द्रिय तिर्यंच पशु का बड़ा पेट है। बहुत पंचेन्द्रिय तिर्यंच... बहुत पंचेन्द्रिय तिर्यंच! शास्त्र में इतने वर्णन किये हैं कि देव के जीव भी कितने ही मरकर ढोर में जाये, नारकी के जीव मरकर पशु में जाये, मनुष्य के मर-मरकर बहुत से पशु में जाये। इतनी पशु की संख्या है। आहाहा! क्योंकि जहाँ धर्म क्या चीज़ है, (उसकी) तो अभी खबर नहीं और पूरे दिन पाप के परिणाम के पोटले बाँधता हो। यह दुकान के धन्धे में, स्त्री, पुत्र को सम्हालने में, इज्जत में और पैसे रखने में अकेले पाप के पोटले! आहाहा! वह मरकर (पशु में जानेवाले हैं)। कठिन बात है, बापू! क्या हो?

मैंने तो कहा नहीं था? (संवत्) १९६६ की साल। हमारे भाई—बुआ के पुत्र भागीदार थे। (संवत्) १९६६ के वर्ष, ६८ वर्ष पहले। ६८ वर्ष पहले। यह तो ८८ हुए। मैं भी दुकान चलाता था और वह (भी दुकान चलाता था)। दो दुकानें थीं। मेरे द्वारा ऐसा कहा गया। मैं तो तब भी भगत कहलाता था। बुआ के पुत्र हमारे भागीदार थे। कुंवरजीभाई! तुम्हारी धन्धे की ममता मुझे ऐसा लगता है... मेरी २० वर्ष की उम्र देह की (उस समय)। हम बनिया हैं इसलिए मदिरा, माँस (पीते) खाते नहीं। वह दुकान की गद्दी पर बैठा हुआ था और मैं आहार करने गया था। हम इकट्ठे आहार करते थे। दुकान में एकसाथ तीस लोग थे। यह (संवत्) १९६६ की बात है। ६८ वर्ष पहले। भाई! तुम नरक में भी नहीं जाओगे, ऐसा लगता है। तथा तुम्हारे देव में जाने के लक्षण मुझे नहीं लगते, भाई, हों! मेरे सामने बोले नहीं, कोई बोले नहीं। (ऐसा कहे), सुनो! भगत क्या कहते हैं? यह भगत है। (मैंने कहा) मरकर मनुष्य (होओ) ऐसा मुझे लगता नहीं। याद रखो, तुम्हारे लिये यह एक पशु का अवतार है। ऐई! भगवानजीभाई! यह ६८ वर्ष पहले की बात है। सुने, दाँत निकाले (हँसे)। मुझे तो ऐसा लगता है। दो-दो लाख की वर्ष की आमदनी। ग्यारह-बारह वर्ष पहले गुजर गया। तीन-तीन लड़के, दस लाख (की) पूँजी, वह मरते हुए भाई! सन्निपात—पागल हो गया। मैंने यह किया... मैंने यह किया... मैंने यह किया... मैंने यह किया... लड़के कहें, महाराज कहते थे ऐसा यह हुआ। आहाहा! उसमें मर गया। धूल में क्या था तेरा? सुन न अब! आहाहा! मूरख का जाम बड़ा! बाहर में इज्जत गिनी जाये कि आहाहा! 'कुंवरजी जादवजी की बड़ी दुकान!' आहाहा! आत्मा क्या है इसकी खबर नहीं होती। वह तो नहीं परन्तु अभी यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... पूरे दिन मैं... मैं... मैं... (करके) मर जायेगा। मुझसे चार वर्ष बड़े थे, हों! सुने। मरते हुए यही हुआ।....

आहाहा! यहाँ कहते हैं कि जिसे शरीर से जीव का घात हो तो भी अन्दर में जिसे राग की एकताबुद्धि नहीं, उसे बन्धन नहीं है और जिसके शरीर से कोई ऐकेन्द्रिय जीव का घात न हो, ऐसी जिसे दशा का भाव हो तो भी उसे अन्तर में राग की—दया के भाव की राग की एकताबुद्धि है, वह मिथ्यात्व का—अनन्त संसार का बन्धन करता है। ऐसी बातें हैं। बात तो ऐसी है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। मुनि का तो दृष्टान्त दिया है, क्योंकि वे समिति से चलते हैं, इस अपेक्षा से। अविरत सम्यक्दृष्टि को समिति से चलने का नहीं होता। इसलिए उसका दृष्टान्त नहीं दिया परन्तु बाकी तो सम्यग्दृष्टि जीव भी उसके शरीर से जीव घात आदि हो... आहाहा! तो भी उसे बन्धन है नहीं। क्योंकि वह ज्ञाता-दृष्टारूप से खड़ा है। जानने-देखनेवाला मैं हूँ, मैं राग का कर्ता और राग मेरी चीज़ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? और अज्ञानी दया पालन करे, व्रत पालन करे, भक्ति करे, पूजा करे, करोड़ों के दान दे तो भी उसे अन्दर राग की एकताबुद्धि है तो मिथ्यात्व से उसे बन्धन है। आहाहा!

'उपयोगभूमि' यह शब्द लिया है न? ध्रुव भूमिका जो नित्यानन्द प्रभु, अकेला आनन्द का दल प्रभु आत्मा! ऐसी जो भूमि अर्थात् अपना स्वभाव... आहाहा! उसके साथ क्षणिक राग—दया, दान, व्रत या काम, क्रोध के अशुभभाव को मेरेरूप मानता है, आत्मा (के साथ) एकताबुद्धि—मिश्रण कर डालता है, वह अनन्त संसार के भाव को बाँधता है। अनन्त संसार की वृद्धि करता है। शान्तिभाई! इसमें तो सब पानी उतर जाये, ऐसा है। आहाहा! हम होशियार और हम चतुर, (परन्तु) किसमें? भटकने में। अरेरे!

यहाँ आचार्य यह कहते हैं। **जो रागादि अशुद्ध परिणाम है तो कर्म का बन्ध है...** है न? **तो फिर जीवघात का सहारा कुछ नहीं है...** है? जीवघात हो, उसके कारण से बन्ध है, यह है ही नहीं, आहाहा! तो भी आगे कहेंगे, हों! वस्तुस्थिति ऐसी है, तथापि निरर्गल—अंकुश बिना वांछा से उस जीव को मारने का भाव रखकर तुझे बन्ध नहीं, ऐसा यदि मानेगा तो मर जायेगा। आहाहा!

तो फिर जीवघात का सहारा कुछ नहीं है... वह जीव मरे, उससे कोई बन्धन नहीं। आहाहा! किस अपेक्षा से कहते हैं? बापू! उसमें उसका भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान और आनन्द का घन शुद्ध ध्रुव नित्य प्रभु के साथ क्षणिक विकृत के साथ एकपने मिलाता है, उपयोगभूमिका में इस राग को एकरूप करता है, बस! यह संसार का कारण मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! इसलिए सम्यग्दर्शन प्रगट करो, ऐसा कहा जाता है। मूल बात। उसमें ऐसा हो, इसलिए तुझे डराते हैं, ऐसा नहीं। इसलिए एक बार प्रभु! तू चाहे तो राग शुभ या अशुभ (हो), उसे भेद करने का अभ्यास करके सम्यग्दर्शन कर तो तुझे संसार का अन्त आयेगा। आहाहा! यह शर्त! आहाहा! और वह सम्यक् सत् अन्दर है।

उसे पहिचानकर प्रतीति और भान करना है। वह कोई नहीं और भान करना, ऐसा नहीं कहना।

अन्दर भगवान पूर्णानन्दस्वरूप विराजता है। आहाहा! वह आता है न? ज्योति सुखधाम। 'स्वयं ज्योति' श्रीमद् में आता है न? स्वयंज्योति, चैतन्यज्योति स्वयं प्रभु चैतन्यसूर्य महाप्रभु विराजता है। आहाहा! और सुखधाम (अर्थात्) अतीन्द्रिय आनन्द का स्थल तो यह आत्मा है। वहाँ आनन्द है। बाह्य धूल में पैसे में, स्त्री में, पुत्र में कहीं सुख नहीं परन्तु उनकी ओर लक्ष्य जाने से दुःख है। आहाहा! अरे रे! यह पैसा दुःखरूप नहीं, परन्तु पैसे की ओर लक्ष्य जाता है, वह दुःख है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ यह बात की। अब दूसरा श्लोक। १६५।

इतना जोर दिया तो भी कोई वाँछा से काम करे और बन्धन नहीं—ऐसा मान ले तो वह स्वच्छन्दी जीव अज्ञानी है। यह बात सिद्ध की है। सिद्धान्त (सिद्ध किया है)। समझ में आया? परन्तु जानना और कांक्षा दोनों एक समय में साथ में नहीं रहते। ज्ञाता-दृष्टापने रहना और वांछा से काम लेना, यह काम एकसाथ नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया? १६५ न?

कलश - १६५

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ।।३-१६५।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'अहो अयं सम्यग्दृगात्मा कुतः अपि ध्रुवं एव बन्धं न उपैति' [अहो] भो भव्यजीव! [अयं सम्यग्दृगात्मा] यह शुद्धस्वरूप का अनुभवनशील सम्यग्दृष्टि जीव, [कुतः अपि] भोगसामग्री को भोगते हुए अथवा बिना भोगते हुए, [ध्रुवं] अवश्यकर [एव] निश्चय से [बन्धं न उपैति] ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध को नहीं करता है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? 'रागादीन् उपयोगभूमिं अनयन्' [रागादीन्] अशुद्धरूप विभावपरिणामों को, [उपयोगभूमिं] चेतनामात्र गुण के प्रति [अनयन्] न परिणमाता हुआ। 'केवलं ज्ञानं भवेत्' मात्र ज्ञानस्वरूप रहता है। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीव को बाह्य -आभ्यन्तर सामग्री जैसी थी, वैसी ही है परन्तु रागादि अशुद्धरूप विभावपरिणति नहीं है; इसलिए ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध नहीं है। 'ततः लोकः कर्म अस्तु च तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म अस्तु अस्मिन् तानि करणानि सन्तु च तत् चिदचिद्व्यापादनं अस्तु' [ततः] तिस कारण से [लोकः कर्म अस्तु] कार्मण-वर्गणा से भरा है जो समस्त लोकाकाश, सो तो जैसा है, वैसा ही रहो [च] और [तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म अस्तु] ऐसा है जो आत्मप्रदेशकम्परूप मन-वचन -कायरूप तीन योग, वे भी जैसा है, वैसा ही रहो तथापि कर्म का बन्ध नहीं। क्या होनेपर? [तस्मिन्] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम के चले जानेपर, [तानि करणानि सन्तु] वे भी पाँच इन्द्रियाँ तथा मन, सो जैसे हैं, वैसे ही रहो [च] और [तत् चिदचिद्व्यापादनं अस्तु] पूर्वोक्त चेतन-अचेतन का घात जैसा होता था, वैसा ही रहो तथापि शुद्धपरिणाम के होनेपर, कर्म का बन्ध नहीं है।।३-१६५।।

१६५ (कलश) है।

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ।।३-१६५।।

'अहो अयं सम्यग्दृगात्मा कुतः अपि ध्रुवं एव बन्धं न उपैति' भो भव्यजीव! 'अयं सम्यग्दृगात्मा' यह शुद्ध स्वरूप का अनुभवनशील सम्यग्दृष्टि... आहाहा! धर्मी की पहली भूमिका यह है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि, है न? **शुद्ध स्वरूप का अनुभवनशील...** राग का अनुभव नहीं। आहाहा! जिसे राग की एकता टूटकर भगवान शुद्ध स्वरूप का अनुभव जिसका स्वभाव है। आहाहा! यह धर्म की पहली सीढ़ी!

शुद्ध स्वरूप का अनुभवनशील... शुद्ध पवित्र भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसे अनुसरकर होना, जिसका स्वभाव है। आहाहा! निमित्त को अनुसरकर होना, ऐसा स्वभाव जिसे नहीं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बातें, बापू! मार्ग बहुत सूक्ष्म! आहाहा!

शुद्ध स्वरूप का अनुभव... व्याख्या यह की है। सम्यग्दृष्टि अर्थात्.... है न? **'सम्यग्दृगात्मा' शुद्ध स्वरूप का अनुभवनशील सम्यग्दृष्टि जीव...** ऐसा। आहाहा! दया, दान और राग के पुण्य से, अशुभराग के पाप से भिन्न प्रभु! त्रिकाली आनन्द का नाथ, उसके अनुभव में जो शील है, अनुभवशील स्वभाव है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द को अनुभव करना, वह जिसका स्वभाव है। ऐसा सम्यग्दृष्टि। आहाहा!

'कुतः अपि' भोग सामग्री को भोगते हुए अथवा बिना भोगते हुए अवश्यकर निश्चय से ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध को नहीं करता है। वह भोग की सामग्री में हो या उसे भोगसामग्री न हो। किसी पाप के उदय से वह सामग्री न हो, परन्तु उसे अब बन्ध नहीं। आहाहा! गरीब व्यक्ति हो, उसे यह सामग्री होती ही नहीं और हो समकिती। आहाहा! पच्चीस-पचास रुपये महीने में चाहिए हो और न मिलते हों, ऐसा गरीब हो,

तथापि हो राग से भिन्न पड़कर शुद्ध स्वरूप का अनुभवशील आत्मा! आहाहा! अन्दर में तवंगर (धनाढय) है, बादशाह है! कहते हैं कि उसे पाप का उदय हो तो बाह्य सामग्री न भी हो और पुण्य का उदय हो तो सामग्री हो। दोनों—हो या न हो। आहाहा!

परन्तु जिसे... आहाहा! नित्यानन्द द्रव्यस्वभाव वस्तु का शुद्ध स्वभाव पवित्र स्वभाव अनाकुल स्वभाव, शान्तरस स्वभाव को अनुभव करने का जिसका स्वभाव हुआ है, उस जीव को पुण्य के कारण से सामग्री के ढ़ेर हों, या पाप के कारण से वह सामग्री न हो, परन्तु उससे उसे बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? दोनों बातें ली। आहाहा!

निश्चय से... आठ कर्म के **बन्ध को करता नहीं।** आहाहा! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य और सम्यग्दर्शन का विषय कितना है? भगवान पूर्णानन्द उसका विषय है। समकित दृष्टि का ध्येय पूर्णानन्द है और पर्याय में भी आनन्द का अनुभवशील स्वभाव है। आहाहा! वह कर्मबन्ध को करता नहीं।

'रागादिन् उपयोगभूमिं अनयन्' 'रागादीन्' अशुद्धरूप विभावपरिणामों को... राग (शब्द का) अर्थ किया। जितना अशुद्ध परिणमन है पुण्य, पाप और राग तथा द्वेष का... आहाहा! उसके विभावपरिणामों को **'उपयोगभूमिं' चेतनामात्र गुण के प्रति न परिणमाता हुआ।** आहा! विकार को आत्मा के साथ नहीं परिणमाता हुआ। आहाहा! मिथ्यादृष्टि त्रिकाली स्वभाव के साथ विकार को परिणमाता हुआ। यह मिथ्यादृष्टि अनन्त संसार के बन्धन को करता है। सम्यग्दृष्टि... आहाहा! है? रागादि परिणाम को अपनी भूमिका में, आहाहा! **चेतनामात्र गुण के प्रति न परिणमाता हुआ।** आहाहा! राग को भिन्न रखता हुआ।

यहाँ तो राग को भिन्न रखता है, यह उसका काम नहीं है, कहते हैं। यहाँ तो राग को चेतनास्वभाव के साथ नहीं परिणमाता हुआ। बस! आहाहा! एकरूप नहीं करता हुआ। अस्थिरता का राग हो, तथापि सम्यग्दृष्टि राग को चैतन्यस्वभाव के साथ एक नहीं करता हुआ। आहाहा! ऐसा है। ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, सुने नहीं, वे बेचारे कहाँ जायेंगे। आहाहा!

दो बातें हैं। एक तो तत्त्व का विरोध करनेवालों को निगोदस्थान है। बीच में कोई

शुभभाव हो (और) भले स्वर्ग में जाये। और तत्त्व के आराधक जीव को मोक्षस्थान है। बीच में भले कोई अशुभभाव हो और भले नरक में जाना पड़े। वह शुभाशुभभाव है, वह गति का कारण है और तत्त्व का विराधक है, वह निगोद का कारण है और तत्त्व का आराधक है, वह मोक्ष का कारण है। समझ में आया? आहाहा! तत्त्व का आराधक है, रागरहित स्वभाव का आराधक है, उस जीव को (उसके) फल में उसका मोक्षस्थान है। बीच में उसे कोई अशुभभाव आ गया हो, पहले आयुष्य बँध गया हो तो भी वहाँ जाये परन्तु उसका—आराधक का स्थान तो अन्त में मोक्ष ही है। और अज्ञानी को बीच में शुभभाव आवे, और तत्त्व का विराधक है, ज्ञानानन्द मैं नहीं, राग की एकताबुद्धिवाला विराधक जीव है। उस जीव को कोई अधिक शुभभाव हो (तो) स्वर्ग में भले जाये परन्तु उसका स्थान तो अन्त में निगोद है। वस्तु ऐसी है। तथा जिसे मनुष्यपने का त्रस का काल पूरा हो गया हो और मिथ्यादृष्टि है, स्वरूप का विराधक है तो वह मरकर सीधा निगोद में जाता है और बीच में कोई शुभभाव हो और उसके कारण स्वर्ग में जाये परन्तु अन्त में उसका फल निगोद है। आहाहा! जहाँ एक शरीर में अनन्त जीव पड़े हैं, वहाँ जायेगा। आहाहा! वीतरागमार्ग अलौकिक है!

यहाँ यह कहते हैं, **मात्र ज्ञानस्वरूप रहता है।** देखा? **'केवलं ज्ञानं भवेत्'** ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि तो राग को भी जाननेवाला और पर को (भी) जाननेवाला है। स्व को जानते हुए पर का जाननेवाला ही रहता है। आहाहा! ऐसा बहुत कठिन काम! धर्मी राग को अपने में नहीं परिणमाता हुआ। धर्मी जीव विभाव के राग को अपने में नहीं करता हुआ और ज्ञानस्वरूप रहता हुआ। आहाहा! जानने-देखनेवाला ही मैं हूँ, वही मेरी चीज़ है... आहाहा! ऐसा जिसने ज्ञानस्वरूप को अनुभव किया।

भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव को बाह्य आभ्यन्तर सामग्री जैसी थी वैसी ही है,.... आहाहा! **सम्यग्दृष्टि जीव को बाह्य आभ्यन्तर सामग्री...** आहाहा! (अर्थात्) अन्दर में रागादि हो और बाह्य में सब सामग्री पड़ी हो। **परन्तु रागादि अशुद्धरूप विभावपरिणति नहीं है,....** आहाहा! क्या कहते हैं? अभ्यन्तर में भी अभी रागादि भले हों, बाह्य में सामग्री के ढ़ेर हों, परन्तु उसे राग की अशुद्धता का परिणमन (जो) एकत्व है, वह नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग होने पर भी एकत्वबुद्धि नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकत्वबुद्धि नहीं है। यहाँ यही संसार का कारण बतलाना है। इसलिए कहा न? अभ्यन्तर विभाव भी हो। बाह्य में सामग्री हो परन्तु अन्दर विभाव की एकताबुद्धि न हो। आहाहा! ऐसी बातें हैं। दुनिया से अलग प्रकार है। आहाहा!

बाह्य आभ्यन्तर सामग्री जैसी थी वैसी ही है,.... देखा? **परन्तु रागादि अशुद्धरूप विभावपरिणति नहीं है,....** राग की एकताबुद्धि का अशुद्ध परिणमन नहीं है, ऐसा। आहाहा! **इसलिए ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध (उसे) नहीं है।** आहाहा! आहाहा!

'ततः लोकः कर्म अस्तु च तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म अस्तु अस्मिन् तानि करणानि सन्तु च तत् चिदचिद्व्यापादनं अस्तु' आहाहा! भावलिंगी मुनिराज-सन्त कहते हैं। यह भगवान की वाणी है, वह स्वयं मुनि कहते हैं। आहाहा! **तिस कारण से कार्मणवर्गणा से भरा है जो समस्त लोकाकाश सो तो जैसा है, वैसा ही रहो,...** भले कार्माणवर्गणा से भरा हुआ लोक हो। आहाहा! परन्तु जहाँ राग और स्वभाव की एकताबुद्धि नहीं है, उसे बन्ध नहीं है। आहाहा! हुआ?

और ऐसा है जो आत्मप्रदेशकम्परूप मन-वचन-कायरूप तीन योग वे भी जैसा है वैसा ही रहो,... मन,वचन और काया की क्रिया वह भले हो, परन्तु वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! **तथापि कर्म का बन्ध नहीं। क्या होने पर?** है? **राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम के चले जाने पर...** अशुद्ध परिणाम अर्थात् कि एकताबुद्धि के अशुद्ध परिणाम चले जाने पर। आहाहा!

'तानि करणानि सन्तु' वे भी पाँच इन्द्रियाँ तथा मन सो जैसे हैं, वैसे ही रहो.... आहाहा! **पूर्वोक्त चेतन अचेतन का घात जैसा होता था, वैसा ही रहो,...** कठिन पड़े ऐसा है न? **तथापि शुद्ध परिणाम होने पर...** आहाहा! शुद्ध परिणमन होने पर। पहले राग की एकता थी, वहाँ अशुद्ध परिणमन था। राग की एकता टूटने पर शुद्ध परिणमन हुआ।

कर्म का बन्ध नहीं है। इस कारण से उसे बन्ध नहीं है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६६

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुद्ध्यते किमु करोति जानाति च ।।४-१६६।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'तथापि ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुं न इष्यते' [तथापि] यद्यपि कार्मणवर्गणा, मन-वचन-काययोग, पाँच इन्द्रियाँ, मन; जीव का घात इत्यादि बाह्यसामग्री, कर्मबन्ध का कारण नहीं है। कर्मबन्ध का कारण, रागादि अशुद्धपना है। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है, तो भी [ज्ञानिनां] शुद्धस्वरूप के अनुभवशील हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव, उनकी [निरर्गलं चरितुं] 'प्रमादी होकर, विषय-भोग का सेवन किया तो किया ही; जीवों का घात हुआ तो हुआ ही; मन-वचन-काय जैसे प्रवर्ते, वैसे प्रवर्तो ही' — ऐसी निरंकुश वृत्ति, [न इष्यते] जानकर करते हुए, कर्म का बन्ध नहीं है, ऐसा तो गणधरदेव नहीं मानते हैं। किस कारण से नहीं मानते हैं? कारण कि 'सा निरर्गला व्यापृत्तिः किल तदायतनं एव' [सा] पूर्वोक्त [निरर्गला व्यापृत्तिः] बुद्धिपूर्वक- जानकर, अन्तरंग में रुचिकर विषय-कषायों में निरंकुशरूप से आचरण, [किल] निश्चय से [तदायतनं एव] अवश्य कर मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप अशुद्धभावों को लिए हुए है, इससे कर्मबन्ध का कारण है। भावार्थ इस प्रकार है कि ऐसी युक्ति का भाव, मिथ्यादृष्टि जीव के होता है सो मिथ्यादृष्टि, कर्मबन्ध का कर्ता प्रगट ही है; कारण कि 'ज्ञानिनां तत् अकामकृत् कर्म अकारणं मतं' [ज्ञानिनां] सम्यग्दृष्टि जीवों के [तत्] जो कुछ पूर्वबद्ध कर्म के उदय से है, वह समस्त [अकामकृत् कर्म] अवांछित क्रियारूप है; इसलिए [अकारणं मतं] कर्मबन्ध का कारण नहीं है — ऐसा गणधरदेव ने माना है और ऐसा ही है। कोई कहेगा कि — 'करोति जानाति च' [करोति] कर्म के उदय से होती है जो भोगसामग्री, सो होती हुई अन्तरंग रुचिपूर्वक सुहाती है-ऐसा भी है [जानाति च] तथा शुद्धस्वरूप को अनुभवता है, समस्त कर्मजनित सामग्री को हेयरूप जानता है- ऐसा भी है। ऐसा कोई कहता है, सो झूठा है; कारण कि 'द्वयं किमु न हि विरुद्ध्यते'

[द्वयं] ज्ञाता भी, वांछक भी–ऐसी दो क्रिया [किमु न हि विरुद्ध्यते] विरुद्ध नहीं क्या? अपितु सर्वथा विरुद्ध हैं।।४–१६६।।

मागसर शुक्ल ४, बुधवार, दिनांक-१४-१२-१९७७, कलश-१६६, प्रवचन-१७५

कलशटीका १६६ कलश है।

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुद्ध्यते किमु करोति जानाति च ।।४–१६६।।

'**तथापि ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुं न इष्यते**' क्या कहते हैं? पहले कहा जा चुका है कि कार्मणवर्गणा के ढ़ेर हों, तो भी वे कहीं बन्ध का कारण नहीं। इसी प्रकार मन-वचन-काया की क्रिया हो, वह कहीं बन्धन का कारण नहीं है, तथा पाँच इन्द्रिय और मन के भोग हों, वह बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहा। तथा सचेत-जीव और अचेतन का घात हो वह कहीं बन्ध का कारण नहीं है। है?

जीव का घात इत्यादि बाह्य सामग्री कर्मबन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! **कर्मबन्ध का कारण रागादि अशुद्धपना है।** अशुद्धपना अर्थात् राग का एकत्वपना ऐसा जो अशुद्धपना, वह बन्ध का कारण यहाँ कहने में आता है। अशुद्धपना अर्थात् ज्ञानी को जो अशुद्धपना है, वह यहाँ नहीं। यहाँ तो राग का—विकार का परिणमन द्रव्य वस्तु जो शुद्ध चैतन्य उसके साथ राग के विकार के परिणमन को एकत्व करना, वह एक ही बन्ध का कारण है। पाँच बन्ध के कारण कहे थे, (उसमें से) यहाँ चार को गौण करके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की कषाय से बन्धन है, ऐसा कहने में आया है।

कहते हैं, **रागादि अशुद्धपना...** (अर्थात्) राग—पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), उनका परिणमन द्रव्य में अपना मानना और करना, वह बन्ध का कारण है। **वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है।** आहाहा! यहाँ सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से बात है। मिथ्यादृष्टि की और उसकी अपेक्षा से बात है। सम्यग्दृष्टि जीव राग की एकताबुद्धि से भिन्न पड़ा है।

आहाहा! राग और स्वभाव—दोनों को जिसने भिन्न किया है। इसलिए धर्मी सम्यग्दृष्टि का जीव स्वभाव पर आश्रय / दृष्टि होने से उसे राग की एकता के बन्ध के परिणाम नहीं होते। इसलिए उसे बाह्य सामग्री में जुड़ने पर भी तीव्र जो मिथ्यात्व का राग-द्वेष भाव (होता है) वह नहीं है। इसलिए उसे बन्ध का कारण नहीं है, ऐसा कहते हैं।

तथापि... अब आता है। है? **तथापि...** अब यहाँ से आया। तथापि, है न? इस तथापि का यह लम्बा अर्थ किया। तथापि—तो भी, उसका यह लम्बा अर्थ किया। आहाहा! **तथापि...** तथापि का अर्थ अन्तिम किया।

'ज्ञानिनां' शुद्धस्वरूप के अनुभवशील हैं जो सम्यग्दृष्टि.... आहाहा! चैतन्य निर्मल शुद्ध पवित्र का जिसे अनुभवस्वभाव हो गया है। आहाहा! विकार से भिन्न और परमानन्द प्रभु आत्मा, उसके अनुभवशील जिसका स्वभाव हो गया है। आहाहा! ऐसे सम्यग्दृष्टि को... है? **अनुभवशील हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव उनकी 'निरर्गलं चरितुं' 'प्रमादी होकर विषय भोग का सेवन किया तो किया ही,...** ऐसा उसे नहीं होता, कहते हैं। भोग में प्रेमबुद्धि रहे और सेवन किये तो सेवन किये, हमारे क्या है? ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! वह तो स्वच्छन्दी को होता है। सेवन किये तो सेवन किये, उसमें क्या है, ऐसी दृष्टि तो मिथ्यादृष्टि की होती है। बहुत सूक्ष्म बात है।

यहाँ बन्ध का कारण मुख्य एक ही गिनने में आया है। उपयोग में राग को करना। चैतन्य उपयोगस्वरूप भगवान पूर्ण, उसके परिणमन में राग को एकत्वरूप से करना... आहाहा! यही मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय बन्ध का कारण है। वह सम्यग्दृष्टि को होता नहीं, इसलिए उसे कर्मवर्गणा आदि से बन्ध नहीं होता। जीव-अजीव का घात हो तो बन्ध नहीं, इस अपेक्षा से कहा है। परन्तु उसका अवलम्बन लेकर, प्रमादी होकर वांछा से भोग को भोगे, सुख की बुद्धि से भोग को भोगे और प्रमादी होकर जीव-अजीव का घात करे, तो वह तो उसे बन्ध का कारण है। आहाहा!

जानकर करते हुए... है न? देखो! जीव का घात हुआ तो हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को ऐसा नहीं कि जीव का घात हुआ तो हुआ, मुझे क्या? वह तो ज्ञातापने के पुरुषार्थ में रहा है। क्या कहा? सम्यग्दृष्टि स्वरूप के उद्यम में रहा हुआ है।

आहाहा! राग के प्रमाद में रहा नहीं। आहाहा! क्या कहा यह? शुद्ध स्वरूप की दृष्टि हुई है, वह स्वरूप के ज्ञाता-दृष्टापने के उद्यम में रहा हुआ है। वह अन्दर उद्यम करता है। स्वभावसन्मुख विशेष जाने में, एकाग्र होने का उद्यम करता है। आहाहा! है न?

ऐसी निरंकुश वृत्ति जानकर करते हुए कर्म का बन्ध नहीं है, ऐसा तो गणधरदेव नहीं मानते हैं। वांछा से और सुखबुद्धि से भोग को भोगे और प्रमादी होकर जीवघात करे। '**प्रमत्त योगात् प्राण व्युपरिणाम हिंसा**' प्रमादभाव है, वही प्राण के हिंसा का कारण है। आहाहा! फिर पर के प्राण का नाश होओ, या न होओ। जहाँ प्रमादभाव (अर्थात्) स्व के पुरुषार्थ से चैतनय के ज्ञाता-दृष्टा के पुरुषार्थ से हट गया और इस राग के पुरुषार्थ में गया, उसे बन्ध का कारण है। समझ में आया? ऐसी बात है।

ऐसा तो गणधरदेव नहीं मानते हैं। ऐसा कहते हैं। आचार्य ऐसा कहते हैं कि प्रमादी होकर स्वरूप के ज्ञाता के पुरुषार्थ को छोड़कर... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को स्वभाव सन्मुख का पुरुषार्थ कायम चालू है। समझ में आया? ऐसे पुरुषार्थ को छोड़कर राग के काम में -भाव में प्रमाद से पुरुषार्थ करे और उसे बन्धन नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा गणधरदेव नहीं मानते। अर्थात् कि आचार्य ऐसा नहीं कहते, ऐसा कहते हैं।

किस कारण से नहीं मानते हैं? कारण कि 'सा निरर्गला व्यापृतिः किल तदायतनं एव' 'आयतम् एव' निरंकुशरूप से आचरण, स्वच्छन्दरूप से भोग करे और स्वच्छन्दरूप से जीव का घात करे। आहाहा! **बुद्धिपूर्वक-जानकर...** आहाहा! **अन्तरंग में रुचिकर...** देखा? आहाहा! भोग की रुचि, हिंसा करने के राग की रुचि। आहाहा!

उस आर्यिका ने ऐसा लिखा है कि रुचिपूर्वक राग को करना। बलजोरी से राग को करना। शुभभाव (इस प्रकार से करना)! आहाहा! रुचि से राग करना, वह तो मिथ्यात्व है।

यहाँ तो कहते हैं, बुद्धिपूर्वक जानकर रुचि से (करे)। पुण्य के भाव में और पाप के भाव में जिसे रुचि है, उस रुचि से जो विषय-भोग आदि का काम लेता है, उसे बराबर पूर्ण बन्धन है। आहाहा! समझ में आया?

अन्तरंग में रुचिकर विषय-कषायों में निरंकुशरूप से आचरण... कुछ भी चाहे

जो विषय हो, शरीर की क्रिया चाहे जैसी हो, मुझे क्या? होओ तो वह बात बराबर है परन्तु उसमें प्रमाद करके, राग करके ऐसा माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसका पुरुषार्थ तो विकार की ओर ढल गया है, ऐसा कहते हैं। और धर्मी का पुरुषार्थ तो निर्विकार की ओर ढल गया है। आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन निर्मलानन्द की पर्याय में पवित्रता तो आयी है तो भी उसका पुरुषार्थ उस पवित्रता को बढ़ाने का है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को पवित्र पूर्ण स्वरूप भगवान का अनुभवशील हुआ और तो भी उसका पुरुषार्थ पवित्रता की ओर ढल गया है। आहाहा! और इससे उसे राग का पुरुषार्थ वांछा से—इच्छा से नहीं है। आहाहा! इसलिए उसे भोग और जीवघात में बन्धन नहीं है। परन्तु रुचि से, राग के प्रेम से काम करे... आहाहा! और कहे कि हमको बन्धन नहीं। (तो) तू स्वच्छन्दी होकर मर जायेगा, भाई! आहाहा! ज्ञानी का बहाना लेकर और स्वच्छन्द को सेवन कर जीवघात होओ तो होओ, भोग हो तो हो, (ऐसा करने जायेगा तो) मर जायेगा, बापू! देवीलाल! यहाँ तो ऐसी बात है। आहाहा! आचार्य ऐसा कहना चाहते ही नहीं।

आचार्य तो ज्ञानानन्द स्वभाव शुद्ध चैतन्य... आहाहा! उसका जिसे अनुभवशील स्वभाव हो गया है, और इसलिए उसका पुरुषार्थ उसकी ओर ढल गया है। आहाहा! वीर्य स्वभाव की शुद्धता की ओर ढल गया है। आहाहा! समझ में आया? इससे उसे राग का कोई भाग एकता बिना का हो, (तो भी उसका बन्ध नहीं है)। भोग तो पर की बात है, निमित्त से कथन है; पर को कहाँ भोगता है? परन्तु वह राग को भोगे अथवा राग आवे तो भी उसका बन्धन उसे नहीं है। आहाहा! परन्तु उसका बहाना लेकर मिथ्यादृष्टि कांक्षा से सुखबुद्धि से प्रमादी होकर जीव को घात करे, सुखबुद्धि से भोग करे और ऐसा कहे कि, मुझे बन्धन नहीं है। ऐसी बात है। समझ में आया?

आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान है। अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है। आहाहा! उसका जिसे अन्तर्मुख सम्यग्दर्शन हो, वह किसी भी राग की क्रिया और देह की क्रिया को अपनी नहीं मानता। आहाहा! जिसकी पर्याय में अर्थात् कि द्रव्य तो शुद्ध प्रभु आत्मा है, परन्तु जिसका उसे भान हुआ, उसे पर्याय में पवित्रता आयी है। पर्याय अर्थात् वर्तमान हालत। वस्तु त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु है, परन्तु उसका जिसे

भान हुआ, उसे निर्मल परिणति पर्याय में हो गयी है, कहते हैं। पर्याय अर्थात् अवस्था में। और धर्मी का शुद्ध परिणति की ओर का ही पुरुषार्थ है। आहाहा! क्या पर्याय और क्या द्रव्य? उसकी खबर नहीं होती और उसे धर्म हो जाये, (ऐसा नहीं होता)। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि वस्तु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु! नित्यानन्द प्रभु आत्मा अन्दर है। उसकी ओर ढलकर, उसके स्वभाव सन्मुख पुरुषार्थ को झुकाकर जिसने अनुभव प्रगट किया... आहाहा! और उसे अनुभव स्वभाव ही हो गया है—ऐसा कहते हैं। जैसे अज्ञानी को राग स्वभाव है, ऐसा हो गया है। मिथ्यादृष्टि है, जिसकी खबर नहीं उसे यह पुण्य और पाप के भाव आवें, वह उसका स्वभाव हो गया है कि यह मेरे हैं और मैं यह करता हूँ। आहाहा! रागादि विकल्प आवे, उन्हें अज्ञानी अपना मानकर और अपना स्वभाव मानकर उसमें रमता है। आहाहा!

धर्मी को स्वभाव-सन्मुख की दृष्टि प्रभु चिद्घन आनन्दकन्द प्रभु, आहाहा! उसकी ओर का जहाँ झुकाव है, इसलिए उसे निर्मल परिणति (प्रगट हुई है)। श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति की परिणति प्रगट हुई है। जिसे शान्ति अन्दर से अपूर्व अनन्त काल में नहीं हुई शान्ति आती है। आहाहा! और उसे अनन्त आनन्द का नाथ प्रभु! जहाँ अनुभव में आया उस अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति, पर्याय में भी अतीन्द्रिय आनन्द वेदन में आता है। आहाहा! उसे समकिती और धर्मी कहते हैं। आहाहा! उसे विषय-भोग या मन-वचन की क्रिया के जीवघात आवदि के कारण से (होवे तो) बाह्य सामग्री बन्ध का कारण है नहीं। अज्ञानी को भी बाहर की सामग्री बन्ध का कारण नहीं है। बाह्य सामग्री के प्रति का जो प्रेम और राग और प्रमाद भाव है, वह उसे बन्ध का—संसार भटकने का कारण है। आहाहा! समझ में आया?

बुद्धिपूर्वक-जानकर अन्तरंग में रुचिकर विषय-कषयों में निरंकुशरूप से आचरण निश्चय से अवश्य कर मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप अशुद्ध भावों को लिये हुए है,... देखा? आहाहा! रुचिपूर्वक अन्दर राग आया और भोगा, वह तो मिथ्यात्वभाव है। एकदम झूठा अज्ञानभाव है। आहाहा! समझ में आया? बहुत रोवे, उसका भाव भी पाप का है, और पापबुद्धि में उसे वहाँ एकता है। ऐसे बहुत हँसे, उसमें भी राग की एकताबुद्धि

में वह पड़ा है। आहाहा! वह पापबुद्धि है। यहाँ तो राग और हँसने की क्रिया या रोने की, वह सब जड़ की क्रिया है, मेरे ज्ञान का वह तो ज्ञेय है और उसका जाननेवाला मैं, उसकी ओर का पुरुषार्थ तो कायम चालू है। समकिती धर्म की पहली शुरुआत (हुई है), उसे स्वभाव की शुद्धता की ओर का पुरुषार्थ कायम चालू है, इसलिए उसे राग की एकता नहीं होती। वह बाह्य की क्रियाओं में एकत्व नहीं मानता और बाह्य की क्रिया से मुझे कल्याण होगा, ऐसा अज्ञानी मानता है, समकिती नहीं मानता। आहाहा!

कितने ही ऐसा कहते हैं न? कि, भाई! पहले विषय-भोग भोगो। बहुत भोग लो, तो फिर निर्विकल्प हो जाओगे। (ऐसा माननेवाले) मूढ़ हैं। ऐसा कि विषय-भोग भोगे तो तृप्त हो जाये, इसलिए फिर उनकी अभिलाषा छूट जायेगी। अग्नि में लकड़ियाँ डालो, वह अग्नि बुझ जायेगी, (इसके जैसी बात है)। इसी प्रकार विषयभोग बहुत भोग लो, फिर उनका राग टूट जायेगा, इसलिए निर्विकल्प हो जायेगा (ऐसा माननेवाला) मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, हमने जो कहा था (कि) सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है। उसे तो आत्मा आनन्द का अनुभवशील स्वभाव हो गया है। इसलिए उसे राग का वेदना उसकी दृष्टि में नहीं है। राग का विकल्प उठे, उसकी एकताबुद्धि उसे नहीं है। इसलिए उसे बन्ध का कारण बाह्य सामग्री नहीं है, ऐसा कहा। परन्तु जिसे बाह्य सामग्री के प्रति प्रेम है और स्वभाव का प्रेम नहीं... आहाहा! आनन्द के नाथ भगवान प्रभु के निकट गया नहीं और राग के समीप में से छूटा नहीं, राग का समीपपना छूटा नहीं, भगवान के समीप में आया नहीं। आहाहा! उसे तो बन्ध के कारण सदा हैं, कहते हैं। आहाहा!

ज्ञानी को बन्ध का कारण नहीं कहा, इसका अर्थ तो इतना है। उसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु, जिसकी वर्तमान दशा में आनन्द के अनुभव का स्वभाव हो गया है। आहाहा! अपने यह पहले बन्ध में आया नहीं था? '**आनन्दामृतनित्यभोजी**' आनन्दरूपी अमृत का नित्यभोजी! आहाहा! बहुत कठिन बातें, भाई! धर्मी जीव को अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान है, उसकी वर्तमान दशा में आनन्द के अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है। आहाहा! यह बात...! इसलिए उसे बाह्य के भोग में प्रेम नहीं है, रुचि नहीं है। प्रमाद से जीव को घात करूँ, ऐसा भाव नहीं है। आहाहा! इस कारण से

उसे बन्ध नहीं है, ऐसा कहा है। परन्तु (ज्ञानी के बाह्य वर्तन का) सहारा लेकर स्वच्छन्दी होकर भोग में प्रेम करके सुखबुद्धि में रहे और प्रमादी होकर भोगे और कहे कि हम ज्ञाता-दृष्टा हैं, हम धर्मी हैं, हमको बन्ध नहीं। वहाँ पोपाबाई का राज नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

आहाहा! स्वच्छन्दी होकर राग का, पुण्य का भी कर्ता हो... आहाहा! शुभभाव का भी कर्ता हो। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव का स्वच्छन्दी होकर कर्ता हो, मिथ्यादृष्टि होकर कर्ता हो तो उसे केवल संसार ही भटकना है। आहाहा! उसे बन्धन है।

निश्चय से अवश्य कर मिथ्यात्व-राग-द्वेषरूप अशुद्धभावों को लिये हुए है,... लो! जिसे भोग का या घात करने का विकल्प उठता है, उसमें जिसकी एकत्वबुद्धि अन्दर पड़ी है, स्वसन्मुख हुआ नहीं और परसन्मुख में ही पड़ा है, उसे अवश्य बन्ध का कारण मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बातें सूक्ष्म बहुत!

इससे कर्मबन्ध का कारण है। मिथ्यात्व, राग-द्वेष अशुद्धभावसहित है। राग की एकत्वबुद्धि में सुखबुद्धि से पड़ा है, उसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष का अनन्त संसार का बन्धन है। आहाहा! चाहे तो साधु हुआ हो, स्त्री, कुटुम्ब, दुकान, धन्धा त्याग दिया हो और अन्दर में पंच महाव्रत पालता हो। दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य (पालता हो) परन्तु वह राग है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य का महाव्रत का भाव, वह राग है। उस राग में जिसकी एकत्वबुद्धि है, वह भले साधु नाम धराता है, परन्तु है मिथ्यादृष्टि अज्ञानी।

मुमुक्षु : आत्मा के साथ एकत्व नहीं हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकत्व ही कहाँ हुआ है? पंच महाव्रत पालन किये, दया पालन कीं, सत्य बोला, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, वह तो सब राग की क्रिया है। वह तो वृत्ति का उत्थान है। स्वरूप है, वह तो ज्ञाता-दृष्टा आनन्दकन्द है। आहाहा! उस वृत्ति के उत्थान में एकाकार होकर पड़ा, वह मिथ्यादृष्टि है। चाहे तो हजारों रानियाँ छोड़कर मुनि हुआ हो, करोड़ों की आमदनी छोड़कर, दुकान छोड़कर (मुनि) हुआ हो। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : छोड़ा उतना लाभ तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ा है, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। छोड़े कौन और ग्रहण करे कौन? आत्मा पर को छोड़े और ग्रहण करे? त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। प्रभु आत्मा में ऐसा एक गुण है कि पर का त्याग और पर का ग्रहण, इससे रहित उसका स्वभाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया?

निश्चय से तो अन्तर स्वरूप की दृष्टि में तो राग को छोड़ना और स्वरूप को ग्रहण करना, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं है। आहाहा! स्वभाव आनन्द की ओर ढलता है, तब उसे विकल्प—राग की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए उसने राग को त्याग दिया, ऐसा व्यवहार से कथन कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें, भारी सूक्ष्म, बापू! समझ में आया? भगवान अन्दर परमानन्द की मूर्ति प्रभु, वह तो अन्दर अनाकुल शान्ति का सागर है। आहाहा! उसमें जिसका झुकाव हुआ... आहाहा! उसे परसन्मुख के झुकाव का राग आदि हो, उसका वह ज्ञाता है। उसका पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख ढल गया है। आहाहा! इसलिए उसे ऐसी कोई मन-वचन-काया की क्रिया हो तो उससे उसे बन्ध है नहीं। आहाहा! और साधु हुआ हो, एकेन्द्रिय जीव को भी न मारने का भाव हो, हरितकाय यह सब एकेन्द्रिय जीव हैं। वनस्पति, नीम, पीपल, प्याज, इन सबमें अनन्त जीव हैं। आहाहा! उन्हें जिसे मारने का भाव नहीं, परन्तु दया का भाव है, वह राग है। और दया का भाव है, वह राग है और राग है, वह स्वरूप की हिंसा है। सूक्ष्म बात है, भाई! जगत में इससे सब उल्टा है।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है। अमृतचन्द्राचार्यदेव (ने कहा है) राग, वह हिंसा है। चाहे तो पर की दया पालने का भाव भी विकल्प है, राग है। आहाहा! उसमें स्वरूप की हिंसा होती है। भगवान ज्ञाता-दृष्टा, राग की हिंसा के भाव से रहित उसका स्वरूप है। आहाहा! अहिंसा परमो धर्म उसे कहते हैं कि राग की उत्पत्ति न हो और वीतरागदशा की उत्पत्ति हो, उसे अहिंसा धर्म कहते हैं। आहाहा! पर को न मारना और उनकी दया पालना, यह अहिंसा। यह अहिंसा धर्म है ही नहीं। आहाहा! लोगों को कठिन पड़ता है। वह आर्यिका कहती हैं, दया का शुभभाव बलपूर्वक करना, रुचि से करना और तत्पश्चात् निर्विकल्प सम्यग्दर्शन आत्मा की समाधि का कारण होता है। अरेरे! प्रभु! क्या करता है? भाई!

मुमुक्षु : आरम्भ के फलरूप से कार्य कितने ही आते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा तो अनन्त काल किया और अभी साधु कहलावे, उसे जो दया, दान के भाव हैं, उस भाव से तो ऊँचा भाव नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार स्वर्ग में गया। पंच महाव्रत का ऐसा निरतिचार चुस्त भाव था। यह तो अभी उसके लिये भोजन करके लेते हैं, हिंसा है। उनके लिये बनाया हुआ आहार ले, उसमें हिंसा होती है और वह भोजन लेते हैं तो पाप है। आहाहा! वह तो प्राण जाये तो भी उसके लिये बनाया हुआ आहार ले नहीं, ऐसे जिसे महाव्रत के भाव थे, तो भी वह राग है। आहाहा!

भगवान अन्दर ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरपूर भगवान है। अतीन्द्रिय आनन्द का सागर और अतीन्द्रिय ज्ञान का वह तो समुद्र है! आहाहा! उसकी ओर के झुकाव से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान हो, उसे राग की एकता नहीं, इसलिए उसे बन्धन नहीं है, ऐसा कहते हैं। और अज्ञानी ऐसा बहाना लेकर कि शास्त्र में समकिती को ऐसा कहा है न ? मैं भी समकिती हूँ, मुझे चाहे जो भोग हो, हिंसा हो (मुझे क्या) ? दृष्टि तो राग पर है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! यह वृत्ति उठती हैं न कोई भी ? यह करूँ... यह करूँ... यह वृत्ति उठती है, वह सब राग है। और राग से मुझे लाभ होगा, यह माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! ऐसी बातें! बहुत कठिन काम! पर की सेवा करते हैं, देशसेवा करते हैं। धूल भी नहीं कर सकता, सुन न! तथापि वह भाव है, वह राग है और उस राग से मुझे लाभ होगा, यह अत्यन्त अनन्त संसारी मिथ्यादृष्टि प्राणी है।

मुमुक्षु : 'सेवाधर्म परमज्ञानं योगीनाम...'

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कौनसा... ? यह आत्मा की सेवा। वह तो लिखते हैं न ? दिल्लीवाले (एक विद्वान्) लिखते थे। सेवाधर्म अगम्य है। वह स-एव सेवा—स-एव। चिदानन्द भगवान स्व, उसकी सेवा अर्थात् अन्तर एकाग्रता, वह (सेवा है)। ऐसी बात है। दुनिया से अलग प्रकार है। सब कहते हैं, सब खबर है या नहीं ?

गाँधी (महात्मा गाँधी) आये थे न ? व्याख्यान में आये थे। राजकोट (में)। नहीं ? (संवत्) १९९५ में आये थे। मोहनलाल गाँधी, कस्तूरबा, सब व्याख्यान में आये थे। वह (कौन) उनके साथ था ? महादेव देसाई। तीन बार व्याख्यान में (आये थे)। गाँधी आये थे। बाहर की प्रवृत्ति के कार्य बहुत न! वहाँ भी ऐसा कहा था, पर की किसी की

हम दया पाल सकते हैं—ऐसा भाव, वह मिथ्यात्व और अज्ञान का महा पाप है। अज्ञानी मूढ़ कहा था!

मुमुक्षु : उन्हें बराबर याद रह गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्होंने याद रखा। समयसार में बन्ध अधिकार में है। पर को मैं जिला सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ, पर को सुख की सुविधा दे सकता हूँ, ऐसी मान्यता मूढ़ अज्ञानी की भावना है। वह अज्ञानी का भाव है। आहाहा! मूढ़ है, अज्ञानी है। समकित दृष्टि रहित है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन बात, बापू! जगत से अलग जाति है। तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र परमात्मा वीतराग केवलज्ञानी के यह कथन हैं। यह सन्त आड़तिया होकर जगत के लिये प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : गाँधीजी को वह बात कठोर लगी थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन्हें कठोर लगी, फिर यह तो सुना। वह मानो कि मुझे कहा। मैंने तो सिद्धान्त कहा था। फिर एक व्यक्ति को—सेठ के पुत्र को कहा, एक महाराज मुझे मूढ़ कहते थे, वे महाराज कहाँ हैं? मैंने तो सिद्धान्त कहा कि भाई! पर की दया पाल सकता हूँ और परवस्तु भिन्न है। उसकी दशा उससे होती है। उसके बदले मैं उसकी दया पाल सकता हूँ, यह मान्यता ही अत्यन्त मिथ्यादृष्टि की अज्ञानी मूढ़ जीव की है। यह तो ढिंढ़ोरा पीटकर कहने का है। यह कहीं अब गुप्त नहीं है। आहाहा! समयसार के बन्ध अधिकार का पुकार है। यह बन्ध अधिकार चलता है न? देखो न! इसमें आयेगा। अभी ही आयेगा। पश्चात् यह श्लोक आयेगा। बाद में आता है न? '**सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय**' यह १६८ में आयेगा। १६८ कलश, अपने चलता है यह १६६। वह १६८ में आयेगा। मैं दूसरों को जिला सकता हूँ, दूसरे को मार सकता हूँ, दूसरे को सुविधा दे सकता हूँ, असुविधा दे सकता हूँ, परजीव को सुखी कर सकता हूँ, पर को दुःखी कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता करनेवाला आत्मा को घात डालता है। '**आत्महना भवन्ति**' आहाहा! कठिन बातें हैं! है इसमें? है, हों! १६८ है न? १६९ कलश में '**आत्महना भवन्ति**' है। '**नियतमात्महना भवन्ति**' आहाहा! ऐसी बातें कहाँ हैं? लोगों ने मारकर बिगाड़ मारा है पूरा! है यह? आहाहा! '**मिथ्यादृष्टो नियतमात्मना भवन्ति**' १६९ कलश।

(कलश) १६८ में यह (आयेगा कि) मैं पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, '**अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य**' आहाहा! भारी कठिन, जगत से तो उल्टा है, भाई! देश सेवा करो, उसमें मरो... क्या कहलाता है? शहीद! शहीद। कहते हैं न सब? आये हैं न, बहुत आये हैं। यहाँ तो बहुत आये हैं। देश के लिये मरते हैं! मरो और जाओगे चार गति में भटकने! देश कहाँ तुम्हारा था? वह तो पर है। तेरा देश तो यहाँ है। असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का धाम, वह तेरा देश यहाँ है। आहाहा! उस परदेश को अपना मानना—हमारा काठियावाड़, हमारी मुम्बई! मुम्बई में नहीं बोलते? 'अमची मुम्बई' वे लोग बोलते हैं... क्या कहलाते हैं? महाराष्ट्रवाले। मुम्बई उन्हें दिया है न? 'अमची मुम्बई' धूल भी तेरी मुम्बई नहीं, सुन न! हमारा काठियावाड़, हमारा गाँव! किसका था? बापू! तू कौन है?

मुमुक्षु : लोगों के विचार तो उल्टे होते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : होते हैं, उल्टे होते हैं। उसमें क्या है? अज्ञानी के उल्टे विचार होते हैं।

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं कि पर को जिला सकता हूँ, यह मान्यता मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है। क्योंकि उसका आयुष्य हो तो बचे और न हो तो न बचे। वह तो उसके कारण से है। उसके बदले मैंने उसे बचाया। भगवानजीभाई! यह स्त्री, पुत्र को निभाते हैं या नहीं? धूल भी नहीं निभाता है, ऐसा है।

मुमुक्षु : ऊँची बात हजम न हो तो स्वच्छन्दता आ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊँची बात न आवे तो स्वच्छन्द आवे ही नहीं। ऊँची (बात) के लिये तैयारी (करो)! स्वच्छन्द आवे तो पर का कर सकता है? स्वच्छन्दी भी पर का कुछ कर सकता है? वह तो मानता है कि मैं इसकी दया पालता हूँ और इस जीव को मैंने सुविधा—आहार-पानी की, पैसे की, दान देता हूँ, वह तो इसकी मान्यता है। पर का कुछ कर सकता है? आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू! दुनिया सब कहती है, सब खबर नहीं? धर्म के नाम से अभी बहुत घोटाले उठते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **भावार्थ इस प्रकार है कि ऐसी युक्ति का भाव मिथ्यादृष्टि**

जीव के... देखा ? **भावार्थ इस प्रकार है कि ऐसी युक्ति का भाव....** अर्थात् ? दूसरे का घात करूँ, ऐसा भाव है, तथापि ऐसा मानता है कि मैं पर को घात नहीं सकता। पर को जिलाने का भाव है और पर को जिला नहीं सकता, ऐसा मानता है वह अत्यन्त झूठी बात है। भाव में तो पड़ा है कि मैं उसे जिला और मार सकता हूँ। वह अवश्य बन्ध के कारण का भाव है। वह मिथ्यात्व भाव है, झूठा भाव है, अज्ञान भाव है। वह कहाँ नया है ? यहाँ तो बीस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। यहाँ से बीस लाख (पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं)। यह बात अब कहीं गुप्त नहीं है। देश-परदेश में सर्वत्र गयी है, विलायत गयी है। मार्ग तो यह है। इस चीज़ के अतिरिक्त कुछ (दूसरा) कहते हों, वे सब पाखण्डी और अज्ञानी हैं। आहाहा!

यहाँ आचार्य यह कहते हैं। क्या आया ? बुद्धिपूर्वक जानकर करता है। है न ? और अन्तरंग रुचि से कषायों के भाव करे, वह मिथ्यात्व सम्बन्धी है। **ऐसी युक्ति का भाव मिथ्यादृष्टि जीव के होता है, सो मिथ्यादृष्टि कर्मबन्ध का कर्ता प्रगट ही है;...** प्रमाद से भोग भोगता है, इच्छा से पर के काम कर सकता हूँ—ऐसा मानता है और कहता है कि मैं ज्ञाता हूँ, धर्मी हूँ। (वह) मिथ्यादृष्टि झूठी दृष्टि और पाखण्ड को सेवन करनेवाला है। आहाहा! शान्तिभाई!

यह कहा, देखो! **कारण कि सम्यग्दृष्टि जीवों के जो कुछ पूर्वबद्ध कर्म के उदय से है, वह समस्त अवांछित क्रियारूप है,...** देखा ? धर्मी जीव को आत्मा का भान हुआ है। उसे मैं तो ज्ञान और आनन्द का सागर हूँ, दूसरी कोई चीज़ मुझमें है ही नहीं। ऐसा जिसे भान हुआ है, उसे पूर्व के कर्म के कारण जो क्रिया होती है, वह सब अवांछित क्रिया है। (अर्थात्) इच्छा से नहीं होती। आहाहा! उसमें उसे प्रेम नहीं है।

जो कुछ पूर्वबद्ध कर्म के उदय से है, वह समस्त 'अकामकृतकर्म' 'अकाम-कृतकर्म' इच्छा बिना की क्रियायें होती हैं, उनका वह स्वामी नहीं है। आहाहा! कठिन काम! यह बोलने की क्रिया है, वह भी आत्मा की नहीं। यह देह ऐसे चलती है, वह आत्मा की क्रिया नहीं। वह तो जड़ की है। आहाहा! धर्मी जीव को पूर्व के कर्म के कारण से ऐसे संयोग दिखते हैं। समझ में आया ? आहाहा! परन्तु अवांछित है। उसमें इच्छा है नहीं। आहाहा! यह वह कुछ (बात है)!

अकारण... है न? **'अकामकृतकर्म' अवांछित क्रियारूप है, इसलिए... 'अकारणं मतं' कर्मबन्ध का कारण नहीं है—ऐसा गणधरदेव ने माना है...** इस प्रकार सच्चे सन्तों ने ऐसा जाना और माना है। सम्यग्दृष्टि को पूर्व के कर्म के कारण अवांछित क्रिया होती है, वह उन्हें बन्ध का कारण नहीं। ऐसे सच्चे सन्त मुनियों ने ऐसा माना है। आहाहा! इसमें दुनिया के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! है न? दो बातें कहीं न?

'अकामकृतकर्म' 'अकारणं मतं' ऐसा। इच्छा बिना जो कार्य होता है, अपने आप शरीरादि की क्रियायें आदि (होती हैं), वह **'अकामकृतकर्म'** आहाहा! वह इच्छा बिना हुआ काम है। **'अकारणं मतं'** वह बन्ध का कारण नहीं। आहाहा! भारी सूक्ष्म शब्द, भाई!

मुमुक्षु : इच्छा नहीं या इच्छा की इच्छा नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा ही नहीं। रुचि नहीं, इसलिए इच्छा ही नहीं। इच्छा का जाननेवाला हो गया है। बहुत सूक्ष्म बात! जरा कठिन काम है।

'अकामकृतकर्म', 'अकारणं मतं' ऐसा गणधरदेव ने (आचार्यों ने) माना है, और ऐसा ही है। कोई कहेगा कि... 'करोति जानाति च' कर्म के उदय से होती है जो भोगसामग्री सो होती हुई अन्तरंग रुचिपूर्वक सुहाती है... देखा? शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, इज्जत पूर्व के कर्म के कारण मिले और उसमें उसे रुचिपूर्वक सुहाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : भूखा कैसे रहा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : भूखा कौन रहता है? और कौन खाता है? वह तो जड़ की क्रिया है। रोटियाँ, दाल, भात, सब्जी होती है, वह तो जड़ की क्रिया है, आत्मा खाता नहीं, आत्मा उसे जानता है। अज्ञानी मानता है कि मैं करता हूँ। ज्ञानी मानता है कि मैं जानता हूँ। इतना अन्तर है। आहाहा! जिसे पर से भेदज्ञान हुआ है, वह पर की क्रिया का कर्ता नहीं हो सकता। आहाहा! मैं दूसरे को समझा सकता हूँ, यह भाषा जड़ की है। उसका कर्ता हो, वह भी मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। आहाहा! ऐसी बात है।

जिससे भगवान आत्मा भिन्न है, उसका कर्ता है, ऐसा मानता है, वह सब एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। वह पाखण्ड को सेवन करता है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : गृहस्थाश्रम में तो कुछ न कुछ करना पड़े, बाकी जंगल में चला जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : गृहस्थाश्रम में भी यह करता नहीं। यह गृहस्थाश्रम में नहीं, यह तो आत्मा में है। आहाहा! सम्यक् सत्यदृष्टि पूर्ण आनन्द का नाथ भगवान, उसकी जिसे दृष्टि होकर सम्यक्त्व हुआ है, वह तो आत्मा के ज्ञान और आनन्द में है। वह अन्दर राग है, उसमें भी नहीं तो पर—स्त्री, पुत्र में है या घर में है, (यह) बात बिल्कुल झूठी है। ऐसा है। पागल जैसा लगे, ऐसा है। अज्ञानी पागल को (ऐसा लगता है कि) यह क्या? यह तो जगत से सब उल्टी बातें हैं। बापू! जगत उल्टा है तो उससे यह उल्टा है। आहाहा!

मुमुक्षु : बाकी के को अमृत लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है तो ऐसा ही। आहाहा!

अन्तरंग रुचिपूर्वक रुचता है, ऐसा भी है। आहाहा! जिसे राग होता है और बाहर की देह की, स्त्री आदि भोग की क्रिया होती है, उसे रुचिपूर्वक रुचता है और मानता है कि मैं उसका जानने-देखनेवाला हूँ। (इस बात में) अत्यन्त विरोध है। आहाहा! अध्यात्म की बातें बहुत सूक्ष्म, बापू! है?

कर्म के उदय से होती है जो भोगसामग्री... पैसा, शरीर, इज्जत, स्त्री, परिवार इत्यादि, उसे **अन्तरंग रुचिपूर्वक सुहाती है...** उसे रुचि में सुहाता है (कि) यह ठीक है। एक बात। **ऐसा भी है तथा शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है,...** और वह शुद्ध स्वरूप को अनुभव करता है और रुचिपूर्वक सुहाता है, ऐसा एक स्थान में दो नहीं होते। क्या कहा यह?

अन्दर राग हुआ, दया, दान का राग आया। उसे रुचिपूर्वक सुहाता है तथा एक ओर कहता है कि मैं उसका जानने-देखनेवाला हूँ। यह बात झूठी है। एक म्यान में दो तलवार रह नहीं सकती। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! दुनिया से तो अलग जाति है, भाई! दूसरे सब क्या कहते हैं? कहाँ कहते हैं? सब खबर है, नहीं खबर (ऐसा नहीं

है)। आहाहा! मुनियों को खबर नहीं? तथापि मुनि पुकार करके ऐसा कहते हैं। उस पुकार की वाणी का भी मैं कर्ता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहा, क्या कहा? कि पूर्व के कर्म के उदय से भोग-सामग्री होती है। इज्जत, पैसा, शरीर, वाणी, वह **होती हुई अन्तरंग रुचिपूर्वक सुहाती है...** आहाहा! अन्तरंग में उस चीज़ में प्रेम है और रुचिपूर्वक सुहाती है। **ऐसा भी है तथा शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है,...** और मैं तो शुद्धस्वरूप को अनुभव भी करता हूँ। रुचिपूर्वक यह वस्तु सुहावे और मैं आत्मा को अनुभवता हूँ, यह दोनों बातें खोटी हैं। आहाहा!

समस्त कर्मजनित सामग्री को हेयरूप जानता है, ऐसा भी है। ऐसा कोई कहता है, सो झूठा है;... मैं आत्मा को जानता हूँ, अनुभव करता हूँ और इस बाहर की सामग्री का भी मुझे प्रेम है। **सामग्री को हेयरूप जानता है,** रुचिपूर्वक सुहाता है और ऐसा मानता है कि मुझे हेय है। आहाहा! ऐसी बात है। **सो झूठा है;...** क्यों झूठा है?

कारण कि ज्ञाता भी वांछक भी ऐसी दो क्रिया विरुद्ध नहीं क्या? जाननेवाला ज्ञाता भी रहे और फिर करने की प्रीति और रुचि भी रहे उसे। दोनों विरुद्ध नहीं हैं? विरोध है, ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : हेयपूर्वक राग करने में क्या बाधा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हेयपूर्वक 'करता हूँ', यह ही मैं नहीं। यह ही उपादेय हो गया। करनेयोग्य है, ऐसा जहाँ माना, वही उपादेय हो गया, हेय कहाँ रहा? आहाहा! कठिन बात है।

ज्ञाता भी वांछक भी ऐसी दो क्रिया विरुद्ध नहीं क्या? अपितु सर्वथा विरुद्ध हैं। दया, दान का शुभराग वांछित-इच्छा से करता हूँ और फिर मैं ज्ञाता रहता हूँ, ये दोनों बातें झूठी हैं। आहाहा! जाननेवाला हो, वह करता हूँ, उसकी रुचि नहीं और करता हूँ, उसे रुचि है, उसे ज्ञातापना नहीं रहता। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६७

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः ।।५-१६७।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'यः जानाति सः न करोति' [यः] जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव, [जानाति] शुद्धस्वरूप को अनुभवता है; [सः] वह सम्यग्दृष्टि जीव, [न करोति] कर्म की उदय सामग्री में अभिलाषा नहीं करता; 'तु यः करोति अयं न जानाति' [तु] और [यः] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव, [करोति] कर्म की विचित्र सामग्री को आप जानकर, अभिलाषा करता है, [अयं] वह मिथ्यादृष्टि जीव, [न जानाति] शुद्धस्वरूप जीव को नहीं जानता है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव को जीव के स्वरूप का जानपना नहीं घटित होता। 'खलु' ऐसा वस्तु का निश्चय है। ऐसा कहा जो— 'मिथ्यादृष्टि कर्ता है, वहाँ करना सो क्या'? 'तत् कर्म किल रागः' [तत् कर्म] कर्म के उदयसामग्री का करना, वह [किल] वास्तव में [रागः] कर्मसामग्री में अभिलाषारूप चिकना परिणाम है। कोई मानेगा कि कर्मसामग्री में अभिलाषा हुई, तो क्या; न हुई तो क्या? सो ऐसा तो नहीं है, अभिलाषामात्र पूरा मिथ्यात्वपरिणाम है, ऐसा कहते हैं— 'तु रागं अबोधमयं अध्यवसायं आहुः' [तु] वह वस्तु ऐसी है कि [रागं अबोधमयं अध्यवसाय] परद्रव्यसामग्री में है जो अभिलाषा, वह निःकेवल मिथ्यात्वरूप परिणाम है-ऐसा [आहुः] गणधरदेव ने कहा है। 'सः नियतं मिथ्यादृशः भवेत्' [सः] कर्म की सामग्री में राग, [नियतं] अवश्यकर [मिथ्यादृशः भवेत्] मिथ्यादृष्टि जीव के होता है; सम्यग्दृष्टि जीव के निश्चय से नहीं होता। 'सः च बन्धहेतुः' वह रागपरिणाम, कर्मबन्ध का कारण हैं। इसलिए भावार्थ ऐसा है कि मिथ्यादृष्टि जीव, कर्मबन्ध करता है; सम्यग्दृष्टि जीव, नहीं करता।।५-१६७।।

मागसर शुक्ल ५, गुरुवार, दिनांक-१५-१२-१९७७, कलश-१६७, प्रवचन-१७६

(कलशटीका १६८ कलश)। (अज्ञानी को अपना मूलस्वरूप) दृष्टि में आया नहीं। राग को करना और राग की अभिलाषा करना और बाह्य की संयोगी चीज़ में उल्लसित वीर्य, कांक्षा उत्पन्न करना, वह सब मिथ्यादृष्टि के लक्षण हैं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध स्वरूप को... कहा न?

जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव... 'जानाति' 'जानाति' की व्याख्या यह (कि) **शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है...** यह **'जानाति'** आहाहा! शुद्ध स्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! उसे जो अनुभव करे। आहाहा! कितनी शक्तियाँ हैं, यह थोड़ी बात रात्रि में की थी। आहाहा! जो शुद्ध को अनुभवता है तो उस शुद्ध स्वरूप की शक्तियाँ कितनी हैं कि जो सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है? आहाहा! रात्रि में कहा था न?

पहले तो यह बात की थी कि अनन्त काल में जो चार गति में भटका, उसमें अनन्त काल तो निगोद में गया। उसके अनन्तवें भाग में काल स्वर्ग में गया। उसके असंख्यवें भाग में काल नरक में गया। उसके असंख्यवें भाग में काल मनुष्य में गया। आहाहा! ऐसे भटकने के काल में इसने यह आत्मा क्या चीज़ है, उसे जानने का प्रयत्न किया नहीं। आहाहा! जो करने का था, वह किया नहीं। आहाहा! जाननेयोग्य चीज़ को (जाना नहीं)। कहा था कि जिसमें अनन्त गुण हैं। कितने (अनन्त गुण)? सभी चित्चमत्कारिक वस्तु है!! आहाहा!

एक समय में एक गुण कहे तो तीन काल में इसके गुण नहीं कहे जा सकते, इतने गुण इसमें हैं! आहाहा! एक समय में एक गुण कहे... अरे! एक मिनिट में एक गुण कहे तो भी इसके अनन्त गुण इतने हैं... आहाहा! कि वह एक-एक मिनिट में एक गुण कहे तो भी तीन काल में नहीं कहे जा सकते, इतने गुण हैं! समझ में आया? आहाहा! ऐसे अनन्त गुणों की जो संख्या, जिसे तीन काल में एक-एक गिनती से नहीं कहा जा सकता... आहाहा! ऐसे शुद्ध गुणों की जो अमाप अनन्त संख्या है... आहाहा! उसे जो अनुभव करता है। आहाहा! उसकी अनुभव की पर्याय में भी कितनी सामर्थ्य!

कि जो ऐसे अमाप अनन्त शुद्ध स्वभाव को एक समय में वेदन करे, एक समय में उसे जाने, एक समय में उसकी श्रद्धा करे। उस श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय की कितनी कीमत! आहाहा! समझ में आया? वस्तु ऐसी बहुत महँगी है! है तो अपने पास परन्तु (अन्दर) जाये तब न? आहाहा!

जिस वस्तु में जो अनन्त गुण हैं, उनका पर्याय में ज्ञान होना, वह ज्ञान की पर्याय (अक्षय, अमेय है)। शास्त्र में तो ऐसा कहा कि चारित्र की पर्याय अक्षय, अमेय है। क्योंकि अनन्त-अनन्त गुण जो तीन काल के समय से भी अनन्तगुणे हैं... आहाहा! और आकाश के प्रदेश से भी अनन्तगुणे। जिसका अन्त नहीं। आहाहा! आकाश का कहीं दसों दिशाओं में (अन्त नहीं)। यह लोक तो अलोक की अपेक्षा से तो एक राई जितना है। क्योंकि यह लोक तो अनन्त के अनन्तवें भाग का है। आहाहा! ऐसे अलोक के प्रदेशों का भी जहाँ अन्त नहीं, उससे भी अनन्तगुणे एक आत्मा में गुण हैं! आहाहा! ऐसे अनन्त गुणों का अंश एक समय में वेदन में आता है, प्रत्येक गुण का व्यक्त अंश (वेदन में आता है)। आहाहा! इसलिए उसे अक्षय और अमेय कहा। उस पर्याय को अक्षय और अमेय कहा। आहाहा!

मुमुक्षु : वीर्य भी अक्षय अमेय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्येक पर्याय अक्षय अमेय है। रात्रि में तो कहा था, श्रद्धा और ज्ञान और (सब अक्षय अमेय है)। यह सब आवे तब आवे न? रात्रि (चर्चा) में तो बहुत आया था! आहाहा!

एक श्रद्धा की पर्याय अनन्त गुणों को (कि जो) तीन काल के समय से अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश और इससे अनन्तगुणे (गुण), ऐसे अनन्त गुण का एकरूप द्रव्य का ज्ञान होने पर, वह पर्याय भी अक्षय, अनन्त पर्याय हुई। अमेय अर्थात् जिसकी मर्यादा नहीं, ऐसी पर्याय! मर्यादा बिना के गुणों का ज्ञान किया न? (इसलिए पर्याय भी अमेय हुई)। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू!

आहाहा! जिसके गुणों की संख्या का माप नहीं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त...संख्या से गिनते-

गिनते कहीं अनन्त चला जाये तो भी पूर्ण न पड़े! ऐसे अनन्त गुणों को जो ज्ञान की पर्याय जाने, उस पर्याय में कितना अनन्त आया? जानने में कितना अनन्त आया? आहाहा! और जिसकी ज्ञानपर्याय में ऐसा अनन्त जानने का आया, इसलिए पर्याय को अमेय कहा और जोर से जहाँ आत्मद्रव्य दृष्टि में आया, इसलिए जैसे द्रव्य का नाश नहीं होता, वैसे उसकी ज्ञानपर्याय और श्रद्धा की पर्याय का नाश न (हो, ऐसी) अक्षय है। समझ में आया? आहाहा!

उसकी एक-एक पर्याय में... अरे! स्थिरता की पर्याय (कि जो) अंश है, परन्तु कितने गुणों में वह एकाग्र हुई है! आहाहा! अनन्त अमाप गुणों में अंश स्थिर हुआ, वह अंश भी अमेय और अक्षय है। आहाहा! यह ऐसी चीज़ है! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि जीव...** आहाहा! **शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है...** यह शब्द ही यह आया, लो! आहाहा! यह अनन्त अमाप शुद्ध गुण पवित्र हैं। आहाहा! विकल्प तो एक समय की दशा है, परन्तु वह पर्यायबुद्धि जिसकी छूट गयी है... आहाहा! और अन्दर जो द्रव्यबुद्धि हुई है... आहाहा! उसकी पर्याय में अनन्त गुण का ज्ञान, अनन्त गुण की प्रतीति, अनन्त गुण की स्थिरता, अनन्त गुण की पर्याय में वीर्य की रचना (होती है)। आहाहा! और उस एक-एक पर्याय को दूसरी पर्याय की भी निमित्तता है।

गुण में तो गुण के कारण पर्याय है, ऐसा कहना वह व्यवहार है, परन्तु उस पर्याय की दूसरी पर्याय को मदद है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! क्योंकि वह पर्याय जहाँ अनेक गुणों के सागर को उस पर्याय ने जाना... आहाहा! उस पर्याय को दूसरी पर्याय की भी आवश्यकता नहीं है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा! जिसके वेदन में आया, प्रतीति में आया। ज्ञान की पर्याय में आया अर्थात् (उसका) ज्ञान आया, वस्तु कहीं वहाँ नहीं आती। समझ में आया? वेदन में भी पूरी वस्तु कहीं पर्याय में नहीं आती। उसका एक क्षणिक अंश—प्रत्येक गुण का क्षणिक अंश उसके वेदन में, व्यक्त में आता है। आहाहा! परन्तु वह क्षणिक अंश भी मर्यादा बिना की चीज़ है। इतनी पर्यायों की अनन्तता है। जैसे गुण का माप नहीं, अमाप है, वैसे पर्यायें भी अनन्त और अमाप है। आहाहा! ऐसे अनन्त अमाप गुण और दूसरी अनन्त पर्यायों को जो ज्ञान की पर्याय एक

समय में उस पर्याय को जाने, अनन्त गुण को जाने... आहाहा! और स्वयं अपने को जाने। आहाहा! ऐसी अमूल्य चीज़ है! आहाहा! अचिन्त्य ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव है! परन्तु उसे कभी जाना नहीं। आहाहा! दूसरी सिरपच्ची की—व्रत पालन किये और भक्ति की और पूजा की। वह तो सब राग की क्रिया है।

यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी को राग होता है तो भी उस राग का जाननेवाला रहता है। क्योंकि उसका स्वभाव जानना है। क्योंकि वह प्रभु स्वयं सर्वज्ञस्वभावी है। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। इसलिए शक्तिरूप से भी सबको जाने, ऐसा उसका स्वरूप है। आहाहा! राग का करना, वह उसके स्वरूप में नहीं, यह यहाँ कहते हैं। समझ में आया? अब फिर कहेंगे, देखो!

(सम्यग्दृष्टि जीव) **कर्म की उदय सामग्री में अभिलाषा नहीं करता;...** देखा? आहाहा! आहाहा! जिसे श्रद्धा में, अनुभव में, ज्ञान में वस्तु के अमाप स्वभाव का ज्ञान (और) श्रद्धा हुई, वह अब क्षणिक राग को करता नहीं। क्योंकि करना, (वह) उसके किसी स्वभाव में नहीं है। आहाहा! उसमें तो यह श्लोक नहीं परन्तु इसमें तो यह आया है कि '**जानाति सः न करोति**' परन्तु उस कर्ता-कर्म (अधिकार) में आया है न? कर्ता-कर्म! 'करे कर्म सो ही करतारा' यह शैली इसमें है। श्लोक वहाँ का है। 'करे कर्म सो ही करतारा' (अर्थात्) जो कोई राग को करे... आहाहा! क्षणिक विकृत अवस्था को करने में रुके... आहाहा! 'करे कर्म सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा' आहाहा! ज्ञानी को राग आवे, उसे हो, परन्तु वह तो उसका जाननेवाला है। आहाहा! ऐसा धर्म है, बापू! ऐसी चीज़ है।

सर्वज्ञ परमेश्वर, यह सर्वज्ञस्वभाव है, उसमें से सर्वज्ञ हुए और उस सर्वज्ञ में जो जानने में आया, वह वाणी में अनन्तवें भाग आया। आहाहा! इतना अनन्त... अनन्त गुणा अन्दर रह गया। और वाणी में जो आया, उसके अनन्तवें भाग तो सुननेवाले को ज्ञात होता है। आहाहा! यह क्या कहते हैं?

एक परमाणु में भी इतने गुणों की संख्या है। क्षेत्र तो एक इतना है, परन्तु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एक-एक समय में परमाणु का एक गुण कहना चाहे तो तीन काल से

अनन्त गुणा काल हो तो भी नहीं कहे जा सकते। इतने एक परमाणु में गुण हैं! यह क्या कहते हैं यह? सेठ!

मुमुक्षु : तब तो रुपये में बहुत गुण हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये के एक परमाणु में बहुत गुण हैं। किसके? उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के। दूसरे को पैसा मिले, इसलिए लाभ हो, ऐसा गुण उसमें नहीं है। रुपये में गुण है (सही), परन्तु किसके? उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। ऐसे तो रुपये के एक नोट में उससे अनन्तगुणे विशेष हैं। आहाहा! परमाणु, हों! गजब बात है, बापू!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने द्रव्य की पूरी चमत्कृति बतायी है! छहों द्रव्य चमत्कारिक हैं! आहाहा! द्रव्य भी चमत्कारिक, गुण भी चमत्कारिक और पर्याय भी (चमत्कारिक)! बापू! यह कोई तर्क से बैठे, ऐसी साधारण बात नहीं है। आहाहा! ऐसी चमत्कृति वस्तु है! किसे जँचे?

एक परमाणु में तीन काल से अनन्तगुणे (गुण हैं)। आकाश के प्रदेश से अनन्त गुणे तो गुण हैं। क्षेत्र एक अंश! आहाहा! ऐसी कोई चमत्कृतिक चीज़ है, जड़ का चमत्कार है! भगवान आत्मा में ज्ञान और आनन्द का चमत्कार है! इसी प्रकार कालाणु इस प्रकार से है।

यहाँ लोकाकाश में कालाणु असंख्य हैं। (दूसरे) द्रव्य तो अनन्त हैं। यह कालाणु की संख्या से द्रव्य हैं, वे तो अनन्तगुणे हैं। आहाहा! उन अनन्त-अनन्तगुणे को कालद्रव्य निमित्त है। परिणमन तो उपादान प्रत्येक द्रव्य (का) स्वयं का है। आहाहा! समझ में आया? और लोक के भाग से अनन्तगुणा अलोक, अनन्तगुणा अलोक! उसे काल का निमित्त कहना? आहाहा! क्या कहते हैं यह? आहाहा! विचार करने पर (ऐसा होता है कि) सिद्ध को निमित्त कहना, वह तो एक हद हो गयी। वह तो उन्हें छूता नहीं! यहाँ तो अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. आहाहा! उसके हिसाब से लोक तो एक राई जितना है, भले आकाश के असंख्य प्रदेश (में) अनन्त द्रव्य और अनन्तगुण हों। यह (लोक) इसके अनन्तवें भाग में है। वह (अलोकाकाश) अनन्त-अनन्त गुणा। किसी

भी दिशा में लो तो अनन्तगुणा... अनन्तगुणा, कहीं अन्त नहीं। ऐसे अलोकाकाश को भी काल का निमित्त कहा जाता है, यह क्या है ? क्योंकि उसका एक भाग उसे स्पर्श किया है। निमित्त उसके पास है। सिद्ध का निमित्त है, उसका तो कोई भाग यहाँ निमित्तरूप से नहीं। क्या कहा जाता है, समझ में आता है ? आहाहा! इस वस्तु की शक्ति इतनी है। निमित्त को निमित्त होने की शक्ति इतनी है कि अलोकाकाश (कि जिसका) कहीं अन्त नहीं है, उसे भी यह स्पर्श किये बिना निमित्त होता है! आहाहा! यह क्या कहते हैं ? कान्तिभाई! आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! ऐसी सब चीज़ को वह जानता ही है। उसे कहीं उसकी अतिशयता नहीं लगती। वह तो उसका स्वरूप ही है। आहाहा! द्रव्य का, गुण का, पर्याय का, जड़ का, कालाणु का (स्वरूप जानता है)। आहाहा! इतने एक कालाणु में भी आकाश के अनन्त प्रदेशों से अनन्तगुणे गुण हैं कालाणु में। आहाहा! उसकी विशेषता तो इसके ज्ञान में है कि, उन सबको जाने। यहाँ (यह) कहना है न ? जाने, बस! आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव यह सब है, उसे अपनी पर्याय के साधन से जानता है। वह है, इसलिए जानता है, ऐसा भी नहीं है। समझ में आया ? रात्रि में तो बहुत आया था। यह तो सब आवे, तब आवे न ? आहाहा!

यहाँ तो '**जानाति**' इसमें से (आया)। सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध स्वरूप को अनुभव करता है, इसलिए वह '**जानाति**' है। ऐसा कहा न ? आहा! '**जानाति**' का अर्थ है न ? बस! '**जानाति**' आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण को, अनन्त-अनन्त द्रव्य को, अनन्त-अनन्त विकृत हुए विकारी जीवों की पर्याय को, वह जानता है। आहाहा! अपने में भी हुई विकृत अवस्था को... आहाहा! उसे स्पर्श किये बिना जानता है। यह गजब बात है! यह लोग चिल्लाहट मचाते हैं न ? व्यवहार... व्यवहाररत्नत्रय से निश्चय होता है। भाई! सुन, प्रभु! तूने तत्त्व की बात सुनी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : .... यह स्पष्टीकरण होता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं होता, उससे नहीं होता। राग, वह विकृत है, उसे भी '**जानाति**', सम्यग्दृष्टि '**जानाति**', उसे करता है, उसके हैं—ऐसा नहीं है। आहाहा!

समझ में आया? वह तो '**जानाति**'। आहाहा! छहों द्रव्य, उनके गुण, उसकी पर्याय, अपना द्रव्य, उसके गुण, उसकी पर्याय... आहाहा! जिसे जानता है, उस पर्याय की ताकत कितनी! वह पर्याय अक्षय और अमेय है। आहाहा! उसकी प्रतीति जो है, वह भी अक्षय और अमेय है। आहाहा! उसने कितने की प्रतीति की! आहाहा! जिसका माप नहीं, इतने अनन्त गुण! एक (द्रव्य) ऐसे अनन्त द्रव्य और उस प्रत्येक के वापस अनन्तगुणे गुण! आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्ज्ञान में... आहाहा! जानता है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! मार्ग ऐसा है। वीतराग का मार्ग (आता है), ऐसी बात अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! और जहाँ है उन्हें भी खबर नहीं होती और बाहर से यह व्रत करो और अपवास करो, भक्ति करो और यात्रा करो, उसमें से कल्याण (हो जायेगा)। प्रभु! बहुत विपरीतता हो गयी।

तेरी ज्ञान की पर्याय अमाप गुण को जाने, उसे राग से लाभ हो? आहाहा! जिसकी पर्याय में अनन्त गुण (कि) जिसका माप नहीं, उसका पर्याय में लाभ हुआ है। लाभ अर्थात् उसका ज्ञान। आहाहा! समझ में आया? उसमें गुण आये नहीं परन्तु गुण का लाभ अर्थात् जितनी शक्ति की ताकत है, उतना उसमें ज्ञान आ गया। आहाहा! ऐसी ज्ञान की पर्याय के समक्ष, उसे ऐसा कहना कि राग है, उससे वह निश्चय होगा, प्रभु! बड़ी विपरीत बात है, भाई! आहाहा!

अपरिमित गुण को द्रव्य की जिस पर्याय ने जाना, ऐसी जानने की पर्याय को, राग की पर्याय से वह जानने की पर्याय प्रगट हो, (ऐसा मानना बड़ी विपरीतता है)। आहाहा! उससे तो नहीं प्रगट हो परन्तु अनन्त गुण और द्रव्य है, उससे उसकी जानने की पर्याय प्रगट नहीं हुई है। आहाहा! अपनी सामर्थ्य से प्रगट हुई है। जब अनन्त गुणों को जाने, उस गुण से भी वह पर्याय हुई नहीं तो राग तो अल्प विकृत अवस्था है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा का भाव तो विकारा, राग, अल्प अवस्था है। आहाहा! उससे ज्ञान की निश्चयपर्याय प्रगटे, (ऐसा मानने में तो) प्रभु! बहुत अन्तर है, बड़ा अन्तर है। आहाहा! श्रद्धा में बड़ा शल्य है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो समझ आये, उतना समझना, बाकी उसका पार नहीं होता, बापू! आहाहा! इसकी गम्भीरता, इसकी गहराई... आहाहा!

'**जानाति**' इसका अर्थ कि **शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है...** बस! आहाहा! **वह सम्यग्दृष्टि जीव कर्म की उदयसामग्री में अभिलाषा नहीं करता...** देखा? भाषा क्या कहते हैं? जिसकी पर्याय में स्वयं को जानना प्रगट हुआ... आहाहा! वह जाननेवाला समकिती कोई राग की या किसी चीज़ की अभिलाषा नहीं करता। अनन्त-अनन्त गुण और अनन्त समुद्र भरा है, ऐसे अनन्त समुद्र द्रव्य के भरे हैं, उन अनन्त द्रव्यों का यहाँ पर्याय में ज्ञान हुआ। आहा! ये ज्ञानी राग को और परद्रव्य को मेरा है, ऐसी वह अभिलाषा (करता) नहीं। परद्रव्य को जानने का काम हुआ, वहाँ 'परद्रव्य मेरे'—ऐसा कहाँ आया अब? आहाहा! स्व और पर को (जानता है)। 'स्वपर प्रकाशक शक्ति हमारी' आहाहा! वह राग को प्रकाशित करे, ऐसी शक्ति स्वतः है। अब उसमें जहाँ स्वतः ज्ञान की, श्रद्धा की पर्याय स्वतः प्रगट हुई है... आहाहा! उसे वह व्यवहार—राग से निश्चय होता है। (ऐसा नहीं है) राग अल्प, विकृत, मर्यादित अवस्था है। आहाहा! और यह तो अपरिमित श्रद्धा, ज्ञान की पर्याय है। आहाहा! व्यवहार से होता है, यह इसे नहीं है, भाई! बापू! व्यवहार को भी वह '**जानाति**' ज्ञान जानता है। व्यवहार को करता है और व्यवहार से होता है, ऐसा स्वरूप में नहीं है। आहाहा! कठिन काम! समझ में आया?

अलोक का कहीं अन्त नहीं, उसे यहाँ रहे हुए कालाणु निमित्त कहलाते हैं, क्या कहते हैं यह? निमित्त कहलाते हैं। उसके परिणमन के निमित्त से परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! निमित्त भी इस प्रकार से उड़ जाता है और व्यवहाररत्नत्रय (का) राग इस प्रकार से उड़ जाता है। आहाहा! समझ में आया? जँचे, न जँचे जगत स्वतन्त्र है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। वस्तु की स्थिति की मर्यादा ही ऐसी है। आहाहा! समझ में आया?

'**जानाति**' का अर्थ ही इतना किया (कि) **शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है...** जानता है, साथ में श्रद्धा करता है और साथ में वेदन करता है इसलिए अनुभव साथ में लिया। समझ में आया? आहाहा! जैसा वह स्वरूप है अमाप... अमाप... पवित्र शक्ति, उसे पर्याय में वेदता है, (ऐसा) यहाँ तो कहते हैं। वह चीज़ भले यहाँ न आवे, परन्तु उस सम्बन्धी का वेदन, उस सम्बन्धी का ज्ञान, श्रद्धा में आ जाता है। आहाहा! वेदता है

अर्थात् ? वह वेदनपर्याय है, उस वेदन की पर्याय में कहीं अनन्त गुण हैं, वे यहाँ वेदन में आ जाते हैं, (ऐसा नहीं है)। परन्तु वेदन की पर्याय की ही इतनी सामर्थ्य है कि अनन्त गुण का सागर भगवान में एकाग्र हो और पर्याय में अनन्त गुण के अंश का वेदन आ जाता है। आहाहा! समझ में आया ? इसलिए अभिलाषा करता नहीं। है ? इस कारण से कर्म के उदय से प्राप्त सामग्री को स्वयं अपने ज्ञान में रहकर, पर की अपेक्षा रखे बिना पर को और स्व को जानता है। ऐसा जीव किसी पर चीज़ की अभिलाषा नहीं करता। आहाहा!

जो परचीजें और परचीज़ के गुण और पर्याय, वे जहाँ अपनी ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हुए, स्व का ज्ञान करने पर वे ज्ञात हो गये, उसे कोई पर की अभिलाषा (नहीं है)। आहाहा! और अभिलाषा हो तो वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहेंगे। वह उसने यह अनन्त-अनन्त गुण का भगवान समुद्र और अनन्त गुण के सब अनन्त समुद्र को उसने जाना नहीं। आहाहा! इसलिए उसे अभिलाषा (रहती है कि) यह राग करूँ और यह प्राप्त करूँ, और इसे लूँ, (ऐसा रहा करता है)। आहाहा! यह अभिलाषा मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि इसके ज्ञानस्वभाव में तो स्व-पर को जानना, ऐसा उसका स्वभाव है। अब उसे जिसने जाना नहीं, (उसे) स्व की सामग्री में जानने की इतनी सामर्थ्य है, ऐसी शक्ति प्रगट नहीं हुई। वह परसामग्री को चाहता है। आहाहा! कि अनुकूल स्त्री हो, अनुकूल पैसा हो, अनुकूल मकान हो... आहाहा! ऐसी अभिलाषा मिथ्यादृष्टि को होती है। कठिन बातें हैं। अभिलाषा करता नहीं।

'तु यः करोति अयं न जानाति' अब सामने का पक्ष लिया। **और जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव कर्म की विचित्र सामग्री को आप जानकर अभिलाषा करता है...** देखा ? अर्थात् कि उसके कारण मुझे ठीक पड़ेगा, इसका अर्थ कि (उस चीज़ को) उसने अपनी माना। आहाहा! राग के कारण मुझे ठीक पड़ेगा, परसामग्री के कारण मुझे ठीक पड़ेगा, ऐसा भाव जिसका है.... आहाहा! उसने पर को अपना माना। अपने को पर से ठीक पड़ेगा, राग से मुझे ठीक पड़ेगा, मुझे राग से निश्चय का लाभ होगा, इसका अर्थ ही (कि) उसने राग को अपना माना। आहाहा! समझ में आया ?

शरीर की अनुकूलता हो तो मुझे धर्म में ठीक पड़ेगा, ऐसी जिसकी अभिलाषा है, उसने आत्मा और आत्मा के गुण या दूसरे द्रव्य और उनके गुणों को जानने की उसकी दशा है नहीं, उसे तो अभिलाषा की दशा है। आहाहा! इसमें तो बहुत बड़ी जवाबदारी है। आहाहा!

और जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव... वह सामने सम्यग्दृष्टि जीव था न? वह '**जानाति**' था। अब यह **मिथ्यादृष्टि जीव कर्म की विचित्र सामग्री को...** कर्म की विचित्र (सामग्री में) राग भी आवे, संयोग भी आवे (और) सब आवे। यह सब कर्म की विचित्र सामग्री है। आहाहा! संयोगी भाव और संयोगी चीज़ (सब आता है)। आहाहा! अब यह वाद-विवाद करने से कुछ पार पड़े, ऐसा है इसमें? आहाहा!

'**तु यः करोति अयं न जानाति**' उस विचित्र सामग्री को अपनेरूप जानकर (अभिलाषा करता है)। अपनेरूप जानकर इन्होंने क्यों लिखा? '**करोति**' करता है, उसका अर्थ ही अपनापन मानता है। इसलिए उसे करने का भाव हुआ है। पर को प्राप्त करूँ, राग को करूँ... आहाहा! समझ में आया?

आप (रूप) जानकर अभिलाषा करता है... ऐसी भाषा है, देखा? करते हैं, ऐसा भाव हुआ, उसका अर्थ कि पर को अपनेरूप मानता है। करने में उसने लाभ माना न? तब वह लाभ पर के कारण हुआ, ऐसा माना, वह अभिलाषा मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! एक-एक श्लोक में कितना भरा है! आहाहा! इसलिए कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने नियमसार में कहा न? भाई! स्वसमय और परसमय में वादविवाद करना नहीं, बापू! क्योंकि अलौकिक चीज़ को यदि तूने जाना हो तो तू (उसके) वेदन में रह, अनुभव में रहना। आहाहा! वाद-विवाद में पार नहीं पड़ेगा। शास्त्र में व्यवहार के लेख, कथन भी इतने लिखे हों, उन्हें पकड़ता है कि देखो! इसमें कहा। परन्तु वह व्यवहार जाननेयोग्य है। समझ में आया? क्योंकि ज्ञान की पर्याय ने जिसने स्व को जाना, उसकी पर्याय में पर को जानना ही रहता जाता है, बस! पर का अपनापन उसमें नहीं रहता। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कठिन, भाई! चक्रवर्ती को राज में रहना और कहे कि यह मेरा नहीं! और है, है वह तो सबके घर में है। मिथ्यादृष्टि अभिलाषा करता है कि इसे करूँ।

करूँ, इसका अर्थ कि उसने इसे अपना माना, बस! आहाहा! और उसे जानूँ। मुझे जानते हुए उसे जानूँ, उसने पर अपना माना नहीं। पररूप से माना, उसे जाना। आहाहा! शान्तिभाई! वहाँ होंगकोंग में कहीं होंगकोंग में मिले, ऐसा नहीं है। वह कहता था कि अभी होंगकोंग गया मुकुन्दभाई का पुत्र गया। कहता था कल। मधुभाई है, वहाँ मैं जाता हूँ। मुकुन्द... मुकुन्द, शान्ताबेन का भाई। वह कहे मैं वहाँ जाता हूँ... मधुभाई है वहाँ जाता हूँ। रुपये के लिये वहाँ जाना, ऐसा कहे, वहाँ मिलेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : उसके बिना जाना कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाना आत्मा में। जिस क्षेत्र में, जिस काल में जहाँ जाये, वहाँ तो आत्मा ज्ञानस्वरूपी है ही। उसका जाननेवाला तो है ही। आहाहा! जहाँ जाये, वहाँ वह जाननेवाला ही रहता है। वह अपने में रहता है, पर में जाता नहीं। राग में जाता नहीं तो फिर पर में (तो जाये ही कहाँ से)? आहाहा!

(मिथ्यादृष्टि जीव परपदार्थ को) **आप जानकर अभिलाषा करता है, वह मिथ्यादृष्टि शुद्ध स्वरूप जीव को नहीं जानता है।** आहाहा! जो कर्म की सामग्री को करने की जिसे अभिलाषा है... आहाहा! वह भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, अनन्त गुण का जाननेवाला और पर्याय में स्व-पर को जानने का स्वभाव है, उसे वह जानता नहीं। आहाहा! जिसे अभी बाहर की महिमा और इज्जत भी चाहिए है, ऐसे इज्जत के अभिलाषी जीव को—मिथ्यादृष्टि को आत्मा का ज्ञान नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा आता है कि सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् धर्मी को भी इज्जत की वृद्धि हो, ऐसी इच्छा होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं... नहीं... नहीं। वह तो सहज होना हो (वह) होता है। बाहर से वृद्धि हो (वह) स्वयं चाहता नहीं। वह व्यवहार से बातें आती हैं। पुण्य करो (ऐसा) पद्मनन्दि पंचविंशति में आता है। पुण्य करो तो उससे यश मिलेगा। सब खबर है। वह तो होना (हो), वह होता है। उसका वर्णन करते हैं। परन्तु जिसे अभिलाषा है... आहाहा! यश की अभिलाषा, वह तो परद्रव्य है। इज्जत की अभिलाषा है, बाहर प्रसिद्ध होने की, बाहर में दिखाई देने की अभिलाषा है, वह तो बाहर में पड़ा है, बहिरात्मा है। ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : चारित्रमोह के कारण किसी को हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं... नहीं... नहीं... उसे भी जानता है। उसे करता नहीं, उसकी अभिलाषा नहीं। यहाँ तो '**जानाति**' बस, एक ही बात है। '**जानाति**' में करना और अभिलाषा यह आ ही नहीं सकते। आहाहा! बहिन ने एक (बोल में) लिखा नहीं ? बाहर प्रसिद्धि में से भागना। बहिन की भाषा तो देखो! बाहर प्रसिद्धि में से भागना। बाहर प्रसिद्धि की अभिलाषा करना नहीं। आहाहा! है न उसमें यह ? मुझे आता है, ऐसा अभिमान करना नहीं, और बाहर प्रसिद्धि में जाना नहीं, वापिस भागना। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि जीव विषय समाग्री को अपनेरूप जानकर अभिलाषा करता है, वह जीव **शुद्ध स्वरूप जीव को नहीं जानता है।** इतना हुआ न ? जिसे राग और पर की अभिलाषा है, उसने जाननेवाले जीव को जाना नहीं। जाननेवाले को जाना हो तो यह अभिलाषा होती नहीं। आहाहा! गजब बात है, बापू! यह माप बहुत कठिन! समझ में आया ? यह अपने शुद्धस्वरूप को जानता नहीं। जानता है, वह करता नहीं और करता है, वह जानता नहीं। आहाहा! तथा जाननेवाले को करने में रुक गया, रुका, वह जाननेवाले को जानता नहीं। सूक्ष्म बातें हैं, भाई! आहाहा! वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञ का कथन... आहाहा! उनके कहे हुए द्रव्य, उनके कहे हुए गुण, उनकी कही हुई पर्याय... आहाहा!

यहाँ तो (कहते हैं), सम्यग्दृष्टि '**जानाति**'। तब मिथ्यादृष्टि अभिलाषा '**करोति**' आहाहा! क्योंकि वह अभिलाषा करता है (कि) मेरी कीर्ति बढ़े, ऐसा माने। तो भी पुण्य के बिना वह कीर्ति बढ़ती नहीं। (इसलिए) उसकी मिथ्या अभिलाषा है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, शान्तिभाई! यह तो संसार को मार डालने की बातें हैं। संसार को, हों! जागते जीव को खड़ा रखना हो तो राग को मार डालना पड़ेगा। आहाहा!

शुद्ध स्वरूप जीव को नहीं जानता है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव को जीव के स्वरूप का जानपना नहीं घटित होता। इसलिए कहते हैं कि, जिसे राग को करूँ और बाहर प्रसिद्ध होऊँ, दुनिया मुझे कुछ गिने, ऐसी जिसे अभिलाषा है... आहाहा! है ? वह शुद्ध स्वरूप जीव को जानता नहीं। **मिथ्यादृष्टि जीव को जीव के स्वरूप का जानपना नहीं घटित होता।** आहाहा!

'खलु' ऐसा वस्तु का निश्चय है। आहाहा! जिसके ज्ञान में बाहर में बाह्य पदार्थ में मुझे कोई गिने (ऐसा हो), उसे पर की अभिलाषा है। वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा कठिन काम, भाई! कहा न? वह मिथ्यादृष्टि है। **ऐसा वस्तु का निश्चय है।** उसे **जीव के स्वरूप का जानपना नहीं घटित होता।** आहाहा! ज्ञान की धारा में जो जानना (ऐसी) धारा रही है, वह राग के और पर के अभिलाषी जीव को वह धारा घटित नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : घटती नहीं अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् होती नहीं। उसे ज्ञानधारा रहती नहीं। आहाहा! कहा न? घटित नहीं होता अर्थात् होता नहीं। है न?

जीव के स्वरूप का जानपना नहीं घटित होता। अर्थात् होता नहीं। आहाहा! ऐसी बात सुनना भी मुश्किल पड़े ऐसी है। ऐसा मार्ग है। आहाहा!

जिसे कर्म के उदय की सामग्री की, राग, बाह्य की अनुकूलता (की अभिलाषा है...) आहाहा! यश, दुनिया गिने—ऐसी जिसे अभिलाषा है, उसे आत्मा का जानपना घटित नहीं होता। उसे आत्मा का ज्ञान है नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! कठिन बातें हैं, बापू! आहाहा! वीतराग का पंथ वीतरागभाव से जहाँ जानता है, उसे पर की अभिलाषा रही कहाँ? है कहाँ? आहाहा! और ऐसे मैं जानपने से कुछ भी बाहर प्रसिद्ध होऊँ, (ऐसा भाव हो), वह तो निदान हो गया। आहाहा!

मुमुक्षु : निदान अर्थात् संसार का भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वह तो निदान शल्य हुआ। आहाहा! इसलिए वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

ऐसा वस्तु का निश्चय है। देखा? क्या वस्तु का निश्चय है? कि जो वस्तु के स्वरूप को जानता है, उसे राग की और पर की अभिलाषा नहीं है, ऐसा वस्तु का स्वरूप है और जिसे राग तथा पर की किसी कण की (भी) अभिलाषा हो... आहाहा! तो उसे आत्मा के स्वरूप का जानपना नहीं होता, ऐसा वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसी बात है, बापू! क्या करे?

मुमुक्षु : दूसरी बातें सुन-सुनकर पूरी जिन्दगी गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिन्दगी गयी, बात सच्ची है।

मुमुक्षु : भावलिंगी मुनि को ख्याति, लाभ, पूजा, प्रशंसा की भावना नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, अन्दर से कुछ नहीं। अस्थिरता का भाव, उसे वे जानते हैं। यह बात है। यह तो मार्ग, भाई! जन्म, जरा, मरण रहित होने का मार्ग है। भवभ्रमण कर-करके चौरासी के अवतार में मर गया। निगोद के भव... आहाहा! एक श्वास में अठारह भव! निगोद में एक श्वास में अठारह भव, बापू! ऐसे अनन्त बार (भव किये)। एक श्वास में अठारह, ऐसे अनन्त बार अनन्त किये। अनन्त श्वासोच्छवास में एक-एक में अठारह भव, भाई! तूने सिर ऊँचा नहीं किया, प्रभु! तेरी चीज़ क्या है? आहाहा!

यहाँ तो धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे राग और पर की अभिलाषा ही जरा नहीं। क्योंकि जिसका पुरुषार्थ स्वभाव की शुद्धता में ढल गया है... आहाहा! सम्यग्दृष्टि का पुरुषार्थ अन्दर शुद्धता के अनुभव में झुक गया है। आहाहा! उसे बाहर की—राग की और उसके फल की अभिलाषा नहीं होती। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! ऐसा कहा है न वापस?

ऐसा वस्तु का निश्चय है। देखा? दोनों का योगफल किया। जाननेवाला सम्यग्दृष्टि तो ऐसा है कि जाने... जाने... जाने... क्योंकि उसका सर्वज्ञस्वभाव है और सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति में अनन्त गुण के अंश की प्रतीति और गुण का भान आ गया है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि अर्थात् वह तो बापू! क्या चीज़ है! आहाहा! और उस सम्यग्दर्शन बिना जितने व्रत, तप, भक्ति और पूजा (करे), वे सब बालव्रत और बालतप हैं। वे चार गति में भटकनेवाले हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

ऐसा कहा जो मिथ्यादृष्टि कर्ता है,... देखा? ऐसा कहा कि मिथ्यादृष्टि राग का और पर सामग्री का 'यह हो तो ठीक' (ऐसा करता है, इसलिए) वह कर्ता हुआ। आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त दया, दान के विकल्प की भी जिसे अभिलाषा है, वह उसका कर्ता सिद्ध हुआ। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, बापू! क्या हो? अरे रे! कर्ता अर्थात् क्या? कहते हैं।

वहाँ करना सो क्या ? 'तत् कर्म किल रागः' देखा ? **कर्म के उदय सामग्री का करना...** अर्थात् क्या ? **वह वास्तव में कर्म सामग्री में अभिलाषारूप चिकना परिणाम है।** यह करना है। आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त पुण्य-पाप के भाव और यह बाहर की अनेक सामग्रियों को करूँ अर्थात् मेरे हैं, मुझे लाभ होगा—ऐसा उसके मिथ्यात्व के चिकने परिणाम हैं। ऐसा सुना नहीं, सुनने को मिला नहीं। आहाहा! अरे! ऐसी की ऐसी जिन्दगियाँ जाती हैं, भाई! आहाहा! भले दुनिया माने, न माने, उसके साथ कोई बात नहीं। वस्तुस्थिति तो यह है। आहाहा! चिकने परिणाम कहे, देखा? मिथ्यात्व के (परिणाम) लेना है न? राग को, शुभभाव को भी जो चाहता है, उसने शुभभाव को अपना माना है, वह मिथ्यात्व के चिकने परिणाम हैं। आहाहा! है? समय तो होने को आया। लो!

वहाँ करना सो क्या? कर्म के उदय सामग्री का करना वह वास्तव में कर्म सामग्री में अभिलाषारूप चिकना परिणाम है। कोई मानेगा कि कर्मसामग्री में अभिलाषा हुई तो क्या... यह विशेष कहा जायेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलशटीका १६८ कलश है।

'**इह एतत् अज्ञानम्**' कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के परिणाम का एक अंग है, मिथ्यात्व के परिणाम का एक भाग है। मिथ्यात्व के तो बहुत प्रकार हैं। उनमें यह एक मिथ्यात्व के परिणाम का भाग है।

मुमुक्षु : कर्म सामग्री में अभिलाषा हुई तो क्या, न हुई तो क्या ? यह बाकी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ठीक है, यह बाकी है, यह बाकी है, बराबर।

कर्म सामग्री में अभिलाषारूप चिकना परिणाम है। कोई मानेगा कि कर्मसामग्री में अभिलाषा हुई तो क्या, न हुई तो क्या ? सो ऐसा तो नहीं है, अभिलाषामात्र पूरा मिथ्यात्व परिणाम है ऐसा कहते हैं—वह वस्तु ऐसी है कि परद्रव्यसामग्री में है जो अभिलाषा... क्या कहते हैं ? अपने अतिरिक्त परद्रव्य की कुछ भी वांछा (होती है), वह अभिलाषा मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्राप्ति... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो एक शुभभाव है परन्तु वह मुझे मिले, वह परद्रव्य मुझे मिलता है, ऐसा नहीं है। वह तो उसे भक्ति में राग का भाग है, इसलिए उन पर लक्ष्य जाता है, इतना। आहाहा! आगे कहेंगे।

'**तू रागं अबोधमयं अध्यवसायं आहुः**' **वह वस्तु ऐसी है कि परद्रव्यसामग्री में है जो अभिलाषा, वह निःकेवल मिथ्यात्वरूप परिणाम है, ऐसा गणधरदेव ने कहा है।** आहाहा! आत्मा के अतिरिक्त कोई भी परपदार्थ अपना नहीं है, उसे अपना करना चाहता है, ऐसी जो अभिलाषा, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार इत्यादि पर वस्तु है। उसकी अभिलाषा (हो) कि इसे मेरा करूँ, मेरे अच्छे करूँ, प्रिय करूँ जिससे मेरे पक्ष में रहे। आहाहा!

मुमुक्षु : भजन करे उसमें ही मेरापन हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ ही यह हो गया। वे मेरे हैं, इसलिए मैं उन्हें

सुविधा दूँ, यह बाद में कहेंगे परन्तु वे मेरे हैं, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरा संसार ऐसा चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा संसार इससे उल्टा पड़ा है। आहाहा!

परद्रव्य मेरे, ऐसी जो अभिलाषा उसे मिथ्यात्व परिणाम गणधरदेव अर्थात् आचार्य कहते हैं। आहाहा! शरीर को मेरा करूँ, स्त्री-परिवार के आत्मा को मेरा करना, उनके शरीर को मेरा मानना, वह सब मिथ्यात्व परिणाम है। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी का घर चले, ऐसा दिखता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टा घर है, उल्टे चलते हैं। उल्टी मान्यता में चलते हैं न? घर कौन चलावे? ऐसा कहे कि हम हमारे घर को चलाते हैं। लड़कों को व्यवस्थित रीति से ठिकाने करते हैं, धन्धे से लगा देते हैं, यह तो बाद में आयेगा। इसका अर्थ कि (उन्हें) मेरा माना, इसलिए उन्हें व्यवस्थापूर्वक जोड़ दूँ, यह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ऐसी बात!

केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम है,... है? **कर्म की सामग्री में राग अवश्यकर मिथ्यादृष्टि जीव के होता है,...** वह तो कर्म की सामग्री है। शरीर, पैसा, इज्जत-कीर्ति, पुत्र, पुत्रियाँ वह तो सब कर्म की सामग्री—दुश्मन की सामग्री है। आहाहा! उन्हें मारा करके (कहलवाना) और मेरे हैं, ऐसा मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसी बात है।

सामग्री में राग... राग अर्थात् एकता। 'ये मेरे हैं' ऐसा जो राग, (वह) **मिथ्यादृष्टि जीव के होता है,... सम्यग्दृष्टि जीव के निश्चय से नहीं होता।**

मुमुक्षु : निश्चय से होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वास्तव में होता नहीं। निश्चय से (होता नहीं) अर्थात् व्यवहार से होता है, अर्थात् (क्या)? राग हो, परन्तु उसे अपना माने, ऐसा उसे नहीं होता। आहाहा! व्यवहार से होता है अर्थात्? बोलने में ऐसा आता है कि भाई! यह मेरा पुत्र है, यह मेरी घरवाली है, यह मेरा मकान है। यह तो बोलने में आता है।

मुमुक्षु : मानना कुछ और कहना कुछ!

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ही सब खोटी!

मुमुक्षु : यह झूठ बोला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह झूठ बोला है। मात्र दूसरे को पहिचान कराने को यह बात कहता था। उसके बदले मान ले कि मेरे हैं (तो वह मिथ्यादृष्टि है)। बहुत कठिन काम है। अकेला स्वयं स्वतन्त्र आत्मा उसे पर के साथ क्या सम्बन्ध है? आहाहा! है?

सम्यग्दृष्टि जीव के निश्चय से नहीं होता। 'सः च बन्धहेतुः' वह रागपरिणाम कर्मबन्ध का कारण है। यहाँ राग का अर्थ मिथ्यात्व है, हों! आहाहा! मेरा देश, मेरा गाँव... आहाहा! मेरे मकान, मेरा परिवार, मेरी सब दुकानों की व्यवस्था इतनी... इतनी चलती है, वह सब मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : चक्रवर्ती छह खण्ड का राज कैसे चलाते होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ मानता (नहीं), करता नहीं। होता है, उसे वह जानता है। मेरा है, (ऐसा) नहीं मानता, युद्ध करता ही नहीं। आहाहा!

इसलिए भावार्थ ऐसा है कि मिथ्यादृष्टि जीव कर्मबन्ध करता है, सम्यग्दृष्टि जीव नहीं करता। जिसकी दृष्टि विपरीत है, वह परद्रव्य को मेरेपने मानकर अनन्त संसार का कारण ऐसा दर्शनमोह बाँधता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि किसी भी चीज़ को अपनी मानने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं। आहाहा! राग भी मेरा है, ऐसा मानता नहीं तो परचीज़ मेरी है, यह तीन काल में मानता नहीं।

मुमुक्षु : तथापि बोले ऐसा कि मेरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाषा (ऐसी) बोले। वह भाषा का कार्य है, उसका कार्य नहीं। समझ में आया? आहाहा! लो, अब यह (आया)। मिथ्यात्व का एक अंग दिखाते हैं। १६८।

कलश - १६८

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।।६-१६८।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'इह एतत् अज्ञानं' [इह] मिथ्यात्वपरिणाम का एक अंग दिखलाते हैं — [एतत् अज्ञानं] ऐसा भाव, मिथ्यात्वमय है। 'तु यत् परः पुमान् परस्य मरणजीवितदुःखसौख्यं कुर्यात्' [तु] वह कैसा भाव? [यत्] वह भाव ऐसा कि [परः पुमान्] कोई पुरुष, [परस्य] अन्य पुरुष के [मरणजीवितदुःखसौख्यं] मरण-प्राणघात; जीवित-प्राणरक्षा; दुःख-अनिष्टसंयोग; सौख्य-इष्टप्राप्ति—ऐसे कार्य को [कुर्यात्] करता है। भावार्थ इस प्रकार है — अज्ञानी मनुष्यों में ऐसी कहावत है कि 'इस जीव ने, इस जीव को मारा; इस जीव ने, इस जीव को जिलाया; इस जीव ने, इस जीव को सुखी किया; इस जीव ने, इस जीव को दुःखी किया'—ऐसी कहावत है, सो ऐसी ही प्रतीति जिस जीव को होवे, वह जीव, मिथ्यादृष्टि है—ऐसा नि-सन्देह जानियेगा; धोखा कुछ नहीं। क्यों जानना कि मिथ्यादृष्टि है? कारण कि 'मरणजीवित-दुःखसौख्यं सर्वं सदा एव नियतं स्वकीयकर्मोदयात् भवति' [मरण] प्राणघात, [जीवित] प्राणरक्षा, [दुःखसौख्यं] इष्ट-अनिष्टसंयोग, ये जो [सर्वं] सब जीवराशि को होता है वह सब, [सदा एव] सर्व काल [नियतं] निश्चय से [स्वकीयकर्मोदयात् भवति] जिस जीव ने अपने विशुद्ध अथवा संक्लेशरूप परिणाम के द्वारा, पहले ही बाँधा है जो आयुकर्म अथवा साताकर्म अथवा असाताकर्म, उस कर्म के उदय से उस जीव को, मरण अथवा जीवन अथवा दुःख अथवा सुख होता है—ऐसा निश्चय है; इस बात में धोखा कुछ नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जीव, किसी जीव को मारने के लिए समर्थ नहीं है; जिलाने के लिए समर्थ नहीं है; सुखी-दुःखी करने के लिए समर्थ नहीं है।।६-१६८।।

कलश - १६८ पर प्रवचन

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।।६-१६८।।

ऐसा भाव... मिथ्यात्व का एक अंग है, **मिथ्यात्वमय है।** क्या? **'तु यत् परः पुमान् परस्य मरणजीवितदुःखसौख्यं कुर्यात्' वह कैसा भाव? वह भाव ऐसा कि कोई पुरुष...** अर्थात् कोई आत्मा। **'परस्य' अन्य पुरुष के.... 'मरणजीवितदुःखसौख्यं' मरण-प्राणघात,...** देखो! सरस व्याख्या की! मैं दूसरे के प्राण का घात कर सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! मरण की व्याख्या यह की है। इसके प्राण जो हैं—पाँच इन्द्रिय, मन, वचन और काया, श्वास, आयुष्य का घात कर सकता हूँ, अर्थात् कि दूसरे का मरण कर सकता हूँ अर्थात् कि दूसरे के प्राण का मैं वियोग कर सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा!

पश्चात् दूसरा—**जीवित...** दूसरे प्राणी का जीवत्व अर्थात् प्राण की रक्षा कर सकता हूँ। आहाहा! कहो, माता बालक की रक्षा नहीं करती? कहते हैं कि पर के प्राण उसके कारण से रहते हैं। उसे यह कहता है कि उसके प्राण मैं रखता हूँ, उसके प्राण को मैं रखूँ—ऐसा पर का जीवत्व कर दूँ, पर को जीवित रखूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है। कठिन बात है।

मुमुक्षु : गाँव-गाँव में गौशाला बनायी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? वह तो जरा शुभराग हो और वह क्रिया होनेवाली (हो) वह होती है। परन्तु 'यह (क्रिया) मैंने की है, गायों को बचाने के लिये यह गौशाला मैंने बनायी है।' यह भाव मिथ्यात्व है। कठिन काम है। यह बात तो अटपटी है, भाई! संसार के अभिप्राय से पूरी बात में अन्तर है। आहाहा! मैं इस लड़के को पढ़ा दूँ, यह पढ़कर ताजा हो, इसे मैं सुख की सामग्री दूँ। सुखी करूँ का अर्थ? सुखी करूँ की व्याख्या दूसरी है, देखो!

पहले ऐसा कहा, प्राणघात कर सकता हूँ। पर के प्राण को—आयुष्य के प्राण को मार / घात सकता हूँ, उसके मन-वचन-काया के प्राण को मैं मार सकता हूँ—ऐसा जो भाव... आहाहा! वह मिथ्यात्वभाव है, वह मिथ्यात्व का एक अंग है। मिथ्यात्व के तो बहुत प्रकार हैं, उनमें यह एक मिथ्यात्व का प्रकार है। आहाहा!

प्राणरक्षा... दूसरे के प्राण की मैं रक्षा कर सकता हूँ। आहाहा! यह दवा-बवा (पिलाकर) डॉक्टर प्राण की रक्षा नहीं कर सकते? दूसरे के प्राण की रक्षा! उसका आयुष्य है, तब तक वह रहता है। उसके बदले यह उसे आयुष्य देता है, कि वह रक्षा करे? आहाहा! यह सब बातें तो जगत से अलग है, भाई!

मुमुक्षु : बचा सके उसे बचाने के भाव कर सके?

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाने के भाव—बचा सकता हूँ, ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। वे तेरापंथी कहते हैं, वह दूसरी बात है। स्थानकवासी में से आये, इसलिए ऐसा कहते हैं न कि दूसरे को बचाने का भाव मिथ्यात्व है। बचा सकता हूँ, इस मान्यता की ही खबर नहीं। मात्र, बचाऊँ तो बाद में वह पच्चीस जीव की हिंसा करेगा, इसलिए वह बचाने का भाव... यहाँ यह बात नहीं है।

यहाँ तो (कहते हैं) पर के प्राण की रक्षा कर नहीं सकता। उसके प्राण की रक्षा तो उसका आयुष्य है, वहाँ तक रहता है। इसलिए दूसरा उसकी रक्षा करे और जिला सके (यह मान्यता ही मिथ्यात्व है)। आहाहा! यह गरीब मनुष्य था, उसे मैंने रास्ते चढ़ा दिया, पाँच-पच्चीस हजार देकर दुकान चलायी और रास्ते (चढ़ा दिया)। उसका करके मैंने उसके प्राण की रक्षा की। मूढ़ है, कहते हैं। यह तो जगत से उल्टा है, भाई! आहाहा!

प्राणरक्षा, दुःख... दुःख की व्याख्या क्या? मैंने उसे अनिष्ट संयोग दे सकता हूँ। तलवार दे सकता हूँ, यह दे सकता हूँ (ऐसे) अनिष्ट संयोग... आहाहा! उसे मैं बिच्छू कटाऊँ, सर्प कटाऊँ, जहर दूँ—ऐसा अनिष्ट का संयोग मैं कर सकता हूँ, इसका नाम पर को दुःख कर सकता हूँ, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! यह गजब बातें! दूसरो को मैं प्रतिकूलता के संयोग दे सकता हूँ... आहाहा! यह मिथ्यात्व भाव है।

अनिष्ट का संयोग! व्याख्या कैसी सरस की है! कोई कहे कि, उसे दुःख दे

सकता हूँ अर्थात् क्या? उसे दुःख का भाव हो, वह तो उससे होता है, परन्तु उसे दुःख के प्रतिकूल संयोग मैं दे सकता हूँ, (इसका नाम पर को दुःख दे सकता हूँ, ऐसा कहा जाता है)। आहाहा!

एक बहू वह देरी से उठी होगी (और) झोंके खाते-खाते दलती होगी। (वहाँ) उसकी सासु आयी, (उसने देखा कि) यह झोंके खाती है। फिर उन गेहूँ में ऐसे हाथ डाले न? वहाँ अग्नि रखी। अग्नि के अंगारे (रखे, इसलिए) ऐसे जहाँ (गेहूँ लेने जाती है वहाँ) यह... (होकर जलती है)। (सासु को ऐसा कि) मानो इसके झोंके उड़ाऊँ। समझ में आया? बहू चक्की दलती थी, घण्टी! क्या कहलाता है वह? चक्की... चक्की! उसमें झोंके खाती थी, वह उसकी सासु देख गयी। इसलिए (चक्की में गेहूँ डालने के लिये) उन गेहूँ में हाथ डाले न? वहाँ अग्नि के अंगारे रखे!

मुमुक्षु : सासु बहुत क्रूर थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्रूर थी तब ही (ऐसा किया न)! तथापि उसने यह अभिप्राय किया कि मैं इस जगा दूँ और बराबर काम (लूँ, ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है। इंजेक्शन देकर इसे जिला सकूँ!.... आहाहा!

इष्ट का संयोग दे सकूँ। इष्ट प्राप्ति है न? है? **सौख्य—इष्टप्राप्ति...** उसे अनुकूलता दे सकूँ। पैसा देकर रास्ते चढ़ जाये, आहार-पानी देकर इसकी भूख मिटे, ऐसे आहार-पानी मैं इसे दे सकूँ, इष्टसामग्री दे सकूँ। आहाहा! अरे! इसे मैं अच्छे संयोग में रखूँ कि जिससे इसकी सुविधा बनी रहे, ऐसी मान्यता अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन काम! कन्या को उसके ससुराल विदा करनी हो और साधारण घर हो तो यहाँ से स्वयं उसे लाख रुपये दे कि जिससे उसे सुविधा बनी रहे। क्योंकि वे गरीब व्यक्ति हों और उन्हें कुछ (दूसरी अधिक सुविधा हो नहीं, ऐसा मानकर दे)।

यहाँ दरबार थे न? जदसण दरबार। उन्हें ऐसी प्रकृति थी। स्वयं बड़ा दरबार, तीन लाख की आमदनी! (यह तो) पहले की बात है, बाद में दस लाख, पन्द्रह लाख (हो गये) परन्तु वह कन्या ऐसे को दे कि एक (व्यक्ति) भैंस चराता था, उसे कन्या दी। क्योंकि उसे बनाये रखे। भैंस... भैंस। भैंस समझे? वह (एक) था, हमारे पास बेचारा

आता था। भैंस को चराता था, उसे कन्या दी और अमुक खेत दिया। बारह महीने में बीस-पच्चीस हजार आमदनी हो, ऐसे खेत दे। वह कन्या जीवे, तब तक उसे दे। बाई मर जाये, फिर खेत ले लेवे। उसमें बीस-पच्चीस वर्ष में जो आमदनी हुई हो, उससे वह निभे, ऐसा। यह उसकी आदत है। वह मानो कि कन्या को वहाँ दूँ और वह गरीब व्यक्ति है, इसलिए उसे रखेगा और उसे इष्ट संयोग देता हूँ, इसलिए उसे बनाये रखेगा। यह सब मान्यता, भ्रमणा अज्ञानी की है, कहते हैं। आहाहा!

यह दहेज में नहीं देते? क्या कहलाता है वह? अपने क्या कहते हैं उसे? करियावर! करियावर (अर्थात्) इस प्रमाण इतना दूँ, उसको इतना दूँ कि जिससे उसे संयोग अनुकूल रखे। पाँच सौ तोला सोना दूँ, इतने गहने दूँ, इतने वस्त्र दूँ... आहाहा! मेरी पुत्री है न? तो ऐसा अनुकूल संयोग दूँ तो रहे। यह दृष्टि मिथ्यात्व है, कहते हैं। क्योंकि उसे संयोग मिलना, वह तो उसके पुण्य के कारण से उसे मिलता है। उसे यह कहता है कि मैं उसे संयोग दूँ!

मुमुक्षु : कर्म का निमित्त है और यह भी निमित्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों निमित्त हैं परन्तु इस प्रकार से है। तथापि यहाँ तो कर्म का निमित्त सिद्ध करना है। निमित्त है परन्तु यहाँ कर्म को सिद्ध करना है। यह दे नहीं सकता, इसलिए उसे कर्म के कारण से मिलता है, ऐसा सिद्ध करना है। कर्म निमित्त है, तथापि निमित्तपना उसका है। ऐसा। आहाहा! समझ में आया? है?

चार बोल में बहुत सब समाहित कर दिया। प्राणघात—उसका नाम मरण, प्राणरक्षा—इसका नाम जीवन। दुःख (अर्थात्) अनिष्ट (सामग्री का) संयोग दूँ। आहाहा! एक बैरी / दुश्मन व्यक्ति था न? वह मन्दिर की एक ईंट है, (उसे मकान के पास रख आया)। (उस) गृहस्थ का मकान बनता था, उसमें मन्दिर की ईंट रख आया। अर्थात् क्या कि देवद्रव्य है, (वह) इसे गया तो इसका सब नाश हो जायेगा। उसको तो खबर भी नहीं। अज्ञानी मान्यता (में) ऐसा मानता है। आहाहा! समझ में आया? गृहस्थ का मकान चिनता था। उसमें उसे एक बैरी था। वह मन्दिर की (निर्माण की) ईंट चलती थी वह ईंट वहाँ रख आया। अर्थात् देवद्रव्य वहाँ दिया (इसलिए) अब उसका नाश हो

जायेगा। इसी प्रकार अज्ञानी मेरे पुत्र को, स्त्री को, लड़के को अनुकूल संयोग दे सकता हूँ, यह मान्यता अत्यन्त मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी की है। आहाहा!

उसे जो संयोग मिलते हैं, वे तो उसके कर्म के पुण्य के कारण से उसे वहाँ संयोग मिलते हैं। उसके बदले यह कहता है कि मैं उसे अनुकूल संयोग दूँ। आहाहा! वह भाव अत्यन्त मिथ्यादृष्टि अज्ञानी का है। आहाहा! ऐसा है। पूरे संसार से सब उल्टा है।

उसे इष्ट की प्राप्ति (अर्थात्) उसे अनुकूलता के संयोग दे सकता हूँ, नौकर ने मेरे सब काम अच्छे किये हैं, इसलिए उसे अब भले प्रकार से एक मकान बना दूँ और उसमें वह रहे, यह सब मिथ्यात्वभाव है। उसका संयोग मैं कर सकता हूँ, (यह मिथ्यात्वभाव है)। आहाहा! ऐसा है।

एक (व्यक्ति की) दुकान में जब भाई अन्दर भाग करने लगे, भाई परस्पर चोरी करने लगे, तब उनका नौकर भी चोरी कर जाये, इसलिए बोला नहीं जा सके। भाईयों का हिस्सा इकट्ठा था, तब तक अन्दर अलमारी पाँच सो, हजार, दो हजार, पाँच हजार प्रतिदिन आवे, उसमें से जो बैठा हो वह पाँच-पाँच सौ उठा ले! नौकर देख जाये कि यह (उठाता है)। फिर नौकर भी उठा ले जाये। अन्दर बखारी में माल भरा हो, उसमें से थोड़ा उठा ले जाये। (उसमें से) बड़ा मकान बनाया। परन्तु यह संयोग मैंने दिया, यह बात मिथ्यात्व है और उसने कहा कि यह संयोग मैंने लिये, यह मिथ्यात्व है। आहाहा! वह तो पुण्य के कारण से संयोग आया। तूने पाप के नये परिणाम किये, वह तो अलग चीज़ है। आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! संसार से मिथ्यात्व टालकर समकित में आना, वह चीज़ कोई अपूर्व है, चारित्र की बात तो बाद में रही। अभी तो एक सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली सीढ़ी में आना, उसमें अवरोध के ऐसे व्यवधान के-मिथ्यात्व के प्रसंग बहुत हैं। आहाहा! है?

मैं दूसरे को जिला सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है, अज्ञान है। दूसरे को मार सकता हूँ, यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यात्व है। उसे बड़ा संसार है। इसी प्रकार दूसरे को अनुकूल संयोग दे सकता हूँ, और प्रतिकूल संयोग दे सकता हूँ, यह मान्यता अत्यन्त अज्ञान और मिथ्यात्व है। आहाहा! संसार में तो पर से मर जाये, तब (यह काम) हो,

ऐसा है। आहाहा! अरे! मैं इसे पुस्तक दे सकता हूँ, वह संयोग तो उसके पुण्य के कारण उसे प्राप्त होता है तथापि यह कहता है कि मैं देता हूँ! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! मिथ्याश्रद्धा—इसकी सत्य से झूठी उल्टी श्रद्धा है। वस्तु का स्वरूप है, उससे इसकी विपरीत मान्यता है। आहाहा! चार बोल कहे।

ऐसे कार्य को करता है। ऐसे कार्य को करता है, ऐसा यह मानता है। मैं पर को जिला सकता हूँ... आहाहा! पानी में मक्खी पड़ी है तो मैं हाथ डालकर उसे बचा सकता हूँ। परन्तु हाथ भी तेरा नहीं (तो) उससे तू किस प्रकार उसे ले? आहाहा! और उसका आयुष्य हो तो वह पानी में से बाहर निकले ही। तू उसे पानी में से बाहर निकालकर (कहे कि) मैंने उसे बचाया (यह मान्यता मिथ्यात्व भाव है)। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! कठिन काम, भाई!

वीतराग जिनेन्द्रदेव परमेश्वर केवली तीर्थंकरदेव का यह हुकम है! आहाहा! कि, पर को मैं जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, सुविधा दे सकता हूँ, सुविधा प्रतिकूल कर दूँ, अनुकूल दूँ, वह प्राणी अपने स्वरूप का घात करनेवाला है। यह (बात) बाद के श्लोक में आयेगी। '**आत्महनो भवन्ति**' आहाहा! परद्रव्य को परद्रव्य का संयोग होना या न होना, वह तो उसके पुण्य-पाप के आधीन है। उसके बदले यह कहे कि मैं अनुकूल-प्रतिकूल संयोग दे सकता हूँ! आहाहा!

यह पर को जिला सकता हूँ, अर्थात् वह जीवित रहेगा तो दूसरे को मारेगा इसलिए पाप होगा, ऐसा नहीं है। उसे जिला सकता हूँ, उसका आयुष्य है और जीता है। उसके बदले यह मानता है कि मैं जिला सकता हूँ, यह अज्ञान की मान्यता है। आहाहा!

मुमुक्षु : आयुष्य है, इसलिए जीता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करना है, यहाँ तो यह सिद्ध करना है। उसके संयोग में कर्म का कारण—निमित्तपना है। उसके संयोग में देनेवाले का निमित्तपना नहीं, इतना सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया? यह अभी कहेंगे।

सदा, सर्वदा। तीनों काल और सर्व जीवों को—ये दो शब्द पड़े हैं। अभी नीचे आयेगा। उसमें पहला यह आया था, देखो! '**सर्वं सदैव**' पहला शब्द था। '**सर्वं सदैव**

नियतं भवति स्वकीय-कर्मोदया' आहाहा! उसे निमित्तपना कर्म है, यह सिद्ध करना है परन्तु ये कहता है कि मैंने दिया, इसलिए मैं उसका देनेवाला कारण हूँ, यह झूठी बात है। आहाहा! स्त्री का रक्षण कर सकता हूँ, उसे रोग है तो अच्छी दवा दे सकता हूँ, इससे जीवित रहे, ऐसी जो मान्यता, वह अत्यन्त अज्ञान और मिथ्यात्व की है। उसे जीवत्व तो उसका आयुष्य हो तो रहे और न हो तो मर जाये। आहाहा! वह भी उसके आयुष्य के क्षय से मरता है। दूसरा कहे कि मैं उसे मार सकता हूँ, यह अत्यन्त मिथ्यात्व भाव है। यह तो संसार के साथ सब विवाद उठे ऐसा है! आहाहा! लड़के छोटे हैं, इसलिए उन्हें पालपोसकर बड़े करूँ, फिर हम निवृत्ति लेंगे—यह अत्यन्त मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! कौन पाले? और कौन पोसे? ऐसा काम है।

मुमुक्षु : इसमें लोकव्यवस्था का लोप हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोकव्यवस्था ही इस प्रकार से सबके कर्म के कारण चलती है। उसके बदले यह कहे कि मेरे कारण यह सब व्यवस्था चलती है। काम ऐसा कठिन है, बापू! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव इन्द्रों और गणधरों के बीच ऐसा कहते थे। आहाहा! वह बात यह है। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है—अज्ञानी मनुष्यों में ऐसी कहावत है... देखो! है? **अज्ञानी मनुष्यों में ऐसी कहावत है कि 'इस जीव ने इस जीव को मारा,...** यह अत्यन्त झूठ बात है। **इस जीव ने इस जीव को जिलाया,...** यह तो निमित्त के कथन हैं। इस प्रकार जीव ने मारा और जिलाया, ऐसा है नहीं। **इस जीव ने इस जीव को जिलाया,...** आहाहा! लड़के छोटे (थे, उन्हें) बड़े किये, पाल-पोसकर बड़े किये... आहाहा! ऐसी जगत की कहावत है। वह सब झूठ है, कहते हैं। कहो, कान्तिभाई! आहाहा!

इस जीव ने इस जीव को सुखी किया,... अर्थात् कि अनुकूल संयोग दिये, ऐसा। सुखी किये का अर्थ (यह है)। उसे सुविधा दी... आहाहा! पुत्री को दी है, दामाद जरा साधारण है, (ऐसा) ख्याल था परन्तु उसे इतने पैसे देंगे कि उसकी सुविधा बनी रहेगी। यह सब मान्यता अज्ञान है। अरे! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : कर्मभूमि की व्यवस्था नहीं रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मभूमि की व्यवस्था सबके कारण से होती है। भगवान ने कहा है, ऐसा भी वहाँ नहीं। आया था न? ऋषभदेव भगवान ने सबको सिखाया, ऐसे दलना, ऐसे बोना, ऐसे पीसना—ऐसा सब सिखाया। वह तो निमित्त के कथन हैं। विकल्प आया था, इसलिए सिखाया, ऐसा कहने में आया। बाकी दूसरे को सिखा सके और उसे ऐसे बनाओ, बर्तन ऐसे बनाओ, अमुक ऐसे बनाओ... भगवान ने तब कहा था। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान ने कहा वह उचित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उचित कहाँ है? उन्होंने कहा ही नहीं। उन्हें जरा विकल्प आया था, उसमें वाणी वाणी के कारण से निकली और उसके कारण से पर के कार्य हुए, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह लोग दृष्टान्त देते हैं कि देखो! भगवान ने ऐसा कहा न! कर्मभूमि में.... आहाहा!

यहाँ तो एक आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है। दूसरी चीज़ें भी स्वतन्त्र हैं। परमाणु आदि, आत्मायें आदि उन कोई भी परद्रव्य को जीव रखे, पालन करे, पोषण करे, घात करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग है। अनन्त पदार्थ अनन्त पदार्थ अपनी-अपनी पर्याय से परिणमकर टिक रहे हैं। उसके बदले दूसरा कहता है कि मैं उसे संयोग दूँ तो टिका रहे, संयोग का नाश कर दूँ तो मर जाये, यह सब बातें अज्ञानी की भ्रमणा है। कठिन काम, भाई! ऐ... शन्तिभाई! आहाहा!

इस जीव ने इस जीव को जिलाया, इस जीव ने इस जीव को सुखी किया,.... सुखी (किया) अर्थात् संयोग दिया, हों! ऐसा लेना। उसे ऐसे दुकान करा दी, अमुक कर दिया, अमुक कर दिया, पाँच हजार रुपये दिये और रास्ते चढ़ा दिया। यह जगत के जीव की कहावत है, परन्तु यह बात ऐसी है नहीं। आहाहा!

इस जीव ने इस जीव को दुःखी किया;... अर्थात् प्रतिकूल संयोग दिया, ऐसा। उसे दुःख का भाव हो, ऐसी उसकी बात नहीं है। दुःख का भाव तो वह स्वयं करता है। यहाँ तो मैंने उसे प्रतिकूल संयोग दिया, (उसकी बात है)। आहाहा! उसे बिच्छू कटवाया, सर्प कटवाया, हथियार से मारा... आहाहा! दुःखी किया। **ऐसी कहावत है....**

सो ऐसी ही प्रतीति जिस जीव को होवे... देखा? भले कहावत ऐसी है परन्तु

तत्प्रमाण कोई प्रतीति करे... आहाहा! काम बहुत कठिन, भाई! **ऐसी ही प्रतीति जिस जीव को होवे वह जीव मिथ्यादृष्टि है, ऐसा निःसन्देह...** है। **ऐसा निःसन्देह जानियेगा,....** आहाहा! कहावत है, तत्प्रमाण प्रतीति करे तो (वह जीव) निःसन्देह मिथ्यादृष्टि है। क्या कहा? अर्थ बहुत सरस किया है।

जगत में ऐसी कहावत है। **'इस जीव ने इस जीव को मारा, इस जीव ने इस जीव को जिलाया, इस जीव ने इस जीव को सुखी किया, इस जीव ने इस जीव को दुःखी किया';.... सो ऐसी ही प्रतीति जिस जीव को...** है। ऐसी ही प्रतीति जो जीव करे, वह मिथ्यादृष्टि है। झूठी असत्य दृष्टि का सेवन करनेवाला है। आहाहा! ऐसी बातें! भारी कठिन काम, हों! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को क्या करे? संयोग दे, वह संयोग की चीज़ें तो उसके कारण से वहाँ गयी हैं और निश्चय से कहें तो इसका—पूर्व के पुण्य का निमित्त है, उसका निमित्त है। आहाहा! और मैंने प्रतिकूल संयोग दिये, ऐसा माने तो वह संयोग को कहीं दे सकता है? संयोग प्रतिकूल मिले, वे तो उसके असाता के उदय के कारण से संयोग मिले। उसके कर्म के कारण से उसे प्रतिकूल संयोग मिले। उसके बदले (ऐसा माने कि) मैंने इसे प्रतिकूल संयोग दिया इसलिए यह दुःखी हो गया। (यह अत्यन्त मिथ्यात्व भाव है)। आहाहा!

एक व्यक्ति कहता (था)। हमारे तो यहाँ बहुत लोग ऐसे आवे न! राजा की बहुत बड़ी मेहरबानी थी। पैसे बहुत थे, बड़ा काम था। पश्चात् सब समाप्त हो गया, मैं अब गरीब हो गया हूँ, महाराज! ऐसा बोले। आहाहा! पहले ठीक था परन्तु फिर सब गया। मकान भी सब गये, बिक गये, गरीब हो गया। संयोग अच्छे नहीं रहे, इसलिए गरीब हो गया, इसका अर्थ क्या? वह तो पाप का उदय हो तो प्रतिकूल संयोग रहे और अनुकूल न रहे, इससे क्या? आहाहा!

इष्टपना तो अपने स्वभाव और गुण का है और अनिष्टपना तो विकार के भाव के प्रति का है। इसके अतिरिक्त पर में इष्ट-अनिष्ट दे सकूँ, ले सकूँ, यह सब बातें भ्रमणा हैं। समझ में आया? आहाहा! अपने में जो पुण्य और पाप का भाव हो, वह अनिष्ट है। और भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु है, वह आत्मा को इष्ट है। बाकी बाहर की कोई चीज़ इष्ट और अनिष्ट है, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा!

आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र भी मुझे धर्म दे सकेंगे, यह बात ही झूठी है। धर्म तो स्वयं अपने आत्मा का स्वभाव जो त्रिकाल है, उसका आश्रय करे, तब उसे सम्यग्दर्शनरूपी धर्म की शुरुआत होती है। अब, वह पराश्रय से धर्म माने, यह वस्तु ऐसी नहीं है। आहाहा!

ऐसा निःसन्देह जानियेगा, धोखा कुछ नहीं। अस्ति-नास्ति की। जरा भी संशय करने जैसा नहीं है कि मैं पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, यह बात सच्ची है। (मार, जिला सकता हूँ, यह बात) बिल्कुल सच्ची नहीं है। निःसन्देह ऐसा जानो, (उसमें) संशय करनेयोग्य नहीं। आहाहा! कठिन काम, भाई! यह सेठिया तो बहुतों को निभाते हैं, देखो! पानी की कैसी प्याऊ बनावे, गरीबों को सर्दी में कपड़े दे,... आहाहा! कौन दे, कौन ले? बहुत कठिन काम, बापू! धर्म के सत्य स्वरूप समझना वह अनन्त काल से इसने घोटाले किये हैं। आहाहा! धर्म के नाम से गड़बड़ की है। परद्रव्य का किया नहीं जा सकता (ऐसा सुनकर कहता है कि), बिल्कुल नहीं, किया जा सकता है। लो! ऐसा बोलता है। अीाी भी बोलते हैं न? आहाहा!

मुमुक्षु : दिगम्बर भी ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर के माननेवाले ऐसा कहते हैं। वे दिगम्बर हैं कब? आहाहा! दिगम्बर तो उसे कहते हैं जो पर को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, (ऐसा) तीन काल में नहीं और मुझे दूसरे मदद करे, इसलिए मैं जी सकता हूँ और मर जाऊँ, प्रतिकूलता दे—ऐसा बिल्कुल मानते ही नहीं। और राग से धर्म न माने, वह दिगम्बर है। दिगम्बर कोई पक्ष नहीं। वह तो स्वरूप है। आहाहा!

कलश में कहा है कि मिथ्यात्व का त्याग होकर स्वरूप की दृष्टि करे, वह दिगम्बर है। समझ में आया? कहीं आता है। मिथ्यात्व—भ्रमणा—राग से धर्म होगा, अनुकूल संयोग मिलें तो जीवत्व, शरीर ठीक रहेगा और शरीर ठीक रहेगा तो धर्म होगा, ऐसी जिसे भ्रमणा है, वह दिगम्बर नहीं है। उसने मिथ्यात्व के वस्त्र पहने हैं। जिसने वे मिथ्यात्व के वस्त्र छोड़ दिये और नग्नपना—जैसा चैतन्य अकेला स्वतन्त्र शुद्ध है, ऐसी जिसकी दृष्टि है और पर के कारण मुझमें कुछ होता और मेरे कारण पर में कुछ होता

नहीं, उस जीव को दिगम्बर धर्म कहा जाता है। कहो, चन्दुभाई! आहाहा! दिगम्बर कोई वाड़ा नहीं। मुनि को दिगम्बर (कहते हैं) दिग अर्थात् आकाश (जिसका) वस्त्र है। वस्त्र नहीं होते, ऐसी अपेक्षा से बतलाया है। और यहाँ वास्तविक दिगम्बर धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे मिथ्यात्व नहीं होता। आहाहा! और मुनि उसे कहते हैं कि जिनके ऊपर इच्छा से रखा हुआ वस्त्र नहीं होता। कोई डाल जाये (वह अलग बात है, वह उपसर्ग है), आहाहा! समझ में आया? यह दिगम्बर कोई पक्ष नहीं, यह तो वस्तु का स्वरूप है। कहा न? 'घट घट अन्तर जिन बसे' यह जिनस्वरूपी—वीतरागस्वरूपी यह आत्मा है। राग की एकता तोड़े और स्वरूप की एकता करे, वह इसका जिनस्वरूप ही है। जिनस्वरूप कहो या आत्मा का दिगम्बरस्वरूप कहो (दोनों एकार्थ हैं)। आहाहा! यह कहीं आया है, 'भावपाहुड़' में या कहीं अन्यत्र आया है। मिथ्यात्व टाले उसे दिगम्बर कहते हैं। कहीं आया था, पढ़ने में कहीं आया था। बहुत वाँचन हो उसमें कहीं आ जाये। आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं, **ऐसा निःसन्देह जानियेगा, धोखा कुछ नहीं। क्यों जानना कि मिथ्यादृष्टि है? कारण कि 'मरणजीवितदुःखसौख्यं सर्व सदा एव नियतं स्वकीयकर्मोदयात् भवति'** आहाहा! यह भगवान की वाणी है। है न? प्राणघात—मरण की व्याख्या की। **प्राणघात प्राणरक्षा इष्ट-अनिष्ट-संयोग यह जो सब जीवराशि को होता है,...** यह जो सर्व जीवराशि ली है—ऐकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय सबको... आहाहा! जो कुछ उसे अनुकूल-प्रतिकूल संयोग होते हैं, और प्राण की रक्षा तथा प्राण का घात होता है **वह सब सर्वकाल....** आहाहा! सर्व जीवराशि और सर्व काल—दो बड़े शब्द हैं। सर्व जीवराशि (अर्थात्) पुत्र का आत्मा, स्त्री का आत्मा, अपना आत्मा... यह सब आत्मा (आ गये)। सब जीवराशि को। आहाहा! है?

जो सब जीवराशि को होता है, वह सब सर्वकाल निश्चय से... (अर्थात्) वास्तव में। आहाहा! **'स्वकीयकर्मोदयात् भवति'** लो! **जिस जीव ने अपने विशुद्ध अथवा संक्लेशरूप परिणाम के द्वारा पहले ही बाँधा है जो...** कर्म। पूर्व में कोई विशुद्ध परिणाम से पुण्य बाँधा, संक्लेश परिणाम से पाप बाँधा। उसके फलरूप उसका जीवन, मरण और सुख-दुःख होता है। उसके कर्म के कारण से होता है, दूसरे कारण से होता

नहीं। आहाहा! यहाँ तो जहाँ हो वहाँ मैं करूँ... मैं करूँ.... मैंने किया और यह किया... यह सब सर्व जीव को। समस्त जीवराशि को। यह संसारी की बात हे न? यहाँ सिद्ध की बात तो कुछ है नहीं।

सर्व जीवराशि को... आहाहा! पाण्डव मुनि यहाँ पालीताना (में) ध्यान में थे—शत्रुंजय (में) और दुर्योधन के भानेज ने आकर लोहे के तमतमाते (गहने) दिये। वे उसने दिये नहीं, वह तो पूर्व के पाप के असाता का उदय था, इसलिए (ऐसा) संयोग आया। उसने भाव किये, वे उसके पास रहे। परन्तु उसके भाव के कारण उसने यह लोहे के गहने पहनाये... आहाहा! ऐसा नहीं है। वह तो पूर्व के असाता का उदय बाँधा हुआ, उसका संयोग आया, बस! इतना। आहाहा! और उसमें भी समता रखना या विषमता रखना, यह तो स्वयं का स्वतन्त्रपना है। राग करना या वीतरागता रखना, वह स्वयं का काम है। उसमें किसी का कुछ काम है नहीं। आहाहा! ऐसे राजकुमार खड़े थे। भीम बड़ा महा बलवन्त! लोहे के (गहने) पहनकर ऐसे का ऐसा खड़ा रहा! खबर है कि यह पहनाता है।

मुमुक्षु : ऐसे काल को सत्युग कैसे कहा जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सत्युग तो सत्युग ही है। किसी व्यक्ति को (कुछ) हो तो क्या? और केवल(ज्ञान) हुआ, वह सत्युग है। आहाहा! अन्दर वीतरागभाव में भगवान आत्मा जम गया। आहाहा! जहाँ वस्तु पड़ी है, वहाँ जम गया। वह सत्युग है। केवल(ज्ञान) हुआ। लो, उसे क्या अवरोधक हुआ? आहाहा! दो पाण्डवों ने—छोटे भाईयों ने विकल्प किया तो वह तो विकल्प किया, वह स्वयं ने किया, इसलिए उन्हें भव हुआ। आहाहा! उसने प्रतिकूलता दी, इसलिए विकल्प आया, ऐसा भी नहीं है। 'इन भाई को कैसे होगा?' ऐसा निर्बलता से विकल्प (आया)। आहाहा! भव बढ़ गया। स्वर्ग में-सर्वार्थसिद्धि में गये, ये तीन मोक्ष में गये। आहाहा! अपनी पर्याय करने को स्वतन्त्र है। उस समय कैसे वीतरागता रखना या राग करना, वह स्वतन्त्र है। उसे कोई संयोग से विकार हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! और अनुकूल सामग्री—तीर्थंकर के समवसरण में बैठा है, इसलिए उसे अनुकूल सामग्री (है और) धर्म होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उस सामग्री में से लक्ष्य छोड़कर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु जहाँ

अन्दर विराजता है, वहाँ नजर डालकर स्थिर हो, उसे धर्म होता है। समवसरण में बैठा है, इसलिए उसे धर्म होता है—(ऐसा नहीं है)। आहाहा! यह तो पूर्व के पुण्य के संयोग से संयोग मिला। आहाहा! ऐसी बात है। बात करने जाने पर दूसरे के साथ झगड़ा उठे, ऐसा है। वस्तुस्थिति ऐसी है, बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, '**स्वकीयकर्मोदयात् भवति**' ऐसा कहा न? **जिस जीव ने अपने विशुद्ध अथवा संक्लेशरूप परिणाम के द्वारा पहले ही बाँधा है जो आयुकर्म....** आयुकर्म बाँधा था, तत्प्रमाण शरीर रहता है। आयुकर्म थोड़ा था, तत्प्रमाण देह छूट जाती है। **अथवा सातकर्म...** (अर्थात्) अनुकूल सामग्री मिलती है, वह पूर्व में सातकर्म बँधा, उसके कारण से है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! लो, यहाँ तो सामग्री का यह आया! सब कहते हैं न? पैसा-बैसा मिलता है, वह तो लोक की व्यवस्था के कारण से (मिलता है)। ऐसा (नहीं है)। सातकर्म के कारण (मिलता है)। लोकव्यवस्था बराबर हो तो सबको पैसा समान मिले। नहीं मिलते, उसका यह कारण है—यह बात नहीं है। आहाहा! धवल में ऐसा लिया है, साता वेदनीय कर्म के अतिरिक्त अनुकूल-प्रतिकूलता का कोई कारण दिखाई नहीं देता। यह वेदनीय कर्म ही कारण है।

यहाँ भी यह कहते हैं। आहाहा! है? सातकर्म का उदय हो, सामग्री हो, वह कोई दे सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! असातकर्म का उदय हो तो प्रतिकूलता होती है। आहाहा!

उस कर्म के उदय से उस जीव को मरण अथवा जीवन अथवा दुःख अथवा सुख होता है, ऐसा निश्चय है; इस बात में धोखा कुछ नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जीव किसी जीव को मारने के लिये समर्थ नहीं है,... किसी जीव को कोई जीव मारने में समर्थ नहीं। कोई जीव किसी जीव को **जिलाने में समर्थ नहीं....** कोई जीव किसी जीव को अनुकूल सामग्री देने में समर्थ नहीं, कोई जीव किसी जीव को प्रतिकूल सामग्री देने में समर्थ नहीं। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। इससे विपरीत माने, वह मिथ्यादृष्टि और अज्ञान है। (यह) बन्ध का अधिकार है तो बन्ध का कारण बतलाया है, लो! विशेष लेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६९

(वसन्ततिलका)

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ।।७-१६९।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'ये परात् परस्य मरणजीवितदु:खसौख्यं पश्यन्ति' [ये] जो कोई अज्ञानी जीवराशि, [परात्] अन्य जीव से, [परस्य] अन्य जीव का [मरणजीवित-दु:खसौख्यं] मरना, जीना, दु:ख, सुख [पश्यन्ति] मानती है; क्या करके? 'एतत् अज्ञानं अधिगम्य' [एतत् अज्ञानं] मिथ्यात्वरूप अशुद्धपरिणाम को—ऐसे अशुद्धपने को [अधिगम्य] पाकर; 'ते नियतं मिथ्यादृश: भवन्ति' [ते] जो जीवराशि ऐसा मानती है, वह [नियतं] निश्चय से [मिथ्यादृश: भवन्ति] सर्व प्रकार मिथ्यादृष्टिराशि है। कैसे हैं वे मिथ्यादृष्टि? 'अहंकृतिरसेन कर्माणि चिकीर्षव:' [अहंकृति] 'मैं देव, मैं मनुष्य, मैं तिर्यञ्च, मैं नारक, मैं दु:खी, मैं सुखी'—ऐसी कर्मजनितपर्याय में है आत्मबुद्धिरूप जो [रसेन] मग्नपना, उसके द्वारा [कर्माणि] कर्म के उदय से जितनी क्रिया होती है, उसे [चिकीर्षव:] 'मैं करता हूँ, मैंने किया है, ऐसा करूँगा'—ऐसे अज्ञान को लिए हुए मानते हैं। और कैसे हैं? 'आत्महन:' अपने को घातनशील हैं।।७-१६९।।

मागसर शुक्ल ८, शनिवार, दिनांक-१८-१२-१९७७, कलश-१६९, प्रवचन-१७८

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ।।७-१६९।।

क्या कहते हैं? **'ये परात् परस्य मरणजीवितदु:खसौख्यं पश्यन्ति' जो कोई जीव अज्ञानी जीवराशि...** जीवराशि अर्थात् बहुत जीव। अज्ञानी बहुत जीव। **अन्य जीव से....**

मुमुक्षु : अज्ञानी बहुत जीव?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी जीव, ऐसा। सभी अज्ञानी जीव, ऐसा। बहुत अर्थात् अज्ञानी जीव की राशि। अज्ञानी जीव की राशि—अनन्त। उनमें यहाँ तो विशेष पंचेन्द्रियरूप से मनवाले की (बात है)।

अन्य जीव से अन्य जीव का... प्राणघात कर सकूँ। एक जीव दूसरे जीव के प्राण को घात कर सके, ऐसी मान्यता अज्ञानी की—मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! यह प्राण है न? पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया, श्वास, आयुष्य—इनका मैं घात कर सकता हूँ, मार सकता हूँ, यह मान्यता अज्ञानी की है। आहाहा! क्योंकि वह पर का घात कर नहीं सकता। पर का घात होना, वह तो उसके प्राण के घात का नाश हो तब होता है। दूसरा कहे कि मैं उसे मरण कर दूँ, मार दूँ—यह अध्यवसाय—अभिप्राय अज्ञान मिथ्यात्व है। आहाहा!

इसी प्रकार **जीना....** दूसरे के प्राण की रक्षा कर सकता हूँ। पहले में घातक था। दूसरे लड़के, बालक, बच्चे, ढोर-पशु के प्राण की मैं रक्षा कर सकता हूँ। प्राणरक्षा नहीं कर सकता? डॉक्टर हो तो डॉक्टर (प्राण रक्षा) करते हैं न? आहाहा!

मुमुक्षु : पुद्गल पदार्थ की कौन रक्षा करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! पर की प्राणरक्षा! यह महिलायें उनके पुत्रों की रक्षा नहीं करती? ध्यान रखती है, सँभालते हैं, कहीं रास्ते में मोटर आवे या ऐसा आवे तो पकड़ ले, ऐसे खींच ले। साथ में बालक हो, स्वयं तो ऐसे हट जाये परन्तु लड़का न हटे तो उसे (खींच ले), वह प्राण की रक्षा कर सकती है या नहीं?

मुमुक्षु : जिसके माँ-बाप मर जाये उनके लड़के बड़े हों ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे के प्राण की रक्षा (कर सकता हूँ), दया पाल सकता हूँ... आहाहा! ऐसी कठिन बात है। यह मान्यता झूठी है। दूसरे प्राण की रक्षा आत्मा कर सके, ऐसी ताकत (आत्मा में नहीं है)। वह परद्रव्य का कुछ कर सके, ऐसी आत्मा में सामर्थ्य है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सत्संग के लिये किसी की मदद ली जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मदद किसकी ले ? आहाहा !

मरना, जीना, दुःख... मैं दूसरे को प्रतिकूल संयोग दे सकता हूँ, दूसरे को दुःखी करने के लिये मैं प्रतिकूल संयोग दे सकता हूँ। अग्नि, सर्प, बिच्छू, जहर ऐसे संयोगों को दे सकता हूँ। यह मान्यता भी मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा ! यह प्रतिकूल संयोग दूसरे को देना, वह आत्मा की सामर्थ्य नहीं है। दूसरा कहता है कि मैं इसे प्रतिकूल संयोग में रखूँ इससे यह हैरान हो और दुःखी हो, यह मान्यता एकदम अज्ञान है। आहाहा !

इसी प्रकार सुखी करूँ। दूसरे को सुविधा के साधन दूँ। यह धर्मशाला बनाना, सब सुविधा के साधन (देना), स्टेशन से उतरते हों... अभी कोई कुछ कहता था न ? मुम्बई... मुम्बई। मुम्बई नहीं, (दूसरे) कहीं... भाई ने लाख रुपये दिये न ? पोपटभाई ने।

मुमुक्षु : पानी की प्याऊ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह स्टेशन कौन सा ? बोरीवली। लोग उतरे उन्हें (पीने के लिये) वहाँ पानी नहीं था। अपने यहाँ पोपटभाई थे, उन्होंने लाख रुपये दिये। गुजर गये न ? तो उसे सुविधा दे सकता है ?

उसमें उसने राग मन्द किया हो तो पुण्य—शुभ हो, परन्तु (मैं) यह पर की रक्षा के लिये ये पैसे देता हूँ और उन्हें पानी मिले। इस बात में कुछ दम नहीं है।

मुमुक्षु : स्वयं को पुण्य हो, इसलिए तो दिये जाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। देने की क्रिया नहीं हो सकती। आहाहा ! दूसरे को सुविधा के साधन दूँ तो वह मनुष्य सुख से जी सके, यह मान्यता एकदम अज्ञानी, पाखण्डी की है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : जैन में दया धर्म कहाँ गया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दया, तो किसकी दया ? अपनी—आत्मा की दया ! 'अहिंसा परमो धर्म' आत्मा में राग की उत्पत्ति नहीं होने देना और स्व के आश्रय से वीतराग (स्वभाव की) वीतरागी पर्याय उत्पन्न हो, वह स्व की दया और वह अहिंसा धर्म है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं। पर को मारने का भाव आवे परन्तु उस भाव से पर मर जाये,

बचाने का भाव आवे परन्तु इससे बच सके, बचाने की क्रिया कर सके, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा!

लड़कों को भले प्रकार से पढ़ा दें, इसलिए फिर निश्चिन्तता से कमा खाये। पढ़े न हों तो बेचारे क्या करे? इसलिए उन्हें पढ़ाकर तैयार करना। ऐई! डॉक्टर! फिर निश्चिन्तता से कमा खाये! यह सब जगत की भ्रमणायें हैं। दूसरे को अनुकूल सुविधा दूँ... आहाहा! सोने के, पीने के, खाने के साधन दूँ और इससे उसे सुविधा मिले तो सुखी हो, यह मान्यता (मिथ्यादृष्टि की है)।

मुमुक्षु : धर्मशालायें बनाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनाये? ऐसा है यह। गौशाला बनाये, लो न! बकरी के बच्चे, भैंस के पाडा, बच्चा आदि कोई मार डाले, इसकी अपेक्षा हम रखें तो गौशाला में वे बचें। यह बचाने की क्रिया कर सकता हूँ, यह मान्यता झूठी है। जगत से उल्टा है, भाई!

मुमुक्षु : गौशाला बनाना या नहीं बनाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनावे? वे तो उसके कारण से होना हो तो होती है। बनानेवाले का ऐसा भाव हो कि, लाख रुपये इसमें दूँ परन्तु वे लाख रुपये हैं, वे दे सकता हूँ, यह मान्यता झूठी है। आहाहा! और उससे उसे सुविधा मिलेगी, मैंने इस अनुसार कार्य किया, इसलिए सुविधा मिलेगी—यह बात मिथ्यात्व है। ऐसा माननेवाले स्वरूप के घातक हैं। यह यहाँ कहेंगे। '**आत्महनो भवन्ति**' आहाहा! भारी कठिन काम! मैं दूसरों को सुविधा दूँ तो वे सुखी हों, ऐसी मान्यतावाला जीव अपने स्वरूप का घात करता है। आहाहा! यह तो कठिन काम है, भाई!

भिन्न तत्त्व भिन्न तत्त्व को क्या करे? और जो भिन्न तत्त्व है, वह उसके काल में पर्याय के कार्य बिना का वह है? वह भिन्न तत्त्व है, उसका आत्मा को अनुसरकर या जड़ शरीर, वह उस काल में उसकी पर्याय के कार्य बिना का वह तत्त्व है कि दूसरा उसका कार्य करे? आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह तो निश्चय से नहीं परन्तु व्यवहार से तो कर सकता है या नहीं? कर नहीं सकता, परन्तु बोलन में आता है। इस बोलने की भाषा को भी कर नहीं सकता। ऐसी बातें हैं।

यह सुख, दुःख या मरण... है न? आहाहा! **मरना, जीना, दुख, सुख 'पश्यन्ति' मानती है;...** श्रद्धा करता है, देखता है कि मैं इसे जिला सकता हूँ, इसे मार सकता हूँ, इसे सुविधा दे सकता हूँ, इसे असुविधा (दे सकता हूँ), इन लड़कों के लिये स्कूल बँधावे, उन्हें पुस्तकों के साधन गरीब को दे। सेठिया पुस्तक दे, गरीबों को वस्त्र दे, रहने के मकान न हो, उन्हें झोंपड़े बनाकर दे, एकदम बेचारे गरीब हों (उनके लिये) जंगल में झोंपड़े बनावे, पचास-पचास, सौ-सौ रुपये के बारीक लकड़ियाँ डालकर (बनावे)। कहते हैं कि वह पर की क्रिया आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता। आहाहा! जगत से बहुत उल्टा है।

दुख, सुख मानती है; क्या करके? 'एतत् अज्ञानं अधिगम्य' मिथ्यात्व को पाकर वह ऐसा मानता है, कहते हैं। आहाहा! **'अज्ञानं अधिगम्य'** है न? **मिथ्यात्वरूप अशुद्ध परिणाम को—ऐसे अशुद्धपने को... 'अधिगम्य'** महामिथ्यात्व के मलिन परिणाम को पाकर ऐसा मानता है। आहाहा! कान्तिभाई! जगत से यह बहुत उल्टा है।

लो, पर को जिला नहीं सकता, पर को मार नहीं सकता। यह तो व्यवहार जैन की उसे श्रद्धा ही नहीं। ऐसा कितने ही कहते हैं।

मुमुक्षु : निश्चय से नहीं किया जा सकता, व्यवहार से किया जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से तीन काल में नहीं किया जा सकता। सिद्धान्त एक होता है या दो सिद्धान्त होते हैं? आहाहा! एक व्यक्ति कहता है, एक वकील है। यह सोनगढ़ का धर्म तो लौकिक धर्म से भी विरुद्ध है! आहाहा! ऐसा कि किसी की दया पाल सकता नहीं, जिला सकता नहीं, किसी की मदद नहीं की जा सकती, भूखे को अनाज नहीं दे सकते, प्यासे को पानी नहीं दे सकते, गरीबों को वस्त्र नहीं दे सकते। आहाहा! सेठ! ऐसा है।

मुमुक्षु : पर को कौन दे सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा यह मानता है। भाव आवे, परन्तु ऐसा मानता है कि मैंने यह दिया इसलिए उसे सुविधा मिली, (यह अत्यन्त मिथ्यात्व है)। दे कौन? उसके पुण्य के योग से उसे वह चीज़ मिलती है। उसके बदले यह कहे कि मैंने उसे सुविधा दी। आहाहा! सब कठिन काम है।

'**अज्ञानं अधिगम्य**' यह कैसे मानता है? कि अज्ञान अर्थात् मिथ्याश्रद्धा को पाकर। उल्टी श्रद्धा के परिणाम को पाकर ऐसा मानता है—ऐसा कहते हैं। वापस इसका अर्थ ऐसा (निकाले कि) उसे दर्शनमोह का उदय है, इसलिए उसे ऐसे परिणाम होते हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

अभी उसने लिखा है न कि हमारे समकित को और सुख को आवरण है, कर्म का आवरण है। हमें क्यों समकित और सुख नहीं? कर्म के आवरण के कारण (ऐसी स्थिति) है। ऐसा पत्रिका में आया है। यहाँ इनकार करते हैं। मिथ्यात्व अशुद्ध परिणाम तू करता है, इसलिए वहाँ समकित नहीं होता। समझ में आया? और अन्तर आनन्द के सुख को क्यों पाता नहीं? कि दुःख के अशुद्ध परिणाम को तू करता है, इसलिए तुझे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्मशास्त्र कहाँ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म में कर्म है न! यही तो कहते हैं। उसके कर्म के कारण से उसे सुविधा मिलती है और तू कहता है कि मैं सुविधा दे सकता हूँ, यह बात झूठी है। आहाहा! कर्मशास्त्र क्या? वह तो कर्म को सिद्ध करता है। यह बात तो पहले आ गयी। उसके कर्म जो हैं, उसके कारण से उसे साता का उदय हो तो उसे सुविधा आती है। असाता का उदय हो तो असुविधा आती है। आयुष्य पूर्ण होनेवाला हो तो वहाँ मरण होता है। आयुष्य टिकने का हो तो वह जी सकता है। यह तो कर्म के कारण है। अर्थात् निमित्त से—पर से (यह कार्य होते नहीं), इतना सिद्ध करने के लिये कर्म से (होते) है, ऐस सिद्ध करने के लिये कहते हैं। परन्तु यहाँ तो यह भी इनकार करते हैं। कर्म के कारण यहाँ मिथ्यात्व भाव है (ऐसा नहीं है)। आहाहा! क्या करे? कर्म के कारण हमारी मति फिर जाती है। 'कर्म बेचारे कौन' यह कहाँ मानता है? जोरावरी कर्म है। अन्दर भू में से भाला उगते हैं, बापू! विचारा हुआ (काम) नहीं होता और कर्म आकर हैरान करते हैं।

मुमुक्षु : कम्मो बलियो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कम्मो बलियो (क्या) वह तो विकारबलियो है। आहाहा!

यहाँ (तो ऐसा कहते हैं कि) परद्रव्य को कुछ भी कर सके... आहाहा! एक रोटी का टुकड़ा उठाकर ऐसे दे सके, वह क्रिया आत्मा की नहीं है। आहाहा!

यह (विपरीत) कैसे मानता है? **मिथ्यात्वरूप अशुद्ध परिणाम को—ऐसे अशुद्धपने को पाकर;....** ऐसी भाषा है, देखा? **'एतत् अज्ञानं अधिगम्य'** आहाहा! कर्म के कारण से वह मिथ्यात्व परिणाम होता है, ऐसा नहीं है। वह स्वयं मिथ्या अशुद्ध परिणाम को पाकर ऐसा मानता है। आहाहा! यह (माने) तो फिर लोहे का धन्धा कर सकता नहीं, (ऐसा लगे)।

मुमुक्षु : भाव करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव करे, यह तो कहा न? उल्टे भाव करे। वह भी कहीं कर्म के कारण नहीं। इसलिए तो यह शब्द रखा है।

'एतत् अज्ञानं अधिगम्य' दूसरे को मैं सुविधा दे सकूँ, असुविधा दे सकूँ, दूसरे के प्राण की रक्षा कर सकूँ, दूसरे के प्राण का नाश कर सकूँ, यह मिथ्यात्वरूपी अज्ञान के अशुद्ध परिणाम को पाकर ऐसा मानता है। आहाहा! वह भी कर्म का जोर है, इसलिए ऐसा मानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तब क्या करना इसमें? लड़कों को पढ़ाना, उन्हें पुस्तकें देना, फीस देना। क्यों, धर्मचन्दभाई? कुछ कर नहीं सकता तो फिर यह किया न? अभी तक यह सब क्या किया तब? आहाहा! इस अज्ञानपने को पाकर ऐसा मानता है।

'ते नियतं मिथ्यादृशः भवन्ति' आहाहा! अज्ञान को पाकर यह करता है, इसलिए वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है। है? **'ते नियतं मिथ्यादृशः भवन्ति' जो जीवराशि....** वह सब अज्ञानी जीवों का ढ़ेर है न? गाँव के गाँव सब जीव हैं, वे ऐसा मानते हैं कि मैंने उसे ऐसा किया और मैंने उसे ऐसा कर दिया... मैंने ऐसा कर दिया, सुविधा दी और सेठिया हो वे सब सुविधा देकर, गरीबों को रास्ते चढ़ा दिया—धन्धे में (लगा दिया)। दो-पाँच हजार की पूँजी दी, इससे उनकी दुकान चली और उसमें से फिर आजीविका चलती है। ऐसे के ऐसे पर के कर्तृत्व के अभिमान में मिथ्यात्व को पाकर ऐसी दशा करता है।

'**नियतम्**' है ? **जीवराशि ऐसा मानती है, वह निश्चय से....** वास्तव में। '**मिथ्यादृशः भवन्ति**' आहाहा! **सर्व प्रकार मिथ्यादृष्टि राशि है।** आहाहा! कुछ को तो उसमें ठीक है, ऐसा कहते हैं न ? **सर्व प्रकार मिथ्यादृष्टि राशि है।** आहाहा! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है! आहाहा! सम्यग्दृष्टि पर को कुछ सुविधा-असुविधा दे सकूँ, (ऐसा) वह मानता ही नहीं। राज कर सकता हूँ, (ऐसा) वह मानता नहीं। होवे राज में! (तो भी मानता नहीं)। समझ में आया ? आहाहा! बड़े कारखाने करे तो हजारों लोग कमाकर खाये।

मुमुक्षु : यह तो माया है, स्वयं को कमाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! एक व्यक्ति को उसके साले ने पूछा था। बहनोई ने साले को (पूछा था)। इतने सब तुम्हारे (पास) पैसा है और अब यह (सब) किसलिए (करते हो) ? (तो उसने जवाब दिया कि) क्या अब हम यह कमाने के लिये करते हैं ? हजारों लोग निभते हैं, इसलिए यह कारखाने किये हैं। लोग कमाकर खाये, इसलिए करते हैं। कहो, यह लो, यह उसकी मूर्खाई देखो! समझ में आया ? उसे उसके बहनोई ने कहा, 'इतने अरबों रुपये है, अब तुम किसलिये यह सब धन्धा करते हो ?' (तो उसने कहा) 'हम धन्धा इसके लिये करते हैं ? हजारों लोगों को आजीविका मिलती है।' ऐई! 'इसके लिये हम करते हैं।' सच्ची बात होगी ? यह कहेंगे।

यह यहाँ कहते हैं, देखो! **कैसे हैं वे मिथ्यादृष्टि ? 'अहंकृतिरसेन कर्माणि चिकीर्षवः'** आहाहा! '**मैं देव,...** हूँ, इसलिए देव की शरीर की क्रिया कर सकता हूँ। दूसरे को मदद कर सकता हूँ। मैं देव हूँ न ? परन्तु देव नहीं, वह तो आत्मा है। इसकी उसे खबर नहीं। मैं देव हूँ! आहाहा!

मैं मनुष्य... हूँ। अर्थात् मैं राजा हूँ, मैं सेठिया हूँ, मेरा ऊँचे कुल का अवतार है। ऐसा मानते हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! भगवान आत्मा तो अन्दर भिन्न चीज़ है। यह देव, मनुष्यपना वह कहीं आत्मा का, आत्मा में नहीं है। आहाहा! मनुष्यपना मिला हो तो हम दूसरे की दया पाल सकते हैं। 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान', ऐसा नहीं आता ? स्थानकवासी में बहुत आता है। 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति में गये, दया के प्रमाण...' वह पर की दया की बात करते हैं, हों! आता है या नहीं ?

हमारे गढडा में तो जहाँ व्याख्यान चलता था, वहाँ सामने चोपानिया छपाकर रखते थे। अरे... भाई! क्या कहे उसे? 'दया वह सुख की वेलड़ी' यह तो आत्मा की दया, वह सुख की वेलड़ी है। पर की दया कौन पाल सकता है? पर का आयुष्य हो वहाँ तक जीवे। उसे तू आयुष्य देता है तो जिला सकता है? तेरा आयुष्य का भाग उसे देता है? उसमें कुछ आता है न... उस बादशाह में? हूमायु के पिता ने आयुष्य दिया (और) बचाया। इतिहास में आता है, गप्प ही गप्प है सब। आहाहा! माँ भी सही अवसर पर ऐसा कहे, लड़का मरता (हो तो कहे) मेरा आयुष्य उसे दो। (वह) दिया जाता होगा? आहाहा! उसमें आता है कि वैद्य आये। उसका कोई उपाय (होगा)? (तो कहा कि) तुम वृद्ध माता-पिता हो, इसे थोड़ा आयुष्य दो तो जीवे। वह कहता है, भाईसाहेब हम?

श्वेताम्बर में श्रेणिक राजा में कथा में आता है। कोई इसे थोड़ा आयुष्य दो। इसकी मरने की तैयारी हो गयी है। माँ ऐसा बोली, परन्तु हम वृद्ध, हमारे से सहन होगा नहीं। आयुष्य देंगे तो हम मर जायेंगे! बाप कहे कि हमारी अवस्था हुई, अब हम किस प्रकार (दें)? तब उस अनाथी को लगा कि है कोई शरण? यह माता-पिता, परिवार, स्त्री तुझे कुछ देते हैं? ऐसी बात आती है। फिर दीक्षा ले लेता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वे मिथ्यादृष्टि जीव (कैसे हैं)? मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ। अरे! आत्मा देव और मनुष्य कहाँ से आया? यह आत्मा तो दिव्यशक्ति आनन्द का नाथ है। अकेला दिव्यशक्ति ज्ञानस्वरूपी प्रभु! आहाहा!

मैं तिर्यंच,... हूँ। देखो न, यह अभी कुत्ते के पिल्ले हुए हैं। कहीं से आये होंगे, अभी दो-चार महीने हुए। कहीं से पशु में से आये होंगे, कोई मनुष्य मरकर आया होगा, परन्तु उसे अभी (ऐसा लगता है), बस! आहाहा! हम यह शरीर! यह पूंछड़ी लटकती है। अपने है न? पुजारी! रोटियाँ-बोटियाँ डाले, बुलावे (तो) झट आवे ऐसे एकदम। वहाँ मन्दिर के पीछे (होते हैं)। आहाहा! देखो! कहा, यह जीव कहाँ से आया होगा? आहाहा! महीने-दो महीने पहले कहाँ होगा? और कहाँ यहाँ आये? भूल गये, गति ही भूल गये। (यहाँ आकर) यह शरीर (ही मैं)। आहाहा! यह मानता है कि मैं तिर्यंच हूँ, नारकी हूँ, वह मिथ्यादृष्टि है। (आत्मा और) नारकी कैसा?

मैं दुःखी... हूँ। हम दुःखी हैं, भाई! हमारे प्रति बहुत पत्र आते हैं ऐसा कि यहाँ करोड़ोंपति है तो किसी को कुछ कहो। हम दुःखी हैं, घर के सात-आठ लोग हैं, और मैं बीमार हूँ, मुझसे कुछ होता नहीं। अब जहर पीने का अवसर आया है। ऐसे पत्र आते हैं, चन्दुभाई! एक का पत्र तो कितने वर्ष से आता है! चार-छह महीने, चार-छह महीने में पत्र आया ही करता है। अब तो अन्तिम स्थिति है, महाराज! दया करो, जहर पीने का अवसर आया है। आहाहा! यह दुःख की सामग्री है, वह तो उसके असाता के उदय के कारण है। उस सामग्री को टाले कौन? और दे कौन? आहाहा!

यहाँ तो अभी तक कभी पुस्तक बनाने का भी कहा नहीं, एक बहिन (—बहिनश्री के वचनामृत) के अतिरिक्त। बहिन की पुस्तक आयी तो उसमें पहले से पड़ा हूँ। बाकी अन्यत्र कहीं अपने यह पुस्तक बनाओ और तुम करो, रामजीभाई को कभी कुछ कहा नहीं कि यह स्वाध्यायमन्दिर बनाओ या मन्दिर बनाओ। हमने कहा नहीं। मन्दिर के लिये नारायणभाई आये थे। कहते हैं, 'मुझे मन्दिर बनाने का भाव है।' 'भले', कहा। आहाहा! पर की चीज़ कौन करे? होने के काल में हो, उसे करे कौन? आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ यह कहते हैं कि उसे वह कर्म का अहंकार है। है न? **मैं सुखी,...** हूँ। अभी पुत्र, स्त्रियाँ, पैसे, मकान (आदि) सब प्रकार से सुखी हूँ, मैं सुखी हूँ। ऐसा कितने ही मानते हैं न? मूढ़ है, कहते हैं। सुखी कब (था) वहाँ? पैसे-टके की कमाई में सब प्रकार से अभी (अच्छा) है। आहाहा! मूढ़ है, कहते हैं। मिथ्यादृष्टि कर्मजनित सामग्री में अपनापना मानता है। है न?

ऐसी कर्मजनित... कौन? मैं देव—यह कर्मजनित (अवस्था) है। मनुष्य कर्मजनित, तिर्यंच, नारक, सुखी-दुःखी कर्म के कारण से संयोग हैं। **ऐसी कर्मजनितपर्याय में है आत्मबुद्धि....** वह मेरी चीज़ है, मैंने की है। आहाहा! अभी दूसरे शब्द (कहेंगे)। है?

उसरूप जो मग्नपना... है न? **'रसेन'** यह रस चढ़ गया है, कहते हैं। आहाहा! मैं देव हूँ और मनुष्य हूँ, दुःखी हूँ और सुखी हूँ... ऐसे मिथ्यात्वभाव का उसे रस चढ़ गया है। आहाहा! दुनिया से तो अलग बात है। यह डॉक्टर-बॉक्टर दूसरे को जिला नहीं

सकते, ऐसा कहते हैं। परन्तु बोले तो ऐसा, 'आधे घण्टे देरी हो गयी। यदि तुम पहले आये होते तो मैं कुछ उपाय करता, अब तो उपाय चले ऐसा नहीं है।' ऐई! धर्मचन्दजी! ऐसा सब डॉक्टर बोलते हैं। 'जरा देरी हो गयी, भाई! आधे घण्टे पहले यदि मुझे बुलाया होता तो कुछ उपाय कर सकते थे, अभी तो कुछ (होगा नहीं)।' ऐसा बोलते हैं न? आहाहा! उसका उपाय आधे घण्टे पहले करनेयोग्य था। अब तो रोग घिर गया है।

कल एक बाई आयी थी न? दो-तीन महीने यहाँ रही। दमा का दर्द (था), कल शाम को वह बेचारी बाई आयी थी। तेरह वर्ष से दमा का दर्द है। आहाहा! गये होंगे? है? रुके हुए हैं? लो, बेचारे कितने थे? तेरह वर्ष से दर्द! डॉक्टर ने छुट्टी दी, अब यहाँ दमा मिटाने का कोई साधन नहीं है। आहाहा! कौन मिटावे? बापू! क्या हो? भाई! यह असाता के उदय के काल में यह स्थिति बने उसे कौन टाले? डॉक्टर ने छुट्टी दी कि अब क्षय के रोग में दमा मिटे, ऐसा साधन नहीं है। आहाहा!

वह एक बड़ा डॉक्टर नहीं था? कौन कहलाता है? राजकोट का बड़ा डॉक्टर-सर्जन। उसका पिता बारह वर्ष से असाध्य। पहले भावनगर में थे। खबर है न? फिर राजकोट गया, खबर है। असाध्य, साध्य नहीं, लो! डॉक्टर का पिता! पानी दे और इस प्रकार करके बारह-बारह वर्ष (निकाले)। कौन करे? बापू! उसकी स्थिति की जड़ की जो पर्याय (होती है) और चैतन्य की जो पर्याय होनेवाली है उसे कौन रोके और कौन टाले? आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! यहाँ तो (कहते हैं) ज्ञाता-दृष्टा हो! होता है, उसे देख और जान! होता है, उसे करूँ, यह रहने दे। समझ में आया? आहाहा! देखो! आया।

'**कर्माणि**' है न? **कर्म के उदय से जितनी क्रिया होती है, उसे 'मैं करता हूँ,....** आहाहा! उसका श्लोक है, समयसार नाटक में (बन्धद्वार, श्लोक-२४) '**मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौं कहौ जो ऐसी,**' मैं कर्ता—मैंने यह किया, मैं ऐसा करूँगा, मैं कराऊँगा। कहो, ऐई! 'मैं करता मैं... मैं करता', ऐसी भाषा आती है। '**मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौं कहौ जो ऐसी। अे विपरीत भाव है जामैं, सो वरतै मिथ्यात दसामैं।**' वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसमें है, हों! कितना है? बहुत श्लोक डाले हैं। इसके लिये तो बहुत श्लोक डाले हैं। यह आया, लो! देखो, आया! २४ है।

'मैं करता मैं कीन्ही कैसी,' मैंने किया! मैंने कैसा किया! देखा? ऐसा कर दिया, मैंने ऐसा कर दिया... **'मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौं कहौ जो ऐसी। अे विपरीत भाव है जामैं, सो वरतै मिथ्यात दसामैं।'** यह श्लोक है। इसके बहुत श्लोक हैं, बहुत श्लोक डाले हैं। एक ही (अर्थ के) बहुत श्लोक डाले हैं। समयसार नाटक। आहाहा!

आत्मा अपने स्वरूप में विपरीतता या अविपरीतता कर सकता है। विपरीतता वह स्वयं अपने से करता है। कोई कर्म के कारण से है, संयोग ऐसे मिले; इसलिए मुझे करना पड़ा—ऐसा नहीं और अविपरीत अर्थात् सम्यग्दर्शन। आहाहा! आज सवेरे यह आया था। उस कलश में आता है न? कलश क्या, क्या कहलाता है वह? सज्झायमाला। उसमें यह आता है। 'सहजानन्दी रे आत्मा, सूतो कांई निश्चिन्त रे...' हे सहजात्म आत्मा, आनन्दस्वरूप प्रभु! तू क्यों निश्चिन्त पड़ा है? आहाहा! 'सहजानन्दी रे आत्मा, सूतो कांई निश्चिन्त रे... मोह तणा रे रणिया भमे' आहाहा! पर में सावधानी के भावरूपी चोर सिर पर देनदार घुमते हैं। आहाहा! 'जाग जाग मतिवन्त रे...' हे मतिवन्त! जाग, जाग! आहाहा! 'लूटे जगतना जंत रे...' जगत के जन्त (जीव) तुझे लूटते हैं। स्त्री, पुत्र, परिवार सब तुझे लूटते हैं। किस प्रकार? 'नाखी वांक अनन्त रे...' तेरे ऊपर दोष डालते हैं कि तो किसलिए हमसे विवाह किया था? किसलिए हमको रखा था? अमुक किया था... 'लूटे जगतना जंत, नाखी वांक अनंत, अेमांथी विरला कोई उगरंत।' सज्झायमाला में आता है। चार सज्झायमाला है न? वह दुकान पर (देखी थी)। आहाहा!

उसमें यह (आता है), 'सहजानंदी रे आत्मा,' स्वाभाविक अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु! तू कैसे इस राग में और पर के अहंकार में सो रहा है? आहाहा! 'जाग जाग मतिवन्त...' अब तो जाग, बापू! आहाहा! अपने अज्ञानकाल में तेरा अनन्त काल गया। आहाहा! अब तो जाग कि मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ। मैं देव, मनुष्य, तिर्यंच वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! आहाहा!

यह कर्म के उदय के कारण प्राप्त सामग्री, उसकी जो क्रिया हो, उसे **'मैं करता हूँ, मैंने किया है,...** यह किसने किया? मैंने किया! ऐसे पापड़ किसने बनाये? सामने बाई हो, वह ऐसा कहे कि मैंने बनाये हैं। आहाहा! बहुत अच्छी बात है! यह उड़द की दाल एकरस किसने बनायी है? मैंने बनायी है! यह वड़ी किसने बनायी? मैंने बनायी।

यह कपड़ा किसने सिला है ऐसा? इस कपड़े में ऐसी भात किसने भरी है? काँच के टुकड़े रखकर भरते हैं न? आहाहा! कान्तिभाई! यह दीवालिया के दीवाले! और मैं करता हूँ। इस काम में पहले मैं ही करनेवाला हूँ, मेरी देखरेख के नीचे यह सब काम होते हैं। मेरी सम्हाल के नीचे जितने काम हुए हैं, वे सब अच्छे हुए हैं। जाकर देखो, अमुक जगह, अमुक जगह, अमुक जगह... बड़ा मिथ्यादृष्टि बारौठ ऐसी परत मांडता है। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

यह मैंने किया, मैं करता हूँ, मैंने किया है और अभी मैं **ऐसा करूँगा...** मैं अभी सब करने का हूँ। तेरा पीछा छोड़नेवाला नहीं हूँ, याद रखना तू! तुझे हैरान कर डालूँगा। भगवानजीभाई! यह सब जगत की पोल! लड़के को पढ़ाया-लिखाया, बड़ा किया, ठिकाने लगाया, अब निश्चिन्तता से कमा-खाता है। धूल भी किया नहीं सुन न! पर को कौन करे? बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! तुझे कर्म के मिथ्यात्व का रस चढ़ गया है, बापू! आहाहा! आनन्द के रस को तू भूल गया है।

अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर है न! आहाहा! उसे याद करना और स्मरण में लेना, यह तू भूल गया। आहाहा! और यह याद करने में (लग) गया कि, 'मैंने किया, अभी मैं करूँगा!' आहाहा! 'यह काम मैंने शुरु किया है, यह मुझसे ही पूरा पड़नेवाला है', कहते हैं या नहीं? 'मैंने शुरु किया है और काम पूरा पड़े, तब तक मेरी उपस्थिति रहेगी।' सेठ! यह जगत!

मुमुक्षु : मिथ्या अभिमान भी है और घमण्ड का पार नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पार नहीं। घमण्ड है। आहाहा!

भाई! यह बन्ध अधिकार है। ऐसे भाव से तो प्रभु! तुझे संसार का बड़ा बन्धन पड़ता है। आहाहा! तू जेल में जाता है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

आहाहा! **ऐसा करूँगा...** है न? उसमें से वह निकाला था, भाई! यह अभी कहा न? '**मैं करता मैं कीन्ही कैसी,**' यहाँ से निकाला था। इसमें से यह सब निकाला है। समयसार नाटक इसमें से लिया है न? '**मैं करता मैं कीन्ही कैसी, अब यौं करौं कहौ जो ऐसी। अे विपरीत भाव है जामैं, सो वरतै मिथ्यात दसामैं।**' आहाहा!

ऐसे अज्ञान को लिये हुए मानते हैं। अज्ञान के कारण मानता है। आहाहा! **और कैसे हैं?** अज्ञानी? '**आत्महनः**' आहाहा! वह **अपने...** स्वरूप के **घातनशील है।** आहाहा! पर को जिला सकता हूँ, मार सकता नहीं, पर को सुखी-दुःखी (कर सकता नहीं), सुविधा दे सकता नहीं, दूसरे को सुलटे रास्ते चढ़ा सकता नहीं, परन्तु है कौन? होता है क्या? ऐसा माननेवाले भगवान आत्मस्वरूप के हिंसक हैं। आत्मस्वरूप के घातक हैं। आहाहा! कठिन काम है। अभी तो सम्प्रदाय में दया से धर्म माननेवाले को यह सुनना कठिन पड़ता है। आहाहा!

आत्मा के स्वरूप के **घातनशील है।** वापस घातन स्वभाववाले हैं। उसका स्वभाव ही अपना घात करना, ऐसा स्वभाव है। आहाहा! ऐसा है। मैंने इतनी पुस्तकें बनायी, उसमें मेरा हाथ था, तब सब व्यवस्था व्यवस्थित हुई। कहते हैं कि उसे कर्मजनित की जो क्रियायें हैं, उसमें रसे रस चढ़ गया है। आहाहा! उसी रस से उसे आत्मा के स्वरूप का घात होता है। आहाहा! द्रव्य का घात (होता है), ऐसा नहीं। वर्तमान पर्याय में घात होता है। द्रव्य का घात (नहीं होता), द्रव्य तो है, वह है। पर्याय में उस प्रकार का अभिमान करता है, इसलिए पर्याय में शान्ति का घात होकर दुःख उत्पन्न करता है। द्रव्य है, वह तो है ही। उसमें कुछ घात भी नहीं। वह तो अनादि से है, वह है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

पाठ तो ऐसा है। '**आत्महनो भवन्ति**' है? '**आत्महनो भवन्ति**' इसका अर्थ इतना। आहाहा! उसकी प्रगट शान्ति और आनन्दपर्याय होनी चाहिए, उसे घात करता है। आहाहा! घात करके उस दुःख की, मिथ्यात्व की पर्याय को उत्पन्न करता है। ऐसा कठिन काम! दुनिया के साथ मिलान खाना (कठिन है)।

एक व्यक्ति कहता था, तेरापंथी ऐसा कहते हैं, दूसरे को बचावे वह पाप है। क्योंकि वह बचेगा तो कुछ काम लेगा। तब और यह सोनगढ़िया ऐसा कहते हैं कि दूसरे को बचाने का भाव पाप है। (यह) तेरापंथी का ही मत है। एक व्यक्ति ऐसा कहता था। अरे! भगवान! यह तो अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली, अनन्त सन्त कहते आये हैं। वस्तु की स्थिति यह है। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! आनन्दघनजी में आता है न? एक शब्द आता है। 'आत्मज्ञानी श्रमण कहावे, दूजे तो द्रव्यलिंगी। आत्मज्ञानी श्रवण कहावे, दूसरे तो द्रव्यलिंगी, वस्तुगते जो वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन मत संगी, वस्तुगते जो वस्तु प्रकाशे', यह आनन्दघन के मत के संगी हैं। आनन्दघन ऐसा आत्मा, आहाहा! वह उसके अभिप्राय—उसके परिचयवाले हैं। श्वेताम्बर में आता है। आहाहा! अब उसे कितने ही कुछ दूसरा कहते हैं। यह आनन्दघनजी तो ऐसा हो गया है। क्या कुछ हल्की भाषा नहीं कहते? भूतडा... भूतड़ा! 'भंगडभूत हो गया है।' (ऐसा) कहते हैं। 'आत्मज्ञानी श्रमण कहावे' लो! 'दूजे द्रव्यलिंगी...' तुम्हारे को तुम्हारे में, उसे और और उसे कहनेवाले निकले। अरे! भगवान! बापू! तू क्या करता है? भाई! आहाहा!

आत्मा के ज्ञान और सम्यग्दर्शन बिना साधुपना कैसा? आहाहा! जहाँ ऐसा भाव है, वहाँ मिथ्यादृष्टि है, वहाँ समकित नहीं, वहाँ फिर साधुपना कहाँ से लाना? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, बापू! व्यवहार होता है। बोलने का व्यवहार होता है, निमित्त है अवश्य, परन्तु निमित्त पर में कुछ कर सकता है, ऐसा नहीं है। निमित्त से ऐसा कथन बोला जाता है, होता है, निमित्त को सिद्ध करना है, इसलिए (ऐसा बोला जाता है)। व्यवहार है अवश्य, परन्तु वह व्यवहार पर को कुछ कर सकता है, ऐसा व्यवहार नहीं है। आहाहा! आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल पड़ता है और जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

अपने को घातनशील हैं। है न? '**आत्महनः**' '**आत्महनः**' का अर्थ यह (अर्थात्) पर्याय। आत्मा की पर्याय जो शान्ति और आनन्द और स्वच्छता आनी चाहिए, उसका यह घात करता है। कर्ता-कर्म में ऐसा आता है न? भाई! नहीं? ६९-७० (गाथा)। पर्याय को उत्पन्न न करके। कर्ता-कर्म (अधिकार की) ६९-७० (गाथा में) आता है।

मुमुक्षु : सहज उदासीन अवस्था का...

पूज्य गुरुदेवश्री : घात करता है। तो (क्या) सहज उदासीन अवस्था थी? वहाँ ६९-७० में पाठ ऐसा है। 'कर्ता मानकर सहज उदासीन अवस्था का घात करता है।' समझ में आया? समयसार है न? देखो! '**सहज उदासीन (ज्ञाता-दृष्टामात्र) अवस्था**

का त्याग करके... ज्ञाता-दृष्टा है ? नहीं। परन्तु होने नहीं देता, इसलिए घात करता है, (ऐसा कहा जाता है)। कर्ता-कर्म में है। **उदासीन अवस्था का त्याग करके...** अर्थात् कि उदासीन अवस्था प्रगट होनी चाहिए। द्रव्यस्वभाव तो ऐसा है कि उसकी दशा शान्त और वीतरागी समकित प्रगट होना चाहिए। उस अवस्था का त्याग करके... आहाहा! **अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तता हुआ प्रतिभासित होता है...** आहाहा! मैं क्रोध करता हूँ, मान करता हूँ, लोभ करता हूँ, इच्छा करता हूँ, राग करता हूँ, ऐसा भासित होता है। उदासीन अवस्था का त्याग करके (कहा तो क्या) उदासीन अवस्था थी ? उदासीन अवस्था हुई नहीं, उसके बदले घात करता है, ऐसा कहा गया है। समझ में आया ?

यहाँ 'घातनशील' का अर्थ है। घातनशील अर्थात् जो आत्मा है, उसकी अवस्था उदासीन नित्य शान्त और वीतरागी होना चाहिए, उसका वह घात करता है। समझ में आया ? आहाहा! पर्याय का (घात होता है), द्रव्य का घात नहीं होता। द्रव्य का किसी प्रकार कलुषित मिथ्यात्व के तीव्र परिणाम हो... आहाहा! द्रव्य तो शुद्ध चिदानन्दघन है, वह अनादि से रसकन्द है। कोई भी अवस्था नरक में, एकेन्द्रिय में चाहे जहाँ हो, वस्तु तो जो है, वह ही है। परन्तु उसकी पर्याय जो निर्मल होनी चाहिए, उसकी उत्पत्ति के स्थान में इसे ऐसा करता हूँ, ऐसा मिथ्यात्व उत्पन्न करता है, इसलिए वह आत्मा की शान्ति की पर्याय का घात करता है। समझ में आया ? ऐसी बातें हैं।

'**आत्महनः**' पाठ है न ? '**आत्महनो भवन्ति**' आत्मा घात होता है ? आत्मा की शुद्धपर्याय है, वह आत्मा है, आत्मा की शुद्धपर्याय प्रगट हो, वह आत्मा है। उसे घात करता है, शुद्धपर्याय होने नहीं देता। उसे घात करता है, इसलिए आत्मा को घात करता है, ऐसा कहा गया है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १७०

(अनुष्टुप्)

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ।।८-१७०।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'अस्य मिथ्यादृष्टेः सः एव बन्धहेतुः भवति' [अस्य मिथ्यादृष्टेः] इस मिथ्यादृष्टि जीव के, [सः एव] मिथ्यात्वरूप है जो ऐसा परिणाम कि 'इस जीव ने, इस जीव को मारा; इस जीव ने, इस जीव को जिलाया'—ऐसा भाव, [बन्धहेतुः भवति] ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का कारण होता है। किस कारण से? 'विपर्ययात्' कारण कि ऐसा परिणाम, मिथ्यात्वरूप है। 'य एव अयं अध्यवसायः' 'इसको मारूँ, इसको जिलाऊँ'—ऐसा जो मिथ्यात्वरूप परिणाम, जिसको होता है 'अस्य अज्ञानात्मा दृश्यते' [अस्य]—ऐसा जीव का [अज्ञानात्मा] मिथ्यात्वमय स्वरूप, [दृश्यते] देखने में आता है।।८-१७०।।

मागसर शुक्ल ८, रविवार, दिनांक-१९-१२-१९७७, कलश-१७०, १७१, प्रवचन-१७९

कलशटीका, १७० कलश है।

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ।।८-१७०।।

क्या कहते हैं? यह बन्ध अधिकार है। '**अस्य मिथ्यादृष्टेः सः एव बन्धहेतुः भवति' इस मिथ्यादृष्टि जीव के,...** (अर्थात्) झूठी दृष्टि है, पाप दृष्टि है, अधर्म दृष्टि है, उसे मिथ्यात्वस्वरूप जो परिणाम। क्या? कि '**इस जीव ने इस जीव को मारा,....** मैंने इसे मारा—यह अभिप्राय अधर्मी का अधर्म अभिप्राय है। आहाहा! क्योंकि पर को मार नहीं सकता तो भी ऐसा मानता है कि, मैंने इसे मारा, ऐसा जो मिथ्यात्वरूपी अधर्मपरिणाम, वह उसे बन्ध का कारण है। आहाहा!

मैंने इसे जिलाया। **इस जीव ने इस जीव को जिलाया'** मैंने उसका जीवन जिलाया, बचाया।

मुमुक्षु : मक्खी को पानी में से निकालकर बचाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मक्खी पानी में से निकाले और यह सब कार्यकर्ता है न? सब व्यवस्था करके हम जगत को सुल्टे रास्ते चढ़ाते हैं—यह अभिप्राय अधर्म-अभिप्राय है, यह पाप का मूल है। आहाहा! कठिन बातें हैं, भाई!

स्वयं आत्मा, अपने परिणाम की विपरीतता या अविपरीतता कर सकता है। इसके अतिरिक्त परपदार्थ का कुछ भी (कर नहीं सकता)। मैंने इन लड़कों का पोषण, पालन किया, पढ़ाया और शिक्षा दी—यह अभिप्राय पाप, मिथ्यात्व और अधर्म-अभिप्राय है। ऐसी बात है। दुनिया से उल्टी है। है?

इस जीव ने... इस जीव ने, **इस जीव को मारा,....** आहाहा! मैंने एकेन्द्रिय जीव को मारा, मैंने पंचेन्द्रिय को मारा। आहाहा! ऐसा जो अभिप्राय, ऐसा जो आशय, वह अधर्म का आशय है, मिथ्यात्व परिणाम का वह आशय है। आहाहा! जो मिथ्यात्व अनन्त चार गति के परिभ्रमण का मूल है। आहाहा!

इस जीव ने इस जीव को जिलाया... आहाहा! कौन किसे जिलाये?

मुमुक्षु : डॉक्टर दवा देकर जिलावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी दवा दे नहीं सकते। दवा परमाणु है, जाना और आना उसके कारण से है और दवा से वहाँ मिटता है, यह तीन काल में नहीं है। कठिन बात है, बापू! आहाहा! वीतराग तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि इस जीव ने इसे मारा, इस जीव ने इसे जिलाया, इस जीव ने इसे सुविधा दी, आहार-पानी, मकान, वस्त्र (देकर) इसे सुखी किया, इस जीव ने इसे असुविधा देकर दुःखी किया। यह सब अभिप्राय—परिणाम मिथ्यात्व के—अधर्म के, नये बन्ध के कारणरूप परिणाम हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : समिति में सबको सुविधा दी, वह पाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दे सकता है? रामजीभाई वहाँ (सुविधा) देते होंगे? क्या कहलाता है वह तुम्हारा? टेबल, टेबल और कुर्सियाँ और कटोरियाँ और थालियाँ और ऊपर पंखे... रात्रि में दीया-बत्ती, वह सब खानेवाले को-पीनेवाले को मैं यह सब सुविधा देता हूँ—यह अभिप्राय मिथ्यात्व है। कहो! धर्मचन्दजी!

मुमुक्षु : लोग समिति समेट लेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : करता कौन है, वह समेटे? आहाहा! उस समिति के परमाणु जो हैं या उसके जीव जो हैं, वे तो उनके अपने परिणाम से वहाँ काम करते हैं। उसमें दूसरा उसके परिणाम से उसका काम करे, यह बात सत्य नहीं है, अत्यन्त झूठ है। और यह पाप तो मिथ्यात्व—अनन्त संसार का मूल है। आहाहा! आसक्ति का कोई चारित्रदोष हो, उसका पाप अल्प है, परन्तु यह तो महामिथ्यात्व अभिप्राय है। कर सकता नहीं और मैंने सबको व्यवस्थित किया (ऐसा मानता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : करनेवाले को दण्ड पड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया कहाँ है? माना है। उसे मान्यता का दण्ड है। ऐसी बात है, भाई! आहाहा! यह लड़कियों को सब सिखाया, भरत भरना, रोटी बनाना, हलुवा बनाना, चूरमा बनाना, ऐसा मैंने इन्हें सिखाया, यह अभिप्राय मिथ्यात्व, अधर्म है। अरे.. अरे! ऐसी बातें हैं!

यह यहाँ कहते हैं। **ऐसा भाव ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का (हेतु) कारण होता है।** अनन्त संसार के कर्म हैं, उनका इसे बन्धन होता है। आहाहा! उसमें दर्शनमोह का बन्ध होता है, परन्तु ज्ञानावरणीय से लिया है। आहाहा!

किस कारण से? कारण कि ऐसा परिणाम मिथ्यात्वरूप है। आहाहा! यह भाव ही महा झूठा है। आहाहा! ऐसा कठिन काम पड़े। यह सब कार्यकर्ता तो ऐसा ही मानते हैं कि हम सबके कार्य कर देते हैं। कहते हैं कि यह अभिप्राय, यह परिणाम मिथ्यात्व के महा झूठे परिणाम हैं, कि जिन झूठे का फल ऐसे नये कठोर कर्म बँधे, ऐसा उनका फल है। आहाहा! जगत से अलग प्रकार है, भाई! आहाहा! हम देश की सेवा करते हैं कि जिससे देश को अनुकूलता रहे, सब सुखी रहें। यह मान्यता, यह अभिप्राय अत्यन्त झूठा और मिथ्यात्व है। आहाहा! है? विपर्यास है।

'य एव अयं अध्यवसायः' 'इसको मारूँ, इसको जिलाऊँ' ऐसा जो मिथ्यात्वरूप परिणाम जिसके होता है... आहाहा! **'अस्यं अज्ञानात्मा दृश्यते' ऐसे जीव का मिथ्यात्वमय स्वरूप....** वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा देखने में आता है। वह जीव झूठी दृष्टिवाला है, (वह

ऐसा मानता है कि) मैंने इसे जिलाया और मैंने इसे मारा, मैंने इसे सुविधा दी और मैंने इसे असुविधा दी—वह जीव मिथ्यादृष्टिरूप से है, ऐसा देखने में आता है, कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन काम! उसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, ऐसा देखने में आता है। आहाहा!

वह **मिथ्यात्वमय स्वरूप देखने में आता है।** ऐसा कहते हैं, देखा? आहाहा! है न? '**अज्ञानात्मा दृश्यते**' आहाहा! एक तिनके के दो टुकड़े कर सकूँ, ऐसा माननेवाला, उसके मिथ्यात्व परिणाम झूठे हैं, ऐसा देखने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : रोटी का टुकड़ा कर सकता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में नहीं कर सकता। रोटी का टुकड़ा होना, वह जड़ की पर्याय के काल में, उस काल में टुकड़ा पृथक् होता है। दूसरा कहे कि मैं इसके टुकड़े करूँ और धीरे-धीरे से छोटे टुकड़े करूँ और फिर धीरे-धीरे चबाऊँ तो पचे। पेट में दाँत नहीं, इसलिए बहुत चबाना। यह चबा सकता हूँ, वह क्रिया मेरी—आत्मा की है और मैं कर सकता हूँ (यह मिथ्यात्व परिणाम है)। जगत से सब उल्टा है, बापू! यह अभिप्राय मिथ्यात्व देखने में आता है, कहते हैं। आहाहा!

अब विशेश कहते हैं, १७१ (श्लोक)।

कलश - १७१

(अनुष्टुप्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ।।९-१७१।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'आत्मा आत्मानं यत् न करोति तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति' [आत्मा] मिथ्यादृष्टि जीव, [आत्मानं] अपने को [यत् न करोति] जिसरूप नहीं आस्वादता [तत् किञ्चन] — ऐसी पर्याय — ऐसा विकल्प, [न एव अस्ति] त्रैलोक्य में है ही नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव, जैसी पर्याय धारण करता है — जैसे भावरूप परिणमता है, उस सबको आपस्वरूप जान अनुभवता है; इसलिए कर्म के स्वरूप को, जीव के स्वरूप से भिन्न कर, नहीं जानता है; एकरूप अनुभव करता है। 'अनेन अध्यवसायेन' 'इसको मारूँ, इसको जिलाऊँ, इसे मैंने मारा, इसे मैंने जिलाया, इसे मैंने सुखी किया, इसे मैंने दुःखी किया' — ऐसे परिणाम से, 'विमोहतः' गहल (पागल) हुआ है। कैसा है परिणाम? 'निःफलेन' झूठा है। भावार्थ इस प्रकार है कि यद्यपि मारने की कहता है, जिलाने की कहता है, तथापि जीवों का मरना-जीना अपने कर्म के उदय के हाथ है, इसके परिणामों के अधीन नहीं है। यह अपने अज्ञानपना को लिए हु, अनेक झूठे विकल्प करता है।।९-१७१।।

कलश - १७१ पर प्रवचन

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ।।९-१७१।।

आहाहा! क्या कहते हैं? '**आत्मा आत्मानं यत् न करोति तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति' मिथ्यादृष्टि जीव अपने को जिसरूप नहीं आस्वादता ऐसी (कोई) पर्याय, ऐसा विकल्प त्रैलोक्य में है ही नहीं।** आहाहा! इसका ऐसा अभिप्राय है कि मैं तो पूरी दुनिया का कर दूँ। आहाहा! जिसे शरीर की यह चलने की क्रिया मैं करता हूँ, ऐसे जीव का अभिप्राय दुनिया में किसी चीज़ को नहीं करता, नहीं मानता—ऐसा नहीं है। वह

सबको करने का मानता है। भगवानजीभाई! यह कठिन बातें हैं।

यह अँगुली है, इसे ऐसे हिला सकता हूँ; यह भाषा है, उसे मैं बोल सकता हूँ... आहाहा! सूक्ष्म बात, प्रभु! वीतराग का मार्ग बेचारे को कान में पड़ा नहीं। अरे रे! आहा! उसे कहते हैं कि यह अँगुली ऐसे हिला सकता हूँ, मैं बोल सकता हूँ, ऐसा जो कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि जगत में कोई चीज़ ऐसी नहीं कि वह मेरी है, और मैं करता हूँ, ऐसा न माने। समझ में आया? आहाहा! जगत में अपने अतिरिक्त जितने आत्मा और जितने रजकण हैं, उन सबकी पर्याय को मैं करता हूँ, पूरे लोक के भाव को मैं करता हूँ, ऐसी कोई चीज़ बाकी नहीं कि उसे मैं न करूँ। सबको करता हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

वीतराग जिनेश्वरदेव तीर्थंकर परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि जो कोई दूसरे को जिलाऊँ-मारूँ, ऐसा जिसका अभिप्राय है और सुविधा-असुविधा दूँ, ऐसा अभिप्राय है, उस जीव का अभिप्राय, जगत में ऐसी कोई चीज़ नहीं कि उसे अपना न मानता हो। जगत में ऐसी कोई चीज़ नहीं कि उसे मैं करूँ, ऐसा न मानता हो। ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन काम है, बापू! अरे रे! धर्म क्या चीज़ है (उसकी) उसे खबर नहीं। दया पालन की, व्रत पालन किये (इसलिए) हो गया धर्म। धूल भी धर्म नहीं, सुन न! आहाहा! वह पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसी मान्यतावाला (जीव) जगत के किसी भी पदार्थ को स्वयं नहीं करता—ऐसा नहीं मानता। सबको मैं करता हूँ, इसका करूँ, इसका करूँ, इसका करूँ, इसका करूँ, इसका करूँ... आहाहा! सब पर का करूँ, ऐसा वह मानता है। कर सकता हूँ, लोक में कोई चीज़ बाकी नहीं। आहाहा! ....भाई! ऐसी बात है।

यह कहते हैं, देखो न! **त्रैलोक्य में है ही नहीं।** ऐसा कहा न? तीन लोक में ऐसी चीज़ नहीं कि उसे मैं करूँ, ऐसा न माने। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! इस चश्मे को मैं ऐसे ऊपर चढ़ा सकता हूँ, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। मैं दाल, भात, रोटी खा सकता हूँ, मैं पानी ऐसे गट... गट करके पी सकता हूँ। यह परपदार्थ की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा माननेवाला जगत में कोई चीज़ उसके कर्ता के अतिरिक्त की रही हो, ऐसी नहीं है। मान्यता में (रही नहीं)। आहाहा!

नहीं आस्वादता ऐसी पर्याय,... कोई जड़ की या चैतन्य की, इस जगत में रजकण तो बहुत पड़े हैं—शरीर के, वाणी के, मन के, यूँ ही पुद्गल के—ये सब पुद्गल के परमाणु की पर्याय, उसके काल में उसके कारण से उसमें होती है, इस एक को कर्ता मानता है, वह सबका कर्ता अभिप्राय में है। तीन लोक में ऐसी कोई चीज़ नहीं कि (उसका) कर्ता न माने। आहाहा!

दुकान में बैठा हो तो (मानता है कि) गद्दी को सम्हालता हूँ। आहाहा! घोड़े पर बैठा हो तो (मानता है कि) घोड़े को चलाता हूँ। हाथ में... क्या कहलाता है वह? चाबुक! चाबुक ऐसे लेकर ऐसे... ऐसे... कर सकता हूँ। इन आँखों के टिमकार मैं कर सकता हूँ। आहाहा! मुम्बई जैसी मोहनगरी में तो ऐसा (सुनना) भारी कठिन पड़े! दुनिया को वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने क्या कहा है, क्या जाना है और कौन सी मान्यता झूठी है, यह कहते हैं, उसकी इसे खबर नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह कहते हैं, देखो! जगत की कोई एक पर्याय भी बाकी नहीं कि **जैसे भावरूप परिणमता है, उस सबको आपस्वरूप जान अनुभवता है।** आहाहा! यह स्त्री-अर्धांगिनी हमारी स्त्री है। आधा अंग इसका और आधा (मेरा, ऐसा) दो होकर हम एक हैं। यह हमारी घरवाली है। आहाहा! यह हमारा पुत्र चतुर हुआ है, यह हमारा पुत्र कर्मी हुआ है, यह हमारा पुत्र महीने में पचास-पचास हजार लाता है। कहो, समझ में आया? आहाहा! क्या करते हैं यह?

अभी एक व्यक्ति को कहा नहीं था? एक लड़के को पूछा कि तेरे वहाँ वेतन कितना है? कौन सा देश वह? अमेरिका नहीं, कोई दूसरा देश है, केनेडा! केनेडा... केनेडा है न? अमेरिका में। मैंने तो पूछा, मैं तो जानता था कि इसे धर्म का कुछ भान है नहीं। कितना वेतन है? महीने में तीन-चार हजार डॉलर का (वेतन)। अरे! क्या करता है तू यह? तीन-चार हजार डॉलर में कोई वेतन का निर्णय नहीं होता। तीन हजार के इक्कीस हजार होते हैं और चार के अट्ठाईस हजार होते हैं। एक महीने में, हों! आहाहा! जो वेतन कहता था, उसमें भी बढ़-घट करके कहा, मान के लिये। इतना बड़ा मुझे वेतन मिलता है! एक अंक नहीं। अरर! क्या करता है यह जीव?

एक व्यक्ति को पूछा, जवान लड़का था। बीस-पच्चीस लाख, तीस लाख होंगे। नयी दुकान करना थी। यहाँ आया, उसमें बात हुई। कहा कि यह जो पच्चीस, पचास, साठ, सत्तर वर्ष (का) आयुष्य जो कहलाता है, वह शरीर का या आत्मा का? (तो कहे), यह हमको कुछ खबर नहीं पड़ती। कहो, ऐसे पागल वह कोई...! यह आयुष्य शरीर का कहलाता है कि यह पचास वर्ष जिया, साठ वर्ष जिया, यह शरीर की स्थिति का आयुष्य है या आत्मा का है? ऐसे पच्चीस-तीस लाख रुपये और बड़ी दुकान करनी थी, जामनगर में। यहाँ आवे, दर्शन करने आवे। कुछ नया करना हो न? महाराज के दर्शन करें तो अपने फिर व्यवस्थित चले। अरे! भगवान! तू यह क्या करता है? अभी यह साठ, सत्तर वर्ष हुए, वे किसे? देह को या आत्मा को? उसकी भी खबर नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : गणित में कुछ भूल हो जाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इतनी खबर नहीं कि यह शरीर मिट्टी है, आयुष्य तो इसका है। आत्मा अन्दर है, वह तो त्रिकाली है।

मुमुक्षु : यह तो आपको खबर है, हमको कहाँ खबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए कहते हैं न कि जगत की कोई चीज़ इसने मेरी है, और मैंने की है, इस (बिना की) रही नहीं। प्रत्येक में उसकी कर्तापने की बुद्धि खड़ी है। आहाहा!

मैं अच्छा लिख सकता हूँ, मोती के दाने जैसे मेरे अक्षर पड़ते हैं, बड़ी आवाज से, लाख लोग हो तो मैं अच्छा भाषण कर सकता हूँ। आहाहा! प्रभु! यह तू क्या करता है? तू आत्मा ज्ञानस्वरूप, यह बाहर में जाता है या पर का कर सकता है? आहाहा! ऐसी बात! तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा इन्द्र और गणधरों के समक्ष में प्रभु ऐसा कहते थे, वह यह बात है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! माता-पिता कुछ छोड़ नहीं गये थे, मैंने मेरे बाहुबल से पैसे पैदा किये हैं। पाँच-पच्चीस लाख, पचास लाख, करोड़-दो करोड़ (मैंने पैदा किये), हमारे पिताजी के पास कुछ नहीं था। हमने बाहुबल से सब इकट्ठा किया है। पागल वह कहीं...! पैसा जड़ है, उसे तू पैदा कर सके

और प्राप्त कर सके ? आहाहा ! कठिन काम, प्रभु ! तेरी प्रभुता तो ज्ञाता-दृष्टा में है। होवे उसे जानना-देखना उसमें तेरी महत्ता और प्रभुता है। परन्तु होता है, उसे मैं करूँ और मेरे कारण यह होता है, प्रभु ! (ऐसा मानने में) तेरी हीनता है। आहाहा ! तुझे तूने नीचा करके माना है। आहाहा !

ऐसा तो वीतराग कहते हैं। जिन्हें दुनिया की पड़ी नहीं। आहाहा ! समाज सुगठित रहेगी या नहीं ? समाज के भाग पड़ जायेंगे या नहीं ? सन्तों को यह कुछ पड़ी नहीं है। सत्य यह है कि आत्मा के अतिरिक्त पर शरीर, वाणी, मन, देश, कुटुम्ब-कबीला, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि... आहाहा ! उनका कुछ भी किसी का कर सकूँ, प्रभु ! उसमें तेरी नीचता है, हल्कापन है। आहाहा ! किसी के घर में जाकर मैं करता हूँ। तो घर में गया नहीं और करता हूँ, (ऐसा) मानता है, वह मिथ्या अभिप्राय है। आहाहा ! शान्तिभाई ! यह सब ऐसा कठिन काम है।

मुमुक्षु : हमारी होशियारी सब पानी में गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार-बोशियारी कब थी ? रामजीभाई को होशियारी थी, तो वहाँ पैसा पैदा होते थे ? वह तो पूर्व के पुण्य का योग हो तो पैसे आते हैं। उसमें पैसे इसके पास कब आते हैं ? पैसे तो जड़ में जड़रूप से रहे हैं और यह कहता है कि मुझे आये और मेरे पास आये। भ्रमणा है।

मुमुक्षु : इसके पास आये यह सच्चा, इसे आये यह खोटा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे भी आये नहीं और इसके पास भी आये नहीं। ऐसा है। दुनिया से बहुत उल्टा है।

इसलिए कहा न ? तीन लोक में ऐसी कोई पर्याय नहीं.... आहाहा ! **मिथ्यादृष्टि जीव जैसी पर्याय धारण करता है, जैसे भावरूप परिणमता है, उस सबको आपस्वरूप जान अनुभवता है।** आहाहा ! यह स्त्री मेरी, पुत्र मेरे, यह वस्त्र मेरे... आहाहा !

एक बार श्रीमद् को किसी ने पूछा, श्रीमद् स्वयं ऐसा बोलते थे कि 'अमारो कोट लावो, अमारो यह कपड़ा लाओ।' परन्तु साहेब ! आप अकेले और 'अमारूं' ऐसे बहुवचन से बोलते हो, उसका कारण क्या ? यह तो तुमको मान है। तब श्रीमद् ने जवाब

दिया कि सुन! 'अमारूं कपड़ा' ऐसा कहकर हम कहते हैं कि यह कपड़ा हमारा नहीं, मेरा नहीं।' अ-मारूँ (अर्थात्) मेरा नहीं। ऐसा बना था। एक व्यक्ति ने पूछा (था)।

(श्रीमद् ने कहा कि) 'वह अमारो कोट लावो, अमारो कोट।' परन्तु साहेब! आप अकेले हो, 'मेरा कोट' ऐसा न कहकर, 'अमारो कोट' (यह तो) बहुवचन (होता है और) मान में जाता है। सेठ! समझ में आया? समझ में नहीं आता? यह तो (सादी) भाषा है। अमारो कोट, ऐसा कहने पर मेरा नहीं, (ऐसा अर्थ होता है)। मेरा कोट लाना तो उसका अर्थ कि वह कोट तो मेरा है। मेरा वस्त्र लाना, मेरे कपड़े धोने दिये हैं, कल धुलकर आये हैं, लाना। यहाँ तो कहते हैं, अमारा कपड़ा। अर्थात् कि मेरे नहीं। अमारो पुत्र, अमारी पुत्री। अर्थात् कि हमारा पुत्र, पुत्री नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जगत में ऐसी कोई चीज़ बाकी नहीं रही कि अज्ञानी ने उसे अपनी मानी न हो। आहाहा! 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है; गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी के भार के नीचे कुत्ता (चलता हो और) ठाठुं उसे स्पर्श करे तो (ऐसा मानता है कि) गाड़ी मुझसे चलती है। इस प्रकार जैसे वह कुत्ता मानता है, उसी प्रकार यह जगत के काम उसके कारण से चलते हैं। धन्धे के-व्यापार के, वस्त्र के, लकड़ी के, बोलने के, भाषा के, उसके कारण जड़ को वह सब क्रिया होती है। आहाहा! ऐसा यह मैं करता हूँ, (ऐसा माननेवाला) कुत्ते जैसा है, (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! इसमें पानी उतर जाये ऐसा है, हरिभाई!

यहाँ भगवान का पुकार है, यह भी निमित्त से कथन है। भगवान का पुकार! पुकार, पुकार भाषा से (होता) है। यह तो निमित्त का कथन है। भाषा में ऐसा पुकार आया कि हे आत्मा! तू किसी को भी आहार दे सकता है, पानी दे सकता है, भूखा (हो) उसे आहार (दे सकता है), तृषातुर को पानी दूँ, रोगी हो उसे औषधि दूँ, नंगे को वस्त्र दूँ... आहाहा! ऐसी जो तेरी मान्यता है, वह अत्यन्त मिथ्यात्व और अज्ञान है। आहाहा! भारी कठिन काम! क्योंकि वह परद्रव्य की क्रिया परद्रव्य के कारण स्वतन्त्र होती है। उसके कारण यह कहता है कि वह मुझसे होती है। आहाहा!

यह भगवान की पूजा के समय भी जो यह द्रव्य चढ़ाते हैं न? स्वाहा... स्वाहा..,

वह सब क्रिया जड़ की है। वह मुझसे होती है, ऐसा माननेवाला जगत की किसी चीज़ को मेरी किये बिना नहीं रहता। आहाहा! एक भी न्याय और एक भी भाव यथार्थ समझे न तो सब भाव सत्य (समझ में आये)।

कोई मिथ्यादृष्टि जीव जैसी पर्याय धारण करता है,.... मनुष्य का शरीर मिला तो कहे, मैं मनुष्य हूँ। पशु का शरीर मिला तो कहे, में पशु हूँ। घोड़ा का शरीर मिला तो कहे, मैं घोड़ा हूँ। स्त्री का शरीर मिला तो कहे, मैं स्त्री हूँ। अरे! परन्तु स्त्री का शरीर तो जड़ है, तू स्त्री कहाँ से हुई? आहाहा! हीजड़े का शरीर मिला तो कहे, मैं हीजड़ा हूँ। पुरुष का शरीर मिला तो कहे, मैं पुरुष हूँ। आहाहा! बहुत उघाड़ नहीं था तो मूर्ख (हुआ तो कहे) मैं मूर्ख हूँ। परन्तु मूर्ख हूँ, यह तो पर्याय में इतनी चीज़ है, वह मूर्ख तू नहीं। आहाहा! तू तो वहाँ जाननेवाला-देखनेवाला भगवान विराजता है, प्रभु! वह मूर्ख भी नहीं और पण्डित भी नहीं और बनिया नहीं, देव भी नहीं, वह स्त्री भी नहीं और पुरुष भी नहीं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **सबको आपस्वरूप जान अनुभवता है। इसलिए कर्म के स्वरूप को जीव के स्वरूप से भिन्न कर नहीं जानता है,....** क्या कहा यह? यह लेने-देने की क्रिया, बोलने की (क्रिया), वह तो कर्म के कारण की सब क्रिया है। वह कर्म के स्वरूप से होती क्रिया, उसे अपने स्वरूप से मानता (है कि यह) मैं करता हूँ। आहाहा! यह वकील जज को कोर्ट में दलील दे सकते हैं, इस प्रमाण है, इस प्रमाण है। लो! विलायत में इस केस का पहला निपटारा ऐसा हुआ था, इस प्रकार यहाँ निपटारा होना चाहिए। ऐसी दलील करता है। वह दलील जड़ की है। आहाहा! बहुत (कठिन) काम! पर के लिये पंगु हो गया। आहाहा!

मुमुक्षु : भाव बिना भाषा कैसे निकले?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा अपने आप आती है। भगवान को कहाँ राग है? भाव है? तथापि भाषा है या नहीं? रागी को राग बिना भाषा नहीं होती, परन्तु वह तो राग का निमित्त है। भाषा तो भाषा के कारण से होती है। आहाहा! कठिन काम, बापू! यह मार्ग—धर्म (अर्थात् कि) जन्म-मरण के अन्त को लाने की बात बहुत सूक्ष्म, भाई!

आहाहा! अरे रे! पूरी जिन्दगी पचास-साठ-सत्तर-आठ वर्ष ऐसे के ऐसे अभिमान में और अभिमान में गये। आहाहा! यह बात करके यह अभिप्राय छुड़ाना चाहते हैं। समझ में आया?

भाई! तू पर का किसी का कर्ता नहीं। तू तो प्रभु जानन-शरीर है न! आहाहा! तेरा शरीर अर्थात् स्वरूप तो चैतन्यस्वरूप है। वह चैतन्यज्ञान विग्रहम्! आहाहा! वह ज्ञानस्वरूपी भगवान अपने अतिरिक्त किसे करे? आहाहा! प्रभु! वह जाननेवाला तो जानने-देखने का काम करे। वह पर के काम करे, यह सब मान्यता तुझे प्रभु! विपरीत है और यह मान्यता नरक और निगोद में ले जानेवाली है। आहाहा! अब इसमें (कहे) चर्चा करो और वाद करो, लो! बापू! किसका वाद करे? भाई! एक ही सिद्धान्त ले... आहाहा!

अरे! निश्चय से तो यह राग आता है न? शुभराग—दया का, दान का राग। क्रिया कर सकता नहीं, (उसे तो) एक ओर रखो, परन्तु जो राग आता है, उसका वह कर्ता हो, यह अभिप्राय भी मिथ्यात्व है क्योंकि स्वद्रव्य से राग, वह भिन्न वस्तु है। भिन्न वस्तु का भिन्न वस्तु कर्ता और भोक्ता अन्दर निश्चय से माने, वह मिथ्या अभिप्राय है।

(मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव) **आपस्वरूप जान अनुभवता है। इसलिए कर्म के स्वरूप को जीव के स्वरूप से भिन्न कर नहीं जानता है,...** देखा? वाणी, मन, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार यह सब भिन्न है, उसका मैं कुछ कर कैसे सकता हूँ? आहाहा! दाल, भात, रोटियाँ, पैसा, वस्त्र, मकान को मैं किस प्रकार कर सकता हूँ? आहाहा! क्योंकि मुझसे भिन्न है, उन्हें मैं भिन्न (पदार्थ) कैसे कर सकता हूँ? भिन्न को भिन्न कैसे कर सकता है? आहाहा!

आहाहा! मरण का अवसर आया हो (तो भी अभी ऐसा कहे), लड़के का करूँ, लड़की का करूँ, व्यवस्थित डालूँ, ऐसा करूँ, वैसा करूँ... ओहोहो! .... परन्तु... तेली के बैल की तरह है। घूमे, घूमे वह उसी में और उसी में घूमे, ऐसे जहाँ पट्टी उघाड़े (और देखे तो) वहीं का वहीं भटकता का भटकता। आहाहा! फिरते-फिरते आज मानो बहुत कोस काटे! लकड़ी का पाटा होता है न? उसे उघाड़े वहाँ (देखे कि) यह तेली और यह घानी! आहाहा! (ऐसा यहाँ) यह अज्ञान और यह संसार!

मैं पुस्तक बना सकता हूँ, पुस्तक में अच्छे लेख दे सकता हूँ, पत्रों में मेरे लेख बहुत आते हैं। ऐसा कितने ही अज्ञानी कहते हैं न? और हर समय यह अमुक पत्र में तो मेरा लेख होता ही है न! ठीक! क्या है प्रभु यह तुझे? क्या हुआ है यह? लेख है, वह जड़ की-परमाणु की क्रिया है, उसे मैंने किया और मैंने लेख दिया (यह मान्यता मिथ्यात्व है)। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **जीव के स्वरूप से भिन्न कर नहीं जानता है, एकरूप अनुभव करता है।** देखा? अस्ति-नास्ति की है। आत्मा के शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा (स्वभाव के) अतिरिक्त जितने रागादि और पर आदि की क्रियायें हैं, वे सब कर्मजनित पर की है। उन्हें अपनेरूप से मानता है परन्तु अपना स्वरूप उनसे भिन्न है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! पचना कठिन पड़े!

एक बार (संवत्) १९८६ का अमरेली का चातुर्मास था न। आहाहा! तीन भाई थे। रामजीभाई, नरभेरामभाई और छोटा गिरधर फिर व्याख्यान में थोड़ी बात चली तो रामजीभाई बोले, महाराज! यह पचना बहुत कठिन! यह पचाया नहीं जा सकता। (संवत्) १९८६ की अमेरली (की बात है)। कितने वर्ष हुए? ४८! मैंने कहा परन्तु जब आत्मा रोटी, दाल-भात खाता हो, ऐसा माने, अभी तो खाता भी नहीं, उसे मैसूर आवे तो वह इनकार करे कि मैं पचा नहीं सकता? रामभाई को कहा था। उसे अन्त में यहाँ रहने का भाव था, परन्तु फिर पैसा-बैसा बहुत, दान दे तो लोग महिमा कर-करके मार डाले! आहाहा! धूल में भी नहीं, दान में भी धर्म नहीं और पैसे दिये, उसमें भी धर्म नहीं और उसमें कदाचित् राग मन्द किया हो तो वह भी धर्म नहीं। आहाहा!

बहुत अन्तर, बहुत अन्तर तोड़ना (कठिन पड़े)। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु चैतन्यघन है, ऐसी अन्तर में दृष्टि किये बिना यह अन्तर टूटे, ऐसा नहीं। आहाहा! तब उसे ऐसा होता है कि अरे! मैं तो जाननेवाला, देखनेवाला हूँ न! मैं किसे करूँ? दया, दान के राग को करूँ? आँख किसके रजकण को उठाये? किस रजकण को आँख उठाये आँख? इसी तरह भगवान (ज्ञान) नेत्र, आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु! वह राग और पर के रजकण को किस प्रकार करे? आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया में बहुतों ने पहली-

पहली सुनने को मिले, उन्हें तो ऐसा लगे कि यह वह क्या है? पागलखाना है यह? सुन, भाई! आहाहा!

परमात्मा यहाँ यह कहते हैं, देखो न! यह कहा न? कर्म के निमित्त से होती क्रियाओं को भिन्न करके जानता नहीं। **एकरूप अनुभव करता है।** जहाँ हो वहाँ... आहाहा! मैंने लड़कियों को ठिकाने किया, उनके दहेज में मैंने दो लाख रुपये का सोना दिया था और उसका वर या देवर लूट न जाये और उसकी आजीविका बराबर चले... आहाहा! अरे! मार डालता है! क्या करता है प्रभु तू यह? किस चीज़ को तूने मेरा माने बिना रखा है? एक को मेरा माने बिना रखा है। मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, बस! दूसरा कोई मुझमें है ही नहीं। उसे (अपनी) माने बिना रखा है। बराबर है? भाई! आहाहा!

टोपी पहने तो भी, व्यवस्थित सीधी न पहने, ऐसे जरा आड़ी पहने। एक ओर अधिक तथा एक ओर ऊँची! है न? सब देखा है न! नाचे नहीं परन्तु सब नाचनेवालों को देखा। यह टोपी बीच में पहने तो (चेहरा व्यवस्थित नहीं लगता), ऐसे आड़ी पहने तो चेहरा उसकी ओर जाये! मार डाला जगत को! आहाहा! अभी तो और यह कंघे चले हैं। वह टोपी थी तो बाल खुल्ले हों तो टोपी दबाये रखे, अब खुल्ले (बाल) फर... फर... फर... फर... उड़ते हैं, इसलिए जरा कंघा रखना पड़ता है। पागल वह कोई...! यह सब क्रिया मुझसे होती है, ऐसा माननेवाला, लोक में कोई बात बाकी नहीं रखी कि यह चीज़ मैंने मेरी नहीं की। आहाहा!

महिलाओं में कितनी ही ऐसी होती है कि हमारा हाथ हल्का है। हल्का हाथ है, वह क्या होता है? हमारे हाथ से रोटी होती है, हलुवा होता है, वड़ी होती है, पाप होते हैं, (यह) बहुत अच्छे होते हैं। आहाहा! धूल में भी नहीं, सुन न! हाथ ही तेरा नहीं, फिर किसके यह सब अभिमान में चला गया है? बापू! इस (मिथ्या) अभिप्राय के प्रवाह में तेरे आत्मा को लगा दिया है, भाई! आहाहा! तेरा नाथ अन्दर पूरा ज्ञाता-दृष्टारूप से रह गया है। आहाहा!

मैं तो—आत्मा का स्वभाव तो सर्वज्ञ स्वभाव है। जैसे इस ओर सर्व की कोई क्रिया किये बिना का मिथ्यादृष्टि (जीव) बाकी नहीं रहा... आहाहा! उसी प्रकार इस आत्मा

का सर्वज्ञस्वभाव है। प्रभु अन्दर सर्वज्ञस्वभाव है। सब भगवान सर्वज्ञस्वभावी हैं तो किसी को जाने बिना रहे, ऐसा यह नहीं है। आहाहा! मिथ्यात्वभाव से किसी को किये बिना रहा नहीं, ज्ञानभाव से किसी को जाने बिना रहे नहीं। आहाहा! कठिन काम!

एक व्यक्ति पैसा लेकर हीरा-माणेक लेने आया। फिर ऐसे देखते-देखते हीरा, माणेक निकाले, फिर उसमें उसकी नजर न रही, वहाँ एक हीरा हाथ में लेकर, मोम लेकर आया था, इसलिए साथ में पाट था, वहाँ मोम में वह हीरा चिपका दिया। वह कहे कि एक हीरा यहाँ से गया। कौन ले गया? जाँच करो। उसकी जेब में भी नहीं मिले और कहीं नहीं मिले परन्तु साथ में वह लकड़ी की पाट थी न? वहाँ मोम करके चिपका दिया। फिर से आकर मैं ले जाऊँगा, ऐसा। पाट समझ में आता है? पाट होती है न? पुलिस बुलायी। बड़ा हीरा था। देखो, भाई! देखो न मेरी जेब में कहीं नहीं। और फिर से दो-चार महीने में आया, लगभग दस हजार रुपये लेकर (आया) और वह हीरा था बड़ी कीमत का, (आकर कहा) साहेब! तब तुम्हारा गया था परन्तु आज तो यह दस हजार रुपये लेकर एक हीरा दो। वह देता है, वहाँ वह चिपकाया था, उसे ले लिया। अरे! ऐसी होशियारी! अर र र! तूने वहाँ क्या किया? प्रभु! आहाहा! तूने मिथ्या अभिप्राय का सेवन किया, प्रभु! तुझे ऐसा लगा कि यहाँ लाख रुपये का हीरा मुझे मिला, दस हजार भले देना पड़े, दस हजार में वापस कोई हीरा तो मिला होगा न? भले वह चाहे जितने का मिले, परन्तु वह लाख रुपये का हीरा तो (मिला)। ...यह क्या करता है?

इसी प्रकार रात और दिन जगत के प्राणी स्वयं जाननेवाले-देखनेवाले को भूलकर जिस-जिस प्रसंग में जहाँ आया, वहाँ-वहाँ उस प्रसंग में दीप्त करनेवाला, शोभा करनेवाला मैं हूँ, ऐसा अभिमान किया है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, कर्म की सामग्री। वह सब कर्म की सामग्री कहलाती है। भाषा, वाणी, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा—उसमें (वह सब चीज़) अपनी है, ऐसा माने बिना रहा नहीं। आहाहा! उसका आस्वाद लिया है। आहाहा!

कर्म के स्वरूप को जीव के स्वरूप से भिन्न कर नहीं जानता है, एकरूप अनुभव करता है। इसको मारूँ,... इसको मारूँ—दबा दूँ, बोलता हो तो उसे दबा दूँगा, बैठा जा!

मुमुक्षु : जामसाहेब को बैठा दिया था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जामसाहेब को हुआ था। जामनगर। वहाँ गोरे (अंग्रेज) आये थे, उन गोरों के लिये बहुत पैसे खर्च किये। इसलिए मानो कि मैंने इन्हें सम्हाला है, अब सभा भरी है तो मैं (कुछ बोलूँ ऐसा करके) बोलने के लिये खड़ा हुआ। बोलना था इसलिए सरकार से जरा कुछ विरुद्ध बोलने लगा, तो सरकार के दूसरे लोग खड़े होकर (बोले), बैठ जाओ! हाय... हाय...! रणजीतसिंह बड़ा करोड़ों का तालुकदार, उसका अपमान! आहाहा! फिर घर आकर, बापू! अपमान में और अपमान में... फिर तो अन्त में इंजेक्शन दिया था। आहाहा! ऐसे अपमान अनन्त बार किये, सहे, परन्तु इसने चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ ज्ञान का सागर, उसे अपना करके माना-जाना नहीं। आहाहा!

चैतन्यरत्नाकर भगवान, इसमें अनन्त चैतन्य के रत्नों का सागर प्रभु है। आहाहा! क्षेत्र छोटा है, ऐसा न देख। उसमें अनन्त चैतन्यरत्न भरे हैं। महासागर है। आहाहा! जैसे स्वयंभूरमण समुद्र में नीचे रेत नहीं। अन्तिम समुद्र है। इस जम्बूद्वीप (के बाद) लवण (समुद्र है), ऐसे अन्तिम (स्वयंभूरमण) समुद्र है, उसके नीचे रेत नहीं है। नीचे हीरा-माणेक हैं। इसी प्रकार यह स्वयंभू भगवान, स्वयं महासमुद्र, इसके अन्तर तल में चैतन्य के रत्न भरे हैं। पुण्य-पाप के कंकड़ वहाँ नहीं हैं। आहाहा! उसे तू एक बार देख तो सही, प्रभु! आहाहा! परन्तु कहाँ इसे देखने की निवृत्ति है! देखनेवाले को देखने की फुरसत नहीं मिलती, देखनेवाला दूसरों को देखने में रुक गया। आहाहा! जो देखनेवाला है, वह कौन है, उसे—देखनेवाले को देखने के लिये निवृत्त नहीं हुआ। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा!

कर्म के स्वरूप को जीव के स्वरूप से भिन्न कर नहीं जानता है,.... है न? **इसे मैंने मारा,...** इसे मैंने मारा, **इसे मैंने जिलाया, इसे मैंने सुखी किया,....** आहाहा! **इसे मैंने दुःखी किया...** आहाहा! **ऐसे परिणाम से...** विमोहित मूढ **गहल हुआ है।** पागल (हुआ है)। आहाहा! ऐसे चतुर का पुत्र गिनाता हो, पंचों में पूछा जाता हो। आहाहा! प्रभु! वीतरागमार्ग अलग है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! तीन लोक के नाथ ऐसा

कहते हैं कि मैंने इसे जिलाया, मारा, सुखी किया, सुविधा दी... आहाहा! मैंने इसे ऐसा सब सिखाया और सीखकर अब बराबर निष्णात हो गया है। किसे सिखावे? प्रभु! तू यह क्या कहता है? आहाहा!

ऐसा करके... आहाहा! **'विमोहितः' गहल हुआ है।** आहाहा! पागल है, पागल यह तो! दुनिया उसे चतुर कहे, धर्मी उसे पागल कहे। आहाहा! **कैसा है परिणाम?** है? **झूठा है।** निष्फल... निष्फल। उसे मारूँ—जिलाऊँ, यह कर नहीं सकता। मुफ्त का अभिप्राय करता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

'विमोहितः' गहल हुआ है। आहाहा! **भावार्थ इस प्रकार है कि यद्यपि मारने की कहता है, जिलाने की कहता है,....** है? **तथापि जीवों का मरना जीना अपने कर्म के उदय के हाथ है,...** उसका रहना और मरना, वह तो कर्म के कारण है। तू कहे, उसे जिला दूँ और रख दूँ (यह मिथ्या अभिप्राय है)। आहाहा! **इसके परिणामों के आधीन नहीं है।** तेरे परिणाम के वह आधीन नहीं है। पर को सुविधा देना, वह तेरे परिणाम के आधीन नहीं है। आहाहा!

यह अपने अज्ञानपना को लिये हुए अनेक झूठे विकल्प करता है। राग, द्वेष, मिथ्यात्व भाव करता है। आहाहा! उसे छुड़ाने के लिये यह बात की है। यह छोड़ दे, प्रभु! एक बार आत्मा कौन है उसे जान! वह आनन्द का नाथ अन्दर है। वह ज्ञान की मूर्ति है, उसे पहिचान और उसका ज्ञान कर (तो) तेरे जन्म-मरण मिट जायेंगे। विशेष कहा जायेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १७२

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ।।१०-१७२।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'ते एव यतयः' वे ही यतीश्वर हैं, 'येषां इह एष अध्यवसायः नास्ति' [येषां] जिनको [इह] सूक्ष्मरूप वा स्थूलरूप, [एष अध्यवसायः] 'इसको मारूँ, इसको जिलाऊँ' — ऐसा मिथ्यात्वरूप परिणाम [नास्ति] नहीं है। कैसा है परिणाम? 'मोहैककन्दः' [मोह] मिथ्यात्व का [एककन्दः] मूलकारण है, 'यत्प्रभावात्' जिस मिथ्यात्वपरिणाम के कारण, 'आत्मा आत्मानं विश्वं विदधाति' [आत्मा] जीवद्रव्य, [आत्मानं] आपको [विश्वं] — 'मैं देव, मैं मनुष्य, मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि नानारूप [विदधाति] अनुभवता है। कैसा है आत्मा? 'विश्वात् विभक्तः अपि' कर्म के उदय से हुई समस्त पर्यायों से भिन्न है, ऐसा है यद्यपि। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव, पर्याय में रत है; इसलिए पर्याय को आपरूप अनुभवता है। ऐसे मिथ्यात्वभाव के छूटनेपर, ज्ञानी भी साँचा, आचरण भी साँचा।।१०-१७२।।

मागसर शुक्ल १०, सोमवार, दिनांक-२०-१२-१९७७, कलश-१७२, १७३, प्रवचन-१८०

कलशटीका, १७२ कलश है।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ।।१०-१७२।।

मुख्य(रूप से) यति की व्याख्या है परन्तु धर्मी—धर्म करनेवाला उसे कहते हैं

कि **जिनको सूक्ष्मरूप वा स्थूलरूप...** है ? **'इसको मारूँ, इसको जिलाऊँ' ऐसा मिथ्यात्वरूप परिणाम नहीं है।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात! अनन्त काल से इसने सम्यग्दर्शन क्या है, यह पाया ही नहीं। आहाहा! उसे मैं जिला सकता हूँ, उसे मैं मार सकता हूँ, उसे मैं सुविधा दे सकता हूँ अथवा असुविधा दे सकता हूँ, ऐसा जो अभिप्राय है... आहाहा! वह मिथ्यात्व अभिप्राय है।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व अभिप्राय है अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् झूठी मान्यता है। आहाहा! मैं उसे—परद्रव्य को कुछ मदद कर सकता हूँ... आहाहा! बहुत कठिन बात, बापू! इसने अनन्त काल में कभी सत्य क्या है, यह इसने जाना नहीं। दुनिया की सब चतुराई की है। आहाहा!

यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि जिसे यह मारूँ, जिलाऊँ, सुविधा करूँ, पर को कुछ भी करूँ—ऐसा जिसे अध्यवसाय—अभिप्राय है, वह मिथ्यादृष्टि झूठा अभिप्राय करता है। आहाहा! इससे वह धर्मी नहीं है। आहाहा! वह अधर्मी है। आहाहा!

मुमुक्षु : बनिया किसी की हिंसा नहीं करता और आप कहते हो अधर्मी है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : 'राग मेरा है, पर को कर सकता हूँ', यह अपनी हिंसा नहीं ? आहाहा! बनिया अर्थात् क्या ? बनिया अर्थात् व्यापारी। व्यापारी तो खोजा भी होते हैं और मुसलमान भी होते हैं। परन्तु स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर परचीज़ को कुछ (कर) सकता हूँ, मदद कर सकता हूँ, अरे! दया पाल सकता हूँ... आहाहा! यह झूठी मिथ्यात्व की मान्यता है, वह अत्यन्त झूठा है। आहाहा! ऐसा है। है ?

मैं जिलाऊँ (ऐसे) मिथ्यात्व परिणाम (जिसे) है, वह अधर्मी है, और ऐसे परिणाम जिसे नहीं, वह धर्मी है। आहाहा! भारी कठिन यह तो! दूसरों को कुछ भी अपनी शक्तिप्रमाण सहायक होऊँ, बापू! शक्ति हो उतनी मदद करना, ऐसा (कहे)। आहाहा! ऐसा माननेवाले झूठी श्रद्धावाले पाखण्डी मिथ्यादृष्टि हैं। झूठे भाव को सेवन करनेवाला पाखण्डी है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा भाव जिसे नहीं, उसे धर्मी अथवा मुनि अथवा समकिती कहते हैं। आहाहा! यहाँ मुख्य (रूप से) मुनिपने की अपेक्षा से बात है। है ? वह जिसे नहीं है। है ? आहाहा!

मेरे आत्मा के अतिरिक्त जितनी परवस्तु है—अनन्त आत्मायें या अनन्त पुद्गल परमाणुओं का मैं कुछ भी कर सकूँ, उन्हें मैं रख सकूँ, ऐसी जो मान्यता है, वह एकदम सत्य से विरुद्ध मान्यता है। आहाहा! ऐसी मान्यता जिसने छोड़ दी है कि मैं तो पर को कुछ कर नहीं सकता। मैं पर का जाननेवाला हूँ, यह भी व्यवहार है। आहाहा! सूक्ष्म मार्ग, भाई! जन्म-मरण कर-करके कचूमर निकल गया है, बापू! इसने कभी कुछ विचार नहीं किया। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल में एक-एक गति में अनन्त भव करके उसे थकान नहीं लगी, ... उसी और उसी में, जैसे पानी में मछली रमती है, वैसे यह मिथ्यात्व के भाव में रम रहा है। आहाहा!

यहाँ आचार्य महाराज भगवान की वाणी को वाणी द्वारा कहते हैं कि परमात्मा तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी प्रभु परमात्मा (ऐसा कहते हैं)... आहाहा! कि जिसे अपने अतिरिक्त दूसरे किसी भी द्रव्य को—पदार्थ को कुछ भी कर सकूँ, ऐसा जिसे अभिप्राय नहीं, उसे यहाँ धर्मी और समकिती कहा जाता है।

मुमुक्षु : परस्पर उपकार करना, ऐसा तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो निमित्त है, ऐसा कहते हैं। डाला है न? सब अभी यही डालते हैं न? परस्परोपग्रहो! यह तो परस्पर निमित्त हो, उसका ज्ञान कराया है। उपग्रह का अर्थ उपकार करे और कर सकता है, यह बात है ही नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! वीतराग परमात्मा को समझना, उनकी आज्ञा को जानना। अनन्त काल में इसने दरकार की ही नहीं। ऐसे का ऐसे संसार के भाव में मेरापन मानकर जिन्दगी निष्फल की है। आहाहा! आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं। अभी तो सम्प्रदाय में भी यह सब बात उल्टी चलती है। इसकी दया पालो और उसको ऐसा करो और इसकी सेवा करो न, बापू! यहाँ वीतराग इनकार करते हैं, भाई! तू पर का कुछ कर नहीं सकता। क्योंकि परद्रव्य वस्तु है, वह स्वतन्त्र पदार्थ है और उसकी वर्तमान पर्यायरूपी कार्य तो उससे होता है। उसे तू कहता है कि मैं इसे कर दूँ... आहाहा! यह झूठा अभिप्राय है, प्रभु! तू भटकने के रास्ते में दौड़ गया है। आहाहा! परिभ्रमण के चार गति के दुःख के रास्ते में दौड़ गया, भाई! आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो?

यहाँ अभी कहेंगे, देखो! आहाहा! कैसा है मिथ्यात्वभाव? '**मोहैककन्दः**' **मिथ्यात्व का मूल कारण है।** आहाहा! पर की दया पाल सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ, उसका मूल कारण मिथ्यात्वकन्द है। आहाहा! उसका मूल कारण मिथ्यात्व—झूठी दृष्टि है। आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है, बापू! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

'**मोहैककन्दः**' है न? मिथ्यात्व एक ही उसका मूल कारण है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देश की सेवा कर सकता हूँ। आहाहा! प्रभु! देश कौन है? देश तो परवस्तु है। परवस्तु की तू रक्षा कर सकता है? आहाहा! कठिन काम, भाई! प्रभु का मार्ग कोई अलग प्रकार का है। यह अनन्त-अनन्त भव में भटककर मर गया है। आहाहा! उसका कहा नहीं था? आहाहा!

नरक के एक क्षण के दुःख प्रभु! क्या कहें? प्रभु कहते हैं। आहाहा! एक क्षण का दुःख, हों! आहाहा! भाई! तूने एक क्षण के दुःख में ऐसा वेदन किया है कि करोड़ों भव और करोड़ों जीभों से उन दुःख की वेदना का वर्णन नहीं हो सकता। आहाहा! भाई! तू भूल गया, भाई! आहाहा! जन्म यहाँ हुआ, वहाँ (मान लिया कि) मैं मनुष्य हूँ और मैं लड़का हूँ और मैं आदमी हूँ, अमुक का पुत्र हूँ और अमुक का स्वामी हूँ। यह क्या हुआ तुझे प्रभु यह? आहाहा! यहाँ यह कहते हैं, इन सबकी मान्यता का मूल मिथ्यात्व है। विपरीत मान्यता—विपरीत श्रद्धा, वह सबका मूल है। आहाहा!

'**यत्प्रभावात्**' **जिस मिथ्यात्वपरिणाम के कारण** '**आत्मा आत्मानं विश्वं विदधाति**'.... आहाहा! भगवान जीवद्रव्य वस्तु स्वयं, आत्मा जीववस्तु स्वयं '**आत्मानम्**' दूसरी चीज़ को (अर्थात् कि) मनुष्य हूँ, देव हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ, मायावी हूँ, लोभी हूँ, पैसेवाला हूँ, स्त्रीवाला, पुत्रवाला, मकानवाला ऐसा जो आत्मा को माना... आहाहा! है? वह **मिथ्यात्वपरिणाम के कारण जीवद्रव्य...** '**आत्मानम्**' अर्थात् **आपको** '**मैं देव,....** हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा! देव का शरीर तो जड़ है और गति भी उदय के भाव की है, वह कहीं आत्मा नहीं है। आहाहा!

यह **मैं मनुष्य,...** हूँ। शरीर तो जड़ है, वह तो मिट्टी-धूल है, परन्तु अन्दर मनुष्य की गति का उदय है, वह मनुष्य हूँ। मैं मनुष्य हूँ, यह मिथ्या अभिप्राय है। आहाहा! यह उल्टी श्रद्धा का महा संसार में भटकने का मूल है। समझ में आया? मैं देव हूँ, मैं मनुष्य

हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं नारकी हूँ, **मैं क्रोधी,...** हूँ। भाई! मेरी प्रकृति बहुत तेज है, हों! ऐसा कहे, ... पागल, वह भी कैसा? किस जाति का? पूरी दुनिया गहल है, पागल है। मेरी प्रकृति जरा तेज है हों, भाई! परन्तु तेज अर्थात् क्या? यहाँ तो सुनाई देता है न? न्यालभाई! यहाँ तो अब नजदीक बैठाया। सुनायी देता है न यहाँ? ठीक! नजदीक बैठना, नजदीक! तो फिर नजदीक आ सके! आहाहा! प्रभु का मार्ग क्या कहें? अभी तो सब गड़बड़ ऐसी हो गयी है। आहाहा!

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं, **मैं क्रोधी, मैं मानी...** आहाहा! देखो! भाई! मैं अभिमानी हूँ, हों! मुझे बुलाना नहीं, वरना तुमको तुम्हारा ठिकाना नहीं रहेगा, ऐसा कहे। तुमको मूल से उखाड़ डालूँगा। तुझे सिफारिश बहुत है और हमने बहुतों का सहारा किया है। मेरे विरुद्ध यदि पड़ा तो खोद डालूँगा। कौन है तू? यह क्या कहता है? ऐसा मानी हूँ, आहाहा! यह मिथ्याश्रद्धा तुझसे यह बुलाती है। भगवान के मार्ग से विरुद्ध मान्यता तुझे यह बुलाती है। आहाहा!

मैं मायावी हूँ। मेरी यह बात गुप्त है, तुमको मेरा कलेजा हाथ आना कठिन है, ऐसा और कहे, ... ऐई! यह दुनिया के सब खेल देखे हैं न! आहाहा! मैं लोभी हूँ। घर के काम में साला हो या बहनोई हो तो भी उसके लिये कुछ लेने जाना हो तो मैं थोड़ा गुप्त भाग लेता हूँ। पहले तो यह बादामी की पुड़ी होती है न? बादामी की पुड़ियाँ होती हैं न? तब तो बहुत सस्ती थी न? तब तो बारह आने, रुपया का अन्तर था। यह तो साठ वर्ष पहले की बात है और हमने सब देखा हुआ है। उसमें से दगा करनेवाला,... सगे-सम्बन्धी कहे और सगा दगा करे! वह रुपये का या बारह आने का सेर हो तो यहाँ कहे कि रुपये का सेर है। ऐसा कहकर दो सेर लाया हूँ। यह सब देखा हुआ है, हों! सब पकड़े हुए हैं। आहाहा! तू क्या करता है जीव?

कहता है कि मैं लोभी हूँ। अरे... प्रभु! तू लोभी! लोभवाला! तू तो आनन्द का नाथ ज्ञानस्वरूप है न, प्रभु! आहाहा! मैं लोभी हूँ, यह तेरी मान्यता विपरीत श्रद्धा, पाखण्ड श्रद्धा है। आहाहा! तुझे भटका मारेगी। आहाहा! बापू! तुझे भटकाकर परिभ्रमण करायेगी। आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं। लोभ हूँ। है न?

सुखी हूँ... अभी पैसे-टके से, पुत्र से, स्त्री, पुत्र सब अनुकूल हैं। हम सुखी हूँ,

धूल में सुखी, किसका सुखी माना तूने यह ? अभी हम सुखी हैं। कहो, भगवानजीभाई ! पोपटभाई। पोपटभाई मोहनलाल वोरा मुम्बई नहीं बैठते यहाँ ? यहाँ बुधवार को थे, लो ! और तीसरे दिन वहाँ रात्रि में गुजर गये। पोपटलाल मोहनलाल वोरा वढ़वाणवाले। दो करोड़ से अधिक पैसा ! और छह लड़के। ...यहाँ आये थे। यहाँ से तुरन्त गये। रविवार को आये, रवि-सोम-मंगल-बुध रहे। बुधवार को गये, गुरुवार को पहुँचे, शनिवार को रात्रि में... जय नारायण ! आहाहा ! किसके पुत्र ? किसके पैसे ? किसकी वस्तु ? क्या मानता है यह ? कैसे कहलाये वे ? चूढ़गर... हाँ चूढ़गर.. चूढ़गर।

यहाँ यह कहते हैं, **मैं सुखी...** हूँ। एक बार नहीं कहा था ? वढवाण के पोपटलाल बेरिस्टर, इनके सगे होते हैं, अपने नानालाल कालीदास के। वे एक बार यहाँ व्याख्यान में बोलते थे, हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। परन्तु सुखी की व्याख्या क्या ? कहा। सुखी की व्याख्या क्या ? यह पैसा है और स्त्री है और व्यापार-धन्धा है, इसलिए सुखी ? ऐसे के ऐसे पागल सब इकट्ठे होकर (कहें कि) हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। धूल भी सुखी नहीं।

यहाँ कहते हैं कि, **मैं सुखी...** हूँ। मुझे सब सुविधा है। शरीर (ऐसा है कि), सत्तर वर्ष हुए परन्तु कभी सौंठ चोपड़ी नहीं। ऐसा हमारा निरोगी शरीर है। उसका इसे अभिमान ! मार डाले। हमारे पुत्र देखो तो एक के बाद एक ऐसे पके हैं... और अच्छे घर की कन्यायें, पचास-पचास नारियल ऊपर देने आते हैं ! उसमें से हम पसन्द करते हैं, जो ठीक हो उसे रखते हैं, बाकी सबको (जाने देते हैं)। हम अभी सुखी हैं। धूल भी नहीं, मर जायेगा, सुन न अब !

मुमुक्षु : ऐसा पागलपन तो आपने समझाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसा है न ! बापू ! सब चलता है। हमारे तो घर में भी सब चलता था। हमारे वहाँ दुकान में भी सब गड़बड़ चलती थी। आहाहा !

हमारे बुआ के पुत्र भागीदार थे न ? कुँवरजीभाई उन्हें अभिमान बहुत था। मैं करता हूँ, मैं करूँ... बुद्धि थोड़ी थी। मैं तो 'भगत' कहलाता था। मैं तो पहले से जानता था कि इनकी बुद्धि थोड़ी है परन्तु पुण्य है तो वर्ष में दो-दो लाख पैदा करे। दो-दो लाख, हों !

मुमुक्षु : रोज पाँच सौ लोग तो सेठ कहते।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाई से पूछा था। कुँवरजीभाई, हमारे बुआ के पुत्र होते हैं, (वे) भागीदार थे। दो भाई वे और दो भाई हम—(ऐसे) चार। पालेज (में) दो दुकानें थीं। इसलिए (एक भाई से पूछा कि) तुमको हजार बार सेठ कहे (तो सुहावे)? (तो उन्होंने कहा), नहीं, नहीं पाँच सो बार कहे। कहो, क्या जवाब देता है! यह किसलिये पूछते हैं, (इसकी तो खबर नहीं होती)। ममता बहुत, बहुत ममता।

मैंने (संवत्) १९६६ के वर्ष (में) कहा था। ६८ वर्ष हुए। ६८ वर्ष पहले मैंने उन्हें कहा था। मेरी उम्र बीस वर्ष की थी, अभी ८८ है। तब उनसे कहा था, भाई! याद रखो, मैं अभी ऐसा कहता हूँ कि तुम्हारी दशा ऐसी है कि तुम मरकर ढोर होओगे, याद रखना! बोले नहीं, मेरे सामने बोले नहीं। मैं भगत कहलाता था न? मेरी छाप पहले से ऐसी थी। वह दुकान पर बैठा था और तीस लोग इकट्ठे एक रसोई में जीमते थे। दो दुकाने थीं। यह तो (संवत्) १९६५-६६ की बात है। ६८ वर्ष पहले, हों! भाई! मुझे तो लगता है, हम बनिया हैं तो माँस, शराब, अण्डे खाते नहीं, इसलिए तुम नरक में तो नहीं जाओगे, याद रखो। तथा तुम्हारे देव में जाने के लक्षण मुझे नहीं लगते। मुझसे चार वर्ष बड़ा था। अभी उसे ९२ (वर्ष) होते हैं परन्तु ११-१२ वर्ष पहले गुजर गये। तथा मनुष्य होने के लक्षण मुझे नहीं लगते। एक पशु की योनि—ढोर की गति होगी। दुकान की गद्दी पर बैठा था। दुकान बड़ी! आहाहा! वह भाई मरते हुए, सब अभिमान सेवन किये हुए न? मरते हुए सन्निपात हो गया। 'यह मैंने किया, इसका ऐसा करना, इसका ऐसा करना... इसका ऐसा करना...' सन्निपात हुआ, मरकर गया ढोर में! लड़के भी कहते थे कि महाराज ने एक बार कहा था। 'यह किया और मैंने यह किया और ऐसा करना...' क्या है परन्तु यह? आहाहा! यह तेरे पागलपन के फल (में) मरकर जायेगा कहीं नीचे!

यहाँ प्रभु यह कहते हैं। मैं सुखी हूँ, ऐसा माननेवाले परवस्तु को अपनी मानते हैं। अपनी चीज़ ज्ञान और आनन्द है, उसे वे भूल जाते हैं। स्वयं ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसे अपना आनन्द और ज्ञान अपने में है, ऐसा भूल जाता है और उस पर के कारण मैं सुखी हूँ। वह परवस्तु को अपनी मानकर मिथ्यात्व के भाव को सेवन कर वह दुर्गति में चला जायेगा। आहाहा! ऐसा है।

भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का जगत के समक्ष पुकार है। यहाँ भाषा यह है न? '**विश्वं विश्वात् विभक्तः**' सारे विश्व को (कि) जो भिन्न है, उसे अपनेरूप मानता है, ऐसा यहाँ सिद्धान्त है। उसके तो इतने थोड़े शब्द लिखे। समझ में आया? पाठ तो इतना है—'**विश्वाद्विभक्तो**' पूरी दुनिया से, राग से, शरीर से, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार से, धन्धे से भगवान भिन्न है। है? '**विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-**' परन्तु मोह के—मिथ्यात्व के प्रभाव से, उल्टी श्रद्धा के जोर के कारण से इस सारे विश्व को मेरा है, ऐसा मानता है। समझ में आया? आहाहा!

साले का साला कुछ पैसेवाला हुआ हो तो भी इसे अभिमान चढ़ता है, कि मेरे साले का साला है! उसके पास अभी पाँच करोड़ है। परन्तु तुझे उसमें क्या है? मार डाला जगत को! मिथ्यात्वरूपी मोहकन्द! जिसका मूल मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। विपरीत मान्यता जिसके मूल में पड़ी है... आहाहा! (वह) उसे सर्वत्र बकवाती है। समझ में आया? अलग प्रकार है, बापू! हम तो दुनिया की सब जानते हैं न! सम्प्रदाय में २१ वर्ष चार महीने रहे। सब जानते हैं, सम्प्रदाय में भी क्या श्रद्धा थी। हमारे गुरु सब ऐसा ही कहते, पर की अहिंसा परमो धर्म! पर की दया पालना, वही सिद्धान्त का सार है—ऐसा कहते थे। हीराजी महाराज बहुत नरम थे मन्द कषायी परन्तु वस्तु की खबर नहीं, मार्ग की खबर ही नहीं होती। काठियावाड़ में हीरा कहलाते थे। 'हीरा अेटला हीर, बाकी सूतरना फालका।' ऐसी मन्द कषाय, हमारे बोटाद (सम्प्रदाय के) साधु, परन्तु वस्तु वस्तु की कुछ खबर नहीं होती। आहाहा! हम यह पर की दया (पालते हैं)। सिद्धान्त ऐसा कहता है कि अहिंसा—पर की दया पालना, वह सिद्धान्त का सार है, ऐसा कहते थे, लो! यहाँ कहते हैं कि पर की दया पाल सकता है, ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। वह वस्तु नहीं थी (और) नहीं। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, श्लोक बहुत (गजब है)। **मैं मानी, मैं सुखी, मैं दुःखी...** भाईसाहेब! मैं तो निर्धन हूँ। एक व्यक्ति के पास गये। हमारे सगे-सम्बन्धी थे। पैसा बहुत था और राज-दरबार की सहायता थी। फिर सब लुट गया। फिर मैं तो उसके पास यूँ ही गया था (तब कहे), 'मैं तो अभी गरीब हो गया हूँ।' पहले दरबार का मान था, दरबार पैसे देते थे, दस-दस लाख (देते थे) और बड़ा मान था। नाम नहीं देते। परन्तु

फिर (कहे) मैं तो अभी गरीब हो गया हूँ, महाराज! अरे! परन्तु गरीब अर्थात् क्या? बाहर का संयोग अनुकूल न हो, इसलिए गरीब हो गया, ऐसा किसने कहा? आहाहा!

सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर आनन्द का नाथ विराजता है, बादशाह स्वयं! आहाहा! जिसमें आनन्द की अनन्त लक्ष्मी पड़ी है, जिसमें—घर में अन्दर में अनन्त ज्ञान पड़ा है। आहाहा! उस लक्ष्मी की तो तुझे खबर नहीं, उसकी प्रतीति नहीं और बाहर की लक्ष्मी गयी तो (कहता है), गरीब हो गया। आहाहा! समझ में आया? और बाहर के दो-पाँच करोड़ के ढ़ेर हुए (वहाँ तो) मैं चौड़ा और गली सकड़ी हो गयी मानो! उसमें आठ-दस लड़के हों तो सबको मकान चाहिए, साथवाला साधारण गरीब मनुष्य हो उसे दबावे। मुझे जमीन चाहिए, आठ लड़के हैं, सोलह कमरे चाहिए, ऐसा है और वैसा है। परन्तु यह क्या है? यह सब पागलपन, उसे बताते हैं। समझ में आया?

यहाँ परमात्मा कहते हैं, जगत की जो बाह्य परचीज़ कर्मजनित और परसामग्री है, उसकी प्रतिकूलता में मैं दुःखी हूँ, अभी ठीक है तो मैं सुखी हूँ, (ऐसा मानता है)। है? **इत्यादि नानारूप अनुभवता है। 'विदधाति'** आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान और आनन्द का नाथ प्रभु, उसे भूलकर विश्व अर्थात् सभी चीज़ों को मेरी मानकर अनुभव करता है। कहो, समझ में आया? भाषा तो सादी है, भाव तो जैसा है वैसा है।

मुमुक्षु : जैसा है वैसा अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कठिन है भाव, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? है?

'विदधाति' अनुभवता है। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा को जो वस्तु उसमें नहीं और उसकी नहीं, वह सुखी-दुःखी की कल्पना (होती है), वह तो कर्मजन्य की उपाधि है। उसे अपनी मानता है कि मैं दुःखी हो गया, मैं सुखी हूँ, मैं ऐसा हूँ और पैसेवाला हूँ। आहाहा! मेरे नाम की पच्चीस दुकाने चलती हैं। मेरे पास दस करोड़ रुपये हैं और भागीदार रखे हैं। एक-एक को पाँच-पाँच लाख दिये हैं, टका का ब्याज लेता हूँ और आमदनी का आधा भाग लेता हूँ। न्यालभाई! यह सब है, अभी देखे हुए हैं, हों! तुमको तो खबर है। पाँच-पाँच लाख दे, टके का ब्याज ले। अभी, पहले आठ आने थे। अब टका, डेढ़ टका हो गया। ब्याज ले और वापस बारह महीने में आमदनी हो, उसका

आधा भाग ले और महीने में वापस बहियाँ देखने जाये। अरे! परन्तु तू यह क्या करता है? पर चीज़ में तू कितना फँस गया है! आहाहा! इस प्रकार पर को अपना मानकर स्वयं अपने को अनुभव करता है। पर को (अपना) मानकर, 'पर है, वह मेरा है'— ऐसा मानकर अनुभव करता है। आहाहा! मैं विश्व से एक भिन्न (पदार्थ) हूँ। राग और शरीर की क्रिया, वाणी और परिवार (आदि) सबसे भिन्न अन्दर मेरी चीज़ है। आहाहा!

जिस चीज में तो अनन्त ज्ञान और आनन्द पड़ा है, प्रभु! आहाहा! उसकी जिसे खबर नहीं, उसकी जिसे प्रतीति नहीं, उसका जिसे अन्दर में आश्रय नहीं, वह पर का आश्रय लेकर अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? अलग प्रकार है, बापू! यह उपदेश अलग प्रकार का है। कहते हैं न?

कैसा है आत्मा? 'विश्वात् विभक्तः अपि' है? है तो यह सब सुख-दुःख की कल्पना से अन्दर भिन्न भगवान है। पूरे विश्व से भिन्न है। आहाहा! पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, वह सब विश्व की—जगत की चीज़ें हैं। उनसे यह प्रभु अन्दर भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है।

अनन्त काल से भटका है। आहाहा! परन्तु अपनी चीज़ को सम्हालने के लिये निवृत्त नहीं हुआ। आहाहा! मैं अन्दर में कौन हूँ? श्रीमद् ने नहीं कहा? श्रीमद् ने तो सोलह वर्ष में मोक्षमाला में कहा है—

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहरूँ क्या?
इसका विचार विवेक पूर्वक शान्त होकर कीजिये
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये।

आहाहा! सोलह वर्ष की देह की उम्र, हों! देह की बात है न? आत्मा को कहाँ उम्र है? आत्मा तो अनादि-अनन्त है। सोलह वर्ष में ऐसा कहा! 'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से?' मैं कौन हूँ? कि मैं आत्मा हूँ। कहाँ से हो? हो कहाँ से? वह तो अनादि है। 'और मेरा रूप क्या?' मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं तो ज्ञान और आनन्द का धारक, वह मेरा स्वरूप है। यह पुण्य और पाप के विकल्प और इनके फल, वह मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! समझ में आया? 'सम्बन्ध दुःखमय कौन है?' यह क्या है यह सम्बन्ध सब?

आहाहा! मेरा-मेरा करके कितने वाळा? पैर में पानी का एक वाळा निकले तो चिल्लाहट मचाये। इसे तो स्त्रीवाला, पैसावाला, इज्जतवाला, मकानवाला, धूलवाला... कितने वाला तुझे लगे? आहाहा! वाळा नहीं (होता)? वह वाळा! पैर में जीवांत होती है न? हल्का पानी हो उसमें से पैर वाळा हो, उसकी बहुत पीड़ा होती है। यह एक वाळा में चिल्लाहट मचाये, यह तो कितने ही वाळे में चिल्लाहट नहीं मचाता,...

प्रभु यहाँ ऐसा कहते हैं, विश्व से विभक्त हो। इन सब चीज़ों से तू भिन्न है। सुखी हूँ, दुःखी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ—ऐसे भाव से तेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। आहाहा! **'विश्वात् विभक्तः अपि'** है? विश्व से अत्यन्त भिन्न। विश्व में सब आ गया। राग—दया, दान के परिणाम से लेकर यह सब विश्व—राग है, परवस्तु है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, हिंसा, झूठ का भाव, वह सब परवस्तु है। (वह) आत्मा का भाव नहीं—स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया? विश्व से भिन्न होने पर भी, (उसके साथ एकपना मानता है।)

भगवान तो **उसके कर्म के उदय से हुई समस्त पर्यायों से भिन्न है।** आहाहा! **भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव...** झूठी दृष्टि, झूठी पाखण्ड दृष्टि (जिसकी है), वह **जीव पर्याय में रत है,...** यह तो शरीर, वह मैं; वाणी, वह मैं; यह मैं... यह मैं... यह मैं... आहाहा! सूक्ष्म रीति से लें, तब तो इसकी एक समय की जो वर्तमान में पर्याय है न? पर्याय अर्थात् अवस्था। यह तो ठीक, यह शरीर, मन, वाणी आदि तो पर है, परन्तु एक समय की पर्याय है... सूक्ष्म बात है, प्रभु! त्रिकाली आत्मा भगवान, उसकी वर्तमान दशा जो वर्तमान विचार की अवस्था चलती है, वह एक समय की अवस्था है, उस अवस्था पर जिसकी दृष्टि है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। आहाहा! वस्तु अन्दर पूरी पड़ी रही। आनन्द का नाथ भगवान! आहाहा! सहजात्मस्वरूप चिदानन्द प्रभु! नित्यानन्द ध्रुव! वह पड़ा रहा और एक समय की वर्तमान अवस्था को स्वयं आत्मा माना। आहाहा! ऐसी बात है। और यह जगत की सुखी-दुःखी कल्पना को अपनी माना। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि जीव पर्याय में रत है, इसलिए पर्याय को आपरूप अनुभवता है। आहाहा! इस राग को, पुण्य को, पाप को और उसके फल को अपनेरूप जानता है और अनुभव करता है, (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! इन सबमें (अपनापना) मानने का कारण

तो इसका मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! वह कर्म के कारण मानता है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। भाई! हम क्या करें? ऐसे कठोर कर्म पड़े (कि) उनके कारण हमको यह सब होता है। यह झूठी बात है, कहते हैं। तूने उल्टी मान्यता तेरे कारण से की है, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

शरीर की जवानी फाटफाट हो, तीस-पैंतीस वर्ष की उम्र (हो), आहाहा! इन्द्रियाँ पुष्ट हो। आहाहा! तीन-तीन, चार-चार चूरमा के लड्डू चढ़ाता हो और अरबी हो, वे अरबी के पत्ते आते हैं न? घी में तले हुए (हो)। पत्तरवेलिया समझते हो? अरबी के पत्ते नहीं आते? फिर चने का आटा करके टुकड़े करके, टुकड़े करके, घी में सेंककर खाये। अरबी के पत्ते! यह लड्डू और अरबी के पत्ते खाकर ओ... (करे)! आहाहा! क्या हुआ तुझे यह? आज तो बस ऐई! पकवान ऐसा मिला! आज तो बादाम का मैसूर था। बादाम का मैसूर! समझ में आया? पिस्ता के पापड़! पिस्ता नहीं आते? पिस्ता अभी बहुत महँगे हैं, बादाम भी महंगी है। हमारे तो वहाँ दुकान में सब था। बादाम, पिस्ता बेचते थे। तब तो बारह आने की सेर बादाम थी। अभी तो कोई कहे, सवा सौ रुपये की किलो है, ऐसा कोई कहता था। उस बादाम का मैसूर और पिस्ता के पापड़! आहाहा! और ताजे द्राक्ष की सब्जी, (वह) खाता हो (तो) मानो... आहाहा! आज तो खाने में बहुत मजा आया, हों! अरे! परन्तु क्या हुआ तुझे यह? (खाते समय) राग किया था। राग किया था, उस (समय) तू तो दुःखी था, तो भी मुझे मजा आया—यह सब मिथ्यात्व बुलाता है। उल्टी श्रद्धा की यह पुकार है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह कहा, देखो! **अनुभवता है। ऐसे मिथ्यात्वभाव के छूटने पर....** आहाहा! ऐसा भाव छोड़े, उसे ज्ञानी और धर्मी कहा जाता है। आहाहा! है? **मिथ्यात्वभाव के छूटने पर ज्ञानी भी साँचा,...** ऐसा मिथ्यात्वभाव छूटने पर ज्ञानी (कहलाता है)। शास्त्र का बहुत जानपना किया, इसलिए ज्ञानी है, ऐसा नहीं परन्तु जिसे मैं क्रोधी, मानी, लोभी, रागी और पैसेवाला—यह भाव जिसे छूट गया है; मैं तो ज्ञानानन्द (स्वरूप) हूँ। आहाहा! मुझमें विकार भी नहीं और मुझमें परवस्तु का सद्भाव है ही नहीं। आहाहा! मैं तो आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, सत् शाश्वत् आनन्द और ज्ञान का सागर हूँ। आहाहा! मेरे अन्तर में आनन्द और ज्ञान परिपूर्ण भरे हैं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे यह मेरा और उसकी लीनता(रूप) मिथ्यात्वभाव छूट गया है। मैं तो ज्ञान

और आनन्दस्वरूप, वह मेरा स्वरूप है। ऐसा जो जाने, अनुभव करे, उसे ज्ञानी और धर्मी कहा जाता है। अरे... अरे...! भारी जवाबदारी! शर्तें बहुत कठिन! समझ में आया?

वे मुसलमान विवाह करते हैं न? देखा है? हमारे तो घर के पास मुसलमान (रहते) थे। उमराला में। फिर विवाह करे, तब उस वर को ऐसा बुलावे, पानी की मटकी कबूल? स्त्री के लिये तुमको पानी भर देना पड़ेगा, अमुक कर देना (पड़ेगा), ऐसा बोले। सब खबर है, हमारे घर के पास थे। हमारी माँ वहाँ की है न, इसलिए मुसलमान को हम मामा कहते और उसकी बहू को मौसी कहते और उसे मामा (कहते)। मेरी माँ उस गाँव की है न (इसलिए)। वहाँ उमराला (में) हमारा ननिहाल बड़ा, पैसेवाले थे। बहुत दुकानें, मकान, सब पैसेवाले। सब पायमाल (चौपट) समाप्त हो गया, सब गौशाला को दे दिया। पुत्र, पुत्री कोई नहीं है। इसलिए वहाँ विवाह करते थे तब वहाँ बैठे थे, छोटी उम्र की बात है। अमुक कबूल? कन्या के लिये आवश्यकता पड़े तो पानी की मटकी भी तुझे भर देनी पड़ेगी, कबूल? भाई! सुना था? मुसलमान के विवाह में ऐसा होता है। हमने तो सब देखा है। ....क्या कहा?

मुमुक्षु : कानी, कुबड़ी कबूल ऐसा पूछे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह सब... सब, चाहे जैसी हो। वह बाई रोगी हो तो कबूल? ऐसा सब कबूल करावे। अरे... अरे..!

इसी प्रकार यहाँ अज्ञानी कहता है, यह मेरा, यह मेरा ऐसा कबूल करके पड़ा है। अब तेरी वह कबूलात छोड़ दे, प्रभु! तुझे अब भटकना बन्द करना हो तो। आहाहा! मैं तो एक जाननेवाला-देखनेवाला चैतन्य हूँ। जाननेवाला-देखनेवाला भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा हूँ। परवस्तु मेरी है, वह मेरे स्वरूप में है नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। उसे यहाँ समकिती और ज्ञानी कहते हैं, लो!

जिसे राग मैं हूँ, पुण्य मैं हूँ, पाप मैं हूँ—यह दृष्टि छूट गयी है। आहाहा! यह १७२ श्लोक (पूरा) हुआ न? अब १७३। १७३ बहुत सरस श्लोक है। १७३, सन्तों की वाणी, दिगम्बर मुनियों की (वाणी), सनातन जैनदर्शन! आहाहा! अनादि का वीतरागदर्शन है, वह दिगम्बर दर्शन है, वह जैनदर्शन है। समझ में आया? आहाहा!

यह मुनिराज कहते हैं.... १७३ है न?

कलश - १७३

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ।।११-१७३।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'अमी सन्तः निजे महिम्नि धृतिं किं न बध्नन्ति' [अमी सन्तः] सम्यग्दृष्टि जीवराशि, [निजे महिम्नि] अपने शुद्धचिद्रूपस्वरूप में [धृतिं] स्थिरतारूप सुख को [किं न बध्नन्ति] क्यों न करे? अपितु सर्वाा करे। कैसी है निजमहिमा? 'शुद्धज्ञानघने' [शुद्ध] रागादिरहित, ऐसे [ज्ञान] चेतनागुण का [घने] समूह है। क्या करके? 'तत् सम्यक् निश्चयं आक्रम्य' [तत्] तिस कारण से [सम्यक् निश्चयं] निर्विकल्पवस्तुमात्र को [आक्रम्य] जैसी है, वैसी अनुभवगोचर कर। कैसा है निश्चय? 'एकं एवं' [एकं] निर्विकल्पवस्तुमात्र है, [एव] निश्चय से। और कैसा है? 'निःकम्पं' सर्व उपाधि से रहित है। 'यत् सर्वत्र अध्यवसानं अखिलं एव त्याज्यं' [यत्] जिस कारण से [सर्वत्र अध्यवसानं]-'मैं मारूँ, मैं जिलाऊँ, मैं दुःखी करूँ, मैं सुखी करूँ, मैं देव, मैं मनुष्य' इत्यादि हैं जो मिथ्यात्वरूप असंख्यात लोकमात्र परिणाम, [अखिलं एव त्याज्यं] वे समस्त परिणाम, हेय हैं। कैसा है परिणाम? 'जिनैः उक्तं' परमेश्वर केवलज्ञान विराजमान, उन्होंने ऐसा कहा है। 'तत्' मिथ्यात्वभाव का हुआ है त्याग, उसको 'मन्ये' मैं ऐसा मानता हूँ कि 'निखिलः अपि व्यवहारः त्याजितः एव' [निखिलः अपि] जितना है सत्यरूप अथवा असत्यरूप, [व्यवहारः] शुद्धस्वरूपमात्र से विपरीत, जितने मन-वचन-काय के विकल्प, वे सब [त्याजितः] सर्व प्रकार छूटे हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वोक्त मिथ्याभाव जिसके छूट गया, उसके समस्त व्यवहार छूट गया। कारण कि मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव, एक वस्तु है। कैसा है व्यवहार? 'अन्याश्रयः' [अन्य] विपरीतपना, वही है [आश्रयः] अवलम्बन जिसका, ऐसा है।।११-१७३।।

कलश - १७३ पर प्रवचन

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ।।११-१७३।।

'**सम्यङ्निश्चयमेकमेव**' आहाहा! देखा? पर की अपेक्षा बिना का '**सम्यक् एकं आत्मा**' आहाहा! आनन्द और ज्ञानस्वरूप ऐसा सम्यक् निश्चय एक। जिसे पर की, राग और व्यवहाररत्नत्रय की भी अपेक्षा नहीं। आहाहा! सम्यक् है न?

यह तो अपने (समयसार की) पाँचवीं गाथा में आया न? विज्ञानघन! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, दिगम्बर (धर्म) है, वह अनादि सनातन जैनदर्शन है। समझ में आया? श्वेताम्बर तो बाद में दो हजार वर्ष पहले इसमें से निकले हुए हैं और स्थानकवासी तो श्वेताम्बर में से पाँच सौ वर्ष पहले निकले और उसमें से दो सौ वर्ष पहले यह तेरापंथी तुलसी (निकले)। मूल सनातन दिगम्बर धर्म अनादि का है। समझ में आया? उसमें से फिर जैसे-जैसे श्रद्धा-भ्रष्ट होते गये, वैसे-वैसे सम्प्रदाय पड़ते गये। ऐसी बात है। उसमें यह आचार्य महाराज दिगम्बर सन्त कुन्दकुन्दाचार्य, उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त हजार वर्ष पहले हुए। वे पुकारते हैं। आहाहा!

'**अमी सन्तः निजे महिम्नि धृतिं किं न बध्नन्ति**' अरे! **सम्यग्दृष्टि जीवराशि...** देखा? उसमें (१७२ कलश में) 'यति' शब्द था, भाई! सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! (अर्थात् कि) धर्म की पहली सीढ़ीवाला, मोक्ष के महल की पहली श्रेणी सम्यग्दर्शन, चतुर्थ गुणस्थान है। आहाहा! श्रावक का पाँचवाँ (गुणस्थान है)। (अभी के श्रावक) वे कहीं श्रावक नहीं, वे सब तो सावज हैं! अभी मुनि हैं, वे मुनि नहीं। सूक्ष्म बात है, भगवान! क्या हो? बात आवे, तब तो सत्य बाहर आवे।

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव, वापस 'जीवराशि' कही। सम्यग्दृष्टि जितने हैं उतने **निज महिमा में अर्थात् अपने शुद्ध चिद्रूप स्वरूप में स्थिरतारूप सुख को क्यों न**

करे ? आहाहा! जिसे आत्मा का भान हुआ है, 'मैं शुद्ध चैतन्य आनन्द हूँ' ऐसा जो सम्यग्दृष्टि जीव, वह राग से पृथक् होकर अपने आनन्द में मग्न क्यों नहीं होते? आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, भाई! क्या कहा यह?

सम्यग्दृष्टि जीव **अपने शुद्ध चिद्रूप स्वरूप में...** आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु है। वह तो ज्ञान का सागर है। जानना... जानना... जानने के स्वभाव का अपरिमित सागर है। आहाहा! अरे! इसने कभी कहाँ देखा है? अन्दर अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का समुद्र प्रभु है। आहाहा! ऐसे आत्मा के शुद्धस्वरूप में, अरे! सम्यग्दृष्टि जीवो, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अपने शुद्ध चिद्रूप... चिद् अर्थातृ ज्ञानरूप। त्रिकाल शुद्ध ज्ञानरूप। ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... जैसे चन्द्रमा शीतल है, सूर्य प्रकाशमय है। उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानमय है। यह शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है, हों! अन्दर उसका स्वरूप ही ज्ञान है। ज्ञान के प्रकाश के नूर का तेज का पूर है। आहाहा! भगवान जाने कैसा होगा? किसे (खबर)? आहाहा! प्रभु! तुझे तेरी खबर नहीं। तू अन्दर में चैतन्य के तेज के नूर का पूर है। आहाहा! घोड़ापूर है! घोड़ापूर समझ में आता है? नदी में चारों ओर (पानी आवे)। (ऐसे) वर्षा न हो। हमारे तो छोटी उम्र में बहुत देखा हुआ है न! कालुभार (नदी में) लड़के खेलते हों, उसमें ऊपर से पानी आवे, इतना ऊँचा घोड़ापूर (आवे) ऊपर से दस इंच वर्षा आयी हो, इसलिए नहर-वहर सब इकट्ठे होकर इतना-इतना पानी ऐसे चला आवे, उसे घोड़ापूर कहते हैं। लड़कों को चिल्लाहट करे, निकल जाओ! ऐ.... ऊपर से घोड़ापूर आता है। यहाँ वर्षा (का) छांटा भी न हो परन्तु ऊपर बीसेक कोस-पच्चीसेक कोस (दूर) 'करियानाम' है, वहाँ आस-पास दस इंच वर्षा आयी हो (तो) इतना पानी चला आता हो। उस पानी के दल का जैसे पूर है... आहाहा! वैसे भगवान ज्ञान और आनन्द का अन्दर पूरा भरा है। किसे खबर?

अरे...! भगवान तू कौन है? भाई! जैसे कोठी में गेहूँ भरे हों, वैसे नहीं। (उसमें तो) गेहूँ चीज़ अलग और कोठी अलग। यह तो आत्मा में आनन्द और ज्ञान भरे हैं। आहाहा! क्या कहा? एक बार नहीं कहा था? नाम दिया था न? 'सुखदेव संन्यासी'।

आत्मा सुखदेव संन्यासी है। अर्थात्? आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का देव और जिसमें रागादि सबका त्याग है। आत्मा सुखदेव संन्यासी है! आहाहा! अरे! कहाँ मिले? अभी सुना नहीं। आहाहा!

ऐसा जो **शुद्ध चिद्रूप...** ऐसा कहा न? शुद्ध ज्ञानरूप स्वरूप। शुद्ध ज्ञानरूप स्व-रूप (अर्थात्) अपना रूप है। ज्ञान शुद्ध चिद्रूप अपना रूप है। आहाहा! उसमें '**धृतिम्**' धीरज से **स्थिरतारूप सुख को क्यों न करे? 'धृतिं किं न बध्नन्ति'** आहाहा! अरे रे! अन्दर स्वरूप है, उसमें धीरज से सुख में लीन (क्यों) न हो? होता है। आहाहा! जिसे राग और पुण्य और पुण्य के फल मेरे नहीं, ऐसी (उनमें अपनेपन की) दृष्टि छूट गयी है... आहाहा! मेरा तो आनन्द और ज्ञानस्वभाव, ऐसा मैं हूँ, ऐसा दृष्टिवन्त राग से भिन्न पड़कर अपने आनन्द में लीन क्यों न हो? ऐसा आचार्य (कहते हैं)। आहाहा!

अर्थात् क्या कहा? कि, अनादि से पुण्य और पाप के भाव में और उसके फल में लीन था, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव था। आहाहा! वह जब पुण्य और पाप के फल में से हट गया। वह दुःख था। दुःख में से हट गया तो भगवान आनन्दस्वरूप में लीन हुआ। आहाहा! समझ में आया? समझ में आया, कहा न? समझ में आये, तब तो ठीक, परन्तु किस पद्धति से कहा जाता है, (वह) समझ में आया? वह रीति-पद्धति कुछ समझ में आती है? आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ सन्त द्वारा यह बात कहलाते हैं। आहाहा! सन्त-दिगम्बर मुनि ऐसा कहते हैं, वे ही (सच्चे) मुनि आचार्य हैं।

अरे रे! पर का रागादि का त्याग करके स्वरूप की दृष्टि में आत्मा में सुख भरा है, उसमें आत्मा को लीन क्यों नहीं करते? आहाहा! जहाँ वस्तु पड़ी है, वहाँ लीन क्यों नहीं होते? और जिस वस्तु में दूसरी वस्तु है नहीं, उसमें तूने अनन्त काल से लीनता की है। समझ में आया? आहाहा! क्या करना इसमें? यह करना, ऐसा कहते हैं। परवस्तु (को) अपनी मानना छोड़कर स्ववस्तु अपनी मानकर उसमें एकाग्र होना, वह करने का है। आहाहा! है?

स्थिरतारूप सुख को क्यों न करे? अपितु सर्वथा करे। भाषा देखो! आहाहा! कहते हैं कि धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! पर को अपना मानने का मिथ्यात्व का

जिसने नाश किया है और स्व को अपना मानने की दृष्टि जिसने प्रगट की है... आहाहा! उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि—धर्मी—धर्म की पहली सीढ़ी की श्रेणीवाला कहा जाता है। आहाहा! वह अन्दर स्थिरता क्यों न करे? सर्वथा करे। आहाहा! जैसे (मिथ्यात्व अवस्था में) बाहर (स्थिरता) करता (था), पुण्य-पाप के विकल्प में लीन होता था, वह मिथ्यात्व भाव था। उसे छोड़कर अब इसमें लीन होता है, वह सम्यक् भाव है। अरे... अरे! समझ में आया? है? देखो!

सर्वथा करे। आहाहा! अर्थात् क्या कहते हैं? किसी भी अंश के राग को इकट्ठा न रखकर... आहाहा! स्वयं आनन्दस्वरूप प्रभु है, वहाँ सर्वथा एकाग्रता करे ही। आहाहा! कथंचित् करे और कथंचित् न करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! भले वह सम्यग्दर्शन में है, परन्तु वह स्वयं अपने स्वरूप में लीनता करे, राग की लीनता छोड़ दे। आहाहा! ऐसा है। यह तो वीतराग का मार्ग ऐसा होगा? वीतरागमार्ग में तो छह काय की दया पालना और हरितकाय नहीं खाना और क्या कहलाता है....? छह परबी ब्रह्मचर्य पालना, रात्रि में आहार नहीं करना। ऐसी बातें सुनते थे, बापू! तुमने और ऐसा नया कहाँ से निकाला? नया नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं। अनादि का मार्ग यह ही है। आहाहा! यह मार्ग तूने सुना नहीं, इसलिए तुझे नया लगता है। अनादि का परमात्मा तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर का पन्थ तो यह है, प्रभु! आहाहा!

टीकाकार की भाषा कैसी है! कि अरे रे! जिसे बाहर के रागादि का दृष्टि में त्याग हुआ है... आहाहा! चाहे तो दया, दान का राग हो परन्तु वह राग है। आहाहा! उसका भी जिसे अन्दर में त्याग हुआ है—वह मैं नहीं। तब मैं कौन? कि मैं तो शुद्ध चिद्रूप ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। आहाहा! ऐसी चीज़ में स्थिरता क्यों न करे? जैसे पर में अनादि से अज्ञान में स्थिरता करता था, तो फिर जब दृष्टि गुलांट खाती है, पलटा मारती है... आहाहा! तो अपने में लीन क्यों न हो? सर्वथा हो। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल ११, बुधवार, दिनांक-२१-१२-१९७७, कलश-१७३, प्रवचन-१८१

कलशटीका, १७३ कलश (चलता) है। क्या चलता है यह? कि यह जो आत्मा है न? देह से भिन्न। आत्मा जो है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् अर्थात् शाश्वत्, उसमें ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। कभी अभ्यास (नहीं किया) कि अन्दर क्या चीज़ है?

आत्मा अन्दर जिसे आत्मा कहते हैं, वह तो आनन्दकन्द प्रभु ज्ञानानन्दस्वरूप है। आहाहा! उस आत्मा का ज्ञान अनन्त काल में अनन्त बार (अनन्त) भव हुए, परन्तु अभी किया नहीं। अनन्त भव किये, चौरासी लाख योनि में अनन्त बार अवतरित हुआ। कौआ, कुत्ता, नारकी (बना), ऐसे अनन्त भव किये। मनुष्य के भी अनन्त काल में अनन्त भव किये।

मुमुक्षु : अभी याद नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : याद नहीं, इसलिए कहीं नहीं थे, ऐसा न्यालभाई! (कैसे कहा जाये)? भाई! जन्मने के बाद माता ने छह महीने (तक) क्या पिलाया, क्या (किया) यह याद है? यह जन्मने के बाद शरीर को छह महीने या बारह महीने हुए, (तब) उसने क्या पिलाया? कैसे रोया, यह कुछ खबर है? खबर नहीं, इसलिए नहीं था, ऐसा कैसे कहा जाये? समझ में आया? जन्मने के बाद छह महीने, बारह महीने में कैसे हुआ, उसकी इसे अभी कुछ खबर नहीं, परन्तु था तो सही या नहीं? इसे याद नहीं, इसलिए नहीं था, ऐसा कैसे कहा जाये? इसी प्रकार यह आत्मा देह से भिन्न अनादिकाल से चौरासी लाख योनि में भटकता है, परिभ्रमण (करके) दुःखी होकर भटकता है। उसके इसने अनन्त भव किये। याद नहीं, इसलिए नहीं थे—ऐसा कैसे कहा जाये? परिभ्रमण करते-करते अनन्त काल हुआ। आहाहा!

अब, यहाँ ऐसा कहते हैं, सूक्ष्म बात है, प्रभु! जिसे आत्मज्ञान करना हो... आहाहा! आत्मा जो वस्तु है, उसका ज्ञान। जगत के ज्ञान-बान को भूल जा और एक बार आत्मा क्या है, उसका ज्ञान कर तो तुझे जन्म-मरण मिट जायेंगे और आत्मा के आनन्द की (आनन्दरूप) मुक्ति होगी। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, देखो!

फिर से लेते हैं। **सम्यग्दृष्टि जीवराशि...** आहाहा! जिसने आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप (है, उसका भान किया, वह सम्यग्दृष्टि जीवराशि)। दृष्टान्त नहीं दिया था? शक्करकन्द है न? यह अपने (गुजराती में) शक्करिया कहते हैं न? शक्करकन्द... शक्करिया। उसकी ऊपर की लाल छाल है, उसे न देखो तो अन्दर अकेला शक्करकन्द है। शक्कर अर्थात् चीनी की मिठास का पिण्ड भरा है। निहालभाई! क्या कहा? यह शक्करिया... शक्करिया अपने काठियावाड़ में नहीं कहते? वह शक्करकन्द है। उसकी एक जरा लाल छाल न देखो तो लाल छाल के अन्दर शक्करकन्द—शक्कर की मिठास का पिण्ड है। इसलिए उसे शक्करकन्द—शक्करिया कहा जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा (आनन्द का कन्द है)। सूक्ष्म बात है, भाई! कभी अभ्यास नहीं किया।

अन्तर में यह शरीर से भिन्न है। अन्दर में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, दया, दान, भक्ति, व्रत आदि के भाव (होते हैं), वह पुण्यभाव है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, संसार के कामभोग आदि के भाव (होते हैं) वह सब पाप वासना है। वह पाप और पुण्य (के भाव हैं), वह छाल है, वह लाल छाल है। अन्दर में भगवान आत्मा... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का वह कन्द है। उसे कब खबर नहीं। अनन्त काल हुआ। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर दल है। आहाहा! जैसे शक्करकन्द है, जैसे शक्करिया शक्कर की मिठास का पिण्ड है, उसी प्रकार यह अतीन्द्रिय आनन्द (का कन्द है)। यह इन्द्रिय से जो सुख मानता है, भोग में, विषय में, पैसे में—धूल में यह (सुख की) कल्पना मानता है, वह तो दुःख है, राग है, विकार है। आहाहा! उससे अन्दर रहित शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु है... आहाहा! उसकी दृष्टि करके जिसे अनुभव हुआ है कि यह आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञानमूर्ति प्रभु है। आहाहा! प्रज्ञाब्रह्म! ज्ञान और आनन्द का यह कन्द प्रभु है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, शान्तिभाई! यह तुम्हारे लाखों रुपये और करोड़ों रुपये धूल...! धूल में यह फँस गया है। क्यों? मधुभाई! धूल कहाँ इसके बाप की थी? वह तो जड़ है, मिट्टी है—धूल है। यह भी मिट्टी है—यह शरीर मिट्टी है—राख होती है। इसकी श्मशान में राख होगी। यह कहीं आत्मवस्तु नहीं है।

अन्दर आत्म सच्चिदानन्द—सत् अर्थात् शाश्वत् अकृत्रिम, अविनाशी ऐसा

भगवान... आहाहा! अखण्ड आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी का सागर है। उसका जिसे भान होता है... आहाहा! अनन्त काल में उसका भान किया नहीं, उसका इसने ज्ञान (किया नहीं)। अन्दर यह चैतन्यस्वरूप है, वह पुण्य और पाप के विकारी विकल्पों से भिन्न है, ऐसा भान हो, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसे यहाँ धर्म की शुरुआत करनेवाला कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! आहाहा!

अन्यमत में नरसिंह मेहता नहीं कहते? 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्ह्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी' जब तक आत्मा तत्त्व अन्दर कौन है प्रभु? उसका जो अन्तर ज्ञान न करे और उसे न जाने और न अनुभव करे, तब तक साधना—यह दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा के सब भाव निरर्थक है, वे आत्मा के कल्याण के लिये नहीं हैं। आहाहा! कठिन बात है, भाई! जन्म-मरणरहित होने का उपाय कोई अलौकिक है! इसने सुना नहीं। सुना हो तो अन्दर उसकी रुचि नहीं की। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **सम्यग्दृष्टि जीवराशि...** आहाहा! कैसा है? कि **निज महिमा में अर्थात् अपने शुद्ध चिद्रूप स्वरूप में...** आहाहा! जो अनादि से शुभ और अशुभराग, पुण्य-पाप के भाव राग हैं, उनमें अनादि से लीन है... आहाहा! वह दुःखी है। वह चार गति के परिभ्रमण में घाणी के बैल जैसे घूमता है, वैसे यह चौरासी के अवतार में घूमता है, प्रभु! आहाहा! इसे जब यह निज महिमा प्रभु... आहाहा! है? **निज महिमा में...** (अर्थात्) शुद्ध चिद्रूप में। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अनन्त काल में अनजाने मार्ग की बातें हैं, प्रभु! आहाहा! बाकी तो भक्ति, पूजा, व्रत और तप अनन्त बार किये। वह तो सब राग की क्रिया है, वह आत्मज्ञान नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **निज महिमा...** शुद्ध चैतन्यघन प्रभु, जैसे स्फटिकरत्न होता है, वैसे अन्दर चैतन्य निर्मल स्फटिकरत्न है। आहाहा! ऐसे निज स्वरूप में जिसने महिमा (सहित) स्थिरता की है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो 'स्थिरता' ऐसा शब्द है न? **स्थिरतारूप सुख को क्यों न करे?** आहाहा! यहाँ यह देह तो मिट्टी—धूल है। माटी नहीं कहते? कील लगे... कील, लोहे की कील या नोंक (लगे) तो लोग कहते हैं कि मुझे पानी छुआना नहीं, मेरी मिट्टी पकाऊ है। ऐसा कहते हैं। भाषा कहते हैं,

(परन्तु) भान कहाँ है ? मेरी मिट्टी पकाऊ है। यह मिट्टी है, यह ! इसे किल लगी हो या नोंक लगी हो तो (ऐसा कहे कि) भाई ! इसे पानी छुआना नहीं। मेरी मिट्टी पकाऊ है (तो) पक जायेगी। एक ओर मिट्टी कहे तथा एक ओर अपना कहे ! भाई ! तुझे खबर नहीं। यह तो जड़, मिट्टी, धूल है। यह तो श्मशान की राख होगी, वह चीज़ है।

अन्दर भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु भिन्न है। देहदेवल में... आहाहा ! आनन्द का कन्द प्रभु ! ऐसा जिसे भान हुआ है, वह कहता है कि अनादिकाल से जो पुण्य और पाप के शुभाशुभ विकल्प—भाव में स्थिर था, (उसे) अब यहाँ भान हुआ तो निज महिमा में स्थिरता क्यों न करे ? ऐसा कहते हैं। आहाहा ! जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान दृष्टि में, अनुभव में आवे, वह अन्दर स्थिरता क्यों न करे ? ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! दुनिया में तो सब बाहर की धमाधम चलती है। यह तो अन्तर के आत्मा के ज्ञान की बातें हैं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, अरे ! जिसने यह आत्मस्वरूप चिदानन्द शुद्ध है, उसकी महिमा जानी है और राग तथा पुण्य-पाप की महिमा जिसके हृदय में से उड़ गयी है और पुण्य के फलरूप से यह पैसा—धूल मिले, पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ (मिले), उस मिट्टी की महिमा जिसे उड़ गयी है... आहाहा ! और अन्दर चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ प्रभु है, उसमें जिसकी महिमा आयी है, वह अन्दर स्थिरता क्यों न करे ? आहाहा ! सूक्ष्म है, भाई ! अनन्त काल से इसने आत्मज्ञान किया नहीं। इसके बिना सब (व्यर्थ है)। आत्मज्ञान कहो या सम्यग्दर्शन कहो। ज्ञान की अपेक्षा से आत्मज्ञान (कहा जाता है और) दर्शन की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन (कहा जाता है)। आहाहा !

जिसे यह आत्मा देहदेवल के यह परमाणु, यह मिट्टी है, इनसे अन्दर भिन्न चीज़ है, उसकी जिसे अन्दर में महिमा आयी और जिसे पुण्य और पाप के फल की महिमा उड़ गयी है, भले बड़ा चक्रवर्ती का राज हो परन्तु धर्मी को उसकी महिमा उड़ गयी है। वह सब धूल है, (ऐसा लगता है)। भगवान अन्दर ज्ञानानन्द प्रभु, आहाहा ! उसे अन्तर में जानकर, यह आत्मा शुद्ध चैतन्य है, पवित्र है... आहाहा ! ऐसा जिसने ज्ञान में जाना, वह अब अन्दर में स्थिरता क्यों न करे ? ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात तो है, प्रभु ! आहाहा !

बाहर की भक्ति, पूजा, व्रत आदि के भाव, वह सब राग है—ऐसा कहते हैं। वह वृत्ति का उत्थान (होता है)—वृत्ति उठती है। वह वस्तु का स्वरूप नहीं। आहाहा! अन्दर में जो आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु (विराजता है), उसका जिसे ज्ञान हुआ। आहाहा! वह **स्थिरतारूप सुख...** देखो! भाषा क्या है? अतीन्द्रिय सुखस्वरूप प्रभु है, ऐसा जिसे ज्ञान हुआ, वह अन्दर सुख में स्थिरता क्यों न करे? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह (अज्ञानी जीव) पुण्य और पाप के भाव में अनादि से स्थिरता करता है। आहाहा! पैसे मेरे, स्त्री मेरी, पुत्र मेरे, परिवार मेरा... मर गया, वे तेरे कहाँ थे? वह तो भिन्न चीज़ है। उसकी ममता में जैसे स्थिर होकर दृढ़ हो गया है... आहाहा! अरे! भूल गया, भूल पूरा! आहाहा! अरे! उसकी स्थिरता में जैसे दृढ़ता थी कि मैं यह हूँ, स्त्री मैं, परिवार मैं, पैसा मैं, इज्जत, पैसा सब मेरे—ऐसी ममता में जो दृढ़रूप से स्थिर था, वह मूढ़ चौरासी के अवतार में भटकता था। आहाहा!

अब, कहते हैं कि जिसे यह आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, पवित्रता का पिण्ड है, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है... आहाहा! समुद्र होता है न, समुद्र? पानी का भरा हुआ महासमुद्र! उसके किनारे चार हाथ कपड़ा आड़े हो तो मनुष्य की नजर उस वस्त्र पर जायेगी। क्योंकि स्वयं चार हाथ का ऊँचा और वहाँ कपड़ा (भी चार हाथ का हो, इसलिए उसे) पूरा समुद्र नहीं दिखता। समझ में आया? उसी प्रकार... यह तो दृष्टान्त है। इसी प्रकार जिसे अन्दर में पुण्य और पाप के भाव के राग की जिसने आड़ मारी है, वह पाप के भाव और पुण्य के भाव की रुचि में पड़ा है, उसकी आड़ में अन्दर भगवान आनन्द का नाथ जलहल ज्योति चैतन्यसागर (विराजता है वह) उसकी नजर में एक आता नहीं। समझ में आया? ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! शरीर मेरा, पुण्य मेरे, पाप मेरे ऐसी मान्यता की आड़ में भगवान अन्दर समुद्र है, अन्दर आनन्द का सागर है, वह उसे नजर में नहीं आता। आहाहा! परन्तु जिसने उसे नजर में लिया... ऐसा कहते हैं, समझ में आया? आहाहा! बातें ऐसी हैं, बापू! आहाहा!

अन्तर वस्तु आत्मा...! देह छूटे तब लोग कहते हैं न? ऐ... जीव निकल गया! देह छूटे (तब) जीव निकल गया, ऐसा कहा न? या जीव मर गया, (ऐसा कहते हैं)?

जीव मरे? आत्मा कहो या जीव कहो, वह तो अनादि-अनन्त शाश्वत् वस्तु है। वह मरता नहीं, जन्मता नहीं। शरीर का संयोग हो, तब अज्ञानी ऐसा कहता है कि यह जन्मा, शरीर का वियोग हो, तब कहता है कि मर गया। वह तो शरीर का संयोग और वियोग हुआ। आत्मा तो अनादि-अनन्त नित्य शाश्वत् वस्तु है। आहाहा! ऐसी चीज़ का जिसे अन्तर में अनुभव में भान होकर महिमा आयी... आहाहा! उसे बाहर के सब पदार्थों की महिमा उड़ गयी। वह अन्दर में स्थिरता क्यों न करे? यह क्या कहते हैं? टीका में यह शब्द प्रयोग किया है। **स्थिरतारूप सुख को क्यों न करे?** आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, वह आनन्द को क्यों न अनुभव करे? ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई!

जगत को जानते हैं न! जगत किस प्रकार से है, यह सबको जानते हैं। ६४ वर्ष तो दीक्षा लिये हुए। परसों नौवीं को ६५वाँ (वर्ष) लगा। उमराला... उमराला। हमारे उमराला के पटेल आये हैं। हमारे जन्मगाँव के पटेल आये थे। मागसर शुक्ल नौवीं (संवत्) १९७० (के दिन) हाथी के हौदे उमराला में तब दीक्षा थी। उसे ६४ वर्ष हुए, दीक्षा लिये ६४ (वर्ष) हुए। यह मागसर शुक्ल नौवीं को ६५वाँ लगा। इस शरीर को ८८ (वाँ वर्ष) चलता है। नब्बे में दो कम। साड़े तेईस वर्ष में घर से दीक्षा ली थी। बड़े भाई ने घर से दीक्षा दी थी। उमराला! हमारा जन्मगाँव उमराला है न? आहाहा! सब देखा, व्यापार भी किया और व्यापार भी देखा। पालेज! हमारी दुकान पालेज में है न? आहाहा! बापू! यह मार्ग कोई अलग प्रकार का है।

मुमुक्षु : एक वकालत नहीं की।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब वकीलों को देखा है। आहाहा!

आहाहा! यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं, सर्वज्ञ परमात्मा जगत को प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! तू अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, ऐसा निश्चित कर, निर्णय कर! तू राग नहीं, पुण्य नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, यह देश-बेश नहीं। आहाहा! तेरा देश तो अन्दर है न प्रभु! आहाहा! जिसमें अनन्त शक्तियाँ बसी हुई हैं। वस्तु है न? वस्तु! तो वस्तु में अनन्त गुण—शक्तियाँ बसी हुई हैं, अन्दर रही हुई है। आहाहा! ऐसे आत्मा की जिसे महिमा आयी, अब कहते हैं, वह सुख को क्यों न करे? अर्थात् क्या? वह आत्मा के आनन्द के अनुभव में क्यों न जाये? आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, बापू! यह तो खबर है न! आहाहा!

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं, एक बार सुन तो सही, भाई! आहाहा! छोटी छोटी उम्र में देखो न मर जाते हैं। आहाहा! छोटी छोटी उम्र में देह छूट जाती है। आयुष्य थोड़ा हो तो बीस वर्ष की उम्र में देह छूट जाती है। जितना आयुष्य हो, उतना रहे। उसमें एक समय बढ़े नहीं और घटे नहीं। आहाहा! इससे पहले आत्मा कौन है? यदि उसे जाना नहीं और उसकी महिमा न आयी तो अन्दर अनुभव में वह नहीं जा सकेगा। अन्तर में सुख के अनुभव में नहीं जा सकेगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह बाहर के तो सब दुःख के अनुभव हैं, बापू! यह विषय और भोग, स्त्री, कुटुम्ब, खाना-पीना और कमाना... धूल के पैसे इकट्ठे करना (वह तो दुःख का अनुभव है)। मधुभाई! इन मधुभाई को जानते हो न? एक लाख रुपये दिया थे न? भावनगर। एक लाख दिये थे। बीस हजार अभी यहाँ शास्त्र की रचना में दिये थे। वह तो धूल है। लाख हो या करोड़ हो, मिट्टी है।

आहाहा! अन्दर चैतन्यप्रभु, निर्मलानन्द सच्चिदानन्द प्रभु... सच्चिदानन्द (कहा वह) स्वामीनारायण कहते हैं, वह नहीं, हों! यह तो आत्मा स्वयं सत् शाश्वत् चिद् और ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है। ऐसे सब आत्मायें एक जाति के ही अन्दर हैं। (उसकी) जिसे महिमा आयी... आहाहा! वह सुख को क्यों न करे? बहुत सरस बात है! आहाहा! यह अन्तर आत्मा के आनन्द में अनुभव में क्यों न जाये? आहाहा! बाहर के पुण्य-पाप के अनुभव में से हटा और अन्दर आनन्द के दरबार में आया, वह आनन्द को क्यों न अनुभव करे? आहाहा! भाषा तो देखो!

यहाँ तो पाँच-पच्चीस लाख मिले, धूल मिली वहाँ (मानता है कि) हम सुखी हैं। धूल में भी सुखी नहीं, सुन न! कैसे होगा? शान्तिभाई! धूल में भी कहीं सुख नहीं। यह करोड़ोंपति बैठे। यह सेठ करोड़पति है। सब करोड़पति हैं, करोड़ों रुपये हैं। धूल में भी वहाँ करोड़ (रुपये में) सुख नहीं। अरे! उसमें तो नहीं, परन्तु शरीर में सुख नहीं। यह तो मिट्टी है। इसमें तो नहीं परन्तु पाप के परिणाम जो हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, कमाना, कमाना ऐसे भाव पाप है, उनमें भी सुख नहीं है। वह तो दुःख है। उसमें तो नहीं परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव पुण्य हैं। उस पुण्य में दुःख है, सुख नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सुख तो अन्दर आत्मा में है, भाई! जैसे शक्करकन्द में कहा न अन्दर? (वैसे)। आहाहा!

नारियल है न? अपने यह नारियल नहीं? नारियल में चार बोल हैं। एक ऊपर की छाल, अन्दर की काचली, उस काचली की ओर की लाल छाल और लाल छाल के अन्दर में सफेद, मीठा गोला। यह चार बोल हैं। उसी प्रकार इस आत्मा में... ध्यान रखो। यह शरीर है, वह ऊपर की छाल है और अन्दर पुण्य-पाप के भाव किये हुए, उसका अन्दर कर्म बँधा हुआ है, कर्म! यह साता का उदय हो तो धूल मिले, पाप का उदय हो तो दरिद्र हो। यह जड़ कर्म है। वह अन्दर कर्म की काचली है। और काचली के ओर के यह पुण्य-पाप के भाव हैं, वह लाल छाल है। आहाहा! और लाल छाल के अन्दर में जैसे सफेद मीठा गोला है, उसी प्रकार यह आत्मा अन्दर सफेद / शुद्ध मीठा गोला अन्दर है। किसे खबर है कहाँ है यह? आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यह बहिनें बनाती है न? खोपरापाक। तब उसे छाल को निकाल डाले न? खोपरे के ऊपर वह लाल छाल होती है न? लाल छाल। (उसे) घिस डालते हैं। फिर खोपरा सफेद होता है न? उसी प्रकार आत्मा में पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), वे लाल छाल जैसे मैल हैं। आहाहा! उनसे भिन्न अन्दर भगवान, जैसे वह नारियल का सफेद और मीठा गोला है, उसी प्रकार यह शुद्ध, सफेद, निर्मल और आनन्द का गोला है। उसका जिसे भान हो, वह अन्दर में सुख का अनुभव क्यों न करे? कहते हैं। ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : कहाँ होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखे तब न! परन्तु नजर पड़े बिना (कैसे दिखायी दे)? नजरें वहाँ निधान में डालता नहीं। और नजर बाहर में घुमाया करता है। धूल में, पुण्य में और पाप में (नजर है)। आहाहा! शान्तिभाई! जवाहरात के धन्धे, लो! यह सब झबेरी हैं। जवाहरात के धूल के धन्धे। आहाहा!

हीरा अन्दर चैतन्य हीरा भगवान, उसकी कीमत नहीं (ऐसी) अमूल्य चीज़ है। आहाहा! उसका जिसे अन्तर में गुरुगम से समझकर भान हुआ है... आहाहा! यहाँ तो ऊँची बात है न? प्रभु! कहते हैं कि, उस वस्तु की जिसे अन्दर महिमा आयी, वह अब सुख का अनुभव क्यों न करे? भगवानजीभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

देखो न, यहाँ थोड़े महीने पहले सेठ आये थे। चालीस करोड़ रुपये! साहूजी— साहूजी शान्तिप्रसाद यह पोपटभाई है, वहाँ कुर्सी में बैठे थे। चालीस करोड़! आवे, यहाँ तो व्याख्यान में बहुत सब आते हैं। दो दिन में मर गये। चालीस लाख का तो दिल्ली में बँगला है। हम वहाँ गये हैं। सब देखा है न! हिन्दुस्तान में दस हजार मील तीन बार घूमे हैं। आहाहा! फू... उसके बँगले पड़े रहे, चालीस करोड़ रुपये पड़े रहे। आहाहा! कहाँ उसकी चीज़ थी, वह साथ आवे? आहाहा! निहालभाई! पहिचाने न? साहूजी शान्तिप्रसाद! अभी आये थे, यहाँ बैठे थे। तीन व्याख्यान सुने। खास सुनने के लिये आये थे। सुनने के लिये खास आये थे। यहाँ सुनने का प्रेम (था), निर्णय नहीं था। धूल में फँस गये। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जिसे उस पर की महिमा उड़ गयी है। चाहे तो अरबों रुपये हों और बड़े चालीस-चालीस लाख के बँगले (हो, वे) सब धूल के बँगले हैं। चैतन्य बँगला अन्दर भगवान विराजता है... आहाहा! उसका जिसे स्वरूप-सन्मुख होकर भान होता है, वह जीव सुख को क्यों न अनुभवे? आहाहा! वह दुःख का नाश क्यों न करे? ऐसा कहते हैं। है? मुझे तो यहाँ 'सर्वथा' (शब्द) जहाँ (आता) है, वहाँ ले जाना है। इसलिए फिर से लिया। क्या कहते हैं? देखो!

स्थिरतारूप सुख को क्यों न करे? अपितु सर्वथा करे। यहाँ ले जाना है। **सर्वथा करे।** क्यों लिया है? कि जैसे यह सर्व पदार्थों के प्रति राग में टिकता (था)— राग (से) लेकर, पुण्य-पाप के भाव से लेकर, शरीर, वाणी, मन, यह सब बाहर की चीज़ें, इनमें जो स्थिरता करता था, सर्व पदार्थों को अपने में मानकर (सिरिता करता था), उनमें करता था तो अब स्वरूप में स्थिरता क्यों न करे? कहो, समझ में आया? आहाहा! परन्तु क्या चीज़ है, उसका ज्ञान नहीं होता, भान नहीं होता, वहाँ स्थिरता कहाँ से करे? भटकने के भाव में स्थिरता कर रहा है, कहते हैं। आहाहा! कोई दे देवे, ऐसा है? उसके पास पड़ा है। अन्दर स्वयं है। आहाहा! है, उसे प्राप्त करना है। प्राप्त की प्राप्ति है। है उसे प्राप्त करना है। नहीं है, उसे प्राप्त करना है? आहाहा! अरे! क्या हो? इसने मनुष्यपना अनन्त बार किया। आहाहा!

यहाँ तो अधिक शब्द क्या है? **क्यों न करे? अर्थात् सर्वथा करे।** आहाहा! अर्थात्? जैसे सब्र प्रकार से राग और द्वेष और उनके फल में जैसे एकाकार हो जाता था, अब जिसने आत्मा—अन्तर मेरा स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है, अनन्त काल में मैंने जाना नहीं था, अनन्त काल में अनुभव नहीं किया था... आहाहा! ऐसा जिसे अन्तर में ज्ञान हो, वह अन्तर सुख के अनुभव को सर्वथा करे। किंचित् दुःख को भी नहीं वेदे। आहाहा! यहाँ वजन देना है। आहाहा!

सर्वथा करे। है न? यहाँ तक कल आया है। यहाँ तो सर्वथा, सर्व प्रकार से। सर्वथा अर्थात् सर्व प्रकार से। आहाहा! ऐसा उपदेश किस प्रकार का? बापू! मार्ग यह है, भाई! यह आत्मज्ञान बिना (दूसरा सब) व्यर्थ है। आहाहा! और जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ, वह अन्दर सर्वथा प्रकार से सुख को क्यों न वेदे? आहाहा! समझ में आया?

अब (कहते हैं), **कैसी है निजमहिमा?** स्वयं वस्तु अन्दर कैसी है? आहाहा! '**शुद्धज्ञानघने**' शुद्ध ज्ञानघन! जैसे श्रीफल सफेद और मीठा गोला है, वैसे यह देह में भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानघन है। ज्ञान का पुंज है। आहाहा! यह ज्ञान का 'भर' है। यह शब्द शास्त्र में आता है। अपने यहाँ नहीं कहते? (कि) गाड़ा में भर भरा। कहते हैं या नहीं? भर... भर! शास्त्र में यह शब्द आता है। इसी प्रकार आत्मा भर—अनन्त गुण का भर—समूह भरा है। यह गाड़ा भरे, तब नहीं कहते? भर भरा। सब सुना है न! और हमारा जन्म गाँव (उमराला में) तो कणबीवाड में घर था। कणबीवाड में। आसपास सब किसानों को जानते थे। परन्तु ७५ वर्ष से ऊपर हो गये। तेरह वर्ष में तो उमराला छोड़ दिया था। पालेज, दुकान थी न? आसपास सब किसान रहते थे। हमारे ननिहाल का गाँव (इसलिए) सबको मामा कहते थे। बड़े-बड़े वृद्ध थे न, (इसलिए)। आहाहा! भर भरते। इसी प्रकार यह आत्मा आनन्दसागर का अन्दर भर है! अरे! परन्तु कैसे जँचे? सुनने को मिले नहीं, वह विचार कब करे? आहाहा! समझ में आया? यह भरोटा नहीं भरते? उसी प्रकार आत्मा में अनन्त... अनन्त शुद्ध ज्ञानघन, वह तो पवित्र आनन्द के ज्ञान का समूह है। आहाहा!

जैसे रुई से गाँठ भरी हुई हो, गाँठ! उसी प्रकार आत्मा आनन्द और ज्ञान से

भरपूर एक गाँठ (पिण्ड) है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ (सुनने को मिले)? समझ में आया? निहालभाई! यह सब कभी वहाँ सुना भी नहीं। वहीं की वहीं संसार की होली सुलगती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, शुद्ध ज्ञानघन! **रागादि रहित...** जिसमें—वस्तु में पुण्य-पाप का राग नहीं। जैसे उस सफेद गोले में लाल छाल नहीं, काचली नहीं, लाल छाल नहीं और और ऊपर की छाल नहीं। उसी प्रकार अन्दर भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानघन है, उसमें लाल छाल—राग नहीं। आहाहा! आहाहा! इसे निवृत्ति कहाँ है? संसार के काम के कारण इसे फुरसत नहीं मिलती। एक क्षण में मर जायेगा! आहाहा!

आज सुना नहीं? बेचारी एक लड़की मर गयी, कहते हैं। अकस्मात् (हो गया)। (कोई) भाई कहते थे। वींछिया नगीनभाई है न? नगीनभाई के पुत्र की बहू। दो वर्ष की विवाहित। चाहे जो हुआ, आठ महीने का लड़का था। मर गयी। क्या हुआ कुछ समाचार नहीं। ....बीस-बाईस वर्ष की उम्र होगी। .... आहाहा! कौन जाने (क्या हुआ)? आज तार (आया) है। मर गयी, क्या हुआ कुछ खबर पड़ती नहीं। आहाहा! यह देह! ऐसे के ऐसे अनन्त बार छोड़े हैं। .... यह तो सवेरे सुना था। आहाहा! यह मनुष्यपना मिला, चला गया। समाप्त। आहाहा! अनन्त काल में मनुष्यपना मिले उसमें ऐसे अवतार यों ही चले जायें। आहाहा! करने का न करे, नहीं करने का करके भटक मरे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, शुद्ध ज्ञानघन है। आहाहा! शुद्ध शब्द प्रयोग किया। पुण्य और पाप के भाव से भगवान अन्दर भिन्न है। क्योंकि जब आत्मा का मोक्ष हो, तब पुण्य-पाप रहते नहीं। इसलिए वह पुण्य-पाप इसके स्वरूप में है नहीं। आहाहा! **रागादिरहित ऐसे चेतनागुण का समूह है।** चेतना... चेतना... चेतना... चेतना... जानना-देखना, प्रज्ञाब्रह्म स्वरूप भगवान। वह तो प्रज्ञा और ज्ञान का समूह है। आहाहा! ऐसी बात है। है?

क्या करके? 'तत् सम्यक् निश्चयं आक्रम्यं' तिस कारण से निर्विकल्प वस्तुमात्र को जैसी है वैसी अनुभवगोचर कर। आहाहा! जैसी वह चीज़ है, उसे अनुभवगम्य करके (अर्थात्) उसे अनुसरकर अनुभव होना। जो यह पुण्य और पाप के भाव और यह पर मेरे, यह ममता का जो अनुभव है, वह अनुभव दुःखदायक है। अन्दर भगवान

आत्मा का अनुभव, आनन्द का अनुभव करके। है ? **निर्विकल्प वस्तुमात्र को जैसी है, वैसी....** है न ? '**आक्रम्य**' है न ? आहाहा ! यह शुद्ध चैतन्यघन है, वह (जैसी) है वैसी, उसका '**आक्रम्य**' करके—अनुभव करके। आहाहा ! यह तो अन्तिम में अन्तिम बातें हैं, बापू ! समझ में आया ? आहाहा !

अनुभवगोचर करके। अनुभवगम्य करके। यह आत्मा आनन्द है, शुद्ध सहजात्म स्वरूप प्रभु आत्मा है। सहज स्वरूप भगवान आत्मा है। उसकी दशा में विकार और पुण्य-पाप हो, (परन्तु) वह वस्तु में नहीं। आहाहा ! ऐसी निर्विकल्प वस्तु, अभेद वस्तु... आहाहा ! उसका अनुभव करके।

कैसा है निश्चय ? निर्विकल्प वस्तुमात्र है,.... आहाहा ! '**एकम्**' शब्द है न ? टीका में इसका—एक का अर्थ ऐसा किया है। संस्कृत टीका। पर की अपेक्षा बिना—निरपेक्ष। भाई ! एक का अर्थ किया है संस्कृत में। अन्तर वस्तु भगवान आत्मा आनन्द का अनुभव करे, अतीन्द्रिय आनन्द को वेदन करे, उसमें पर की कोई अपेक्षा नहीं है कि यह व्यवहार किया और दया, दान, व्रत पालन किये, इसलिए अनुभव हुआ—ऐसा है नहीं। आहाहा ! एक का अर्थ किया है, भाई ! जरा देखा था। एक का अर्थ शुद्ध भी होता है, निरपेक्ष होता है, अभेद होता है। बहुत अर्थ होते हैं।

चिद्बिम्ब आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर... आहाहा ! उसके अनुभव में धर्मदशा प्रगट करने में धर्मी ऐसा आत्मा, स्वभाव का सागर, उसकी दशा प्रगट करने में पर की कोई अपेक्षा नहीं। यह चिल्लाहट करते हैं न लोग ? व्यवहार करते-करते होगा। धूल भी नहीं होगा, सुन न ! (लोग ऐसा कहते हैं कि), यह तो व्यवहार का निषेध करेंगे, व्यवहार का निषेध करेंगे। यहाँ प्रगट हुआ है, उसमें व्यवहार की अपेक्षा नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ऐसा है जरा। आहाहा !

मुमुक्षु : व्यवहार का अभाव है, उसका सद्भाव मान ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अन्तर का अभाव हुआ है और उसकी अपेक्षा है ही नहीं, तब उसे एकपना प्रगट हुआ है। आहाहा ! द्वैतपना अर्थात् जो व्यवहार—दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम (होते हैं), वह भी राग है। आहाहा ! उस राग की अपेक्षा जिसे आत्मा के अनुभव नहीं। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : विचारश्रेणी चलती है, तब तक राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प है। वह विकल्प है। उसकी इसे अपेक्षा नहीं। उसे छोड़े, तब (अनुभव) होगा। सूक्ष्म बहुत, बहुत सूक्ष्म, बापू!

आत्मा तो अनादि-अनन्त शाश्वत् है। यह शरीर की उम्र कहलाती है कि यह पचास हुए, साठ हुए, सत्तर हुए, अस्सी हुए। यह तो शरीर को न? या आत्मा को? आत्मा तो अनादि का है, अनन्त काल रहनेवाला है। उसकी उम्र, उसकी स्थिति होती नहीं। आहाहा! यह तो शरीर का संयोग हुआ, तब कहा कि यह जन्मा। छूटा, तब मरा (ऐसा कहे)। इसलिए वह तो उसकी स्थिति—शरीर की स्थिति है। भगवान आत्मा तो अनादि-अनन्त एकरूप चिदानन्द प्रभु है। आहाहा! जिसके अनुभव के ज्ञान के लिये राग और व्यवहार के निमित्त की कोई अपेक्षा है नहीं।

मुमुक्षु : श्रीमद् तो कहते हैं, 'कर विचार तो पाम'।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विचार अर्थात् अन्दर स्थिरता; विकल्प नहीं। यहाँ कलशटीका में तो विचार को विकल्प में लिया है। आहाहा! 'कर विचार' (अर्थात्) आत्मा आनन्दस्वरूप (है, उसका) ज्ञान कर, ऐसा (कहना है)। उसका ज्ञान कर तो पा। आहाहा! अनन्त काल का अनजाना मार्ग, मार्ग में कभी गया नहीं। आहाहा! उसे देखने के लिये तो अनन्त पुरुषार्थ चाहिए, भाई! आहाहा! बाकी सब तो बहुत किया। आहाहा! बहुत अर्थात् राग और द्वेष।

(यहाँ कहते हैं) **निर्विकल्प वस्तुमात्र है,....** कैसी है वह? निर्विकल्प वस्तु अर्थात् अभेद वस्तु है। अर्थात् कि जिसे भेद, राग की अपेक्षा जिसके अनुभव के लिये नहीं। आहाहा! सूक्ष्म तो बहुत, बापू! नये व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि यह क्या है? इसने कभी सत्य सुना नहीं। आहाहा!

एक विचार ऐसा आया था कि जो यह निश्चय अनुभव है न? भाई! वह सत्य है और उसकी अपेक्षा से व्यवहार है, वह असत्य है। थोड़ी सूक्ष्म बात आयी है। जैसे यह आत्मा स्वयं है न? वह अपनी अपेक्षा से सत् है, और अपनी अपेक्षा से दूसरी चीज़ है, वह असत् है। उसकी अपेक्षा से सत् है, परन्तु इसकी अपेक्षा से असत् है। इसी

प्रकार आत्मा के निश्चय स्वरूप के अनुभव की अपेक्षा से निश्चय, वह सत् है और व्यवहार दया, दान का विकल्प (आता है), वह इसकी अपेक्षा से असत् है। उसकी अपेक्षा से है। आहाहा! यह तो निरपेक्ष के अर्थ में ऐसा (विचार आया था)। आहाहा! शान्ति से (समझना), बापू! यह तो अनन्त काल के दुःख को टालने के उपाय की बातें हैं, बापू! आहाहा! समझ में आया?

वस्तु शुद्ध चैतन्य आत्मा पवित्र गोला और आनन्द, उसे अन्तर में प्राप्त करने के लिये जो स्वरूप का आश्रय है, वह उसके कारणरूप है। वह द्रव्य वस्तु है, वह कारणरूप है परन्तु व्यवहार दया, दान, वे सब उसकी अपेक्षा से असत् हैं। विकल्प है, वृत्ति का उत्थान है। उसकी अपेक्षा से असत् है, इसलिए असत् से सत् की प्राप्ति हो—ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

ऐसी सूक्ष्म बातें और फिर (पूछना कि) समझ में आया? वार्ता तो सब सुनते, छोटी उम्र में नहीं सुनते थे? चिड़िया लायी चावल का दाना और चिड़ा लाया मूँग का दाना। उसकी बनायी खिचड़ी, वह कुम्हार को दी और कुम्हार घड़ा दिया और घड़ा खजूरवाले दिया और उसने खजूर दी। ऐसा सब चलता था, छोटी उम्र में सुनते थे। दस-बारह वर्ष की उम्र थी तब (सुनते थे)। यह ७५ वर्ष पहले की बातें है! ऐसी सब बातें, गप्प ही गप्प!

यह तो बापू! आत्मा की बाता है, भगवान! आहाहा! शाश्वत् आनन्द का नाथ प्रभु है न यह! आहाहा! जिसके स्वरूप में तो बेहद—हद बिना का ज्ञान भरा है। बेहद आनन्द और हद बिना का अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। जिसके अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन के सुख भी सड़े हुए बिल्ली जैसे लगें। आहाहा! इन्द्र के इन्द्रासन के जो सुख, इन्द्राणियों के (सुख), वे आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष सड़े हुए बिल्ली और कुत्ते जैसे गन्ध मारे (वैसे सुख हैं)। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में पर का स्वाद इसे जहर जैसा लगता है। समझ में आया? आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, एक। निश्चय से एक है। **कैसा है? 'निःकम्पं' सर्व उपाधि**

से रहित है। चैतन्यगोला शाश्वत् परमात्मस्वरूप स्वयं है। आहाहा! शक्तिरूप से परमात्मा है तो व्यक्तरूप से होता है। कुँए में हो, वह हौज में आता है। कुँए में पानी हो तो पानी आवे, खारा (पानी) होवे तो खारा आवे, मीठा होवे (तो मीठा आवे), कुँए में हो वह आवे न? उसी प्रकार अन्दर में आनन्द का सागर आनन्द है तो उसके अनुभव में आनन्द आवे। प्राप्त की प्राप्ति है। है, उसे प्राप्त करना है। आहाहा! समझ में आया?

सर्व उपाधि से रहित है। आहाहा! **'यत् सर्वत्र अध्यवसानं अखिलं एव त्याज्यं' जिस कारण से...** आहाहा! जिसे ऐसा है कि मैं इस पर को मारता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय है, वह एकत्वबुद्धि (रूप) मिथ्यात्व है। आहाहा! कठिन बात, बापू! पर को मार नहीं सकता। उसका आयुष्य हो, (वहाँ तक) वह जीता है और अनुष्य छूटे तो वह मरता है। तू उसे मार सके, यह वस्तु ही नहीं है। आहाहा!

मैं (इसे) मारूँ, मैं (इसे) जिलाऊँ... सूक्ष्म बात है, भाई! मैं इसे जीवत्व दूँ, इसको जिलाऊँ, यह मान्यता—अध्यवसाय मिथ्यात्व है, अज्ञान है, दुःखरूप दशा है। आहाहा! यह सब कार्यकर्ता तो सब मानो सुविधा (देते हैं), ऐसा मानते होंगे।....

राजकोट (थे तब) गाँधीजी व्याख्यान में आये थे। तब मैंने तो यह कहा था, पर को जिला सकता हूँ, यह मान्यता मूढ़ मिथ्यादृष्टि की है। (संवत्) १९९५ की बात है। १९९५ के वर्ष! ३९ वर्ष हुए। राजकोट... राजकोट! सब आये थे न? मोहनलाल गाँधी, कस्तूरबा, महादेव देसाई सब व्याख्यान में आते थे। कहा, यह मार्ग तो दूसरा है, बापू!

मैं दूसरे को जिला दूँ, देश की सेवा कर सकूँ, यह मान्यता मिथ्याभ्रम है। आहाहा! मैं सुखी करूँ। दूसरे को असुविधा देकर, जहर देकर दुःखी करूँ। प्रभु! यह तेरी मान्यता मिथ्या भ्रम है। दूसरे को असुविधा दूँ, वह असुविधा तू दे नहीं सकता। वह तो उसका पाप का उदय हो तो उसे असुविधा आती है। आहाहा! समझ में आया?

मैं (इसे) सुखी करूँ... मैं इसे सुविधा दूँ, आहार की, पानी, वस्त्र की, मकान की सुविधा दूँ तो यह सुखी होगा। (ऐसा मानना वह) भ्रम है। उसकी सुविधा तू दे सके, ऐसी तीन काल में (तुझमें) ताकत नहीं। उसका पुण्य का—साता का उदय हो तो उसे सुविधा आवे और तू कहता है कि मैं सुविधा देता हूँ, यह मिथ्यात्वभाव, मूढ़भाव,

अज्ञानभाव है। आहाहा! यह जहर का पेय पीता है! ऐसी बातें! दुनिया से अलग प्रकार लगे। है न, सब खबर है न! आहाहा!

मुमुक्षु : अनुकम्पा तो सम्यक्त्व का अंग है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह अनुकम्पा कौन सी? अकषायभाव की। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि **मैं सुखी करूँ...** उसे सुविधा मिले, वह तो उसके पूर्व के पुण्य के कारण मिलती है, उसके बदले, मैं उसे सुविधा दूँ, (यह) मिथ्यात्वभाव है, पर के साथ की एकत्वबुद्धि का भाव महापाप है। आहाहा!

मैं देव... देव... देव, स्वर्ग के देव होते हैं न? बहुत पुण्य किया हो तो स्वर्ग में देव होगा। परन्तु देव, यह आत्मा कहाँ है? आहाहा! वह तो गति का भव है। मैं देव हूँ, यह मान्यता अध्यवसाय एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है।

मैं मनुष्य... हूँ। लो! वह मूढ़ है। मनुष्य कैसा? आत्मा मनुष्य है? वह तो जड़ मिट्टी का शरीर है। वह तो एक ओर रखो, परन्तु अन्दर मनुष्य की गति का उदय है, वह भी मैं नहीं। आत्मा तो अन्दर मनुष्य की गति के अतिरिक्त के आनन्दकन्द प्रभु है। उसके बदले मैं मनुष्य हूँ, राजा हूँ, मैं गरीब हूँ, रंक हूँ... आहाहा! यह सब मान्यतायें विपरीत श्रद्धा की है। आहाहा! अध्यवसाय की बात की है न?

इत्यादि हैं जो मिथ्यात्वरूप असंख्यात लोकमात्र परिणाम... आहाहा! **वे समस्त परिणाम हेय हैं।** पर को मैं कर सकूँ, ऐसे परिणाम को भगवान छोड़नेयोग्य कहते हैं। छोड़ ऐसे परिणाम,... मूढ़ के! आहाहा! है? आहाहा! किसने कहा यह? **परमेश्वर केवलज्ञान विराजमान,....** उन्होंने कहा। है न? '**जिनैः उक्तः**' सर्वज्ञ परमात्मा जिन्हें तीन काल-तीन लोक का ज्ञान हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा का यह हुक्म है। उन्होंने ऐसा कहा है। '**जिनैः उक्तः**' कहा न? आहाहा! आहाहा! उन्होंने ऐसा कहा है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १२, गुरुवार, दिनांक-२२-१२-१९७७, कलश-१७३, प्रवचन-१८२

कलशटीका १७३ (कलश चलता है)। यहाँ तक आया है। '**जिनैः उक्तं**' है न? क्या कहा? जिनेश्वर भगवान ऐसा कहते हैं कि जिसे, मैं दूसरे को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, सुविधा दे सकता हूँ, दु:खी—असुविधा दे सकता हूँ इत्यादि मन, वचन और काया से या शस्त्र से दूसरे को कष्ट प्राप्त करा सकता हूँ या सुविधा दे सकता हूँ, ऐसी जिसकी मान्यता है, वह मिथ्यादृष्टि विपरीत श्रद्धावाला है। उसे सत्यश्रद्धा की खबर नहीं। आहाहा! परन्तु जिसे इस भाव का त्याग है, मैं पर को जिलाता हूँ, सुविधा दे सकता हूँ, यह मुझमें है ही नहीं। मैं तो एक आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा हूँ, उसे यह पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुविधा-असुविधा देने के कार्य कर सकूँ, इस बुद्धि का जिसे नाश (हुआ) है, उसे शुद्ध चिदानन्द आत्मा उपादेय है। ऐसा है, क्या कहा?

जिसे इस पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुविधा (दूँ), पर के कार्य कर सकूँ, ऐसे भाववाला जीव है, उसे मिथ्यात्वभाव है। उसे आत्मा हेय है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी बुद्धि में उसे हेय माना है और यह परिणाम जो हैं, उसे उसने उपादेय माना है। अरे! ऐसी बातें हैं।

दूसरे कितने ही प्रश्न ऐसा करते थे कि दूसरे के कार्य में हम निमित्त तो हो सकते हैं न? लो! निमित्त का अर्थ क्या? वहाँ कार्य होता है, वह उसके कारण से होता है। उसमें तू निमित्त (होकर) पर में क्या कर सकता है? परन्तु ऐसा मानता है कि दूसरे के कार्य करने में हम सहायक होते हैं। ऐसा माननेवाले विकार के परिणाम को उपादेयरूप से ग्रहण करते हैं और त्रिकाली आनन्द का नाथ भगवान आत्मा, उसे हेय मानते हैं। अर्थात्? कि ज्ञायकस्वरूप चैतन्य है, उसका अनादर करता है और पर का कर सकता हूँ, ऐसी उसकी मान्यता का वह आदर करता है। आहाहा!

जबकि धर्म की पहली दशावाले समकिती को पर को जिलाऊँ, मारूँ, सुविधा दूँ—ऐसे परिणाम का त्याग है। उसे आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका आदर है। आहाहा! यह कार्यकर्ता माने न? हम पर के कार्य कर देते हैं। गाँव के और संघ के, जाति के

कुटुम्ब के और आगे जाने पर फिर बड़े देश के (कार्य कर सकते हैं)। आहाहा! परिवार का कर सकते हैं, फिर गाँव का कर सकते हैं, फिर देश का कर सकते हैं। ऐसे माननेवाले, जिनेश्वर वीतराग केवली परमात्मा ऐसा कहते हैं, कि वे जीव मिथ्यादृष्टि— विपरीत श्रद्धावाले संसार में भटकने के बीजवाले हैं। आहाहा! जगत से बहुत अलग प्रकार है। और जिसने उस परिणाम का (अर्थात् कि) एकत्वबुद्धि का त्याग किया है, पर के कार्य कर सकूँ, यह एकत्वबुद्धि है। एकत्वबुद्धि का जिसे आदर है, वह मिथ्यादृष्टि है और एकत्वबुद्धि का जिसे त्याग है, आहाहा! उसे जिनेश्वर कहते हैं कि उसने उसे हेय माना है। उसने आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसका आदर किया और उपादेय माना। यह ऐसी बातें हैं! समझ में आया? आहाहा!

यह जिनेश्वर ने ऐसा कहा कि जिसने ऐसे अभिप्राय का त्याग किया, उसने मिथ्यात्वभाव का त्याग किया। उल्टी मान्यता जो अनादि की है, उसका उसने त्याग किया। समझ में आया? आहाहा! ऐसा जिनेश्वरदेव कहते हैं।

मिथ्यात्वभाव का हुआ है त्याग, उसको.... आहाहा! अब आचार्य कहते हैं कि उसे जब इस प्रकार से त्याग है, पर का क्रियाकाण्ड कर सकता नहीं, पर का किसी का भला-बुरा मैं कर सकता ही नहीं... आहाहा! आहार-पानी देकर दूसरे की भूख मिटा सकता हूँ, वस्त्र देकर उसे जो सर्दी का परीषह हो, (उसमें से) मैं छुड़ाता हूँ, ऐसी क्रिया का जो कर्ता मानता है, वीतराग ऐसा कहते हैं कि उसे आत्मा जो आनन्द शुद्ध है, उसका उसे अनादर वर्तता है। आहाहा! और यह जो नहीं बन सके, ऐसे कार्य को करूँ, ऐसे भाव का उसे आदर वर्तता है। यह अधर्मी की बात की। आहाहा!

तब धर्मी जीव को—धर्मी को उस अध्यवसाय का अर्थात्? पर के कार्य कर सकता हूँ, ऐसी जो एकत्वबुद्धि, उसका त्याग है। ऐसा भगवान ने कहा। तब आचार्य कहते हैं कि मैं तो इसमें से ऐसा निकालता हूँ... आहाहा! सन्त ऐसा कहते हैं कि जब परमेश्वर ने ऐसा आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य के कार्य कर सकने के भाव का एकत्वबुद्धि का जिसे त्याग है, ऐसे त्याग का परमात्मा ने कहा तो मैं ऐसा मानता हूँ, (ऐसा) आचार्य कहते हैं। है? आहाहा!

मैं ऐसा मानता हूँ कि 'निखिलः अपि व्यवहारः त्याजितः एव' आहाहा! **जितना**

है सत्यरूप अथवा असत्यरूप व्यवहार.... आहाहा! दया के, दान का, भक्ति का, पूजा का भाव, नामस्मरण का भाव, भगवान के नामस्मरण का भाव, उस भाव का भी समकिती को त्याग है, ऐसा मैं इसमें से निकालता हूँ, (ऐसा) कहते हैं। क्या कहा? परमेश्वर ने जब अध्यवसाय अर्थात् परद्रव्य की क्रिया की एकताबुद्धि का त्याग जिसे है और त्याग करनेयोग्य है, ऐसा परमेश्वर ने कहा, तो आचार्य कहते हैं कि, उसमें से मैं ऐसा निकालता हूँ कि पर के आश्रय से जितना दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव होता है... अर र र! भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... ऐसा स्मरण होता है, वह सब राग है, वह सब पराश्रित भाव है। तो परमात्मा की वाणी में सन्त ऐसा कहते हैं, जब पर की एकताबुद्धि का त्याग परमात्मा ने कहा तो मैं तो उसमें से ऐसा निकालता हूँ कि जितना पराश्रित शुभभाव या अशुभ (भाव) होता है, उसका समकिती को त्याग है, ऐसा मैं मानता हूँ। आहाहा! समझ में आया? इस जगत के काम से यह बात दूसरी है, बापू! आहाहा! ....भाई!

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसे भूलकर पर के कार्य कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता, उसे एकत्वरूपी अध्यवसाय मिथ्यात्व कहा। तो परमेश्वर ने उस पर की एकत्वबुद्धि का त्याग कराया तो उसमें से मैं ऐसा निकालता हूँ कि पराश्रित जितना शुभ-अशुभभाव होता है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, परमात्मा का स्मरण—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं इत्यादि, ऐसा जो शुभभाव और अशुभभाव वे दोनों पराश्रित हैं। इसलिए उनका भी परमात्मा ने समकिती को त्याग कराया है। समझ में आया? है न? है?

मैं ऐसा मानता हूँ कि.... देखा? आहाहा! यह श्लोक है, इसके बाद के श्लोक में यह आनेवाला था, इसलिए पहले से उन्होंने यह निकाला। आहाहा! व्यवहारनय पराश्रित होने से छोड़नेयोग्य है। समझ में आया? मैं यह धन्धा-पानी, दुकान की क्रिया कर सकता हूँ, ऐसी जो परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ पर को और स्व को एक करके, मानकर बैठा है। आहाहा!

जब पर और आत्मा दोनों भिन्न हैं और पर की कोई क्रिया कर नहीं सकता, ऐसा जब परमात्मा ने कहा और धर्मी ने उस प्रकार से माना... ऐ... सेठ! यह बीड़ी दे सके,

तम्बाकू दे सके (ऐसा) कुछ नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। भगवानजीभाई! इसे क्या था? जोड़ा! किसका कहलाये? प्लास्टिक। प्लास्टिक के। थाणा... थाणा। आहाहा! हमारे इन भाई को टाईल्स (का काम) था। पत्थर की बड़ी टाईल्स, उसका कुछ भी आत्मा कर सके, (यह वस्तुस्थिति नहीं है)। आहाहा!

एक जगह वह जामनगर है न? वहाँ एक वढवाण के जैन हैं, वहाँ एक बार दूध पीने के लिये रुके थे। बड़ा स्थानकवासी व्यापारी है। परन्तु यहाँ का प्रेम हो, इसलिए वहाँ उसके घर में दूध पाने (गये थे)। क्या कहलाता है? टाईल्स! टाईल्स में छींटे। कोई पीले, हरे ऐसे (रंग) टाईल्स साफ करने को। यह सब ऐसा व्यवस्थित किया हुआ। फिर ऐसा कहे, हम यह सब टाईल्स में छिड़क डालते हैं, और यह बनाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि यह हम कर सकते है, यह मान्यता ही अज्ञानी मूढ़ जीव की है। आहाहा! कपड़े को धो सकते हैं, कपड़े को सुखा सकते हैं, कपड़े को पहन सकते हैं, कपड़े को छोड़ सकते हैं... आहाहा! दाल, भात, रोटी के परमाणु जड़ हैं, उन्हें हम खा सकते हैं, ऐसी जिसे परद्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि है, वह तो मूढ़ जीव, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! जिनाज्ञा बाहर की क्रिया को माननेवाला है। आहा!

आचार्य ऐसा कहते हैं कि जब ऐसी परद्रव्य की एकत्वबुद्धि का अध्यवसाय का त्याग किया, कराया तो उसमें से तो मैं ऐसा निकालता हूँ कि परद्रव्य के आश्रय से... है? **सत्यरूप...** सत्यरूप। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का भाव शुभराग, नामस्मरण का शुभभाव, वह सत्यरूप।

असत्यरूप... झूठ बोलना इत्यादि भाव, वह झूठे (भाव)। वह **सत्यरूप अथवा असत्यरूप व्यवहार अर्थात् शुद्ध स्वरूपमात्र से विपरीत....** आहाहा! धर्मी को तो वह व्यवहार भी छुड़ाया है, कहते हैं। दृष्टि के विषय में भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति है, ऐसी जब दृष्टि हुई, इससे समकिती को—धर्मी की धर्म की पहली दृष्टिवाला (हुआ), उसे यह दया, दान, व्रत के परिणाम को भी दृष्टि में से छुड़ाया है। आहाहा! भारी कठिन काम, बापू!

(एक भाई) आये थे न? बात निकली तब (वे कहें कि), पर को निमित्त तो

होते हैं न? पर को निमित्त तो होते हैं न? ऐसा कहते थे। गुजर गये, आते थे, यहाँ आते थे। राजकोट में (संवत्) १९९९ के वर्ष में (आये थे)। कौन निमित्त होता है? वहाँ कार्य उससे होता है, उस काल में—स्वकाल में उसके कार्य हों, उसे मैं निमित्त होकर करूँ (यह मान्यता मिथ्यात्व है)। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। निमित्त तो उसे कहते हैं कि जहाँ जो कार्य होता हो, वहाँ हो, उसे निमित्त कहते हैं। परन्तु कार्य होता है तो उससे—पर से। उसके बदले (माने कि) हम निमित्त हों तो कार्य होता है, वहाँ अनुकूल कार्य हो, यह मान्यता एकदम सत्य से विरोध दृष्टि है। आहाहा!

यहाँ तो आचार्य महाराज—कुन्दकुन्दाचार्यदेव और अमृतचन्द्राचार्य सन्त आत्मा के अनुभवी चारित्र के, हों! आहाहा! अतीन्द्रिय आत्मा का आनन्द जिन्हें (प्रगट हुआ है), पर्याय में प्रचुर स्वसंवेदन वेदन में आता है। आहाहा! वे सन्त ऐसा कहते हैं, भगवान ने पर की एकत्वबुद्धि के (ऐसे प्रकार कहे हैं)। वह सब एकत्वबुद्धि होकर? जिलाऊँ, मारूँ, यह पहनूँ, वस्त्र छोड़ूँ... आहाहा! बर्तन को उठा सकता हूँ, बर्तन को रख सकता हूँ, बर्तन को भर सकता हूँ, चद्दर के ऐसे बर्तन बनाना हो, वैसा बना सकता हूँ, यह सब मान्यतायें मिथ्यादृष्टि मूढ़ की संसार में चौरासी के अवतार करने में मिथ्यात्व के बीज सेवन करनेवाले हैं। मधुभाई! तुम्हारे क्या धन्धा है? उसे क्या धन्धा है? शान्तिभाई! जवाहरात! ठीक! यह जवाहरात को ऐसे ले सकता हूँ, दे सकता हूँ, उस पर की क्रिया में मेरा अधिकार है, मैं होशियार व्यक्ति हूँ, पावरवाला हूँ, इसलिए सब काम मैं प्रवीणता से कर सकता हूँ। विचक्षता से और चतुराई भरे काम से ये सब काम कर सकता हूँ। आहाहा! उसे परमात्मा कहते हैं कि तू तेरा तत्त्व और दूसरे तत्त्व को दोनों को करनेवाला तूने माना तो एकत्वबुद्धि है, पर के साथ तेरी एकत्वबुद्धि है। भिन्न वस्तु है, उसकी बुद्धि न रहकर तुझे एकत्वबुद्धि हुई। आहाहा!

यह (अभिप्राय) जब छुड़ाया और हेय कहा तो फिर मैं ऐसा कहता हूँ कि इस आत्मा में जितना पर के आश्रित भाव होता है, वह तो एकत्वबुद्धि का भाव था, जिलाऊँ, मारूँ, कर दूँ, वह तो एकत्वबुद्धि का (भाव था), अब यह एकत्वबुद्धि नहीं परन्तु पर के आश्रय से जितना दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव होते हैं, वे सब पर-आश्रित हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना, वे सब भाव पर-आश्रित हैं। उनकी बात तो

अभी छोड़ दो। परन्तु पर-आश्रित जितना सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ऐसा शुभभाव होता है... आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि मेरा स्मरण करने में तुझे जो शुभभाव होता है, वह भी पराश्रित होने से सम्यग्दृष्टि को इसका हेयभाव—त्यागभाव है। अरे! ऐसी बातें हैं।

भगवान ऐसा कहते हैं कि हम तुझसे पर—भिन्न हैं और हमारे स्मरण में तू आवे तो तुझे राग होगा और राग है, वह बन्धन का कारण है। आहाहा! इसलिए भगवान ने पर के आश्रय से हुआ सत्य शुभ व्यवहार, शुभ के असंख्य प्रकार हैं—दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, नामस्मरण, शास्त्र वाँचन, शास्त्र श्रवण, वे सब शुभभाव हैं, उन्हें भगवान ने दृष्टि में से छोड़ने योग्य कहा है। उन्हें छोड़कर अशुभ में आना, ऐसा नहीं है। परन्तु उन्हें छोड़कर स्वभाव की दृष्टि में आना, स्वभाव में आना, इसलिए उन्हें छोड़नेयोग्य कहा है। समझ में आया? अरे! ऐसी बातें परन्तु पूरे जगत से अलग। उसमें मुम्बई में तो हो..हा... हो...हा... आहाहा! मोहमयी नगरी! श्रीमद् ने कहा है न? श्रीमद् कहते हैं, मुम्बई मोहमयी नगरी है।

मुमुक्षु : वह तो सौ वर्ष पहले की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उससे भी अब उपाधि बढ़ गयी है। श्रीमद् के समय में था, उससे भी अभी तो (बढ़ गया)। तब तो घोड़ागाड़ियाँ थी, अब मोटरें हुईं। ऊपर वे हुए? वहाँ सब अवगतिया के ठिकाने हैं। निहालभाई! ऐसा है बापू यहाँ तो! आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? प्रभु! तुझे खबर नहीं। प्रभु! तू ज्ञानस्वरूप है न, नाथ! यह ज्ञान पर से भिन्न है न! उस पर से भिन्न को भिन्न चीज़ कैसे कुछ भी करे? भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! इसलिए भगवान ने पर को करने की एकत्वबुद्धि का त्याग कराया है। तो आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं तो उसमें से ऐसा निकालता हूँ, फिर २७२ गाथा में कहा है, इसके बाद समयसार की २७२ गाथा है, उसमें से ऐसा निकालता (हूँ) कि जितना पर-आश्रित (भाव होता है)... आहाहा! शास्त्र का वांचन हो, उसमें विकल्प—राग उठता है, सुनता है उसमें विकल्प—राग उठता है। आहाहा! पर की दया पालने का भाव होता है, वह राग है, दया पाल नहीं सकता, पाल सकने की एकत्वबुद्धि का तो पहले त्याग कराया। क्या कहा यह? पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि का

तो पहले त्याग कराया कि वह तो कर सकता नहीं। परन्तु अब दया का जो भाव आया, (उसे भी छुड़ाया है)।

मुमुक्षु : साधक जीव को दया का भाव आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधक को आया, समकिती को आवे, परन्तु वह त्याज्य है, हेय है। आहाहा! आवे सही, परन्तु वह हेय है। आदरणीय और उपादेय नहीं। आहाहा! अरे रे! ऐसा मार्ग कब सुने? तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र का यह मार्ग पूरी दुनिया से इसकी जाति अलग है।

पानी के लिये बड़े तालाब खुदवाते हैं, कुँए खुदवाते हैं, जंगल में बहुत जमीन खाली पड़ी हो, उस जमीन को भी हम जोतकर साफ करके उगाने में जोड़ देते हैं। आहाहा! यह सब (मान्यता) तो परद्रव्य और स्वद्रव्य की एकताबुद्धि का अध्यवसाय मिथ्यात्व है। यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि वह तो छुड़ाया, परन्तु मैं तो उसमें से विशेष निकालता हूँ कि उस एकत्वबुद्धि के अतिरिक्त पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि के अतिरिक्त मात्र दया का भाव आया, सत्य व्यवहार (आया), वह भी छोड़नेयोग्य है। आहाहा!

सत्य बोलने का भाव आया, सत्य बोल सकता हूँ, इस एकत्वबुद्धि का त्याग कराया, क्या कहा यह? मैं सत्य को बोल सकता हूँ, यह तो दो (द्रव्यों की) एकत्वबुद्धि है, उसका तो पहले त्याग कराया, ऐसा नहीं हो सकता और तू व्यर्थ का अन्दर मानता है, परन्तु सत्य बोलने का भाव आया... आहाहा! वह भी पराश्रित होने से छोड़नेयोग्य है। समझ में आया? आहाहा!

शरीर से विषय सेवन कर सकता हूँ, यह तो एकत्बवुद्धि है, उसे तो छुड़ाया। यह शरीर जड़-मिट्टी है, इसके साथ विषय भोगते हुए शरीर से मैं स्त्री का विषय लेता हूँ, वह तो परद्रव्य के साथ एकत्वबुद्धि है, वह अध्यवसाय तो एकत्व मिथ्यात्व है, उसे तो छुड़ाया परन्तु अब मैं ब्रह्मचर्य पालता हूँ, ऐसा जो शुभभाव, वह भी पराश्रित होने से छुड़ाया है। वह छोड़नेयोग्य है, विकल्प है, राग है। आहाहा! क्या कहते हैं यह?

मुमुक्षु : 'पात्र थवा सेवो सदा, ब्रह्मचर्य मतिमान'

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो आत्मा के अन्दर में एकाग्र (हो), उस ब्रह्मचर्य की बात है। 'मतिमान' शब्द है न? सब (ग्रन्थ) वाँचने किये हैं न! लाखों ग्रन्थ पढ़े हैं, करोड़ों श्लोक देखे हैं। अठारह वर्ष की उम्र से धन्धा ही यह (किया है), (अभी) ८८ (वर्ष) हुए, सत्रह वर्ष से यह सब धन्धा लगाया है। एक-एक शब्द और सब ग्रन्थ (देखे हैं)। उसमें यह समयसार जहाँ (संवत्) १९७८ में हाथ आया वहाँ अन्दर... आहाहा! ऐसा (आया कि) अरे! यह तो अशरीरी (होने की) पुस्तक है! शरीररहित होना हो तो यह शास्त्र है, कहा। १९७८। आहाहा! यह तो कोई अलौकिक बातें हैं, बापू! अभी जगत को सुनने को नहीं मिलती।

यहाँ तो जरा इसमें ऐसा विचार आया कि पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसी मान्यता एकत्वबुद्धि है। उसे तो भगवान ने छुड़ाया। और वह छोड़नेयोग्य है, इसलिए छुड़ाया, परन्तु अब पर की दया पाल सकता हूँ, यह नहीं, परन्तु पर की दया का भाव आया, वह पराश्रित होने से उसे भी छुड़ाया है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि उसे हेय मानता है, भाव आता अवश्य है, परन्तु उसे हेय मानता है। अज्ञानी उसे आदरणीय मानता है। यह बड़ा अन्तर है। समझ में आया?

दूसरी बात, आज दया की कहीं। दूसरा, सत्य बोलूँ। बोल सकता हूँ। यह तो एकत्वबुद्धि है। इस अध्यवसाय का तो त्याग कराया, परन्तु सत्य बोलूँ, ऐसा जो विकल्प उठा है, सत्य बोलूँ—ऐसा जो विकल्प उठा है, वह भी राग है, पराश्रित राग है, उसे भी यहाँ भगवान ने छुड़ाया है। क्योंकि वह राग भी बन्ध का कारण है। आहाहा!

अब पर की चोरी कर सकता नहीं, ऐसी जो पर सम्बन्धी की क्रिया, उसकी एकत्वबुद्धि तो छुड़ायी, परन्तु अचौर्यभाव—नहीं चोरने का ऐसा भाव / विकल्प उठा वह भी पराश्रित होने से भगवान ने यहाँ छुड़ाया है।

अब, मैं शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करूँ, स्त्री का सेवन न करूँ, ऐसी शरीर से जो एकत्वबुद्धि मानी थी कि, मैं कर सकता हूँ और अब नहीं करूँ, ऐसे अध्यवसाय का तो त्याग कराया, परन्तु मैं ब्रह्मचर्य (पालन करूँ), परसन्मुख का ब्रह्मचर्य पालन करूँ, ऐसा शुभभाव, वह भी पराश्रित होने से समकिती को छोड़नेयोग्य है। आहाहा!

अब, यहाँ मैं परिग्रह न रखूँ, ऐसी जो पर की एकत्वबुद्धि थी, वह तो छुड़ायी, उस पर को न रखूँ, वह भी पर के साथ एकत्वबुद्धि है, परन्तु अब परिग्रह न रखूँ, ऐसा पाँचवें महाव्रत का जो अपरिग्रह भाव, वह भी एक शुभभाव है, वह पराश्रित होने से उसे भी छुड़ाया है। अर र र! अरे! बापू! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र का पंथ कोई अलौकिक है! सम्प्रदाय में जन्मे, (इसलिए मान ले कि) हम जैन हैं, जैन हैं। आहाहा! चिरायता की थैली और ऊपर नाम—शक्कर। चिरायता की थैली भरी हुई हो, (उसके) ऊपर नाम (लिखा) शक्कर! इसी प्रकार अन्दर मिथ्यात्वभाव भरा हुआ है, उल्टी श्रद्धा—ऐसा करूँ और ऐसा करूँ और ऐसा करूँ... हम जैन हैं! आहाहा! सिर घूम जाये ऐसा है यह!

मुमुक्षु : सिर हल्का हो ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो हल्का हो ऐसा है। यह सिर नहीं, आत्मा की दशा (की बात है)।

मुमुक्षु : दीक्षा में पाँच महाव्रत ग्रहण करने की विधि ली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अशुभराग टालने की अपेक्षा से (बात है)। जो शुभराग है वह हेय है, आस्रव है। पंच महाव्रत के परिणाम वे आस्रव हैं, बन्ध के कारण हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पंच महाव्रत के परिणाम, वे आस्रव हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आस्रव हैं। पुण्य है न? अव्रतभाव है, वह पाप है; महाव्रत भाव है, वह पुण्य है। परन्तु व्यवहार से उसे ग्रहण करने की नय का वाक्य है, वह आवे। तथापि उसमें अशुभ टलता है, इतनी अपेक्षा से ग्रहण करना, परन्तु शुभभाव जो है, (वह) आस्रव है, बन्ध का कारण है। ऐसा है।

एक बार कहा था न? सम्प्रदाय में (संवत्) १९८५ के वर्ष (की बात है)। यहाँ तो १९९१ में आये हैं न? १९८५ में बोटाद में व्याख्यान चलता था। (हमारी) तो बहुत प्रसिद्धि थी न? लोग तो हजारों लोग (सुनने आते थे)। सब सेठिया रायचन्द्र गाँधी जैसे (आते थे), पचास-पचास हजार की आमदनीवाले (सेठ सुनने आते थे)। सब सभा में

बैठे, वहाँ बड़ी सभा भरती है। नाम पड़े कि कानजीस्वामी वाँचते हैं तो लोग (चींटियों की तरह उमड़ पड़ते थे)। १९८५ की बात है। कितने वर्ष हुए? ४९। दो बातें धीरे से लेकर कही कि, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं, पुण्य है, अधर्म है। उपाश्रय में (व्याख्यान चलता था)। वैसे तो लोगों को हमारे प्रति प्रेम था न! महाराज कहते हैं इसलिए (बराबर ही होगा), उसमें कुछ खलबलाहट नहीं होती। परन्तु एक साधु थे, हमारे एक गुरुभाई साधु थे, उन्हें खलबलाहट हो गयी। कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है (उस) बन्ध के भाव को धर्म नहीं कहा जाता। धर्म से बन्ध नहीं होता और बन्ध के भाव को धर्म नहीं कहा जाता। सोलहकारण भावना, वह पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा! उसे यहाँ हेय कहा है।

दूसरा बोल कहा था, दो बोल कहे थे। १९८५ की बात है। हजार-पन्द्रह सौ लोग! उपाश्रय में तो समावे नहीं, परन्तु पीछे खाली गली थी... क्या कहलाती है? शेरी... शेरी। ऐसा होता है न? क्या कहलाता है? खिड़की। उसमें से सुने। पूरी गली भर जाये। तीन सौ घर थे। महाव्रत के परिणाम हैं, वे आस्रव और बन्ध का कारण हैं, कहा। दो बोल कहे थे। साधु को खलबलाहट... खलबलाहट (हो गयी)। बापू! मार्ग तो ऐसा है, भाई! तुझे धर्म की खबर नहीं, भाई! आहाहा! धर्म तो आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु चैतन्यसागर और उसके अवलम्बन से पुण्य-पाप के राग बिना की जितनी निर्मलता प्रगट हो, उसे यहाँ परमात्मा धर्म कहते हैं। आहाहा! और यह जो महाव्रत आदि के परिणाम होते हैं, वह राग है। परन्तु (यहाँ) आचार्य तो ऐसा कहते हैं, परद्रव्य के साथ की एकत्वबुद्धि (कि) मैं परिग्रह न रखूँ, मैं परिग्रह छोड़ूँ, यह एकत्वबुद्धि है, वह तो छुड़ायी। परन्तु मैं परिग्रह रखता नहीं, ऐसा जो शुभ विकल्प उठता है, उसे भी यहाँ तो छोड़नेयोग्य कहा है। कारण कि वृत्ति उठती है, वह तो राग है। आहाहा! अरे! इसे कहाँ जाना? भगवान अन्दर विराजता है, वहाँ जा तो यह व्यवहार छूट जायेगा। समझ में आया?

अन्दर जिनस्वरूप भगवान जिनस्वरूपी है! आहाहा! उस जिनस्वरूपी के समीप में जा तो तुझे वीतरागता प्रगट होगी, वह धर्म है। बाकी जितना पराश्रित भाव हो... है इसमें? **सत्यरूप अथवा असत्यरूप....** हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, पाप, वह

तो छोड़नेयोग्य है ही.... आहाहा! परन्तु दया, दान, व्रत, तप, भक्ति के शुभभाव आदि.... आहाहा! वह भी सम्यग्दृष्टि छोड़नेयोग्य मानता है। होते हैं, अशुभ से बचने के लिये आत्मा के भानसहित ऐसा शुभभाव आता है, परन्तु उसे वह छांडनेयोग्य / हेय है ऐसा मानता है। आहाहा! अज्ञानी उसे आदरणीय और लाभदायक है, ऐसा मानता है। ऐसा बड़ा अन्तर है। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्धोपयोग तो आठ दिन, पन्द्रह दिन में, महीने में चाहे जब हो, तब तक क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले यह श्रद्धा तो करे। यहाँ तो अभी श्रद्धा की बात है। उपयोग अन्दर में जमना, वह बाद में (होता है) परन्तु पहला श्रद्धा में शुद्ध उपयोग करे कि यह आत्मा है, उसमें राग और पर की एकताबुद्धि सब छूट जाती है। अभी तो यहाँ सम्यग्दर्शन की बात है। आहाहा! सम्यग्दर्शन के काल में शुद्ध उपयोग होता है। यह शुभराग है, वह भी हेय है, अशुभ—पाप तो हेय है ही। शुभ छोड़नेयोग्य है तो फिर पाप आदरणीय है, ऐसा कभी होगा? आहाहा! पाप का भाव तो छोड़नेयोग्य, छोड़नेयोग्य, छोड़नेयोग्य है, परन्तु पुण्य का—दया, दान, व्रत का भाव भी सम्यग्दृष्टि को श्रद्धा में से छोड़नेयोग्य है। ....भाई! ऐसा है। दुनिया में सब जाना है न! बापू! सब दुनिया कैसे चलती है (खबर है)। आहाहा! सम्प्रदाय में तो यही बात चलती है, इतने अपवास किये, इसने आठ किये, यह सेठिया की बहू ने वर्षीतप किया, उसका महोत्सव करो, दस-बीस हजार खर्च करो... ऐ... धर्म होगा! धूल भी नहीं अब, मर गये...! ऐ निहालभाई! महिलाओं ने कभी वर्षीतप किया है या नहीं? किया था? किया होगा। जो कहा हो, सुना हो, वह किया हो।

मुमुक्षु : स्व और पर का भेद समझ में नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सच्ची है। बात तो सच्ची, बापू! क्या करे? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं, आहाहा! कि पर की—एक आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई आत्मा और आत्मा के अतिरिक्त किसी रजकण से लेकर सब पुद्गलों का कुछ भी कर सकता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि तो महामिथ्यात्व और पाप

है। वह तो छुड़ायी, छुड़ायी और छुड़ायी, परन्तु अब अन्दर में उसके छूट जाने पर भी सत्य बोलने का भाव, दान का भाव, दया का भाव आवे, परन्तु वह भी पुण्यबन्ध का कारण है, इसलिए धर्मी को वह हेय है। आहाहा! है या नहीं इसमें?

यह क्या आया? देखो! **केवलज्ञान विराजमान, उन्होंने ऐसा कहा है।** क्या कहा है? हेय कहा है। ऊपर आया था न? **वे समस्त परिणाम हेय हैं।** ऐसा दूसरी लाईन (में) कहा था। पर का कुछ कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता को भगवान ने हेय कहा। तो आचार्य कहते हैं कि मैं तो इससे अधिक अब उसमें समझता हूँ कि परमात्मा ने पर की एकताबुद्धि का तो त्याग कराया, परन्तु पर के आश्रय से जितना एकत्वबुद्धि के अतिरिक्त (भाव हो)... आहाहा! मात्र पर की दया का, सत्य बोलने का, शरीर से ब्रह्मचर्य पालने का (भाव आवे), वह सब शुभभाव है, वह पराश्रय है, इससे समकिती को वह भी छोड़नेयोग्य है, वह व्यवहार छोड़नेयोग्य है। आहाहा! उसमें है या नहीं यह? ऊपर नहीं कहा?

'**अखिलं एव त्याज्यं**' इसमें क्या कहा? '**अखिलं एव त्याज्यं**' इसमें क्या कहा? कि तेरे आत्मा के अतिरिक्त, पर आत्मा का और पर शरीर का हिलाना, चलाना, यह अँगुली हिलाना, या टोपी पहनना या चश्मा पहनना, वह सब पर की क्रियायें एकत्वबुद्धि से तू मानता है, वह छुड़ायी। वह तुझसे कहीं चश्मा ऊँचा चढ़कर यहाँ चढ़े या नीचे उतरे, वह तुझसे कुछ होता नहीं। आहाहा! उस पर का कर सकता हूँ, ऐसी एकत्वबुद्धि को परमात्मा ने वीतराग त्रिलोकनाथ ने जब छुड़ायी तो मैं एकत्वबुद्धि उपरान्त अब (ऐसा कहता हूँ कि) पर के आश्रय से जितना भाव हो—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव, वह भी समकिती को—धर्मी को श्रद्धा में से छोड़नेयोग्य है। श्रद्धा में से छोड़नेयोग्य है, हों! होता अवश्य है, परन्तु आदरणीय नहीं, हेय है। आहाहा! भगवानजीभाई! ऐसी बातें हैं।

यह तो 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खीचे।' गाड़ी चलती है न? बड़े बैल हों, पच्चीस मण भार भरकर गाड़ी चलती हो, (उसके) नीचे कुत्ता हो, उसे पीछे का ठांठू स्पर्श करे, ठाठूँ! (तो वह ऐसा मानता है कि) यह गाड़ी मुझसे चलती है। उसी प्रकार यह कुत्ते जैसा, जहाँ खड़ा हो वहाँ दुकान की क्रिया हो,

मनुष्य की क्रिया हो, खाने-पीने की क्रिया हो, शरीर की क्रिया हो, वह सब मुझसे होती है, वह कुत्ता जैसा अज्ञानी मानता है।

मुमुक्षु : कुत्ता मानता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : कुत्ता तो कहाँ मानता है? परन्तु कुत्ते को ऐसा लगता है कि यह चलती है, सिर छूता है न? गाड़ी चलती है तो उसके कारण से, परन्तु बड़ा कुत्ता (हो) और वह ठाठूँ छुए (इसलिए मानता है कि) गाड़ी मुझसे चलती है। अब, चल... चल... ... इसी प्रकार यह जगत के, शरीर के, वाणी के, पैसे के लेने के-देने के, खाने के-पीने के, स्त्री के, पुत्र के, परिवार के, पुत्र को पढ़ाने आदि की जो क्रियायें (होती हैं), वे सब पर की एकत्वबुद्धि की बुद्धि है। उसके कारण से वहाँ होती है, वहाँ मेरे कारण से होती है—ऐसा माननेवाला उस एकत्वबुद्धि का मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व का सेवन करनेवाला है, उसे जैनधर्म की खबर नहीं। बराबर है? आहाहा!

मुमुक्षु : खबर नहीं तो उसका तिरस्कार किसलिए करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन तिरस्कार (किया)? कुछ किया नहीं। यह तो छोड़नेयोग्य है, इतना बतलाने के लिये ऐसा कहा जाता है। उसके ऊपर द्वेष करना, ऐसा कुछ है नहीं। वह भी अन्दर तो भगवान है। उसकी दृष्टि में विपरीतता है, उसे जानना। जानकर उसके प्रति द्वेष करना, यह (बात) बिल्कुल नहीं है। किसी व्यक्ति के प्रति वैर (बाँधना वह) तीन काल में होता नहीं। भगवान है, उसकी भूल है, भूल की है तो टालेगा। आहाहा! समझ में आया? 'सत्वेषु मैत्री' सभी भगवान आत्मा के प्रति प्रेम रखना। आतमारूप से, हों! आहाहा!

इन दो में बहुत समाहित कर दिया है। एकत्वबुद्धि और पर का आश्रय (रूप) व्यवहार। दो में अन्तर है। एकत्वबुद्धि में पर का कर सकता हूँ, ऐसा भाव है और व्यवहार में पर का कर सकता हूँ, यह (भाव) नहीं, परन्तु पर के लक्ष्य से अपने में हुआ भाव है। दया का, दान का, व्रत का, तप का, भक्ति, पूजा का, नामस्मरण—भगवान... भगवान (करे), यह णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... (बोले) वह सब परलक्ष्यी भाव है, वह सब शुभभाव है। उसे भी भगवान ने धर्म नहीं मानकर (उसे छोड़नेयोग्य है, ऐसा कहा है)। उसमें धर्म नहीं है। अरे!

मिथ्यात्वभाव का हुआ है त्याग, उसको मैं ऐसा मानता हूँ कि 'निखिलः'.... देखा! जितने सत्य और असत्यरूपी भाव (होते हैं वे)। **'निखिलः'** समस्त प्रकार के शुभ-अशुभभाव। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी समकिती को तो हेय है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, प्रभु! क्या हो? अरे! अनन्त काल से मिथ्याश्रद्धा करके नरक और निगोद के, प्रभु! अनन्त भव किये, भाई! भूल गया। रामजीभाई कहते हैं न? याद तो आते नहीं। आहाहा! परन्तु प्रभु! तू आत्मा है या नहीं? वह आत्मा अनादि का है या नया होता है? यह तो शरीर का संयोग नया हुआ, (यह) शरीर का वियोग हुआ। आत्मा को संयोग होता है? आत्मा तो अनादि का है (और) अनन्त काल रहेगा। वह तो शाश्वत् वस्तु है। ऐसे भगवान को... आहाहा! परवस्तु को करने की एकत्वबुद्धि, प्रभु! तू एक, अनेक को करे? तेरे परिणाम में शुभ-अशुभ, शुद्ध (परिणाम) कर, हो। यहाँ तो शुभ-अशुभ करे और कर्ता हो तो भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! होते अवश्य हैं, यह तो दोपहर में आता है न? (यह) भाव होता है, परन्तु वह करनेयोग्य है, ऐसी मान्यता धर्मी को नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! कितना बदलना इसमें! पूरा पूर्व-पश्चिम (जैसा है)।

मुमुक्षु : दिशा ही बदलनी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिशा बदलने की है, बापू! आहाहा! पर की दिशा की ओर गया हुआ भाव, पर के करने में रुके तो एकत्वबुद्धि में मिथ्यात्व को सेवन करे। अपने स्वरूप से हटकर, पर को अनुसरकर जो दया, दान, व्रत के परिणाम होते हैं, वे पुण्यबन्ध के कारण हैं। एकत्वबुद्धि छुड़ाकर उसके साथ पराश्रित भाव भी छुड़ाया है।

'निखिलः व्यवहारः' सब व्यवहार छुड़ाया है। (यह सुनकर) अभी के पण्डित चिल्लाहट मचाते हैं।

मुमुक्षु : शुद्ध व्यवहार भी छुड़ाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध व्यवहार छुड़ाया है। द्रव्यदृष्टि में वह भी हेय है। जाननेयोग्य में वह होता है और उसे—शुद्ध (परिणाम को) करनेयोग्य (है ऐसा) भी कहा जाता है। करनेयोग्य है, ऐसा भी कहा जाता है। द्रव्य करता है, ऐसा भी कहा जाता है। है तो

पर्याय करती है। ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! शुद्ध परिणाम है, उसे एक न्याय से तो कहा नहीं? परद्रव्य कहा है।

मुमुक्षु : शुद्धपर्याय को परद्रव्य कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध परिणाम कहो या शुद्ध पर्याय कहो, एक ही है। या शुद्धभाव कहो। जो शुद्ध परिणाम धर्म का रूप है, उसे एक न्याय से स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य कहा। क्योंकि उसका आश्रय करने जाये तो राग होगा। आहाहा! धर्म प्रगट हुआ है, उसका आश्रय करने जाये तो भी राग होगा। तो पर के आश्रय से हुआ व्यवहार (वह तो छोड़नेयोग्य है ही)। सम्यग्दृष्टि जीव को पराश्रित व्यवहार छुड़ाया है। ऐसा कठिन मार्ग, भाई!

मुमुक्षु : साक्षात् व्यवहार किस प्रकार छूटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार छोड़ना है (तो) अन्दर साक्षात् स्वरूप में जाये तो व्यवहार छूट जाता है। स्वरूप सन्मुख का आश्रय करके परिणमे (तो) व्यवहार छूट जाता है। व्यवहार साथ में नहीं आता।

मुमुक्षु : छूट जाता है अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : छूट जाता है अर्थात् उदय नहीं होता। इतना उदय नहीं होता, वह छूट जाता है। और है, उसे भी हेयरूप जानता है। आहाहा! बात-बात में अन्तर! वह दुनिया में कहते हैं न? 'आणंद कहे परमाणंदा माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मळे और एक तांबियाना तेर' ऐसे यहाँ त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा कहते हैं, हे जीव! तेरी श्रद्धा और मान्यता में, बात-बात में, मेरी श्रद्धा और तुझमें अन्तर है, भाई! आहाहा! ऐसा है। समय हो गया?

जितना है सत्यरूप अथवा असत्यरूप व्यवहार.... है? 'जितना' शब्द है, वापस, देखा? '**निखिलः**' है न? जितना व्यवहार, कोई भी शुभ आदि विकल्प आदि, वह सब त्याज्य है। आहाहा! है न? **व्यवहार अर्थात् शुद्ध स्वरूपमात्र से विपरीत जितने मन-वचन-काय के विकल्प वे सब सर्व प्रकार छूटे हैं।** विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १३, शुक्रवार, दिनांक-२३-१२-१९७७, कलश-१७३, प्रवचन-१८३

कलश टीका, १७३ कलश (चलता है)। भावार्थ है। अन्तिम चार लाईनें हैं न? सूक्ष्म अधिकार है। भगवान जिनेन्द्रदेव ऐसा फरमाते हैं कि पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, दूसरे जीव को मैं सुविधा दे सकता हूँ, यह भाव मिथ्यात्वभाव है। जरा सूक्ष्म बात है।

बन्ध अधिकार है न? तो मैं आत्मा और दूसरा आत्मा, उसे मैं जिला सकता हूँ, दूसरे को मैं मार सकता हूँ, दूसरे को मैं सुख दे सकता हूँ, सुविधा दे सकता हूँ, दूसरे को मैं असुविधा दे सकता हूँ, इत्यादि-इत्यादि क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। जैन-परमेश्वर उसे मिथ्यात्व कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। बन्ध अधिकार है न?

यह तो ठीक, पर की एकत्वबुद्धि का तो निषेध किया। यह आत्मा परपदार्थ का कुछ कर सकता, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। क्योंकि परपदार्थ भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है, उसे यह स्वतन्त्र आत्मा पर का (कुछ) करे, ऐसा तीन काल में नहीं बनता। यह बात तो एक ओर रही। पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, यह बात तो मिथ्यात्व है परन्तु आचार्य—कुन्दकुन्दाचार्यदेव, अमृतचन्द्राचार्यदेव दिगम्बर सन्त तो ऐसा कहते हैं कि जब भगवान ने पर की एकत्वबुद्धि का त्याग कराया, पर को जिलाऊँ—बचाऊँ ऐसी बुद्धि का त्याग कराया तो मैं ऐसा मानता हूँ कि पर के आश्रय से जितना व्यवहार (होता) है, वह भी त्याज्य है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

धर्मी जीव (कि) जिसे धर्म प्रगट हुआ है (अर्थात्) मैं आत्मा आनन्द, ज्ञानस्वरूप हूँ - ऐसी जिसे अन्तर में वस्तुस्वभाव की दृष्टि और अनुभव हुआ, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे धर्म की पहली सीढ़ी कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह धर्म की पहली सीढ़ी जिसे प्रगट हो तो उसे कहते हैं कि पर की एकत्वबुद्धि का तो त्याग है, परन्तु पर के आश्रय से जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव होते हैं, वह भी बन्ध का कारण है; इसलिए ज्ञानी को वे भी त्याज्य अर्थात् हेय हैं। आहाहा!

यह सूक्ष्म बात है। यह कहा। भावार्थ है न? भावार्थ है? कलश में अन्तिम लाईन है, अन्तिम चार लाईन! भावार्थ।

भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वोक्त मिथ्या भाव जिसके छूट गया, उसके समस्त व्यवहार छूट गया। आहाहा! जिसे मिथ्यात्व का नाश होता है और अपने चैतन्यस्वरूप के अनुभव की सम्यक् दृष्टि हुई... आहाहा! उसे सकल व्यवहार त्याज्य है, दृष्टि में उसका आदर नहीं है। व्यवहार आता है, परन्तु वह त्याज्य है, दृष्टि में उसे हेय मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव को व्यवहार का भाव—दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, भक्ति के भाव आते हैं, परन्तु वह व्यवहार है, बन्ध का कारण है। आहाहा! जो सम्यग्दृष्टि जीव—धर्म की पहली सीढ़ी—मोक्षमहल की पहली सीढ़ी, वह सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली सीढ़ीवाले को, पर को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ—यह बुद्धि तो नाश को प्राप्त हो गयी है, परन्तु पर के आश्रय से जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव आता है, वह भी सम्यग्दृष्टि को दृष्टि में उसका हेयपना है, अर्थात् त्याज्य है। दूसरे प्रकार की बात है। न्यालभाई! (यह) सब कभी सुना नहीं, मुम्बई में ऐसे के ऐसे हैरान हो गये।

मुमुक्षु : रखड़पट्टी।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची, बापू! रखड़पट्टी की है, बापू! अन्दर यह भगवान आत्मा कौन है, इसकी खबर नहीं होती और मैं आत्मा पर का कर दूँ, पर को आहार दे सकूँ, पानी दे सकूँ, औषध दे सकूँ... यह सब कार्यकर्ता यह अभिमान करते थे। न्यालभाई! सही बात है न? यह तो जानने के लिये बात है न! आहाहा! हम ऐसा कर देते हैं, दुनिया को व्यवस्था कर देते हैं, मकान बना देते हैं, कुँआ खोद देते हैं, तालाब बना देते हैं, औषध और दवाखाना बना देते हैं, दवाखाना! दवाखाना को क्या कहते हैं? हॉस्पीटल! लोगों को दवा मिले... कहते हैं कि पर की क्रिया आत्मा कर सकता ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का अर्थ क्या? (कार्य) होता है, तब उसे निमित्त कहा जाता है, परन्तु उससे हुआ, यह बात है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान!

तेरा स्वरूप तो अन्दर सच्चिदानन्द है। सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और अतीन्द्रिय

आनन्द का सागर प्रभु आत्मा है। आहाहा! उसकी जिसे दृष्टि हुई, अभी सम्यग्दर्शन (हुआ है), हों! चारित्र बाद में, चारित्र तो अलौकिक बातें हैं! यहाँ तो प्रथम सम्यग्दृष्टि को (ऐसा भान हुआ है कि) अपने अतिरिक्त पर का कोई भी कार्य किंचित् एक तिनके के दो टुकड़े कर सकूँ, वह मैं नहीं हूँ। समझ में आया? यह तुम सब उल्टे धन्धे करते हो न! हीरा बेचे और हीरा के पैसे लिये। यह मान्यता झूठी है, कहते हैं। आहाहा!

परमात्मा जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा 'सीमन्धर' भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। महाविदेहक्षेत्र में परमात्मा साक्षात् विराजमान हैं। वहाँ पहले कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में (गये थे)। यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर सन्त थे। (इस परमागममन्दिर में) यह बीच में है न? वे वहाँ भगवान के पास गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे। आहाहा! वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं। तो यहाँ 'बन्ध अधिकार' में ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु तो ऐसा कहते थे... आहाहा! कि एक आत्मा दूसरे द्रव्य का कुछ कर नहीं सकता और कर सके, ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता है, वह जैन नहीं है, उसे जैन की श्रद्धा नहीं है। आहाहा! तदुपरान्त पर की एकत्वबुद्धि तो छुड़ाई, परन्तु पर के आश्रय से जो भाव होता है—दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, शुभभाव (होता है), वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! सम्यग्दृष्टि को वह भी हेय है। आहाहा! समझ में आया?

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है! ऐसी चीज़ सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है। सिवाय कहते हैं अलावा। आहाहा! जिसमें है, उसकी भी उन्हें खबर नहीं।

भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वोक्त मिथ्या भाव जिसके छूट गया,... (अर्थात्) पर की कर्ताबुद्धि छूट गयी है और पर के आश्रय से जो व्यवहार उत्पन्न होता है, वह भी दृष्टि में से छूट गया है। आहाहा! (व्यवहार) रहा, परन्तु दृष्टि में से छूट गया है। उसका आश्रय नहीं और इसका आदर नहीं। ऐसी बात है, बापू! भगवान! अनादि काल से हैरान होकर दुःखी होकर भटकता है। अपनी चीज़ क्या है? और पर क्या है? उसका कुछ भान नहीं है, भेदज्ञान नहीं है। पर से मेरी चीज़ भिन्न है और मुझसे परचीज़ भिन्न है, तो भिन्न (पदार्थ का) मैं कुछ कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : परस्पर एक-दूसरे को मदद करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन मदद कर सकता है? यह तो निमित्त की अपेक्षा से उपग्रह कहने में आया है। परस्परोग्रहो! वह तो उसके कारण से वहाँ होता है, तब निमित्त हो, उसे कहने में आता है कि यह निमित्त है, बस! परन्तु उससे पर में हुआ है, (ऐसा नहीं है), किंचित्मात्र नहीं होता। आहाहा! अरे!

यहाँ प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि **मिथ्या भाव जिसके छूट गया,...** जिसकी मिथ्याश्रद्धा छूट गयी है... आहाहा! और जिसे अन्दर सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली सीढ़ी (प्रगट हुई), यह छहढाला में आता है 'मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी' आहाहा! यह सम्यग्दर्शन अपूर्व चीज़ है, भाई! हम देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं, नवतत्त्व को भेद से मानते हैं, वह सम्यग्दर्शन है, ऐसी चीज़ नहीं। आहाहा!

यहाँ तो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, वह पूर्ण आनन्द और पूर्ण द्रव्य की दृष्टि जिसे अन्तर में हुई, ऐसे सम्यग्दृष्टि को वह सर्व व्यवहार हेय कहने में आया है। आहाहा! ऐसी बात है। बहुत कठिन! है अन्दर?

मिथ्या भाव जिसके छूट गया, उसके समस्त व्यवहार छूट गया। है इसमें? यह कलश अमृतचन्द्राचार्य का है। दिगम्बर (सन्त)! मूल श्लोक कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हैं और यह कलश हैं, वे अमृतचन्द्राचार्यदेव के हैं, उनकी टीका राजमलजी ने की है। राजमल जैनधर्म के मर्मी थे, उसमें से बनारसीदास ने समयसार नाटक बनाया है।

यहाँ कहते हैं कि जिसे मिथ्यात्व छूट गया... आहाहा! **उसके समस्त व्यवहार छूट गया।** आहाहा! दृष्टि में से पर की एकत्वबुद्धि तो छूट गयी परन्तु पर के आश्रय से जो व्यवहार—दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत आदि के भाव (होते हैं), वे भी दृष्टि में से छूट गये। व्यवहार छोड़नेयोग्य है, आदर करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को व्यवहार आता है, परन्तु उसे हेयरूप से मानता है। उपादेयरूप से ग्रहण करनेयोग्य है, ऐसा आदर नहीं करता। आहाहा! मिथ्यादृष्टि, जिसे जैन की खबर नहीं कि क्या चीज़ है, वह शुभभाव को आदरणीय मानकर, उससे मुझे परम्परा कल्याण होगा, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि व्यवहार को आदरणीय मानता है। समझ में आया? एक लाईन में तो बहुत (भर दिया है)। पंक्ति, पंक्ति कहते हैं न?

भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वोक्त मिथ्या भाव जिसके छूट गया, उसके समस्त व्यवहार छूट गया। आहाहा! दृष्टि में कोई भी व्यवहार का आदर रहा नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। यह श्लोक ही ऐसा ऊँचा है! **कारण कि मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एक वस्तु है।** आहाहा! गजब बात है, प्रभु! जितनी पर की एकताबुद्धि मिथ्यात्व है, वह व्यवहार है और पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले दया, दान, व्रत (के भाव), वह व्यवहार है, उसे अपनी मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। जितना व्यवहार है, उतना मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! दो लाईन में तो पूरे जैनदर्शन का सार भर दिया है! यह बात जैन परमेश्वर के श्रीमुख से निकली हुई बात है! आहाहा! अरे! जगत के प्राणी कहाँ-कहाँ (धर्म) मानते हैं और चीज़ कहाँ रह गयी, यह खबर नहीं है। आहाहा!

व्यवहार कैसे छूट गया? सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का नाश हुआ तो सब व्यवहार हेय—छूट गया। क्यों? है? **मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एक वस्तु है।** आहाहा! पर के आश्रय से जितना राग आदि शुभ (भाव) होता है, उससे मुझे लाभ होगा, (ऐसा मानता है) तो जितना व्यवहार है, उतना मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! वीतराग परमेश्वर जिनेश्वरदेव का मार्ग समझना अपूर्व पुरुषार्थ है!

अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र भी वह समझा नहीं। वैसे तो 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' यह छहढाला में आता है। 'मुनिव्रत धार' मुनि के व्रत लिये, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण (पालन किये)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' नौवें ग्रैवेयक गया, 'पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आहाहा! यह महाव्रत के परिणाम, दया, दान, व्रत के परिणाम (होते हैं), वह राग है, वह आस्रव है और दुःख है। आहाहा! ऐसा होने पर भी आत्मज्ञान नहीं हुआ। स्वर्ग में भी अनन्त बार उत्पन्न हुआ। दिगम्बर मुनि पंच महाव्रत लेकर, हजारों रानियाँ छोड़कर (जंगल में गया)। राग है, वह दुःख है। आहाहा! ऐसा होने पर भी, 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो। पै निज आतम ज्ञान बिन सुख लेश न पायो।' इसका अर्थ क्या हुआ? यह पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति का जितना व्यवहार है, वह सब राग है, वह सब दुःख है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

आतमज्ञान—पुण्य-पाप के परिणाम से रहित मेरी चीज़ अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप

भगवान आत्मा मेरा है... आहाहा! 'घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन।' बनारसीदास समयसार नाटक (में लिखते हैं।) 'घट-घट अन्तर जिन बसै' भगवान आत्मा अन्दर जिनस्वरूपी है। वीतरागी स्वरूप ही आत्मा का है, तो वीतरागस्वरूप है, तो पर्याय में केवली परमात्मा वीतराग हो जाते हैं। है, उसमें से हो जाते हैं। प्राप्त की प्राप्ति है। आहाहा! 'घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन।' जैनपना कहीं बाहर में नहीं। आहाहा! राग की एकताबुद्धि तोड़कर, व्यवहार से भी लाभ नहीं और मेरे आनन्दकन्द प्रभु के आश्रय से मुझे लाभ है—ऐसी बुद्धि हुई, उसने जिनस्वरूप को जाना, इसलिए उसे जैन कहने में आता है। यह सम्प्रदाय में तो सब जैन... जैन... कहते हैं। आहाहा!

परमात्मा जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं, 'घट-घट अन्तर जिन बसै' अरे! परन्तु यह सब परमात्मा है? अन्दर जिनस्वरूपी ही है। पुण्य और पाप के भाव हैं, वह राग है, उस शुभ-अशुभराग से भिन्न भगवान अन्दर जिनस्वरूप ही विराजता है। आहाहा! ऐसे जिनस्वरूप आत्मा का जिसे अन्तर में अनुभव हुआ, वह जैन कहने में आता है। यह क्रिया ऐसी-ऐसी क्रिया करता है, इसलिए जैन है, ऐसा नहीं है—ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं, **मिथ्यात्व के भाव...** गजब बात है न! विपरीत मान्यता के भाव और **व्यवहार के भाव...** भगवानजीभाई! यह तो ऐसा शब्द ही कभी सुना नहीं, लो! सेठ! आहाहा! जिनेन्द्रदेव के श्रीमुख से सुनकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव सन्देश लाये हैं। महाविदेह में प्रभु कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त गये थे। आहाहा! संवत् ४९, दो हजार वर्ष पहले (गये थे), आठ दिन रहे थे। साक्षात् समवसरण में भगवान की वाणी सुनी और कितने ही शंका-समाधान श्रुतकेवली, गणधर आदि के निकट किया। आहाहा! और वहाँ से आकर इस भरतक्षेत्र में... वे तो भरतक्षेत्र के मुनि थे न! यहाँ आकर यह समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ बनाये। यहाँ भगवान का सन्देश ऐसा था, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जितना पर के आश्रय से व्यवहार है, वह धर्मी को हेय है। आहाहा! अधर्मी को

उपादेय है और धर्मी को हेय है, यह बात है। हरिभाई! यह ऐसी बातें हैं। लोगों को ऐसा लगे, अर..र..! हाय... हाय... यह तो व्यवहार का लोप हो जाता है। यहाँ तो प्रभु यह कहते हैं, व्यवहार आता है; आत्मज्ञान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, राग को-व्यवहार को हेय माना तो भी व्यवहार तो आता है। आता है परन्तु हेयरूप से आता है, ज्ञानी उसे उपादेयरूप से नहीं मानते। आहाहा! समझ में आया?

सच्चे सन्त हो, जिनका प्रचुर स्वसंवेदन लक्षण है। मुनि का लक्षण क्या? अन्दर प्रचुर स्वसंवेदन, जिनका लक्षण है। प्रचुर अर्थात् बहुत आनन्द का वेदन जिसका लक्षण है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन जिनका भावलिंग का लक्षण है, ऐसे मुनि को भी पंच महाव्रत आदि के विकल्प आते हैं। आहाहा! परन्तु वे हेय हैं, हैं वे आस्रव, हैं वे दुःख। आहाहा! भारी कठिन काम। एक भाई ने कहा था न (कि हिन्दी में लो तो) यह हिन्दी लिया। भाई कहते थे न! फिर पूछा था (तो खबर पड़ी की) बहुत लोग हैं। इसलिए हिन्दी लिया। भाई ने कहा था। आहाहा!

भगवन्त! तेरा स्वरूप कोई अलौकिक है, नाथ! तुझे तेरी खबर नहीं, प्रभु! आहाहा! तेरी चीज़ में तो शरीर, वाणी, मन तो है ही नहीं, कर्म तो है ही नहीं। पाप के परिणाम—हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, पाप के परिणाम भी आत्मा में नहीं हैं और दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्य परिणाम भी आत्मा में नहीं हैं। क्योंकि नव तत्त्व हैं। तो नव तत्त्व में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना पापतत्त्व में जाते हैं और दया, दान, भक्ति, तपस्या के पुण्यभाव आते हैं, वे पुण्यतत्त्व में जाते हैं, तो नव तत्त्व में पुण्य-पाप तत्त्व से भगवान भिन्न तत्त्व है। आहाहा! पढ़ते हो या नहीं वहाँ कभी? पढ़ते हो? कभी-कभी या प्रतिदिन?

मुमुक्षु : किसी दिन।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी दिन होगा? प्रतिदिन हीरा का पाप करना और यह किसी दिन? शान्तिभाई! यह भाई कहते हैं, मैं किसी दिन पढ़ता हूँ। इसका अर्थ क्या? पूरे दिन हीरा के (धन्धे के) पाप करना (और) किसी दिन यह (करना)? आहाहा!

मुमुक्षु : कितने घण्टे पढ़ना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... ! परन्तु...

मुमुक्षु : पढ़ते हैं, तब दो-तीन घण्टे पढ़ते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ते हैं, तब दो-तीन घण्टे पढ़ते हैं। नहीं पढ़ते, तब कुछ नहीं! बात तो है ऐसी कहते हैं। अरे! भाई! यह तो हमेशा (होना चाहिए)। भोजन बिना किसी दिन चलता है? उसी प्रकार यह तो खुराक है। भगवान की-वीतराग की वाणी, दिगम्बर सन्तों की वाणी, वह तो वीतराग की वाणी है। ऐसी वस्तु अन्यत्र कहीं है ही नहीं। कोई पन्थ, मत में कहीं नहीं है। ऐसी वाणी के लिये तो प्रतिदिन प्रभु! दो-चार घण्टे तो निकालना चाहिए। वाँचन के बिना यह बात नहीं बैठती। एकदम अनजाने व्यक्ति को तो (ऐसा लगे कि) यह तो क्या कहते हैं? आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें कुछ समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, उसमें से यह समझ में आता है।

आत्मा के अतिरिक्त जितने परपदार्थ हैं, मैं स्त्री को, परिवार को, पुत्र को पाल सकता हूँ, यह बात एकदम मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया?

मुमुक्षु : हम पूरे दिन मिथ्यात्व में ही रहते लगते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से मिथ्यात्व में ही पड़े हैं। निहालभाई ने अभी नहीं कहा? हम रखड़पट्टी में रहे हैं। भाई ने ऐसा कहा न? बात सत्य है, बापू! यहाँ तो बापू! तत्त्व की बात है, भगवान! आहाहा!

तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव ऐसा फरमाते हैं, जितना मिथ्यात्वभाव है, उतना व्यवहार भाव है। यह समयसार नाटक में भी आता है। केवली उकत है। जितना मिथ्यात्वभाव, उतना व्यवहार भाव। अर्थात्? कि जितना पर के आश्रय से राग उत्पन्न होता है, उसे अपना मानना, वह मिथ्यात्व है और अपने अतिरिक्त परद्रव्य की कोई भी क्रिया मैं कर सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : बराबर डंका बजा!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह डंका तो भगवान का है न! बात तो यह सत्य है। क्या करे,

प्रभु! लोग ऐसा भी कहते हैं कि अरे रे! यह तो व्यवहार का नाश होता है। प्रभु! परन्तु व्यवहार किसे कहते हैं? तुझे खबर नहीं है।

जिसे आत्मदर्शन हुआ हो, आत्मज्ञान हुआ हो और सम्यग्दर्शन में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का थोड़ा स्वाद आया हो, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उस सम्यग्दृष्टि को व्यवहार आता है। अन्दर में स्थित नहीं रह सकता, तब व्यवहार—व्रत, तप, भक्ति, पूजा के भाव आते हैं। आते हैं तो भी वे हेय हैं, आस्रव हैं, बन्ध का कारण है—ऐसा समकिती मानता है। आहाहा! धर्मचन्दजी! आहाहा! जितना मिथ्यात्वभाव है... है?

कारण कि मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एक वस्तु है। आहाहा! गजब बात की है! व्यवहार भाव आता है तो मिथ्यात्व है, ऐसा नहीं। परन्तु व्यवहार भाव मेरा है—ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्वभाव है, तो जितना व्यवहार है, उतना मिथ्यात्वभाव है, ऐसा कहते हैं। इस मान्यता की अपेक्षा से (बात है)। आहाहा!

आत्मा में जितना पर के आश्रय से (भाव होता है), भगवान की भक्ति का भाव आया, वह भी पर के आश्रय से (हुआ है), राग है और राग अपना माना है, वह मिथ्यात्वभाव है। अरे रे! आहाहा! क्योंकि वह रागतत्त्व, पुण्यतत्त्व है। भगवान ज्ञायकतत्त्व चैतन्यमूर्ति भगवान चैतन्यस्वरूपी प्रभु भिन्न है। उस चैतन्यतत्त्व में व्यवहार का जो दया, दान, व्रत, आदि का राग (उठता है), वह मेरा है और मुझे उससे लाभ होगा, तो जितना मिथ्यात्व है, उतना व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! कहो, समझ में आया? बनारसीदास ने उसमें (लिखा है)। जितना मिथ्यात्वभाव उतना व्यवहारभाव। 'केवली उकत' है। (अर्थात्) सर्वज्ञ भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसमें से यह निकाला है। पूरा समयसार नाटक इस कलश (टीका में से) बनाया है। आहाहा! अरे रे!

जिनेन्द्र वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि, उनकी वाणी ऐसे नहीं होती। भगवान की वाणी, हम बोलते हैं, ऐसी भाषा उनको नहीं होती। वे तो वीतराग हैं। ॐध्वनि उठती है, आहाहा! एकाक्षरी! 'मुख ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव के मुख में, महाविदेह में प्रभु विराजते हैं। 'मुख ॐकार ध्वनि सुनि।' ॐ आवाज अन्दर से आती है। ऐसी भाषा उन्हें नहीं होती। क्योंकि वीतराग हो गये हैं। जो रागी प्राणी हैं, उन्हें भेदवाली भाषा होती है। वीतरागी

हों, उनकी भाषा एकाक्षरी ॐकार ध्वनि आती है। आहाहा! वीतराग के अतिरिक्त यह बात कहीं है नहीं। आहाहा!

यह परमात्मा के मुख में से (वाणी आती है, ऐसा कहा जाता है, बाकी तो) पूरे शरीर में से भाषा आती है। परन्तु लोग देखते हैं कि यह भाषा है, ऐसा विचारकर मुख कहा है। शास्त्र में ऐसा शब्द प्रयोग किया है। 'मुख ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै' अकेले मुख में से भाषा नहीं आती। भगवान को तो होंठ बन्द होते हैं, तालु हिलता नहीं और पूरे शरीर में से ॐ ऐसी ध्वनि उठती है। आहाहा! शान्तिभाई! यह तो दूसरी बातें हैं। आहाहा!

भगवान पूर्ण आनन्द वीतराग हो गये हैं। आहाहा! सर्वज्ञ केवली तीन काल-तीन लोक को एक समय में जानते हैं। आहाहा! उनकी वाणी ॐ एकक्षरी (होती है)। उसमें सात सौ भाषायें आती हैं। सुननेवाले अपनी भाषा में समझते हैं परन्तु भगवान के मुख में से ॐ ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारै। भगवान की वाणी में से आगम रचते हैं। भगवान की वाणी में से आवे, उसे आगम कहते हैं, हों! आहाहा! देखो, यह सब परमागम है। इनमें पौने चार लाख अक्षर हैं। यह सब परमात्मा की वाणी है। सन्तों की वाणी, दिगम्बर मुनियों की वाणी है। पौने चार लाख अक्षर हैं, मशीन से उत्कीर्ण हैं, हिन्दुस्तान में पहला-पहला है। मशीन कहीं आयी नहीं। यहाँ इटली से मशीन आयी थी, यहाँ है। उससे ये पौने चार लाख अक्षर उत्कीर्ण हुए हैं, इसलिए इसे परमागम (मन्दिर) कहा जाता है। परमागम मन्दिर कहा जाता है। पौने चार लाख अक्षर! सोने के अक्षर साठ हजार करने थे। लोग कहते थे। हमने कभी कहा नहीं कि तुम इतना करो। लोग कहे कि हमें यह करना है। साठ हजार सोने के अक्षर! मैंने इनकार किया, भाई! हम जंगल में हैं, तुम साठ हजार सोने के अक्षर (लिखना चाहते हो)। बन्द रखा, पन्द्रह हजार करके बन्द कर दिया। यह बनने का हो, वहाँ बनता है, उसे बनानेवाला आत्मा ऐसा माने कि मैंने बनाया! आहाहा! कठिन बातें हैं। उसका भाव शुभ हो, परन्तु वह शुभ भी पुण्य है, वह भी पराश्रित भाव है और उससे धर्म माने तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म का कारण माने तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण-फारण बिल्कुल नहीं है। धर्म वीतरागी पर्याय का कारण, कारणपरमात्मा आत्मा है। त्रिकाली भगवान सच्चिदानन्द प्रभु; सर्वज्ञ भगवान ने कहा, वह आत्मा। दूसरे कहते हैं, वह नहीं। ऐसा जो अन्दर आत्मा पूर्णानन्द का नाथ (विराजता है), जिसे प्रभु कारणपरमात्मा कहते हैं। वह कारणपरमात्मा धर्म की पर्याय का कारण होता है। आहाहा! बहुत अन्तर, बात-बात में अन्तर! आहाहा!

यहाँ तो इतने शब्द का अर्थ महाकठिन है। **कारण...** क्या कारण ? **कि मिथ्या भाव जिसके छूट गया, उसके समस्त व्यवहार छूट गया। कारण...** अब कहते हैं, इसका हेतु ? **कि मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एक वस्तु है।** आहाहा! जितना पर का कर सकता हूँ, यह मिथ्यात्व भाव है, यह व्यवहार है और पर के आश्रय से होनेवाला व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव, वह भाव भी पराश्रित लक्ष्यवाला भाव है। उसे अपना मानना अर्थात् जितना मिथ्यात्वभाव है, उतना व्यवहार भाव कहने में आता है। आहाहा! यह कठिन बातें हैं! साधारण लोगों को तो पागल जैसा लगे, ऐसा है। यह क्या लगायी है ? भगवान ने ऐसी लगायी है, बापू! तू सुन!

बापू! तीन लोक के नाथ, गणधर और इन्द्रों के बीच ऐसा फरमाते थे। आहाहा! गणधर और इन्द्र तथा बाघ और सिंह और नाग जंगल में से समवसरण में चले आते थे। आहाहा! ऐसी धर्मसभा के भगवान की यह वाणी थी। उस वाणी की रचना यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य ने दो हजार वर्ष पहले की थी। पश्चात् हजार वर्ष के बाद अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त हुए, उन्होंने यह टीका और कलश बनाये। आहाहा! कठिन बात है, सेठ! मिथ्यात्वभाव और व्यवहारभाव एक (वस्तु) यह क्या कहते हैं ? अर्थात् इसका अर्थ दूसरा है, हों!

व्यवहारभाव, वह मिथ्यात्वभाव नहीं है। व्यवहारभाव है, वह तो ज्ञान के ज्ञेयरूप से वस्तु है। परन्तु वह व्यवहार है, वह मेरा है और मुझे लाभ करेगा अर्थात् जितना मिथ्यात्वभाव, उतना व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! व्यवहारभाव, वह मिथ्यात्वभाव होवे, तब तो समकिती-ज्ञानी को व्यवहार तो आता है, भगवान की भक्ति, विनय, पूजा

का भाव तो आता है। वह भाव होता है, वह मिथ्यात्वभाव नहीं है, परन्तु वह भाव मेरा है—ऐसा माने इतना मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि पुण्यतत्त्व भिन्न है, ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहाहा! सूक्ष्म बातें, बापू!

जैनधर्म को समझना बहुत कठिन काम! जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं, वह तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा! 'जिन सो हि है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म' आहाहा! 'जिन सो हि है आत्मा' यह जो जिनस्वरूपी वीतरागमूर्ति, अकषाय स्वभाव का पिण्ड प्रभु आत्मा है। तीनों काल में, हों! आहाहा! यह 'जिन सो हि है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म,' पुण्य और पाप आदि भाव और सब पर, वह कर्मजन्य उपाधि है। आहाहा! इस भगवान आत्मा के स्वभाव में उस उपाधिभाव का अभाव है। उसके बदले वह उपाधिभाव मेरा है, मुझे लाभ करेगा—ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्व है। इसलिए जितना मिथ्यात्वभाव (होता है), उतना व्यवहारभाव है, इस अपेक्षा से कहने में आया है। व्यवहारभाव, वह मिथ्यात्वभाव होवे तो व्यवहार तो मुनि को भी आता है। आत्मज्ञानी ध्यानी आनन्द के अनुभवी, अतीन्द्रिय आनन्द जिन्हें उल्लसित हो निकला है, उनका नाम मुनि है। उन्हें भी पंच महाव्रत के विकल्प आते हैं, भगवान की भक्ति का राग आता है, परद्रव्य का विनय करे तो इतना राग है। यह राग है, वह मिथ्यात्व नहीं है परन्तु जितने प्रकार का राग है, उतने प्रकार का मुझे लाभ होगा, यह सब व्यवहार, वह मिथ्यात्व है—ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? कितनों ने तो पहले सुना भी नहीं होगा, क्या है यह? वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि का यह सार है। आहाहा!

जितने मिथ्यात्वभाव **तथा व्यवहार के भाव एक वस्तु है।** देखा? क्या कहा यह? मिथ्यात्वभाव—विपरीत मान्यता का भाव और व्यवहारभाव—दोनों एक चीज़ है। अर्थात्?—कि जितना व्यवहार है, उतना मेरा माना, वह मिथ्यात्वभाव है और उतना व्यवहारभाव है। मानने की अपेक्षा की बात है, हों! आहाहा! व्यवहारभाव आवे, वह मिथ्यात्व है, ऐसा नहीं है। व्यवहार तो सन्तों को भगवान की भक्ति, विनय, नमस्कार, नामस्मरण, णमो अरिहन्ताणं का स्मरण, ऐसा भाव तो आता है, परन्तु वह तो राग है

किन्तु राग को अपना माने तो जितना व्यवहार (भाव है), उतना मिथ्यात्व (भाव) है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! व्यवहार है, वह मिथ्यात्वभाव है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : यह गजब स्पष्टीकरण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा है, बापू! क्या हो? यह तो भगवान की पैढ़ी है, भाई! त्रिलोकनाथ परमात्मा की... आहाहा! उनकी पैढ़ी का स्पष्टीकरण करना कठिन है, बापू! आहाहा!

यहाँ यह कहा, कोई ऐसा ले लेवे कि मिथ्यात्वभाव और व्यवहारभाव एक वस्तु है, तो फिर जिसे व्यवहार हो, वह मिथ्यादृष्टि है (परन्तु) ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! व्यवहार तो जब तक वीतराग न हो, आत्मा परमेश्वर पद को प्राप्त न करे, तब तक साधक जीव को बीच में व्यवहार आता है, परन्तु उस व्यवहार को हेय माने। और उस व्यवहार को उपादेय माने तो जितना मिथ्यात्वभाव, उतना व्यवहारभाव— ऐसा कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया? न्यालभाई! बराबर सुनाई देता है न? सुनाई देता है? ऐसा मैंने कहा। समझ में आता है, (इसमें) अभी देरी है। ठीक, अभी आये तो। ऐसी बातें, बापू! क्या करें? आहाहा!

अरे.. भगवान! तेरी चीज़ अन्दर कोई अलग है। आहाहा! उस भिन्न चीज़ को भिन्न चीज़ के साथ मिलावे तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहना है। भिन्न चीज़ हो, गणधर को भी भगवान के विनय का भाव आवे। अरे! शास्त्र रचे, वह भी विकल्प है, राग है। भाव आता है। आहाहा! परन्तु वह आदरणीय है, वह हितकर है, वह उपादेय है—ऐसा मानना, इसका नाम मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

इसलिए ऐसा कहा कि **मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एक वस्तु है।** दोनों एक वस्तु है, कहते हैं। आहाहा! राजमल टीका करते हैं! और उनके समयसार नाटक में पद बनाये हैं। बनारसीदासजी (ने बनाये हैं)। आहाहा! हैं न वह? यह निकला, पृष्ठ यह निकला! 'असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्वभाव...' इसमें से निकाला है। 'असंख्यात लोक प्रमाण...' यह क्या कहा? कि आत्मा में शुभभाव असंख्य प्रकार के हैं, शुभभाव के असंख्य प्रकार हैं। दया के, दान के, भक्ति के, पूजा के, व्रत के, अनुकम्पा के, ऐसे शुभभाव के असंख्य प्रकार हैं।

'असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्वभाव, तेई व्यवहारभाव केवली उकत है' आहाहा! जितने मिथ्यात्वभाव हैं, उतना व्यवहार (भाव है), ऐसा केवली भगवान फरमाते हैं। वह इस अपेक्षा से, हों! व्यवहार अपना माने, इस अपेक्षा से। व्यवहार आवे, उसे मिथ्यात्वभाव है, ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु व्यवहार को उपादेयरूप से (माने)। राग है, वह मेरी चीज़ है, (ऐसा माने), वह राग व्यवहार आत्मा की चीज़ है, यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! आत्मा की होवे तो आत्मा में से निकल न जाए। निकल जाए, वह (चीज़) आत्मा की नहीं है। सिद्ध भगवान को राग नहीं रहता, निकल जाता है। इसलिए राग आत्मा की चीज़ नहीं है। आहाहा!

'असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्वभाव, वह व्यवहारभाव केवली उक्त्व है, जिनको मिथ्यात्व गयो...' आहाहा! बनारसीदास ने इसमें से बनाया है। 'जिनको मिथ्यात्व गयो सम्यक्त्व दरश भयो तै नियत लीन व्यवहार से मुक्त है।' यह बात है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप में उसकी लीनता है। व्यवहार है, परन्तु उसमें वह हेयबुद्धि से, उससे मुक्त है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अभी बनारसीदास की मश्करी करते हैं। बनारसीदास और टोडरमलजी अध्यात्म की भाँग पीकर नाचे थे! अरे रे! ऐसी नहीं कहा जाता, प्रभु! टोडरमल जैसे मोक्षमार्गप्रकाशक के रचनाकार, बनारसीदास। आहाहा! ऐसा स्वयं को नहीं जँचता, इसलिए उन्हें उड़ाया। अध्यात्म की भाँग पीकर नाचे हैं, ऐसा कहा। अरर! अरे! भाँग हो, बापू! तुझे खबर नहीं है, भाई! आहाहा!

'नियत लीन...' यह भाषा आयी, इसलिए उन्हें विवाद उठा। 'व्यवहार से मुक्त है' व्यवहार आता है परन्तु अन्दर में मुक्त है। उसका आश्रय, आदर नहीं है। आहाहा! 'निर्विकल्प निरुपाधि आतम समाधि साधी' सम्यग्दृष्टि तो राग को नहीं साधता। अपना निजस्वरूप शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द प्रभु का ही अन्दर में साधन करता है। आहाहा! समझ में आया? 'निर्विकल्प निरुपाधि' उपाधि बिना। राग व्यवहार है, उसकी उपाधिरहित भगवान आत्मा अन्दर है। उसे 'आतम समाधि साधी, सुगम मोक्ष पंथ को ढुकत है।' आहाहा! गृहस्थाश्रम में बनारसीदास जैसे भगवान की वाणी है, वैसा फरमाते हैं, कहते हैं। आहाहा! तिर्यंच को सम्यक् दृष्टि हो और सिद्ध को (सम्यग्दर्शन) होवे, (उसमें) सम्यग्दर्शन में क्या अन्तर है? पशु को सम्यग्दर्शन है। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच

पशु हैं। असंख्य समकिती हैं! वहाँ आत्मज्ञानी अनुभवी पंचम गुणस्थानवाले हैं! ढाई द्वीप के बाहर तिर्यंच हैं। आहाहा! टोडरमलजी कहते हैं कि तिर्यंच का समकित और सिद्ध के समकित में क्या अन्तर है? अन्दर स्थिरता, स्वरूप की रमणता में अन्तर है। समझ में आया? समकिती की वाणी और वीतराग की वाणी में कुछ अन्तर (नहीं है), सत् की श्रद्धा में अन्तर नहीं।

'सुगुण मोक्षपन्थ को ढुकत है ते ही जीव परमदशा में स्थिररूप होय के...' आहाहा! है? वह जीव—सम्यग्दृष्टि राग को हेय मानकर अन्दर स्वरूप में स्थिरता करना चाहता है। आहाहा! जितना आनन्दस्वरूप में स्थिर होऊँ, उतना मेरा चारित्र है। आहाहा! चरना, रमना, जमना। सम्यग्दर्शन में आनन्द का जो भान हुआ... आहाहा! उसमें अन्दर आनन्द में जितनी स्थिरता हो, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वे कहीं चारित्र नहीं हैं, वह तो राग है, आस्रव है। अरे! बात की खबर भी नहीं, वहाँ क्या हो? अनन्त काल ऐसा का ऐसा गया। आहाहा!

'धर्म में ढुके न कर्म सो रुकत है' बनारसीदास कहते हैं कि समकिती तो अपने स्वरूप में अन्दर ढुकते हैं। 'न कर्म सो रुकत हैं।' राग में रुकता नहीं है, आ जाता है परन्तु अन्दर जाता है। आहाहा! स्वरूप आनन्द का नाथ प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द आत्मा, उसमें ढुकत है। आहाहा! धर्मी की सन्मुखता और झुकाव आनन्द के ऊपर है। राग आता है परन्तु झुकाव और आश्रय उसका है नहीं। आहाहा! गजब काम, भाई! है? इस (कलश का) यह श्लोक है, हों! वह अपने चलता है वह।

(यहाँ कहते हैं), **कैसा है व्यवहार?** अब मिथ्यात्वभाव और व्यवहार एक कहा, वह इस अपेक्षा से। अपना माने इस अपेक्षा से। तब (कहते हैं), **कैसा है व्यवहार?** है? '**अन्याश्रयः त्याजः**' आहाहा! क्योंकि व्यवहार है, वह अन्य का आश्रय है, उसमें स्व का आश्रय नहीं है। भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, नित्यानन्द सहजात्मस्वरूप प्रभु का आश्रय ले तो धर्मदशा होती है। व्यवहार पराश्रित है। आहाहा!

भावपाहुड़ में ८३ गाथा में कहा है। भावपाहुड़, अष्टपाहुड़ है न, अष्टपाहुड़? कुन्दकुन्दाचार्यदेव का अष्टपाहुड़! पूजा और व्रत, वह जैनधर्म नहीं है, ऐसा ८३ गाथा

में लिखा है। धर्म तो मोह और क्षोभरहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहते हैं। मिथ्यात्व और रागरहित अन्दर की दृष्टि और स्थिरता को भगवान धर्म कहते हैं। आहाहा! साधारण समाज को बात बैठती नहीं, इसलिए उड़ा दी है कि 'नहीं...' एकान्त है... एकान्त है। व्यवहार से भी होता है और निश्चय से भी होता है, यह अनेकान्त है, ऐसा नहीं है। अन्तर के आश्रय से ही धर्म होता है, पर के आश्रय से नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। समझ में आया? आहाहा! अनेकान्त को एकान्त में खतौनी कर डाला और एकान्त को अनेकान्त (खतौनी कर डाला)। व्यवहार से भी कल्याण होगा और निश्चय से भी होगा, दोनों साधन हैं। यहाँ तो इनकार करते हैं। आहाहा!

'**अन्याश्रयः**' कहते हैं कि व्यवहार और मिथ्यात्व एक क्यों (कहे)? क्योंकि व्यवहार अन्य के आश्रय से होता है। दया, दान, पूजा, भक्ति, वह तो अन्य के-पर के लक्ष्य से होते हैं; वे स्व के लक्ष्य से (होते) नहीं और अन्य आश्रय होने से वे त्याज्य हैं। स्व का आश्रय हो, वह उपादेय है। आहाहा! समझ में आया? यह तो दो लाईन में, तीन लाईन में सब समाहित हो गया! ऐसा है। न जँचे, उसे ऐसा लगता है कि यह तो एकान्त है, एकान्त है। ऐसा कहते हैं न? लोग कहते हैं। एकान्त तो उसे कहते हैं कि व्यवहार है ही नहीं और अकेला निश्चय है तो (एकान्त कहलाये)। व्यवहार, व्यवहार के स्थान में है परन्तु वह त्याज्य है। धर्मी को व्यवहार आता ही नहीं, ऐसा नहीं है, परन्तु वह व्यवहार त्याज्य है। क्यों? '**अन्याश्रयः**' (है इसलिए त्याज्य है।)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भाव (होता है), उसे आत्मा का आश्रय है और व्यवहार का राग (होता है) उसे अन्य आश्रय है। आहाहा! इतनी दीपक जैसी बात है! शन्तिभाई! यह सब समझना पड़ेगा, हों! बाहर में धूल में कुछ नहीं है। हैरान होकर मर जाएगा। आहाहा! यह पैसा दो-पाँच दस करोड़ मिले, धूल! तो हो गये हम सेठिया! धूल भी नहीं है। आहाहा! सेठ तो वह कहलाये, प्रभु! आनन्द का नाथ पुण्य के राग से भिन्न है, उसे श्रेष्ठ ऐसी आत्मा चीज़ है, उसे अनुभव करे और माने, वह सेठ-श्रेष्ठ कहलाता है; बाकी सब भिखारी और रंक कहलाते हैं।

आहाहा! विपरीत—भाषा क्या ली है? अन्य का अर्थ विपरीत लिया है। अर्थात्?

कि आत्मा जो आनन्दस्वरूप है, उसका आश्रय नहीं और उसके विपरीत पर अन्य है, उसका आश्रय व्यवहार में है। इसलिए अन्य का अर्थ विपरीत किया है। **विपरीतपना वही है अवलम्बन जिसका,...** आहाहा! जो पूजा, भक्ति, दया, दान, व्रत के परिणाम हुए, उसमें तो अन्य का अवलम्बन है। क्योंकि उसमें लक्ष्य (पर) के ऊपर है, इसलिए वह व्यवहार त्याज्य है और अन्तर शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु उपादेय है और इसमें से निर्मल दशा प्रगट होती है, वह भी उपादेय है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर शुक्ल १५, रविवार, दिनांक-२५-१२-१९७७, कलश-१७३-१७५, प्रवचन-१८४

कलशटीका, १७३ कलश। इसका अन्तिम भावार्थ है न? भावार्थ की चार लाईन। आ गया है तो भी फिर से लेते हैं। उतरता है न? फिल्म में उतरता है।

भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वोक्त मिथ्या भाव जिसके छूट गया.... क्या कहते हैं? जिसे मिथ्यात्व—श्रद्धा जो है कि राग से धर्म होता है, निमित्त की क्रिया से मुझमें लाभ होता है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव संसार का मूल—जड़ है, वह मिथ्यात्वभाव जिसे छूट गया है। सूक्ष्म बात है। **उसके समस्त व्यवहार छूट गया।** जिसे मिथ्यात्वभाव का नाश हुआ, उसे व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव दृष्टि में से छूट गया, उनका आदर रहा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह १७३ कलश का भावार्थ (चलता) है। आत्मा—अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, इस देह में विराजमान प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। उसका जिसे अनुभव हुआ। मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरी चीज़ में कोई पुण्य-पाप के भाव हैं नहीं और ये पुण्य-पाप के भाव भी मेरे नहीं। मुझमें है नहीं, मेरे हैं नहीं और व्यवहार दया, दान, व्रत का विकल्प है, उसमें मैं नहीं। आहाहा! ऐसी जब दृष्टि सम्यक् हुई है... स्पष्ट बात और अलौकिक बात है, भगवान!

आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, भूतार्थ... भूतार्थ—सत्यार्थ त्रिकाल आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, वह सम्यग्दर्शन का विषय / ध्येय है। वह सम्यग्दर्शन जिस प्रगट हुआ, उसे मिथ्यात्व का नाश हुआ। मिथ्यात्व का नाश हुआ, उसे समस्त व्यवहार आदरणीय (रहा नहीं, इसलिए) छूट गया, हेय हो गया। आहाहा! कहो, कल्याणजीभाई! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : कुछ समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझ में आता? फिर से कहते हैं न।

यहाँ कहते हैं कि जिसे आत्मा जो अन्दर है, वह शरीर से रहित है। यह (शरीर) तो मिट्टी-धूल है, इससे भिन्न है, कर्म से भी भिन्न है और पुण्य-पाप के विकार भाव

होते हैं, वे तो आस्रवतत्त्व हैं, उनसे तो भिन्न है। आहाहा! शरीर, कर्म, वह अजीवतत्त्व है, तो अजीवतत्त्व से भगवान जीवतत्त्व भिन्न है। एक बात (हुई)।

अब, अन्दर में जो कोई पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह पुण्यतत्त्व और पापतत्त्व दोनों आस्रवतत्त्व हैं। तो आत्मा की दृष्टि हुई तो आस्रव की दृष्टि छूट गयी। आहाहा! समझ में आया? बात बहुत सूक्ष्म, बापू!

नव तत्त्व है न? तो अजीव, आस्रव, पुण्य-पाप और आत्मा, वे भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। आहाहा! तो जिसे अन्दर आत्मा, जैसी अतीन्द्रिय आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु चीज़ है, उसका स्वभाव आनन्द—अतीन्द्रिय अनाकुल शान्तरस से भरपूर है, प्रभु! उसका अन्तर में, जो अनन्त काल में स्वीकार न था, वह अनन्त आनन्दस्वरूप मैं हूँ, ऐसा स्वीकार और सत्कार हुआ, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। धर्म की पहली सीढ़ी यह है। आहाहा! वह जिसे हुआ, उसे मिथ्यात्वभाव छूट गया। मिथ्यात्वभाव छूट गया, उसे व्यवहारभाव छूट गया। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! वर्तमान में तो बड़ी झंझट चलती है। व्यवहार से निश्चय होता है, (ऐसा चलता है)।

यहाँ तो कहते हैं कि, यह व्यवहार, (जब से) सम्यग्दर्शन हुआ, तब से ज्ञान के ज्ञेयरूप से रहा परन्तु श्रद्धा में से छूट गया। समझ में आया? आहाहा! चाहे तो यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, प्रभु का स्मरण (हो), वह सब राग है, तो जिसे मिथ्यात्वभाव छूट गया, **उसके समस्त व्यवहार छूट गया।** यह महासिद्धान्त है! आहाहा! निश्चय का आदर हुआ और व्यवहार हेय हुआ। समझ में आया? आहाहा! यह तो अपना कार्य करना हो, उसके लिये बात है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... दृष्टान्त देते हैं न? जैसे मृग (होता है, उस) मृग की नाभि में कस्तूरी (होती है)। हिरण की नाभि में कस्तूरी है, परन्तु उसे कस्तूरी की कीमत नहीं है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान भरा है, उसकी कीमत नहीं है। यह दया, दान और व्रत के परिणाम हुए, उनकी कीमत (आती है) अथवा परस्त्री और पैसे में सुख है, ऐसी पर की कीमत मानता है। वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, यह बन्ध अधिकार है। जितना बन्ध का कारण है, व्यवहार रत्नत्रय आदि बन्ध के कारण हैं, वह अबन्धस्वरूप—भगवान आत्मा अबन्धस्वरूप है, (समयसार की) १५वीं गाथा... अबद्धस्पृष्ट प्रभु, अन्दर राग से और कर्म से बँधा हुआ नहीं, अन्दर भिन्न तत्त्व है, मुक्तस्वरूप है। अबद्ध कहो या मुक्त कहो। अबद्ध नास्ति से है। मुक्तस्वरूप चैतन्य में राग और कर्म का सम्बन्ध ही नहीं। आहाहा! ऐसे आत्मा का जिसे अन्तर में स्वीकार हुआ (कि) मैं तो अबन्धस्वरूपी प्रभु आत्मा हूँ, आहाहा! मैं राग नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, कुटुम्ब-फुटुम्ब धूल (-पैसा) तो कहीं बाहर रह गये... आहाहा! ऐसी जिसे प्रथम में प्रथम मोक्षमहल की पहली सीढ़ी (प्रगट हुई)। छहढाला में आता है। मोक्ष—मुक्त अर्थात् पूर्ण दुःख से मुक्त। यह नास्ति से शब्द है। मुक्ति अर्थात् मोक्ष—दुःख से पूर्ण मुक्ति और आनन्द की पूर्ण प्राप्ति। अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण प्राप्ति (हो), उसका नाम मुक्ति है और इन्द्रियजनित जो सब दुःख है, उनकी नास्ति (अर्थात्) नाश (होना), उसका नाम मुक्ति है। उस मुक्ति का उपाय (जिसे प्रगट हुआ)। आहाहा!

आत्मा है, वह जिनस्वरूप है।...आत्मा है, वह जिनस्वरूप है। समयसार नाटक का (पद) बहुत बार कहा है। 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, परन्तु मत मदिरा के पान सो, मतवाला समझे न' 'घट घट अन्तर जिन बसे...' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति जिनस्वरूपी है। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' जैन किसे कहते हैं? कि जिसे अबन्धभाव की दृष्टि हुई, उसे राग की एकता टूट गयी, उसे जैन कहते हैं। जैन कोई सम्प्रदाय नहीं। वह वस्तु का स्वरूप है। आहाहा!

उसमें तो तीन बोल लेना है। एक तो स्वयं जिनस्वरूप प्रभु शुद्ध चैतन्यघन है। उसके आश्रय से जो परिणाम होते हैं, वे भी जिनस्वरूपी वीतरागी परिणाम होते हैं और उनके फलरूप भी वीतरागी पूर्ण केवलज्ञान होता है। जिनस्वरूप, जिनभाव (और) जिनफल। आहाहा! बाबूभाई! यह तो बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा! अभी तो बाहर में कहाँ-कहाँ अटके, रुके। अरे रे! यह क्या है? आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर प्रभु (है), तुझे खबर नहीं। जो कोई परमात्मा सर्वज्ञ जिन

हुए, वे कहाँ से हुए ? वह पर्याय आयी कहाँ से ? दशा आयी कहाँ से ? सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा (को) पर्याय में सर्वज्ञ और वीतरागदशा हुई, (वह) कहाँ से आयी ? कहीं बाहर से आती है ? वह सब अन्दर जिनस्वरूप में पड़ी है। आहाहा! वह पहले जिनस्वरूपी भगवान आत्मा का स्वीकार होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान (प्रगट) हुए तो पर्याय में भी जिनपर्याय हुई। जिनस्वरूप की दृष्टि से जिनपर्याय हुई, वह मोक्षमार्ग है। आहाहा! और उसका फल मोक्ष है, वह भी जिन वीतरागभाव है।

यहाँ यह कहते हैं कि, जिसे अन्दर जिनस्वरूपी भगवान आत्मा की प्रतीति—सम्यग्दर्शन हुआ, उसका मिथ्यात्वभाव नाश हो गया। राग मैं हूँ और पुण्य मैं हूँ, राग से मुझे लाभ होगा और निमित्त से मुझमें लाभ होगा—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव (है वह) नाश हो गया। आहाहा! अभी तो यहाँ मिथ्यात्वभाव की बात है। आहाहा! और जिसका मिथ्यात्वभाव नाश हुआ, **उसके समस्त व्यवहार छूट गया।** आहाहा! यह सिद्धान्त! अन्दर जितने पुण्य-पाप—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम (होते थे), वे मेरे, ऐसा मिथ्यात्वभाव में मानता था, वह सम्यग्दर्शन में छूट गया। आहाहा! वे मुझमें नहीं, वे मेरी चीज़ नहीं और वे मुझे लाभदायक नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

विशेष तो अब आयेगा। **समस्त व्यवहार छूट गया।** है शब्द ? क्या कहते हैं ? चाहे तो भगवान त्रिलोकनाथ का स्मरण हो, वह भी एक विकल्प—वृत्ति—राग है। आहाहा! जहाँ चैतन्य भगवान आत्मा स्वरूप से जिन वीतरागमूर्ति प्रभु, अकषायस्वभाव का कन्द आत्मा, उसकी दृष्टि हुई—सम्यग्दर्शन / सत्यदर्शन (हुआ), जैसा सत्य स्वरूप है, वैसा दर्शन, वैसी प्रतीति (हुई)। समझ में आया ? आहाहा! ऐसा भान हुआ तो मिथ्यात्वभाव छूट गया। मिथ्यात्वभाव छूट गया, उसे व्यवहार छूट गया। आहाहा! यह (सुनकर) लोग चिल्लाहट मचाते हैं। प्रभु! तेरी चीज़ ऐसी है, तुझे जँचती नहीं। आहाहा! तेरे हित की बात है तो कहे कि व्यवहार से निश्चय होता है। परन्तु व्यवहार राग है, उससे आत्मा का स्वभाव प्राप्त नहीं होता।

यहाँ तो कहा... हरिभाई! अब, फिर से। **समस्त व्यवहार छूट गया। कारण कि....** अब कारण कहते हैं। आहाहा! **मिथ्यात्व के भाव...** विपरीत मान्यता, उल्टी

दृष्टि, उल्टी श्रद्धा, वह जो मिथ्यात्वभाव। **तथा व्यवहार के भाव एकवस्तु है।** आहाहा! समयसार नाटक में लिया है—असंख्यात लोकप्रमाण व्यवहारभाव केवली उकत है। इतना मिथ्यात्वभाव केवली उकत है। आहाहा! उसका अर्थ है।

व्यवहारभाव है, वह मिथ्यात्वभाव नहीं। परन्तु जितना व्यवहार है, उतना 'मेरा है'— (ऐसा) मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। पाठ तो ऐसा है। है? **मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एकवस्तु है।** इसका अर्थ यह कि जितना व्यवहार—दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, असंख्य प्रकार के हैं, वे मेरे हैं (ऐसा मानता है) तो वह जितना व्यवहार है, उतना मिथ्यात्वभाव है। व्यवहार है, वह मिथ्यात्वभाव नहीं। व्यवहार तो समकिती ज्ञानी को भी आता है। समझ में आया? परन्तु व्यवहार मेरा है—जितना व्यवहार है उतना मेरा है, (ऐसा जो मानता है) तो उतना मिथ्यात्व है। आहाहा! कल्याणभाई! यह सब कहीं सुनने को मिले ऐसा नहीं है। जहाँ-तहाँ सब भटकने के रास्ते हैं। ऐसी बातें हैं, बापू!

क्या कहते हैं? भाषा तो ऐसी है, संस्कृत पाठ भी ऐसा है, समयसार नाटक में ऐसा लिया है कि जितना व्यवहारभाव, उतना मिथ्यात्वभाव। उसका अर्थ यह कि जितना व्यवहारभाव है, उतना 'मेरा' मानना, वह (मान्यता) मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! है? कारण दिया।

कारण कि मिथ्यात्व के भाव.... विपरीत मान्यता... आहाहा! कि मैं राग हूँ, मैं पुण्य हूँ, मैं पाप हूँ... आहाहा! ऐसी जो विपरीत मान्यता का भाव, उतना व्यवहारभाव है। आहाहा! है? **एक वस्तु है।** दोनों एक वस्तु है। आहाहा! मिथ्यात्वभाव और व्यवहारभाव एक वस्तु है, इसका अर्थ यह है कि जितना व्यवहार है, उतना अपना मानना, उतना व्यवहार है, उतना मिथ्यात्वभाव है। व्यवहार है, वह मिथ्यात्वभाव है, ऐसा नहीं है। व्यवहार तो समकिती को—ज्ञानी को भी आता है। दया, दान, भक्ति, पूजा का विकल्प (आता है) परन्तु वह हेयरूप से आता है। समझ में आया? तो वह व्यवहार (स्वयं) मिथ्यात्वभाव नहीं, परन्तु जितना व्यवहार है, उतने को अपना मानना, वह मिथ्यात्वभाव है। भाई! आहाहा! समझ में आया?

जन्म-मरणरहित होने की बात सूक्ष्म है, प्रभु! चौरासी के अवतार कर-करके मर गया। आहाहा! पशु और ढोर, मनुष्य और कुत्ता, कौआ और ऐसे भव किये, प्रभु! यह मनुष्यपना तो अभी मिला, वह पहले तो ऐसे भव में भटकता था। आहाहा! उसमें यह मनुष्य हुआ, वहाँ तो उसे ऐसा हो गया कि मानो, आहाहा! मैं मनुष्य हूँ और मैं स्त्री हूँ और मैं लड़का हूँ, आदमी हूँ, मैं सेठिया हूँ और पैसेवाला हूँ और... मार डाला! यह मिथ्यात्वभाव है। अरे! मैंने दया पालन की, मैंने व्रत पालन किये और यह मेरा भाव है वह भी मिथ्यात्वभाव है। पर की दया पालना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। क्योंकि पर की दया पाल सकता नहीं, तो पाल सकता हूँ—ऐसा भाव मिथ्यात्व है। एक बात। परन्तु पर की दया का भाव आया, वह भाव मेरा है, (ऐसा मानना) वह मिथ्यात्वभाव है।

दो प्रकार हुए। एक तो मैं पर की दया पाल सकता हूँ। तब तो पर की क्रिया कर सकता हूँ, यह तो मिथ्यात्वभाव हुआ। दूसरा, पर की क्रिया कर सकता नहीं परन्तु पर की दया का भाव आया। वह भाव मेरा है, (ऐसा मानना), वह मिथ्यात्व है। भाव आया वह मिथ्यात्व नहीं। समझ में आया? सेठ! यह तो कल लिया था, आज फिर से (लिया)। सार था न! यह फिल्म में उतरता है।

आहाहा! प्रभु! यहाँ वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर की वाणी है और उसके भाव हैं, वे सन्त आड़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। माल तो यह है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! तू अन्दर कौन है? आहाहा! तेरी चीज़ सत् शाश्वत है। शरीर तो संयोग है, इस जन्म में संयोग हुआ और मृत्यु के समय देह छूट जायेगी। आत्मा का जन्म होता है? आत्मा तो अनादि है। आहाहा! और अनन्त काल रहेगा।

यहाँ कहते हैं कि यह आत्मा जो है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागमूर्ति जिनस्वरूपी प्रभु है। उसकी—आत्मा की जिसे अन्तर्दृष्टि हुई, उसे धर्म की पहली सीढ़ी—शुरुआत हो गयी। उसे धर्म की शुरुआत हो गयी, भव के अन्त की शुरुआत हो गयी। आहाहा! उस जीव को मिथ्यात्वभाव नहीं होता, क्योंकि जितना मिथ्यात्वभाव है, उतना व्यवहार है और जितना व्यवहार है, उतना मिथ्यात्वभाव है, ऐसा कहा। कहा न?

मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एकवस्तु है। ऐसा कहा। आहाहा! इस

अपेक्षा से, हों! आहाहा! कल्याणजीभाई! समकिती को व्यवहार तो आता है। अनुभवी (जिसे) आत्मा का अनुभव हुआ (कि) मैं शुद्ध चैतन्य हूँ। ऐसा होने पर भी जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो, तब तक अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है। परन्तु वह व्यवहार मेरा है, ऐसी मान्यता नहीं है। आहाहा! और उस व्यवहार से मुझे लाभ होगा, ऐसी मान्यता नहीं है।

यहाँ तो व्यवहार से मुझे लाभ होगा (ऐसा जो मानता है), उतना व्यवहार, उतने से लाभ होगा, उतना मिथ्यात्वभाव है। दोनों एक चीज़ है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, यह बात कहाँ गयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात तो कहाँ गयी? वह पण्डित को पूछो। व्यवहार करते-करते निश्चय होगा! आहाहा!

भगवान! व्यवहार तो राग है न प्रभु! आत्मस्वरूप की प्राप्ति राग से होती है? उसका स्वरूप तो वीतराग स्वरूप है, वीतराग जिनस्वरूप है। जिनस्वरूप वीतरागपर्याय से प्राप्त होता है, जिनपर्याय से जिन प्राप्त होता है। रागपर्याय से जिनपर्याय, जिनस्वरूप प्राप्त होता है? आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यात्व के भाव तथा व्यवहार के भाव एकवस्तु है। कैसा है व्यवहार? अब देखो विशिष्टता! आहाहा! व्यवहार किसे कहते हैं? और व्यवहार है कैसा? '**अन्याश्रयः**' आहाहा! यह शब्द पड़ा है। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का आश्रय छोड़कर जितना पर का आश्रय लिया, वह अन्य आश्रय है। उस अन्य आश्रय का अर्थ विपरीत भाव, ऐसा लिया है। अन्य आश्रय अर्थात् विपरीतपना। आहाहा! क्या कहते हैं?

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो धर्म की पर्याय है, उसमें तो आत्मा का आश्रय है और उससे विपरीत व्यवहार है, वह अन्य का आश्रय है। अन्य आश्रय का अर्थ किया कि, स्वरूप से विपरीत भाव है। स्वरूप का आश्रय नहीं, विपरीत भाव का आश्रय है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु! परन्तु समझनेयोग्य है बापू! यह मनुष्यपना मिला है, वह चला जायेगा... फू... होकर राख हो जायेगा। यह तो हड्डियाँ हैं। यह

(शरीर) श्मशान में राख—धूल हो जायेगा। अन्दर भगवान आत्मा है वह काम नहीं करे तो चार गति में भटकेगा। चौरसी (लाख) योनियों में भटकेगा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही नाथ! आहाहा! भगवन्त कहकर तो बुलाते हैं। आचार्य 'भगवान आत्मा'—ऐसा कहते हैं। आहाहा! भग अर्थात् लक्ष्मी। आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मीवान। उस आनन्द की लक्ष्मीवान स्वरूप भगवान का है, इसलिए भगवान कहते हैं। यह धूल नहीं। कल्याणजीभाई! यह पैसा दो-पाँच करोड़ धूल हुई और मैं सेठिया हुआ। सेठिया नहीं, वे तो सब हेठिया हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सेठ अर्थात् कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ वह कि जिसने भगवान आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप की लक्ष्मी की दृष्टि-ज्ञान में प्राप्ति हुई है, वह सेठ—श्रेष्ठ है। वह सेठ—वह श्रेष्ठ है। धूल के धनी सेठ हैं, वे हेठ हैं। वे हेठे—नीचे उतर गये हैं। भगवान! यहाँ तो बातें दूसरी हैं, प्रभु! तेरे अन्तर की बातें हैं। तू अन्दर कौन है? यह तो हड्डियाँ मिट्टी—धूल है। वह श्मशान की राख होकर उड़ जायेगी परन्तु तू कहीं साथ में उड़ जायेगा? आहाहा! यहाँ अभी राख है।

यह तो अपने बहुत बार दृष्टान्त नहीं देते? कोई नोंक लगती है न? नोंक। कील... कील। लोहे की कील—नोंक लगे तो हमारे काठियावाड़ में ऐसा कहा जाता है कि भाई! मेरी मिट्टी पकाऊ है तो पानी नहीं छुआना। मिट्टी... मिट्टी। यह मिट्टी है। मेरी मिट्टी पकाऊ है, ऐसा कहते हैं न? पकाऊ है तो पानी नहीं छुआना। वहाँ ऐसा कहे कि यह मेरी मिट्टी पकाऊ है। यह तो मिट्टी है। मेरी मिट्टी पकाऊ है। ऐसा कहते हैं न? तुम्हारे हिन्दी में कुछ होगा न? मेरी मिट्टी पकाऊ है। पानी नहीं लगाना, जल नहीं लगाना। एक ओर कहे कि मेरी मिट्टी है। यह तो मिट्टी है। भगवान तो अन्दर भिन्न है, चैतन्य है। आहाहा! अरे रे! कुछ खबर नहीं होती। मूढ़ की भाँति यह सब धूलवाले... भले दो-पाँच करोड़ धूल इकट्ठी हुई हो। भगवान तो उसे भिखारी कहते हैं, रंक-वरांका (कहते हैं)।

मुमुक्षु : जगत में बोलवाला पैसे का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल तो पागल की ही महिमा करे न! दुनिया पूरी पागल है। बाबूभाई! पागल है? पैसेवाले को बड़ा कहे, वे सब पागल हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : गरीब, वे चतुर होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुनिया में कहलाता है। सब सुना है न! देखा है न! चतुर का पुत्र हो, लक्ष्मी(वाले के) पुत्र हो (वे) होवे तो समझने जैसे, मूर्ख जैसे। परन्तु कहलाये चतुर। और गरीब का पुत्र हो, होशियार हो परन्तु पैसा नहीं इसलिए कहलाये मूर्ख। यह दुनिया—पागल तो इस प्रकार से कीमत करता है।

यहाँ तो प्रभु अन्दर आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! अनादि-अनन्त जो सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है, उसकी लक्ष्मी जिसे प्राप्त हुई, वह अन्दर में लक्ष्मी है। अन्तर आनन्द और ज्ञान और शान्ति की, स्वच्छता की लक्ष्मी है। वह भग अर्थात् लक्ष्मी और वान अर्थात् स्वरूप। अन्दर आत्मा का भग स्वरूप, लक्ष्मी स्वरूप है। आहाहा! परन्तु आनन्द की लक्ष्मी, यह तुम्हारी धूल की नहीं।

उसे यहाँ कहते हैं कि हे प्रभु! एक बार सुन तो सही! आहाहा! तेरा आश्रय छोड़कर तूने जो व्यवहार है, उसमें पर का आश्रय लिया। अपना आश्रय छोड़कर अन्य आश्रय (लिया)। अन्य आश्रय का अर्थ ऐसा किया, **विपरीतपना वही है....** अपना आश्रय छोड़कर, आनन्द के नाथ का अवलम्बन छोड़कर, जिसने अपने स्वरूप से विपरीत दूसरी चीज़ है, वह स्वयं से विपरीत है, (उसका आश्रय लिया)। आहाहा!

'**अन्याश्रयः**' अन्य के आश्रय की व्याख्या (क्या)? '**अन्य**' अर्थात् **विपरीतपना वही है....** '**आश्रयः**' **अवलम्बन....** आहाहा! भाषा देखो! टीका भी (कैसी)? अन्तर प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का आश्रय छोड़कर व्यवहार में अन्य का—विपरीतपने का अवलम्बन है, निश्चय में आत्मा का अवलम्बन है। सत्य बात—सत्य भाव में सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि सत्य भाव में सत्य के स्वभाव का अवलम्बन है। आश्रय कहो या अवलम्बन कहो (दोनों एकार्थ हैं)। और व्यवहार में '**अन्याश्रयः**' (अर्थात्) आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ का जिसे अवलम्बन है। अन्य का अर्थ विपरीतपना किया, आश्रय का अर्थ अवलम्बन किया। आहाहा! व्यवहार में पर का अवलम्बन है। आहाहा!

चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का भाव (हो), उस भाव में पर का आश्रय—अवलम्बन है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए स्व के अवलम्बन के अतिरिक्त जितना पर का भाव (होता है), स्वभाव से भिन्न जितना व्यवहारभाव है, वह सब अन्य आश्रित विपरीत अवलम्बन है। अन्य-आश्रय का अर्थ जिसे विपरीत अवलम्बन है, इसलिए वह छुड़ाया है। ऐसी बात है। अरे! कहाँ दरकार की? इसने अनन्त काल ऐसे का ऐसा भान बिना और बिना भान के जिन्दगी मूढ़रूप से व्यतीत की है। उसमें और पाँच-पचास लाख, दो-पाँच करोड़ हो जाये (तो) मैं चौड़ा और गली सकड़ी (लगती है)। मानो क्या हम बड़े हो गये! मूढ़ है, सुन न अब।

मुमुक्षु : अभिमान में और अभिमान मे...

पूज्य गुरुदेवश्री : बफम् अर्थात् कुछ भान नहीं होता। आहाहा! इतने शब्दों में कितना समाहित कर दिया! देखा?

निश्चय स्वरूप है भगवान पूर्णानन्द, उसका आश्रय—अवलम्बन। सम्यग्दर्शन में उसका आश्रय और अवलम्बन है। और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वे अन्य हैं, अन्य का आश्रय है, अर्थात् स्वभाव से विपरीत का अवलम्बन है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान धर्म में आत्मा का (आश्रय है)। पर का आश्रय विपरीत है, उससे विपरीत भगवान आत्मा है। ऐसी बातें हैं। अरे! इसे कब (यह काम) करना? यह सब करोड़ोंपति फू... होकर चले जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एकबार सुन तो सही, प्रभु! आहाहा! क्या कहा यह? कल अन्य (के अर्थ में) विपरीतपना नहीं आया था। अन्य का आश्रय अर्थात् कि आत्मा के अतिरिक्त विपरीत भाव का, विपरीत द्रव्य का आश्रय। आहाहा! चाहे तो त्रिलोकनाथ तीर्थंकर हों, गुरु हों या शास्त्र हों, परन्तु उनके अवलम्बन में, आत्मा के आश्रय से भाव (होता) है, उससे विपरीत भाव होता है। क्योंकि उसका अवलम्बन विपरीत है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! ऐसी बातें हैं। यहाँ तो चिल्लाहट मचाते हैं। व्यवहार से निश्चय होता है। करो... दया पालन करो, व्रत पालन करो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो... (यह) करते-करते कल्याण होगा। ऐ... भाई! यह सब

सुना है या नहीं? आहाहा! अरे! प्रभु! सुन न नाथ! प्रभु! यहाँ परमात्मा का पुकार है त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर इन्द्रों और गणधरों के बीच में ऐसा कहते थे। आहाहा! समझ में आया? वह बात यह है। आहाहा! है? यह बात यहाँ है, लो न! हिन्दी आ गया न, हिन्दी।

विपरीतपना.... पहले आ गया न? यह तो यहाँ अधिक रखा है। **विपरीतपना वही है अवलम्बन जिसका,...** आहाहा! क्या कहते हैं? कि व्यवहार किसे कहते हैं? कि आत्मा के अतिरिक्त जिसे विपरीत का अवलम्बन है, उसे व्यवहार कहते हैं। उसे व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : 'विपरीत' शब्द जरा कठोर लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो आज स्पष्टीकरण किया। इसीलिए तो फिर से लिया। अन्य-आश्रय का अर्थ—अपने आत्मा के आनन्द के स्वभाव के आश्रय के अतिरिक्त अपने से विपरीत परपदार्थ हैं, उनका जिसे आश्रय—अवलम्बन है, उसे व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया? अन्दर है या नहीं? अन्दर है या नहीं? पुस्तक है या नहीं? यह पुस्तक का अर्थ होता है या घर का अर्थ होता है?

मुमुक्षु : अर्थ तो घर का ही होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : घर का तो है परन्तु इस शब्द का अर्थ ऐसा है न? आहाहा! यह चार लाईनें फिर से लीं।

अन्य का आश्रय अर्थात् विपरीत का अवलम्बन। आहाहा! आत्मा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान जो धर्म की पर्याय (प्रगट हो), उसमें स्व का आश्रय—स्व का अवलम्बन है। धर्म की पर्याय में, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी पर्याय (प्रगट होती है), उसमें स्व का आश्रय—स्व का अवलम्बन है और व्यवहार में अपने स्वभाव से विपरीत दूसरी चीज़ का अवलम्बन है, उसे व्यवहार कहते हैं। इसलिए वह व्यवहार त्याज्य है। आहाहा! अपना आश्रय और अवलम्बन छूटकर जितना पर का अवलम्बन और आश्रय लिया, वह सब बन्ध का कारण है। बन्ध अधिकार है न? व्यवहार है, वह बन्ध का कारण है। इसीलिए पर के आश्रयवाले भाव को छुड़ाया है। आहाहा! है न अन्दर? यह तुम्हारे

श्वेताम्बर-फेताम्बर में कहीं नहीं था। कहाँ सुनने को मिलता (था)? यह चीज़ ही दूसरी है। आहाहा! एक-एक पंक्ति, चार बोल में कितना भरा है! समझ में आया? क्या कहा?

अपना स्वरूप जो भगवान आत्मा पवित्र शुद्ध चिद्घन, वह चिद्घन-ज्ञान का पिण्ड, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन आदि धर्म पर्याय होती है। वह धर्मपर्याय है, वह मुक्ति का कारण, मोक्ष का कारण ऐसा जो मोक्ष का मार्ग, उसे स्व का आश्रय है और जो मोक्षमार्ग नहीं और बन्धमार्ग है, ऐसा व्यवहार है, वह आत्मा से अन्य विपरीत का अवलम्बन है। आहाहा! स्पष्ट बात है। हेय कहते हैं, वह एकान्त हो जाता है, ऐसा (लोग) कहते हैं। अपने से भी लाभ होता है और व्यवहार से भी लाभ होता है, (ऐसा कहो) तो अनेकान्त है। यहाँ कहते हैं कि अपने आश्रय से लाभ होता है, पर के आश्रय से लाभ नहीं होता, यह अनेकान्त है। आहाहा! एकान्त... एकान्त है, सोनगढ़ एकान्त है, ऐसा (लोग) कहते हैं। अरे... प्रभु! सुन तो सही, नाथ! तेरी बात तुझे खबर नहीं, भाई! तुझे खबर नहीं, तू कौन है? और क्या करता है? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं... आहाहा! मैं आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, आहाहा! उसका जिसने आश्रय लिया, वह तो (मोक्षमार्ग की) धर्म की पर्याय है, आनन्द की दशा है, वह तो आदरणीय है। प्रगट करने की अपेक्षा से वह आदरणीय है। वैसे तो उपादेय द्रव्य है। त्रिकाल भगवान आनन्द का नाथ आत्मा वही उपादेय है, आदरणीय है, परन्तु प्रगट करने की अपेक्षा से स्व के आश्रय से अन्दर जो वीतरागदशा उत्पन्न हुई, वह आदरणीय है और पर के आश्रय से जितना राग उत्पन्न होता है, वह सब हेय है। आहाहा! समझ में आया? १७३ (कलश) पूरा हुआ। अब १७४ (कलश)।

कलश - १७४

(उपजाति)

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।१२-१७४।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'पुनः एवं आहुः' [पुनः] शुद्धवस्तुस्वरूप का निरूपण किया, तथापि पुनः [एवं आहुः] ऐसा कहते हैं ग्रन्थ के कर्ता, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य। कैसा है? 'इति प्रणुन्नाः' ऐसा प्रश्नरूप नम्र होकर पूछा है। कैसा प्रश्नरूप? 'ते रागादयः बन्धनिदानं उक्ताः' अहो स्वामिन्! [ते रागादयः] अशुद्धचेतनारूप हैं राग-द्वेष-मोह इत्यादि असंख्यात लोकमात्र विभावपरिणाम, वे [बन्धनिदानं उक्ताः] ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के कारण हैं—ऐसा कहा, सुना, जाना, माना। कैसे हैं वे भाव? 'शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः' [शुद्धचिन्मात्र] शुद्धज्ञानचेतनामात्र है जो [महः] ज्योतिस्वरूप जीववस्तु, उससे [अतिरिक्ताः] बाहर हैं। अब एक प्रश्न मैं करता हूँ कि 'तन्निमित्तं आत्मा वा परः' [तन्निमित्तं] उन राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणामों का कारण कौन है? [आत्मा] जीवद्रव्य कारण है [वा] कि [परः] मोहकर्मरूप परिणमा है जो पुद्गलद्रव्य का पिण्ड, वह कारण है? ऐसा पूछनेपर, आचार्य उत्तर कहते हैं।।१२-१७४।।

कलश - १७४ पर प्रवचन

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।१२-१७४।।

शुद्धवस्तुस्वरूप का निरूपण किया,... प्रभु! शिष्य कहता है कि आपने शुद्ध चैतन्य भगवान की बात कही। आहाहा! अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु सच्चिदानन्द शुद्ध

पवित्र चैतन्यघन आत्मा, उसका तो आपने कथन किया। है? तुझे ऐसा कहते हैं कि **ग्रन्थ के कर्ता, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य। कैसा है? 'इति प्रणुन्नाः' ऐसा प्रश्नरूप नम्र होकर पूछा है।** कुन्दकुन्दाचार्यदेव को शिष्य नम्र होकर पूछता है। प्रभु! आपने कहा कि रागादि भाव बन्ध के कारण हैं और एक ओर आप ऐसा कहते हो कि राग अपना नहीं। (यह) क्या कहते हैं आप? समझ में आया? आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम—राग को बन्ध का कारण कहा (और) एक ओर आप कहते हो कि राग आत्मा का है ही नहीं। तो यह आप क्या कहते हो? आपको क्या कहना है? ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यदेव को शिष्य नम्र होकर प्रश्न करता है। यह उसका उत्तर है। जिसका ऐसा प्रश्न है, (उसे उत्तर दिया जाता है)। है न? देखो!

'पुनः एवं आहुः' 'पुनः' शुद्धवस्तुस्वरूप का निरूपण किया, तथापि पुनः ऐसा कहते हैं ग्रन्थ के कर्ता, श्रीकुन्दकुन्दाचार्य। कैसा है? 'इति प्रणुन्नाः' ऐसा प्रश्नरूप नम्र होकर पूछा है। कैसा प्रश्नरूप? 'ते रागादय बन्धनिदानं उक्ताः' अहो स्वामिन्! अशुद्ध चेतनारूप.... आहाहा! अन्दर में चैतन्य भगवान शुद्ध चैतन्य से विपरीत अशुद्ध चेतना—दया, दान, व्रत, भक्ति के जो परिणाम हैं, राग-द्वेष भाव अशुद्धचेतना है, मलिनभाव है, मैल है। आहाहा! शिष्य प्रश्न करता है।

प्रभु! **अशुद्ध चेतनारूप....** भाव... है? **राग-द्वेष-मोह इत्यादि असंख्यात लोकमात्र विभावपरिणाम,....** है। असंख्यात लोक प्रमाण विकारीभाव—विभावभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, शुभाशुभ इत्यादि असंख्य प्रकार हैं। हैं न? **'बन्धनिदानं उक्ताः' ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के कारण हैं ऐसा कहा,....** आपने तो उन्हें बन्ध का कारण कहा। **सुना...** आपने कहा, वह सुना, ऐसा कहते हैं। निकाल नहीं दिया। जितने पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), वे बन्ध के कारण हैं, ऐसा आपने कहा, उसे मैंने सुना। हरिभाई! दूसरी बात है।

सुना, जाना... आप राग को बन्ध का कारण कहते हो, व्यवहार को बन्ध का कारण कहते हो, यह जाना। सुना और जाना। (अब) तीसरी बात **माना...** माना। शष्यि प्रश्न करता है। आहाहा! जितना पराश्रय से राग (होता) है, वह बन्ध का कारण है, यह सुना, जाना, माना। आहाहा!

कैसे हैं वे भाव ? 'शुद्धचिन्मात्रमोहऽतिरिक्ताः' आहाहा! **शुद्ध ज्ञानचेतनामात्र है....** प्रभु। आहाहा! अन्दर चैतन्यज्योति है, जलहल ज्योति चैतन्य ज्ञानप्रवाह ध्रुव, जैसे पानी का पूर होता है, वैसे चैतन्य का पूर तेज का पूर भगवान अन्दर है। आहाहा! वह शुद्ध चिन्मात्रज्योति... आहाहा! है ? **'अतिरिक्ताः' शुद्ध ज्ञानचेतनामात्र है जो ज्योतिस्वरूप जीववस्तु,....** वह ज्योतिस्वरूप है ?

श्रीमद् में आता है न ? 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम, दूसरा कितना कहें, कर विचार तो पाम।' तुझे दूसरा क्या कहें ? भगवान अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है। तू अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! बुद्ध है (अर्थात्) ज्ञान का सागर है। ज्योति है। स्वयं ज्योति—चैतन्य जलहल ज्योति अन्दर विराजता है। आहाहा! और सुख का धाम है। भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्द सुख का धाम—स्थान है। 'दूसरा कितना कहें ? कर विचार...' अन्दर अनुभव कर 'तो पाम'। विचार अर्थात् अकेला विकल्प, ऐसा नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! **ज्योतिस्वरूप जीववस्तु, उससे बाहर हैं।** क्या कहा ? चैतन्यस्वरूप जो ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा, वह शक्ति जिसका स्वभाव शुद्ध है, उससे पुण्यभाव बाहर है। बाहर है, स्वभाव में नहीं। आहाहा! चाहे तो व्रत के परिणाम, दया के परिणाम, दान के परिणाम... आहाहा! भक्ति का भाव, भगवान की भक्ति, हों! स्वभक्ति दूसरी और परभक्ति दूसरी। स्वभक्ति तो स्वआश्रय से होती है, परभक्ति पर के आश्रय से होती है। आहाहा!

आपने कहा, **ज्योतिस्वरूप जीववस्तु, उससे बाहर हैं। 'अतिरिक्ताः'** क्या कहा ? आत्मा चैतन्यस्वरूप जलहल ज्योति पवित्र धाम भगवान, उससे दया, दान, व्रत, भक्ति का व्यवहार तो बाह्य है, वस्तु से बाह्य है, वस्तु में नहीं। आहाहा! इस व्यवहार से निश्चय हो, ऐसी सब चिल्लाहट मचाते हैं। सोनगढ़वाले व्यवहार से निश्चय नहीं मानते, इसलिए एकान्त है। मानो प्रभु! तुम भी भगवान तो हो। स्वरूप तो तेरा भगवन्त ही है। आहाहा! भगवान है प्रभु! तुझे खबर नहीं। जो भगवान हुए, वे कहाँ से हुए ? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, प्रभु! आपने कहा, व्यवहार... वहाँ कहा था न ? कि व्यवहार में पर का विपरीत का अवलम्बन है। यहाँ कहा कि वह व्यवहार बाह्य है। बाह्य है। उस बाह्य को अपना मानना, वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा! चैतन्यस्वरूप भगवान पूर्ण आनन्द प्रभु से पुण्य और पाप के भाव बाहर है। वे बाहर हैं, उन्हें अपना मानना, वह

बहिरात्मा है। आहाहा! और वह बाहर का बाहर है, वह हेय है, ऐसे स्वरूप का आदर करके उसे हेय जानना, वह सम्यक् है, वह सत्य है। समझ में आया?

यहाँ तो प्रश्न किया कि (वह) बाहर है। **अब एक प्रश्न मैं करता हूँ...** शिष्य करता है कि महाराज! मैं एक प्रश्न करता हूँ। क्या? **'तन्निमित्तं आत्मा वा परः'** प्रभु! मेरा एक प्रश्न है। यह पुण्य और पाप, राग और द्वेष, मोहभाव उत्पन्न होता है, उसका मूल निमित्त कारण आत्मा है? या कर्म का निमित्त है? पर निमित्त है या आत्मा कारण है? इसमें बड़ी झंझट है। आहाहा! है?

निमित्त आत्मा है? **उन राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणामों का कारण कौन है? जीवद्रव्य कारण है कि मोहकर्मरूप परिणमा है जो पुद्गलद्रव्य का पिण्ड वह कारण है?** उसमें जड़ का कारण है? उसमें कारण कौन है? आहाहा!

ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर कहते हैं। ऐसा पूछा, उसे उत्तर देते हैं, ऐसा कहते हैं। जिसे सुनने की, समझने की कुछ गरज ही नहीं, उसे हम उत्तर नहीं देते, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसे अन्तर में ऐसा (प्रश्न) हुआ, प्रभु! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग है, वह शुद्ध चेतनास्वरूप भगवान से बाहर है, भिन्न है। वह भिन्न है तो उसकी उत्पत्ति कहाँ किस कारण से हुई है? आत्मा के कारण से हुई है या कर्म के कारण से हुई है? ऐसा प्रश्न है। आहाहा! समझ में आया? यह अधिकार तो बहुत सरस आया है! कहो, कान्तिभाई! तुम्हारी फिल्म में पहला अधिकार ऐसा आया! आहाहा! ऐसी बात है। जगत में कहीं सुनने को मिलता नहीं। चिल्लाहट मचाये, ऐ... ऐसा करो और ऐसा करो और ऐसा करो... देशसेवा करो, भूखे को आहार दो, प्यासे को पानी दो, रोगी को औषध दो... भाई! सुन, प्रभु! भाई! यह सब चीज़ें तो जीव के पुण्य-पाप के कारण से मिलती है। तू दे सके, इस बात में दम है नहीं।

यहाँ तो तुझमें जो रागादि भाव होता है, वह क्या चीज़ है? आप एक ओर बाहर (है ऐसा) कहते हो और एक ओर उसे बन्ध का कारण कहते हो? समझ में आया? आत्मा से पुण्य-पाप, रागादि बाहर है, (ऐसा कहते हो)। बाहर है, उसे और आत्मा के बन्ध का कारण (कहते) हो तो वह है किसका? वह विकार है किसका? और किस प्रकार उत्पन्न हुआ है? आहाहा! इस श्लोक का बड़ा विवाद है। १७५ (श्लोक)।

कलश - १७५

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।१३-१७५।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'तावत् अयं वस्तुस्वभावः उदेति' [तावत्] प्रश्न किया था, उसका उत्तर इस प्रकार — [अयं वस्तुस्वभावः] यह वस्तु का स्वरूप [उदेति] सर्व काल प्रगट है। कैसा है वस्तु का स्वभाव? 'जातु आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावं न याति' [जातु] किसी काल में [आत्मा] जीवद्रव्य, [आत्मनः रागादिनिमित्तभावं] आपसम्बन्धी हैं जो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, उनके कारणपनारूप [न याति] नहीं परिणमता है। भावार्थ इस प्रकार है कि द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है — एक उपादानकारण है, एक निमित्तकारण है। उपादानकारण, द्रव्य के अन्तर्गर्भित है, अपने परिणाम-पर्यायरूप परिणमनशक्ति; वह तो जिस द्रव्य की, उसी द्रव्य में होती है — ऐसा निश्चय है। निमित्तकारण जिस द्रव्य का संयोग प्राप्त होने से, अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है; वह तो जिस द्रव्य की, उस द्रव्य में होती है; अन्य द्रव्यगोचर नहीं होती-ऐसा निश्चय है। जैसे — मिट्टी, घटपर्यायरूप परिणमती है, उसका उपादानकारण है मिट्टी में घटरूप परिणमनशक्ति, निमित्तकारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि; वैसे ही जीवद्रव्य, अशुद्धपरिणाम-मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है, उसका उपादानकारण है जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्धपरिणमनशक्ति; 'तस्मिन् निमित्तं' निमित्तकारण है 'परसंग एव' दर्शनमोह-चारित्रमोहकर्मरूप बँधा जो जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गलद्रव्य का पिण्ड, उसका उदय। यद्यपि मोहकर्मरूप पुद्गलपिण्ड का उदय, अपने द्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है; जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है, तथापि मोहकर्म का उदय होनेपर, जीवद्रव्य अपने विभाव-परिणामरूप परिणमता है — ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, सहारा किसका। यहाँ दृष्टान्त

है — 'यथा अर्ककान्तः' जैसे — स्फटिकमणि लाल, पीली, काली इत्यादि अनेक छविरूप परिणमती है, उसका उपादानकारण है, स्फटिकमणि के अन्तर्गर्भित नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति; निमित्तकारण है, बाह्य नाना वर्णरूप पूरी का संयोग।।१३-१७५।।

कलश - १७५ पर प्रवचन

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।१३-१७५।।

अब यहाँ 'परसंग' (शब्द में) बड़ा सिद्धान्त है। परवस्तु नहीं—'**परएव**' नहीं। आत्मा में विकार होता है, वह '**परएव**' नहीं। पर के कारण से नहीं, परन्तु पर के संग के कारण से (होता है)। आहाहा! यह बड़ा विवाद (चलता है)। क्या कहा?

'तावत् अयं वस्तुस्वभावः उदेति' प्रश्न किया था, उसका उत्तर इस प्रकार—यह वस्तु का स्वरूप सर्व काल प्रगट है। कैसा है वस्तु का स्वभाव? 'जातु आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावं न याति' किसी काल में जीवद्रव्य, आपसम्बन्धी हैं जो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, उनके कारणपनारूप नहीं परिणमता है। देखो! इसमें से निकालते हैं कि आत्मा (रागादि का) कारण नहीं, कर्म के कारण से होते हैं। ऐसा कहते हैं। (परन्तु) ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य और पाप के विकार (होने में) उसका द्रव्य—मूल जीवद्रव्य कारण नहीं, जीव का स्वभाव—जीवद्रव्य कारण नहीं, परन्तु उसकी पर्याय में कर्म के निमित्त का संग करता है तो विकार होता है। कर्म से नहीं, आत्मद्रव्य से नहीं। समझ में आया? '**परएव**' नहीं कहा। विकार '**परएव**' ऐसा नहीं कहा है। '**परसंग एव**' ऐसा कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : इतने शब्द में इतना अन्तर पड़ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा अन्तर है। बंशीधरजी यहाँ रह गये थे, (उन्होंने) स्वीकार

किया था कि, '**परसंग एव**' है, '**परएव**' नहीं। आत्मा में विकार होता है, वह कर्म के कारण से होता है, ऐसा नहीं है। कर्म तो परद्रव्य है। आहाहा! 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई।'

यहाँ कहते हैं कि '**परएव**' का अर्थ क्या? आहाहा! कि परसंग। आहाहा! वह स्वयं परिणमता नहीं। **भावार्थ इस प्रकार है कि द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है....** यह बात पहले आ गयी है। ९२वें पृष्ठ पर। ९२ (नम्बर का) पृष्ठ है न? उसमें यह बात आ गयी है कि विकार के कारण दो। एक उपादान और एक निमित्त। आत्मा में व्यवहार रागादि उत्पन्न होते हैं, उनके दो कारण हैं। एक उपादान और एक निमित्त। उपादान अपना अपने से है, ऐसा कहते हैं। देखो! है?

एक उपादानकारण है, एक निमित्तकारण है। उपादानकारण, द्रव्य के अन्तर्गर्भित है, अपने परिणाम-पर्यायरूप परिणमनशक्ति;.... आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! पुण्य और पाप के विकार होता है, उनमें अन्तरंग कारण अपने उपादान में (ऐसी) शक्ति—ऐसी योग्यता है। योग्यता अपनी है, अपने से विकार उत्पन्न होता है। अशुद्ध उपादान अपनी विभाविकशक्ति निमित्त के आधीन होती है, तो अपने से होता है। समझ में आया? परन्तु उपादान स्वयं से है, निमित्त कर्म है। परन्तु निमित्त कर्म है तो निमित्त करता है, यह (बात) नहीं है। (यदि वह करे तो) निमित्त नहीं कहलाता। आहाहा! ऐसे सिद्धान्त! बनिये को समय मिलता नहीं, निर्णय करने की निवृत्ति (मिलती नहीं)। कल्याणजीभाई! कमाने में रुके, स्त्री, पुत्र, परिवार में पूरे दिन पाप में (जाये), उसमें से एकाध घण्टा मिले तो ऊपर (सुनानेवाले) जो कहे वह, जयनारायण...! आहाहा!

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं शिष्य का प्रश्न यह था कि आत्मा चैतन्यस्वरूप भगवान है, उससे पुण्य-पाप के भाव, विकार, राग-द्वेष तो बाहर है। (वह) बाहर है, उसका कारण आत्मा है या उसका कारण कर्म, बाह्य चीज़ है? तो उत्तर ऐसा दिया कि अन्तर्गर्भित उपादान योग्यता तो जीव की अपनी है। पर्याय में विकार होना, वह योग्यता, उपादान की अपनी शक्ति है। कर्म तो निमित्तमात्र है। आहाहा! परसंग—परन्तु वह (आत्मा) पर का संग करता है, ऐसा कहते हैं। '**परएव**' नहीं। अपना संग छोड़कर

राग-द्वेष में पर का संग करता है। कर्म का संग (करता है), कर्म से नहीं (होते), कर्म का संग करता है। आहाहा!पर से और पर के संग से—दोनों में पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। समझ में आया?

यहाँ तो परसंग (कहते हैं)। भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उस असंग स्वरूप का संग छोड़कर कर्म के निमित्त का संग करता है, उसे विकार उत्पन्न होताा है। समझ में आया? संग नहीं करता, उसे विकार उत्पन्न नहीं होता। यह कहते हैं। है न?

अपने परिणाम-पर्यायरूप परिणमनशक्ति; वह तो जिस द्रव्य की, उसी द्रव्य में होती है-ऐसा निश्चय है। यह तो अपने कारण से, अपनी अशुद्ध परिणति के कारण से, अपनी विभावशक्ति के कारण से (होता है)। विभाविकशक्ति बन्ध का कारण नहीं है। विभाविकशक्ति तो सिद्ध में भी है, परन्तु विभाविकशक्ति की योग्यता निमित्त का संग करती है... आहाहा! तो उसमें विकार उत्पन्न होता है। इसलिए विकार अपना नहीं है और हेय है, ऐसा कहा गया है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १, सोमवार, दिनांक-२६-१२-१९७७, कलश-१७५, प्रवचन-१८५

कलशटीका, १७५ (कलश) फिर से लेते हैं। यह (फिल्म) उतरती है न? इसलिए यहाँ दृष्टान्त क्या? नारियल और पीपर?

मुमुक्षु : हाँ, बराबर।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डितजी कहते थे। '**तावत् अयं वस्तुस्वभावः उदेति**' शिष्य का प्रश्न था कि आत्मा कौन है? तो उसका उत्तर दिया। उसमें यह आया कि यह आत्मा जो है आत्मा, उसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य है। आत्मा अन्दर जो है, उसका स्वभाव शुद्ध चैतन्य है। जैसे श्रीफल—नारियल होता है, नारियल। अब अभी गुजराती है। नारियल है, उसमें छाल अलग है, काचली अलग है और काचली की ओर की लाल छाल अलग है और लाल छाल से भिन्न अन्दर सफेद गोला है। श्रीफल—नारियल। सफेद और मीठा गोला, वह नारियल है। लाल छाल, काचली और छिलका, वह कहीं नारियल नहीं है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा... यह देह है, वह छाल है, वह कहीं आत्मा नहीं। अन्दर आठ कर्म मिट्टी, जड़ है, वह भी काचली की भाँति जड़ है, वह कहीं आत्मा नहीं। तथा अन्दर में पुण्य-पाप के भाव होते हैं, शुभ-अशुभभाव (होते हैं), वह लाल छाल जैसे छिलके हैं। उनके पीदे भगवान आत्मा... सूक्ष्म बात है, प्रभु! वह अतीन्द्रिय आनन्द का शुद्ध चैतन्य गोला है। जैसे यह नारियल सफेद और मीठा (गोला है), उसी प्रकार यह आत्मा अन्दर शुद्ध है। सफेद अर्थात् शुद्ध है। चैतन्य शुद्ध और मीठा अर्थात् आनन्द। वह आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है, उसकी दृष्टि हो तो उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आहाहा! वरना राग और पुण्य को अपना मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे सत्य वस्तु की खबर नहीं।

यह यहाँ कहते हैं, किसी भी काल में वह वस्तु अपने से राग, द्वेष और विकाररूप परिणमती नहीं। वह तो शुद्ध चैतन्य है। आहाहा! जैसे छोटी पीपर होती है, छोटी पीपर! छोटी पीपर कहते हैं न? वह बाहर में रंग में काली, चरपराहट अल्प है परन्तु अन्दर में चरपराहट अर्थात् चरपराई—तीखाश पूरी भरी है, पूरी है और हरा जिसका रंग

है। वह हरा रंग और चरपराहट, वही पीपर है। साधारण कालिमा है, वह तो निकल जाती है। अन्दर जो घूंटे, चौसठ पहर घूंटे, तब जो शक्ति में चौसठ अर्थात् पूर्ण रुपया—सोलह आना जो चरपराहट थी, उस प्राप्त की प्राप्ति घूँटने से बाहर आती है। वह अन्दर है, वह बाहर आती है।

इसी प्रकार आत्मा में पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शान्ति, पूर्ण प्रभुता, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण चैतन्य—जीवत्वशक्तिरूप से परिपूर्ण भरा हुआ है। जीवत्वशक्ति! आनन्द और ज्ञान आदि की शक्ति, ज्ञान, दर्शन आदि पूर्ण भरे हैं। उनका अन्दर में भान होना... आहाहा! उसका नाम यहाँ सम्यग्दर्शन कहा जाता है और वह सम्यग्दर्शन जन्म-मरण के अन्त का कारण है। यह यहाँ कहा, देखो!

वस्तु का स्वभाव **'उदेति' सर्व काल प्रगट है।** चैतन्यमूर्ति तो त्रिकाल आनन्दकन्द है। बहिन की भाषा में कहा था न? वह लड़की बोलती थी कि जागता जीव खड़ा (ध्रुव) है। सूक्ष्म भाषा है। अन्दर जागता जीव, ज्ञायक जीव, चैतन्यरसकन्द जीव खड़ा है। खड़ा अर्थात् ध्रुव है। अन्दर चैतन्यवस्तु ध्रुव है। उसकी पर्याय—अवस्था में बदले परन्तु जो जागता जीव जो त्रिकाल ज्ञायकभाव.... आहाहा! वह तो ध्रुवरूप से सदा विद्यमान है। उसमें दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन होता है। इसके बिना सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति है नहीं। यह बात करते हैं।

किसी भी काल में आत्मा अपने स्वभाव सिवाय, है न? **राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, उनके कारणपनारूप नहीं परिणमता है।** आहाहा! क्या कहते हैं? वस्तु जो है अन्दर आनन्दकन्द प्रभु, वह स्वयं अपने स्वभाव के आश्रय से या स्वभाव के संग से विकाररूप परिणमता नहीं। आहाहा! और वह विकाररूप होता है, वह पर के संग में परिचय करता है, इसलिए (होता है)। कर्म का संग, जड़कर्म, उस ओर का लक्ष्य करता है-पर का संग करता है, इसलिए विकार परिणाम होते हैं। अपने स्वभाव के कारण से विकार हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं। समझ में आया? आहाहा!

स्वयं अन्दर स्वरूप जो आत्मा—सच्चिदानन्द प्रभु, आहाहा! कैसे जँचे? सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द की ध्रुवता जिसमें अन्दर भरी है, ऐसा जो प्रभु, वह अपने

स्वभाव से विकाररूप परिणमे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। समझ में आया? वह पर के निमित्त के संग से अशुद्ध रागादिरूप परिणमता है, परन्तु वह अशुद्धरूप होता है, वह भी अपनी योग्यता से—उपादान से होता है, कर्म तो निमित्त है। कर्म दूसरी चीज़ तो निमित्त है। निमित्त का अर्थ एक उपस्थित चीज़ है। परन्तु उसके कारण यहाँ विकार होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव को भूलकर वर्तमान पर्याय में निमित्त के आधीन हुई निमित्त के वश हुई दशा स्वयं के कारण से विकाररूप होती है। समझ में आया? यह कहा न?

आपसम्बन्धी हैं जो राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, उनके कारणपनारूप नहीं परिणमता है। शुद्ध स्वभाव परम आनन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का रस है। आहाहा! जिसमें यह चावल है न? चावल। चावल... चावल, चोखा! इस चावल के ऊपर का छिलका है न? फोतरुं—छिलका (वह अलग चीज़ है) और चावल के ऊपर लाल रंग होता है, बारीक लाल रंग (होता है), वह अलग चीज़ है और रंग के पीछे जो चावल है, वह श्वेत—सफेद चावल है। उसी प्रकार यह आत्मा... यह शरीर है, वह ऊपर का छिलका है, और अन्दर में पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), वह (चावल का) जैसे लाल रंग है, वैसे यह रंग है और अन्दर आत्मा जो है, वह लाल रंग से भिन्न शुद्ध चैतन्यघन है। आत्मा है वह चावल.. चावल.. चोखा कहते हैं न? चावल, हमारी गुजराती भाषा में चोखा (कहते) हैं। वह चोखा आत्मा है। अन्दर निर्मलानन्द प्रभु के ऊपर दृष्टि लगाने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान—धर्म की पहली सीढ़ी—पर्याय प्रगट होती है। आहाहा!

अब विशेष कहते हैं। यह अपने कारण से रागरूप परिणमता नहीं। है? **भावार्थ इस प्रकार है कि द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार का है....** वस्तु में जो विकार होता है, उसके दो कारण हैं। वस्तु का स्वभाव विकार हो, ऐसा नहीं परन्तु पर्याय में विकार हो, उसके दो कारण हैं। **एक उपादानकारण है, एक निमित्तकारण है।** उपादानकारण अर्थात् मूल कारण। अपने में ऐसी योग्यता है कि उसके कारण उस निमित्त के आधीन विकाररूप-दोषरूप-विभावरूप होता है। निमित्तकारण है।

उपादानकारण (अर्थात्) द्रव्य के अन्तर्गर्भित है, अपने परिणाम-पर्यायरूप

परिणमनशक्ति;.... आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वस्तु जो आत्मा है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति प्रभु अन्दर है। उसकी दृष्टि और उसके स्वभाव से विकाररूप परिणमे, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। परन्तु यह जो विकार—दोष होता है, वह पर्याय में, अपने में अन्दर एक विभाविक नाम की शक्ति है, उसकी पर्याय में निमित्ताधीन होता है, तब उसे विकार होता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! यह तो अन्दर का मार्ग है। यह आत्मा का मार्ग है। आत्मा का मार्ग इसने कभी सुना नहीं, समझा नहीं। बाहर के—जगत के ढोंग कर-करके मर गया।

अन्दर में चीज़ है, वह शुद्ध स्वरूप जो है, वह अपने कारण से अशुद्धरूप परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। परन्तु पर्याय में—अवस्था में स्वयं के कारण से उपादान की अपनी योग्यता के कारण से अशुद्धरूप परिणमता है। वह उपादान इसका है। उपादान अर्थात् मूल कारण। निमित्तकारण कर्म है, परन्तु निमित्तकारण का अर्थ ऐसा नहीं कि निमित्त कराता है। समझ में आया? निमित्त एक चीज़ है।

जैसे मिट्टी में से घड़ा होताा है, यह दृष्टान्त आगे दिया है। उसमें दिया है न? हाँ, उसमें ही दिया है, देखो! है? **जैसे-मिट्टी, घटपर्यायरूप परिणमती है,....** मिट्टी है, वह घटरूप होती है, उसमें उपादान—मूल कारण मिट्टी है और कुम्हार तो निमित्तकारण है। निमित्त—उससे घड़ा होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो ३७२ गाथा में आ गया है कि मिट्टी से घड़ा होता है, कुम्हार से घड़ा होवे, यह हम देखते नहीं। आहाहा! ३७२ (गाथा) मिट्टी जो है, वह स्वयं घटरूप होती है। कुम्हार से घटरूप होती है, ऐसा नहीं है। कुम्हार तो निमित्तमात्र एक चीज़ है। आहाहा! परन्तु अन्दर में जो वस्तु है, वह मिट्टी स्वयं ही घटरूप होती है। इसी प्रकार आत्मा—भगवान आत्मा स्वयं ही अपने स्वभाव से शुद्धरूप परिणमता है, वह शुद्धरूप से परिणमन (होने में) कोई कर्म का अभाव (होना) वह कारण है नहीं और अशुद्धरूप-मलिनरूप परिणमता है, वह भी अपने कारण से मलिनरूप परिणमता है। आहाहा! कर्म तो एक निमित्तकारण साथ में चीज़ है। वह कहीं उसे परिणमावे और बदलावे, ऐसा है नहीं। यह कहा, देखो!

जिस द्रव्य का संयोग प्राप्त होने से, अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है;

वह तो जिस द्रव्य की, उस द्रव्य में होती है;.... यह वस्तु में वस्तु की पर्याय वस्तु में अपनेरूप से हो, पररूप से हो नहीं। भले परसंयोग हो परन्तु पररूप नहीं होती। पर निमित्त हो, परन्तु होता है अपने रूप से। विकार और अविकार अपनेरूप से अपने कारण से होते हैं।

अन्य द्रव्यगोचर नहीं होती-ऐसा निश्चय है। जैसे-मिट्टी, घटपर्यायरूप परिणमती है, उसका उपादानकारण है मिट्टी में घटरूप परिणमनशक्ति, निमित्तकारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि;.... वह तो बाह्य निमित्तकारण है। आहाहा! इसे कोई विकार उत्पन्न करा दे, ऐसा है नहीं। जैसे कुम्हार बना दे, ऐसा नहीं। आहाहा! यह तो दुनिया से उल्टा है, बापू! यह घड़ा स्वयं मिट्टी से होता है। मिट्टी स्वयं ही घटरूप होती है, कुम्हाररूप घड़ा नहीं होता, जैसे कुम्हार घटरूप नहीं होता। आहाहा! इसलिए मिट्टी में से घड़ा होने में मूल कारण मिट्टी है और कुम्हार निमित्त है।

उसी प्रकार आत्मा में विकार होने में मूल कारण उसकी पर्याय है, उसकी योग्यता है, और निमित्तकारण कर्म है, परन्तु कर्म के कारण अन्दर विकार होता है, ऐसा नहीं है। तथा अपने स्वभाव के कारण विकार होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कान्तिभाई! यह सब सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : कर्म निमित्तकारण तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का अर्थ, 'है', बस! परन्तु कराता है, (यदि ऐसा हो तो) निमित्त कहने में नहीं आता। घड़े में निमित्तकारण कुम्हार है, परन्तु कुम्हार घड़े को करता है, (ऐसा हो) तब तो निमित्तकारण रहता नहीं। वह तो उपादान कारण हो जाता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : कुम्हार बिना चलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कहता है चलता नहीं? यह तो (प्रवचनसार) १०२ गाथा में कहा न? प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का जन्मक्षण है। प्रत्येक तत्त्व का, पर्याय का जन्म (अर्थात्) उत्पत्ति काल है। उस उत्पत्ति काल के कारण, वह पर्याय स्वयं से होती है। १०२ गाथा, प्रवचनसार। वह जन्मक्षण है। वह उसकी उत्पत्ति का काल है।

आहाहा! परन्तु यहाँ तो विकार की उत्पत्ति पर के निमित्त से अर्थात् कि पर के संग से अर्थात् कि निमित्त के आधीन होवे तो होती है। निमित्त कराता नहीं है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

उसका उपादानकारण है जीवद्रव्य में.... अब **मोह-राग-द्वेषरूप परिणमता है, उसका उपादानकारण है जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्धपरिणमनशक्ति;....** इसमें दो बोल हैं कि विभाविकशक्ति (के कारण से) उसमें विभावरूप परिणमने की योग्यता है, परन्तु विभाविकशक्ति है, इसलिए विभावरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। क्या कहा यह? अन्दर विभाविकशक्ति है, इसलिए विभावरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि विभाविकशक्ति तो सिद्ध में भी है। परन्तु विभाविकशक्ति पर्याय में निमित्त के आधीन है। तब उसे विकार, पुण्य और पाप के विकार हेाते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अन्तर का मार्ग अन्तर से अलग प्रकार का है। आहाहा! ये कहते हैं।

विभावरूप अशुद्धपरिणमनशक्ति;.... है। **निमित्तकारण है दर्शनमोह-चारित्रमोहकर्मरूप बँधा जो जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गलद्रव्य का पिण्ड,....** वह तो निमित्त है। पुद्गल का पिण्ड है, वह तो निमित्त है। आहाहा! और उपादान तो आत्मा की वर्तमान पर्याय में अशुद्धता होने की योग्यता से अशुद्धता होती है। कर्म तो निमित्तमात्र है। आहाहा! यह भी बड़ा विवाद है न? कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है, यह बात और शुभभाव से निश्चय होता है। अर्थात् कर्म से विकार होता है और विकार से धर्म होता है, दोनों बातें झूठी हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : सच्ची बात क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात (यह है कि) विकार स्वयं से, पर्याय में योग्यता से उत्पन्न होता है। कर्म निमित्तमात्र है और शुभभाव जो होता है, वह अपनी योग्यता से होता है। और शुभभाव से निश्चय होता है, ऐसा नहीं है। शुभभाव की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करे तो निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। भाई! ऐसी बात है।

पुद्गलद्रव्य का पिण्ड,... है न? **पुद्गलपिण्ड का उदय, अपने द्रव्य के साथ**

व्याप्य-व्यापकरूप है;.... क्या कहते हैं ? कि जो कर्म है न ? जड़ कर्म, उसका उदय व्याप्य-व्यापक (रूप से) उसके साथ है। कर्म व्यापक (होकर) पसरता है और विकारी पर्याय, जो उदय की दशा होती है, वह उसका व्याप्य है। कर्म व्यापक होकर आत्मा के विकारी पर्याय का व्याप्य करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? भाषा ली है, देखी ? कर्म अपने कारण से व्याप्य-व्यापक है। कर्म सत्तारूप वस्तु है, वह व्यापक (है) और जो उदय आया, वह उसका व्याप्य है। यह व्याप्य-व्यापक (पना) उसका उसमें है। आहाहा! परन्तु कर्म व्यापक होकर आत्मा की विकारी पर्याय व्याप्य करे, ऐसा सम्बन्ध नहीं है। आत्मा व्यापक होकर अज्ञानरूप से विकारी पर्यायरूप से व्याप्य हो, ऐसा उसका भाव है। कहो, पण्डितजी! ऐसी बात है। है ?

व्याप्य-व्यापक नहीं। **जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है,....** क्या कहा यह ? विकारी पर्याय जो जीव में होती है, उसमें कर्म व्यापक और विकारी पर्याय व्याप्य नहीं। वह कर्म सत्ता में पड़े हैं, वे व्यापक होकर, उदय में आकर व्याप्यव्यापकपना उनका उनमें है। परन्तु कर्म व्यापक होकर जीव की विकारी पर्याय करे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

जबकि (समयसार की) कर्ताकर्म (अधिकार की) ७५-७६ गाथा में तो ऐसा कहा... आहाहा! कर्म व्यापक होकर विकारी पर्याय व्याप्य होती है। वहाँ तो कर्ता-कर्म करनेयोग्य है, वह वस्तु छोड़ने के लिये (कहा है)। जहाँ द्रव्य की दृष्टि हुई, द्रव्य— वस्तु भगवान पूर्णानन्द का स्वभाव, ऐसी दृष्टि हुई तो वह द्रव्य व्यापक होकर अविकारी पर्याय की व्याप्य दशा को करे। क्या कहा यह ?

आत्मा पूर्णानन्द प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसका स्वभाव शुद्ध है, ऐसी जब दृष्टि हुई, तब वह शुद्ध स्वभाव व्यापक है और पर्याय की शुद्धता हुई, वह व्याप्य है। कर्म व्यापक है और शुद्धपर्याय व्याप्य है, ऐसा तो है नहीं। अब कर्म व्यापक है तो कर्म की पर्याय उसकी व्याप्य है। आहाहा! समझ में आया ?

व्याप्य-व्यापक अर्थात् व्यापक अर्थात् कर्ता और व्याप्य अर्थात् अवस्था। व्यापक अर्थात् द्रव्य, व्याप्य अर्थात् अवस्था। तो कर्म व्यापक होकर उसकी अवस्था को करे, परन्तु कर्म व्यापक होकर आत्मा की अवस्था करे (ऐसा नहीं है)। यह यहाँ वास्तविक

उसकी अवस्था को सिद्ध करना है। विकारी अवस्था स्वयं से होती है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। और जहाँ ७५-७६ गाथा ली है, वहाँ तो अन्तरंग कारण पुण्य और पाप, वह पुद्गल है। आहाहा! वह कर्म है, वह आत्मा नहीं। ऐसा लिया है। क्यों? कि, जहाँ दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर हुई, इससे स्वभाव व्यापक होकर निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आनन्द की पर्याय उसका व्याप्य होता है। वह व्यापक होकर विकारी (पर्याय) व्याप्य होती है, ऐसा भी नहीं और कर्म व्यापक होकर जीव की विकारी पर्याय करावे, ऐसा तो इस अपेक्षा से है नहीं। परन्तु जब विकार निकाल डालना है तो विकार का व्याप्य कर्म है, कर्म उसका व्यापक है (ऐसा कहे)। वहाँ कर्म को व्यापक बनाया और विकारी पर्याय को व्याप्य बनाया। यहाँ कहते हैं कि कर्म का व्याप्य-व्यापकपना कर्म में है।

मुमुक्षु : मूल में क्या अन्तर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु क्या अपेक्षा है, ऐसा जानना चाहिए न? एक ही जगह से एक ही पकड़े ऐसा नहीं चलता। यह तो अनेकान्त मार्ग है, स्याद्वादमार्ग है। किस अपेक्षा से है, यह इसे जानना चाहिए। वहाँ तो बिल्कुल ऐसा कहा कि आत्मा भगवान पूर्णानन्द के नाथ का व्याप्य तो स्वभाव है, शुद्धपर्याय उसका व्याप्य है। तब विकार होता है न? (तो कहते हैं), वह विकार है, वह ज्ञान का ज्ञेय है, इसलिए वह कर्म व्यापक होकर विकारी पर्याय व्याप्य होकर ज्ञान उसे जानता है। आहाहा! इसमें कहाँ क्या पकड़ना, समझ में आया? सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा!

एकदम कहे कि विकारी पर्याय पुद्गल है, ऐसा कहे। 'जीव अधिकार' में विकारी पर्याय अजीव है, ऐसा कहे। और १०८-१०९-११०-१११ गाथा में तो ऐसा कहे कि पूर्व का कर्म का उदय, वह व्यापक है और नये कर्म बँधें, वे उसका व्याप्य है। क्या कहा यह?

तीन प्रकार हुए। एक तो व्याप्य-व्यापक शुद्ध आत्मा स्वयं व्यापक होकर उसकी व्याप्य अवस्था निर्मल (करता) है। बस! इतना। और जब इस प्रकार सिद्ध करना है, तब कर्म व्यापक होकर विकारी व्याप्य है, (ऐसा कहते हैं)। वह निकाल डालने के लिये और ज्ञान का ज्ञेय बनाकर ऐसा कहा है। समझ में आया?

यहाँ ऐसा कहा कि आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से विकार हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है, परन्तु विकार होने की उसकी पर्याय में योग्यता है; वस्तु में नहीं। द्रव्य में और गुण में नहीं। विकार होने की पर्यायबुद्धि में पर्याय में योग्यता है। वह स्वयं से व्याप्य-व्यापक है। कर्म का व्याप्य-व्यापक कर्म में और आत्मा का व्याप्य-व्यापक आत्मा में। कर्म व्यापक होकर आत्मा में विकार हो, ऐसा नहीं है और आत्मा व्यापक होकर कर्म की व्यापक अवस्था करे, ऐसा भी नहीं है।

तीसरा, कर्म जो जड़ है, वह उदय होकर नये कर्म जो बँधते हैं, (उसमें) पुराने कर्म व्यापक हैं और नये कर्म बँधते हैं, वे व्याप्य हैं। आहाहा! देवीलालजी! ऐसी बात है। तीन प्रकार हुए।

मुमुक्षु : भिन्न कालवर्ती बताये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वहाँ लिया है। कारण कि आत्मा शुद्ध चैतन्य लेना है। इसलिए (कर्म का) उदय होकर नये बँधते हैं, वह उसका व्याप्य है। भले उसमें—नये (बँधने में) फिर विकार निमित्त हो परन्तु वास्तव में पुराने कर्म का निमित्त है, उदय है, व्यापक है (और) नये बँधते हैं, वे व्याप्य हैं। आहाहा! १०९ से १११ में ऐसा लिया है। 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही, वहाँ वहाँ वह वह आचरे, आत्मार्थी जन सही।' समझ में आया? प्रभु का अनेकान्त मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! बाहर से स्थूलरूप से मानकर बैठ गये, वह कोई चीज़ नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं, देखो! वहाँ दो बोल में ऐसा लिया। यह समयसार में है। है? कि कर्म व्यापक और विकारी पर्याय व्याप्य। भगवान व्यापक और विकारी पर्याय व्याप्य, ऐसा नहीं। वह शुद्ध स्वभाव को सिद्ध करने के लिये (ऐसा कहा है)। कर्म का व्यापक होकर व्याप्य हुआ, वह तो ज्ञान का पररूप से ज्ञेय हुआ। कर्म व्यापक और विकारी व्याप्य, वह ज्ञाता का भान होने पर उस ज्ञाता में उस पर्याय को परज्ञेयरूप से गिनने में आया; इसलिए कर्म व्यापक और पर्याय व्याप्य, (ऐसा कहा है)। ऐसा है।

यहाँ स्वद्रव्य की पर्याय सिद्ध करनी है। अपनी विकारी पर्याय अपने में अपनी योग्यता से होती है। आहाहा! कर्म व्याप्य-व्यापक होकर विकार को करे, ऐसा नहीं।

कर्म कर्म में व्याप्य-व्यापक है, आत्मा आत्मा में व्याप्य-व्यापक है। उस विकारी पर्यायरूप से पर्याय की योग्यता को (किसी) अपेक्षा से द्रव्य कहा जाता है, बाकी पर्याय की योग्यता, वह व्यापक है और विकारी पर्याय हुई, वह उसका व्यापक है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा कर्ता कहलाता है और विकारी पर्याय कर्म कहलाती है। वह आत्मा कर्ता अर्थात् द्रव्य नहीं। उसकी पर्याय है, उसे आत्मा कहा है। आत्मा जो वस्तु है, वह कर्ता (नहीं) और छह कारक है न? कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। उनमें कर्ता द्रव्य नहीं। कर्ता द्रव्य बोलने में आता है परन्तु कर्ता उसकी पर्याय है। कर्ता विकारी पर्याय है, कर्म विकारी पर्याय है, करण विकारी पर्याय है, सम्प्रदान विकारी पर्याय है, अपादान विकारी पर्याय है, अधिकरण विकारी पर्याय है। देवीलालजी! उसमें आत्मा (-द्रव्य) बिल्कुल नहीं। वे पर्याय के षट्कारक पर्याय से होते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह विकारी पर्याय उसके अशुद्ध परिणाम से पर्याय की योग्यता से अपने में होती है। समझ में आया? उसमें कर्म तो निमित्तमात्र है। इसमें बहुत झगड़े ऐसे खड़े होते हैं। अपेक्षा न समझे तो अज्ञान है। न समझे तो अज्ञान और अज्ञान में तो चक्कर में पड़ा ही है। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि उपादान की पर्याय तेरी है। वह विभाविकशक्ति में निमित्त के वश होने की योग्यता तेरी है। यह आगे ४७ नय में आयेगा। ईश्वरनय और अनिश्वरनय। ईश्वरनय आता है न? जैसे बालक को धायमाता परवशरूप से दूध पिलाती है, उसी प्रकार आत्मा में—पर्याय में ऐसी एक ईश्वर नाम की योग्यता है कि कर्म के निमित्त के वश होकर विकार स्वयं करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : बिच्छू काटे, तब दुःख करने की इच्छा तो नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिच्छू इसे काटा ही नहीं है, छुआ ही नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं। यह तो पहले तीसरी गाथा में कहा न, यह तो उसके ऊपर लक्ष्य है, इसलिए चिल्लाहट मचाता है। लक्ष्य द्रव्य पर नहीं है, स्वभाव पर नहीं है, इसलिए मानो यह मुझे हुआ, ऐसा द्वेष यह खड़ा करता है।

मुमुक्षु : ऐसी इच्छा तो नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, द्वेष खड़ा करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है।

वास्तव में तो बिच्छू का डंक शरीर को स्पर्शा नहीं, क्योंकि बिच्छू के डंक के परमाणु और शरीर के परमाणु भिन्न है। तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करे या चुम्बन करे ऐसा नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू!

मुमुक्षु : व्यर्थ में ही रोता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, इसकी पर्याय इसमें है परन्तु यहाँ जो कहा न?

देखो! यह शरीर है, देखो! यह ऐसा है न? अब ऐसे होता है, वह अँगुली के कारण नहीं होता, अँगुली इसे स्पर्श नहीं करती। यह खड्डा हुआ? अँगुली इसे स्पर्शी नहीं है और खड्डा अपनी पर्याय से हुआ है।

मुमुक्षु : स्पर्शेन्द्रिय का ज्ञान होने पर यह छूता तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। आहाहा! इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करे, ऐसा कहा जाता है, परन्तु इन्द्रियाँ इसे स्पर्श करती है, इसलिए ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? आहाहा! लो, देखो! ऐसा हुआ या नहीं? आवाज निकली या नहीं? यह इसे स्पर्शा नहीं और आवाज निकली है। क्योंकि यह चीज़ भिन्न है, यह चीज़ भिन्न है। (उसमें) स्पर्श कहाँ? चूमती ही नहीं न, एक-दूसरे को स्पर्शता ही नहीं न! तथापि यह ऐसा हुआ और जो आवाज निकली, वह तो अन्दर के परमाणु की पर्याय में भाषा होने की योग्यता थी, उस द्वारा निकली है। वे स्पर्शे नहीं और इसके कारण से आवाज हुई नहीं। पण्डितजी! ऐसी बात है, बापू!

पहले कहा नहीं था? यह पर्याय का चमत्कार है! बापू! यह पर्याय ऐसी है कि स्पर्शे नहीं और पर्याय हो! यह वह बात तो देखो! आहाहा! यह द्रव्य चमत्कारिक है, इसके गुण चमत्कारिक हैं। जहाँ अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणे ऐसे चमत्कारिक गुण हैं और उसकी पर्याय दूसरे को स्पर्शती नहीं, तथापि दूसरे में खड्डा पड़े! यह दाँत रोटी को स्पर्शे नहीं और टुकड़े हों, यह क्या है यह!! पण्डितजी!

एक ओर ऐसा कहना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, छूता नहीं तथा एक ओर ऐसा कहना कि दाँत से रोटी के टुकड़े होते हैं। एकदम झूठी बात है। आहाहा! तिनके के दो टुकड़े करने की भी आत्मा में ताकत नहीं। क्या कहा यह?

मुमुक्षु : आत्मा में तो अनन्त ताकत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी अपने में है। पर के लिये कहा है न यह? तिनका... तिनका न? (उसके टुकड़े आत्मा से होते हैं?) तो कहते हैं, नहीं, यह अँगुली तिनके को स्पर्शी ही नहीं, और उसके दो टुकड़े हुए हैं, उसमें आत्मा की इच्छा हुई, इसलिए हुए ही नहीं। ऐसी बातें हैं। यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, प्रभु! यह चमत्कारिक द्रव्य है। कोई परमाणु कहो, आत्मा कहो, छह द्रव्य कहो वस्तुस्थिति ऐसी है। यह तो लोगों में न चलता हो, इसलिए उन्हें नया लगे। बाकी कुछ नया है नहीं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

यह तो कहा नहीं था? यह ठोणी (घोड़ी) के आधार से पुस्तक रही ही नहीं। ठोणी (घोड़ी) के आधार से पुस्तक रही नहीं। क्योंकि उन परमाणु में प्रत्येक में आधार नाम की शक्ति है। एक-एक परमाणु में आधार नाम की शक्ति है। उसमें आत्मा में भी आधार नाम का एक गुण है परन्तु वह जो आधारगुण है, वह निर्मलरूप से परिणमे, उसे गुण कहा जाता है। विकाररूप से परिणमे, वह तो उसका लक्ष्य पर्याय में जाता है। गुण स्वयं आधार है, वह विकाररूप से परिणमे, वह गुण का स्वभाव नहीं। आहाहा! वह विकारपने की पर्याय होने में उसकी पर्याय की योग्यता उस समय की उसकी द्रव्य-गुण की अपेक्षा रखे बिना (होती है)। सम्यग्दर्शन की पर्याय हो, वह भी वास्तव में निश्चय से तो द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा जिसमें नहीं। आहाहा! कर्म के अभाव की जिसमें अपेक्षा नहीं। वह (जो) सम्यग्दर्शन की पर्याय (होती है), उस पर्याय में षट्कारक की शक्ति स्वयं में पड़ी है। जो सम्यग्दर्शन की पर्याय (हुई), वह पर्याय स्वयं करता है, द्रव्य-गुण नहीं। वह सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वयं कार्य—कर्म है, द्रव्य-गुण नहीं। कर्म तो नहीं, कर्म का अभाव (हुआ), इसलिए सम्यग्दर्शन का कार्य हुआ, यह तो नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : पर्याय में सुधार भी किस प्रकार हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह द्रव्य का आश्रय करे अर्थात् उसका लक्ष्य करे तो सुधरे। इसका अर्थ द्रव्य से सुधरती नहीं, परन्तु पर्याय पर का लक्ष्य छोड़कर यहाँ जाये तो वह पर्याय स्वयं से सुधर जाती है। आहाहा!

मुमुक्षु : सुधरे स्वयं से परन्तु द्रव्य लक्ष्य का।

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय कहा न? आश्रय (लेती है)। द्रव्य-आश्रय कहा न? **'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।'** (पर्याय) आश्रय (लेती है) तथापि वह समकित द्रव्य को स्पर्शता नहीं। ऐसा मार्ग है, भाई! बहुत सूक्ष्म मार्ग, प्रभु का ऐसा मार्ग है। वीतराग के अतिरिक्त यह बात कहीं (है नहीं)। समय-समय की स्वतन्त्रता! दूसरे को स्पर्श किये बिना (कार्य होता है), ऐसी चीज़ कहाँ है? भाई! आहाहा! वे तो कहें, ईश्वर जगत का कर्ता है। अरे! सब उल्टा है।

यहाँ तो (कहते हैं), पर्याय का कर्ता द्रव्य भी नहीं न। आहाहा! पर तो नहीं परन्तु द्रव्य-गुण भी पर्याय का कर्ता नहीं न! द्रव्य-गुण कर्ता और पर्याय कर्म, यह भी उपचार से कथन है। यह इसमें आ जाता है। कलशटीका में आगे आ गया है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा अपने स्वभाव से विकाररूप परिणमे, वह स्वयं विकार के कारणरूप स्वभाव नहीं। कहा न? सदा उदयमान। वह स्वभाव तो सदा प्रगट है। उसे कोई विकार (प्रगट करे, ऐसा है नहीं)। स्वयं स्वभाव स्वभाव के कारण से प्रगट करे। आत्मा के स्वभाव के कारण से विकार हो, ऐसा है नहीं और वह विकार होने में अन्दर पर्याय की योग्यता से विकार होता है, वह उपादान कारण उसका है और निमित्त उसे कर्म है, बस! आहाहा! कहो, हसमुखभाई! ऐसा सूक्ष्म है। कहीं मिले ऐसा (नहीं है)। फिर इसे न जँचे तो वह बेचारा ऐसा कहे न, एकान्त है... एकान्त है। कहे, उसे जो जँचा हो, वैसा कहे न? उसमें क्या हुआ? आहाहा! बापू! यह सम्यक् एकान्त है। सम्यक् एकान्त, हों!

यहाँ विकार होने में स्वभाव कारण नहीं है, ऐसा कहा, कर्म कारण नहीं, ऐसा कहा। दो बातें ली हैं। स्वभाव तो सदा उदयमान शुद्ध है। वह स्वभाव कारण (नहीं)।

इनकार किया न? आत्मा स्वयं उसरूप परिणमे, ऐसा नहीं है, ऐसा पहले कहा न? विकाररूप आत्मा—स्वभाव परिणमे, ऐसा नहीं। उसका तो स्वभाव ही भिन्न है। तब अब विकार होता है तो सही। उसका कारण कौन? उसका कारण उसकी पर्याय की उपादान की योग्यता। कर्म निमित्त है। निमित्त अर्थात् कि एक उपस्थित चीज़। परन्तु निमित्त से यहाँ विकार हो तो वह निमित्त कहलाता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अशुद्ध उपादान उसका कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं ही कारण है। आहाहा! शुद्ध उपादान कारण नहीं, निमित्त कारण नहीं, एक समय की पर्याय विकृत (अवस्था का) कारण है। आहाहा! यह शिष्य के प्रश्न का उत्तर है।

शिष्य ने पहले १७४ श्लोक में ऐसा पूछा था कि प्रभु! आपने एक ओर ऐसा कहा कि विकारभाव आत्मा के नहीं और फिर विकार से बन्धन होता है, ऐसा आपने कहा। तब यह वह क्या है? पुण्य और पाप के भाव आत्मा के नहीं—एक बात। दूसरे प्रकार से कहा कि पुण्य-पाप से उसे बन्धन होता है। यह क्या कहा आपने? यह प्रश्न किया था न? पूर्व में १७४ में हो गया है। समझ में आया?

'रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।''अतिरिक्त' (कहा) देखा? एक तो बन्ध का कारण कहा, और उसे आत्मा के स्वभाव से भिन्न कहा। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है, बापू! वह तो सीधा-सट्ट था—व्रत करना, अपवास करना, (उससे) धर्म हो जायेगा, जाओ! बापू! उस अपवास में भी राग की मन्दता हो तो शुभभाव है। वह उपवास ही नहीं। वह तो अपवास है। उपवास तो उसे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यघन के 'उप' में (अर्थात्) समीप में बसे, उसे उपवास कहते हैं। उसे छोड़कर राग की मन्दता में बसे, उसे अपवास कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह वर्षीतप करते हैं न?

वे समस्त परिणाम हेय हैं। लो, आया यहाँ? **जीवद्रव्य के साथ व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है, तथापि मोहकर्म का उदय होने पर,...** अब, इसमें जरा (दिक्कत करते हैं)। मोहकर्म का उदय जड़ में होने पर, जीव अपनी पर्याय में विकाररूप परिणमता है। शब्द

ऐसा है कि **मोहकर्म का उदय होने पर,...** है ? क्या कहा ? **जीवद्रव्य अपने विभाव-परिणामरूप परिणमता है....** कर्म का उदय होने पर—ऐसी भाषा है। **जीवद्रव्य अपने विभावपरिणामरूप परिणमता है....** अर्थात् ? कर्म का उदय होने पर विभावरूप परिणमता है, (इसका अर्थ ऐसा नहीं कि) उदय हुआ, इसलिए विभावरूप परिणमा। समझ में आया ? परन्तु यहाँ परिणमने की योग्यता है, उसे कर्म का उदय है, तब यहाँ विभावरूप से स्वयं से परिणमता है, ऐसा लेना। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि कर्म का उदय होने पर आत्मा विभावरूप परिणमे ही, ऐसा नहीं। तब ही उसे उदय कहने में आता है। नहीं तो स्वभावसन्मुख हो तो वह उदय खिर जाता है। तब उदय कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म तो बहुत आया, भाई! मार्ग ऐसा है, बापू!

आहाहा! अनन्त... अनन्त... अनन्त... ज्ञान की अपेक्षा के स्वभाव से भरपूर है। आहाहा! जिसके एक समय की पर्याय में तीन काल तीन लोक ज्ञात हों, ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड तो एक ज्ञानगुण है। आहाहा! ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड तो प्रभु एक द्रव्य है। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है—दो बातें (ली है) कि आत्मा स्वयं सदा प्रगटमान उदयमान है। वह कोई विकार का कारण नहीं। तब कहते हैं, विकार है तो सही, उसका कारण कौन ? कि उसका कारण तू—तेरी पर्याय; द्रव्य-गुण नहीं। पर्याय की योग्यता के कारण से विकार होता है, उसमें कर्म निमित्त कहलाते हैं। आहाहा! है ?

मुमुक्षु : दोनों मिले तो परिणमे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं है। परिणमे तो दो मिले, ऐसा कहने में आता है। उदय आया और परिणमे नहीं तो हो गया, (कर्म का उदय) छूट जाता है। सूक्ष्म बात है न ? भाषा ऐसी है।

यहाँ सिद्ध यह करना है कि यहाँ विभावरूप परिणमता है, तब वहाँ कर्म का उदय है। बस, इतना सिद्ध करना है। परन्तु भाषा ऐसी ली है कि **मोहकर्म का उदय होने पर,.... विभावपरिणामरूप परिणमता है....** ऐसा लिया। समझ में आया ? ऐसा कहने का आशय क्या ? कि विभाव अपने स्वभाव के आश्रय से नहीं होता। विभाव अपने

स्वभाव के आश्रय से नहीं होता। मोहकर्म का उदय होने पर विभावरूप परिणमता है, ऐसा कहा, परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं कि मोहकर्म का उदय आया, इसलिए विभावरूप परिणमे ही। आहाहा! ऐसा है। अब, इसमें निवृत्त कहाँ (है कि) आकर निर्णय करे! समय मिलता नहीं। हिम्मतभाई! पूरे दिन लोहा और यह तोला और यह किया और दिया और लिया... शान्तिभाई है या नहीं? इन्हें जवाहरात का। आहाहा!

द्रव्य की—स्वभाव की स्वतन्त्रता सिद्ध की और वह स्वभाव विकार का कारण नहीं, ऐसा सिद्ध किया और विकार होता है तो वह विकार के पर्याय की योग्यता सिद्ध की और होता है, वहाँ कर्म का निमित्त है, ऐसा सिद्ध किया। परन्तु भाषा यहाँ ऐसी आयी, उसमें से (अज्ञानी जीव) ऐसा निकालते हैं कि कर्म का उदय होने पर... है? है न? **जीवद्रव्य अपने विभावपरिणामरूप परिणमता है....** ऐसा कि कर्म का उदय हुआ इसलिए उसे यहाँ विभावरूप परिणमना हुआ। पण्डितजी! शब्द तो ऐसा है। परन्तु यहाँ सिद्ध यह करना है कि विभावरूप से उपादान में परिणमन होता है तो निमित्तकर्म है, इसलिए वहाँ से बात उठाई कि उदय होने पर विभावरूप परिणमनेवाला स्वयं से परिणमता है। ऐसा शब्द लिया न? देखो न!

जीवद्रव्य अपने विभावपरिणामरूप.... ऐसा शब्द लिया न? भाई! उसके कारण से नहीं, वह तो निमित्त है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं के कारण से उदय में जुड़ने पर....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका उस ओर लक्ष्य जाता है, उसके वश होता है। परन्तु पाठ तो ऐसा लिया न? इसका अर्थ ऐसा करे। मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा आता है कि मोहकर्म का उदय होने पर विभावरूप परिणमता है। वहाँ भी यही भाषा है।

इसका कारण इतना कि उसकी पर्याय में विभावरूप से स्वयं ही उपादानकारण से परिणमता है, यह पहले सिद्ध तो कर गये हैं। उसे सिद्ध करके अब यहाँ कहा कि मोहकर्म का उदय होने पर विभावरूप जो परिणमता है, वह परिणमता है। जो कर्म का उदय होने पर विभावरूप से स्वयं अपने कारण से परिणमता है, यह तो पहले सिद्ध किया। सिद्ध करके फिर कहा (कि) कर्म का उदय विभावरूप परिणमता है। अर्थात् विभावरूप से परिणमनेवाली पर्याय तो स्वयं से है।

जीवद्रव्य अपने विभावपरिणामरूप परिणमता है-ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है,... देखा? अर्थात् कि विभावरूप परिणमे, तब कर्म का निमित्त है। ऐसा ही कोई वस्तु का स्वभाव है। उसमें से ऐसा निकालते हैं कि कर्म का उदय होने पर विभावरूप परिणमे ही, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। सब (ऐसा) अर्थ करते हैं न? सुना है न! समझ में आया? क्या कहा? आहाहा!

ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, सहारा किसका। उसमें दूसरा कारण (क्या)? यहाँ स्वयं विभावरूप परिणमे, तब निमित्त होता है, इसलिए ऐसा कहा कि उदय होने पर विभावरूप परिणमता है। उसमें दूसरे की सहायता की, किसी कारण की आवश्यकता क्या है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह तो जयसेनाचार्यदेव की टीका में आ गया है। मोह उदय होने पर भी यदि स्वयं परिणमे नहीं... (प्रवचनसार) ४५ गाथा (में) जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। उदय होने पर भी यह परिणमे नहीं तो उदय का कुछ है नहीं। उदय आया इसलिए यहाँ परिणमे, ऐसा कुछ है नहीं। (यदि ऐसा परिणमना पड़े) तब तो कर्म का उदय सदा है, ऐसा कहते हैं। वहाँ लिया है। वहाँ दो बातें ली हैं।

आत्मा का स्वभाव बन्ध का कारण नहीं तथा कर्म का उदय बन्ध का कारण नहीं। बन्ध का कारण तो स्वयं उस ओर उस में जुड़ जाये तो बन्ध का कारण होता है। समझ में आया? न परिणमे (ऐसा) वहाँ (४५ गाथा प्रवचनसार) पाठ है। उदय (होने पर भी) मोहरूप न परिणमे। यहाँ कहते हैं कि उदय होने पर परिणमे। किस अपेक्षा से कहते हैं? कि विभावरूप परिणमने की उसकी पर्याय की योग्यता सिद्ध करके फिर निमित्त को सिद्ध करते हैं कि पूर्व कर्म का उदय होने पर भी यहाँ विभावरूप स्वयं से परिणमता है। आहाहा! एक न्याय बदले तो पूरा (तत्त्व) बदल जाता है। वस्तु ऐसी है। आहाहा!

यहाँ दृष्टान्त है.... है? **'यथा अर्ककान्तः' जैसे-स्फटिकमणि लाल, पीली, काली इत्यादि अनेक छविरूप परिणमती है,....** है? स्फटिकमणि। वह स्वयं काले आदि (प्रभारूप से) परिणमती है। **उसका उपादानकारण है, स्फटिकमणि के अन्तर्गर्भित...** है? **नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति;....** आहाहा! क्या कहते हैं यह? कि

स्फटिकमणी है और यहाँ काला, लाल फूल हो तो यहाँ काली, लाल झांईं पड़ती है वह उसकी योग्यता है। उस स्फटिकमणी की पर्याय की योग्यता से काली, लाल होती है। उन काले, लाल फूल के कारण नहीं। यदि उनके कारण से (झाँईं पड़े) तो यहाँ नीचे काला, लाल (फूल) रखो न! इसकी योग्यता नहीं। इसलिए काले, लाल फूल हैं, इसलिए काली, लाल (झाँईं) परिणमती है, ऐसा नहीं। वह काली, लाल परिणमने की उसकी पर्याय की अपनी योग्यता है। भाई! ऐसा बहुत सूक्ष्म है, क्या हो? मूल बात आवे तब तो स्पष्टीकरण तो होना चाहिए न? आहाहा!

यह आता है, 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक तणी... ज्यों निर्मलता रे स्फटिक तणी, त्यों ही जीव स्वभाव रे... श्री जिनवीर ने धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव रे... ज्यों निर्मलता रे स्फटिक तणी...' जैसे निर्मल स्फटिक है, वैसे आत्मा का निर्मल स्वभाव है। अकषायरूप से परिणमना, वह उसका धर्म है। आहाहा! 'श्री जिनवीर ने धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव...' कषाय का अभाव (होकर) अकषाय परिणाम (हो), वह धर्म है। कर्म का उदय घटा, इसलिए यहाँ अकषाय परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। तथा कर्म का उदय आया, इसलिए कषाय परिणाम हुए, ऐसा नहीं। आहाहा! निमित्त और उपादान का बड़ा घोटाला यह है न?

उसका उपादानकारण है, स्फटिकमणि के अन्तर्गर्भित नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति;.... समझ में आया? आहाहा! लोहा है न? लोहा। पाँच हाथ लम्बा लोहा (हो, उसका) दो अँगुल अग्नि में हो तो यहाँ तक अग्नि—उष्णता ठेठ आयेगी। और यहाँ दियासलाई से बीड़ी सुलगाते हैं तो दियासलाई यहाँ से (एक छोर से) सुलगती है, तथापि उसकी ओर का छोर गर्म नहीं होता। वह स्वयं की योग्यता है।

मुमुक्षु : लोहे में योग्यता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अग्नि के कारण पाँच हाथ लम्बा लोहा गर्म हो गया, ऐसा नहीं। (लोग) बीडी पीते हैं न? देखो न! बीड़ी का एक बाजू सुलगता है और एक बाजू ठण्डा है। दियासलाई का इस ओर का भाग गर्म नहीं होता। अग्नि तो उसे छूती है। यदि अग्नि से होता हो तो इसे भी होना चाहिए। बराबर है?

मुमुक्षु : समुचित तर्क है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति है। यह दृष्टान्त तो बहुत बार देते हैं, बहुत बार दिया है। पाँच हाथ का लम्बा लोहा हो, वह अग्नि में गया, थोड़ी (देर) रखो (तो) एकदम छोर नहीं पकड़ा जा सकता। इतना गर्म होता है। और दियासलाई दो-तीन अंगुली की होती है, बीड़ी पीवे (तब) यहाँ सुलगता हो और यहाँ ठण्डा हो। इस ओर ठण्डा हो। वह उसकी अपनी योग्यता के कारण है। इसी प्रकार स्फटिक में लाल फूल की लाल झाँई (पड़ती) है, वह स्फटिकमणी की अपनी योग्यता से है, फूल के कारण नहीं। समझ में आया? यह बात तो बहुत बार आ गयी है, यह कहीं पहली (बार) नहीं है। यह तो अन्दर में बहुत अधिक बातें आ गयी हैं। आहाहा!

स्फटिकमणि के अन्तर्गर्भित नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति;.... देखो! देखा? यह वर्ण—लाल आदि फूल है, परन्तु यहाँ (वैसे) अनेक वर्णरूप से परिणमने की पर्याय की अपनी योग्यता है, फूल के कारण नहीं। फूल के कारण हो तो इसमें रखे नहीं। यहाँ कहीं (झाँई) नहीं पड़ती, इसमें योग्यता नहीं है। स्फटिकमणी की पर्याय में योग्यता है। इसलिए लाल, पीली दिखती है। उसी प्रकार कर्म की पर्याय का उदय जीव को विकार करावे, ऐसा नहीं है। आत्मा की पर्याय में विकार होने की योग्यता है।

मुमुक्षु : फूल नहीं हो तो फिर काली, पीली झाँई नहीं पड़ती।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन प्रश्न करता है? फूल न हो और है, इसका प्रश्न अभी (कहाँ है)? न हो तब उसकी (उस रूप से) परिणमने की योग्यता नहीं है। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा है यह!

रात्रि में एक भाई को पूछा था, क्या धन्धा है? कि पाउडर का। क्या कहलाता है वह? प्लास्टिक का। प्लास्टिक का पाउडर और चश्मा। चश्मा भी प्लास्टिक के, नहीं? यह (पहनते हैं वह) यह है? यह प्लास्टिक का है, यह काँच का नहीं। नीचे दिखता है और ऊपर से यह दिखता है। नीचे ऐसा निमित्त है, इसलिए दिखता है—ऐसा नहीं है। नम्बर लगाये, इसलिए (दिखता है, ऐसा नहीं है)। आहाहा!

पर्याय पर्याय अपनी स्वतन्त्र उस-उस काल में (होती) है। उस प्रकार से न माने

तो तत्त्व की—वस्तु की सिद्धि नहीं होगी। उसकी पर्याय है, वह साबित नहीं होगी। यह पर्याय किसी की और किसी के कारण हो तो पर्याय साबित हुई कहलायेगी?

यहाँ (कहते हैं), **निमित्तकारण है, बाह्य नाना वर्णरूप....** देखा? **अन्तर्गर्भित नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति;....** स्फटिक में नाना अर्थात् अनेक, **स्फटिकमणि के अन्तर्गर्भित नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति; निमित्तकारण है, बाह्य नाना वर्णरूप पूरी का (आश्रयरूप वस्तु का) संयोग।** वह भी नानारूप है। है न? **(आश्रयरूप वस्तु का) संयोग।** ऐसा। जैसा वस्तु का संयोग निमित्तरूप है, वह भी उसके कारण से यहाँ स्फटिकमणि लाल, पीला होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात कौन माने? कठिन पड़े... कठिन पड़े।

कहा था न? (एक) मन्दिरमार्गी साधु चर्चा करने आया था। चन्द्रशेखर है न? वह जीवाप्रताप (का भतीजा) दीक्षा ली। लीबड़ी आये (तब) तुम थे न? चर्चा करने आया (और कहा), अपने चर्चा करें। (मैंने) कहा, भाई! हम किसी के साथ चर्चा नहीं करते। अरे! तो तुम्हारे ऐसा बड़ा नाम (है और इनकार करोगे तो) हीनता होगी। किसी का चाहे जैसा हो, हमें चर्चा नहीं करनी। फिर कहे तुम सिंह हो तो मैं सिंह का बच्चा हूँ। (मैंने कहा), भाई! हम कोई नहीं, सिंह भी नहीं। फिर अन्त में (उसने) ऐसा कहा कि देखो! यह चश्मा बिना ज्ञात होता है? (मैंने) कहा, हो गयी चर्चा! जाननेवाली पर्याय स्वयं से जानती है, उसे चश्मा से ज्ञात हो, (ऐसा कहना) सब चर्चा हो गयी। भाई थे न तब? सेठिया लेकर आये थे, दो-तीन-चार सेठिया लेकर (वह साधु आये थे)। अरे... बापू! प्रभु! यह ऐसी चर्चा का विषय नहीं है, भाई! आहाहा!

(यहाँ) यह दो प्रकार कहे। (विशेष कहेंगे...)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १७६

(अनुष्टुप्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं
ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्
नातो भवति कारकः ।।१४-१७६।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'ज्ञानी इति वस्तुस्वभावं स्वं जानाति' [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव, [इति] पूर्वोक्त प्रकार [वस्तुस्वभावं] द्रव्य का स्वरूप, ऐसा जो [स्वं] अपना शुद्धचैतन्य, उसको [जानाति] आस्वादरूप अनुभवता है, 'तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्' [तेन] तिस कारण से [सः] सम्यग्दृष्टि जीव, [रागादीन्] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, [आत्मनः] जीव-द्रव्य के स्वरूप हैं, ऐसा [न कुर्यात्] नहीं अनुभवता है; कर्म के उदय की उपाधि है, ऐसा अनुभवता है। 'अतः कारकः न भवति' [अतः] इस कारण से [कारकः] रागादि अशुद्धपरिणामों का कर्ता [न भवति] नहीं होता। भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि अशुद्धपरिणामों का स्वामित्वपना नहीं है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, कर्ता नहीं है।।१४-१७६।।

मागसर कृष्ण २, मंगलवार, दिनांक-२७-१२-१९७७, कलश-१७६, प्रवचन-१८६

कलश टीका १७६ (कलश)।

इति वस्तुस्वभावं स्वं
ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्
नातो भवति कारकः ।।१४-१७६।।

सम्यग्दृष्टि जीव... क्या कहते हैं ? पहले में ऐसा आ गया था कि विकार का कर्ता आत्मा शुद्ध उपादानरूप से नहीं है। निमित्त शब्द था परन्तु वहाँ उपादान लेना। निमित्त

शब्द है न? '**न जातु रागादिनिमित्तभाव**' १७५ (श्लोक)। इस निमित्तभाव का अर्थ वहाँ उपादान लेना। आत्मा शुद्ध उपादानरूप से विकार का कारण नहीं है। समझ में आया? संस्कृत में लिया है, संस्कृत। वहाँ निमित्त का अर्थ उपादान किया है। है न, दो कारण है न? क्या कहा यह?

आत्मा जो शुद्ध चैतन्य है, पवित्र है, उसका शुद्ध उपादान तो पवित्र है। वह शुद्ध उपादान विकार का कारण नहीं होता। निमित्त का अर्थ वहाँ उपादान लेना है। यह ऊपर से कहते हैं न? कि आत्मा निमित्त नहीं, कर्म के निमित्त से विकार होता है। ऐसा करके उसका (लोग) अर्थ करते हैं। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है। यहाँ तो आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु है, विकृत पर्याय और विकृत बिना की चीज़ है, वह चीज़ है, उसे यहाँ निमित्त कहा है। निमित्त अर्थात् कारण, उपादानकारण।

शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव ध्रुव, वह कोई विकार का मूल शुद्ध उपादान कारण नहीं है। समझ में आया? उसमें अर्थ की बड़ी गड़बड़ है। '**परसंगएव**' में भी गड़बड़ है और इस अर्थ में भी गड़बड़ है। परसंग में भी ऐसा कहते हैं कि पर के कारण (विकार) होता है। यह कल अपने आ गया है। ऐसा नहीं है। इसका अर्थ यह है कि... इसलिए कहते हैं न? '**इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति**' इसका योगफल यहाँ १७६ (कलश में) है।

वस्तुस्वभाव चैतन्यमूर्ति शुद्ध चैतन्य आनन्दघन वह वस्तु है, उस वस्तु का स्वभाव है। वह '**वस्तुस्वभावं स्वं**' (अर्थात्) स्वयं '**ज्ञानी जानाति**' स्वयं ज्ञान से जानता है (कि) यह शुद्ध चैतन्य है। जिसकी ज्ञान की पर्याय का शुद्ध चैतन्य, वह ज्ञेय है। धर्मी की ज्ञानपर्याय का ज्ञेय शुद्ध चैतन्य है। इसलिए ज्ञानी शुद्ध चैतन्य को जानता हुआ... आहाहा! अज्ञानी शुद्ध चैतन्य को जानता नहीं। इसलिए शुद्ध चैतन्य है, वह उसे निमित्तकारण अर्थात् विकार का कारण कहा नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसी स्ववस्तु ज्ञानी जानता है, ऐसा इसमें आया?

वस्तु का स्वभाव ऐसा है, ऐसा वह जानता है कि मेरी चैतन्यशक्ति, शुद्ध चैतन्य है, वह विकार का कारण नहीं अर्थात् विकार मेरे स्वरूप में नहीं, ऐसा। विकार का कारण नहीं अर्थात् कि मेरे स्वरूप में विकार नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें

हैं, भाई! एक न्याय बदले तो पूरा बदल जाये ऐसा है। आत्मा स्वयं निमित्त नहीं, मात्र कर्म निमित्त है, इसलिए (विकार) होता है, ऐसा भी नहीं है और परसंग अर्थात् पर के कारण होता है, ऐसा भी नहीं है। विकृत अवस्था की यह बड़ी भूल चलती है।

यहाँ तो आचार्य ने ऐसा कहा कि निमित्तभावम् आत्मा विकार का कारण नहीं। निमित्तभाव आत्मा विकार का निमित्तकारण नहीं। निमित्तकारण नहीं अर्थात् शुद्ध उपादानकारण, वह विकार का कारण नहीं। पण्डितजी! आहाहा! तब (कोई कहता है कि) विकार है न? वह विकार है, वह पर का संग करता है इसलिए पर्याय में अशुद्ध उपादानरूप से व्यवहार विकृत दशा उत्पन्न होती है। समझ में आया? एक न्याय जरा बदले तो पूरी चीज़ बदल जाती है। आत्मा (विकार का) कारण नहीं और कर्म कारण है अर्थात् कर्म के कारण विकार होता है, ऐसा नहीं। ....भाई! आहाहा!

शुद्ध निर्मल चैतन्यघन जो शुद्ध चैतन्य भाव, उसे यहाँ निमित्तभाव कहा है। निमित्तभाव अर्थात् एक निमित्त शब्द प्रयोग किया है, परन्तु इसका अर्थ कारण है। निमित्तभाव अर्थात् कारणभाव। शुद्ध स्वभाव आत्मा वह विकार का कारण भाव नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्ध स्वभाव विकार का कारण नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण नहीं, ऐसा बतलाना है। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहा न? कि '**वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति**' मेरा शुद्ध स्वभाव है, ऐसा ज्ञानी जानता है। इसलिए वह विकार को अपने स्वरूप में है, ऐसा नहीं जानता। विकार होता है, परन्तु उसे पररूप से जानता है। और शुद्ध चैतन्यस्वरूप मेरा है, ऐसा वह जानता है। समझ में आया? इसलिए कहते हैं न कि शुद्ध स्वभाव पर्याय और राग का लक्ष्य छूटकर जिसे शुद्ध उपादान का ज्ञान हुआ है, उस शुद्ध उपादान के स्वभाव को जिसने जाना है, इसलिए कहा, शुद्ध उपादान विकार का कारण नहीं। ऐसे पहले कहा। तब कहते हैं, विकार का कारण कौन है? कि पर्याय में पर्याय, शुद्ध उपादान तो एक ओर रह गया, पर्याय में पर्याय निमित्त का संग करती है। पर्याय निमित्त का संग करती है, द्रव्य तो नहीं। समझ में आया?

शुद्ध चैतन्यवस्तु जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसे यहाँ निमित्तभाव कहकर उपादान के अर्थ में निमित्तभाव लिया है। भगवान आत्मा, शुद्ध उपयोग चैतन्यस्वभाव वह विकार का कारण नहीं है। तब विकार का कारण कौन है? कि अशुद्ध उपादान पर्याय में स्वयं में है। जिसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर है, उसे अशुद्ध उपादान है। उसके अशुद्ध उपादान में विकृत अवस्था होती है, उसमें कर्म का निमित्त है, अर्थात् कर्म का संग है। पण्डितजी! इस प्रकार है, भाई! इसमें आड़ा-टेढ़ा कुछ करे तो (सब बदल जाता है)। समझ में आया इसमें कुछ? देवीलालजी! आहाहा!

इसलिए यहाँ १७६ (श्लोक में) कहा कि वस्तु '**इति वस्तुस्वभावं**' इस प्रकार से वस्तु के स्वभाव को... है न? '**ज्ञानी**' अर्थात् **सम्यग्दृष्टि जीव...** ऐसा लिया। देखा? **पूर्वोक्त प्रकार....** पूर्वोक्त अर्थात् '**वस्तुस्वभावं**' **द्रव्य का स्वरूप, ऐसा जो 'स्वं' अपना शुद्धचैतन्य,...** देखा? जो शुद्ध उपादानकारण नहीं कहा था, विकार का कारण (नहीं कहा था), उस शुद्ध उपादानकारण को अपना जानता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी शुद्ध उपादान चैतन्य है, उसे अपना स्वरूप जानता है। अरे! ऐसी बातें अब!

पूर्वोक्त प्रकार द्रव्य का.... अर्थात् वस्तु का। **अपना शुद्धचैतन्य,...** शुद्ध चैतन्य, **उसको आस्वादरूप अनुभवता है,...** '**जानाति**' की व्याख्या यह की। अकेला जानता है, ऐसा अर्थ करे तो साधारण जानने की व्याख्या है, ऐसा नहीं। जानता है, उसे कहते हैं कि उसमें आस्वाद आवे। आनन्द का आस्वाद आवे, उसे '**जानाति**' और आस्वादति कहा जाता है। कहो, समझ में आया? आहाहा! एक-एक श्लोक... यह तो महासिद्धान्त है! और यह भी महासन्त भावलिंग जिनका चिह्न! उग्र स्वसंवेदन जिनका चिह्न भावलिंग है, उन सन्तों की वाणी है। निमित्त से कहान है न? वाणी तो वाणी की है। समझ में आया?

इस प्रकार आस्वादरूप वस्तु को शुद्ध चैतन्य वह मैं, पर्याय में विकृत अवस्था (होती है), वह मैं नहीं, वह जीव का स्वरूप ही नहीं। आहाहा! धर्मदृष्टि—धर्मी की दृष्टि शुद्ध चैतन्य उपादान जो वस्तु है, उसे जानने पर उसके शुद्ध स्वरूप को आस्वादता है। आहाहा! '**जानाति**' की व्याख्या बहुत साधारण कर डाले कि जानता है। परन्तु जानता है कब कहलाये? कि अन्दर आनन्दस्वरूप त्रिकाल शुद्ध चैतन्य है, उसकी

व्यक्त अवस्था होकर आनन्द का आस्वाद ले, तब वह '**जानाति**' कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? अनुभूति करे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह पर्याय है, परन्तु किसकी? शुद्ध चैतन्य ध्रुव परम-परम स्वरूप पवित्र धाम भगवान की अनुभूति, उसकी अनुभूति अर्थात् यह शुद्ध है, उसकी अनुभूति में शुद्ध परिणमन ही प्रगट होता है। उसमें अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादसहित अनन्त गुण की एक अंश की शक्ति की व्यक्तता का वेदन होता है, परन्तु उस वेदन में आनन्द का वेदन मुख्य कहने में आया है। क्योंकि अनुभव में आनन्द की मोहरछाप है। यह (समयसार की) पाँचवीं गाथा में आ गया है। मेरे वैभव से कहूँगा, वहाँ ऐसा कहा है कि अनुभव में आनन्द की मोहरछाप है। यह टिकिट को मोहर लगाते हैं न? समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : मुद्रित शब्द पड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह। मोहरछाप है। आहाहा! क्या कहा यह?

फिर से, यह आत्मा जो है शुद्धस्वरूप ध्रुव, उसे जिसने जाना, तो जानना उसे कहते हैं कि उसमें जो अतीन्द्रिय आनन्द है, ऐसी अनन्त शक्तियाँ हैं, उन अनन्त शक्तियों का एक अंश व्यक्तरूप से सबका अनुभव है। परन्तु सबके अनुभव में प्रधानता क्या है? आनन्द के स्वाद की मोहरछाप की प्रधानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्रुव के मार्फत जाने न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर्याय की बात है। यह अनुभूति पर्याय है। परन्तु पर्याय किसके आश्रय से हुई? शुद्ध चैतन्य के आश्रय से हुई, इसलिए उसकी अनुभूति में अनन्त गुण की शक्ति की अनन्त संख्या की व्यक्तता का अंश है। जितनी संख्या है, उतना व्यक्त का अंश हुआ है। परन्तु वह वेदन में अनन्त शक्ति की व्यक्ति का अंश वेदन में है, परन्तु उस वेदन को मुख्य गिनने पर उसे आनन्द के वेदन के साथ अनन्त शक्ति की व्यक्ति का वेदन है, ऐसा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : आनन्दरस में सब स्वाद रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुख्य तो दुःख का अभाव और आनन्द की उत्पत्ति (होना), वह धर्म की शुरुआत है और मुक्ति का अर्थ है—मोक्ष। मोक्ष अर्थात् पूर्ण दुःख से

छूटना। मोक्ष शब्द है न ? यह नास्ति से बात है। पूर्ण दुःख से छूटना। और अस्ति से कहें तो पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, वह आत्मलाभ है, ऐसा नियमसार में कहा है। आत्मा का लाभ अर्थात् पूर्ण आनन्द की प्राप्ति, वह आत्मलाभ—मोक्ष। वह आत्मलाभ—मोक्ष, ऐसा शब्द है। नियमसार में शुरुआत में है। आहाहा! क्या शैली! क्या शैली!! गजब शैली! कोई भान बिना और भान बिना में ऐसा मान ले कि हम आत्मा को जानते हैं। समझ में आया ? उसका स्पष्टीकरण किया है। भाई! वह आत्मा जाने तब उसे जितनी शक्तियाँ हैं, उनका सबका एक अंश व्यक्त होता है, उसे जाना कहा जाता है। और उसमें उस आनन्द के अनुभव की मुख्यता होती है, तब उसे जाना कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया ? है ?

यहाँ शब्द में 'ज्ञानी' है न ? '**ज्ञानी इति वस्तुस्वभावं स्वं जानाति**' इसका अर्थ किया स्वं। ज्ञानी अर्थात् **सम्यग्दृष्टि जीव, पूर्वोक्त प्रकार द्रव्य का स्वरूप,....** आहाहा! भगवान आत्मा द्रव्य जो त्रिकाली, उसका स्वरूप स्वयं का शुद्ध चैतन्य '**स्वं**' इसलिए अपना शुद्ध स्वरूप। **उसे...** '**जानाति**' अर्थात् आनन्द के स्वादसहित उसे जानता है। आहाहा! अब यह खबर पड़ती है या नहीं खबर पड़ती ? कोई ऐसा कहता है कि सम्यग्दर्शन होता है, यह खबर नहीं पड़ती। यह तो निश्चय केवली जाने। अरे.. भगवान! बापू! तू क्या कहता है यह ? यह तो सम्यग्दर्शन की पर्याय को सीधी प्रत्यक्ष जाने, इस अपेक्षा से बात है। परन्तु सम्यग्दर्शन में अनुभूति का स्वाद आवे, उसके साथ सम्यग्दर्शन होता है, वह सम्यग्दर्शन भले सीधे न ज्ञात हो, परन्तु आनन्द का आस्वाद आवे उसके साथ समकितदर्शन है, ऐसी उसके साथ प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : आनन्द का फल प्राप्त होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, देखो न भाषा कैसी की है! यह तो राजमल पाठ की टीका करते हैं। कितने ही लोग तो कहते हैं कि हमारे आचार्य का मान्य है, गृहस्थों का मान्य नहीं। अरे... प्रभु! तब पण्डित फूलचन्दजी कहे कि हमारे तो सब पण्डितों का मान्य है। खानियाचर्चा में लिखा है न ? टोडरमल, बनारसीदास, भागचन्दजी हमको तो सबका मान्य है। अरे! सम्यग्दृष्टि कोई भी जीव हो, चाहे जो बात करे, वह सत्य ही करता है।

चारित्र में (भले) अन्तर (हो) परन्तु वस्तु की दृष्टि और वस्तु का अनुभव और वस्तु के कथन में उसे कहीं अन्तर नहीं होता। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, देखो! इतने शब्द में कितना डाला है! देखो न! धीरे से समझने जैसी बात है, बापू! यह तो वीतराग का मार्ग ऐसा है। आहाहा! ऐसी बात वीतराग के अतिरिक्त और वह भी दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त ऐसा जैनधर्म का स्वरूप कहीं है नहीं। आहाहा! दूसरे को दुःख लगे, न लगे, प्रभु! दुःख लगने के लिये बात नहीं है। वस्तु की स्थिति की यह मर्यादा है।

वस्तु स्वयं जब अनन्त आनन्दमय है, अनन्त ज्ञानमय है, अनन्त प्रभुतामय है, अनन्त चारित्र अर्थात् शान्तिमय है तो उसकी जब दृष्टि (और) अनुभव हो, तब उन सबका अंश वेदन में आवे। आहाहा! परन्तु वेदन में आनन्द की मुख्यता का स्वाद लेकर आस्वादता है, ऐसा कहा गया है। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! ऐसी बात है।

'**स्वं**' ऐसा। वीतराग सर्वज्ञ को जाने, ऐसा भी यहाँ नहीं। वीतराग भी शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। समझ में आया? है न? **पूर्वोक्त प्रकार द्रव्य का स्वरूप,....** है। केवली हुए, उनका भी शुद्ध स्वरूप ही है। सिद्ध का शुद्ध स्वरूप ही उनकी पर्याय है, परन्तु यहाँ तो (कहते हैं), '**स्वं**' **अपना शुद्धचैतन्य,....** आहाहा! पर को निकालकर अपने शुद्ध चैतन्य की बात है। क्योंकि अन्य द्रव्य का जहाँ लक्ष्य करने जायेगा, चाहे तो सिद्ध या अरिहन्त होंगे तो भी राग होगा। वह भी है तो शुद्ध। द्रव्य से शुद्ध, गुण से शुद्ध और पर्याय से शुद्ध है। तो भी स्व से पर भिन्न है, उनका लक्ष्य करने जायेगा तो '**परदव्वादो दुग्गई**' मोक्षपाहुड़ की १६वीं गाथा! परद्रव्य का लक्ष्य करेगा अर्थात् चैतन्य की गति जो ज्ञानानन्द की है, वह छूट जायेगी, राग होगा। आहाहा! यह राग है, वह चैतन्य की दुर्गति है। आहाहा!

अब, यहाँ तो पर की भक्ति करने का भाव राग है, उसे दुर्गति कहा। उससे आत्मा का कल्याण होगा, (ऐसा मानना), प्रभु! यह बहुत विरुद्ध है। यहाँ तो स्व चैतन्य शुद्ध स्वरूप, आहाहा! इसलिए 'स्व' शब्द प्रयोग किया है। पर शुद्ध है, उसका अनुभव तो होता नहीं। वह तो पर चीज़ है। पर चीज़ भले शुद्ध सिद्ध हो, अरिहन्त हो परन्तु

(उनका) लक्ष्य करने जायेगा तो स्व का आश्रय छूटकर पर का आश्रय होगा, तो राग होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों को साथ में जानने से क्या बाधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाने, परन्तु किस प्रकार से दोनों को जाने? जाने कहा। परन्तु किस प्रकार से? अपने आनन्द के स्वाद के साथ अपने को जाने और पर के आश्रय से हुआ राग है, उसे ज्ञातारूप से पररूप से जाने। पररूप से जाने और स्वाद—अनुभव को स्व रूप से जाने। बात तो जैसी है, वैसी होगी न, बापू! कठिन पड़े और समाज को न समझ में आये, इसलिए कहीं दूसरी चीज़ हो जायेगी? वस्तु तो यह है। भले पण्डित न माने उसे क्या करें? बापू! वस्तु कहीं बदल जाये ऐसी है? भगवान आनन्द का नाथ, आहाहा! '**स्वं**' शब्द पर यह व्याख्या चली। '**स्वं' अपना शुद्धचैतन्य,...** उसे आस्वादता है। देखा? पर शुद्ध है, उसे आस्वादता हो नहीं। उसका लक्ष्य करे तो राग होगा। आहाहा!

आहाहा! क्या वाणी है न! मुनियों की वाणी तो देखो! वीतरागी वाणी है! आहाहा! यह शान्ति के काम है, बापू! यह उतावल से आम पके, ऐसा नहीं है। यह तो धीरज से... धीरज से... आहाहा! ध्रुव को ध्येय बनाकर धीरज से धखती धूणी धखाना। आ गये हैं न ये शब्द? यह आस्वाद। आहाहा! आत्मधर्म में आ गया है। हिन्दी में आ गया है, गुजराती में आ गया है। तेरह बोल हैं। धीरज से ध्रुव को ध्येय में लेकर धखती धखती धूणी अन्दर वेदन की पकावे। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति के रस का स्वाद लेना। आहाहा! यह तो पर्याय में है। वस्तु का कोई स्वाद नहीं। समझ में आया?

यह तो अलिंगग्रहण के बीसवें बोल में बात हुई। प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो द्रव्यसामान्य, उसे नहीं आलिंगित करता आत्मा, उसे नहीं आलिंगन करता आत्मा शुद्ध पर्याय है। बीसवें बोल में ऐसा कहा। क्या कहा यह? कि प्रत्यभिज्ञान का कारण—जो पहला था, वह यह है, वह यह है, ऐसा जो ध्रुव प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो द्रव्य, उसे आत्मा स्पर्श नहीं करता, उसे आत्मा आलिंगन नहीं करता। आत्मा द्रव्य को नहीं आलिंगन करता... आहाहा! शुद्ध पर्यायस्वरूप आत्मा है। वह वेदन में आया, वह आत्मा है, (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! वेदन में ध्रुव नहीं आता। समझ में आया? वहाँ

बीसवें (बोल में) तो आत्मा को शुद्ध पर्याय है, ऐसा लिखा है। अर्थात् कि आत्मा वेदन में ध्रुव को स्पर्शता नहीं।

पहली बात तो ऐसी हो गयी कि ध्रुव है, वह पर्याय को स्पर्शता नहीं। आहाहा! पश्चात् कहा कि पर्याय है, वह अपने ध्रुव को स्पर्शती नहीं। क्योंकि वेदन में तो पर्याय आती है, और वेदन में ध्रुव आता नहीं। ध्रुव का ज्ञान आता है, परन्तु ध्रुव का वेदन नहीं होता। इसलिए आनन्द का वेदन जिसकी मोहरछाप है, वह आत्मा पर्याय है। वह आत्मा पर्याय है, बस! आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भगवान! मार्ग ऐसा है।

मुमुक्षु : अबाध्य अनुभव जे रहे...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो और अलग। वह तो उसमें से निकाल डालते डालते... परन्तु यहाँ तो पर्याय है, वह आत्मा है, ऐसा सिद्ध करना है।

यहाँ तो प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ध्रुव, उसे आत्मा नहीं आलिंगन करता, उसे नहीं स्पर्शता, पर्याय जो शुद्ध वेदन है, उसे स्पर्शता है, अर्थात् उसे वेदता है, वह आत्मा पर्याय है। देवीलालजी! वह बात दूसरी और यह बात दूसरी है। 'अबाध्य अनुभव जे रहे, वह है...' यह तत्त्व की सिद्धि की है। यहाँ तो वेदन में पर्याय का वेदन है, इसलिए वह आत्मा वेदन में द्रव्य को स्पर्शता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है।

यह यहाँ कहा, देखो! राजमलजी ने अर्थ भी कैसा किया है! '**जानाति**' का अर्थ आस्वाद किया। यथार्थ है। आहाहा! वे समकिती ज्ञानी भले गृहस्थ (हों), उसमें क्या है? सत्य को तो सत्य रीति से ही उसे सिद्ध करे। चारित्र की निर्बलता है, उसे जानते हैं कि मुझमें चारित्र नहीं है। परन्तु दृष्टि तो जैसी सिद्ध की है, वैसी ही दृष्टि समकिती की है। आहाहा! दो लाईन हुई। आधा घण्टा हुआ। इसमें इतना भरा है, हों! अन्दर है।

'**तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**' क्यों? कि जो शुद्धस्वरूप है, उसे आस्वादता है, इसलिए उससे विरुद्ध ऐसे रागादि भाव... है? **सम्यग्दृष्टि जीव, राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, जीव-द्रव्य के स्वरूप हैं, ऐसा नहीं अनुभवता है;....** आहाहा! जानता है, राग-द्वेष होते हैं, उन्हें जानता है, परन्तु वह मेरा स्वरूप है, ऐसा अनुभव नहीं

करता। राग-द्वेष तो समकिती को होता है, जानता है, परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं, (ऐसा जानता है)। पररूप से उसे वेदे और जाने। आहाहा! मेरा स्वरूप है, ऐसा मानकर स्व में जाने और वेदे, ऐसा नहीं है। आहाहा! वापस अशुद्धपना बिल्कुल नहीं, ऐसा भी नहीं। परन्तु अशुद्धपना जीव का स्वरूप नहीं। आहाहा! निमित्त के संग में, पर के वश से—निमित्त के वश से; निमित्त से नहीं, निमित्त के वश से हुआ राग, उसे अशुद्धरूप से जानता है। समझ में आया? आहाहा!

राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, 'आत्मनः न कुर्यात्' आहाहा! है न? १७५ में आया था। **'न जातु रागादिनिमित्तभाव' 'न जातु'** शब्द पड़ा है न? कभी भी रागभाव को शुद्ध उपादानभाव से करता नहीं, ऐसा वहाँ लिया है। आहाहा! भगवान शुद्धस्वरूप वह निमित्त अर्थात् शुद्ध उपादान, उस शुद्ध उपादान द्वारा राग को कभी करता नहीं। **'न जातु'** आहाहा! होता है, परन्तु वह जीवस्वरूप है, ऐसा जानकर, मानकर होता है—ऐसा नहीं है। समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म मार्ग, इसलिए लोगों को (जल्दी समझ में नहीं आता)।

मुमुक्षु : दोनों साथ में एकसमय में होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होते हैं, होते हैं। उसे मेरा स्वरूप है, ऐसा मानता नहीं। पररूप से उसे जानता है। है मेरी पर्याय में, ऐसा जानता है और वह भी परिणमन मेरा है, ऐसा जानता है।

मुमुक्षु : उसमें ममत्वबुद्धि नहीं, एकत्वबुद्धि नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कर्ताबुद्धि है, करनेयोग्य बुद्धि नहीं। प्रवचनसार में आयेगा। समकिती हो उसे भी राग का कर्तृत्व है। पाठ आयेगा, नय आयेंगे। उस कर्तृत्व का अर्थ करनेयोग्य है, ऐसा नहीं परन्तु उतना परिणमन है, ऐसा ज्ञानी जानता है। आहाहा! और राग मेरा है, वैसे उसे भोगता नहीं। परन्तु पररूप से राग है, उसका भोक्ता है। भोगनेयोग्य है, ऐसा धारकर भोगता नहीं, परन्तु परिणमन में भोक्तापना खड़ा है। न हो तो पूर्ण आनन्द का भोक्ता हो जाये। आहाहा! जितने अंश में निर्मल आनन्द प्रगट हुआ है, उसे भोगता है, वह स्व रूप से (भोगता है) और राग को भोगता है, वह पररूप से (भोगता

है)। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें है, भाई! इसमें वाद और विवाद (कहाँ करे)?

मुमुक्षु : दो में से एक बात कहो कि, भोगता है या नहीं भोगता?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों बात है। यह कहा न यहा? देखो!

अशुद्धपरिणाम, जीव-द्रव्य के स्वरूप हैं, ऐसा नहीं अनुभवता है;.... ऐसा कहा है। उसे वेदता नहीं या अनुभव नहीं करता, ऐसा नहीं है, परन्तु मेरा स्वरूप है—ऐसा अनुभव नहीं करता, हरिभाई! यह तो बापू सिद्धान्त है। यह अध्यात्म है, वह कहीं कथा-वार्ता नहीं। आहाहा!

राग-द्वेष-मोह (कहा तो) मोह शब्द से समकिती को मिथ्यात्व तो नहीं, परन्तु मोह शब्द से परसन्मुख की सावधानी है, इतना लेना। कर्म के निमित्त के ओर की सावधानी का भाव है, वह जीवस्वरूप रूप से उसे अनुभव नहीं करता, ऐसा लेना। मोह अर्थात् वहाँ मिथ्यात्व है, ऐसा नहीं। समझ में आया? किसी जगह मोह का अर्थ मिथ्यात्व होता है और अस्थिरता का अर्थ राग-द्वेष होता है। यहाँ समकिती को मोह नहीं। मोह मेरा स्वरूप है अर्थात् कि परसन्मुख की सावधानी का भाव वह मेरा स्वरूप है—ऐसा नहीं है। परन्तु वह जानता है कि मुझमें मुझसे होता है। समझ में आया? आहाहा! मोह का अर्थ पर का सावधान (पना)। जरा परसन्मुख (जाता है न)? मोह का अर्थ यह होता है न? इस ओर जाना, ढलना। राग-द्वेष का भी इस ओर ढलना है न? इसलिए उसे मोह कहा। सावधानी की अपेक्षा से (कहा)। पर में उल्लसित वीर्य हुआ है, इस अपेक्षा से उसे मोह कहा। मिथ्यात्व नहीं कहीं। समकित को वेदता है और मिथ्यात्व को पररूप से वेदता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

नहीं अनुभवता है; कर्म के उदय की उपाधि है,... देखा? किसकी? उस मिथ्यात्व की बात यहाँ नहीं। मात्र राग-द्वेष और परसन्मुख का झुकाव जरा हुआ है, वह कर्म की उपाधि है, ऐसा जानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : चारित्रमोह सम्बन्धी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, चारित्रमोह सम्बन्धी की बात है। यह शैली बहुत जगह

आती है। मोह शब्द आता है, तो भी समकिती को मोह होता है, मोह का अर्थ इतना कि परसन्मुख झुकाव। स्व का पूर्ण आश्रय नहीं, इसलिए अभी किंचित् पर का आश्रय है। उस पर के आश्रय को यहाँ मोह कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? स्वरूप का आश्रय यदि पूर्ण सावधानी हो, मोहरहित अर्थात् पूर्ण सावधानी यदि आत्मा में हो तो परसन्मुख का आश्रय और सावधानी आंशिक भी नहीं हो। परन्तु आत्मा में शुद्धता में पूर्ण आश्रय नहीं, पूर्ण सावधानी नहीं, उतनी उसे पर के आश्रय से, पर की सावधानी में अशुद्धता उत्पन्न होती है। उसे पररूप से जानता है और वेदता है। तो भी पररूप से वेदता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। एक श्लोक में कितना भरा है! ओहोहो! दिगम्बर भावलिंगी सन्तों ने गजब काम किया है! आहाहा!

कर्म के उदय की उपाधि है, ऐसा अनुभवता है। देखा? यदि मिथ्यात्व हो तो उदय के कारण मिथ्यात्व अनुभवता है, वह तो यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो जरा राग-द्वेष होते हैं, पुण्य-पाप के भाव धर्मी को भी होते हैं, वह कर्म की उपाधि है, ऐसा जानकर अनुभवता है। जानता है कहो, वेदता है कहो, उसमें कोई दिक्कत नहीं। आहाहा! समझ में आया? **ऐसा अनुभवता है।**

'**अतः कारकः न भवति**' है? **इस कारण से रागादि अशुद्धपरिणामों का कर्ता नहीं होता।** कर्ता होता नहीं, उसका अर्थ करनेयोग्य है, इस प्रकार से कर्ता होता नहीं। कर्ता तो है, पर्याय में जितना राग है, उतना कर्ता तो नय से है, कर्तानय है। ऐसी बात है। यह तो दिगम्बर धर्म अर्थात... आहाहा!

मुमुक्षु : कर्ता है या कर्ता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता है, वह वेदनरूप से है। करनेयोग्य है, इस प्रकार से कर्ता नहीं। कर्तव्यरूप से नहीं। मेरा यह कर्तव्य है, ऐसा नहीं, परन्तु परिणमता है, इसलिए कर्तारूप से है—ऐसा वह जानता है। ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : कर्ता नहीं होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, कर्ता है। यह नय के अधिकार में आयेगा। जैसे रंगरेज रंग को करता है, वैसे ज्ञानी भी राग को करता है। कर्तानय है और नय का समूह वह

श्रुतज्ञान है। उस श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा जानने में आता है। यहाँ तो 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ समझना वही।' आड़ा-टेढ़ा नहीं चलता, भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। आहाहा! परमात्मा की पैढ़ी पर बैठकर उनसे विरुद्ध बात करना, वह कहीं चले? भगवान का जो भाव है, उस प्रकार से कहे, वह मार्ग चले। आहाहा!

कर्ता नहीं होता। किस प्रकार? मेरे हैं, ऐसे मानकर कर्ता नहीं होता, ऐसा। देखो! ऐसा ऊपर आया था न? आया था न? **जीव-द्रव्य के स्वरूप हैं, ऐसा नहीं अनुभवता है; कर्म के उदय की उपाधि है,....** ऐसा जानता है **अनुभवता है।** अर्थात् कि कर्म का उदय है, वह मेरा कर्तव्य नहीं, परन्तु परिणमन रीति से मुझमें होता है, इसलिए कर्ता कहा (जाता है)। वेदने में (आता है, ऐसा) कहने में आता है। आहाहा! और यदि वह वेदन न हो, तब तो पूर्ण आनन्द का वेदन चाहिए। साधक को पूर्ण आनन्द तो नहीं, तब इसका अर्थ यह हुआ कि किंचित् आनन्द भी है और किंचित् दुःख भी है। यह राग आदि दुःख है। आहाहा! ऐसा है। कितने पहलू याद रखना इसमें? मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : समयसार में तो ऐसा आता है कि बलजोरी से आ पड़ते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बलजोरी नहीं, अपने पुरुषार्थ की कमी से आते हैं। बलजोरी कहा है, इसका अर्थ यह कि विकार का पुरुषार्थ है, उसका नाम बलजोरी। आहाहा! वह वह विकार उस उस क्षण में, वह वह उत्पत्ति का काल है, जन्मक्षण है। वह स्वयं के कारण से, पर को क्या है? पर स्पर्शता नहीं, वहाँ पर को क्या? पर तो बाहर लोटता है। आती है न गाथा? '**बहिरलोटन्ति**' एक द्रव्य के बाहर (दूसरा) द्रव्य बाह्य लोटन्ति। स्पर्श नहीं करता—छूता नहीं। आहाहा! निमित्त कहने में आवे, वह तो ज्ञान कराने के लिये दूसरी चीज़ है। उससे इसमें कुछ होता है, ऐसा जरा भी नहीं है। आहाहा! यह कहा न? कि, निमित्तभाव शुद्ध उपादान स्वयं होता नहीं, परन्तु कर्म निमित्त होते हैं, ऐसा कहा। तो इसका अर्थ क्या हुआ? कर्म निमित्त होते हैं, अर्थात्? कर्म चीज़ है, उसका वह संग करता है, इसलिए अशुद्ध उपादान यहाँ होता है, तब उसको निमित्त कहने में आता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

मुमुक्षु : उपादान-निमित्त की छनावट अधिक....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अधिक चलता है न, देखो न! शुद्ध उपादानरूप से करता नहीं। परन्तु अशुद्ध उपादान तो पर्याय हुई वह तो। शुद्ध उपादान तो द्रव्य त्रिकाल हुआ। इस प्रकार शुद्ध उपादानरूप से आत्मा विकार का कारण नहीं, परन्तु अशुद्ध उपादान अर्थात् वह तो पर्याय हुई। पर्याय में पर का संग करता है, इसलिए विकार का कर्ता-भोक्ता होता है। कर्तव्यरूप से भोगनेयोग्य है, इसलिए (कर्ता है), ऐसा नहीं है परन्तु उसका परिणमन है इसलिए (कर्ता है)। परिणमे, वह कर्ता ऐसा लेकर कर्ता कहा जाता है। ऐसा है। यहाँ तो वीतराग का मार्ग है, प्रभु! यह पूरी श्रद्धा और प्ररूपणा में बहुत अन्तर पड़ गया है। वर्तन तो भले कम-ज्यादा कच्चा हो परन्तु मूल श्रद्धा और प्ररूपणा में अन्तर पड़ गया है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्ररूपणा तो श्रद्धा हो वैसी ही होगी न!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वैसे तो शास्त्र में ऐसा कहते हैं कि अन्तर (में) हो चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि और बाह्य क्रिया हो मुनि की। तो उसे भी द्रव्यलिंग कहा जाता है। द्रव्यलिंगी के प्रकार हैं। मिथ्यादृष्टि हो और पंच महाव्रत, नग्नपना आदि की मुनि की क्रिया बराबर चुस्त (पालता हो) तो वह भी द्रव्यलिंगी है। सम्यग्दर्शन हो, छठवाँ गुणस्थान न हो और छठवें गुणस्थान की क्रिया हो। राजवार्तिक में है। राजवार्तिक में द्रव्यलिंग की व्याख्या है। समझ में आया? उसे भी द्रव्यलिंगी कहा जाता है परन्तु उसकी प्ररूपणा, श्रद्धा बराबर होती है। विकार है, इसलिए हमको चारित्र है, ऐसा वह नहीं मानता। अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं, इसलिए हम चारित्री हैं, ऐसा वह नहीं मानता। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। और अन्दर पाँचवाँ गुणस्थान और बाहर की छठवें गुणस्थान की क्रिया हो, वह भी द्रव्यलिंगी कहलाता है। मिथ्यादृष्टि, चौथा और पाँचवाँ (गुणस्थान), तीनों को इस अपेक्षा से द्रव्यलिंगी कहा जाता है।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि द्रव्यलिंगी कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भी कहा जाता है। परन्तु यथार्थ प्ररूपणा और श्रद्धा, ज्ञान यथार्थ है और सम्यक्त्व यथार्थ है। उसे महाव्रत की क्रिया आदि मुनि के योग्य है, वह

निरतिचार वर्तती है परन्तु उसका भाव वहाँ नहीं है, अन्दर भावलिंग नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो सब बहुत फेरफार आता है, इसलिए यह सब स्पष्टीकरण होता जाता है। ...भाई! बहुत फेरफार (होता आता है) इसलिए अधिक स्पष्ट आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग प्रभु का! यह तो प्रभु कहते हैं, बापू! आहाहा! दुनिया माने—न माने, वह स्वतन्त्र है। इसे किसी व्यक्ति के प्रति वैर-विरोध करनेयोग्य है ही नहीं। भगवान! आहाहा!

यह तो समाधिशतक में आया नहीं? रात्रि में कहा था कि हमारा यह आत्मा है, वह क्या है, उसे (सामनेवाला) जानता नहीं, तो फिर हमारा वैरी और मित्र किस प्रकार हो सकता है? और हमारा यह आत्मा कैसा है, ऐसा जाना तो वह भी वैरी और शत्रु हो नहीं सकता। आहाहा! समाधिशतक!

गजब बातें! सन्तों की दिगम्बर मुनियों की बातें तो (गजब है)! करणानुयोग हो, चरणानुयोग हो, परन्तु उसकी वस्तु की स्थिति का वर्णन है। आहाहा! व्यवहारनय का वर्णन तो आवे न! दो नय है या नहीं? समझ में आया? परन्तु एक नय है, वह हेय है और एक नय है, वह उपादेय है। नहीं तो दो नय नहीं पड़ते। दो नय विरोध हो तो दो नय पड़े। यह भी आदरणीय और यह भी आदरणीय हो तो एक नय हो गया। समझ में आया? नियमसार में वापस शब्द तो ऐसा है—'**विरोधध्वंसी**' दो का विरोध है परन्तु उनका नाश करनेवाली भगवान की वाणी है। आहाहा!

निश्चय से ऐसा है और व्यवहार से ऐसा है तो व्यवहार से है, (वह) वस्तु है, व्यवहारनय का विषय है। विषय नहीं-ऐसा नहीं। (विषय न हो तो) नय नहीं है। परन्तु उस नय का विषय हेय है। विषय है, उसे हेय कहा जाता है या न हो, उसे हेय कहा जाता है? आहाहा! समझ में आया? यह तो धीरे-धीरे तो कहा जाता है, भाई! वह प्रोफेसर हो एक घण्टे बोल जाये, एम.ए. में, मेट्रिक में प्रोफेसर बोल जाये, हो गया। यह ऐसा नहीं है। यह तो धीरे... धीरे... धीरे... इसका विचार कर सके। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार जानने के लिये हेय या आश्रय के लिये हेय?

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय किया वही हेय है। इसलिए आश्रय किया, वह हेय है।

और हेयरूप से उसे जानता है। यह मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है न? कि व्यवहारनय को ग्रहण करना, ऐसा कहा है न? ग्रहण का अर्थ जानना, ऐसा लिया है। ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : जानना, वही ग्रहण करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानना, वही ग्रहण करना है। मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत खूब स्पष्टीकरण, बहुत स्पष्ट! लोग विरोध करे, भले करे। बीसपंथी करते हैं, यह फलटन में बहुत विरोध किया कि टोडरमल और बनारसीदास अध्यात्म की भांग पीकर नाचे! अरे! प्रभु! ऐसा नहीं कहा जाता, प्रभु! अध्यात्म की भांग पीकर नाचे! अध्यात्म को भांग कहा जाता है? अर र र! दूसरे प्रकार से (बात) बैठी हो, (इसलिए) कहे, भाई! कहे। आहाहा! जिस प्रकार से वस्तु की स्थिति है, उस प्रकार से ख्याल में न आया और दूसरा ख्याल में आया और आया वह तो उसे पक्का आत्मा हो गया। अब वह कैसे बदले? आहाहा!

(यहाँ कहते हैं), **इस कारण से रागादि अशुद्धपरिणामों का कर्ता...** इस कारण से अर्थात्? कि, यह उपाधि है, कर्म के निमित्त की, परसंग की उपाधि है। वह अपना स्वभाव नहीं है। इस कारण से उसका **कर्ता नहीं होता।** इस कारण—हेतु दिया। समझ में आया? **कर्ता नहीं होता।**

भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि अशुद्धपरिणामों का स्वामित्वपना नहीं है;.... स्वामी अर्थात् अपनापन नहीं, ऐसा इसका अर्थ है। यह रागादि होते हैं, उसमें अपनापन नहीं, अर्थात् स्वामित्व नहीं। आहाहा! मूल तो ऐसा है कि जो जीव का स्वरूप ही नहीं है, वह तो उपाधि है। है स्वयं के कारण, परन्तु निमित्त के वश हुई उपाधि है, वह मेरा स्वरूप नहीं; इसलिए उसका मैं स्वामी नहीं। यदि मैं स्वामी होऊँ तो वह मेरी चीज़ हो जाये। समझ में आया? आहाहा! अरे!

यहाँ तो घड़ी और पल में पर का स्वामी, पर का स्वामी (होता है)। आहाहा! पत्नी का पति मैं, नरपति, मनुष्य का पति राजा—नरपति, करोड़पति, लक्ष्यपति... कैसे? उद्योगपति। उद्योगपति था कब? वह तो जगत को पहिचान कराने की बात है। उद्योगपति तो बोलने में है, स्वभाव में पुरुषार्थ करे वह उद्योगपति है। उद्योगपति! ऐसा

किया, इसने ऐसा किया और ऐसा किया... (एक भाई का) बहुत लिखा है। साहूजी का लेख बहुत आते हैं, उद्योग ऐसे किया, अमुक ऐसा किया, अमुक ऐसा किया... कौन करे? बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा! राग किया हो।

मुमुक्षु : किया है....

पूज्य गुरुदेवश्री : राग किया है। (बाहर में) तो कुछ किया नहीं।

समकिती युद्ध में खड़ा हो और द्वेष का अंश भी उसे आता है। आहाहा! सैकड़ों हाथी के तलवे टूट जाये, फूट जाये। लाल रक्तवाले मुक्ताफल हाथी में से (पड़े हो)। गजमोती। आहाहा! तथापि वह जरा द्वेष का अंश है तथा उसे अपने रूप से नहीं मानता। वह क्रिया होती है, उसे तो जानता है, वह कहीं स्वयं करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात कठिन! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि अशुद्धपरिणामों का स्वामित्वपना.... अर्थात् कर्ता, अपना नहीं इसलिए स्वामित्व नहीं, ऐसा। होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी समय स्वयं करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करता है, यह कहा वह तो परिणमता है, इस अपेक्षा से करता है। परिणमता है, इस अपेक्षा से करता है, परन्तु मेरा है, इस प्रकार से करता नहीं। ऐसा है। आहाहा! इसमें कहाँ.. ? एक बात सिद्ध करने जाये वहाँ दूसरी बात उड़ जाती है। कर्ता है और कर्ता भी नहीं। भोक्ता है और भोक्ता भी नहीं। आहाहा! कर्ता है, उसके साथ अकर्तानय भी है, एकसाथ है। कर्तानय किसी का और अकर्तानय किसी का, ऐसा नहीं है। आहाहा! राग का परिणमन है, इस अपेक्षा से कर्तानय है और अकर्तानय है। राग अपना नहीं, इसलिए अकर्ता है। आहाहा! ऐसा है। बहुत फेरफार हो गया, बापू! मार्ग ऐसा है अन्दर।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को युद्ध के परिणाम तो बहुत उग्र कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो रौद्रध्यान भी होता है। सम्यग्दृष्टि हो और पुत्र मर जाये (तो) रोवे। वह लड़का मर गया, (उसके) कारण से नहीं। उसके परिणाम में निर्बलता के कारण (ऐसा भाव आता है)। आहाहा!

भरत चक्रवर्ती! अष्टावर्त पर्वत पर परमात्मा मोक्ष पधारे। भरत गये, इन्द्र आये, भगवान का देह ऐसे जहाँ छूटता है, वहाँ भरत रोते हैं। समकिती! उस भव में मोक्ष जानेवाले। इन्द्र ऐसा कहता है, हे भरत! तुम तो इस भव में मोक्ष जानेवाले हो न! यह क्या? (तब भरत कहते हैं), सब खबर है, भाई! इन्द्र... इन्द्र, हों! शकेन्द्र आकर (ऐसा कहता है,) ऊर्ध्वलोक का स्वामी आता है। दोनों सम्यग्दृष्टि! और रोता है, आँख में से आँसू बहते (जाते हैं)। भरतक्षेत्र में चैतन्यसूर्य का अस्त हुआ। अरे! हम कहाँ पूछेंगे? कहाँ समाधान करेंगे? समझ में आया? पितारूप से नहीं। (परन्तु) धर्मसूर्य तीन लोक के नाथ परमात्मा चले जाते हैं।

इन्द्र आश्वासन देता है, प्रभु! चक्रवर्ती! तुम तो इसी भव में मोक्ष जानेवाले हो, हमारे तो अभी एक मनुष्यदेह करना है। हम मोक्ष तो जानेवाले तो हैं, परन्तु हमारे तो एक मनुष्यदेह करनी है। तुम्हारे तो यह देह अन्तिम है, तो भी भरत कहते हैं, इन्द्र! मैं सब जानता हूँ, बापू! परन्तु मेरी कमजोरी के कारण राग आये बिना नहीं रहता, तो भी उसे मैं जानता हूँ, वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

बहिन ने लिखा नहीं? (अज्ञानी) कषाय को रोधता है। उसमें आता है। रुंधा हुआ कषाय है। कषाय मन्द करता है परन्तु रुंधा हुआ है। वह कहीं अकषाय (भाव) नहीं। आहाहा! कषाय पर दृष्टि है, वहाँ (दृष्टि को) रोका है, वहाँ रुक गया है। आहाहा! कठिन बातें, बापू! शुभभाव हो तो भी कषाय रुंधा हुआ है, और ज्ञानी को अशुभभाव हो तो भी वह अपने में नहीं, ऐसा मानकर उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा! लो!

इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, कर्ता नहीं है। धर्मी, वह करनेयोग्य है, इस प्रकार वह अपने मानकर करता नहीं। यह उसका योगफल लिया। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १७७

(अनुष्टुप्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ।।१५-१७७।।*

खण्डान्वयसहित अर्थ—'अज्ञानी इति वस्तुस्वभावं स्वं न वेत्ति' [अज्ञानी] मिथ्यादृष्टि जीव, [इति] पूर्वोक्त प्रकार [वस्तुस्वभावं] द्रव्य का स्वरूप, ऐसा जो [स्वं] अपना शुद्धचैतन्य, उसको [न वेत्ति] आस्वादरूप नहीं अनुभवता है, 'तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्' [तेन] तिस कारण से [सः] मिथ्यादृष्टि जीव, [रागादीन्] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, [आत्मनः] जीवद्रव्य के स्वरूप हैं, ऐसा [कुर्यात्] अनुभवता है; कर्म के उदय की उपाधि है—ऐसा नहीं अनुभवता है; 'अतः कारकः भवति' [अतः] इस कारण से [कारकः] रागादि अशुद्धपरिणामों का कर्ता [भवति] होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि अशुद्धपरिणामों का स्वामित्वपना है; इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव, कर्ता है।।१५-१७७।।

मागसर कृष्ण ३, बुधवार, दिनांक-२८-१२-१९७७, कलश-१७७-१७८, प्रवचन-१८७

कलशटीका, बन्ध अधिकार, श्लोक-१७७।

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ।।१५-१७७।।

पहले ज्ञानी की गाथा आ गयी। यह अज्ञानी की (गाथा है)। '**अज्ञानी इति वस्तुस्वभावं स्वं न वेत्ति**' '**अज्ञानी' मिथ्यादृष्टि जीव,....** अनादि से जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व-झूठी दृष्टि-असत्य दृष्टि है, वह **द्रव्य का...** अर्थात् वस्तु स्वरूप का। जैसा है, वैसा, **शुद्धचैतन्य, उसको आस्वादरूप नहीं अनुभवता है,....** क्या कहते हैं ? कि आत्मा का

*** पण्डितश्री राजमलजी की टीका में यह श्लोक और उसका अर्थ छूट गया है। श्लोक नं. १७६ के आधार से इस श्लोक का 'खण्डान्वयसहित अर्थ' बनाकर यहाँ दिया गया है।**

स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य आनन्द है। उसे अज्ञानी अपने आनन्दस्वरूप को दृष्टि चैतन्य के ऊपर नहीं होने से उस आनन्द के स्वाद को आस्वादता नहीं। आहाहा! स्वरूप शुद्ध चैतन्य... चैतन्य आनन्द, ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उसे स्वभाव की दृष्टि करके वर्तमान में उसके आनन्द के स्वाद को अज्ञानी नहीं लेता। आहाहा! तब क्या करता है? है?

'तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्' जब स्वरूप की, शुद्ध चैतन्य की सम्यक् दृष्टि नहीं, उसका ज्ञान नहीं और उसके आस्वाद का आचरण नहीं। आहाहा! तब वह अज्ञानी अनादि से क्या मान्य करता है? **'सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्' मिथ्यादृष्टि जीव, राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, जीवद्रव्य के स्वरूप हैं, ऐसा अनुभवता है;....** आहाहा!

दो बातें कीं। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव धर्मी उसे कहते हैं कि, जो अपने अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का अनुभव में उसका स्वाद लेता हो। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय की दया, दान, व्रत, भक्ति की क्रिया करता हो, वह नहीं। वह तो राग है। वह राग ज्ञानी को आता है अवश्य, परन्तु उसे अपना मानकर उसका स्वाद नहीं लेता। आहाहा! ऐसी व्याख्या है।

अज्ञानी राग और द्वेष, पुण्य और पाप, चाहे तो शुभभाव हो, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का भाव—शुभराग (हो), उसे आत्मारूप से अनुभव करता है। आहाहा! ऐसा बड़ा अन्तर है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि क्रियाकाण्ड बराबर करता हो, परन्तु वह तो उसका राग है। उस राग को आत्मारूप से अनुभव करता है। वह अपना स्वरूप है, ऐसा अज्ञानी अनुभव करता है। बन्ध अधिकार है न? आहाहा! बहुत सूक्ष्म मार्ग, बापू! वीतरागमार्ग... आहाहा!

जिसे आत्मा पूर्णानन्द और ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नहीं, उसका अवलम्बन नहीं, उसका उसे वर्तमान पर्याय में आधार नहीं, वह आत्मा की शान्ति को अनुभव नहीं करता। आहाहा! और उसे यह राग और द्वेष के परिणाम, चाहे तो दया, दान, व्रत के (परिणाम) हों, परन्तु वह राग को आत्मारूप से जीव के स्वरूपरूप से जानकर अनुभव करता है। आहाहा! कठिन बात! ऐसा धर्म, लो! अज्ञानी-ज्ञानी में यह अन्तर है।

धर्मी अपना शुद्धस्वरूप आनन्दघन ज्ञानपिण्ड प्रभु का आश्रय और अवलम्बन होने से उसे आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है। आहाहा! अनुभव है। अज्ञानी को उस आत्मवस्तु के स्वरूप की खबर नहीं; इसलिए वह स्वरूप में नहीं, ऐसे पुण्य-पाप के भाव को अपना मानकर जीव का स्वरूप जानकर अनुभव करता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

पर का अनुभव तो अज्ञानी को भी नहीं है और ज्ञानी को भी नहीं है। स्त्री का, लक्ष्मी का, इज्जत का, मकान का अनुभव तो अज्ञानी को भी नहीं है। क्योंकि वह तो पर चीज़ है, उसमें आत्मा में (उसका) अनुभव कहाँ आवे? आहाहा! यह पैसा पाँच-पच्चीस लाख, करोड़-दो करोड़ आवे तो उसका अनुभव अज्ञानी को नहीं। अज्ञानी को उसके प्रति किये हुए राग और द्वेष है, उसे अज्ञानी अनुभव करता है। आहाहा! वह अधर्मदृष्टि है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वीतरागमार्ग (बहुत सूक्ष्म)।

धर्म की दृष्टि तो अन्दर स्वरूप आत्मा त्रिकाली, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का धाम ऐसा जो प्रभु, उसके ऊपर जिसकी दृष्टि है, उसका जिसे स्वीकार है, वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन-अनुभव (करता) है। आहाहा! उसका जिसे भान नहीं, वह तो पाप के परिणाम (करे) या दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव राग है, वह अपना स्वरूप है, ऐसा मानकर उसे आत्मारूप से राग को अनुभव करता है। आहाहा! ऐसी बात है। है? भाई को दिया? मंगलदासभाई को। पुस्तक है? आहाहा!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव का यह फरमान है कि जिसे आत्मा राग से, पुण्य-परिणाम से भी भिन्न है, वह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव जो पुण्य हैं, राग है, वह रागतत्त्व तो पुण्यतत्त्व अथवा आस्रवतत्त्व है। भगवान आत्मा तो आस्रवतत्त्व से भिन्न है। आहाहा! ऐसे आस्रवतत्त्व से भिन्न ऐसे तत्त्व को जो जानता नहीं, श्रद्धता नहीं, वेदता नहीं अर्थात् (कि) दर्शन, ज्ञान, चारित्र (नहीं, ऐसा अज्ञानी जीव)। समझ में आया? वह जीव जिसके जानने में तो राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग आया है, वह राग ही जिसकी दृष्टि में और ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुआ, उसे मेरा है—ऐसा मानकर उसका अनुभव करता है। अरे! ऐसी व्याख्या!

मुमुक्षु : दया, दान, शील, तप तो जीव की शोभा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शोभा धूल भी नहीं, वह तो राग है। अशोभा है, कलंक है, मैल है, जहर है। ऐसा वीतरागमार्ग है। कठिन पड़े, बापू! क्या हो? अनन्त काल से इसने ऐसे शुभभाव तो अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में गया तो अनन्त बार किये। शोभा हो तो उससे आत्मा को लाभ होना चाहिए न? आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' मुनिव्रत धारण किये, पंच महाव्रत (लिये), हजारों रानी, परिवार, राज छोड़कर पंच महाव्रत के परिणाम पालन किये परन्तु वह तो राग है, वह तो आस्रव है, वह तो दुःख है। आहाहा! ऐसी बात! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। रागभाव से धर्म उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! यह तो धीर का काम है। जिसे आत्मा का कल्याण कैसे करना हो, उसकी बातें हैं, बापू! दुनिया में मनवाना हो, गिनवाना हो, कुछ धर्म की संख्या में गिनती में हम हैं, ऐसा गिनवाना हो, उसकी यहाँ बात नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो अज्ञानी की बात है, ज्ञानी की (बात) तो कल आ गयी। अज्ञानी **राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम,....** है? वह तो अशुद्धभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव भी अशुद्धभाव है। आहाहा! वह आत्मा में नहीं, वैसी वृत्ति उठती है, वह तो राग है। आहाहा! उस अशुद्ध परिणाम को **जीवद्रव्य का स्वरूप...** देखा? '**आत्मनः**' (कहा है)। '**आत्मनः**' दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह आत्मा का स्वरूप है, ऐसा मानकर वह मिथ्यादृष्टि अनुभव करता है। आहाहा! लोगों को कठिन लगता है। सम्प्रदाय में तो ऐसी बात पूरी चलती है। व्रत के विकल्प से भगवान भिन्न है, उसकी दृष्टि करे तो सम्यग्दर्शन और आनन्द आवे, वह सब बात तो पड़ी रही। यह भक्ति करो, पूजा करो, अन्तराय कर्म... क्या कहलाता है? कर्मदहन की पूजा करो, सिद्ध भक्ति करो... यह सब बातें राग—शुभराग है। अशुभराग से बचने के लिये ज्ञानी को भी वह आता है परन्तु वह स्वयं है दुःख और आस्रव। आहाहा!

मुमुक्षु : वह सबको सरल पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सरल किया है या उल्टा मारा है? आहाहा! उल्टा किया है। भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति से तो भरपूर है। अकषाय

स्वरूप दूसरे प्रकार से कहें तो वह जिनस्वरूप ही है। यह तो बहुत बार कहा जाता है। आत्मा का मूल स्वरूप तो अन्दर अनादि जिनस्वरूप ही है।

'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो, मतवाला समझे न।' अभिप्राय—मत का प्याला चढ़ गया (कि) हम ऐसे हैं और हम ऐसे हैं और हम दया पालनेवाले हैं और हम भक्ति करनेवाले हैं, पूजा करनेवाले हैं—यह राग के मतवाले हैं। वह जिनस्वरूप अन्दर है, उसे जानते नहीं। आहाहा!

'घट घट अन्तर जिन बसे...' भगवान जिनस्वरूप ही, परमात्मस्वरूप ही यह आत्मा है। राग आदि इसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह भी इसका स्वरूप नहीं। आहाहा! उस जिनस्वरूप को अन्तर में दृष्टि में लेकर और उसे अनुभव करे, उसे धर्म होता है और उसे आनन्द का अनुभव होता है। इसके बिना अज्ञानी बाहर के क्रियाकाण्ड में राग में, उस राग को जीव का स्वरूप है, (ऐसा मानकर भटक रहा है)। (परन्तु राग) वह स्वरूप नहीं, (यदि स्वरूप) होवे तो निकल कैसे जाये? दया, दान, व्रत के परिणाम—राग यदि स्वरूप हो तो निकल कैसे जाये? सिद्ध भगवान में रहते नहीं। परमात्मा सिद्ध हो—णमो सिद्धाणं, (उनमें) राग रहता (नहीं), राग उसका स्वरूप नहीं। आहाहा! ऐसा बहुत कठिन काम है। मार्ग तो यह है।

यहाँ तो कहते हैं कि जो आत्मा का स्वभाव और स्वरूप नहीं, स्व-रूप—आत्मा का स्व अपना रूप। अपना रूप तो आनन्द और ज्ञान, वह स्व का रूप है। उसमें यह व्यवहार के रत्नत्रय का विकल्प—राग है, वह कहीं आत्मा का स्व-रूप, स्व-भाव नहीं है। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान करे। राग से भगवान आत्मा को भिन्न जानकर भेदज्ञान करे, तब उसे धर्म की पहली दशा सम्यग्दर्शन होती है। आहाहा! समझ में आया? धीरे से समझने की बात है, यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो धर्मकथा—आत्मा की बात है, बापू!

आहाहा! अनन्त काल... अनन्त काल बीत गया, भाई! चौरासी लाख योनि में... चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त-अनन्त अवतार करके कचूमर निकल गया है भाई! तुझे खबर नहीं। नरक में, निगोद में... आहाहा! वह इस राग को अपना मानकर मिथ्यात्व से सब भव किये। आहाहा! समझ में आया? साधु हो तो भी वह पंच

महाव्रत के परिणाम राग है, वह अपना स्वरूप है ऐसा मानकर अनुभव करे, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अटपटी बात है, बापू!

भगवान! इसमें आयेगा... है इसमें? १७८ में आयेगा, भगवान। १७८ (कलश में) आयेगा, यह १७७ चलता है। वहाँ भगवान कहेंगे। आत्मा भगवान अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। टीका में इतना अर्थ किया है। वह तो ज्ञानस्वरूप है। उसमें पुण्य, दया, दान, व्रत के विकल्प (होते) हैं, वह उसका स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! उसका स्वरूप हो तो उनका नाश नहीं हो सकता। उनका नाश हो सकता है और अकेला स्वरूप रह सकता है, इसलिए वह इसका स्वरूप नहीं। न्याय से—लॉजिक से कुछ समझेगा या नहीं? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग!

एक तो संसार के काम के कारण निवृत्त नहीं होता। उनमें फँस गया। उसमें बीस घण्टे, बाईस घण्टे निकाले। एक-दो घण्टे सुनने (जाये) तो उसे ऐसा (सुनने को) मिले कि यह व्रत करो और तप करो, पूजा करो और भक्ति करो, मन्दिर बनाओ तुम्हारा कल्याण होगा। ऐ... सब भटक मरने की क्रिया (करने का कहते हैं)। यह शुभराग है। उससे लाभ मानकर करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐसा मानकर ही करता है कि यह हम करते हैं, वह धर्म करते हैं। पाँच लाख के, दस लाख के मन्दिर बनाये।

गत वर्ष कहा नहीं था? बैंगलोर! बारह लाख का मन्दिर बनाया है। दिगम्बर मन्दिर बनाया श्वेताम्बर ने, परन्तु दिगम्बर के पक्ष में आ गये हैं। भभूतमल मारवाड़ी (है, उसके पास) दो करोड़ रुपये हैं और एक है स्थानकवासी जुगराजजी, मुम्बई में महावीर मार्केट है, (वहाँ दुकान है)। वह भी करोड़पति है, उसने चार लाख दिये और उसने (मारवाड़ी ने) आठ लाख (दिये)। बैंगलोर में बारह लाख का मन्दिर बनाया है। दिगम्बर मन्दिर। आहाहा! परन्तु उसे कहा, बापू! तुमने यह क्रिया की, वह तो (धर्म) है ही नहीं, मन्दिर पर परमाणु की सब क्रिया है, परन्तु उसमें तुम्हारा भाव हो, राग की मन्दता हो तो पुण्य है। वह धर्म है और धर्म का कारण है, ऐसा नहीं। भभूतमल अभी आये थे न? उन लोगों की कन्नड़ भाषा (इसलिए गुजराती) बराबर समझे नहीं। व्याख्यान में आ सके नहीं। हिन्दी यहाँ मुश्किल से चले (थोड़ा), परन्तु उसका भाव बनाये रखना जरा... बहुत थोड़े लोग आवे, कन्नड़ भाषा (उनकी इसलिए) समझे नहीं। फिर

थोड़े से आते थे। दो पण्डित थे वे सुनकर थोड़ा उनकी कन्नड़ (भाषा में) कहे, तब मुश्किल से समझे। गुजराती तो समझे नहीं परन्तु हिन्दी भी समझे नहीं। लोग प्रेमी बहुत, भाषा समझे नहीं, इसलिए क्या करे बेचारे? यहाँ तो एक व्यक्ति ने आठ लाख डाले। श्वेताम्बर भभूतमल मारवाड़ी है। अपना दिगम्बर मन्दिर बनाया। कहा, बापू! देखो भाई! तुम ऐसा मानो कि हमने बनाया इसलिए हमारा धर्म का भाव है, ऐसा नहीं है। यह पाप से बचने के लिये ऐसा भाव हो, परन्तु यह धर्म है, ऐसा नहीं। आहाहा! यहाँ तो स्पष्ट बात है।

यह तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग में राग से धर्म हो तो वह वीतरागमार्ग ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? राग आवे सही, धर्मी को भी आत्मज्ञान और आत्म अनुभव होने पर भी पूर्ण वीतरागदशा न हो, इसलिए अशुभ से बचने के लिये भक्ति, पूजा (का) राग होता है, परन्तु उसे हेय मानता है। वह हेय (अर्थात् कि) छोड़नेयोग्य है। परन्तु वर्तमान मेरा पुरुषार्थ निर्बल है, इसलिए होता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे तो आठ लाख (खर्च किये), एक व्यक्ति ने आठ लाख (खर्च किये)! लोगों को ऐसा हो जाये न कि, ओहोहो! और योग ऐसा बना कि आठ लाख खर्च किये और उसके पास दो करोड़ रुपये की स्टील थी और मेरे पास रह गये, आठ दिन हमारे जाने से पहले शिक्षण शिविर (किया था) और हमारे जाने के बाद सोलह दिन हमारे में रुकना पड़ा। तो वहाँ भाव बढ़ गया तो चालीस लाख बढ़ गये। आठ लाख खर्च किये और चालीस लाख बढ़े। इसलिए लोग कहते हैं कि देखो! आहाहा! फिर लोग ऐसी बातें करे कि महाराज की लकड़ी में कुछ चमत्कार है! धूल भी नहीं। यह तो लकड़ी हाथ में रहे। पसीना हो और शास्त्र को (हाथ) छुए नहीं इसलिए (रखते हैं)। वह तो पुण्य के कारण से ऐसा सब योग हो जाता है। वह पुण्य भी हेय है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो पूर्व का पुण्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पूर्व का पुण्य है, परन्तु वर्तमान भी (यह) सुनते हुए, दो-पाँच-दस (दिन), महीने-दो महीने सुने तो भी उस शुभभाव से उसे पुण्य बँध जाये। और पुण्य भी उदय आ जाये, इस भव में भी उदय आ जाये। इस कारण धर्म से यह हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, है ? रागभाव जो दया, दान आदि जिसका विस्तार है। **राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, जीवद्रव्य के स्वरूप हैं,.... 'आत्मनः'** वह मेरा स्वरूप है, वह मेरा कर्तव्य है, ऐसा अज्ञानी **अनुभवता है; कर्म के उदय की उपाधि है; ऐसा नहीं अनुभवता है;...** देखा ? आहाहा! आवे सही, परन्तु वह उपाधि है। कर्म के निमित्त के आश्रय से हुई उपाधि है। चाहे तो वह दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव भी कर्म के निमित्त की उपाधि है। वह आत्मा की समाधि (नहीं), आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

लोगस्स में नहीं आता ? 'समाहिवर मुत्तं दिंतु' लोगस्स... लोगस्स! 'समाविर मुत्तं दिंतु' प्रभु! मुझे तो समाधि—रागरहित शान्ति चाहिए है। ऐसा माँगता है। उसके अर्थ की भी खबर नहीं होती। हाँकते जाता है, लोगस्सा उज्जोयगरे... सिद्धासिद्धि मम दिसंतु... जाओ! परन्तु क्या इसका अर्थ है ? आहाहा!

यहाँ आचार्य महाराज ऐसा कहते हैं कि वह जीव का स्वरूप नहीं, उसे अपना मानकर अनुभव करता है, परन्तु **उपाधि है-ऐसा नहीं अनुभवता है;...** आहाहा! धर्मी को भी वह राग आता है, परन्तु उपाधि है, ऐसा अनुभव करता है। शास्त्र श्रवण, शास्त्र सुनना, कहना, वह सब विकल्प शुभराग है। आवे सही उपाधि, परन्तु उसे मेरे रूप से मानना, यह पूरी दृष्टि विपरीत है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा का रटन तो करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा का रटन क्या करना ? आत्मा... आत्मा... आत्मा... आत्मा... आत्मा करे, वह तो विकल्प है, राग है। आत्मा का रटन तो ज्ञानानन्द स्वरूप एकाग्रता (करना), वह आत्मा का रटन है। भगवान ज्ञान की मूर्ति! प्रकाश—चैतन्य नूर! अन्दर चैतन्य के तेज के पूर भरे हैं। आहाहा! इसमें एकाग्र होना, वह आत्मा का रटन है। ऐसी बातें हैं, भाई! बहुत अन्तर है, भाई! सब खबर है न! कहाँ क्या चलता है ? यह बहुत वर्ष का सब जानते हैं। आहाहा!

स्थानकवासी साधु में मैं था। वैराग्य की बातें करे। हमारे पालेज में दुकान थी न! मैं तो साधु आवे, फिर निवृत्ति लेकर (जाता था), दुकान में भागीदार बैठे। फिर सब

रात्रि में सुनने जाये। पूरे दिन तो व्यापार-धन्धे में रुके। फिर रात्रि में ऐसी बातें करे। क्या? 'कूतराना भव मां...' यह ऐसा गाये, और फिर हम सुनते थे। 'कुत्ते के भव में मैंने बीनकर खाये टुकड़े, मैंने भूख के भोगे भड़के...' परन्तु ऐसी बातें!

मुमुक्षु : वह भड़का मिटे, तब नींद आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मिटे उसकी खबर भी इसे नहीं। ऐसी बातें करे। दुकान साढ़े सात बजे बन्द करके जायें तब (यह सुने)। मानो ओहोहो! आज तो धर्म सुना! वे भी ऐसा कहे कि, धर्म किया। धूल भी धर्म नहीं। यह बात तो कहीं रह गयी, परन्तु भगवान साक्षात् तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजते हैं। भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ यह जीव अनन्त बार उत्पन्न हुआ। वहाँ तीर्थंकर का विरह कभी नहीं होता। बीस तीर्थंकर मोक्ष जाये तो दूसरे बीस हों। अनादि से महाविदेह में तीर्थंकर तो चला ही करते हैं। वहाँ अनन्त बार उत्पन्न हुआ और भगवान के समवसरण में गया। उनकी वाणी सुनी, उनकी पूजायें कीं, परन्तु वह तो शुभभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे जो नहीं जाते, उनकी अपेक्षा तो अच्छा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या? धर्म के लिये अच्छा नहीं। पाप की अपेक्षा पुण्य के उतना ठीक। परन्तु वह धर्म है, ऐसा नहीं है। इससे उसे जन्म-मरण मिटेंगे, ऐसा नहीं है। इससे तो जन्म-मरण होंगे। राग है, वह संसार है। आहाहा! कठिन बातें, बापू! सिद्ध में भी राग है? तो यहाँ राग है, वह संसार है। रागरहित (होना), वह सिद्ध है। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहते हैं कि जो राग को अपना करके अनुभव करता है परन्तु उपाधि है, ऐसा अनुभव नहीं करता। **'अतः कारकः भवति' इस कारण से रागादि अशुद्धपरिणामों का कर्ता होता है।** देखा? यह राग के परिणाम का कर्तव्य है, वह मेरा है, ऐसा वह मानता है। ऐसे कर्ता, हों! वह अशुद्ध परिणाम मेरा कर्तव्य है और वह करनेयोग्य है, ऐसा करके कर्ता होता है। ज्ञानी को राग आता है, परन्तु उसका परिणमन है, इस अपेक्षा से कर्ता है, परन्तु करनेयोग्य है, यह बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! परन्तु बहुत अन्तर भाई! बात-बात में बहुत अन्तर है। कर्ता कहा और एक ओर कर्ता

नहीं कहा और एक ओर अपने कर्ता आयेगा। वह परिणमता है, ज्ञानी है, धर्मी है, राग अपना स्वरूप नहीं, ऐसा मानता है, परन्तु राग आता है, इतना परिणमन है; इसलिए इसे राग की दृष्टि से परिणमन का कर्ता, ऐसा कहने में आता है। परन्तु वह मेरा कर्तव्य है और करनेयोग्य है, ऐसी बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! ऐसा सब अन्तर, इसलिए सब चिल्लाहट मचाये बेचारे। ऐ.. सोनगढ़ तो अकेली निश्चय की बातें करता है, व्यवहार से होता है, यह बातें करते नहीं। व्यवहार होता है परन्तु उससे होता नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! है?

कर्ता... 'भवति' देखो! **रागादि अशुद्धपरिणामों का....** इस अशुद्ध परिणाम के दो प्रकार—शुभ और अशुभ। शुभभाव और अशुभभाव दोनों अशुद्ध तथा शुभ और अशुभराग—अशुद्ध से भिन्न आत्मा के आश्रय से परिणाम हो, वह शुद्ध है। आहाहा! भारी ऐसा काम!

रागादि अशुद्धपरिणामों का कर्ता होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव के.... दृष्टि ही मिथ्यात्व है, जहाँ आत्मा क्या चीज़ है, इसकी खबर ही नहीं और राग क्या चीज़ है? मुझसे भिन्न तत्त्व है, पुण्य का तत्त्व और पाप का तत्त्व (भिन्न है)। नव तत्त्व है न? तो पुण्य-पाप और आस्रवतत्त्व से जीवतत्त्व तो भिन्न है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, (ऐसे) नव तत्त्व हैं। तो उसमें दया, दान, व्रत के परिणाम तो पुण्यतत्त्व हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, भोग के, आमदनी के, कमाने के भाव पाप है। और भगवान तो इन पुण्य-पाप तत्त्व से भिन्न ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहाहा! अरे रे! कहाँ सुनने को मिले? और कहाँ विचार करे? ऐसी की ऐसी जिन्दगी पूरी करके चले जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि अशुद्धपरिणामों का स्वामित्वपना है;.... देखा? यह अपने मानकर अनुभव करता है अर्थात् उनका स्वामी होता है और धर्मी को आत्मा के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान का स्वामी है। राग का स्वामी नहीं। राग आवे सही, परन्तु उसका स्वामी नहीं अर्थात् कर्ता नहीं। आहाहा! पुण्य के परिणाम में धर्मी को स्वामित्व नहीं। क्या कहा यह? धर्मी जीव को पुण्य परिणाम में स्वामित्व नहीं। अज्ञानी जीव को

पुण्य परिणाम में धनीपना—स्वामित्वपना—यह मेरा है, ऐसा होता है। दोनों में यह बड़ा अन्तर है। आहाहा! समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि के पुण्य को तो सातिशय पुण्य कहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् क्या? पुण्यानुबन्धी पुण्य, ऐसा। भविष्य में पुण्य आयेगा तो उसे छोड़कर पवित्रता प्रगट होगी, इस अपेक्षा से बात है। मिथ्यादृष्टि को पुण्य आयेगा, उसके फल आयेंगे तो उसमें रुक जायेगा। हम पैसेवाले हैं और परिवारवाले हैं और बड़े हैं, हमको दस-दस हजार का महीने में वेतन मिलता है, इसलिए हम दूसरे की अपेक्षा माहात्म्यवाले हैं! यह वहाँ पुण्य के फल में मर जायेगा, वहाँ रुक जायेगा। समझ में आया?

यहाँ अभी तीन लड़के नहीं आये थे दलीचन्दभाई के? मोरबी... मोरबी। दलीचन्दभाई वे गुजर गये। एक को आठ हजार का वेतन है, मुम्बई! एक को दस हजार का वेतन है, एक अमेरिका में रहता है उसे पन्द्रह हजार (वेतन) महीने में है। हों! अभी तीनों आये थे, नहीं? परन्तु बापू! यह तेरा वेतन-वेतन वह सब पुण्य के कारण है। उसमें कहीं महत्ता है, (ऐसा नहीं है), उसमें कुछ नहीं है, धूल में भी नहीं।

मुमुक्षु : आप ऐसा कहते हो, और दुनिया में बहुत महिमा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुनिया पागल तो दूसरे की महिमा ही करे न! पागल की दुनिया पागल की महिमा करे। पन्द्रह हजार वेतन! एक दिन के पाँच सौ! परन्तु व्यापारी को तो महीने-महीने की बीस-बीस हजार की आमदनी होती है। एक महीने में बीस क्या, लाख-लाख की आमदनी होती है। यह वह नहीं? एक राजा। अरबस्तान का एक राजा है तो एक घण्टे में डेढ़ करोड़ की आमदनी! एक घण्टे की डेढ़ करोड़ की आमदनी अभी है। अरबस्तान में एक राजा है और दूसरा एक राजा है, जिसे एक दिन की अरब की आमदनी है। अभी है। एक दिन की अरब की आमदनी, हों! पूँजी अलग। परन्तु उससे क्या? धूल! मरकर नीचे नरक में जानेवाले हैं। आहाहा! पूर्व का कोई पापानुबन्धी पुण्य मिथ्यात्वसहित बाँधा हो, उसके कारण यह सब दिखाव दिखता है। परन्तु शाम की सन्ध्या के पश्चात् अन्धेरा! उसी प्रकार यह सब दिखाव के बाद अन्धेरे

में चले जानेवाले हैं। आहाहा! और सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव कदाचित् पहले कोई पाप के परिणाम हो गये और नरक में जाना पड़े, तो भी वह निकलकर मनुष्य होकर तीर्थंकर या केवली होगा। आहाहा!

श्रेणिक राजा भगवान का भगत, समकिती—क्षायिक समकिती श्रेणिक राजा। मुनि की असातना की (थी तो) पहले नरक का आयुष्य बँध गया पश्चात् समकित प्राप्त हुए, आत्मज्ञान प्राप्त हुए। राग, पुण्य मैं नहीं, मेरा स्वरूप भिन्न है, फिर भगवान के समवसरण में तीर्थंकरगोत्र बाँधा। परन्तु पहले नरक का आयुष्य बँध गया, इसलिए अभी नरक में गये। चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में हैं। वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी में पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं। आहाहा! क्योंकि राग को हेय मानकर आत्मा को आनन्द के स्वरूप के वेदन को उपादेय मानकर वहाँ पड़े हैं। आहाहा! नरक में पड़े हैं तो भी अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में हैं। राग आदि आता है, उसका दुःख होता है परन्तु वह हेय है। आहाहा! यहाँ बड़ा सेठिया (हो), करोड़ों का बँगला हो और अरबों रुपये की पूँजी हो तो भी वह सब पुण्य के फल में नया पाप बाँधे। हम पैसेवाले, हम ऐसा करते हैं, हम बहुतों को निभाते हैं, हजारों लोग हमारे कारखाना में निभते हैं। धूल भी नहीं, सुन न! तेरी ममता के कारण तू यह सब बातें करता है। समझ में आया? ऐसी बातें जगत से उल्टी है। वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव समवसरण में इन्द्र और गणधरों के समक्ष में प्रभु ऐसा कहते थे। आहाहा! वह बात यह है। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि अशुद्धपरिणामों का स्वामित्वपना है; इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव, कर्ता है। स्वामित्व है इसलिए करता है ऐसा। ज्ञानी को राग का स्वामित्व नहीं इसलिए करनेयोग्य है ऐसा (मानते नहीं इसलिए) अकर्ता है। आहाहा! बहुत अन्तर!

यह १७७ (कलश पूरा) हुआ। १७८ कलश।

कलश - १७८

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१६-१७८।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'एषः आत्मा आत्मानं समुपैति येन आत्मनि स्फूर्जित' [एषः आत्मा] प्रत्यक्ष है जो जीवद्रव्य, वह [आत्मानं समुपैति] अनादि काल से स्वरूप से भ्रष्ट हुआ था तथापि इस अनुक्रम से अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ, [येन] जिस स्वरूप की प्राप्ति के कारण, [आत्मनि स्फूर्जित] परद्रवय से सम्बन्ध छूट गया; आपसे सम्बन्ध रहा। कैसा है? 'उन्मूलितबन्धः' [उन्मूलित] मूलसत्ता से दूर किया है [बन्धः] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलद्रव्य का पिण्ड जिसने—ऐसा है। और कैसा है? 'भगवान्' ज्ञानस्वरूप है। कैसा करके अनुभवता है? 'निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं' [निर्भर] अनन्त शक्ति के पुंजरूप से [वहत्] निरन्तर परिणमता है, ऐसा जो [पूर्ण] स्वरस से भरा हुआ [एकसंवित्] विशुद्धज्ञान, उससे [युतं] मिला हुआ है, ऐसे शुद्धस्वरूप को अनुभवता है। और कैसा है आत्मा? 'इमां बहुभावसन्ततिं समं उद्धर्तुकामः' [इमां] कहा है स्वरूप जिसका, ऐसा है [बहुभाव] राग-द्वेष -मोह आदि अनेक प्रकार के अशुद्धपरिणाम, उनकी [सन्ततिं] परम्परा, उसको [समं] एक ही काल में [उद्धर्तुकामः] उखाड़ कर दूर करने का है अभिप्राय जिसका, ऐसा है। कैसी है भावसन्तति? 'तन्मूलां' परद्रव्य का स्वामित्वपना है मूलकारण जिसका, ऐसी है। क्या करके? 'किल बलात् तत् समग्रं परद्रव्यं इति आलोच्य विवेच्य' [किल] निश्चय से [बलात्] ज्ञान के बलकर, [तत्] द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरूप [समग्रं परद्रव्यं] ऐसी है जितनी पुद्गलद्रव्य की विचित्र परिणति, उसको [इति आलोच्य] पूर्वोक्त प्रकार से विचारकर, [विवेच्य] शुद्धज्ञानस्वरूप से भिन्न किया है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्धस्वरूप उपादेय है; अन्य समस्त परद्रव्य, हेय हैं।।१६-१७८।।

कलश - १७८ पर प्रवचन

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१६-१७८।।

आहाहा! **यह आत्मा अर्थात् प्रत्यक्ष है जो जीवद्रव्य,...** आहाहा! वस्तु है न यह? वस्तु है तो अस्ति है न? आहाहा! समझ में आया? बहिन में आया है न यह? जागता जीव ध्रुव है न! कल (एक) लड़की यहाँ बोली थी। नरेन्द्रभाई की। शाम को सेब फल लेकर आते हैं न! नरेन्द्र है न? प्रवीणभाई और चार भाई हैं न? .... लड़की आयी थी। लड़की बोलती थी, जागता जीव ध्रुव है, वह कहाँ जाये? अवश्य प्राप्त हो। ऐसा कल यहाँ अन्दर कमरे में आकर बोली थी। छह-सात वर्ष की होगी? कितने वर्ष की है? पाँच वर्ष की, लो ठीक! पाँच वर्ष की ऐसा बोली थी। यहाँ होगी या नहीं? आयी होगी। जीव जागता ध्रुव है वह कहाँ जाये? पाँच वर्ष की (लड़की) बोलती थी! उसकी माँ ने सिखाया होगा। आहाहा! भगवान आत्मा! यह तो गुजराती सादी भाषा है। शास्त्र भाषा में इसका अर्थ यह कि जीव ज्ञायकभाव ऊभो अर्थात् ध्रुव है न! गुजराती सादी भाषा में ऐसा कहा कि यह जागता उभो है न वह कहाँ जाये? अवश्य प्राप्त होगा। ऐसा शास्त्र की भाषा में इसका अर्थ यह कि जीव ज्ञायकरूप से ध्रुव है न, वह कहाँ जाये? जो ध्रुव है, वह कहाँ जाये? और ध्रुव है, तो दृष्टि करे तो अवश्य प्राप्त हो। समझ में आया? वह लड़की कल कमरे में आयी तब बोली थी। ठीक है, कहा। यह बोलती तो है न! आहाहा! यह शब्द तो ऐसा है कि पूरे वचनामृत में अन्दर अग्रेसर है! आहाहा! और भाषा देखो तो सादी। जागता जीव ध्रुव है न! अर्थात्? आत्मा ज्ञायकरूप से ध्रुव है न! वह खड़ा है इसका अर्थ ध्रुव। जागता है इसका अर्थ ज्ञायक। देखो!

(यहाँ कहते हैं), **यह आत्मा अर्थात् प्रत्यक्ष है...** है? पहली लाईन। **यह आत्मा अर्थात् प्रत्यक्ष है, जो जीवद्रव्य...** आहाहा! यहाँ अभी अपने इसका अर्थ इतना करना है। आ... आ कहने पर यह! इसकी अस्ति बताते हैं। यह! लोग कहते हैं न? यह

आया। यह अर्थात् सामने की अस्ति बताते हैं न? इसी प्रकार यह (कहने पर) अन्दर आत्मा की अस्ति बताते हैं, यह! आत्मा—वस्तु प्रत्यक्ष है न! आहाहा! जीवद्रव्य है, (वह) ध्रुव है, वह तो अन्दर प्रत्यक्ष पड़ा है। आहाहा! वस्तु है न? जैसे यह परमाणु आदि यह जड़रूप से है न? उसी प्रकार भगवान यह आनन्दरूप से, ज्ञानरूप से यह प्रत्यक्ष है न! आहाहा! 'यह' का अर्थ प्रत्यक्ष किया है। 'यह' का अर्थ किया है। यह आत्मा... ऐसा। यह तो मति-श्रुतज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है। सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा भगवान यह... ज्ञायकज्योति चैतन्य के नूर का पूर, चैतन्य के तेज का पूर यह... वस्तु आत्मा। आहाहा!

यह... अर्थात् चैतन्य के तेज का पूर जीवद्रव्य प्रत्यक्ष है न! आहाहा! अर्थात् कि वस्तु व्यक्त और प्रगट है न! वस्तुरूप से तो प्रगट है न? पर्याय में इसकी इसे खबर नहीं, परन्तु वस्तुरूप से ध्रुव है, वह तो है। आहाहा! अनादि-अनन्त—जिसकी आदि नहीं, जिसका अन्त नहीं, जिसकी उत्पत्ति नहीं, जिसका नाश नहीं, ऐसी वह चीज़ अनादि ध्रुव है न अन्दर! आहाहा! ऐसे शब्द हैं, बापू! आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अन्दर की आँख खुले तो दिखाई दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये आत्मा प्रगट है ही, ऐसा कहते हैं, वह प्रत्यक्ष है ही, परन्तु देखे उसे न? आहाहा! अन्दर तत्त्व है या नहीं? अस्ति है या नहीं? मौजूद है या नहीं? वस्तुरूप से वस्तु प्रगट है या नहीं? पर्याय—अवस्था में भले उसे ख्याल नहीं। परन्तु वस्तुरूप से अनादि-अनन्त है या नहीं? और है तो ध्रुव है और है तो प्रगट है, है तो प्रत्यक्ष है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : 'है' इसमें से इतना निकला?

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना सब निकला इसमें से। लॉजिक से न्याय समझेगा या नहीं? न्याय शब्द में 'नि' धातु है। 'नि' धातु में न्याय का 'नि' अर्थात् ले जाना। जैसा स्वरूप है उसमें ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय। तुम्हारे वकालत-बकालत के न्याय, वह अलग प्रकार के, हों! वह तो सरकार ने बाँधे हों, तत्प्रमाण तुम्हारे किये जायें। यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर के न्याय कि जिस न्याय के 'नि' धातु से जैसा वह प्रत्यक्ष स्वरूप है... आहाहा! ज्ञान को वहाँ ले जाना, ले जाना। आहाहा! बाकी अपूर्व मार्ग है, प्रभु! साधारण मार्ग हो तो अनन्त काल में क्यों पाया नहीं?

आहाहा! यह (प्राप्त करने में) अपूर्व पुरुषार्थ है। आहाहा!

मुमुक्षु : आगमज्ञान सरल है या आत्मज्ञान सरल है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मज्ञान, वह ज्ञान है। आगमज्ञान का ज्ञान, वह ज्ञान ही यथार्थ नहीं। आगमज्ञान, वह परज्ञान है, परसन्मुख का झुकाव है।

मुमुक्षु : दोनों में सरल कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही वस्तु एक सरल अर्थात् सच्ची यह! अनादि से करता है, वह सरल है परन्तु भटकने की! शास्त्रज्ञान अनन्त बार किये, ग्यारह अंग अनन्त बार पढ़ा। एक आचारांग भगवान ने कहा हुआ, एक आचारांग में अठारह हजार पद और एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक! ऐसा एक अंग, दो अंग, तीन अंग दुगने... दुगने... दुगने... (ऐसे) ग्यारह अंग अनन्त बार किये। वह कुछ वस्तु नहीं है। आहाहा! आत्मज्ञान को ज्ञान कहते हैं। भगवान! जिसमें ज्ञान भरा है प्रभु! अकेला ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... चैतन्य तेज! तेज वस्तु व्यक्त प्रगट है, उसे पहुँच जाना... आहाहा! उस स्वरूप को ज्ञान में जान लेना, उसका नाम आत्मज्ञान है। ये शब्द संक्षिप्त हैं परन्तु बापू! इनमें भाव सब बहुत कठिन हैं! भाषा तो हुई, लो! कि यह आत्मज्ञान है, परन्तु बापू! यह तो पुरुषार्थ माँगता है। आहाहा! उसके परसन्मुख के झुकाववाली दशा को छोड़कर स्वसन्मुख दशा करना, वह कहीं बातें हैं? आहाहा!

जहाँ भगवान पूर्ण स्थित है, उसकी ओर वर्तमान दशा को झुकाना और वर्तमान दशा पर में अनादि से उन्मुख है। पुण्य और पाप और बाहर के भाव में ढल गयी है। आहाहा! उसकी दिशा बदलाना। दशा की दिशा बदलाना। वर्तमान दशा जो पर्याय है, उसकी दिशा परसन्मुख है। अब इसके बाद की दशा को त्रिकाली है, उस दिशा में झुकाना। यह तो सादी भाषा में बात है, बापू!

मुमुक्षु : दिशा पलटाना या दशा पलटाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दिशा पलटे कब? कि दशा की दिशा पलटे तब। दशा कब पलटे? कि दिशा पलटे तब। वर्तमान राग की दशा की दिशा परसन्मुख है और ज्ञानानन्द की पर्याय की दशा की दिशा स्व के ऊपर है।

मुमुक्षु : दिशा पलटकर जो धर्म हुआ, वह एकसाथ हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकसाथ अर्थात्? जो पर्याय परसन्मुख थी, वह नहीं। बाद की पर्याय हुई, उत्पत्ति हुई और गयी, अन्तर में ढली, उन दोनों का एक समय है। एकदम सूक्ष्म बात है! आहाहा!

वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था अर्थात् हालत—प्रगट दशा, त्रिकाली तत्त्व ध्रुव परन्तु वर्तमान दशा जो जानने की अवस्था है न, वर्तमान प्रगट उसका झुकाव ऐसा है। पुण्य, पाप और निमित्त (की ओर का) झुकाव है, वह संसार है। वह पर्याय तो वहाँ है ही, अब वह पर्याय ऐसे झुकायी नहीं जा सकती। बाद की पर्याय उत्पन्न की और उसमें झुकी, वह सब समय एक है। सूक्ष्म बात है। यह तो महाप्रभु की बातें है, बापू! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। चिड़िया लायी चावल का दाना और चिड़ा लाया मूँग का दाना और फिर बनायी खिचड़ी.... छोटी उम्र में ऐसा रटते थे। कुम्हार को दिया और कुम्हार ने घड़ा दिया। घड़ा खजूर का, खजूर दिया... और ऐसा हुआ और वैसा हुआ... सब गप्प ही गप्प। यह तो तीन लोक के नाथ परमात्मा, आहाहा! सर्वज्ञदेव तीर्थंकर परमात्मा जिन्हें सौ इन्द्र पिल्ले की भाँति सुनने बैठते हैं... ऐ... सा! बापू! वह बातें कैसी होगी भाई! अपूर्व बात है, भाई! आहाहा!

भगवानआत्मा! यहाँ तो प्रत्यक्ष है, ऐसा कहा न? आहाहा! है तो प्रगट व्यक्त! ऐसा कहते हैं मूल तो। वस्तु तो वस्तुरूप से है ही। वह कहीं नयी होती है, उसका अभाव था और होती है, ऐसा है? वह तो भाव... भाव... भाव... भाव... भाव... ज्ञानानन्द... ज्ञानानन्द... ज्ञानानन्द... ज्ञानानन्द... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव का प्रवाह अनादि है। नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य... नित्य...व्यक्त प्रगट नित्यपना प्रगट अनादि-अनन्त है। वे बातें सुनते हों... इच्छामि पडिक्कमणा... तस्स मिच्छामि दुक्कडम्... लो! तस्सूतरी करणेन... अप्पाणं, वोसरे। उसमें क्या आया? सुन न! उसके अर्थ की भी खबर नहीं होती और भाव की भी खबर नहीं होती। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, मुनि कहते हैं, वह परमात्मा ही कहते हैं। परमात्मा का माल ही मुनि आड़तिया होकर बेचते हैं—देते हैं। माल यह है, बापू! आहाहा! यह आत्मा, ऐसा है न? '**एष**' शब्द पड़ा है न? '**एष**'! '**एष**' अर्थात् यह।

'**एष**' अर्थात् यह। है न? चौथी लाईन है। '**एष**' भगवान आत्मा। है न? '**एष**' शब्द है। यह न? आहाहा!

'**एषः आत्मा आत्मानं समुपैति येन आत्मनि स्फूर्जति**' आहाहा! यह आत्मा प्रत्यक्ष है। **वह अनादि काल से स्वरूप से भ्रष्ट हुआ था...** अब यहाँ तो गरजता है, प्रगटता है, ऐसा कहना है न? भगवान व्यक्तरूप से चैतन्य तो पड़ा ही है। आहाहा! वह अनादि काल से स्वरूप से भ्रष्ट था और राग और पुण्य-पाप के भाव जो स्वरूप में नहीं, उन्हें (अपने) मानता था। वह अनादि से चैतन्य वस्तु प्रगट—व्यक्त होने पर भी, उससे अज्ञानी भ्रष्ट था। आहाहा!

तथापि इस अनुक्रम से अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ,... है? आहाहा! यह अनुक्रम से अर्थात्? राग से भिन्न करके अपने अनुक्रम में स्वभाव है, वह ज्ञात हुआ। आहाहा! शुभ-अशुभराग से भिन्न करके—यह अनुक्रम है। आहाहा! वस्तु है, उसकी वर्तमान दशा में पुण्य और पाप के भाव हैं, उनसे अनुक्रम अर्थात् भिन्न करते-करते, अन्दर भिन्न करते हुए भेदज्ञान से वह आत्मा जगा। आहाहा! अभी तो अर्थ करेंगे।

स्वरूप को प्राप्त हुआ, जिस स्वरूप की प्राप्ति के कारण... '**आत्मनि स्फूर्जति**' आहाहा! **परद्रव्य से सम्बन्ध छूट गया, आपसे सम्बन्ध रहा।** यह भाषा की है। उसमें—संस्कृत टीका में तो ऐसा अर्थ किया (कि) आत्मा गरजा! अन्दर गर्जना हुई कि मैं आनन्द हूँ। जो पुण्य और पाप के भाव विकृत और दुःखरूप थे, उनसे भिन्न करते-करते आत्मा '**स्फूर्जति**' आत्मा '**स्फूर्जति**' स्फूर्ति में आया, प्रगट हुआ, गरजा, जागृत हुआ। ऐसी बातें हैं यह!

जो राग का गर्व था, पुण्य और पाप में गर्व था कि मैं चीज हूँ, और मैंने—आस्रव ने तो बड़े मानधाताओं को गिराया है। राग मेरा, ऐसी मान्यतावाले को मैंने स्वरूप से भ्रष्ट किया है (ऐसा) आस्रव कहता है। इस आस्रव से भिन्न पड़ा हुआ प्रभु, राग से भिन्न पड़ने पर... आहाहा!

मुमुक्षु : कितने समय में राग से भिन्न पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक समय। आहाहा! हो गया समय?

आ गया... विशेष आयेगा... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ४, गुरुवार, दिनांक-२९-१२-१९७७, कलश-१७८, प्रवचन-१८८

कलशटीका, १७८ कलश है न?

'**एषः आत्मा आत्मानं समुपैति येन आत्मनि स्फूर्जति**' एक लाईन का अर्थ है। '**एष**' (अर्थात्) **यह आत्मा... यह आत्मा अर्थात् प्रत्यक्ष है जो जीवद्रव्य...** वस्तुरूप से प्रगट है न अन्दर? वस्तुरूप से प्रगट है। भेदज्ञान ज्योति से प्रगट करने में वह वस्तु अन्दर प्रगट ही है, व्यक्त है। पर्याय की अपेक्षा से भले उसे अव्यक्त कहें, परन्तु वस्तुरूप से तो प्रगट ही है। वस्तु है न? अनन्त-अनन्त गुण और शक्ति का समूह, वह वस्तु है।

यह आत्मा अर्थात् प्रत्यक्ष है जो जीवद्रव्य, वह अनादि काल से स्वरूप से भ्रष्ट हुआ था... अनादि काल से अपने स्वरूप से भ्रष्ट था। अब प्राप्त हुआ, समझा। किस प्रकार? **तथापि इस अनुक्रम से...** अर्थात् कि राग के और स्वभाव के भेदज्ञान से। राग है, पुण्य-पाप आदि का राग है, उस राग की दिशा—लक्ष्य पर के ऊपर है। सूक्ष्म बातें, बापू! बहुत सूक्ष्म! यह दया, दान आदि राग जो होता है, उसकी दिशा पर के ऊपर है और उसे अन्तर में झुकाकर अथवा राग से भिन्न करके। राग है, (उसकी) दिशा परसन्मुख जाती है, ऐसी जो रागदशा, उसे वर्तमान पर्याय में राग से भिन्न करके स्वदिशा की ओर उस दशा को करना। समझ में आया?

उस **स्वरूप को प्राप्त हुआ,... अनुक्रम से अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ,...** आहाहा! जो अनादि से राग—दया, दान, व्रत, काम, क्रोध आदि के राग (जो होता है उस) राग के साथ जो सम्बन्ध था, वह संसार था, वह मिथ्यात्व था। आहाहा! उस राग से सम्बन्ध तोड़ा, अन्तर्मुख भेदज्ञान करके राग से सम्बन्ध तोड़ा और स्वभाव से सम्बन्ध जोड़ा। ऐसी बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वीतरागमार्ग—धर्म बहुत सूक्ष्म है। आहाहा! इसके न्याय सूक्ष्म हैं।

भगवान आत्मा वस्तु है, वह प्रगट चीज़ है, परन्तु अनादि से स्वरूप से भ्रष्ट होकर, उस स्वरूप में नहीं ऐसे पुण्य-पाप के भाव, विकल्प—राग के साथ सम्बन्ध जोड़ा, वह स्वरूप से भ्रष्ट हुआ। आहाहा! जिसने इस राग के सम्बन्ध को तोड़ा... आहाहा! और

स्वभाव के सम्बन्ध में जुड़ान किया। आहाहा! यहाँ से (-राग से) छूटा और यहाँ (-आत्मा में) एकाग्र हुआ। ऐसा स्वरूप है, भाई! आहाहा!

स्वरूप की प्राप्ति के कारण... आहाहा! '**आत्मनि स्फूर्जति**' आहाहा! इसमें इतनी व्याख्या की है कि परद्रव्य से छूटा और स्वद्रव्य का सम्बन्ध हुआ। अर्थात्? जो कुछ राग था, पुण्य-पाप का राग है, वह वास्तव में तो परद्रव्य है, परवस्तु है, वह जीव की चीज़ नहीं। आहाहा! उस राग के सम्बन्ध को तोड़ा और स्वसम्बन्ध में जुड़ा, वह आत्मा को प्राप्त हुआ। अब ऐसा उपदेश! समझ में आया? भाषा तो बहुत संक्षिप्त है परन्तु भाव तो है, वह है। आहाहा!

अनन्त-अनन्त काल (गया परन्तु) वस्तुस्वरूप अनन्तगुण सम्पन्न प्रगट व्यक्त मौजूद चीज़ है, तो भी उसके स्वरूप से भ्रष्ट होकर अनादि (से) इस विकार के परिणाम को एकत्वबुद्धि से सम्बन्ध में जोड़ा। आहाहा! वह जीव भेदज्ञान द्वारा (स्वरूप को प्राप्त हुआ)। वह राग की कोई क्रिया करे और उससे आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, के भाव से आत्मा प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। उसके भाव से भिन्न करने पर अन्तरस्वरूप जो पूर्णानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व है, जो सर्वज्ञ भगवान ने ध्रुव स्वरूप देखा, वैसे स्वरूप में जिसने राग का सम्बन्ध तोड़कर स्वरूप का सम्बन्ध किया, उसे आत्मा की प्राप्ति होती है। है?

'**आत्मनि स्फूर्जति**' टीका में तो ऐसा किया है। है न? '**आत्मनि स्फूर्जति**' (शब्द) है न? यह तो एक-एक शब्दों के भाव सूक्ष्म है, भाई! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं। आहाहा! यह तो वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ आत्मा, वह कहाँ भूला और कैसे भूल टाले, इसकी बात है। आहाहा! वह पर के राग के सम्बन्ध को छोड़कर, राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप का सम्बन्ध करे, तब '**आत्मनि स्फूर्जति**' (अर्थात्) आत्मा प्रगट होता है। पर्याय में उसे प्रगट दिखता है। जो वर्तमान पर्याय में प्रगट राग और द्वेष दिखते (थे), उनसे भिन्न पड़कर आत्मा अन्दर '**स्फूर्जति**' शुद्ध चैतन्यघन जिसकी दृष्टि में आता है, गरजता है, ऐसा शब्द है। संस्कृत में स्फूर्ति का अर्थ गरजता है— गरजा! जो राग और पुण्य-पाप की गर्जना में रुका था... आहाहा! वह वहाँ से छूटकर जहाँ आत्मा आनन्दकन्द प्रभु है, (उसे प्राप्त हुआ)। वह (आत्मा भी) सर्वज्ञ परमेश्वर

तीर्थंकर ने कहा वह (आत्मा को पाता है)। दूसरे आत्मा... आत्मा करते (हैं परन्तु) उन दूसरों ने (आत्मा) देखा नहीं, समझ में आया? और कल्पना से बातें की हैं। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव... आहाहा!

यह आया था न? कहा था स्तुति में। 'प्रभु तुम जाणग रीति, सौ जग देखता हो लाल...' हे परमात्मा तीर्थंकरदेव सर्वज्ञप्रभु! 'तुम जागण रीति सर्व जग देखता हो लाल, शुद्ध सत्ता से—निज सत्ताये शुद्ध अमने पेखता हो लाल...' प्रभु! हमारा आत्मा निज सत्ता से शुद्ध पवित्र आनन्दकन्द है, उसे आपने आत्मा देखा और कहा है। आहाहा! अरे..! ऐसी बातें हैं। राग और पुण्य, दया, दान के भाव, वे कहीं आत्मतत्त्व नहीं है। वे तो पुण्यतत्त्व और विकारीतत्त्व है। तो कहते हैं, हे नाथ! आप तो तीन काल-तीन लोक को आप देखते हो। उसमें हमारी निजसत्ता—आत्मा की निजसत्ता से शुद्ध आत्मा देखते हो। शुद्ध पवित्र है, उसे आप आत्मा देखते हो और आत्मा कहते हो। आहाहा! यह मूल बात पड़ी रही और ऊपर से सब पत्ते तोड़ने लगे, परन्तु मूल तो सुरक्षित (रह गया)। उसी प्रकार राग की मन्दता की क्रिया करने लगे, परन्तु मूल राग की एकता की बुद्धि का—संसार का मूल सुरक्षित (रखा)। भटकने का (सुरक्षित रखा)। समझ में आया?

यह राग के विकल्प की शुभ या अशुभ, ऐसी जो अशुद्ध वृत्ति, उसे क्रम-क्रम से भिन्न करके आत्मा के अन्तर स्वभावसन्मुख ढलकर राग की ओर से हटकर और आत्मा अपने स्वभाव के सम्बन्ध को पाता है, और राग के सम्बन्ध को तोड़ता है, तब आत्मा गरजता है। गरजा अर्थात् मैं आनन्द हूँ, ज्ञान हूँ—ऐसी प्रसिद्धि हुई। समझ में आया?

राग के सम्बन्ध में भगवान आत्मा स्वरूप से भ्रष्ट था, ढँक गया था। आहाहा! वह राग के विकल्प के सम्बन्ध को तोड़कर स्वरूप चैतन्यमूर्ति व्यक्त प्रगट परम वसतु है, उसे वर्तमान पर्याय में जोड़कर, पर्याय को उसमें जोड़कर... आहाहा! और आत्मा को पाया अर्थात् आत्मा गरजा—आत्मा की स्फूर्ति हुई। स्फूर्ति हुई! लोग नहीं कहते कि अभी हमको शरीर में स्फूर्ति है। ऐसे बैचेन हो, उसमें से स्फूर्ति है। उसी प्रकार इस राग की एकता में बेचैन था। आहाहा! मंगलदासभाई! ऐसी बातें है यह! वीतरागमार्ग बहुत (सूक्ष्म)। अभी तो सब फेरफार कर दिया, भाई! तीन लोक के नाथ का मार्ग तो यह है। आहाहा!

चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, दया, दान, व्रत, हो या काम, क्रोध (हो), उस राग के साथ का सम्बन्ध वह चैतन्यस्वभाव के स्वभाव से च्युत और भ्रष्ट (हुआ है)। आहाहा! परन्तु जिसने राग के सम्बन्ध से भ्रष्ट होकर... आहाहा! और चैतन्य ज्ञायकमूर्ति भगवान पूर्णानन्द प्रभु के साथ पर्याय को जोड़ा अर्थात् आत्मा ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ—ऐसे प्रगट हुआ। मैं राग हूँ और पुण्य हूँ, यह नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन में... सम्यग्दर्शन अभी, हों! चौथा गुणस्थान! आहाहा! वहाँ उस राग के विकल्प से भिन्न पड़कर, मेरी चीज़ तो यह शुद्ध चैतन्य है, ऐसा जहाँ स्वभाव के साथ सम्बन्ध टूटा था, उसे जोड़ा, तब भगवान आत्मा गरजा। अर्थात् स्फूर्ति हुई। राग में बेचैन था... आहाहा! ऐसी बातें, लो! हरिभाई! इसलिए फिर लोग कहे न, सोनगढ़ का निश्चय है... निश्चय है... परन्तु सत्य ही यह है। निश्चय का अर्थ सत्य होता है। बापू! तुझे मिला न हो, इसलिए कहीं वस्तु दूसरी बदल जायेगी? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा '**स्फूर्जति**' आहाहा! दृष्टि में जो कुछ पुण्य और पाप के भाव दिखते थे और वह मैं हूँ—ऐसा जो माना था, वह स्वरूप से भ्रष्ट था। आहाहा! और उस राग के सम्बन्ध को (तोड़ा), भाषा ऐसी है, परन्तु उसका अर्थ यह कि पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यबुद्धि की, ऐसा कहना है। भाषा-कथन तो अनेक प्रकार से आती है। पर्याय अर्थात् वर्तमान राग की बुद्धि, रुचि, पर्यायबुद्धि मिथ्यात्वबुद्धि है। आहाहा! उस बुद्धि को छोड़कर वस्तु जो द्रव्य त्रिकाली आनन्दकन्द वस्तु... वस्तु है, उसकी दृष्टि की, इसलिए राग का सम्बन्ध छूटा और स्वभाव का सम्बन्ध जुड़ गया। ऐसा है।

ऐसा कहीं नाग्नेश में सुनने को भी मिले, ऐसा नहीं है। तुम्हारे त्रिभुवनभाई, ताराचन्दभाई पुरानी रूढ़ि का सुनकर चले गये बेचारे। यह तत्त्व था नहीं। आहाहा! क्या हो? इसलिए चिल्लाहट मचाते हैं न! लोग कहते हैं कि ऐ... नया निकाला! नया नहीं, प्रभु! अनादि का यह है। तुझे जानने में नहीं आया था, इसलिए कुछ नया है? आहाहा!

वस्तु है या नहीं आत्मा? तो तत्त्व है वह पदार्थ है तो वह त्रिकाली रहनेवाला है या क्षणिक रहनेवाला है? तो त्रिकाली रहनेवाला है, उसे दृष्टि में न लेकर, पुण्य और पाप क्षणिक रहनेवाले हैं, उन्हें दृष्टि में लेने से स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है। आहाहा! क्षणिक रहते पुण्य और पाप के भाव तो क्षणिक रहते हैं। उनके ऊपर दृष्टि देने से

क्षणिक को अपना माना (तो) पर्यायबुद्धि हुई, अवस्थाबुद्धि हुई। उस बुद्धि को छोड़कर, राग की एकताबुद्धि तोड़ी, तब द्रव्य स्वभाव की दृष्टि हुई। वस्तु... वस्तु... वस्तु... उसकी दृष्टि हुई, उसे यहाँ जीव के साथ सम्बन्ध जोड़ा, ऐसा कहा जाता है। और राग की पर्यायबुद्धि—एकत्व(बुद्धि) थी, वह तोड़ी, ऐसा कहने में आता है। ऐसा है। (बात) आती है तो लॉजिक—न्याय से, परन्तु अब पकड़ना (वह तो सुननेवाले के ऊपर है)। अनन्त काल हुआ और अभी तो इस बात को सबने बहुत गड़बड़ में चढ़ा दिया है। आहाहा!

जिसका मूल अभी जला नहीं, राग की एकता की बुद्धि तोड़ी नहीं, उसे आत्मा प्राप्त किस प्रकार होगा? आहाहा! वह चाहे जितने व्रत, तप, भक्ति और पूजा कर-करके मर जाये... आहाहा! परन्तु वह भगवान पूर्णानन्द के नाथ के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ सकेगा। वह राग का सम्बन्ध तोड़ नहीं सकेगा। समझ में आया? आहाहा!

वस्तुस्वरूप पर दृष्टि देने से अथवा उस राग का भाग जो परसन्मुख के लक्ष्यवाला विकार (होता है), उसकी ओर से लक्ष्य को छोड़कर और स्वभाव—वस्तुसन्मुख दृष्टि और लक्ष्य को करके, पर-सन्मुख से सम्बन्ध टूटा तो स्व का सम्बन्ध होने पर आत्मा जागृत हुआ। गरजा अर्थात् प्रगट हुआ। आत्मा बेचैन था, वह चैन आकर स्फूर्ति आयी। आहाहा! राग में घिर गया था... आहाहा! उसे उससे पृथक् करके प्रथम सम्यग्दर्शन के काल में उसे भिन्न करके उसने आत्मा को पकड़ा। आहाहा! तब आत्मा गरजा कहते हैं, प्रगट हुआ, स्फूरणा हुई, स्फूरित हुआ, बाहर आया, प्रकाश हुआ। जो राग की एकता में अन्धकार था... आहाहा! वह राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता हुई (तो) चैतन्य का प्रकाश आया। मैं तो चैतन्य ज्ञानप्रकाश मूर्ति हूँ। ऐसा गरजा अर्थात् प्रगट हुआ। अरे! ऐसा है यह! जैनधर्म ऐसा होगा? जैनधर्म तो यह एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिया, चौइन्द्रिया.... मिच्छामि दुक्कडम् करते थे या नहीं? मंगलदासभाई! सामायिक में आता है न? इच्छामि पड्डिकम्मआ... इरिया... वह तो शुभराग की क्रिया की बातें हैं, बापू! वह धर्म नहीं। तस्सूतरी करणेन्, लोग्गस्स उज्जयगरे धम्म तित्थियरे जिणे... ऐसे पाँच पाठ बोले तो हो जाये सामायिक! धूल भी सामायिक नहीं, सुन न! वह तो राग की मन्दता होती हो तो पुण्यभाव है परन्तु मिथ्यात्वभाव (सहित) है। उस पुण्यभाव

से मुझे धर्म होता है, यह मान्यता मिथ्यात्व है। क्योंकि राग के सम्बन्धवाली यह दृष्टि है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि राग के सम्बन्धवाली दृष्टि छोड़कर; जिसने जोड़ी थी, उसने तोड़ी। जोड़ी थी स्वयं ने। राग के सम्बन्ध में जोड़ी थी स्वयं, वह जोड़ी उसने तोड़ी। आहाहा! ऐसा कहने का आशय क्या है? कि कर्म के कारण राग के साथ सम्बन्ध जोड़ा था, ऐसा नहीं। तथा कर्म खिरा तो यहाँ आत्मा के साथ जुड़ान हो, समकित हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! न्याय समझ में आता है कुछ? आहाहा!

भगवान आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर यह पुण्य-पाप की क्रिया के राग के सम्बन्ध में अपने को जोड़ा था, वह उल्टे पुरुषार्थ से स्वयं ने जोड़ा था। कोई कर्म ने इसे जुड़ाया है, ऐसा नहीं है। यह अभी आगे कहेंगे। '**संतति**' का आगे (आता) है न? '**उद्धर्तुकामः**' दूर करने का इच्छुक, कहेंगे। आहाहा! बहुत गाथा (—कलश ऊँचा है)! एक-एक श्लोक में बहुत भरा है! यह तो अध्यात्म वस्तु! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा के सन्त, केवलज्ञानी के पथानुगामी अन्तर में गये हैं और केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है! आहाहा! ऐसे सन्तों की यह वाणी है। दिगम्बर सन्त जंगल में बसते थे। आहाहा!

यहाँ स्फूर्ति की अर्थ इतना किया। '**आत्मनि स्फूर्जति**' परद्रव्य के साथ सम्बन्ध छूटा, यह तो नास्ति से कहा। अब, '**आत्मनि स्फूर्जति**' अर्थात्? स्वयं के साथ सम्बन्ध जोड़ा। यह स्तुति का अर्थ किया। पहला तो समझाया इतना कि परद्रव्य के साथ सम्बन्ध छोड़ा। यह तो समझाया। अब स्फूर्ति कहना है, उसका अर्थ (करते हैं)। अपने साथ सम्बन्ध जोड़ा, यह स्फूर्ति। आहाहा! यह ज्ञायक चैतन्यज्योति स्वरूप प्रभु है उसके साथ सम्बन्ध जोड़ा। यह स्फूर्ति का अर्थ है। फिर पर सम्बन्ध तोड़ा यह तो साथ में नास्ति से व्याख्या की है। समझ में आया?

कैसा है? आपसे सम्बन्ध रहा। कैसा है? 'उन्मूलितबन्धः' जिसने '**उन्मूलित**' **मूल सत्ता से दूर किया है 'बन्धः'** आहाहा! राग का जो बन्ध—भावबन्ध था, जड़कर्म—मिट्टी तो उसके कारण से रहे, परन्तु राग के सम्बन्ध में बन्ध था, राग में रुका हुआ भावबन्ध था, उसे **मूल सत्ता से दूर किया है 'बन्धः' ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलद्रव्य**

का पिण्ड जिसने,... परन्तु यह कर्म की बात की है। किन्तु वास्तव में तो कर्म के साथ का सम्बन्ध है, वह मूल में से तोड़ दिया है। इसलिए आठों कर्म से पृथक् पड़ा, पृथक् हुआ, ऐसा कहा जाता है। अरे!

फिर से '**उन्मूलितबन्धः**' इसमें दो शब्द हैं। '**उन्मूलित**' और '**बन्धः**' दो शब्द हैं। '**उन्मूलित**' (अर्थात्) उखेड़ दिया है। मूल में से राग को उखेड़ दिया है। आहाहा! यह गधा होता है न? वह घास खाता है, वह खींचकर खाता है। मूल को खींचकर खाता है। गायें ऐसे नहीं खाती। गायें खावें वे मूल को रखकर ऊपर-ऊपर से (खाती है)। उसे गोचर कहा जाता है। मुनि को गोचरी कहते हैं न? गोचरी अर्थात् जो गृहस्थाश्रम में गृहस्थों ने उनके (स्वयं के) लिये बनाया हो, उसमें से थोड़ा बचे, उसे स्वयं ऊपर से ले। बनाया हुआ (हो), वह सब न ले लेवे। इसी प्रकार गाय भी खाती है तब उसके मूल रखकर ऊपर से खाती है। इसलिए वापस मूल बढ़ता है। और गधे का स्वभाव ऐसा है कि मूल खींचकर खाता है। उसी प्रकार आत्मा—धर्मी गधे जैसा है और यह चतुर है। राग को मूल में से उखेड़ डालता है। और अज्ञानी राग की कुछ मन्दता करे, तो ऐसा हो गया कि मानों मैंने कुछ धर्म किया। वह गाय की भाँति गोचर (जैसा है)। ऊपर राग रखता है, मूल रखता है परन्तु दया, दान में कुछ (राग की क्रिया) मन्द करे तो मानो अपने धर्म हुआ (ऐसा मानता है)। परन्तु ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप कैसा? और वह जँचे ऐसा है। न्याय से—लॉजिक से तत्त्व (का) जरा विचार करे, यह तो मन्थन करना चाहिए, भाई! दुनिया के मन्थन में कितने काल व्यतीत किये, देखो न! चारों ओर कषाय की अग्नि की होली सुलगती है। यह वकालत में रामजीभाई वकालत करे, उसमें क्या था? कषाय थी वहाँ। मंगलदासभाई! मंगलदासभाई महिमा करे। वह सब कुज्ञान था और कषाय थी। आहाहा!

यह सुज्ञान और अकषाय! आहाहा! कहते हैं, '**उन्मूलितबन्धः**' जिसे राग से भिन्न करके स्वभाव की दृष्टि की है... आहाहा! उसने राग की एकता का मूल में से छेद डाला है। समझ में आया? आहाहा! वास्तव में तो इतना अधिक कहना चाहते हैं कि राग को मूल में से छेदा है, उसे अब राग होने का नहीं है। गिरनेवाले नहीं, यह शैली कहते हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्तों की अप्रतिहत बात तो देखो! आहाहा!

कहते हैं कि मैंने कर्म का नाश किया। वह तो कर्म तो जड़ है। वह तो उसके कारण से नाश होते हैं। वह कहीं आत्मा के कारण से (नाश) नहीं होते। आत्मा में से राग का नाश होता है। तब राग का नाश होने पर कर्म अपने आप नाश हो जाते हैं। वह तो जड़ की स्वतन्त्र दशा है। तब इस जीव ने क्या किया? कि राग की जो एकता थी, उसे मूल में से उखेड़ दिया और मूल स्वरूप जो भगवान है, उसे उसने पकड़ा। आहाहा!

मुमुक्षु : मूल स्वरूप ध्रुव है या दूसरा कुछ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्रुव! मूल ध्रुव है, ध्रुव। यहाँ से मूल उखेड़ा और यहाँ मूल को पकड़ा। चैतन्यसत्ता ध्रुव अनादि-अनन्त है। वह कहीं नहीं थी और (हुई) है, ऐसा है? अनादि से है और अनन्त काल रहेगी। उत्पत्ति और विनाश बिना की वह चीज़ है। उत्पन्न हो और नाश हो, ऐसी चीज़ नहीं। वह तो त्रिकाल ध्रुव है। उसकी पर्याय में अवस्था बदले, परन्तु वस्तु है, वह तो ध्रुव है। आहाहा! इसलिए कहते हैं कि जिसने अन्दर में... आहाहा! यह उसकी विधि है कि राग का सम्बन्ध तोड़कर स्वभाव का सम्बन्ध करना, भेदज्ञान करना, उसमें से आत्मा की प्राप्ति हो, तब आत्मा आनन्द और ज्ञान परिणति में वेदन में आता है, तब वह गरजा कहलाता है कि अन्दर पर्याय में आनन्द आया और ज्ञान की पर्याय अतीन्द्रिय आयी, तब यह पूरा आत्मा ऐसा है—ऐसी उसे आत्मा की पर्याय में गर्जना (हुई), स्फूर्ति (हुई), ऐसा भान हुआ। आहाहा! अरे! समझ में आया?

'**उन्मूलितबन्धः**' अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा। अबन्धस्वरूप प्रभु आत्मा ध्रुवस्वरूप है, वह तो अबन्ध है। उस अबन्ध को पकड़ने पर बन्ध का जो राग का भाव, उसे मूल में से उखेड़ दिया। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन की दशा! सम्यक्त्व अभी तो धर्म की पहली—प्रथम सीढ़ी। आहाहा!

मुमुक्षु : पहला मानव धर्म होता है या आत्मधर्म होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मधर्म। मानवधर्म कैसा? मनुष्य का व्यवहार बन्ध का कारण नहीं कहा? प्रवचनसार ९४ गाथा। आत्मव्यवहार और मनुष्यव्यवहार—दो शब्द लिये हैं। प्रवचनसार, दूसरा अधिकार—ज्ञेय (तत्त्व प्रज्ञापन) अधिकार की ९४ गाथा।

यहाँ तो सब—पूरा शास्त्र तैरता है! वहाँ ऐसा कहा है कि जितनी यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि की क्रिया है, वह मनुष्य का व्यवहार है, वह आत्मव्यवहार नहीं। आहाहा! क्योंकि वह संसारव्यवहार है, यह राग है, वह संसार है। वह संसारव्यवहार है, वह मनुष्यव्यवहार है। आत्मव्यवहार—राग से भिन्न पड़कर आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति प्रगट करना, वह आत्मा का व्यवहार है। आत्मा निश्चय है परन्तु उसकी श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति—मोक्ष का मार्ग प्रगट करना, वह व्यवहार है। व्यवहार के भी कितने प्रकार!

मुमुक्षु : दोनों व्यवहार प्रमाणभूत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक है अज्ञानरूप से, एक है ज्ञान-भानरूप से। 'है' अपेक्षा से है, (तथापि) है दोनों विरुद्ध। आहाहा! उसे मनुष्यव्यवहार कहा है। किसे? जितना कोई दया, दान, व्रत। पूजा, भक्ति—ऐसा जो शुभभाव उसे ९४ गाथा में मनुष्यव्यवहार कहा है। प्रवचनसार में (कहा है)। यहाँ नहीं। यह तो कलशटीका है। समझ में आया? और उसमें आत्मव्यवहार किसे कहा है? कि जो राग से भिन्न पड़कर आत्मा की दृष्टि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट करे, उस निर्मल पर्याय को आत्मा का व्यवहार कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? यह तो परमात्मा के घर की बातें हैं, बापू! आहाहा! परमात्मा कैसे हुआ जाये? उसकी बात है। संसार कैसे हो? यह तो चौरासी के अवतार में भटक रहा है। आहाहा! नरक और निगोद, मनुष्य और सेठाई, रंकाई और भिखारीपन... (उसमें) अनन्त बार भटक मरा है। आहाहा! देव (होकर) नौवें ग्रैवेयक जाकर भटका है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा...! '**उन्मूलित**' स्फूरित हुआ। श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति का वेदन आया, इसलिए आत्मा प्रगट हुआ, वह गरजा, इसलिए उसने राग के सम्बन्ध को मूल में से उखेड़ दिया। आहाहा! है? कान्तिभाई! यह ठीक किया। यह तुम्हारी कमाने की रीति से यह अलग प्रकार है।

मुमुक्षु : अलग प्रकार है अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पैसा-बैसा पैदा हो, फिर खर्च करे, वह दूसरी चीज़ है और यह दूसरी चीज़ है। यह अभी इसने दो दिन में फिल्म बनायी न? कितने रुपये हुए

१८००० ! ६९ मिनिट की फिल्म बनायी। तीन मिनिट के ८०० रुपये ! लाये थे न वहाँ से ? कान्तिभाई मुम्बई से फिल्मवाले लाये थे। तीन मिनिट के ८०० रुपये ! ६९ मिनिट की बनायी है। इनके अपने घर के पैसे से (बनायी है)। एक घण्टे के १६०००। एक घण्टे की फिल्म के १६०००। एक घण्टे और नौ मिनिट बनायी। यह सब अन्दर राग मन्द हो तो पुण्य है। वह क्रिया तो (जड़ की है)। यहाँ तो ऐसी बात है।

मुमुक्षु : मेहनत सिर पर पड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : मेहनत-बेहनत इसने कहाँ की है। रुपये जड़ थे और जड़ के जड़ में गये। इसमें राग की मन्दता की हो तो पुण्य है। लड़के के लिये रखने का भाव है, वह पाप है। वह तो यहाँ बात चलती है। इस राग से भी भिन्न करके स्वभाव के साथ सम्बन्ध करने का नाम धर्म है। आहाहा ! वीतराग त्रिलोकनाथ 'केवलि पण्णत्तो धम्मो शरणं' मांगलिक में आता है ? आता है, परन्तु किसे खबर अर्थ की और भाव की ? वह तो पहाड़े बोलते जाये। 'केवलि पण्णत्तो धम्मो शरणं' सर्वज्ञ भगवान ने राग से भिन्न ऐसा आत्मा का अरागी वीतरागी परिणाम उत्पन्न हो, उसे भगवान केवली का कहा हुआ धर्म कहते हैं। ऐसी सब शर्तें हैं। समझ में आया ? कहो, शान्तिभाई ! आहाहा !

'**उन्मूलित**' भाषा देखो न ! मूल उखेड़ दिया। मूल आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान को जिसने पकड़ा और अनुभव किया, उसने राग के मूल को छेद दिया, कहते हैं। आहाहा ! राग का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व छेद दिया। आहाहा ! समझ में आया ? जरा विचार माँगता है, बापू ! यह धर्म ऐसी चीज़ है कि ज्ञान को बहुत मथना चाहिए, ऐसे का ऐसा समझे बिना धर्म हो जाये, ऐसी चीज़ नहीं, बापू ! आहाहा !

मुमुक्षु : आप कहो और हम हाँ करते हैं, उसमें भी क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ करे उसमें भी भला नहीं है। इसे अन्दर में हाँ आनी चाहिए। यह आत्मा यह है और राग यह है, ऐसी हाँ आनी चाहिए। अस्तित्व की हाँ आनी चाहिए। अर्थात् पूर्ण आनन्दकन्द प्रभु द्रव्यस्वभाव है, उसकी हाँ अर्थात् अस्तित्व की प्रतीति हो, तब उसकी हाँ की कहलाये। आहाहा ! कहो, भगवानजीभाई ! ऐसा कहीं मिले ऐसा नहीं है। मुश्किल... मुश्किल... सब हो गयी बापू ! क्या हो ? आहाहा ! सुनना

मुश्किल पड़ गया, सुनना मिले नहीं, वह कब विचार करे और कब अन्दर में रचे... आहाहा! अरे! अनन्त काल हुआ रुलते, भटकते... मुसाफिर (होकर) अभी यहाँ मनुष्यरूप में आया। आहाहा! उसका यह मुसाफिर का अवसर तो धर्मशाला में कितना रहना? एक रात्रि रहना। रास्ते में पच्चीस कोस जाना हो और सोलह कोस कट गये (हों), आठ कोस बाकी रहे तो रहो इस धर्मशाला में। सवेरे उठकर (जाऊँगा)। इसी प्रकार यह तो धर्मशाला है। इतना थोड़ा काल रहे। देह (छोड़कर) चल निकलेगा। आहाहा! उसमें इसे आत्मा की धर्मशाला प्रगट करनी हो.... आहाहा!

मुमुक्षु : उस धर्मशाला में तो कायम रहना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो कहते हैं। उसमें क्षणिक रहने का है, यहाँ कायम रहने के लिये कहा।

भगवान आत्मा... ज्ञायक चैतन्य ज्ञानरस से भरपूर, अकेला प्रज्ञा... प्रज्ञाब्रह्म! ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु, आहाहा! शक्करकन्द का दृष्टान्त नहीं दिया था? शक्करकन्द के ऊपर की लाल छाल न देखे तो पूरा (शक्करकन्द) मिठास का पिण्ड है। लाल छाल न देखो तो। शक्कर अर्थात् कन्द, शक्कर का पिण्ड। उसी प्रकार भगवान आत्मा में पुण्य और पाप के विकल्प की छाल यदि न देखो तो उस छाल के पीछे अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है। अरे रे! सुनने को मिले नहीं, वह कहाँ जाये? क्या करे?

मुमुक्षु : दृष्टान्त समझ में आता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त सिद्धान्त के लिये है या दृष्टान्त दृष्टान्त के लिये है? दृष्टान्त दिया, वह सिद्धान्त के लिये है न? यह तुम वकील दृष्टान्त देते नहीं? उस केस का विलायत में इस प्रकार से फैसला दिया, इस प्रकार से यहाँ फैसला होना चाहिए। तो वह तो दृष्टान्त (नजीर) है। सिद्धान्त तो वापस यहाँ करना है। लन्दन में यह केस इस प्रकार चला था। कोई केस आते हैं न? वहाँ ऐसा कठोर फैसला हुआ था। उसी प्रकार यहाँ ऐसा फैसला होना चाहिए, लो!

भाई के पास केस नहीं आया था? वह राजकुमार। बाहर में पहला लड़का

आया, वह बड़ा कहलाये और बाद का आवे वह छोटा कहलाये। वास्तव में जो बाद में आवे वह बड़ा है। क्योंकि पहला वहाँ यह अन्दर आया है। मलूकदासभाई! यह केस आया था। दो लड़के साथ में आवे न? और बड़ा राजा हो और रानी को दो कुंवर (जुड़वाँ बच्चे) आवे। अब राज किसे देना? यह विवाद उठे। वह कहे, पहले आया वह बड़ा। तब वह पीछे आया, वह कहे कि मैं बड़ा हूँ क्योंकि मैं यहाँ पहले आया हूँ। तुम्हारी अपेक्षा पहली स्थिति में मैं यहाँ (आया) हूँ। हुआ था न? मुझे खबर है न! यह केस हुआ था। होवे ऐसा है। यह सब जानकारी है। मुझे तो सबकी अनेक बातों की खबर है। यहाँ तो पूरी जिन्दगी जगत को देखा है, नाचे नहीं, परन्तु नाच तो सबके देखे हैं। आहाहा!

यह वस्तु... देखो! वहाँ भी अन्तर पड़ता है। लौकिक अपेक्षा से पहले निकला वह बड़ा। लोकोत्तर अपेक्षा से पहले वह आया है, फिर आया वह पहले निकला है और पहला आया वह बाद में निकला। बड़ा तो वह है। बाहर में वह दिखता है। बाहर में देखोगे तो पहला आया है, वह छोटा दिखेगा और बाद में आया वह बड़ा दिखेगा। हमारे गाँव में भी (ऐसे) दो थे। जो पीछे आया था, वह बड़ा दिखता था और सामने आया था वह छोटा दिखता था। लोगों में लोक की रीति पूरी उल्टी। पहले आया, वह बड़ा कहलाये, बाद में आया, वह छोटा कहलाये। दुनिया में ऐसा है न, भाई! ऐसे तो बहुत दृष्टान्त देखे हैं न!

यहाँ कहते हैं, बड़ा प्रभु अनादि का है, वह बड़ा है और राग आदि होते हैं, वह तो छोटा क्षणिक उत्पन्न होता है, इसलिए उस चीज़ को छोड़ दे। आहाहा! अन्दर भगवान चिदानन्द प्रभु विराजता है, वहाँ जा न! वहाँ गद्दी पर बैठा न! उससे '**उन्मूलितबन्धः**' बन्ध का नाश होगा। कैसा है भगवान आत्मा? देखो अब! भगवान कहा। आत्मा को यहाँ आचार्य ने भगवान कहा। तीर्थंकर ऐसा बुलाते हैं, भगवान आत्मा! आहाहा! जो शरीर और वाणी और पुण्य-पाप के राग बिना की चीज़ है, वह तो भगवानस्वरूप ही है। भगवान का अर्थ क्या किया? ज्ञानस्वरूप, लो! मंगलदासभाई ने कहा था कि ज्ञान की असातना करना, वही असातना है। तो अन्दर यह ज्ञानस्वरूप है। अन्दर ज्ञान के प्रकाश का नूर—तेज है। बाहर में तो शब्द हैं। भाई ने कहा था। आहाहा!

क्या अर्थ किया? देखो! पाठ में भगवान है, हों! है अन्तिम लाईन। '**भगवानात्मात्मनि**' मूल कलश (की) चौथी लाईन है। उसका अर्थ यह नीचे है। भगवान अर्थात् ज्ञान। दूसरे प्रकार से कहें तो भग और वान दो शब्द हैं। भग अर्थात् लक्ष्मी होती है। किसकी? यह ज्ञानलक्ष्मी, आनन्दलक्ष्मी, यह भग। वान। लक्ष्मीवान—लक्ष्मीवाला। आहाहा! यह धूल की लक्ष्मी नहीं। भग का अर्थ लक्ष्मी होता है। संस्कृत में भग के बहुत अर्थ हैं। उसमें एक लक्ष्मी अर्थ होता है। ज्ञानलक्ष्मी से भरपूर प्रभु, आहाहा! ध्रुव... ध्रुव... ज्ञान से भरपूर। भग-वान। ज्ञानवान, ज्ञान जिसका रूप। ज्ञान जिसका वान। लोग नहीं कहते? कि यह कालोवान है, सफेदवान है, नहीं कहते शरीर को? इसका यह अमुक वान है। यह सफेद वान है, यह काले वान है, यह गेहूँ वर्ण है, शरीर को ऐसा नहीं कहते? शरीर गेहूँ वर्ण है। इस वान है। इसी प्रकार आत्मा वान है। किसका? ज्ञान का। ज्ञानवान—ज्ञानस्वरूप है प्रभु आत्मा का, आहाहा! इसके स्वरूप में विकार भी नहीं, शरीर भी नहीं, कर्म भी नहीं, ऐसा यह भगवान आत्मा है। आहाहा!

पुराने कान में नया, नहीं कहते थे बेचारे? भाई आये थे न? निहालभाई! सब कार्यकर्ताओं ने बहुत आड़े-टेढ़े गप्प मारे। (कहते थे) पुराने कान में नयी बात है। मैंने कहा, यह तो ऐसी बात। सुनना हो दूसरा, उसमें यह बात ही पूरी दूसरी आवे। कहीं मिलान खाये नहीं।

मुमुक्षु : संसारमार्ग और मोक्षमार्ग दोनों उल्टे....

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों उल्टे-उल्टे हैं।

(यहाँ कहते हैं), कैसा है आत्मा? भगवान है। आहाहा! समयसार में ७२ गाथा में भी भगवानरूप से ही बुलाया है। ७२ गाथा है उसमें। भगवान आत्मा... आहाहा! ऐसा आचार्य ने कहा है। यह पुण्य और पाप जो भाव है, वह अशुचि है, मैल है। भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूपी पवित्र है, ऐसा कहा है। सभी आत्माओं को भगवानरूप से बुलाया है। आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं... आहाहा! जगा तो स्वयं भगवान था, वह भगवानरूप से परिणति में जगा। आहाहा! मैं तो ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मीवाला हूँ।

मैं कोई पुण्य-पापवाला और शरीर और कर्मवाला मैं नहीं। आहाहा! ऐसा सम्यग्दर्शन में ऐसा भान भगवानरूप का होता है। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप को अब **कैसा करके अनुभवता है ? 'निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं' अनन्त शक्ति के पुंजरूप से... 'निर्भर'** की व्याख्या (की है)। **'निर्भर'** यह भर... भर नहीं कहते ? अपने यह गाड़ा भरते है (न) ? उसमें अनाज भरते हैं न ? उसे भर भरा कहा जाता है। यहाँ **'निर्भर'** है। 'नि' विशेष है। विशेष भर! गाड़ा भरते हैं न ? वह भर भरा कहलाता है। घास भरे उसे भर (कहा जाता है)। इसी प्रकार आत्मा **'निर्भर'** है। अनन्त-अनन्त गुण का भर भरा हुआ **'निर्भर'** है। आहाहा! है ? **'निर्भर'** है न ? उसकी यह व्याख्या है। **'निर्भर'** भर—भरा हुआ। 'नि' उपसर्ग है। बहुत भरा हुआ... बहुत भरा हुआ। यह एक-एक शब्द है, वह कहीं व्यर्थ नहीं है। यह तो भगवान सन्तों की वाणी है।

भगवान निर्भर है। देखो! भाषा कैसी की है! **अनन्त शक्तियाँ...** का पुंज है। भरपूर है परन्तु अनन्त शक्ति का पुंज है। आहाहा! अनन्त शक्ति से भरपूर है, अर्थात् कि अन्दर अनन्त शक्ति का प्रभु पुंज है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि। ऐसी अनन्त शक्तियाँ—अनन्त गुणों का वह पिण्ड है। आहाहा! शरीरप्रमाण अन्दर रहना और उसे—आत्मा को अनन्त गुण का पुंज कहना! बापू! उसमें अनन्त गुण हैं। आहाहा! समझ में आया ?

'निर्भर' अनन्त शक्ति के पुंजरूप से... 'वहत्' निरन्तर परिणमता है... लो, क्या कहते हैं ? स्वरूप से भ्रष्ट था, तब रागरूप से, पुण्यरूप से, पापरूप से निरन्तर परिणमता था। अब वह राग से भिन्न पड़कर स्वरूप की दृष्टि का भान हुआ तो निरन्तर जो अनन्त गुण का पिण्ड है, वह पर्याय में भी अनन्तज गुण का परिणमन निर्मल होता है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बातें अब, एक कक्षा में किसी प्रकार की बात आवे। उसमें पहले सुना (हो) वह इसमें कुछ नहीं आता। यह मार्ग तो अलग है न, प्रभु! यह तो एकदम मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! वह भी त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ने कहा हुआ, इन्द्रों के झुण्ड में और सिंह और बाघ और नाग के (समूह में कहा हुआ)। सैकड़ों नाग,

सैकड़ों सिंह समवसरण में आते हैं। भगवान की वाणी—दिव्यध्वनि ॐ निकलती है, उसमें से आयी हुई यह बात है। समझ में आया? आहाहा!

निरन्तर परिणमता है... 'वहत्' है न? **'वहत्' 'वहत्'** है (अर्थात् कि) बहती है। जैसे पानी बहता है न? **'वहत्'** है, बहता है। भगवान पूर्णानन्दस्वरूप है, उसे राग से भिन्न पड़कर जहाँ जाना, तब अनन्त गुण के परिणाम बहते हैं। पर्याय में अनन्त गुण की पर्याय अन्दर में आती है। आहाहा! **'वहत्'** है।

निरन्तर परिणमता है ऐसा जो... 'पूर्ण' स्वरस से भरा हुआ... आहाहा! स्वरस से भरपूर भगवान! अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द के रस से भरपूर प्रभु है। आहाहा! **स्वरस से भरा हुआ...** राग के रस से भिन्न। आनन्द और ज्ञान के रस से भरपूर प्रभु अन्दर है। आहाहा!

'एकसंवित्' विशुद्ध ज्ञान, उससे मिला हुआ है... आहाहा! **'युतं'** है न? **'एकसंवित्' विशुद्ध ज्ञान, उससे 'युतं' मिला हुआ है...** निर्मल ज्ञान के साथ भगवान रहा हुआ है। राग से भिन्न भगवान अन्दर स्थित है। आहाहा! राग से भिन्न उसे अनुभव करने पर विशुद्ध ज्ञान के साथ मिला हुआ है। **ऐसे शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है।** लो! ऐसे शुद्ध स्वरूप को धर्मी, राग से भिन्न पड़कर स्वभाव को अनुभव करता है, उसे धर्म कहा जाता है। आहाहा! ऐसी धर्म की व्याख्या!

यहाँ तो (अज्ञानी ऐसा कहता है), पुण्य परणमी, धर्म करना, अनाज देना, अमुक देना, नहीं बोलते वे? ग्रहण होता है, तब आते हैं। तब वे सब बोलते हैं।

मुमुक्षु : पुण्य परमणी कहते हैं, धर्म परमणी कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे कहते हैं परन्तु वे सब मानते हैं। वहाँ पुण्य भी कहाँ है? सब अभिमान है। यहाँ कहते हैं, यह तो स्वरस से भरपूर भगवान अपने ज्ञान के रस से मिला हुआ है। आहाहा! ऐसा यह आत्मा है। आहाहा!

और कैसा है आत्मा? 'इमां बहुभावसन्ततिं समं उद्धर्तुकामः' कहा है स्वरूप जिसका ऐसा है, राग-द्वेष-मोह... अब इसे उड़ा देंगे, ऐसा कहते हैं। उसे रस प्रगट करता है, तब इसे उड़ा देता है। **राग-द्वेष-मोह आदि अनेक प्रकार के अशुद्ध परिणाम,**

उनकी परम्परा... अर्थात् प्रवाह, धारा। वह '**वहत्**' था न? आहाहा! ऐसी **परम्परा, उसको एक ही काल में... 'उद्धर्तुकामः' उखाड़कर दूर करने का है अभिप्राय जिसका...** आहाहा! मूल तो ध्यान कहते हैं। अन्दर में ध्यान में एकाग्र होने पर वह उखड़ जाता है। निकल जाता है, उसे उखाड़ने का कामी है, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? संस्कृत में 'बल से निकालता है' ऐसा पाठ है। अपने बल से रागादि के भाव को उखड़े डालता है। आहाहा! **ऐसा है।**

कैसी है भावसन्तति? परद्रव्य का स्वामित्वपना है, मूल कारण जिसका... आहाहा! यह राग का स्वामिपना है, उस परम्परा की परम्परा को उखेड़ डालता है। उसका स्वामिपना छोड़ देता है और चैतन्यस्वरूप है, उसका स्वामी होता है। है? विशेष बाकी है, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ५, शुक्रवार, दिनांक-३०-१२-१९७७, कलश-१७८-१७९, प्रवचन-१८९

यह कलशटीका, १७८ कलश (चलता है उसमें) पीछे का भाग है। यहाँ तक आया है।

एक ही काल में उखाड़कर दूर करने का है अभिप्राय जिसका, ऐसा है। है? इस ओर है। क्या कहते हैं? कि आत्मा को जो कर्म का अथवा राग का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को अपने स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा उखाड़ डालने का जिसका अभिप्राय है, उसे क्या करना? उसे स्वभाव का आश्रय लेकर अन्दर में स्थिर होना। आत्मा का मूल स्वरूप अबद्ध है, परन्तु उसकी पर्याय में राग का और कर्म का निमित्तरूप सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को तोड़ने के लिये, मूल से उखेड़ने के लिये... आहाहा! ऐसा आया था न? मूल बन्ध!

आत्मा अखण्ड आनन्दस्वरूप का आश्रय लेना। शुद्ध चैतन्यघन द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेना। उस अवलम्बन के कारण राग का और कर्म का सम्बन्ध मूल में से छूट जाता है। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : अवलम्बन लेना, इसका अर्थ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : अवलम्बन लेना अर्थात् अन्तर्मुख होना। वस्तु है, वस्तु है न आत्मा? वह वस्तु है, उसका आश्रय लेना। जो ऐसे राग का और कर्म की ओर का अवलम्बन और आश्रय था, वह सब बन्ध का कारण, संसार में भटकने का कारण था। जिसे वह बन्ध मूल में से छेदने का अभिप्राय है, उसे आत्मा के स्वभाव को राग के सम्बन्ध से पृथक् करके, स्वभाव का सम्बन्ध करना चाहिए। ऐसा है। रात्रि में तो बहुत प्रश्न हुए थे। देवीलालजी ने बहुत (प्रश्न) किये थे न? ऐसा है।

वस्तु है न आनन्दकन्द? नित्य चिदानन्द प्रभु का आश्रय लेकर, उसकी ओर का झुकाव करके, उसका अवलम्बन लेकर बन्ध के छेद को मूल में से निकालना।

मुमुक्षु : द्रव्य तो आश्रय दे सकता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय का अर्थ क्या? कि उस ओर झुकना, वह आश्रय।

आश्रय का अर्थ यह। वर्तमान पर्याय को त्रिकाली की ओर झुकाना, इसका नाम आश्रय है। आहाहा! सूक्ष्म बातें, भाई! धर्ममार्ग बहुत सूक्ष्म है। लोगों ने बाहर से जैनधर्म को माना है, वह धर्म नहीं है। व्रत, अपवास, तप, भक्ति, पूजा और मन्दिर (बनाना) और... आहाहा! वह तो सब पर की क्रिया है, और उसमें राग मन्द होता हो तो पुण्य है। पुण्य है, वह संसार है। वह संसार में प्रवेश करता है। आहाहा! यह आया है न? 'पुण्य-पाप अधिकार में'। उसे सुशील कैसे कहें? उस शुभभाव को सुशील कैसे कहें? क्योंकि वह तो संसार में प्रवेश कराता है। आहाहा! उस शुभभाव से भिन्न चैतन्यवस्तु है न? मौजूद पदार्थ है न? ध्रुव अनन्त आनन्द और अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप है। उसकी ओर का झुकाव, उसके आश्रय से मूल में से बन्धन छिद जाता है। अर्थात् कि उसे बन्धन नहीं होता। यहाँ तक आया है, देखो! है?

कैसी है भावसन्तति? परद्रव्य का स्वामित्वपना है मूल कारण... यहाँ जरा वजन है। कितने ही इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि बन्धन में मूल कारण कर्म है, उसके कारण बन्धन (होता है)। मूल कारण कर्म के कारण बन्धन है, ऐसा (वे) कहते हैं। उसका अर्थ यहाँ दूसरा किया है। राग और कर्म का स्वामिपना जिसका—बन्धन का मूल है। क्या कहा यह? कर्म, वह बन्धन का कारण नहीं। कर्म, वह संसार का मूल कारण नहीं। कर्म और राग का स्वामित्व है, वह संसार में भटकने का मूल कारण है। अरे... अरे...! ऐसी बातें अब। भाषा अलग...

आत्मा वस्तु है न? है तो वह नित्यानन्द प्रभु अनादि-अनन्त है। ऐसी चीज़ है, उसकी वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में राग का अशुद्ध उपादानरूप से सम्बन्ध है और कर्म का संयोगी निमित्तरूप से सम्बन्ध है। वह तो परद्रव्य है। अब, यहाँ कहते हैं कि बन्ध का मूल कारण कौन? तब कहते हैं कि उस कर्म (बन्धन का) मूल कारण परद्रव्य है। स्वद्रव्य मोक्ष का कारण है और परद्रव्य बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं। परद्रव्य का मालिकपना—स्वामिपना, अभिप्राय में परद्रव्य मेरे हैं—ऐसा जो स्वामित्व है, वह कर्म की सन्तति आने का मूल कारण वह है। ऐसी सूक्ष्म बातें! वह तो भक्ति करो, पूजा करो, भगवान के दर्शन करो, देवदर्शन करो, गिरनार की और शत्रुंजय की यात्रा करो... भाई! बापू! मार्ग अलग, प्रभु! वह सब क्रियायें तो शरीर की और पर की है, परन्तु उसमें

कदाचित् राग मन्द हो तो शुभभाव है। वह शुभभाव तो संसार है। आहाहा!

अरे! चौदहवें गुणस्थान में भी अभी एक उदयभाव जरा रहा है, तो भी उसे संसार में कहा! आहाहा! चौदहवें, तेरहवें गुणस्थान में केवली परमात्मा को जब योग का कम्पन रुँधता है, तो भी उन्हें जरा उदयभाव प्रतिजीवी गुण की विघ्नदशा वर्तती है। आहाहा! इसलिए उन्हें असिद्ध कहा, सिद्ध नहीं। इतना भी असिद्धपना, संसारभाव है, कहते हैं। आहाहा! तो यहाँ तो कहते हैं कि जो पुण्य के परिणाम हैं या पाप के भाव हैं, वे स्वयं संसार है। आहाहा! समझ में आया? और बन्ध का कारण कर्म तथा पर नहीं है। बन्ध का कारण, परद्रव्य का मालिकपना-स्वामित्व (है, वह है)। अभिप्राय में वे परद्रव्य मेरे हैं, ऐसा जो स्वामित्व है, वह नये कर्म के बन्ध का कारण है। ऐसी बातें हैं। उसमें तो एक-एक अक्षर में जो न्याय है, उसमें कुछ बदलता नहीं। ऐसी चीज़ है, परन्तु उसका अभ्यास नहीं। बाहर में रुककर मानो कल्याण हो जायेगा, (ऐसा मानता है)।

मुमुक्षु : बाहर में कल्याण पड़ा कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कि यह सब यह दया पालते हैं, व्रत करते हैं, अपवास करते हैं, भगवान की भक्ति करते हैं, विशाल सिद्धयन्त्र की और सिद्धचक्र की पूजा करते हैं, उपधान करते हैं. यह डेढ़ महीने का नहीं करते? वह तो सब राग की क्रिया, बापू! भाई! तुझे खबर नहीं है। वह परलक्ष्यी भाव है, वह स्वलक्ष्मी भाव नहीं।

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है कि ज्ञान प्राप्त करने से पहले उपधान करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या? वह तो राग की मन्दता हो, इसलिए उतना उपधान कहने में आता है, परन्तु वह कहाँ वस्तु है? उपधान तो भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, उसके समीप में स्थिर होना, वह उपधान है। अरे! ऐसी बातें!

भगवान आत्मा मंगलस्वरूप है। मंग अर्थात् पाप और गल अर्थात् गाले। वह पाप को गाले, ऐसा उसका स्वरूप है। आहाहा! मंग अर्थात् पाप और गल अर्थात् गाले। समझ में आया? आहाहा! मंग अर्थात् पवित्रता होता है। मं अर्थात् पाप होता है। मं अर्थात् पाप और गल अर्थात् गाले। और मं ग ल... मंग अर्थात् पवित्रता और ल अर्थात् लाती—प्राप्ति। मंगलदासभाई! यह मंगल का अर्थ हुआ। मंग अर्थात् पवित्रता और ल

अर्थात् लाती। मंगल—पवित्रता की प्राप्ति करे, उस भाव को मांगलिक कहते हैं। अथवा मंग-गल। राग और पर का स्वामित्व ऐसा जो अहंकार वह मं, उसे गल (अर्थात्) उसे गलावे, उसे मांगलिक कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान के दर्शन, वह मांगलिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भगवान के दर्शन, वह तो शुभभाव है। यह अन्दर भगवान के दर्शन करे, उसका नाम मांगलिक और पवित्रता है। ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहना है, मूल पर वजन है। बहुत से इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि भटकने का मूल कारण कर्म, परद्रव्य है। है न पाठ? '**तन्मूलां बहुभावसन्तति**' परन्तु इसका अर्थ यहाँ ऐसा किया... है न दूसरा पद? '**तन्मूलां बहुभावसन्तति**' कर्म का प्रवाह वह भटकने का मूल कारण है। ऐसा इसका अर्थ करते हैं। (परन्तु) ऐसा नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं, ऐसा अर्थ है, देखो!

परद्रव्य का स्वामित्वपना है मूलकारण जिसका... आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो चैतन्य शुद्ध आनन्द का नाथ का स्वामित्व छूटकर राग और कर्म का स्वामित्व—मालिकपना अभिप्राय में होना, वह नये कर्म की संतति, बन्ध का कारण है। आहाहा! कहो, देवीलालजी ऐसा मार्ग है, भाई! यह वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है।

मूल कारण में ही यह पूरी तकरार है। बन्धन में मूल कारण में तकरार और मोक्षमार्ग के मूल कारण में तकरार। बन्धन में यह कि परद्रव्य बन्ध का कारण है। यह भी बड़ा विवाद! और शुभभाव मोक्ष का कारण है, यह भी मूल में विवाद!

मुमुक्षु : शुभ मोक्ष का कारण है, यह बहुत जोर से चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जोर से चलता है न! पण्डितों में चर्चा चलती है अब। यहाँ का—सोनगढ़ का बाहर आया, (इसलिए) पण्डितों में चर्चा चली। वरना तो सब ऐसा का ऐसा भेड़ की तरह पड़े थे। अब थोड़े हिले हैं। एक पण्डित कहता है कि शुभभाव मोक्ष का मार्ग है। दूसरा पण्डित कहता है कि शुभभाव मोक्ष का मार्ग है। उसे जो

उपादेय मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। तब दूसरा पण्डित कहता है कि शुभभाव को हेय माने, वह सम्यग्दृष्टि है। शुभभाव को उपादेय माने, वह मिथ्यादृष्टि है।

शुभभाव को उपादेय माने, वह सम्यग्दृष्टि, (ऐसा मानो तो) कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने शुभभाव को हेय माना है। तो वे मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुए? सोनगढ़ का निकला, पश्चात् यह चर्चा पण्डितों में चली। आहाहा!

मुमुक्षु : शुभभाव भले मोक्षमार्ग नहीं, परन्तु अधर्म नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अधर्म है। बन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं। धर्म नहीं अर्थात् साधारण भाषा से कहें तो पुण्य है और वास्तविक रीति से कहें तो अधर्म कहते हैं। कहा नहीं था? (संवत्) १९८५ के वर्ष में, ८५ के वर्ष! ४९ वर्ष हुए। बोटाद में बड़ी सभा, बड़ी सभा, १५०० लोग। तीन सौ घर और (हम) वाँचन करने बैठें तो बहुत लोग आवे। उपाश्रय में समाये नहीं और बाहर (बैठे)। (उस समय) दो बोल कहे थे। १९८५ के पौष माह की बात है। कहा, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं। वह अधर्म (का बोल) बाद में आयेगा। क्योंकि जिस भाव से बन्धन हो, वह भाव धर्म होगा? धर्म तो अबन्धभाव से होता है। इसलिए तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव भी धर्म नहीं। और सीधी भाषा में कहें तो वह पुण्य है, अर्थात् अधर्म है। १९८५ में बोटाद, सम्प्रदाय में व्याख्यान चलता था। लोगों का झुकाव तो हमारे प्रति बहुत था न? वहाँ मुँहपत्ती थी। हजार, पन्द्रह सौ लोग। लोगों को हमारे प्रति तो बहुमान था न! प्रतिष्ठा बहुत थी न! व्याख्यान चलता हो तो बड़े पचास-पचास हजार की आमदनीवाले गृहस्थ बैठे हो! आमदनीवाले, हों! पूँजीवाले नहीं। रायचन्द गाँधी और सब बैठे हों, सब सुनें। कोई शंका (करे) नहीं। मुँहपत्ती पहनी थी न? पूरी गली भर जाये। खिड़की के पास व्याख्यान हो तो पूरी गली भर जाये। तब यह कहा था।

दो बातें की थी। सब सुने। एक हमारे गुरुभाई थे, (उन्होंने) खलबलाहट कर डाली। दो बातें की थी कि जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्धन नहीं और बन्धन के कारण से बन्धन से जो भाव हो, वह धर्म नहीं। दूसरे प्रकार से कहें, धर्म नहीं अर्थात् वह अधर्म है।

मुमुक्षु : पुण्य कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य कहो, अधर्म कहो, धर्म न कहो। अधिकार नहीं आया? पुण्य अधिकार! पुण्य को सुशील कहें तो वह पुण्य तो संसार में भटकानेवाला है। पुण्यभाव तो संसार है और उसका फल भटकने का भव है। जो संसार में प्रवेश करे, उस भाव को धर्म कैसे कहें? आहाहा! सूक्ष्म बातें, भाई! और एक बात की थी। हमारे प्रति विश्वास था न? लोगों में हमारी मान्यता, प्रतिष्ठा बहुत थी। व्याख्यान वाँचते हुए ६० वर्ष हुए। (संवत्) १९७४ से हजारों लोगों में व्याख्यान चलता है। १९७४! व्याख्यान वाँचते-वाँचते ६० वर्ष हुए। २८ (वें) वर्ष से चलता है। शरीर की उम्र २८ की, साठ वर्ष से व्याख्यान (चलता है)। (शरीर को) ८८ हुए।

तब दूसरा बोल कहा था। जो पंच महाव्रत हैं, वे आस्रव हैं। पंच महाव्रत हैं, वे आस्रव हैं, धर्म नहीं। लोग सुनते थे। एक वीसाश्रीमाली नारायण सेठ थे। संघ सेठ में। नारायण भूदर। दशाश्रीमाली रायचन्द गाँधी दोनों सेठिया बैठे थे। हमारे एक गुरुभाई थे, बुद्धि बिना के। वे सुनकर (बोलने लगे), वोसरे... वोसरे... वोसरे...। वोसरे... वोसरे अर्थात् यह श्रद्धा नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। ऐसा तो १९८५ के वर्ष से सम्प्रदाय में चलता है। आहाहा!

भाई! प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि वह शुभभाव स्वयं संसार है। समयसार नाटक में कहा नहीं? मुनि को, सच्चे सन्त को जिन्हें भावलिंग—अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की जिन्हें उग्रता आयी है, भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। जैसे शक्कर में से मिठास आवे, वैसे भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु है। उसका अनुभव होने पर भी उसकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आता है। ऐसे मुनि को भी स्वसंवेदन की प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द की दशा में भी जो पंच महाव्रत का विकल्प उठता है, वह आस्रव है, बन्ध का कारण है। आहाहा! अरे! उसे आत्मा की कीमत—महत्ता आयी नहीं। उसे राग की महत्ता है। आहाहा! दया पाली, पुण्य किया, व्रत किये, और यह किया... आहाहा!

यहाँ कहना है कि बन्ध के कारण में परद्रव्यपना नहीं। परद्रव्य का स्वामिपना बन्ध का कारण है। दोनों में कुछ अन्तर पड़ा? बड़ा अन्तर है! परवस्तु तो परवस्तु है,

वह कहीं बन्ध का कारण नहीं, वह तो ज्ञेय है। परन्तु परवस्तु और राग का स्वामित्व (अर्थात् कि) यह मेरे हैं, ऐसा स्वामित्व, वह नये कर्म का मूल कारण है। आहाहा! है न यह शब्द? यह बड़ा विवादित शब्द है। शब्द विवादित होगा? अर्थ करनेवालों में अन्तर है, इसलिए (विवादित लगता है, बाकी) शब्द तो शब्द है। है?

परद्रव्य का स्वामित्वपना है मूलकारण जिसका... ऐसी नये कर्म की सन्तति आने का यह कारण है, ऐसा कहते हैं। नये कर्म की सन्तति अर्थात् प्रवाह। नये कर्म आने का प्रवाह। उसका कारण परद्रव्य का स्वामित्व है। अपने स्वरूप का स्वामित्व छोड़कर राग और कर्म का स्वामीपना माने, उसे नये कर्म की सन्तति—प्रवाह आता है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो जो हो वह होगा, बापू! दूसरा कहाँ से लाना? आहाहा! यह तो वीतराग जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा के हुक्म हैं! आहाहा!

मुमुक्षु : एक और एक=दो जैसी बात है, फिर विवाद किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी है, बापू! बात तो ऐसी है, भाई! आहाहा! क्या हो? प्रभु! तेरे घर की बात है न! आहाहा! एक और एक = दो होते हैं। मंगलदासभाई ठीक बोले। बात तो ऐसी है, बापू! वीतराग है, वह कोई पक्ष नहीं। वीतराग ने तो जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा जाना, अनुभव किया और प्रगट केवलज्ञान हुआ, तब जैसा जाना, वैसा कहा। आहाहा!

तीन लोक के नाथ अभी विराजते हैं। अरे रे! महाविदेह में प्रभु विराजते हैं। भरतक्षेत्र में परमात्मा का विरह पड़ा। पिता मर जाये, लक्ष्मी घट जाये, फिर लड़के बाद में झगड़ा करे कि यह मकान मेरा और यह मकान मेरा। उसी प्रकार परमात्मा का विरह पड़ा, केवलज्ञान की उत्पत्ति रही नहीं—यह लक्ष्मी रही नहीं। आहाहा! और झगड़े खड़े किये। एक कहता है कि, पुण्य से धर्म होता है और एक कहता है कि इससे धर्म होता है। आहाहा! ऐसा हुआ।

इस श्लोक की तकरार वह बड़ी बात है। दूसरे सब ऐसा अर्थ करते हैं (कि) परद्रव्य भटकने में कारण है। अरे... बापू! परद्रव्य तो ज्ञेय है। वह भटकने का कारण नहीं। परद्रव्य अर्थात् राग और पुण्य-पाप के भाव का स्वामित्व—वे मेरे हैं, मैं उनका

हूँ, ऐसा जो अभिप्राय, वह नये कर्म की सन्तति अर्थात् प्रवाह आने का कारण है। आहाहा! बात तो सीधी है, परन्तु इसे (बैठनी चाहिए)।

क्या करके ? 'किल बलात् तत् समग्रं परद्रव्यं इति आलोच्य विवेच्य' आहाहा! **'किल' निश्चय से ज्ञान के बल से...** देखा? ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु! ज्ञानमूर्ति, जैसे शक्कर मिठास का पिण्ड है; काली जीरी कड़वाहट का पिण्ड है; नमक खारेपन का पिण्ड है; इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान का पिण्ड है। अकेला ज्ञानरस! ज्ञानस्वरूप! वह यहाँ कहते हैं।

ज्ञान के बल से... ज्ञानस्वरूप भगवान के श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के बल द्वारा, **द्रव्यकर्म...** अर्थात् आठ कर्म, **भावकर्म...** अर्थात् पुण्य-पाप भाव। देखो! आहाहा! है? आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। बड़ी-बड़ी लम्बी बातें करे और सत्य का कहीं ठिकाना न हो। ऐसा नहीं होता। सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा ऐसा सत्य होना चाहिए। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि उस **ज्ञान के बल से...** देखा? कर्म को कैसे टाला? और कैसे टले? कि ज्ञान के बल से। भगवान आत्मा! अनाकुल आनन्द का रसकन्द प्रभु और अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति के बल से कर्म टलते हैं और राग टलता है। आहाहा! समझ में आया? है? **ज्ञान के बल से...** अर्थात् आत्मा के स्वभाव के बल से।

द्रव्यकर्म... अर्थात् जड़ मिट्टी, कर्म। **भावकर्म...** अर्थात् पुण्य-पाप के भाव। **नोकर्म...** अर्थात् शरीर और वाणी। **'समग्रं परद्रव्यं' ऐसी है जितनी पुद्गलद्रवय की विचित्र परिणति, उसको पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर...** आहाहा! मैं तो आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ और रागादि मेरी चीज़ नहीं—ऐसे दो के बीच भेदज्ञान करके। आहाहा! ऐसा मार्ग! वे तो झपाटा बोले, दया पालो, ऐसा करो, ऐसा करो... पैसा दो, पाँच लाख इसमें, अमुक में, शिक्षा में पाँच लाख दो, एक हॉस्पीटल बनाओं तुम्हारा कल्याण होगा। यहाँ कहते हैं कि हॉस्पीटल परवस्तु है, उसे आत्मा बना नहीं सकता। उसमें दो-पाँच-दस लाख दिये हों और राग मन्द किया हो तो वह पुण्यभाव है, वह संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : पापानुबन्धी पुण्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें मिथ्यात्व है। वापस पुण्य को धर्म माने तो पापानुबन्धी है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! जन्म-मरण रहित (होना)... आहाहा! सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख में... मुक्ति अर्थात् सादि-अनन्त अनन्त... शान्ति और अनन्त... अनन्त... आनन्द की प्राप्ति (हो), उसका नाम मुक्ति। कितना काल? जब से आनन्द पूर्ण हुआ, मुक्ति (हुई), अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भूतकाल से भविष्यकाल अनन्त गुणा है। क्या कहा यह? भूतकाल जो हुआ न? जो आदि बिना का काल है। आदि है कुछ? तथापि अभी यहाँ अन्त आया न? अनादि-अन्त और मुक्ति होती है तब सादि हुई—शुरुआत (हुई, वह) अनन्त। सिद्धपरमात्मा अनन्त काल आनन्द में रहेंगे। णमो सिद्धाणं! आहाहा! अतीनिद्रय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय शान्ति! जब से आत्मा के स्वभाव से प्रगट हुई, शक्ति में थी वह प्रगट हुई, वह अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भविष्य का काल (रहेगी), जिस भूतकाल से भविष्य अनन्त काल है। अरे! दोनों समान नहीं हैं। ऐसे अनादि है, ऐसे अनन्त है। इसलिए यह भूतकाल का काल और भविष्य का काल दोनों समान नहीं है। भूतकाल के काल से भविष्य का अभी से वह अनन्त... अनन्त... अनन्त... भूत—गत अतीत काल से भविष्य का काल अनन्तगुणा है। आहाहा! अनन्त अनन्त काल में परमात्मा आनन्द का अनुभव करे, वह मोक्ष है। आहाहा! उसका कारण तो अलौकिक होना चाहिए न? समझ में आया? पुण्य के परिणाम से भी भिन्न भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप प्रभु, उस आनन्द की दृष्टि करके आनन्द में रमणता करने से मुक्ति—मोक्ष होता है। दया, दान, व्रत के परिणाम से तो बन्ध होता है। समझ में आया? है?

यह परिणति है, देखा? '**समग्रं परद्रव्यं**' परद्रव्य अर्थात्? **पुद्गलद्रव्य की विचित्र परिणति...** ऐसा अर्थ किया, देखा? क्या कहा? है परद्रव्य शब्द, परन्तु इसका अर्थ किया कि पुण्य और पाप और मिथ्यात्व की परिणति, वह परद्रव्य—ऐसा। आहाहा! समझ में आया? परद्रव्य तो वस्तु है। यहाँ तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष की परिणति को परद्रव्य कहा। आहाहा! वे सब समग्र परद्रव्य '**इति आलोच्य**' **पूर्वोक्त प्रकार से विचारकर,** '**विवेच्य**' **शुद्ध ज्ञानस्वरूप से भिन्न किया है।** आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव को अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप से भिन्न किया है जिसने, उसे आत्मा का आनन्द पूर्ण प्राप्त होता

है। अरे! ऐसी भाषा और भाव सब! मार्ग तो ऐसा है, बापू! आहाहा! वे तो णमो अरहंताणं, तिक्खुत्तो पाठ... इच्छामि पडिकमणुं, तस्सूतरि लोगस्स... सामायिक करके फिर णमोत्थुणं... यह हो गयी सामायिक, लो! महिलायें बेचारी बैठे। घड़ी लेकर बैठती हैं न? घड़ियाल लेकर बैठती है न? रेती। घड़ी नहीं आती? हमारे कणबीवाड़ में जो बहुत महिलायें थी न? वे छोटी उम्र के लड़कों को लेकर घड़ी लेकर महिलायें सामायिक करने बैठे। समझे कुछ नहीं। यह घड़ी—रेती पूरी हो जाये तो दो घड़ी सामायिक हो गयी, जाओ! आहाहा! अरे रे!

मुमुक्षु : इतना समय सांसारिक काम से तो बचे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सांसारिक काम, मिथ्यात्व है, वह सांसारिक काम उसके पास पड़ा ही है। संसार का मूल कारण तो यह कहा न इसमें? राग और द्वेष का स्वामित्व, वह संसार का मूल कारण है। वह तो पड़ा है अन्दर। आहाहा! रामजीभाई भी सामायिक करते थे। एक गायन गाते थे। भूल गये। कैसा गायन गाते थे?

मुमुक्षु : धर्म के नाम से मिथ्यात्व का पोषण होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पोषण होता है, परन्तु खबर नहीं न? क्या हो? आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं, देखो! दो बोल कहे। एक तो पुण्य और पाप के भाव, चाहे दया, दान, व्रत आदि हो, ऐसे परिणाम का स्वामित्व, मालिकपना अभिप्राय में वे मेरे हैं, यह अभिप्राय नये अनन्त कर्म को आने का कारण है। और उन कर्म को तोड़ने का कारण (क्या)? वह बाँधने का (कारण) कहा। अब तोड़ने का?

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु में अन्दर में लीन होना। आनन्द और ज्ञान है, ऐसा अन्तर में अनुभव होना और समकित होना, और फिर उसमें लीन होना, वह कर्म को टालने का उपाय है। बात तो सीधी है। समझ में आया? परमात्मा का यह सन्देश है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव भरत के प्राणी को यह सन्देश (देते) हैं। समझ में आया? इसमें दूसरी आड़ी-टेढ़ी गड़बड़ करे तो भटक मरेगा। आहाहा! अनादि से भटकता तो है। आहाहा!

एकदम जवान व्यक्ति, देखो न! आहाहा! जरा वापस दर्द उठा, दर्द हुआ वहाँ,

वहाँ तो देह छूट जाये। यह हार्टफेल (होता है न)! कुछ दर्द उठा है, कहते हैं। यह बाई की बात सुनी न? वीछियावाले नगीन के पुत्र की बहू रात्रि में पौने दो बजे उठी, लो! दर्द उठा तो कहे, मुझे दुखता है। जहाँ उल्टी हुई और ऐसे गये वहाँ उसकी सासु उसके साथ गयी। कन्धे पर सिर डाल दिया! आहाहा! देह छूट गयी, चौबीस वर्ष की उम्र! यह देह तो नाशवान, मिट्टी-धूल है। उसकी अवधि में रहेगी, अवधि पूरी होगी तो एकदम खाली हो जायेगा। भगवान तो अनादि-अनन्त अन्दर है। वह कहीं शरीर का नाश होने से साथ में नाश हो, ऐसा है? आहाहा! अरे! मनुष्यपना मिले उसमें भी धर्म-बर्म का कुछ नहीं होता, उसके वापस अवतार... आहाहा! यह ढ़ोर में, तिर्यंच में बहुत जानेवाले हैं, क्योंकि बनियों को अण्डे और माँस का खुराक तो नहीं होता; इसलिए नरक में तो न जाये। परन्तु में बीच में देव और मनुष्य होने का पुण्य भी नहीं होता। सत्समागम से दो-चार-पाँच घण्टे हमेशा वाँचन, श्रवण (होवे तो) पुण्य तो हो। वह भी न हो और अकेले बाईस-तेईस घण्टे, स्त्री-पुत्र, कमाना, दुकान में बैठना और धमाल... धमाल... अकेला पाप। अर र र!

मुमुक्षु : उसमें पैसे कमाये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे धूल भी नहीं कमाता। पैसे उसके कारण मिलते हैं? तुम्हारे से बड़े बैरिस्टर बहुत थे। गिरजाशंकर गोंडल का बैरिस्टर था। (संवत्) १९९५ की बात है। १९९५ के वर्ष, ३९ वर्ष हुए। और यह रामजीभाई तो बैरिस्टर भी नहीं थे और पैसे ढ़ेर होते थे। बैरिस्टर पढ़ने से (पैसे) होते होंगे? वह तो पूर्व के पुण्य हों (तो पैसे दिखते हैं)।

मुमुक्षु : मेहनत की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी मेहनत नहीं की। वह तो बैरिस्टर हुआ था। तुम्हारी अपेक्षा बड़ा। तुम कब बैरिस्टर थे? और वह व्यक्ति जवान। घर की रोटियाँ खाता था, कोई मुवक्किल आता नहीं। वह तो पूर्व का पुण्य हो तो मुवक्किल आवे और पैसा हो। उसमें कोई बैरिस्टरपना आया, इसलिए पैसे होते हैं, ऐसा है? आहाहा!

मुमुक्षु : कॉलेज में पास होना पड़े...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पास (होवे उसमें भी) पूर्व का पुण्य हो (तो होता है)। वह वकील नहीं था? भाई! जवेरचन्द वकील था। बहुत वकीलों को देखा है न? उसका बेचारे का कुछ चलता नहीं था, लो! वकील हुआ। और वह तुम्हारा मित्र भगवानजी वकील, बुद्धि तो सब समझने जैसी थी, तो भी लाखों रुपये पैदा किये थे। एक बार भगवानजी वकील ने प्रश्न किया। बहुत सुनने आवे। महाराज ! (तुम) आत्मा की बहुत महिमा करते हो, ऐसा... ऐसा... ऐसा... तो वह धुले हुए मूला जैसा गया कहाँ? लो, ऐसा प्रश्न किया! यह वकील! यह मूला नहीं कहते? मूला धोकर करते हैं न? (जमीन में से) निकालते हैं, तब उसमें मिट्टी होती है। मूल होता है न मूला, उसे निकाले न, तब उसमें मिट्टी होती है, परन्तु फिर पानी में धोवे। वह धोया हुआ मूला कहलाता है। उसी प्रकार तुम कहते हो, ऐसा आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप पूर्ण है तो धोया हुआ मूला जैसा गया कहाँ? क्यों दिखता नहीं? आहाहा! बापू! जहाँ है वहाँ है। वहाँ नजर करो तो दिखाई दे न? नजर राग और पर में है और अब (पूछते हो कि) गया कहाँ? इसका अर्थ क्या? नजरें ऐसे करे, समझ में आया? और अन्दर वस्तु है, वहाँ नजर करता नहीं। गया कहाँ? है, वहाँ है वह तो अन्दर। ध्रुव नित्यानन्द प्रभु है। आहाहा!

मुमुक्षु : दिखाये तो झट नजर में चढ़े। दिखता नहीं तो किस प्रकार नजर करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिखता नहीं—ऐसा निर्णय किसने किया? लॉजिक से न्याय समझोगे या नहीं? मैं दिखता नहीं। मैं दिखता नहीं—ऐसा निर्णय किसने किया? यह आत्मा है। न्याय-लॉजिक से कुछ समझेगा या नहीं? आहाहा! मुझे मेरी खबर पड़ती नहीं। परन्तु मुझे मेरी खबर पड़ती नहीं—ऐसा निर्णय किस भूमिका में किया? उस ज्ञान की भूमिका में निर्णय किया। यह ज्ञान है, वह आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, परद्रव्य की परिणति ली, भाई! परद्रव्य लिया है न? इसका अर्थ यह लिया। '**समग्र परद्रव्यं**' अर्थात् **पुद्गलद्रव्य की विचित्र परिणति,...** ऐसा लिया। राग और द्वेष, पुण्य और पाप के असंख्य प्रकार हैं, उन सब विकारी (भावों को) यहाँ परद्रव्य कहा है। उस विकार का स्वामित्व होना, वह संसार के नये कर्म बाँधने का कारण है, और आत्मा का स्वामित्व होना, वह उस बन्धन को तोड़ने का कारण है। आहाहा! ऐसा है। न्याय से तो पहले समझना पड़ेगा न?

भिन्न किया है। देखा? वह शुद्ध ज्ञानस्वरूप परिणति से रागादि को भिन्न किया है। जो स्वामिपने माना था, पुण्य के-पाप के भाव मेरे—ऐसा स्वामित्व माना था, उसे शुद्ध ज्ञान के बल से भिन्न करके। वह मैं नहीं, (ऐसा भिन्न करके)। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूप उपादेय है... देखा? यह पूरा सार लिया। त्रिकाली चैतन्य पवित्र शुद्ध है, वह आदरणीय है और पुण्य और पाप के भाव मलिन हैं, वे हेय हैं। यह सब सार है। आहाहा! शुद्धस्वरूप चैतन्यमूर्ति अन्दर भगवान ज्ञान का पिण्ड प्रभु! आहाहा! जैसे स्फटिकरत्न निर्मल है, वैसे भगवान वस्तुस्वरूप से तो निर्मल पवित्रता का पिण्ड है, वह उपादेय है, वह आदरणीय है, वह आश्रय करनेयोग्य है, वह उपादेय है अर्थात् अंगीकार करनेयोग्य है और राग के भाव, पुण्य-पाप के भाव हेय करनेयोग्य हैं, छोड़नेयोग्य है। आहाहा! बात तो सादी है, सीधी है परन्तु मिले उसे। (न) मिला तो क्या करे? उसकी पद्धति क्या है, उसकी खबर नहीं होती।

महंगा पड़ता है, लोग ऐसा कहते हैं। वह हलुवा बनाते हैं न? हलुवा। पहले घी में आटा को सेकें, फिर गुड़ और शक्कर का पानी डाले तो हलुवा होता है। महँगा पड़ता है। क्योंकि पहले आटा को घी में सेंके, (इसलिए) आटा सब घी पी जाता है, फिर गुड़ का पानी डाले तो हलुवा होता है। यह तो महँगा पड़ता है, (ऐसा समझकर) कोई चतुर की पुत्री ऐसी निकली की यह तो महँगा पड़ता है, क्या करना? कि गुड़ का, शक्कर का पानी बाद में डालते हैं न तो शक्कर के पानी में (पहले) आटा सेंको, फिर डालो घी! (ऐसा करने जायेगा तो) लूपरी भी नहीं होगी। तुझे खबर नहीं, यह लूपरी नहीं कहते? पोटीस... पोटीस नहीं होगी। पोटीस तो कब होती है? सुना हुआ है, हमने कुछ किया नहीं परन्तु दुनिया का सब सुना है। बाई बहु को कहे कि बहू जातुवळतुं घी डालना। जातुवळतुं अर्थात्? पड़े बिना रहे नहीं और अधिक पड़े नहीं। ऐसा महिलायें कहें। हमारे काठियावाड़ में यह रिवाज है। पोटीस बनानी हो तो ऐसा कहे। जातुवळतुं घी डालना ऐसा कहे। मैंने कहा, यह जातुवळतुं क्या होगा? अर्थात् घी डालने पर न पड़े, ऐसा नहीं और अधिक पड़े नहीं, उसे जातुवळतुं कहते हैं। अब जिसे घी में आटा सेंकना महंगा पड़े, वह कहे कि पहले गुड़ के पानी में आटा सेंको और फिर घी डालो। (ऐसा करेगा तो) तेरे तीनों जायेंगे, हलुवा नहीं होगा परन्तु आटा, घी और शक्कर तीनों जायेंगे।

इसी प्रकार आत्मा जैसा है, वैसा अनुभव, दृष्टि किये बिना बाद में तो फिर चारित्र आयेगा न ? परन्तु वह चारित्र कौन सा ? स्वरूप में रमणता, वह चारित्र। ऐसा कहे कि बाद में यह व्रत और तप (करने की) अपेक्षा करो पहले ! और फिर (समकित होगा)। धूल भी नहीं होगा। सुन न ! समझ में आया ? आहाहा ! यह वर्षीतप करते हैं, मंगलदासभाई ! महिलाओं ने किया होगा या नहीं कभी ? उपधान किया, ठीक। आहाहा ! वह सब लंघन है।

आत्मा अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु है, वह क्रियाकाण्ड के विकल्प से भिन्न है। उसे जानकर राग को टालना, इसका नाम भगवान धर्म कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : राग हो, तब राग टलता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग हो, तब टलता नहीं, इसका अर्थ यह है कि राग की उत्पत्ति ही नहीं होती। टालने की व्याख्या तो ऐसी ही (कहे न) ? उपदेश में क्या कहा जाये ? जहाँ आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके ऊपर एकाग्र होने से राग की जितनी उत्पत्ति न हो, उतना राग टाला, ऐसा कहा जाता है। सिद्धान्त को, न्याय को समझो। यहाँ तो लॉजिक से और न्याय से बात है।

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। उसमें जितना एकाग्र हो, उतनी राग की उत्पत्ति नहीं होती। उत्पत्ति नहीं होती, उसे टाला—ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! गजब बातें, बापू ! कहो, समझ में आया या नहीं ? कान्तिभाई ! वर्षीतप किये थे या नहीं ? तुम्हारी माँ ने (किये हैं) ? बहुत करते हैं। बापू ! यह सब लंघन है।

यह भगवान आत्मा... यह क्रियाकाण्ड का जो राग होता है, उसका स्वामित्व छोड़कर आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु शुद्ध चैतन्यघन है, उसका स्वामी हो, तब उसे कर्म टलते हैं और तब उसे पवित्रता प्रगट होती है। १७८ (कलश पूरा) हुआ।

अब अन्तिम श्लोक। बन्ध अधिकार का अब अन्तिम श्लोक। बन्ध अधिकार पूरा होता है, पश्चात् मोक्ष का अधिकार (शुरु होगा)।

कलश - १७९

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ।।१७-१७९।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'एतत् ज्ञानज्योतिः तद्वत् सन्नद्धं' [एतत् ज्ञानज्योतिः] स्वानुभवगोचर शुद्धचैतन्यवस्तु [तद्वत् सन्नद्धं] अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई कि 'यद्वत् अस्य प्रसरं अपरः कः अपि न आवृणोति' [यद्वत्] जैसे [अस्य प्रसरं] शुद्धज्ञान का लोक-अलोकसम्बन्धी सकल ज्ञेय को जानने का ऐसा प्रसार, जिसको [अपरः कः अपि] अन्य कोई दूसरा द्रव्य [न आवृणोति] नहीं रोक सकता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव का स्वभाव केवलज्ञान-केवलदर्शन है, वह ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के द्वारा आच्छादित है। ऐसा आवरण, शुद्धपरिणाम से मिटता है; वस्तुस्वरूप प्रगट होता है। ऐसा शुद्धस्वरूप, जीव को उपादेय है। कैसी है ज्ञानज्योति? 'क्षपिततिमिरं' [क्षपित] विनाश किया है [तिमिरं] ज्ञानावरण-दर्शनावरणकर्म जिसने, ऐसी है। और कैसी है? 'साधु' सर्व उपद्रवों से रहित है। और कैसी है? 'कारणानां रागादीनां उदयं दारयत्' [कारणानां] कर्मबन्ध के कारण, ऐसे जो [रागादीनां] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धपरिणाम, उनके [उदयं] प्रगटपने को [दारयत्] मूल से ही उखाड़ती हुई। कैसे उखाड़ती है? 'अदयं' निर्दयपने के समान। और क्या करके ऐसी होती है? 'कार्यं बन्धं अधुना सद्यः एव प्रणुद्य' [कार्यं] रागादि अशुद्धपरिणामों के होनेपर होता है, ऐसे [बन्धं] धाराप्रवाहरूप होनेवाले पुद्गलकर्म के बन्ध को [सद्यः एव] जिस काल में रागादि मिट गये, उसी काल में [प्रणुद्य] मेट करके। कैसा है बन्ध? 'विविधं' ज्ञानावरण-दर्शनावरण इत्यादि असंख्यात लोकमात्र है। कोई वितर्क करेगा कि ऐसा तो द्रव्यरूप विद्यमान ही था? समाधान इस प्रकार है कि (अधुना) द्रव्यरूप यद्यपि विद्यमान ही था तथापि प्रगटरूप, बन्ध को दूर करने पर हुआ।।१७-१७९।।

कलश - १७९ पर प्रवचन

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ।।१७-१७९।।

'एतत् ज्ञानज्योतिः तद्वत् सन्नद्धं' यह ज्ञानज्योति स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु... आहाहा! भगवान आत्मा अकेला प्रज्ञाब्रह्म ज्ञानस्वरूप का कन्द है, वह ज्ञानस्वरूप के अनुभव से प्रगट होता है। **स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई...** आहाहा! यह कर्म हटे और हुआ, राग किया, कुछ पुण्य-शुभभाव किये, इसलिए यह हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान अपने आत्मा के बल से, अन्तर के पुरुषार्थ से ज्ञानज्योति प्रगट हुई। आहाहा!

आत्मा चैतन्यस्वरूप अनाकुल आनन्द का रसकन्द अपने पुरुषार्थ से प्रगट (होकर)। वस्तु तो थी, परन्तु पर्याय में प्रगट हुई, अवस्था में उसका आनन्द आया। यह अन्तिम कहेंगे, अन्तिम शब्द है न? इसमें अन्तिम (शब्द) है, अन्तिम है, देखो! **द्रव्यरूप यद्यपि विद्यमान ही था, तथापि प्रगटरूप, बन्ध को दूर करने पर हुआ।** अन्तिम शब्द है। अन्तिम लाईन है, अन्तिम। यह तो सब वीतराग के घर के कायदे हैं, बापू! आहाहा! क्या कहा?

यह ज्ञानज्योति... यह... ऐसा कहा। यह... यह अर्थात् उसका अस्तित्व सिद्ध किया। यह आया, ऐसा कहते हैं न? यह आया, इसलिए वस्तु हुई न? ऐसा यह... ज्ञानज्योति! यह तो ज्ञानज्योति है। आहाहा! स्वयं ज्योति, ज्ञानमूर्ति प्रभु है। आहाहा! उसमें यह पुण्य-पाप और राग और शरीर और कर्म-फर्म उसमें है नहीं। आहाहा! ऐसी व्याख्या, इसलिए लोगों को (कठिन लगता है)।

वे कहते हैं कि तुम्हें एकान्त नहीं कहना, तुमको ऐसा कहना। जबलपुर में ऐसा व्याख्यान (हुआ)। अरे... प्रभु! परन्तु मार्ग यह है न, प्रभु! दूसरे भी कहते हैं और तुम

भी कहो, एक पाटे बैठकर सबके प्रमाण कहो। अरे... भगवान! आहाहा! भाई! कोई वैरी-शत्रु नहीं है, प्रभु! सब भगवान है। परन्तु सत्य है, वह सत्य रहेगा। सत्य को असत्य कर डालेगा तो नहीं चलेगा, भाई! भले सत्य को माननेवाले की संख्या थोड़ी हो। सत्य को संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत्य को सत्य के स्वरूप की आवश्यकता है। अधिक माने तो सत्य और थोड़े माने तो असत्य, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! जबलपुर का लेख आया था। बाबूभाई को बुलाया और नियम भी दिया कि तुम्हारे इस प्रमाण बोलना। उसको ऐसा कहते हैं कि तुम्हारे ऐसा बोलना। दोनों व्यक्ति नम्बर से मंच पर (बोलना)। एक मंच पर दोनों नम्बर से बोलें। (यह भाई) यहाँ के पक्ष का और वे सामने के पक्ष का। अरे.. भगवान! क्या करता है? बापू! पक्ष कहाँ है? भाई! यह तो मार्ग है, बापू! आहाहा!

यहाँ तो कहा न? अन्तर के ज्ञान के बल से। ऐसा कहा न? क्या कहा? देखो! कि पुण्य—दया, दान, व्रत के बल से प्रगट हुआ? आहाहा! अब, इसमें क्या करना? आहाहा!

मुमुक्षु : तुम संगठन और प्रेम चाहते हो तो थोड़ा ढीला करना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : संगठन किस प्रकार करना? वह एक हिम्मतभाई कहता था। मुम्बई पूनमचन्द है न, पूनमचन्द घासीलाल दिगम्बर घर मन्दिर है न? हिम्मतभाई लाये थे। सेठ ऐसा कहता है, यह पैसेवाले व्यक्ति, इसने मन्दिर बनाया। अब साधारण है। फिर उसने ऐसा कहलवाया कि स्वामीजी कुछ थोड़ा ढीला कहे और हम कुछ थोड़ा (बढ़े) हम दोनों इकट्ठे हों। थोड़ा ढीला रखना इसका अर्थ क्या? थोड़ा सत्य में असत्य मिलावे और तुम्हारे असत्य में मिलना, ऐसा (इसका अर्थ) होगा? यह वाणियावाड होगा?

एक बनिया था। वह किसान से पाँच हजार माँगता था। किसान सब बेचे तो भी दो हजार होते हैं। इसलिए किसान को ऐसा था कि यह दो हजार से अधिक मेरे पास है नहीं। वह कहे कि मैं पाँच हजार लूँगा। (ऐसा) करते... करते... करते... वह किसान कहे कि एक हजार के अतिरिक्त मेरे पास कुछ नहीं है। वह कहे कि मैं पाँच

हजार लूँगा। फिर पाँच सौ घटाये। तो इसने और ११०० किये, फिर उसने ३००० किये तो इसने १२०० किये, ऐसा करते-करते उसके पास मुश्किल से दो हजार थे। वह बनिया फिर दो हजार में आया। ऐसा इसमें होगा? मंगलदासभाई! वाणियावाड होगा यहाँ? आहाहा! यहाँ तो मार्ग है, वह है, बापू! खुले खजाने! यहाँ के (तत्त्वज्ञान के) बीस लाख तो पुस्तकें बाहर प्रकाशित हो गयी है। बीस लाख! आहाहा! बहुत पुस्तकें तो रामजीभाई देख ले, बाद में प्रकाशित होती हैं।

आहाहा! यहाँ कहते हैं कि ज्ञान के बल से अर्थात् आत्मबल से। पुण्य के परिणाम के बल से नहीं। भगवान आनन्दस्वरूप भगवान के बल से। है? **स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई कि जैसे शुद्ध ज्ञान का लोक अलोकसम्बन्धी सकल ज्ञेय को जानने का ऐसा प्रसार जिसको अन्य कोई दूसरा द्रव्य नहीं रोक सकता है।** चैतन्य के अन्तर बल के जोर से सम्यग्दर्शन (प्रगट) किया, अन्तर के बल से केवलज्ञान किया, अब उसे कोई रोक नहीं सकता। इस प्रकार केवलज्ञानदशा प्रगट हुई, वह आत्मा के स्वभाव के बल से हुई। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ६, शनिवार, दिनांक-३१-१२-१९७७, कलश-१७९, प्रवचन-१९०

कलशटीका, १७९ (कलश) फिर से (लेते हैं)। यह बन्ध अधिकार का अन्तिम कलश है। **'एतत् ज्ञानज्योतिः तद्वत् सन्नद्धं' 'एतत् ज्ञानज्योतिः' यह ज्ञानज्योति अर्थात् स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु...** क्या कहते हैं? इस बन्ध को टालनेवाला आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु पुण्य और पाप के भाव से रहित, ऐसा जो शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु, उसके अनुभव से कर्म का नाश होता है।

मुमुक्षु : कर्म पुद्गल और अनुभव जीव की पर्याय?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के नाश का अर्थ अशुद्ध परिणति। अशुद्ध परिणति का नाश होता है।

पहला तो शुद्ध आत्मा ज्ञान, आनन्द, चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करके अनुभव करने से मिथ्यात्व की अशुद्ध परिणति का नाश होता है। वह भावबन्ध है। बात भले कर्म से ली। चैतन्यवस्तु है, वह शुद्ध चैतन्य है। आया? देखो! **ज्ञानज्योति अर्थात् स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु...** है। क्या कहा यह?

चैतन्य जो द्रव्यस्वभाव, शुद्ध चैतन्य, वह अनुभवगम्य है। कोई दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम से वह प्राप्त हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! **यह ज्ञानज्योति...** अर्थात् **स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु...** ऐसा। ज्ञानज्योति अर्थात् यह ज्ञानस्वरूप भगवान, चैतन्यस्वरूप। अर्थात्? **स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु...** आहाहा! वह शुद्धचैतन्यवस्तु स्वअनुभव से गम्य है। उसके सन्मुख होकर निर्मल वीतरागी परिणति होती है, वह स्व-अनुभवगम्य वह वस्तु है। ऐसी बात है। बन्ध (अधिकार का) अन्तिम कलश है न?

अनन्त काल से (यह) अशुद्ध परिणति कर रहा है। वस्तु शुद्ध चैतन्यवस्तु है। वस्तु शुद्ध चैतन्यवस्तु है, परन्तु उसे भूलकर अशुद्ध मिथ्यात्व आदि के परिणाम से परिणम रहा है, हो रहा है। उसे स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु के अनुभव से उस अशुद्ध परिणति का नाश होता है। आहाहा! लो! यह सब प्रश्नों का उत्तर! आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

कर्म का बन्धन, वह तो निमित्त से व्यवहार से बात है, परन्तु वास्तव में तो उसकी अशुद्ध मलिन परिणति है, वह उसे भावबन्ध है। स्वयं ही अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर अशुद्ध परिणतिरूप दशा करता है। ...एक शब्द में तो कितना कहा! आहाहा!

ज्ञानज्योति... 'तद्वत् सन्नद्धम' यह **'तद्वत् सन्नद्धम'** अर्थात् **अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई...** आहाहा! यह आत्मा चैतन्यस्वरूप शुद्ध चैतन्य वस्तु है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव से रहित यह चीज़ है। यह चीज़ स्वयं अपने स्वानुभवगम्य हो सकती है। आहाहा! अन्तर के अनुभवगम्य वह वस्तु, शुद्ध चैतन्य को अनुसरकर होनेवाली निर्मल परिणति—पर्याय द्वारा वह गम्य है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी वस्तु है।

अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई... वापस ऐसी भाषा है। आहाहा! इस शुद्ध चैतन्यवस्तु में अनन्त बाल—वीर्य पड़ा है। उस अनन्त बल से प्रगट हुई है। कोई कर्म का नाश हुआ और अभाव हुआ, इसलिए (प्रगट) हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **अपने बल-पराक्रम के साथ....** शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा, ज्ञान का बल—पराक्रम। उस पुरुषार्थ से प्रगट हुई है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

'तद्वत् सन्नद्धम' है न? **अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई...** आहाहा! स्वानुभवगम्य तो कहा परन्तु साथ में बल—पराक्रम से प्रगट हुई, ऐसा कहा। आहाहा! भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप प्रभु, शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव पवित्र है, वह अपने बल—पराक्रम से अनुभव से प्रगट हुई। आहाहा!

तब ऐसा कहते हैं न? जिस समय पर्याय होनेवाली है, वह होनेवाली है। उसमें यह बल—पराक्रम कहाँ आया? परन्तु होनेवाली है, वह होनेवाली है, इसका निर्णय किसने किया? आत्मा के सन्मुख होकर बल—पराक्रम से निर्णय करे, तब होनेवाला वह होगा, उसका वह ज्ञाता रहता है। आहाहा! क्रमबद्ध में आना होगा और होना होगा, वैसा होगा—ऐसा कहकर पुरुषार्थ उड़ा दे (तो) ऐसा नहीं है। क्रमबद्ध में आनेवाला होगा, होगा तो ऐसा ही, परन्तु उसका निर्णय करके उसे जानता कौन है? अन्तर आनन्दस्वरूप में बल—पराक्रम से पुरुषार्थ करके स्वभाव का अनुभव करे, तब उसे

क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय होता है। आहाहा! ऐसी बातें! लोगों को मुश्किल पड़े। परिचय नहीं और बाहर की बातों में पड़े हैं।

अनन्त-अनन्त काल हुआ। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' मुनिव्रत भी धारण किया, पंच महाव्रत अनन्त बार (लिये)। क्योंकि वह तो राग की क्रिया, पुण्य की क्रिया है, वह कहीं धर्म नहीं। आहाहा! आत्मज्ञान—राग से भिन्न पड़कर, यह अन्त में कहेंगे। जो राग है, चाहे तो दया का, दान का, व्रत का, भक्ति-पूजा का यह तो राग है, उस राग से भिन्न पड़कर स्व-अनुभवगम्य अपने बल—पराक्रम से वस्तु प्रगट हुई है। वस्तु तो वस्तु थी, वस्तु तो वस्तु थी परन्तु बल—पराक्रम द्वारा पर्याय में प्रगट हुई। ऐसी वस्तु है। समझ में आया? आचार्यों के संक्षिप्त शब्दों में बहुत भरा है। है?

आहाहा! **अपने बल-पराक्रम के साथ ऐसी प्रगट हुई कि... 'यद्वत् अस्य प्रसरं अपरः कः अपि न आवृणोति' जिससे शुद्ध ज्ञान का लोक अलोकसम्बन्धी सकल ज्ञेय को जानने का ऐसा प्रसार...** यहाँ तो मोक्ष की अन्तिम बात है न? जिसके ज्ञान का स्वभाव लोकालोक को जानने का है, वह पसार होकर वह शक्ति पुरुषार्थ से प्रगट हुई है। उसे अब कोई आवरण करनेवाला नहीं है। आहाहा! एक क्षायिक समकित हो तो भी अब आवरण करनेवाला मिथ्यात्व नहीं तो क्षायिक केवलज्ञान हो उसे आवरण करनेवाला कौन होगा? आहाहा! समझ में आया? यहाँ मोक्ष अधिकार की पूर्व गाथा (कलश) है न? आहाहा! यह तो शान्ति के, धीरज के काम हैं।

अन्तर चीज़ ही शुद्ध चैतन्य आनन्दघन सच्चिदानन्द प्रभु है। आहाहा! प्रत्येक आत्मा सत् शाश्वत् चिद्—ज्ञान और आनन्द का कन्द है। आहाहा! उसे स्वभाव-सन्मुख की पराक्रमदशा द्वारा जो पर्याय में पूर्णता प्रगट हुई, लोकालोक को जानने की शक्ति (प्रगट हुई), उसे कोई आवृत कर सके, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहा न? निश्चय से आत्मा का ज्ञान होकर क्षायिक समकित हो तो मिथ्यात्व फिर से आता नहीं। श्रेणिक राजा को क्षायिक समकित हुआ। आत्मा का अनुभव, आनन्द का अनुभव (हुआ), उसमें प्रतीति (होना), उसका नाम क्षायिक समकिती है। वह क्षायिक समकित आया, वह आया, वह अब वापस गिरेगा नहीं। कोई मिथ्यात्व

फिर से आवरण नहीं करेगा। तो यह तो केवलज्ञान की ज्योति प्रगट हुई, कहते हैं। आहाहा! शुद्ध चैतन्य का अनुभव करते-करते अपने बल-पराक्रम से अन्दर में रमते हुए केवलज्ञान ज्योति प्रगट हुई। आहाहा! वह केवलज्ञान लोकालोक को जाने, उसे अब आवरण करनेवाला जगत में कोई नहीं है। आहाहा! बन्ध अधिकार की अन्तिम गाथा है न? पूर्ण बन्ध के अभाव की व्याख्या! आहाहा!

प्रथम सम्यग्दर्शन होने पर भी धर्म की—मोक्षमहल की पहली सीढ़ी! वह सम्यग्दर्शन होने पर भी क्षायिक हो। शुद्ध चैतन्यघन का अनुभव इतना बलजोरी से (हो) कि जिसमें क्षायिकदशा प्रगट हो। वह क्षायिक (सम्यग्दर्शन की) दशा भी फिर से गिरती नहीं तो केवलज्ञान की क्या बात करना? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

देखो! आचार्य तो उनकी अपनी दशा की जाति को वर्णन करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि हम भले अभी क्षायिक समकिती नहीं, परन्तु हमको जो आत्मज्ञान, अनुभव हुआ और उसमें हमको जो सम्यग्दर्शन हुआ, वह दया, दान, व्रत, भक्ति के राग के परिणाम से भिन्न पड़कर अनुभव हुआ, हमारा वह भाव अब गिरनेवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा यह? तीन प्रकार कहे।

एक तो क्षायिक समकित होने पर आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु! अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का प्रत्यक्ष स्वाद आने पर जिसे वह क्षायिक प्रतीति होती है, वह प्रतीति अब किसी से आवरण नहीं की जा सकती, तो फिर आत्मा के अनुभव के जोर—बल से पूर्ण केवलज्ञान हो, (उसे कौन आवरण कर सकता है)? कोई व्यवहार का विकल्प करने से केवल (ज्ञान) होता है, इससे इनकार किया। परन्तु अपने स्वरूप के अनुभव के बल—पराक्रम से अन्दर में रमने से लोकालोक को जानने की जो केवलज्ञान ज्योति प्रगट होती है, उसे कोई अब आवरण नहीं कर सकता। दो (बातें हुई)। तीसरा, अभी क्षयोपशम समकित है, क्षायिक नहीं, तो भी आचार्य पुकार करते हैं कि हमको जो आत्मा का अनुभव (हुआ), आगम कुशलता से हमको जो भेदज्ञान से सम्यग्दर्शन का अनुभव हुआ, वह भले क्षयोपशम हो, परन्तु वह अब हमारे गिरनेवाला नहीं। आहाहा! पंचम काल के अनुभवी सन्त! आनन्द के स्वादिया! अतीन्द्रिय आनन्द

के रसिक! पुकार (करते) हैं कि हमको अब यह जो दशा प्रगट हुई, वह दशा वापस गिरनेवाली नहीं है। आहाहा! समझ में आया? (जब) क्षायिक समकित बिना की दशा भी ऐसी है कि वापस गिरे नहीं, तो फिर केवलज्ञान हो, वह वापस गिरे, यह प्रश्न ही कहाँ रहा? आहाहा! कठिन बातें हैं, भाई!

यह कहने का आशय यह है कि कोई ऐसा मानता हो कि हम यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप और पूजा करते हैं, इससे सर्वज्ञ केवलज्ञान होता है, यह बात मिथ्या है। वह सब राग की क्रियायें तो बन्ध का कारण है। इसलिए यहाँ यह शब्द लिया कि **स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु अपने बल-पराक्रम...** अपने आनन्द के, ज्ञान के बल—पराक्रम द्वारा प्रगट हुई है। समझ में आया? आहाहा! कठिन मार्ग, भाई! जिसका फल भी अनन्त आनन्द है। आहाहा!

मोक्ष अर्थात् अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द और वह भी सादि अनन्त! अतीत काल से भविष्य काल अनन्तगुणा है। आहाहा! जिसके आत्मा के दर्शन होकर सम्यग्दर्शन अभी चौथा गुणस्थान—(मोक्षमार्ग का) पहला (गुणस्थान प्रगट हुआ), वह राग की विकल्प दशा से भिन्न पड़कर चैतन्य के स्वभाव की अन्तर एकता होकर जो सम्यग्दर्शन हुआ (तो) आचार्य कहते हैं कि, वह हमारा सम्यग्दर्शन गिरे, ऐसा नहीं है। हम भले पंचम काल में हों। आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहाहा! परन्तु यह अलौकिक बातें हैं, बापू! यह बाहर से व्रत, तप और त्याग हो जाये, इसलिए सम्यग्दर्शन होता है, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा!

अन्तर के आनन्द के पराक्रम से, अतीन्द्रिय आनन्द के पराक्रम से जो अवस्था प्रगट हुई, हमारी वह अवस्था भी वापस नहीं गिरेगी तो फिर सर्वथा पराक्रम से जिसने अन्दर में केवलज्ञान प्रगट किया, उसे आवरण करनेवाला जगत में कोई नहीं है। ऐसा कहकर यह भी कहते हैं कि... अन्यमति ऐसा कहते हैं न कि मोक्ष में जाये (फिर) भक्तों को कष्ट पड़े, वहाँ से भी फिर से ईश्वर अवतार धारण करता है। ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? दो-तीन बातें इकट्ठी डाल दी है।

केवलज्ञान वापस नहीं गिरता; क्षायिक समकित वापस नहीं गिरता, परन्तु हमारी क्षयोपशम की दशा, वह भी वापस नहीं गिरती। आहाहा! अर्थात्? कि फिर से वह

संसार धारण करे, और अवतार धारण करे, यह नहीं होता। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! भाई! आहाहा! इसका अनन्त काल भटकते-भटकते गया है। एकेन्द्रिय तिर्यंच—पशु, नारकी, निगोद (में) मिथ्यात्व के (कारण) अनन्त अवतार किये। परन्तु यह मिथ्यात्व क्या है, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि यह दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभभाव हैं, वे धर्म हैं और उनसे धर्म होता है, यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! क्योंकि यहाँ तो (कहते हैं कि) शुद्ध चैतन्य के पराक्रम से धर्म होता है, राग से नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! मार्ग तो ऐसा है। उसे कोई दूसरे प्रकार से ढीला करके दूसरा करे, ऐसा हो—ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्या तुम्हारा लड़का गया?

मुमुक्षु : नहीं गया। है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है। यहाँ आया... ठीक बहुत बार यहाँ बैठता है न, इसलिए... समझ में आया? आहाहा!

अब कोई आवरण नहीं है। **भावार्थ इस प्रकार है कि जीव का स्वभाव केवलज्ञान-दर्शन है...** आहाहा! यह भगवान आत्मा का शाश्वत् स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन है। यह पुण्य और पाप के भाव हों, वे कहीं इसका स्वभाव नहीं। आहाहा! समझ में आया? प्रभु! चैतन्यस्वरूप जो भगवान आत्मा अन्दर है, उसका स्वरूप और स्वभाव, स्व-रूप—स्व-भाव केवलज्ञान—अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन उसका स्वरूप है। उसमें पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव की गन्ध अन्दर में नहीं है। आहाहा! ऐसा वह केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप... है?

यह **जीव का स्वभाव...** भगवान आत्मा का स्वभाव... आहाहा! भगवान अर्थात् यह (निज) आत्मा, हों! भगवान अर्थात्। भगवान हो गये, वे तो हो गये। आहाहा! यह तो अन्दर भगवान जीव का स्वभाव केवल—अकेला ज्ञान और अकेला दर्शन, वह इसका स्वभाव है। आहाहा! पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शन भगवान आत्मा का अभी अनादि यह स्वभाव है। आहाहा! है?

वह ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के द्वारा आच्छादित है। यह निमित्त से कथन है।

अशुद्ध परिणति द्वारा वह ढँक गया है। मलिन परिणाम, अशुद्धता से, मिथ्यात्व की और राग-द्वेष की अशुद्ध परिणति—अवस्था से; इसका केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव होने पर भी मिथ्यात्व की परिणति की अशुद्धता के कारण वह रुक गया है। आहाहा! कर्म तो निमित्त है, वे तो जड़ हैं। 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' आहाहा! यह स्तुति में आता है। 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई' अकेली अग्नि को कोई घन नहीं मारता। परन्तु वह अग्नि लोहे में प्रवेश करेगी तो घन पड़ेंगे। इसी प्रकार भगवान आत्मा अकेला ज्ञानानन्दस्वभाव है। उसमें उसे दुःख और संसार नहीं है, परन्तु वह स्वयं राग और पुण्य-पाप विकार का सम्बन्ध करता है, वह लोहे में अग्नि प्रवेश करती है, इसलिए उसे चार गति के दुःख सहन करना पड़ते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें! क्या हो? क्या करना इसमें? ऐसी मनुष्य को सूझ नहीं पड़ती। यह करना यह—अन्दर आनन्द और ज्ञान-दर्शन स्वरूप है, उसे पकड़कर उसे अनुभव करना, यह करने का है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ के ज्ञान में से आयी हुई यह बात इस प्रमाण है, प्रभु! आहाहा! है?

ऐसा आवरण शुद्ध परिणाम से मिटता है,... देखो! इसका अर्थ यह हुआ कि, अशुद्ध परिणाम से प्रगट नहीं होता। क्या कहा यह? भले आवरण को कर्म का नाम दिया परन्तु यहाँ कहते हैं कि वह **आवरण शुद्ध परिणाम से मिटता है,...** कर्म का आवरण शुद्ध परिणाम से मिटता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अशुद्ध परिणमन से शुद्ध परिणमन प्रगट नहीं होता। आहाहा! कर्म तो जड़ हैं, बेचारे अजीब-मिट्टी हैं, उन्हें तो खबर भी नहीं। हम कर्म हैं और जड़ हैं, ऐसी तो उन्हें खबर भी नहीं। आहाहा!

यह खबर करनेवाला भगवान आत्मा स्वयं ही अपने स्वरूप से भूलकर अशुद्ध परिणमन करता है, वह अशुद्ध परिणमन ही केवलज्ञान, केवलदर्शन को रोकता है। बराबर है? कर्म रोकता है, (ऐसा) उसमें है न? आहाहा! प्रभु! कर्म तो जड़ है न! वह तो मिट्टी-धूल है, आत्मा प्रभु तो अरूपी है। उस अरूपी को कर्म स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श भी नहीं करता, प्रभु! मार्ग ऐसा है, भाई! परन्तु

यहाँ संक्षिप्त करने के लिये ऐसा कहा है कि केवलज्ञान को और केवलदर्शन को आवरण रोकता है। अर्थात् कि भाव आवरण रोकता है। अशुद्ध परिणमन, वह स्वयं करता है, वह रोकता है। उसका आरोप निमित्त में करके द्रव्य आवरण रोकता है, ऐसा कहा। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है।

मुमुक्षु : कथन दो प्रकार के हैं, मार्ग तो एक ही प्रकार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु एक ही प्रकार से है। आहाहा! उसमें आया न वापस?

ऐसा आवरण शुद्ध परिणाम से मिटता है,... इसका अर्थ क्या हुआ? कि अशुद्ध परिणाम से कर्म बँधते हैं, वह अशुद्ध परिणमन शुद्ध परिणमन से मिटता है। मिटता है, तब कर्म भी मिट जाते हैं। आहाहा! मूल अर्थ करने में पूरा अन्तर पड़ गया है। शास्त्र के जो मर्म हैं, उसके भाव के अर्थ में (फेर पड़ गया), इसलिए इतना बड़ा घोटाला उठा है कि आवरण कर्म के कारण आत्मा भटकता है, यहाँ तो (कहते हैं), 'कर्म बिचारे कौन? भूल मेरी अधिकाई' कर्म बेचारे क्या करें? वे तो जड़ हैं, मिट्टी-धूल अजीव है। जैसे यह मिट्टी है, वैसे कर्म तुच्छ (बारीक) मिट्टी है। आहाहा!

अपनी भूल अपने शुद्ध परिणमन को भूलकर और अशुद्ध परिणमन स्वयं करता है, वह शुद्ध परिणमन को रोकता है अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शनस्वभाव को रोकता है।

प्रवचनसार की १६वीं गाथा में यह आया—स्वयंभू! उसे दो प्रकार के आवरण हैं। द्रव्यघाति और भावघाति कर्म दो लिये हैं। प्रवचनसार, गाथा १६, स्वयंभू। भगवान आत्मा स्वयं केवलज्ञान, केवलदर्शन, आनन्द का कन्द है, वह स्वयं अपने से प्रगट होता है? कर्म के आवरण हटे, इसलिए प्रगट होता है—ऐसा नहीं। स्वयंभू! तब उसे कर्म है न? कर्म दो प्रकार के हैं। एक द्रव्यघाति, एक भावघाति। आहाहा! द्रव्यघाति (अर्थात्) जड़कर्म निमित्त हैं। भावघाति (अर्थात्) अपनी अशुद्ध परिणति का जोर अन्दर करता है, वह भावघाति है। समझ में आया? १६वीं गाथा में यह लिया है।

घातिकर्म दो प्रकार के हैं। एक द्रव्यघाति और एक भावघाति। यहाँ द्रव्यघाति से बात की है, परन्तु उसका भावघाति यहाँ अशुद्ध परिणमन में ले लिया कि वह अशुद्ध

परिणमन करता है, वह भावघाति कर्म है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म और ऐसी बातें! भाई! क्या हो? मार्ग तो प्रभु का ऐसा है और मार्ग तीर्थंकर के अतिरिक्त कहीं है नहीं।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ने तीन काल-तीन लोक देखे और बिना इच्छा वाणी निकली, वह चीज़ अन्यत्र कहीं नहीं, परन्तु उनके घर में जन्मे, उन्हें भी खबर नहीं। वह तो यह राग करें और राग की मन्द क्रिया दया, दान, व्रत पालन करें, यह करते-करते धर्म होगा, (ऐसा मानते हैं)। वह भावघाति है। क्या कहा? यह दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प है, वह राग है और राग है, वह भावघाति कर्म है। आहाहा! उस भावघाति कर्म को आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप का केवलज्ञान केवलदर्शन का भान करके जो परिणमन हुआ, उससे भावघाति का नाश हुआ और कर्मरूप से नाश हुआ, वह तो उसके नाश होने की योग्यता से हुआ। आहाहा! है?

(ऐसा आवरण) **शुद्ध परिणाम से मिटता है, वस्तुस्वरूप प्रगट होता है।** अनाकुल सुख का सागर आत्मा है। कल एक पत्र आया है न? कोटावाले का! कोटा का न? बहुत प्रमोद (व्यक्त किया है), भाई! कोई अशोक है। आत्मधर्म पढ़कर तो ऐसा इतना हो गया मानो... आहाहा! क्या चीज़ है यह वह! हमको इतना आनन्द आया है अभी कि क्या कहें? इस आत्मधर्म में जो बात आती है, वह पढ़कर... ऐसा करके कोटा का कोई अशोक है। कल पत्र आया है। आहाहा! अपने आत्मधर्म निकलता है न? यह आत्मधर्म की ही बातें हैं। आहाहा! बहुत प्रमोद बताया है, कल पत्र आया है।

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा... आहाहा! 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया' कर्म नहीं, कर्म नहीं, कर्म जड़ है। 'अपने को आप भूल के, हैरान हो गया।' आहाहा! भगवान आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! मृग की डूंटी— नाभि में कस्तूरी है, मृग को कस्तूरी की कीमत नहीं। आहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी है, उस मृग को उसकी कीमत नहीं। उसी प्रकार भगवान आत्मा में अन्तर अनन्त आनन्द और ज्ञान, मृग जैसे अज्ञानी को उसकी खबर नहीं। आहाहा! मेरा नाथ आनन्द से भरपूर है, मुझे आनन्द के लिये बाहर शोधने की आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

एक लड़की कल-परसों के दिन बोली थी। नरेन्द्र की छोटी लड़की पाँच वर्ष की है न? वह परसों के दिन बोली थी। 'द्रव्य उसे कहते हैं कि जिसके कार्य के लिये

अन्य सहायता की आवश्यकता न पड़े।' ओय! वह लड़की (बोली) थी। यहाँ अपने धनपाल का भाई है न? उनकी छोटी लड़की है। वाह...! आत्मा है न? भाषा तो आवे। आहाहा!

द्रव्य उसे कहते हैं... यह बहिन के वचन हैं—चम्पाबेन के। द्रव्य उसे कहते हैं, जिसके कार्य के लिये अन्य साधन की राह देखनी न पड़े। आहाहा! भाई ने माँग की है, नहीं? घाटकोपरवाले ने। भाई के पास कितने ही चौके हैं, हसमुखभाई वह उसे दे। हसमुखभाई! उसने माँग की है। हमारे चौके बनाने हैं। तुम्हारे थोड़े वहाँ देना। कल पत्र आया है कि बहिन के (वचनामृत के) चौके बनाना है। हमारे यहाँ बनाना है।

एक व्यक्ति का तो ऐसा पत्र आया है, मलकापुर का है, नाथू शाह, उसका पुत्र अशोक खण्डवा रहता है न? उसका पत्र ऐसा आया है कि बहिन के वचनामृतों के कलेण्डर बनाओ और कलेण्डर घर-घर भेजो। ऐई! हिम्मतभाई! यह वचनामृत क्या है वह यह!! आहाहा! कल आया था। बहुत होशियार है, छोटी उम्र का जवान है। नाथू शाह का नहीं, अशोक? तुम्हारे यहाँ रहता है मलकापुर, उसने ऐसा लिखा है कि बहिन के वचनामृतों के कलेण्डर बनाकर घर-घर में कलेण्डर भेजो। हर रोज उन्हें ख्याल में तो रहे। ऐसा लिखा है, लो! ऐ..ई..! स्वयं बहिन का बहुत उपकार माना है, बापू! क्या चीज़ है? भाई! अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द!

सम्यग्दृष्टि होने पर धर्म की—मोक्षमहल की पहली सीढ़ी (प्रगट होती है)। छहढाला में आता है। सम्यग्दर्शन होने पर, आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द जो भरचक भरा है, उसका उसे स्वाद आता है। आहाहा! तब तो उसे अभी चौथे गुणस्थानवाला समकिती कहा जाता है। पाँचवेंवाला रावक वह तो और कहीं अलग चीज़ है, बापू! उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद विशेष आवे और मुनि है, उन्हें तो अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! कहो, शान्तिभाई! तुम्हारे जवाहरात में धूल में कहीं आनन्द नहीं। दस लाख और बीस लाख और पचास लाख पैदा किये और धूल किये... आहाहा! ममता है, वहाँ तो दुःख है।

यहाँ कहते हैं, अपने भगवान आत्मा... आहाहा! शुद्ध परिणाम से वस्तुस्वरूप प्रगट होता है। देखा! क्या कहा? आहाहा! यह शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु, पवित्र आनन्द का

धाम, अनन्त गुण का धाम प्रभु का शुद्ध परिणमन अर्थात् दशा में शुद्धता की दशा करना, उससे वह वस्तु प्रगट होती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म पड़े, (परन्तु) क्या हो? बापू! लोगों को बाहर के क्रियाकाण्ड में लगा दिया है और उसमें से धर्म मनाया है। प्ररूपणा भी ऐसी करे कि यह व्रत, तप, भक्ति और पूजा करो, (यह) करते-करते कल्याण हो जायेगा। अरे रे! यह प्ररूपणा ही मिथ्यात्व है। यहाँ कहते हैं, उसके शुद्ध परिणमन से वह वस्तु प्रगट होती है। समझ में आया?

भगवान अमृतचन्द्राचार्य मुनि दिगम्बर सन्त... मूल श्लोक कुन्दकुन्दाचार्य के हैं। (परमागममन्दिर में) बीच में विराजते हैं। इस ओर अमृतचन्द्राचार्यदेव (विराजते हैं)। यह इनके श्लोक हैं। दिगम्बर सन्त वन में आनन्द में रहते थे। अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते थे। आहाहा!

मुमुक्षु : सर्दी नहीं लगती?

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्दी-फर्दी कहाँ थी? जिन्हें राग स्पर्श नहीं करता, उन्हें सर्दी कहाँ स्पर्श करती है? भाई! आहाहा! प्रभु! मार्ग अलग, नाथ! आहाहा! आहाहा! मुनि तो जंगल में आनन्द—अतीन्द्रिय आनन्द में मौज करते! अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में रसीले में स्थित हैं। आहाहा! उन्हें परीषह और उपसर्ग कहाँ है! उनका ज्ञान करने पर भी खबर भी नहीं कि यह क्या है? आहाहा! यह मुनि—यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव; यह अमृतचन्द्राचार्यदेव; यह पद्मप्रभमलधारिदेव, नियमसार की (टीका के) कर्ता, जिनके मुख में से परमागम झरता है! आहाहा! जिनके मुख में से परम-आगम झरे, ऐसा स्वयं ने लिखा है। परमपारिणामिकभाव को उन्होंने मथा है! परमपारिणामिकभाव अर्थात्? त्रिकाली स्वभाव जो अनन्त आनन्द और ज्ञान, दर्शन त्रिकाली ध्रुव, उसे परमपारिणामिक कहते हैं। आहाहा! भेदज्ञानी को जो समकित हो, उसे धर्म की पहली दशा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, (ऐसा आवरण) **शुद्धपरिणाम से मिटता है,...** यह तो नास्ति से बात की। **वस्तुस्वरूप प्रगट होता है।** यह अस्ति से (बात) की। क्या कहा यह? आहाहा! यह शुद्ध-शुद्ध चैतन्य प्रभु! पुण्य और पाप के भाव तो अशुद्ध हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के जो शुभभाव हैं, वे अशुद्ध हैं, वह मैल हैं, भाई! तुझे खबर नहीं, प्रभु!

आहाहा! उनसे रहित अन्दर शुद्धस्वरूप है, उसकी सन्मुखता के परिणाम हों, उस शुद्ध परिणमन से (कर्मबन्ध मिटता है)। शुद्ध परिणाम कहा न? (शुद्ध) परिणाम से अशुद्धता मिटती है। अर्थात् कर्म मिटते हैं अर्थात् अशुद्ध भावकर्म मिटते हैं और **वस्तुस्वरूप प्रगट होता है।** अस्ति-नास्ति की। आहाहा!

वस्तु अन्दर प्रभु चैतन्य भगवन्त जिनस्वरूप विराजता है। उस जिनस्वरूप का अनुभव करने से अशुद्ध परिणाम और कर्म मिटते हैं और शुद्ध वस्तु प्रगट होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : सन्मुख होने के लिये क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अन्दर में जाना, वह (करना है)। आहाहा! जहाँ है, वहाँ जाना, यह करना। जहाँ ध्रुवस्वरूप भगवान अन्दर विराजता है, (वहाँ जाना)। यह तो कहा नहीं था? 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, परन्तु मतमदिरा के पान सों, मतवाला समझे न' 'घट घट अन्तर जिन बसे' यह बनारसीदास का (बनाया हुआ पद है)। इस घट में जिन बसता है, प्रभु वह जिनस्वरूपी है। वह जिनस्वरूप है तो प्रगट होकर पर्याय में जिनस्वरूप आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : घट घट में बसता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : घट घट अन्तर, यह सब देह के घट में अन्दर जिनस्वरूप परमात्मा विराजता है। यह आत्मा परमात्मस्वरूप है। अरे! इसे कैसे जँचे? भाई! दो बीड़ी पीवे तो पाखाने में दस्त उतरे! ऐसे तो अपलक्षण! उसे ऐसा कहना... आहाहा! भगवान! तू जिनस्वरूपी है, नाथ! अरे रे! यदि जिनस्वरूप न हो तो पर्याय में जिन-वीतरागता आयेगी कहाँ से? कहीं बाहर से आवे ऐसा है? आहाहा!

'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' जैनपना कहाँ रहता है? (ऐसा) कहते हैं। कोई शरीर की क्रिया में, कोई व्रत के परिणाम में जैनपना नहीं है। आहाहा! उस जिनस्वरूप को राग से भिन्न पड़कर अनुभव करे, उसे जैन कहा जाता है। आहाहा! फिर भले वह हरिजन हो, परन्तु जिसने राग से भिन्न पड़कर चैतन्य को अनुभव किया, वह जैन है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश! यह क्या है? ऐसा मार्ग है, बापू!

दो बातें कीं। **ऐसा आवरण शुद्धपरिणाम से मिटता है, वस्तुस्वरूप प्रगट होता है। ऐसा शुद्धस्वरूप जीव को उपादेय है।** देखा? आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ भगवान है, वह आत्मा को आदरणीय है। ज्ञानी को भी व्यवहार बीच में आता अवश्य है, परन्तु वह उपादेय नहीं, हेय है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को—ज्ञानी को, अरे! मुनि को भी पंच महाव्रत के विकल्प आवें, परन्तु वे हेय हैं। वे उपादेय नहीं, आदरणीय नहीं। आहाहा!

उपादेय अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! उसे उपादेय करने से पर्याय में शुद्ध परिणति प्रगट होती है, वह उपादेय है। आहाहा! ऐसा मार्ग! लोगों को एकान्त लगता है। एकान्त है... एकान्त है... ऐसा कहते हैं या नहीं? सोनगढ़ में एकान्त है। प्रभु! सुन, भाई!

मुमुक्षु : व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा आप कहते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार से निश्चय होता नहीं तो कहाँ से कहें? व्यवहार है, निश्चय है। स्वभाव के आश्रय से होता है और व्यवहार के आश्रय से नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है। निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है, यह एकान्त है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया?

ऐसा शुद्धस्वरूप उपादेय है। आहाहा! त्रिकाली शुद्धस्वरूप, वह उपादेय है और पुण्य-पाप के विकार बिना की शुद्धस्वरूप की सम्यग्दर्शन, ज्ञान की निर्मल परिणति होती है, वह भी प्रगट करने की अपेक्षा से उपादेय है। आहाहा! ऐसी बातें! आहाहा!

कैसी है ज्ञानज्योति? 'क्षपिततिमिरं' विनाश किया है, ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्म जिसने... आहाहा! '**तिमिर**' का अर्थ आवरण किया। भावआवरण है न? यह अशुद्धता का परिणमन है, वह भावआवरण है। ज्ञानज्योति ने अन्दर में एकाग्र होकर, उसका नाश किया है। आहाहा! ज्ञानज्योति चैतन्य जलहल ज्योति प्रभु विराजता है, उसने पर्याय में जलहल ज्योति प्रगट करके अशुद्धता के आवरण का उसने नाश किया है। आहाहा!

और कैसी है? ज्ञानज्योति! ज्ञानज्योति! आहाहा! जैसे अग्नि की ज्वाला दीमक को जलाकर राख करे... आहाहा! उसी प्रकार चैतन्यज्योति अज्ञान और राग-द्वेष का नाश करे, ऐसी उसमें सामर्थ्य है। आहाहा! समझ में आया? ज्ञानज्योति कहा है न?

'स्वयं ज्योति सुखधाम' श्रीमद् में आता है न? स्वयं ज्योति! उसका कोई ईश्वर-फिश्वर कर्ता नहीं। आहाहा! वह तो स्वयं ज्योति चैतन्य है। ऐसी स्वयं ज्योति चैतन्य कैसी है?

सर्व उपद्रवों से रहित है। '**साधु**' '**साधु**' ऐसा शब्द प्रयोग किया है। '**साधु**' का अर्थ भला होता है, भला! कैसी है ज्ञानज्योति? भली है। अर्थात्? प्रतिकूल उपद्रव से रहित है। आहाहा! जहाँ चैतन्यज्योति प्रगट हुई, केवलज्ञान और आनन्द... आहाहा! शक्तिरूप से था, वह व्यक्तरूप हुआ, वह ज्योति उपद्रव से रहित ज्योति है। उसे अब कोई उपद्रव नहीं रहा। आहाहा!

सर्व उपद्रवों से रहित है। आहाहा! ऐसी ज्ञानज्योति प्रभु; जैसे छोटी पीपर चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है तो प्रगट होती है। अब चौंसठ पहरी प्रगट हुई, उसकी अब त्रेस्ठ पहरी हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! छोटी पीपर, यह छोटी पीपर। चौंसठ पहरी अर्थात् रुपया-रुपया—सोलह आना—चौंसठ पैसा। अन्दर चरपराहट भरी है। हिन्दी भाषा में उसे चरपराई कहते हैं। पूर्ण चरपराई पड़ी है, वह घिसकर बाहर आवे, वह चौंसठ पहरी अब त्रेसठ पहरी नहीं होती। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा चौंसठ अर्थात् रुपया-रुपया जो ज्ञान, आनन्द से परिपूर्ण अन्दर भरा है, उसके शुद्ध परिणमन से अशुद्धता गई और शुद्ध परिणमन हुआ, उसे अब कोई उपद्रव नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें सूक्ष्म पड़े, क्या हो? मार्ग बापू! ऐसा है। कठिन लगे, प्रभु! वस्तु तो ऐसी है। ऐसा करने से ही छुटकारा है, बापू! आहाहा! बाहर में फांफां मारकर मर जायेगा तो हाथ नहीं आयेगा। आहाहा! यह व्रत किये और तपस्यायें कीं और अपवास किये और पूजायें की और लाखों-करोड़ों रुपये दान में खर्च किये; इसलिए कुछ धर्म होगा, (ऐसा नहीं है)। बापू! धर्म तो अलग चीज़ है, बापू! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने तो वीतरागभाव में धर्म बताया है। आहाहा! स्वयं वीतराग हुए, वीतराग जिनस्वरूप था, (उसमें से हुए)। क्या कहा यह? आत्मा का वीतराग जिनस्वरूप था, वह पर्याय में जिनस्वरूप वीतराग हुए, उन्होंने उपदेश में वीतरागभाव प्रगट करके वीतरागता करना, इसका उपदेश दिया। इसलिए प्रथम सम्यग्दर्शन भी वीतरागी पर्याय है। जिनस्वरूप त्रिकाली है, उसका अनुभव होकर प्रतीति—सम्यग्दर्शन करना, वह भी वीतरागी पर्याय

है। वस्तु जिनस्वरूप, उसका मार्ग जिनस्वरूप उसका फल पूर्ण जिनस्वरूप। आहाहा! ऐसा है।

और कैसी है? 'कारणानां रागादीनां उदयं दारयत्' देखा? भाषा कैसी आयी! **कर्मबन्ध के कारण ऐसे जो राग-द्वेष...** देखा? पुण्य और पाप के भाव, राग-द्वेष भाव... आहाहा! **मोहरूप अशुद्ध परिणाम...** आहाहा! है? **उनके प्रगटपने को मूल से ही उखाड़ती हुई।** आहाहा! देखा? मूल से कहा, देखा? **'दारयत्'** है न? विदारता है, विदार डालता है। शुद्ध परिणति द्वारा अशुद्ध परिणति विदार अर्थात् नष्ट हो जाती है। आहाहा! जैसे करवत द्वारा लकड़ी के दो टुकड़े हो जाते हैं; उसी प्रकार राग और भगवान आत्मा के भेदज्ञान द्वारा दोनों पृथक् पड़ जाते हैं। आहाहा!

मूल से ही उखाड़ती हुई। कैसे उखाड़ती है? 'अदयं' भाषा प्रयोग की है! निर्दयरूप से! निर्दयरूप से! आहाहा! निर्दयरूप से विदारण करता है। जरा भी दया नहीं रखता कि इस राग का अनादि सम्बन्ध है तो कैसे तोड़ूँ? आहाहा! परमात्मप्रकाश में कहा है। राग, वह अनादि का बाँधव था न? बन्धु को मारनेवाला तू है। अनादि का सम्बन्ध है। राग... राग... राग... राग... राग... राग... राग... वह तो भाईबन्ध था, बन्धु था। धर्मी उस बन्धु को छेद डालता है। आहाहा! समझ में आया?

निर्दयपने के समान। आहाहा! निर्दयरूप से अर्थात् जरा भी अंश न रहे। चीर डाले! आहाहा! छोटे में छोटा राग का अंश है और प्रभु भिन्न है, ऐसे दो को भिन्न कर डालता है। भेदज्ञानज्योति उन दोनों को भिन्न कर डालती है। आहाहा! एक ओर प्रभु चैतन्य तथा एक ओर राग का अंश। अन्दर भेदज्ञानज्योति उन दोनों को भिन्न कर डालती है। आहाहा! किसकी भाँति? करवत की भाँति। यह विशेष लेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ६, रविवार, दिनांक-०१-०१-१९७८, कलश-१७९-१८०, प्रवचन-१९१

कलशटीका १७९ (कलश का) अन्तिम थोड़ा अधिकार है। '**कार्यं बन्धं अधुना सद्यः एव प्रणुद्य**' है अन्तिम? (ऊपर से) तीसरी लाईन। क्या कहते हैं?

रागादि अशुद्ध परिणामों के होने पर होता है... आत्मा में राग, द्वेष और मिथ्यात्व होने पर नये कर्म क्षण-क्षण में आते हैं। उन्हें रोकने के लिये... है न? **धाराप्रवाहरूप होनेवाले पुद्गलकर्म के बन्ध को... 'सद्यः एव' जिस काल में रागादि मिट गये, उसी काल में मेट करके।** क्या कहा? आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आश्रय लेकर जिस काल में रागादि मिटे, उस काल में कर्म भी मिट जाते हैं।

जिस समय में आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान, शुद्ध चैतन्य नित्य ध्रुव, उस ध्रुव का आश्रय करने से प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तब मिथ्यात्व (भाव) टलता है, तब मिथ्यात्व कर्म भी टलता है। विशेष शुद्ध चैतन्य ज्ञायक ध्रुव का विशेष आश्रय लेने से चारित्र होता है, आनन्द की दशा बढ़ती है, तथा वह राग की—दुःख की दशा घटती है, तथा कर्म का आना भी रुक जाता है। समझ में आया?

जिस काल में रागादि मिट गये, उसी काल में मेट करके। आहाहा! चैतन्य भगवान जिनस्वरूप है। आत्मा का स्वरूप जिनस्वरूप है, उसका आश्रय लेने से जितने अंश में वीतरागता प्रगट होती है, उतने अंश में अन्दर राग की अशुद्धता का नाश होता है। आहाहा! अन्तिम है न? अन्तिम कलश है। और पूर्ण आश्रय लेने से वीतरागता पूर्ण होने पर पूर्ण राग-द्वेष का नाश होता है, इसलिए नये कर्म का भी आना नहीं होता।

कैसा है बन्ध? ज्ञानावरण, दर्शनावरण इत्यादि असंख्यात लोकमात्र है। आठ कर्म हैं न? यह असंख्यात लोकमात्र कर्म के रजकणों की, स्कन्ध की स्थिति है। वे कर्म रुक जाते हैं, ऐसा कहना है। भगवान आनन्दस्वरूप आत्मा का अवलम्बन लेकर जो आनन्द प्रगट होता है, उसी काल में उसके विरुद्ध के राग का नाश होता है और उसी काल में कर्म के निमित्त का भी अभाव होता है।

कैसा है बन्ध? ज्ञानावरण, दर्शनावरण इत्यादि असंख्यात लोकमात्र है। कोई

वितर्क करेगा... अन्तिम सार कहते हैं। **कि ऐसा तो द्रव्यरूप विद्यमान ही था?** क्या कहते हैं? वस्तु तो इस प्रकार से विद्यमान ही थी। मुक्त हो, मुक्त होता है, ऐसा तुम कहते हो परन्तु वस्तु तो मुक्तस्वरूप ही थी। क्या कहा? शिष्य का यह प्रश्न है कि यह आत्मा है, वह तो द्रव्य-वस्तु प्रगट, त्रिकाल प्रगट ही है, शुद्ध ही है। उसमें प्रगटेगी, ऐसा जो आपने कहा, वह क्या? वस्तु तो अन्दर प्रगट है। चैतन्य आनन्द, ज्ञानादि गुणों का पिण्ड तो प्रगट है। है?

ऐसा तो द्रव्यरूप विद्यमान ही था। उसमें तुमने कहा कि प्रगट हुआ—यह क्या कहते हो? है तो वह चीज़ अनादि नित्यानन्द प्रभु है। सच्चिदानन्द प्रभु, जिनस्वरूपी द्रव्य तो त्रिकाल है। उसमें तुमने कहा कि वह प्रगट हुआ, वह क्या प्रगट हुआ? प्रगट तो है।

समाधान इस प्रकार है कि द्रव्यरूप यद्यपि विद्यमान ही था... वस्तुरूप से तो भगवान वीतराग और परमानन्दस्वभावरूप थी, चीज़ तो थी ही। है? **तथापि प्रगटरूप, बन्ध को दूर करने पर हुआ।** आहाहा! शक्तिरूप से स्वभावरूप से तो प्रगट द्रव्य शुद्ध चैतन्यघन है, परन्तु उसका अनुभव करने से, ऐसा कहते हैं। है न? **तथापि प्रगटरूप, बन्ध को दूर करने पर...** रागादि के बन्ध का नाश करने से पर्याय में प्रगटरूप से द्रव्य का स्वभाव पूर्ण प्रगट होता है। क्या कहा, समझ में आया?

बन्ध का अन्तिम योगफल किया कि वस्तु तो अन्दर थी, चिद्घन, आनन्दकन्द, जिनस्वरूपी पूर्णानन्दस्वरूप ही है वह तो, प्रगट ही है, सत्रूप से तो है। क्या प्रगट हुआ? तो कहते हैं कि बन्ध का नाश होने से पर्याय में जैसा द्रव्यस्वभाव था, ऐसा प्रगट हुआ। समझ में आया इसमें? बहुत संक्षिप्त भाषा!

वस्तु तो जिनस्वरूपी वीतरागस्वरूप ही आत्मा त्रिकाल है। तब अब प्रगट क्या हुआ? कि रागादि के सम्बन्ध के बन्ध को छेदकर जैसा उसका द्रव्यस्वरूप है, वैसा पर्याय में प्रगट हुआ। बन्ध दूर करके अबन्ध परिणाम प्रगट हुए। अबन्धस्वरूप तो था। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप तो त्रिकाल अबन्ध ही है, परन्तु पर्याय में जो राग और द्वेष विकार का सम्बन्धरूपी बन्ध (था), उसे दूर करके, जैसा

द्रव्य शुद्ध है, वैसा पर्याय में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त ईश्वरता प्रगट होने से कर्म दूर हुए तो वह पर्याय में प्रगट हुआ। समझ में आया इसमें? आहाहा!

आत्मा शक्तिरूप से तो स्वयं परमात्मा है ही। शक्तिरूप उसका स्वभाव तो परमात्मरूप ही है। अनन्त चतुष्टय—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य आदि पूर्ण शक्ति का भण्डार तो द्रव्यस्वभाव है ही। तब प्रगट क्या हुआ? द्रव्यस्वभाव तो है, परन्तु पर्याय में उस द्रव्य का आश्रय करके पूर्ण आनन्द आदि प्रगट हुए, तब बन्ध दूर हुआ। बन्ध दूर हुआ, तब पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ। पूर्ण आनन्द था, शक्तिरूप से आनन्द था, वह बन्ध को दूर करके व्यक्तरूप से परमानन्द प्रगट हुआ। समझ में आया इसमें? ऐसी व्याख्या है। बहुत संक्षिप्त कर दिया।

अन्दर भगवान आत्मा जिनस्वरूपी ही प्रभु तो अनादि है। द्रव्यस्वभाव तो जिनस्वरूपी वीतरागमूर्ति अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य का पिण्ड प्रभु द्रव्यस्वरूप तो अनादि है, परन्तु पर्याय में जो कर्म के निमित्त का सम्बन्ध था, उस पर्याय को द्रव्य की ओर उन्मुख करके, द्रव्य में जो पूर्णानन्ददशा प्रगट हुई, वह बन्ध टलने से अबन्ध परिणाम हुए, वह प्रगट हुआ। समझ में आया? ऐसा उपदेश लो, अब! एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीन्द्रिया करते हों... मिच्छामि दुक्कडम् (करे), उसमें यह कहाँ समझे?

यहाँ तो बहुत ही संक्षिप्त करके एकदम.... वस्तु मुक्तस्वरूप तो है, प्रगट है, व्यक्त है, अस्ति है, मौजूद चीज़ तो पड़ी है। अब तब तुमने कहा उसमें प्रगट क्या हुआ? भाई! मौजूद तो है, परन्तु पर्याय में राग, द्वेष और अज्ञान थे। उस पर्याय में राग, द्वेष और अज्ञान थे। उन राग, द्वेष और अज्ञान को टालकर पर्याय में वीतराग और केवलज्ञान प्रगट हुआ है। समझ में आया? आहाहा!

भाव आया नहीं था? भावनिक्षेप। भावनिक्षेप आया था न? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। वह वस्तु तो वस्तुरूप से है, वह वस्तु भाव में उल्लसित हुई। पर्याय में उल्लसित हुई। आहाहा! जो शक्तिरूप और स्वभावरूप तो है, द्रव्यस्वरूप से तो है, परन्तु उसका आश्रय करके पर्यायरूप से पूरा भाव उल्लसित प्रगट हुआ। इसका नाम मोक्ष और

इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! जितने प्रकार से बाहर उल्लसित होकर भाव आया, उतने प्रकार से राग के बन्ध के सम्बन्ध का अभाव किया और अबन्ध परिणाम को प्रगट किया। आहाहा! ऐसी बात है। अन्तिम यह बात की, देखा न?

'**अधुना**' (अर्थात्) अब, ऐसा। है तो है, परन्तु वह तो शक्तिरूप है, स्वभावरूप है, वस्तुरूप है, परन्तु है उसे पर्याय में किस प्रकार लाना? आहाहा! वस्तुरूप से प्रगट है। उसे पर्यायरूप से प्रगट किस प्रकार से लाना? वस्तुरूप से है, उसका जितना आश्रय लिया, उतना पर्याय में उल्लसित होकर भाव प्रगट हुआ और उतने प्रमाण में राग का सम्बन्ध और बन्ध टूट गया। पूर्ण आश्रय जहाँ किया तो पूर्ण वस्तु है, (उसका) पूर्ण आश्रय किया तो पूर्ण पर्याय प्रगट हुई और बन्ध का अभाव हुआ। आहाहा! समझ में आया इसमें? बहुत संक्षिप्त!

'**अधुना**' '**अधु**' अर्थात् अब, ऐसा। तथापि '**अधु**' का अर्थ तो किया तो भी। वस्तु तो वस्तु है, भगवान (आत्मा) अनादि ज्ञायकभाव, परन्तु उसका अवलम्बन लेकर पर्याय में उस वस्तु का जैसा स्वभाव था, वैसा पर्याय में पूर्ण प्रगट हुआ। उस समय पूर्ण रागादि का सम्बन्ध छूट गया। बन्ध का अभाव और अबन्ध के परिणाम की पूर्णता। अबन्धस्वभाव, अबन्धस्वभाव के आश्रय से अबन्ध परिणाम का प्रगट होना और उसे कर्म के सम्बन्ध के बन्ध का अभाव होना, एक समय में है।

मुमुक्षु : पूरा समुद्र उछला!

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा समुद्र उछला!!

मुमुक्षु : पूरा द्रव्य पर्याय में आ गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य की शक्ति है, वह पर्याय में आयी, प्रगट हुई। अन्दर पूर्ण ज्ञान है तो पूर्ण ज्ञान पर्याय में प्रगट हुआ। अनन्त आनन्द है तो पर्याय में अनन्त प्रगट हुआ। वहाँ तो वापस है, ऐसा है। वहाँ अन्दर तो है वैसा है। अनन्त आनन्द प्रगट हुआ तो भी वह वस्तु तो अनन्त आनन्दस्वरूप है, वह है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं।

जैसा द्रव्य का शक्तिरूप, स्वभावरूप सत् है, द्रव्य सत् है, उसका जितना पूर्ण

सत्त्व है, उसका पूर्ण आश्रय लेने से पर्याय में सत् के सत्त्व की पूर्ण दशा प्रगट होती है, और वह प्रगट होने पर बन्ध का अभाव होता है। कहो, समझ में आया? आहाहा! कितना पुरुषार्थ है! ऐसा कहते हैं। शक्ति में से व्यक्तता प्रगट करना, (वह पुरुषार्थ माँगती है)। शक्ति—सामर्थ्य है सही, परन्तु उसे पर्याय में प्रगट करना, (उसमें) अनन्त पुरुषार्थ है। आहाहा! जहाँ पूर्ण है, वहाँ पर्याय को झुकाकर पर्याय में पूर्ण दशा प्रगट करना, उस समय पूर्ण बन्ध का अभाव है। यह बन्ध का अधिकार यहाँ पूरा किया। आहाहा! समझ में आया?

दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द प्रगट होता है, वह कोई बाहर से नहीं आता। आहाहा! मोक्षदशा जो प्रगट होती है, वह दशा कहीं बाहर से नहीं आती। वह मोक्षस्वरूप ही है। त्रिकाल मोक्षस्वरूप है, अबन्धस्वरूप है, मोक्षस्वरूप है। उसे पर्याय में जो राग के बन्ध का सम्बन्ध था, वह त्रिकाली अबन्धस्वभाव—मुक्तस्वभाव का आश्रय लेकर—अवलम्बन लेकर पर्याय में जो मुक्तदशा प्रगट हुई, तब बन्धदशा का अभाव हुआ। आहाहा! समझ में आया?

उपयोग सूक्ष्म होकर अन्दर एकाग्र हो, तो शक्ति में से व्यक्तता प्रगट होती है। स्थूल उपयोग वहाँ काम करता ही नहीं। स्थूल उपयोग तो राग में जुड़ता है। सूक्ष्म उपयोग होकर जहाँ पूर्ण स्वरूप है, वहाँ जाकर शक्ति में से व्यक्तता पूर्ण हो, उसे मुक्त कहा जाता है, उसे बन्ध का सर्वथा अभाव कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह अधिकार यहाँ पूरा किया। बन्ध का अभाव (हुआ) और मुक्ति की पर्याय (प्रगट हुई)। मुक्तस्वरूप है, वैसी मुक्तपर्याय (प्रगट हुई)। ऐसा कहकर अधिकार पूरा किया। आहाहा!

मोक्ष अधिकार! कलश-१८०।

९
मोक्ष अधिकार

कलश - १७९

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते।।१-१८०।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'इदानीं पूर्णं ज्ञानं विजयते' [इदानीं] यहाँ से लेकर [पूर्णं ज्ञानं] समस्त आवरण का विनाश होनेपर होता है जो शुद्धवस्तु का प्रकाश, वह [विजयते] आगामी कालपर्यन्त उसीरूप रहता है; अन्यथा नहीं होता। कैसा है शुद्धज्ञान? 'कृतसकलकृत्यं' [कृत] किया है [सकलकृत्यं] करनेयोग्य समस्त कर्म का विनाश जिसने, ऐसा है। और कैसा है? 'उन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं' [उन्मज्जत्] अनादि काल से गया था, सो प्रगट हुआ है, ऐसा जो [सहजपरमानन्द] द्रव्य के स्वभावरूप से परिणमनेवाला अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय सुख, उससे [सरसं] संयुक्त है। भावार्थ इस प्रकार है कि मोक्ष का फल, अतीन्द्रिय सुख है। क्या करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है? 'पुरुषं साक्षात् मोक्षं नयत्' [पुरुषं] जीवद्रव्य को [साक्षात् मोक्षं] सकल कर्म का विनाश होनेपर, शुद्धत्व अवस्था के प्रगटपनेरूप [नयत्] परिणमाता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि यहाँ से आरम्भकर सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया जाता है। और कैसा है? 'परं' उत्कृष्ट है। और कैसा है? 'उपलम्भैकनियतं' एक निश्चय स्वभाव को प्राप्त है। क्या करता हुआ आत्मा मुक्त होता है? 'बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य' [बन्ध] द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप उपाधि और [पुरुषौ] शुद्धजीवद्रव्य इनको, [द्विधाकृत्य] 'सर्व बन्ध, हेय; शुद्धजीव, उपादेय'—ऐसी भेदज्ञानरूप प्रतीति उत्पन्न कराकर। ऐसी प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न होती है, उस प्रकार कहते हैं—

'प्रज्ञाक्रकचदलनात्' [प्रज्ञा] शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य और अशुद्धरागादि उपाधि, बन्ध — ऐसी भेदज्ञानरूपी बुद्धि, ऐसी जो [क्रकच] करौंत, उसके द्वारा [दलनात्] निरन्तर अनुभव का अभ्यास करने से। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार करोंत के बार-बार चालू करने से, पुद्गलवस्तु काष्ठ आदि दो खण्ड हो जाता है; उसी प्रकार भेदज्ञान के द्वारा जीव-पुद्गल को बार-बार भिन्न-भिन्न अनुभव करनेपर, भिन्न-भिन्न हो जाते हैं; इसलिए भेदज्ञान उपादेय है।।१-१८०।।

कलश - १८० पर प्रवचन

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते।।१-१८०।।

'**सरसं**' आया, देखो ? सेठिया कहते, 'सरस' शब्द तो हिन्दी में भी आता है। दीपचन्द सेठिया सरस... सरस ! आहाहा ! स-रस=रससहित, स-र-स, सरस... सरस अर्थात् रससहित। इसका नाम सरस। आहाहा ! अतीन्द्रिय आनन्द का सरस—रस(सहित)। समझ में आया ?

शब्दार्थ : '**इदानीं पूर्ण ज्ञानं विजयते**' '**इदानीं**' **यहाँ से लेकर...** (अर्थात्) मोक्ष शुरु होता है। मोक्षपर्याय अनादि की नहीं। मोक्ष शक्तिरूप द्रव्य अनादि का है, परन्तु मोक्ष की पर्याय अनादि की नहीं। वह तो '**इदानीं**' (अर्थात्) नयी शुरु होती है। आहाहा ! है ?

'**इदानीं**' **यहाँ से लेकर** '**पूर्णं ज्ञानं**' **शुद्ध ज्ञान...** पूर्ण ज्ञान (अर्थात्) केवलज्ञान। आहाहा ! **समस्त आवरण का विनाश होने पर...** शुद्ध ज्ञान **होता है...** आहाहा ! मोक्ष अधिकार है न ? पहले पूर्ण शुद्धस्वरूप ध्रुव है, उसका जघन्य अवलम्बन—आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है, मिथ्यात्व का नाश होता है; पश्चात् त्रिकाली आनन्द का अधिक आश्रय लेने से चारित्र होता है। तब वे अचारित्र के परिणाम और अचारित्र कर्म नाश होता है। उग्र आश्रय लेने से शुक्लध्यान होता है और जो अस्थिरता थी, उसका नाश

होता है। पूर्ण उग्र आश्रय लेने से केवलज्ञान होता है। अल्पज्ञता और आवरण का नाश होता है। समझ में आया? यह विद्यालय दूसरे प्रकार का है। आहाहा! एक तो संसार के काम के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन पाप, पाप और पाप। उसमें अभी पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता और यह धर्म समझने के लिये तो बहुत पुरुषार्थ चाहिए। समझ में आया? आहाहा!

वह पूर्ण शक्तिवन्त क्या है? यह बात अन्दर में अभी ज्ञान में आना, वह भी कठिन है। आहाहा! भगवान पूर्ण ज्ञान पूर्ण, आनन्द, ऐसी अनन्त शक्तियाँ, वे सभी शक्तियाँ पूर्ण हैं और अनन्त शक्ति का पूर्ण एकरूप, वह द्रव्य है। आहाहा! अर्थात् गुण अनन्त कहे और उनका एकरूप द्रव्य कहा। अब, उन अनन्त गुण की अनन्तता का एकरूप, ऐसे द्रव्य का आश्रय करने से... आहाहा! आश्रय पर्याय करती है। आश्रय अर्थात्? पर्याय का उस ओर झुकाव होता है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव अनन्त आनन्द प्रभु पड़ा है। परमात्मस्वरूप ही वह है। वस्तु परमात्म—भगवत्स्वरूप है। उस भगवत्स्वरूप का आश्रय लेकर जो पर्याय में निर्मलता प्रगट हो, पूर्ण निर्मल (पर्याय) प्रगट हो, उसे मुक्ति कहते हैं। अल्प निर्मल हो, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। आहाहा! शब्द तो बहुत सरल परन्तु उसके भाव, बापू! बहुत महँगे हैं! आहाहा!

कहते हैं कि, शुद्धज्ञान (समस्त) आवरण का अभाव होने से उस **शुद्ध वस्तु का प्रकाश वह आगामी अनन्त कालपर्यन्त उसीरूप रहता है,... 'विजयते'** है न? **'विजयते'** आहाहा! जिसने यह आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का पूर्ण (अवलम्बन) लेकर जो केवलज्ञान, आनन्द आया, उसकी अब विजय हुई। वह विजय अब अनन्त काल रहनेवाली है। आहाहा! **'विजयते'** भाषा देखी? **आगामी अनन्त कालपर्यन्त उसीरूप रहता है, अन्यथा नहीं होता।** इसका नाम **'विजयते'** आहाहा!

जैसे आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण शक्ति का पूर्ण रूप है, उसका अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन हो, वह गिरता नहीं। यहाँ तो वहाँ से लेना है। पश्चात् स्वरूप में स्थिरता होने पर चारित्र हो। उस चारित्र की मर्यादा है। जिसे अभी भव करना है, उसे मरण तक चारित्र रहेगा। पश्चात् चारित्र नहीं रहेगा, पश्चात् स्वर्ग में जायेगा, परन्तु वह तीसरे भव में चारित्र प्रगट करेगा ही। ऐसी शैलीवाला चारित्र उसे आयेगा। आहाहा! क्या कहा यह?

भगवान आत्मा... यहाँ तो अब मोक्ष में से वापस फिरता नहीं, ऐसा लेना है न? पूर्ण! विजय हो गयी। आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दर्शन होने पर भी दर्शन की विजय हुई। पूर्णानन्द के नाथ को अनुभव में लेने से... आहाहा! विजय हुई। वह विजय आगामी अनन्त काल रहनेवाली है। आहाहा! यहाँ शैली ऐसी है! दिगम्बर सन्तों की शैली...! आया वह आया, गिरेगा नहीं। गिरे, ऐसा ज्ञान कराने के लिये समझाया है परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है।

जैसे केवलज्ञान आया, गिरेगा नहीं-जायेगा नहीं, विजय हो गयी। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी पर्याय में आये, उनकी भी विजय हुई। भले चारित्र (पूर्ण न हो इसलिए) एक भव करना पड़े, चारित्र न रहे परन्तु चारित्र प्रगट होगा, ऐसी धारावाही से ही वहाँ जाता है। समझ में आय? आहाहा! इसलिए आत्मा आनन्दस्वरूप का अनुभव होकर प्रतीति की, उसमें वेदन ऐसा आया कि उसमें जितना स्थिर होऊँगा, उतने कर्म नाश होंगे। आता है न? (समयसार की) १७-१८ गाथा। यह तो अन्दर सम्यग्दर्शन होते ही यह तो भाव आता है कि, इसमें मैं जितना स्थिर होऊंगा, उतना कर्म का अभाव होगा। परन्तु अभाव होगा, वह दर्शन जितना जो अभाव (हुआ) है, वह अभाव तो कायम रहनेवाला और चारित्र जितना जो अभाव (हुआ) है, वह अभी जीवनपर्यन्त रहेगा। तथापि ऐसी धारा से वहाँ स्वर्ग में जायेगा। जैसे (मुसाफिर को) मार्ग कटा नहीं और धर्मशाला में थोड़ी देर रुकता है। पच्चीस कोस चलना हो और सोलह कोस चले (वहाँ) रात्रि पड़ गयी (तो) धर्मशाला में पड़ा रहे (और) सवेरे उठकर वह चलनेवाला ही है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा के पूर्णानन्द द्रव्य का अप्रतिहत भाव सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उसके साथ चारित्र प्रगट हुआ, वह भले भव तक रहा, परन्तु स्वर्ग में जायेगा, फिर उसे चारित्र आयेगा, आयेगा और आयेगा, आहाहा! समझ में आया? न आवे, उसका यहाँ प्रश्न नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, विजय हुई। आहाहा! भगवान आत्मा... भाई! परन्तु अनुभव बिना प्रतीति नहीं होती। चैतन्यचमत्कार पर्याय में जो पर्याय आनन्द से खाली थी... आहाहा! वह आनन्द से भरी पड़ी पर्याय आयी। '**विजयते**' में से यह निकलता है। यहाँ तो केवलज्ञान की विजय हो गयी (ऐसा कहते हैं)। पूर्ण ज्ञान हुआ वह। आहाहा! परन्तु

वह भगवान द्रव्यस्वभाव है, कभी उस द्रव्य का अभाव नहीं होता तो द्रव्य की दृष्टि हुई, उसका भी अब अभाव नहीं होता, ऐसा कहते हैं और उस द्रव्य की शक्ति.... आहाहा! उकेलते... उकेलते... प्रगट होते-होते जहाँ केवलज्ञान प्रगट हुआ (वहाँ पूर्ण) उकेल हो गया। आहाहा! उसकी तो विजय (हुई वह) केवलज्ञान अब सादि-अनन्त (काल) रहनेवाला है। यद्यपि क्षायिक समकित प्रगट हुआ, तब से सादि-अनन्त (काल) रहेगा। बराबर है? क्षायिक समकित, परन्तु यहाँ तो क्षयोपशम समकित में भी आचार्य जोर देते हैं! आहाहा!

आत्मा के अस्तित्व का अनुभव—जितना जैसा उसका अस्तित्व है, उतना वैसा ही श्रद्धा-ज्ञान के अनुभव में आया, वह वस्तु भले (पर्याय में) न आवे। समझ में आया? आहाहा! परन्तु उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता के अंश में उसका ख्याल आ गया। स्थिरता अनन्त गुण में स्थिर है न? आहाहा! उस स्थिरता का भी कितना बल है! जैसे दृष्टि अनन्त गुण को स्वीकार करनेवाली, वैसे ज्ञान अनन्त गुण को स्वीकार करनेवाला, वैसे स्थिरता अनन्त गुण में, अनन्त... अनन्त... अमाप गुण में रमण करनेवाली दशा... आहाहा! और उससे होता केवलज्ञान विजयी है, अप्रतिहत है। उसमें से वापस गिरे और संसार का अवतार धारण करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! ओहोहो! पंचम काल के साधु! परन्तु उनका जोर इतना है! केवलज्ञान नहीं तो भी कहते हैं कि केवलज्ञान हुआ इसलिए '**विजयते**' अभी कहाँ है? परन्तु होनेवाला ही है। श्रीमद् में आता है न? श्रद्धा से केवलज्ञान हुआ है। आता है? २८वाँ वर्ष! श्रद्धा से केवलज्ञान हुआ। आहाहा! है?....

आगामी अनन्त कालपर्यन्त उसीरूप रहता है, अन्यथा नहीं होता। आहाहा! पत्र है, पत्र। छह बोल का पत्र है न? चिह्न किये हैं। क्या कहा? देखो! 'श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।' समकित हुआ, वहाँ श्रद्धापने केवलज्ञान हुआ है। आहाहा! जो प्रतीति में केवलज्ञान नहीं था, वह प्रतीति में आया कि यह तो केवलज्ञान की मूर्ति प्रभु है तो केवलज्ञान होगा ही। ऐसे श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है। आहाहा! है? 'विचारदशा से केवलज्ञान हुआ है।' विचारदशा से केवलज्ञान हुआ है। आहाहा! 'इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है।' इच्छा भी अब केवलज्ञान की ही है। आहाहा! 'मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान

वर्तता है।' निश्चयनय से तो केवलज्ञान अन्दर है। वह तो केवलज्ञान वर्तता ही है। आहाहा! 'केवलज्ञान सर्व अव्याबाध सुख का प्रगट करनेवाला जिसके योग से सहजमात्र में जीव प्राप्त करनेयोग्य हुआ, उन सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो, नमस्कार हो।' आहाहा! २८ (वाँ) वर्ष है न?

पूर्णानन्द के नाथ की श्रद्धा के समय, केवलज्ञान—पूर्ण ज्ञान अस्तिरूप से था, परन्तु प्रतीति में आया, तब केवलज्ञान हुआ है। अल्पज्ञान में अल्पज्ञान की प्रतीति थी। आहाहा! वह अल्पज्ञान सर्व ज्ञान की प्रतीति हुई। आहाहा! अल्पज्ञान में सर्वज्ञ की प्रतीति हुई तो श्रद्धा से केवलज्ञान हुआ है। इच्छा से केवलज्ञान है और विचारदशा से केवलज्ञान वर्तता है। आहाहा! मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान त्रिकाल पड़ा ही है। आहाहा! परन्तु प्रतीति में आया उसे। केवलज्ञान त्रिकाल वर्तता है, वह किसे? प्रतीति में आया उसे। उसको 'है' ऐसी प्रतीति नहीं आयी तो वर्तता है कहाँ से (आया)? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **कैसा है शुद्धज्ञान? 'कृतसकलकृत्यं' किया है करनेयोग्य समस्त कर्म का विनाश...** सकल कृतकृत्य सब कार्य हो गया। जहाँ भगवान आत्मा के अवलम्बन से केवलज्ञान हुआ, (वहाँ) कृतकृत्य हो गया। जो कार्य करना था, वह पूरा हो गया। आहाहा! यह कार्य करने की बात है, हों! यह संसार के कार्य अब पूरे हुए, अब नहीं। वहाँ और दूसरे जगेंगे, और तीसरे जगेंगे। आहाहा! पूणी, पूणी सांधते हैं न? पूणी! एक पूरी हो वहाँ दूसरी, दूसरी (पूरी) हो वहाँ तीसरी... (ऐसे) चला ही करेगा। उसका कहीं अन्त भी नहीं आयेगा। शान्तिभाई! यह संसार के काम तो सांधा ही करता है,....! एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक सांधा ही करता है। यहाँ भी एक के बाद एक गुण में अन्दर पर्याय सांधा ही करता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

उसका माहात्म्य, वह क्या चीज़ है! आहाहा! अक्षर के अनन्तवें भाग में रहा, वह आत्मा तो भी उसकी शक्ति तो केवलज्ञान और केवल आनन्द प्रगट हो, इतनी शक्ति है। भाव, उसका भाव जादूगर भाव है! अंगुल के असंख्य भाग में यहाँ निगोद के अनन्त जीव हैं। एक-एक जीव में पूर्ण केवलज्ञान, अनन्त आनन्द पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण स्वभाव भरा है। उस स्वभाव का कोई चमत्कार है!! आहाहा! दुनिया में चमत्कार की बातें करे, गप्प ही गप्प के चमत्कार हैं। आहाहा! वह ऐसा राख निकालकर बताता है,

नहीं? साईंबाबा! राख बताता है, हाथ में से ऐसे करे न, उसमें धूल में क्या था अब? व्यन्तर के देव बड़े गाँव रच डाले। अभव्य हो, उससे क्या हुआ? आहाहा! यह चमत्कार प्रभु अन्दर अनन्त आनन्द, अनन्त अपरिमित ज्ञान, आनन्द शान्ति का स्वभाव का सागर, उस चैतन्य की प्रतीति का चमत्कार प्रगट करना। आहाहा! जिसके चमत्कार में पूर्णानन्द का नाथ जिसे प्रतीति में बैठ गया। आहाहा! उसे फिर जन्म-मरण होते नहीं। समझ में आया? यहाँ तो केवलज्ञान को '**विजयते**' कहा, परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन में '**विजयते**' कहना है। आहाहा!

करनेयोग्य समस्त कर्म का विनाश जिसने... कृतकृत्य हो गया। **ऐसा है। और कैसा है? 'उन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं'** आहाहा! **'उन्मज्जत्' अनादि काल से गया था, सो प्रगट हुआ है...** वह नदी है न? विन्ध्याचल पर्वत में बीच में उन्मग्न, निमग्न (ऐसी) दो नदियाँ हैं। एक नदी में कोई चीज़ गिरे तो नीचे ले जाये, एक नदी में ऐसी चीज़ गिरे (तो) ऊपर करके बाहर निकाल दे। पानी का ऐसा स्वभाव! आहाहा! कहो, समझ में आया? उन्मग्न, निमग्न नाम की नदियाँ हैं। विध्यांचल पर्वत के अन्दर है। चक्रवर्ती (तीन खण्ड) साधने जाता है, तब उसमें से जाता है। एक नदी के पानी का ऐसा स्वभाव कि ऊपर तिनका भी पड़ा हो तो नीचे ले जाये और एक (में) ऊपर लोहा गिरे तो लोहा ऊपर रखे। आहाहा! कुदरत के नियम का कोई ऐसा ही स्वभाव है।

ऐसा यहाँ कहते हैं, '**उन्मज्जत्**' '**उन्मज्जत्**' आया न? आहाहा! '**उन्मज्जत्**' (अर्थात्) उछला है— '**उन्मज्जत्**' अब नीचे गिरता ही नहीं। '**उन्मज्जत्**' ऐसे बाहर प्रगट हुआ है। बारह आया! आहाहा! तैरता-तैरता ज्ञान, आनन्द पर्याय में बाहर आये। आहाहा! मोक्ष की व्याख्या है न?

'**उन्मज्जत्**' शक्ति में—स्वभाव में जो केवलज्ञान और केवल आनन्द था, वह पर्याय में '**उन्मज्जत्**' उल्लसित हो निकला! प्रस्फुटित होकर बाहर आया!! आहाहा! अब अधो में नहीं जायेगा। वह ऊर्ध्व में रहनेवाला है। ऐसा आत्मधर्म पूर्ण प्रगट हुआ। '**उन्मज्जत्**' आहाहा! सहज परमानन्द! कैसा है?

द्रव्य के स्वभावरूप से परिणमनेवाला अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय सुख...

आहाहा! जो आनन्द अन्तर में शक्तिरूप से था, अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द (था), वह पर्याय में उल्लसित हो गया। '**उन्मज्जत्**' उल्लसित होकर... आहाहा! **द्रव्य के स्वभावरूप से परिणमनेवाला अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय सुख, उससे संयुक्त है।** '**सरसं**' उस आनन्द के रस से सहित है, ऐसा भाव प्रगट हुआ। आहाहा! '**सरसं**' सरस... सरस नहीं कहते? यह सरस है, यह बात सरस है, यह वस्तु सरस है। आहाहा! यहाँ इतना '**सरसं**' है। वह सरस... सरस... इतना। यहाँ '**सरसं**' है। रस सहित। आनन्द के रस से भगवान प्रगट हुआ। आहाहा! पर्याय में पूर्ण आनन्द सरसरूप से प्रगट हुआ। आहाहा! इसका नाम मुक्ति और मोक्ष कहलाता है। ऊपर जाये और मोक्ष (हो), वह तो व्यवहार की बातें हैं। मोक्ष तो यहाँ ही हो गया, बाद में तो एक समय में ऊर्ध्व जाता है। मोक्ष यहाँ हो गया।

'**सरसं**' '**उन्मज्जत्**' आहाहा! परिणमन में अतीन्द्रिय आनन्द का रस प्रगट हो गया। आहाहा! जो अनादि काल से राग के दुःख का परिणमन था, उसका नाश होकर अतीन्द्रिय आनन्द के सुख का परिणमन हुआ। आहाहा! यह मोक्षतत्त्व! समझ में आया? है पर्याय, परन्तु अनन्त आनन्द के रसवाली पर्याय है। आहाहा! '**सरसं**' **संयुक्त है।**

भावार्थ इस प्रकार है कि मोक्ष का फल अतीन्द्रिय सुख है। लो! परन्तु मोक्ष का फल क्या? अतीन्द्रिय आनन्द! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाव है, वह पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ, इसका नाम मोक्ष। अतीन्द्रिय आनन्द मुक्तस्वरूप तो है। उसकी पर्याय में मुक्तपने राग के सम्बन्ध बिना अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति (हो), वह आत्मलाभ, वह मुक्ति है। आहाहा! एक तत्त्व, अब ऐसा तत्त्व! आहाहा! उसका उपाय कैसा होगा? आहाहा! स्वभाव का साधन (कैसा होगा)? स्वभाव, उसका साधन, वह स्वभाव की पूर्ण मुक्ति का कारण है। आहाहा! बीच में रागादि की कुछ बात ही नहीं। त्रिकाल जिनस्वरूप, उसकी परिणति में जिनस्वरूप—मोक्षमार्ग, वीतरागी मोक्षमार्ग, उसके फलरूप से वीतरागी सुख (प्रगट होता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : वीतरागी सुख अर्थात् रागवाला सुख होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दुनिया राग में (सुख) मानती है न? रागभाव का दुःख है,

परन्तु मानते हैं न कि हम सुखी (हैं)। सुखी हैं! पैसा-बैसा, पुत्र, सबसे सुखी हैं। धूल में भी सुखी नहीं। दुःखी है, दुःखी। आहाहा!

मुमुक्षु : हजार रुपयेवाला अधिक दुःखी और लाख रुपयेवाला सुखी है?

पूज्य गुरुदेवश्री : संख्या प्रमाण दुःखी नहीं, उसकी ममताप्रमाण दुःखी है। चक्रवर्ती का राज हो और ममता थोड़ी हो तथा रहने के (लिये) झोंपड़ा हो और ममता बहुत हो। संख्या से (सुखी-दुःखी) नहीं कि करोड़ों (रुपये) हों तो ममतावाला है, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! छह खण्ड के राज समकिती को चक्रवर्ती भरत को (थे) परन्तु आसक्ति बहुत अल्प थी। आसक्ति है (परन्तु) अल्प है। जिसमें अनन्तानुबन्धी की आसक्ति तो टल गयी है। आहाहा! अनन्त अनुबन्ध—संसार के कारण की आसक्ति तो टल गयी है। मिथ्यादृष्टि को भले एक पैसा भी न हो, शरीर एक ही हो तो भी अनन्तानुबन्धी की इतनी आसक्ति है (कि) अनन्त संसार के कारण की आसक्ति पड़ी है। इसलिए संयोगी चीज़ ज्यादा-थोड़ी (हो), उसके ऊपर उसका—आसक्ति का प्रमाण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मोक्ष का फल अतीन्द्रिय सुख है। क्या करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है? 'पुरुषं साक्षात् मोक्षं नयत्' आहाहा! पुरुष अर्थात् जीवद्रव्य। पुरुष अर्थात् यह पुरुष, ऐसे नहीं। 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' में व्याख्या की है न? पुरुष अर्थात् अपने ज्ञान, आनन्द को सेवन करे, वह पुरुष है। अपने ज्ञान और आनन्द को सेवन करे, वह पुरुष है। आहाहा!

पुरुष अर्थात् **जीवद्रव्य को... 'साक्षात् मोक्षं' सकल कर्म का विनाश...** साक्षात् क्यों कहा? कि मोक्षस्वरूप तो है। अब साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ। आहाहा! पर्याय में पूर्ण आनन्द का मोक्ष प्राप्त कराता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ। है? **सकल कर्म का विनाश होने पर शुद्धत्व-अवस्था के प्रगटपनेरूप...** शुद्धत्व-अवस्था का प्रगट(पना) ऐसा मोक्ष। **'नयत्' परिणमाता हुआ।** आहाहा! पूर्ण शुद्धस्वरूप है, उसी प्रकार से पर्याय में पूर्ण शुद्धपने को **'नयत्'** प्राप्त कराता हुआ। पूर्ण शुद्ध की पर्याय को परिणमाता हुआ। आहाहा! ऐसा भाव और ऐसी सब भाषा! **'नयत्'** है न? (अर्थात् कि) प्राप्त कराता हुआ, प्राप्त कराता हुआ।

भावार्थ इस प्रकार है कि यहाँ से आरम्भ कर सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष के स्वरूप का निरूपण किया जाता है। और कैसा है ? उत्कृष्ट है। मोक्षदशा, वह उत्कृष्ट दशा है। भगवान आत्मा जगत में सर्वोत्कृष्ट वस्तु हो तो वह आत्मा है। परन्तु उसका मोक्ष भी सर्वोत्कृष्ट है, कहते हैं। आहाहा! आहाहा! **उत्कृष्ट है।**

और कैसा है ? 'उपलम्भैकनियतं' एक निश्चयस्वभाव को प्राप्त है। क्या कहते हैं ? एकरूप स्वभाव जो पूर्ण है, वह एक निश्चय प्राप्त है। विभाव का अंश नहीं, स्वभाव की अपूर्णता नहीं। विभाव का अंश नहीं और स्वभाव की अपूर्णता नहीं। आहाहा! **एक निश्चयस्वभाव को प्राप्त है।** आहाहा! **क्या करता हुआ आत्मा मुक्त होता है ?**

'बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य' बन्ध अर्थात् कर्म और पुरुष अर्थात् आत्मा। है न ? भावकर्म, नोकर्म सब उपाधि है। पुण्य और पाप के भाव और शरीर और पुरुष अर्थात् जीवद्रव्य। **इनको... 'द्विधाकृत्य' 'सर्व बन्ध हेय, शुद्ध जीव उपादेय'** आहाहा! सर्वबन्ध हेय है। रागादि सूक्ष्म हो, परन्तु (वे) हेय हैं और शुद्ध जीव उपादेय है, इस प्रकार दो को भिन्न करने से मोक्ष होता है, ऐसा कहते हैं। है न ?

ऐसे भेदज्ञानरूप प्रतीति उत्पन्न कराकर। आहाहा! **ऐसी प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न होती है, उस प्रकार कहते हैं...** प्रतीति कैसे उत्पन्न होती है ? यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलशटीका, १८० (कलश) चलता है न? पीछे का भाग है। '**सर्व बन्ध हेय, शुद्ध जीव उपादेय**' आया है? बहुत संक्षिप्त में कहा। रागादि सब हेय है। चाहे तो व्यवहाररत्नत्रय का राग हो। उसे आरोप से रत्नत्रय कहा, तथापि वह हेय है—छोड़नेयोग्य है। क्योंकि वह बन्ध है और जीव का स्वरूप शुद्ध चैतन्य, (वह) उपादेय है। अर्थात् कि शुद्ध चैतन्य पर नजर करने से जो उसका आदर हो, उसमें आनन्द की दशा प्रगट हो, ऐसा वह शुद्ध आत्मा उपादेय है। बन्धदशा, वह दुःखरूप है। चाहे तो शुभराग हो या अशुभ हो, इससे हेय है। है? आया न?

ऐसे भेदज्ञानरूप प्रतीति उत्पन्न कराकर। राग और आत्मा दो के भेदज्ञान को उपजाकर, दो के पृथक्पने के भाव को प्रगट करके, आत्मा पृथक् पड़ जाता है। अब कहते हैं, किस प्रकार से? **ऐसी प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न होती है, उस प्रकार कहते हैं... 'प्रज्ञाक्रकचदलनात्'** प्रज्ञा का अर्थ **शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य...** प्रज्ञा का अर्थ यह। है प्रज्ञा पर्याय, परन्तु उस पर्याय में आया है शुद्ध जीवद्रव्य। इसलिए प्रज्ञा का अर्थ शुद्ध जीवद्रव्य किया।

मुमुक्षु : प्रज्ञा तो जीव की पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रज्ञा तो पर्याय है, कहा नहीं? छैनी है। परन्तु उस पर्याय द्वारा शुद्ध जीवद्रव्य ज्ञान में आता है, इसलिए उसे प्रज्ञा को शुद्ध जीवद्रव्य कहा है। आहाहा! पंचमभाव पारिणामिकभाव नियमसार में आता है न? पंच परावर्तन को छोड़कर पंचमभाव को पंचमगति के लिये परमपुरुष स्मरण करते हैं, स्मरण करते हैं। आहाहा! संसार के पंचपरावर्तन—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव, इन पंच परावर्तन को छोड़ने के लिये, पंचमगति ऐसी मोक्षदशा को प्राप्त करने के लिये परमपुरुष धर्मात्मा पंचम पारिणामिकभाव को याद करते हैं। आहाहा!

यह पंचमभाव अर्थात् यह प्रज्ञा—शुद्ध ज्ञानमय जीवद्रव्य। प्रज्ञा को और द्रव्य को अभेद गिनकर (कहा है)। शुद्ध जीवद्रव्य ख्याल में आया न? तब उसे शुद्ध जीव हुआ

अर्थात् प्रज्ञा को शुद्ध जीवद्रव्य कहा। क्या कहा यह? अन्तर के ज्ञान की पर्याय द्वारा शुद्ध जीव त्रिकाली पंचम पारिणामिकभाव ख्याल में—अनुभव में आया, इसलिए उस प्रज्ञा को ही शुद्ध जीवद्रव्य कहा गया है। समझ में आया? अथवा जो प्रज्ञा शुद्ध है, उसमें जीवद्रव्य का ज्ञान आया। प्रज्ञा में—ज्ञान की पर्याय में शुद्ध जीव का ज्ञान आया, इसलिए प्रज्ञा को शुद्ध जीवद्रव्य कहा। ऐसी भाषा! ऐसा सूक्ष्म स्वरूप है।

प्रज्ञा **शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य...** इसका अर्थ यह कि प्रज्ञा जो ज्ञान की छैनी है, अर्थात् कि शुद्ध अनुभव, प्रज्ञा का अर्थ शुद्ध अनुभव है, यह बाद में आयेगा। बाद की गाथा में आयेगा न? प्रज्ञाछैनी, नहीं आता? **आत्मा के शुद्धस्वरूप—अनुभवसमर्थरूप से परिणमित जीव का ज्ञानगुण...** वहाँ प्रज्ञा का अर्थ यह किया। देखो! (१८१) श्लोक में।

प्रज्ञा अर्थात्? आहाहा! आत्मा के शुद्धस्वरूप अनुभवसमर्थरूप से। चैतन्य के त्रिकाली शुद्धस्वरूप के अनुभवसमर्थरूप से प्रगट है, उसे प्रज्ञा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। यह पहले में नहीं, दूसरे (श्लोक में) है, इस ओर बीच में है। प्रज्ञा किसे कहना?

यहाँ प्रज्ञा का अर्थ **शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य...** ऐसा कहा। वहाँ प्रज्ञा का अर्थ... है? वहाँ प्रज्ञा का अर्थ ऐसा कहा, '**प्रज्ञाच्छेत्री**' कहा न? **आत्मा के शुद्धस्वरूप—अनुभवसमर्थरूप से परिणमित जीव का ज्ञानगुण...** ऐसा। है न? यह जीव की अन्तिम बातें हैं न? आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप से परिणमित जीव को यहाँ प्रज्ञा कहा। शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप से हुए ज्ञान को प्रज्ञा कहा। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहा कि प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध जीवद्रव्य स्वरूप। दोनों को पृथक् करना है न? इसलिए (ऐसा कहा)। प्रज्ञा अर्थात् **शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य और अशुद्ध रागादि उपाधि बन्ध...** देखा? शुद्ध जीवद्रव्य की व्याख्या की। प्रज्ञा का अर्थ (यह किया)। वरना है अनुभव। शुद्ध जीव का अनुभव, वह प्रज्ञा है। क्योंकि वह प्रज्ञाछैनी राग और जीवद्रव्य—दोनों को भिन्न करती है। द्विधा करती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य और अशुद्ध रागादि उपाधि बन्ध...** अशुद्धता में तो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम भी अशुद्ध है। शुभ, वह अशुद्ध है। अशुभ,

वह अशुद्ध है, परन्तु शुभ, वह अशुद्ध है। अब उसे तो यहाँ पृथक् करना है, उसके बदले उस अशुद्ध चीज़ से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा कहाँ से आवे? अशुद्ध से पृथक् करना है, उसके बदले (ऐसा कहे कि), अशुद्धभाव से निश्चय धर्म प्राप्त होता है। शुभभाव कारण और धर्म कार्य। बहुत अन्तर पड़ गया। क्या हो?

यहाँ तो ऐसा कहा, प्रज्ञा अर्थात् शुद्धजीवद्रव्य और बन्ध अर्थात् अशुद्ध रागादि भाव। आहाहा! समझ में आया? **रागादि उपाधि बन्ध...** वापस भाषा ऐसी ली न? शुद्ध जीवद्रव्य निरुपाधि स्वभाव है और बन्ध के रागादि भाव अशुद्ध उपाधिभाव हैं। वह बन्ध है। आहाहा! चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो या पंच महाव्रत का (भाव हो) परन्तु है अशुद्ध (भाव), वह बन्धभाव है। यहाँ प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध जीवद्रव्य और अशुद्ध रागादि उपाधि भाव—दो को भिन्न करने की बात है। आहाहा!

ऐसी भेदज्ञानरूपी बुद्धि,... प्रज्ञा शब्द है न? इसलिए बुद्धि, (ऐसा कहा है)। **शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य और अशुद्ध रागादि उपाधि बन्ध—ऐसी भेदज्ञानरूपी बुद्धि,...** इस प्रज्ञा का अर्थ बाद में यहाँ लिया। पहला तो इसके द्वारा यह करना। शुद्धज्ञानमात्र जीव बुद्धि द्वारा रागादि से भिन्न करना है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि प्रज्ञा में—बुद्धि में वह जीवद्रव्य ज्ञात होता है और प्रज्ञा द्वारा शुद्ध जीवद्रव्य अशुद्ध रागादि से भिन्न किया जा सकता है। आहाहा!

प्रज्ञा (अर्थात्) बुद्धि। प्रज्ञा क्या काम करती है? कि शुद्ध जीवद्रव्य को पकड़ती है और अशुद्ध रागादि को भिन्न करती है, ऐसा। आहाहा! वरना तो प्रज्ञा का अर्थ वहाँ अनुभव पर्याय करेंगे। यहाँ उसे बुद्धि कहा। परन्तु कौन सी बुद्धि? जो बुद्धि शुद्ध जीवद्रव्य को पकड़ती है और अशुद्ध रागादि से भिन्न पड़ती है। उस बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं और उस प्रज्ञा को बुद्धि कहते हैं। आहाहा! लो, यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि बुद्धिवाला किसे कहना? यह संसार की चतुराईवाले को बुद्धिवाला कहना? वकालत पढ़े, उसे बुद्धिवाला कहना? डॉक्टर और एल.एल.बी. और एम.ए. का पढ़े, उसे बुद्धिवाला (कहना)? आहाहा!

मुमुक्षु : वीतराग उसे बुद्धिवाला कहे?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। उसे बुद्धिवाला नहीं कहे। इसे कहे। आहाहा! बुद्धि उसे कहते हैं प्रज्ञा को। प्रज्ञा उसे कहते हैं बुद्धि को। वह बुद्धि करे क्या? शुद्ध जीवद्रव्य और अशुद्ध रागादि उपाधि—दोनों को भिन्न करे। आहाहा! उसे बुद्धिजीवी कहते हैं। वह बुद्धि से जीता है। आहाहा! यह सब अंग्रेजी के पठन को बेचारे कितने बीस-बीस, बाईस-बाईस वर्ष रटारटन्त करते हैं! मजदूरी! वह बुद्धि नहीं है।

मुमुक्षु : अभी तो पेट भरना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट कौन भरता था?

मुमुक्षु : बहुत तो भीख माँगते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भीख भी कौन माँगे और पेट कौन (भरे)? आहाहा! राग की एकताबुद्धि हो, वह बाहर की भीख माँगे। राग की एकताबुद्धि तोड़कर माँगे आत्मा के स्वभाव के लक्षण को। वह तो आत्मा की लक्ष्मी को माँगे। आहाहा! भगवान भिखारी होकर घूमता है, ऐसा नहीं आता? भीख माँगता है, यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... पुण्य लाओ, पाप लाओ, स्त्री, कुटुम्ब, इज्जत (लाओ)। भगवान होकर भिखारी हो गया, ...!

मुमुक्षु : आप भिखारी कहते हो...

पूज्य गुरुदेवश्री : भिखारी ही हुआ है, दुःखी हुआ है, मर गया है। आत्मा को मार डाला है। अन्दर आनन्दस्वरूप भगवान पूर्ण आनन्द की सत्ता का शुद्धस्वरूप! आहाहा! जिसका अस्तित्व पूर्ण शुद्ध और आनन्द से है, उसे न माँगकर, उसका आश्रय न करके, रागादि का आश्रय करके (भटकता है), वह तो भिखारी है। याचक है, याचक! ऐसा है। आहाहा!

(यहाँ) अर्थ तो प्रज्ञा का करना है परन्तु प्रज्ञा—बुद्धि उसे कहते हैं जो शुद्ध जीवद्रव्य को और अशुद्ध रागादि को भिन्न करे, उसे बुद्धि कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : भिन्न करे और अनुभव करे, दोनों का काल एक ही है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव करे, वह अलग करे, एक ही है। नीचे अनुभव आयेगा। इस ओर नहीं आया? अनुभव कहा न? उसमें आया नहीं? (प्रज्ञा का अर्थ किया)।

प्रज्ञा अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप अनुभव समर्थरूप परिणमित जीव का ज्ञानगुण... ज्ञानगुण अर्थात् पवित्र पर्याय। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : अनुभव काल में तो रागादि होते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझावे तब क्या (कहे)? इस ओर ढला है तो रागादि से भिन्न पड़ गया, ऐसा। पाड़ना नहीं पड़ता, परन्तु भाषा तो ऐसी ही आवे। आहाहा!

ज्ञान की वर्तमान बुद्धि को, जिसमें पूरा ज्ञान और पूर्ण आनन्द पड़ा है, ऐसे जीवद्रव्य की ओर उस ज्ञान की पर्याय को झुकाने से, उस जीवद्रव्य का लक्ष्य होता है, वह जीवद्रव्य प्राप्त होता है, और अशुद्ध रागादि हैं, वे छूट जाते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग!

(यहाँ कहते हैं), **अशुद्ध रागादि उपाधि बन्ध—ऐसी भेदज्ञानरूपी बुद्धि, ऐसी जो करौंत...** देखा! करौंत (कहा)। तुम्हारे में क्या कहते हैं? करौंत! जो बुद्धि शुद्ध जीवद्रव्य की ओर ढलती है और अशुद्ध रागादि से हटती है, उस बुद्धि को यहाँ करौंत कहते हैं। राग और आत्मा को भिन्न पाड़ने की वह करौंत है। दो टुकड़े करने की वह करवत है। आहाहा! लकड़ी को ऐसे करवत (घुमाने से) दो टुकड़ हो जाते हैं, उसी प्रकार यह बुद्धि—प्रज्ञा उसे कहते हैं कि जो शुद्ध जीवद्रव्य की ओर ढलने से अशुद्ध रागादि पृथक् पड़ जाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : करौंत चलावे और टुकड़े हों, उसमें देरी तो लगे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अभ्यास करे तो उसे असंख्य समय लगे। विशेष तो छह महीने कहे हैं न? वह तो लोगों को कठिन न लगे, इसलिए छह महीने कहे। बाकी है वह अन्तर्मुहूर्त। आहाहा!

ज्ञान की वर्तमान दशा को शुद्ध जीवद्रव्य की ओर (झुकाने से), जिसकी पर्याय है, उसमें उसे झुकाने से शुद्ध जीवद्रव्य का अनुभव होता है और रागादि छूट जाते हैं। उसे यहाँ प्रज्ञा और बुद्धि और प्रज्ञाछैनी कहा जाता है। आहाहा! मोक्ष का अधिकार है न? छूटना आया न? छूटना! शब्द मोक्ष है न, अर्थात् छूटना, ऐसा कहा। वरना परमानन्द की प्राप्ति, ऐसा न लेकर, मोक्ष (अर्थात्) छूटना (ऐसा लिया)। किससे (छूटना)? कि बन्ध से। ऐसा। बन्ध अर्थात् क्या? कि अशुद्ध रागादि। उनसे छूटना और उसका शुद्ध

जीवद्रव्य का आदर करना। उस बुद्धि को यहाँ प्रज्ञा कहा जाता है। आहाहा! यह सब अंग्रेजी के पूंछड़े (डिग्रियाँ) लगे हों, उन सबको तो अज्ञान कहते हैं। कहो, कान्तिभाई! जवाहरात की बुद्धि को (अज्ञान कहते हैं)। नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : वह भले अज्ञान है परन्तु पैसा लाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा धूल भी लाता नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य के कारण दिखते हैं। दिखते हैं! देखते हुए मानता है कि मेरे हैं। आहाहा! फिर ये लड़के ऐसे खड़े हों, उसमें इसका एक पुत्र हो परन्तु देखने में तो सब ऐसे दिखते हैं, बस! एक ही बात है। उसमें 'यह मेरा' कहाँ से आया? कल्पना की है। नहीं तो चारों लड़के ज्ञेयरूप से जानने में (आते) हैं। उसमें 'यह मेरा' (ऐसा कहकर) व्यर्थ की ममता खड़ी की है। इसी प्रकार पैसे के ढ़ेर—रजकण आवे, वह तो ज्ञेय है। दूसरे के पैसे, आना पैसा, हीरा, माणेक सब ज्ञेय है। तथापि 'यह पैसे मुझे आये' वह तो भ्रमणा खड़ी की है। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे पर से भिन्न करना, वह करना। यह तो बात चलती है। जिसकी जो पर्याय है, उसकी ओर उस पर्याय को झुकाना। वह ज्ञानपर्याय राग की पर्याय नहीं और राग की पर्याय है, वह चैतन्य की पर्याया नहीं। आहाहा! जिसकी वह ज्ञानपर्याय है, उसमें उसे झुकाना। वह ज्ञान प्रजा है, उसका पिता द्रव्य है।

मुमुक्षु : द्रव्य एक ही समय में और अनुभव एक समय में...

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही समय में, एक ही समय, दो समय नहीं। उपयोग भले असंख्य (समय में आवे) परन्तु एक समय में होता है। '**रभसात्**' आ गया है न? '**रभसात्**' संस्कृत आ गया है। संस्कृत कलश में (आ गया है) '**रभसात्**' (अर्थात्) एक समय। आहाहा! उसके ख्याल में भले असंख्य समय में आवे, परन्तु वहाँ तो एक ही समय में पृथक् पड़ जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पृथक् पड़ने का अभ्यास प्रयोगलब्धि से होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : चालू करते-करते भिन्न पड़ जाता है, ऐसा कहते हैं। अभ्यास करने से-करौंत को ऐसे करने से, राग से भिन्न करने से, करने से पर दिशा सन्मुख झुका

हुआ वह भाव भले, उसे सूझे नहीं। परन्तु जो भाव परसन्मुख झुका हुआ है, उसे आत्मा की प्रज्ञा द्वारा इस ओर झुकाने से यह राग पृथक् पड़ जाता है, इसका नाम मोक्ष है।

मुमुक्षु : एक समय के कार्य में अभ्यास करते-करते किस प्रकार हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : करते हुए एक समय ही लगता है। वह तो पहले भले भिन्न करने का प्रयत्न करे परन्तु पृथक् पड़े वह एक ही समय में पड़ जाता है। उसके विचार में भले असंख्य समय लगे, परन्तु (पृथक्) पड़ता है एक समय में ही। एक ही समय की बात है। पूरा आत्मा त्रिकाली शुद्ध है, उसमें मलिनता एक समय में ही है। क्या कहा?

उसे पृथक् करने में एक समय क्यों लिया? कि वह स्वयं जीवद्रव्य भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, उसकी एक समय की अवस्था में ही संसार और मलिनता है, दो समय में है ही नहीं। इसलिए उसे एक समय में जो मलिनता है, वह एक समय में छूट जाती है। एक समय में है, वह छूटे, वह एक समय में छूटता है। दो-चार समय में है कि दो-चार समय में छूटे? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! गजब बातें हैं न! यह श्लोक आ गया है, नहीं? '**रभसात्**'। हाँ, आ गया है। इस ओर है कहीं। है न? आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते है, मोक्ष अधिकार है न? अर्थात् कि एक समय का ही बन्ध है। भगवान तो एक समय की पर्याय के बन्ध से भिन्न शुद्ध जीवद्रव्य है, वह तो मुक्तस्वरूप ही है। अब उस मुक्तस्वरूप को पर्याय में एक समय का जो बन्ध है, उसे छोड़ने में एक ही समय लगता है। क्योंकि बन्ध ही एक समय है। आहाहा! भले बाद का समय है, परन्तु समय एक है। बन्ध समय का व्यय, अबन्ध स्वभाव की पर्याय का उत्पाद—(दोनों का) एक समय है। है जब बन्ध; है, तब तो है। जीवद्रव्य त्रिकाली और पर्याय में राग है। द्रव्य में नहीं, परन्तु पर्याय के साथ निमित्त सम्बन्ध है। आहाहा!

त्रिकाली द्रव्य जो है, उसे तो राग के साथ सम्बन्ध है नहीं। मात्र वर्तमान एक समय की पर्याय में राग के साथ एक समय का सम्बन्ध और बन्ध है। आहाहा! यहाँ तो अभी आगे कहेंगे (कि) बीच में सन्धि है। पर्याय और राग के बीच सन्धि है, ऐसा कहते हैं। एक हुए नहीं। आहाहा! कठिन बात, भाई! एक समय का जो बन्ध, पूरा

भगवान पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध जीवद्रव्य तो मुक्त ही है। परन्तु वर्तमान में एक समय की पर्याय के साथ एक समय का राग का जो सम्बन्ध था... आहाहा! तो उसे छोड़ने का भी एक ही समय है। उस समय का बन्ध है, उसका व्यय और उसी समय में (शुद्ध पर्याय का) उत्पाद है। बन्ध समय का व्यय, उसी समय में अबन्ध का उत्पाद। वह प्रज्ञाछैनी द्वारा होता है। आहाहा! ऐसा उपदेश! लोगों को मुश्किल से पकड़ में आवे। इसकी अपेक्षा वह सीधासट्ट (था)। व्रत करना, भक्ति करना, पूजा करो, दान करो, उपधान करना, बड़ी रथयात्रा (निकालना), बड़ी दीक्षा धूमधाम से हो। किसकी दीक्षा? बापू! अभी जिसे सुखरूप दशा प्रगट नहीं हुई, उसे दीक्षा कैसी? आहाहा! जिसे आनन्द का नाथ भगवान, राग से भिन्न पड़कर आनन्द की दशा प्रगट नहीं हुई, उसे आनन्द की दशा की विशेषता करना, वह दीक्षा है (कहाँ से हो)? आहाहा!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति सुखस्वरूप, वह तो मुक्तस्वरूप है, परन्तु एक समय की पर्याय राग में अटकी हुई है, वह भी एक समय की है। आहाहा! उसे—अटकी हुई को व्यय की, है तब तो है ही, दूसरे समय में उसका व्यय करके अबन्धपरिणाम को उत्पन्न करना, वह प्रज्ञाछैनी का काम है। आहाहा! कि व्यवहार रागादि क्रिया का वह काम है? प्रभु! यह क्या है? ऐसा सूक्ष्म मार्ग! आहाहा! उसमें बड़ा तकरार—झगड़ा... झगड़ा... झगड़ा... भगवान एक समय में भगवान को भूला है। वह एक ही समय में भगवान को प्राप्त करता है। समझ में आया? आहाहा!

पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का सागर नाथ, एक समय में भूलकर दुःख की दशा उत्पन्न की है, वह बन्ध है। राग की कहो या दुःख की कहो। आहाहा! उस आनन्द के नाथ के साथ, एक समय की पर्याय में (दुःख उत्पन्न करता है)। द्रव्य के साथ नहीं। एक समय की पर्याय दुःख के भाव में आकर अटकी है। वह बन्ध है। उस बन्ध को ज्ञान की पर्याय—प्रज्ञा दूसरे समय में अन्तर शुद्ध जीवद्रव्य (की ओर) झुकती है और राग को भिन्न करती है। भिन्न करती है, वह व्यवहार (कथन है), निश्चय से तो यहाँ झुकती है, ढलती है। आहाहा!

मुमुक्षु : चौथे गुणस्थान की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, चौथे से (ऐसा होता है)। चौथे से एक समय (में) मिथ्यात्व से पृथक् पड़े और सर्वथा बन्ध से भी एक ही समय में पृथक् पड़े, ऐसा विचारने में रुका रहे, मुफ्त का तूफान—झगड़ा करना, इसकी अपेक्षा वांचन, विचार, मन्थन में रुके तो कुछ लाभ तो हो। व्यर्थ के झगड़े करना... अरे रे! ऐसा काल कब आवे? भाई!

आहाहा! देखो न, लोग किस प्रकार..? कल नहीं सुना? पति-पत्नी दो घूमने जाते थे। घर का वास्तु (था)। वहाँ दोनों जनें आमन्त्रण देने जाते थे। अभी विवाह नहीं किया था। क्या कहलाता है तुम्हारे? मोटर साईकिल! हम उसे खड़खडीयुं कहते हैं! खटखटियुं! खट... खट... खट... चले। वे उड़ गये, दोनों उड़ गये, दोनों मर गये। आहाहा! उसे एक ही समय लगता है। देह से छूटने को एक समय लगता है। आहाहा! आहाहा! उस समय में छूटा, ऐसा कहाँ गया होगा? आहाहा! ऐसे बेचारे साधारणतो देव हों नहीं, मनुष्य हो नहीं, नरक में जाये नहीं। पंचेनिद्रय पशु की संख्या बहुत है। अरे रे! वक्रता के भाव किये होंगे, वह तिर्यंच में जाकर अवतरित होगा। जिसने ऐसे राग से भिन्न करके भाव किये हैं, (वह) मोक्ष में उत्पन्न होगा। आहाहा! ऐसा कठिन तो लगे न?

यह एक जगह आता है न? ऐसा ही आता है न? कठिन तो है, ऐसा है न? अन्यत्र कहीं आता है। कठिन है, परन्तु हो सकता है। पहले कहीं आ गया है, नहीं? इसमें आता है, दु:खो! इसमें '**रभसात्**' आता है। किसमें?

मुमुक्षु : १८१ कलश, १७२ पृष्ठ।

पूज्य गुरुदेवश्री : १७२ (पृष्ठ) बस! यही, इसमें ही आता है। वहाँ है, लिखा है। **अनुभव कठिन है, तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है।** यह भी कहा है और यहाँ नीचे 'रभसात्' (आता है)। **अति सूक्ष्म काल—एक समय में गिरती है...** देखा? एक समय ही लगता है। इसी में और इसी में दोनों बातें। आहाहा! है? आहाहा!

मुमुक्षु : शुरु करे और पूरा हो, उसमें एक ही समय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो एक ही समय है, बस! शुरु करे, शुरु किया और शुरु हो गया, वह एक ही समय में। एक समय की पर्याय में बन्ध है न? तो एक समय की

पर्याय में से बन्ध छूटता है, बस! भले उसके ख्याल में आने में देरी लगे, परन्तु ऐसे तो एक समय में पृथक् पड़ जाता है।

श्रीमद् में आता है न? जात्यान्तर हो जाता है, ऐसा आता है। समकित एक समय में होने पर ज्ञान जात्यान्तर हो जाता है। श्रीमद् में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले कहा न कि अभ्यास करने में देरी लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभ्यास करने में अर्थात् यह तो व्यवहार (से कहा जाता है)। इसका अर्थ (यह है)। परमार्थ से तो एक ही समय का अभ्यास है। यह तो उपयोग जरा वह है, इसलिए इस राग से भिन्न करते हैं, परन्तु वह भी भेदज्ञान का विकल्प है। यह पहले आ गया है। ऐसे भेदज्ञान करे, वह भी विकल्प है, पृथक् पड़ा नहीं। वह विकल्प है, वह अभी विचार करता जाता है, परन्तु पृथक् पड़ा नहीं है। आहाहा! यह सब आता है, देखा? 'कठिन है' यह अनुभव प्रकाश में भी आता है। ऐसा लिखा है, पृष्ठ ५६। उसमें भी कठिन (शब्द) आता है, परन्तु अशक्य नहीं है। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) यह करौंत है। **उसके द्वारा... 'दलनात्' निरन्तर अनुभव का अभ्यास करने से।** ऐसा। यहाँ लिया, देखा? अभ्यास अर्थात् अनुभव का अभ्यास।

मुमुक्षु : अनुभव तो एक समय में होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अनुभव का अभ्यास इसका अर्थ है। अनुभव का अभ्यास अर्थात्? विकल्प से पृथक् करे, वह अनुभव का अभ्यास नहीं। आहाहा! **अनुभव का अभ्यास करने से।** (अर्थात्) आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की ओर ढलने से। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार करौंत के बार-बार चालू करने से पुद्गलवस्तु काष्ठ आदि दो खण्ड हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञान के द्वारा जीव-पुद्गल को बार-बार भिन्न-भिन्न अनुभव करने पर... भिन्न-भिन्न अनुभव करने पर, हों! बारम्बार... बारम्बार अनुभव करना। अन्दर का अन्दर। बारम्बार अनुभव करना— ऐसा कहते हैं मूल तो। समय-समय में भेद अनुभव करना, समय-समय में विकल्प से (भिन्न) करना, ऐसा नहीं। समय-समय में अनुभव करना। पूरा पूर्ण छेदना है न? इसलिए कहा है। बारम्बार अनुभव का अर्थ (यह कि) उसकी ओर ढलते-ढलते अनुभव तो

हुआ परन्तु अब बारम्बार अनुभव करने से बन्ध छूट जाता है, ऐसा कहना है। पूर्ण बन्ध छूट जाता है। मोक्ष लेना है न? समझ में आया? आहाहा!

अनुभव से पृथक् तो पड़ा एक समय में, परन्तु अब अभी अस्थिरता बाकी है न? उसे छोड़कर मुक्ति करनी है न, मुक्ति? इसलिए बारम्बार अनुभव में जाने से वह मुक्त हो जाता है, ऐसा। आहाहा! अन्तर्मुहूर्त में सब (हो जाता है)। आहाहा! छह महीने जहाँ लिखा है, वहाँ ऐसा लिखा है कि जघन्य अन्तर्मुहूर्त। परन्तु बहुत कठिन लगे, इसलिए छह महीने लिये हैं। अर्थ में लिखा है। है, खबर है। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार करौंत के बार-बार चालू करने से पुद्गलवस्तु काष्ठ आदि दो खण्ड हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञान के द्वारा जीव-पुद्गल को बार-बार भिन्न-भिन्न अनुभव करने पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं,... यहाँ मोक्ष की बात है न? **इसलिए भेदज्ञान उपादेय है।** ऐसा। एक ही काल में, (एक ही) समय में वह पृथक् पड़ा, उसी समय में कहीं मोक्ष नहीं होता। (एक) समय में पृथक् पड़ा, उसी समय में कहीं मुक्ति नहीं होती। पृथक् पड़ा, पश्चात् बारम्बार उस ओर अनुभव करते-करते पृथक् पड़ जाता है, एकदम बन्ध से रहित हो जाता है। मुक्ति!

मुमुक्षु : बारहवें गुणस्थान में भेदज्ञान....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बारहवें में है, चलता है। वहाँ अन्दर अबुद्धिपूर्वक नहीं। यह १८० (कलश पूरा हुआ)। अब, १८१ (कलश) बड़ा है, दो पृष्ठ भरे हैं।

कलश - १८१

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानवे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ।।२-१८१।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य तथा कर्मपर्यायरूप परिणत पुद्गलद्रव्य का पिण्ड, इन दोनों का एकबन्धपर्यायरूप सम्बन्ध अनादि से चला आया है; सो ऐसा सम्बन्ध जब छूट जाये, जीवद्रव्य अपने शुद्धस्वरूपरूप परिणवे, अनन्त चतुष्टयरूप परिणवे, तथा पुद्गलद्रव्य, ज्ञानावरणादि कर्मपर्याय को छोड़े-जीव के प्रदेशों से सर्वथा अबन्धरूप होकर, सम्बन्ध छूट जाये; जीव-पुद्गल दोनों भिन्न-भिन्न हो जावें, उसका नाम मोक्ष कहने में आता है। उस भिन्न-भिन्न होने का कारण, ऐसा जो मोह-राग-द्वेष इत्यादि विभावरूप अशुद्धपरिणति के मिटनेपर, जीव का शुद्धत्वरूप परिणमन। उसका विवरण इस प्रकार है कि शुद्धत्वपरिणमन, सर्वथा सकल कर्मों के क्षय करने का कारण है। ऐसा शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा द्रव्य का परिणमनरूप है, निर्विकल्परूप है; इसलिए वचन के द्वारा कहने का समर्थपना नहीं है। इस कारण इस रूप में कहते हैं कि जीव के शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण, सो मोक्ष का कारण है। उसका समाधान ऐसा है कि शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान, वह जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिए हुए है। जिसको शुद्धत्वपरिणमन होता है, उस जीव को शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य होता है, धोखा नहीं; अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता; इसलिए शुद्धस्वरूप का अनुभव, मोक्ष का कारण है। यहाँ अनेक प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव, नाना प्रकार के विकल्प करते हैं, सो उनका समाधान करते हैं। कोई कहते हैं कि जीव का स्वरूप और बन्ध का स्वरूप जान लेना, मोक्षमार्ग है। कोई कहते हैं कि बन्ध का स्वरूप जानकर, ऐसा चिन्तवन करना कि 'बन्ध कब छूटेगा, कैसे छूटेगा' —ऐसी चिन्ता, मोक्ष का कारण है। ऐसा कहते हैं सो वे जीव, झूठे हैं—मिथ्यादृष्टि हैं। मोक्ष का कारण जैसा है, वैसा कहते हैं — 'इयं प्रज्ञाच्छेत्री आत्मकर्मोभयस्य अन्तःसन्धिबन्धे निपतति' [इयं] वस्तुस्वरूप से प्रगट है जो [प्रज्ञा]

आत्मा के शुद्धस्वरूप अनुभवसमर्थपने से परिणमा हुआ जीव का ज्ञानगुण, वही है [छेत्री] छैनी। भावार्थ इस प्रकार है कि सामान्यतया जिस किसी वस्तु को छेदकर दो करते हैं सो छैनी के द्वारा छेदते हैं। यहाँ भी जीव–कर्म को छेदकर दो करना है, उनको दो रूप से छेदने के लिये स्वरूपअनुभवसमर्थ ज्ञानरूप छैनी है; और तो दूसरा कारण न हुआ, न होगा। ऐसी प्रज्ञाछैनी जिस प्रकार छेदकर दो करती है, उस प्रकार कहते हैं— [आत्मकर्मोभयस्य] आत्मा—चेतनामात्र द्रव्य, कर्म–पुद्गल का पिण्ड अथवा मोह–राग–द्वेषरूप अशुद्धपरिणति, ऐसी है उभय—दो वस्तुऐं, उनको [अन्तःसन्धि] यद्यपि एक क्षेत्रावगाहरूप है, बन्धपर्यायरूप है, अशुद्धत्व–विकाररूप परिणमा है तथापि परस्पर सन्धि है; निःसन्धि नहीं हुआ है; दो द्रव्यों का, एक द्रव्यरूप नहीं हुआ है, ऐसा है जो — [बन्धे] ज्ञानछैनी के पैठने का स्थान, उसमें [निपतति] ज्ञानछैनी पैठती है, पैठी हुई छेदकर भिन्न–भिन्न करती है। कैसी है प्रज्ञाछैनी? 'शिता' ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम होनेपर, मिथ्यात्वकर्म का नाश होनेपर, शुद्धचैतन्यस्वरूप में अत्यन्त पैठन समर्थ है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार यद्यपि लोहसार की छैनी, अति पैनी होती है तो भी सन्धि का विचार कर देनेपर छेदकर दो कर देती है; उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान, अत्यन्त तीक्ष्ण है तथापि जीव–कर्म की है जो भीतर में सन्धि, उसमें प्रवेश करनेपर, प्रथम तो बुद्धिगोचर छेदकर, दो करता है; पश्चात् सकल कर्म का क्षय होने से, साक्षात् छेदकर भिन्न–भिन्न करता है। कैसा है जीव–कर्म का अन्तः सन्धिबन्ध? 'सूक्ष्मे' अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है। उसका विवरण इस प्रकार है—कि जो द्रव्यकर्म है ज्ञानावरणादि पुद्गल का पिण्ड, वह यद्यपि एक क्षेत्रावगाहरूप है तथापि उसकी तो जीव से भिन्नपने की प्रतीति, विचारने पर उत्पन्न होती है; कारण कि द्रव्यकर्म, पुद्गलपिण्डरूप है, यद्यपि एक क्षेत्रावगाहरूप है तथापि भिन्न–भिन्न प्रदेश है, अचेतन है, बँधता है, खुलता है—ऐसा विचार करनेपर, भिन्नपने की प्रतीति उत्पन्न होती है। नोकर्म है जो शरीर–मन–वचन, उससे भी उस प्रकार से विचारने पर, भेद–प्रतीति उपजती है। भावकर्म जो मोह–राग–द्वेषरूप अशुद्धचेतनारूप परिणाम, वे अशुद्धपरिणाम, वर्तमान में जीव के साथ एक परिणमनरूप हैं, तथा अशुद्धपरिणाम के साथ वर्तमान में जीव, व्याप्य–व्यापकरूप परिणमता है, इस कारण उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है, तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर, भिन्न प्रतीति होती है। उसका विचार ऐसा है कि जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वरूप से स्वच्छतामात्र वस्तु है, लाल, पीली, काली पुरी का संयोग प्राप्त होने से, लाल, पीली,

काली इसरूप स्फटिकमणि झलकती है; वर्तमान में स्वरूप का विचार करनेपर, स्वच्छतामात्र भूमिका स्फटिकमणि वस्तु है। उसमें लाल, पीला, कालापन परसंयोग की उपाधि है; स्फटिकमणि स्वभावगुण नहीं है; उसी प्रकार जीवद्रव्य का स्वच्छ चेतनामात्र स्वभाव है। अनादि सन्तानरूप मोहकर्म के उदय से, मोह-राग-द्वेषरूप रंजक अशुद्धचेतनारूप परिणमता है, तथापि वर्तमान में स्वरूप का विचार करनेपर, चेतना भूमिमात्र तो जीववस्तु है; उसमें मोह-राग-द्वेषरूप रंजकपना, कर्म के उदय की उपाधि है; वस्तु का स्वभावगुण नहीं है। इस प्रकार विचार करनेपर, भेद-भिन्न प्रतीति उत्पन्न होती है, जो अनुभवगोचर है। कोई प्रश्न करता है कि कितने काल के भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है—भिन्न-भिन्न करती है? उत्तर इस प्रकार है— 'रभसात्' अति सूक्ष्म काल-एक समय में गिरती है, उसी काल भिन्न-भिन्न करती है। कैसी है प्रज्ञाछैनी? 'निपुणैः कथं अपि पातिता' [निपुणैः] आत्मानुभव में प्रवीण हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव, उनके द्वारा [कथं अपि] संसार का निकटपना, ऐसी काललब्धि प्राप्त होने से, [पातिता] स्वरूप में पैठाने से पैठती है। भावार्थ इस प्रकार है कि भेदविज्ञान, बुद्धिपूर्वक विकल्परूप है, ग्राह्य-ग्राहकरूप है; शुद्धस्वरूप के समान निर्विकल्प नहीं है; इसलिए उपायरूप है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? 'सावधानैः' जीव का स्वरूप और कर्म का स्वरूप, उनके भिन्न-भिन्न विचार में जागरूक हैं; प्रमादी नहीं हैं। कैसी है प्रज्ञाछैनी? 'अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती' [अभितः] सर्वथा प्रकार [भिन्नभिन्नौ कुर्वती] जीव को और कर्म को जुदा-जुदा करती है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न करती है, उस प्रकार कहते हैं— 'चैतन्यपूरे आत्मानं मग्नं कुर्वती अज्ञानभावे बन्धं नियमितं कुर्वती' [चैतन्य] स्वपरस्वरूपग्राहक—ऐसा जो प्रकाशगुण, उसके [पूरे] त्रिकालगोचर प्रवाह में [आत्मानं] जीवद्रव्य को [मग्नं कुर्वती] एक वस्तुरूप-ऐसा साधती है; भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्धचेतनामात्र जीव का स्वरूप है, ऐसा अनुभवगोचर आता है; [अज्ञानभावे] रागादिपना में [नियमितं बन्धं कुर्वती] नियम से बन्ध का स्वभाव है—ऐसा साधती है। भावार्थ इस प्रकार है कि रागादि अशुद्धपना, कर्मबन्ध की उपाधि है; जीव का स्वरूप नहीं है—ऐसा अनुभवगोचर आता है। कैसा है चैतन्यपूर? 'अन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि' [अन्तः] सर्व असंख्यात प्रदेशों में एकस्वरूप, [स्थिर] सर्व काल शाश्वत, [विशद] सर्व काल शुद्धत्वरूप और [लसत्] सर्व काल प्रत्यक्ष, ऐसा [धाम्नि] केवलज्ञान-केवलदर्शन तेजपुंज है जिसका, ऐसा है।।२-१८१।।

कलश - १८१ पर प्रवचन

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानवे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ।।२-१८१।।

उपदेश में तो क्या कहे? ऐसा करना और ऐसे भिन्न करना, बन्ध को भिन्न करना। परन्तु ऐसा करे, वहाँ भिन्न पड़ता ही है। समझाने में तो क्या समझाना? कथन की ऐसी शैली, भाई!

भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य तथा कर्म पर्यायरूप परिणत पुद्गलद्रव्य का पिण्ड.... ऐसा लिया। कर्म लिया है न? **इन दोनों का एकबन्धपर्यायरूप सम्बन्ध...** है न? **एकबन्धपर्यायरूप सम्बन्ध अनादि से चला आया है...** आहाहा! द्रव्यस्वरूप तो कायम—त्रिकाल मुक्त है। उसकी पर्याय—एक समय की पर्याय राग के सम्बन्ध में अटकी है, बस! यह बन्ध। आहाहा! वह तो अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण स्वरूप ही है। परन्तु एक समय की पर्याय राग में अटकी, उतना दुःख है। पर्याय में, हों! अन्दर तो पूर्ण आनन्द है। आहाहा!

पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान ध्रुव; वह तो है, वह है, परन्तु पर्याय में—एक समय की दशा में बन्ध का—राग का सम्बन्ध है। है? वह **चला आया है; सो ऐसा सम्बन्ध छूट जाये, जीवद्रव्य अपने शुद्ध स्वरूपरूप परिणमे...** राग छूट जाता है और आत्मा शुद्धस्वरूप से परिणमता है। आहाहा! यह पर्याय की बात है न?

अनन्त चतुष्टयरूप परिणमे... लो! **शुद्ध स्वरूपरूप परिणमे...** इसकी व्याख्या की। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य—उसरूप परिणमे। शक्तिरूप तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तो है, त्रिकाल है। ध्रुवरूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन चतुष्टय तो है, परन्तु पर्यायरूप से अनन्त चतुष्टय प्रगटे... आहाहा! उसे यहाँ मोक्ष कहते हैं।

तथा पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मपर्याय को छोड़े... क्या कहते हैं? कर्म का नाश होता है, ऐसा न कहकर, कर्म की पर्याय को पुद्गल छोड़ता है। जो पुद्गल कर्म

की पर्यायरूप से परिणमित हुआ है, वह पर्यायरूप से परिणमने का छोड़ता है, बस इतना। आहाहा! है? **ज्ञानावरणादि कर्मपर्याय को छोड़े...** कर्मपर्याय को छोड़ता है। कौन? ज्ञानावरणादि कर्मपर्याय को छोड़ता है। कर्मपर्याय है न? वह पर्याय है। वह पुद्गल की एक पर्याय है। कर्मरूप परिणमे, वह पुद्गल की पर्याय है। उस पर्याय को छोड़ता है। आहाहा!

जीव के प्रदेशों से सर्वथा अबन्धरूप होकर... देखा? 'सर्वथा' शब्द आया। यह सर्वथा (शब्द) पाँच-छह बार आयेगा। जब वह पुद्गलद्रव्य **सर्वथा अबन्धरूप होकर सम्बन्ध छूट जाये, जीव-पुद्गल दोनों भिन्न (-भिन्न) हो जावें, उसका नाम मोक्ष कहने में आता है।** लो! मोक्ष कहना है न? सम्यग्दर्शन में भी पहले पृथक् पड़ता है, (परन्तु) वहाँ अभी मोक्ष नहीं है। अभी पर्याय में अशुद्धता का सम्बन्ध है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में द्रव्य पृथक् पड़ गया, द्रव्यकर्म-भावकर्म से पृथक् तो पड़ा, परन्तु श्रद्धा और ज्ञान के परिणमन की अपेक्षा से पृथक् पड़ा, अभी अस्थिरता की अपेक्षा से पर्याय का सम्बन्ध है। आहाहा! इसलिए यहाँ सर्वथा (शब्द प्रयोग किया है)। आहाहा!

सर्वथा अबन्धरूप होकर सम्बन्ध छूट जाये,... देखा? पहला तो सम्यग्दर्शन में ही अबन्ध परिणाम की दशा प्रगट होती है। '**जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।**' यह तो सम्यग्ज्ञान की बात है, (समयसार में) सम्यग्दर्शन की चौदहवीं (गाथा में), सम्यग्ज्ञान की १५वीं (गाथा में बात है), परन्तु वहाँ दर्शन-ज्ञान में अबन्धस्वरूप का ज्ञान और दर्शन होता है, परन्तु अभी अबन्धस्वरूप में पर्याय में मुक्ति नहीं। समझ में आया? आहाहा!

जीव-पुद्गल दोनों भिन्न (-भिन्न) हो जावें, उसका नाम मोक्ष कहने में आता है। आहाहा! **उस भिन्न-भिन्न होने का कारण ऐसा जो मोह-राग-द्वेष इत्यादि विभावरूप अशुद्ध परिणति के मिटने पर...** अशुद्ध परिणति के व्यय से, **जीव का शुद्धत्वरूप परिणमन।** आहाहा! अब यह उत्पाद हुआ। अशुद्ध परिणमन का नाश और शुद्ध परिणमन की उत्पत्ति। द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध है। पर्याय में जो अशुद्धता थी, उसका नाश (हुआ) और पर्याय में शुद्धता की परिणति (प्रगट हुई)। आहाहा! कितना गम्भीर! (भिन्न-भिन्न) हो जाते हैं। है?

उस भिन्न-भिन्न होने का कारण ऐसा जो मोह-राग-द्वेष इत्यादि विभावरूप अशुद्ध परिणति के मिटने पर जीव का शुद्धत्वरूप परिणमन। उसका विवरण इस प्रकार है कि शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा सकल कर्मों के क्षय करने का कारण है। देखो? शुद्धत्व परिणमन, ऐसा कहा। आहाहा! अशुद्धता परिणमन, वह मोक्ष का कारण नहीं, वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा! **उसका विवरण इस प्रकार है कि शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा सकल कर्मों के क्षय करने का कारण है।** देखा? दूसरी बार आया। पहले (ऐसा कहा कि) सर्वथा अबन्धरूप होकर और सर्वथा सकल कर्म का क्षय होता है। सर्वथा आया! आहाहा!

ऐसा शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा... तीसरी बार आया। **सर्वथा द्रव्य का परिणमनरूप है,...** आहाहा! शुद्ध द्रव्य है, उसका शुद्धत्व परिणमन, वह शुद्ध द्रव्य का है। आहाहा! उसमें कोई अशुद्धता का अंश निमित्त है नहीं। शुद्ध द्रव्य का ही वह परिणमन है। कर्म का अभाव हुआ, इसलिए शुद्ध परिणमन हुआ, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि उसमें अभाव नाम का तो गुण है। कर्म का अभाव होना, उसका तो गुण है। इसलिए यहाँ अभावरूप से परिणमा। वह कर्म छूटे, इसलिए अभावरूप से परिणमा, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत गम्भीरता!!

सर्वथा सकल कर्मों का क्षय... सर्वथा द्रव्य का परिणमनरूप है, निर्विकल्परूप है,... भेदज्ञान होकर स्वरूप की प्राप्ति (होना, वह) तो निर्विकल्प है। पर्याय, हों! वस्तु तो निर्विकल्प है ही, परन्तु राग से भिन्न पड़ा तो परिणमन शुद्धत्व (हुआ), वह निर्विकल्प है। राग के अभावस्वभावस्वरूप है। आहाहा! **इसलिए वचन के द्वारा कहने का समर्थपना नहीं है।** क्या कहते हैं, देखा? क्या तुमने पूछा और क्या इसमें कहना? कहते हैं। अभी कहेंगे।

इसलिए वचन के द्वारा कहने का समर्थपना नहीं है। आहाहा! **इस कारण इस रूप में कहते हैं...** इसलिए इस रूप से कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। सीधे वचन द्वारा पूर्ण कहा जा सके ऐसा नहीं है। तब उसे इस प्रकार से कहा जाता है। कहा जाता है ऐसा नहीं, तथापि उसे इस प्रकार से कहा जाता है। ऐसी दो भाषा (की)। आहाहा! गजब टीका की है न परन्तु!

कि जीव के शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण,... लो! ऐसा कहा जाता है। पहले तो ऐसा कहा कि, **सर्वथा द्रव्य का परिणमनरूप है, निर्विकल्परूप है, इसलिए वचन के द्वारा कहने का समर्थपना नहीं है। इस कारण इस रूप में कहते हैं कि जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण,...** यह इतना कहा जाता है, ऐसा है। ज्ञानगुण अर्थात् आत्मा शुद्धरूप परिणमता है, बस! यह इतना कहा जाता है। आहाहा! (तुम्हारे) बहियों में ऐसे लेख भी कभी आये नहीं होंगे। आहाहा! एक-एक शब्द में कितनी गम्भीरता भरी है! ऐसे ऊपर-ऊपर से वाँच जाये और फिर (कहे) ऐसे से भी समझे। परन्तु सुन तो सही, धीर तो हो! ऊपर-ऊपर से नहीं, अन्दर से देख। आहाहा!

मुमुक्षु : आप बारम्बार कहते हो तो पकड़ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची। सूक्ष्म बात के पहलू (बहुत हैं)। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? बापू! आहाहा!

वीतराग मार्ग सन्तों (ने) सरल कर दिया। अनुभवप्रकाश में आता है। सन्तों ने सरल मार्ग किया है। दिगम्बर महामुनि! आहाहा! एकदम सादी भाषा में सरल कर दिया है। आहाहा! ऐसी बात अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! दीपचन्दजी कहते हैं, सन्तों ने मार्ग सरल कर दिया है। आहाहा! भगवान! तेरा शुद्ध द्रव्य है न? वह शुद्धरूप परिणमे, उसका नाम धर्म (और) पूर्ण परिणमे, इसका नाम मोक्ष। आहाहा! बाकी दूसरा क्या कहें हम? (क्योंकि) पहले तो इनकार किया न? वचन द्वारा कहने का समर्थपना (नहीं है)। किस प्रकार कहना उसे? एक समय में बन्ध पृथक् होकर मोक्ष की परिणति आवे! आहाहा! ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानगुण शुद्धरूप परिणम गया, बस! आहाहा!

सो मोक्ष का कारण है। देखा? आहाहा! **उसका समाधान ऐसा है कि शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान वह, जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिए हुए है।** भाषा इतनी की। **शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान वह, जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिए हुए है।** शुद्धत्वपरिणमन से सहित है। आहाहा! अकेला शुद्ध द्रव्य जैसा मुक्त था, वैसा ही शुद्ध परिणमन मुक्त पर्याय हुई, इसका नाम मोक्ष कहा जाता है, कहते हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १०, बुधवार, दिनांक-०४-०१-१९७८, कलश-१८१, प्रवचन-१९३

कलशटीका, १८१ कलश है। नीचे है। **उसका समाधान ऐसा है कि...** है न? नीचे की लाईन है। **शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान...** क्या कहते हैं? कि ज्ञान अर्थात् यह आत्मा, विकार—पुण्य-पाप और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से रहित, ऐसा जो आत्मा, उस शुद्ध आत्मा का परिणमन—वीतरागी दशा **है जो ज्ञान वह, जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिए हुए है।** क्या कहा?

स्वरूप का अनुभव जो है; क्रिया नहीं, यह व्रत, तप और भक्ति आदि क्रियाकाण्ड है, वह तो राग है, वह कहीं मोक्ष का मार्ग है ही नहीं। ऐसी बात है। शुद्धस्वरूप का अनुभव (अर्थात्) चैतन्य निर्मल आनन्द के सन्मुख होकर अनुभव होना, आनन्द का अनुभव होना, शुद्ध ज्ञान की दशा का वेदन होना, सम्यग्दर्शन की पर्याय शुद्ध है, उसकी प्रतीति होना—ऐसे अनन्त गुण जो शुद्ध हैं, उनका वर्तमान में पर्याय में अनुभव होना, वह मोक्ष का मार्ग है। है?

जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिए हुए है। आहाहा! व्रत, भक्ति, दया, दान, वह तो विकल्प और राग है। वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! है? **जीव के शुद्धत्वपरिणमन को...** कौन? स्वरूप का जो अनुभव। शुद्ध स्वरूप का जो अनुभव है, वह **शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिए हुए है।** शुद्धस्वरूप का अनुभव शुद्धत्वपरिणमन से सहित है, ऐसा सिद्ध किया। क्या कहा? आहाहा! भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्यघन है, यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से भी वह भिन्न चीज़ है, ऐसे शुद्धस्वरूप का अनुभव, उसे अनुसरकर आनन्द का वेदन आदि होना, वह शुद्धत्वपरिणमन से सर्वथा सहित है। पहले तो कहा कि अनुभवसहित है। अर्थात् क्या कहा? ऐसा कहा कि, शुद्धस्वरूप का जो अनुभव है, वह शुद्ध परिणमन से सर्वथा सहित है, ऐसा कहा। सहित है, ऐसा है। शुद्ध परिणमन से सहित है, ऐसा कहकर यह कहा कि शुद्धस्वरूप का जो अनुभव है, वह अशुद्ध परिणमन से रहित है। इसलिए उसे यहाँ सहित कहा गया।

फिर से, यहाँ से सिद्धान्त दिया है न? **शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमाता**

है ज्ञानगुण,... अर्थात् आत्मा **सो मोक्ष का कारण है। उसका समाधान ऐसा है कि शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप है जो...** आत्मा अर्थात् ज्ञान। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, वह शुद्ध स्वयप का अनुभव करना—निर्विकल्प (अनुभव करना)। राग के अवलम्बन बिना शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना, वह शुद्ध स्वरूप के परिणमन से सर्वथा सहित है। आहाहा! एक शब्द में कितना डाला है, देखो! समझ में आया? मार्ग तो ऐसा है। अभी तो ऐसा कहते हैं कि यह व्रत, तप और पूजा करो, करते-करते कल्याण होगा। यह एकदम मिथ्याश्रद्धा है। कहो, समझ में आया?

यह क्या कहते हैं? यह कहाँ का है? राजमल की टीका है, श्लोक तो अमृतचन्द्राचार्य का है। दिगम्बर मुनि! इसका अर्थ करते हुए राजमलजी ऐसा कहते हैं कि यह भगवान जो आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन है, उसका अनुभव, शुद्ध परिणमन से सहित है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! ऐसी दो बातें क्यों की? पहले तो कहा था, **जीव के शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण,...** ऐसा। आत्मा अपने आत्मा को शुद्धरूप परिणमावे। यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से रहित है। आहाहा! है? यह परिणमावे अर्थात् क्या? ऐसा कहते हैं।

शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप है जो... आत्मा अर्थात् ज्ञान। **वह, जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिये हुए है।** कोई ऐसा कहे, कथंचित् शुद्ध का अनुभव (और) कथंचित् अशुद्ध भाव भी सहित है, दया, दान, राग आदि भी सहित है। (तो) ऐसा नहीं है। समझ में आया? शुद्धस्वरूप चैतन्य व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प जो राग, उससे भी भिन्न बतलाने के लिये शुद्धस्वरूप का अनुभव, वह शुद्ध परिणमन से सर्वथा सहित है। कथंचित् अशुद्धपना भी साथ में है, ऐसा नहीं। धर्मचन्दजी! है इसमें? शान्तिभाई! है इसमें? है या नहीं? वहाँ कभी पढ़ा है या नहीं? क्या कहा?

आहाहा! गजब बात है! वस्तु की—सत्य की स्पष्टता इस प्रकार से करते हैं। आहाहा! सत् प्रभु, सत् साहेब चैतन्य प्रभु, वह तो शुद्ध पवित्र आनन्दकन्द है। उसका अनुभव करना, वह शुद्ध परिणमनवाला है। उसका अनुभव शुद्ध परिणमनवाला है। क्यों? कि शुद्धस्वरूप का अनुभव अर्थात् ज्ञान, वह शुद्ध परिणाम से सर्वथा सहित है। अशुद्ध परिणाम से सर्वथा रहित है। आहाहा! एक वाक्य में कितना कहा! आहाहा!

समझ में आया? यह अभी बड़ा विवाद करते हैं न? सम्यग्दर्शन बिना जो यह व्रत पाले, अपवास करे, तपस्या करे, नग्नपना (ले) वह भी मोक्ष का कारण है। तीन काल में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

'सर्वथा' शब्द प्रयोग किया है, देखा? जैनदर्शन में एकान्त नहीं होता है न? इसके लिये शब्द प्रयोग किया है कि भाई! शुद्ध परिणमन से सहित ही अनुभव होता है, अशुद्ध परिणाम से नहीं। इसके लिये सर्वथा (शब्द) प्रयोग किया है। एकान्त आत्मा का—शुद्ध चैतन्य का अनुभव, वह शुद्ध परिणमन से सहित ही सर्वथा है। उसमें किंचित् भी अशुद्ध व्यवहाररत्नत्रय के राग की सहायता या मदद है नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो हजारो वर्ष पहले का शास्त्र है और टीका राजमलजी ने की है। समयसार नाटक में बनारसीदास कहते हैं कि 'जैनधर्म के मर्मी'! 'राजमल जैनधर्म के मर्मी'!! उन्होंने यह टीका बनायी है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इसके ज्ञान में अभी विकल्पसहित निर्णय का भी ठिकाना नहीं। विकल्पसहित निर्णय में मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु विकल्पसहित निर्णय में यह शुद्धस्वरूप का अनुभव, वह सर्वथा शुद्ध परिणमन से सहित है, अशुद्ध परिणमन से बिल्कुल नहीं। ऐसा अभी विकल्प से शुद्धस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। तथापि वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। आहाहा! समझ में आया? बहुत गम्भीर बताया है!!

धर्म अथवा मोक्ष का मार्ग, वह शुद्ध चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त ईश्वरता, अनन्त स्वच्छता और अनन्ताअनन्त कर्ता नाम का गुण, अनन्त करण नाम का गुण, वे सब शुद्ध हैं। आहाहा! उस शुद्ध का परिणमन होना (वह धर्म है)। कर्तारूप से, साधनरूप से; करण अर्थात् साधन, अपने-अपने कर्तारूप से और साधनरूप से। आहाहा! शुद्ध पवित्र स्वभाव को अनुसरकर शुद्धपने के परिणमन सहित होना, वह सर्वथा शुद्ध परिणमन है, ऐसा कहते हैं। उसमें किंचित्मात्र भी अशुद्धता नहीं। आहाहा! बहुत सरस बात है! मीठी मधुरी!! आहाहा!

ऐसा मार्ग है, उसे दूसरे प्रकार से कहे। व्यवहार करते-करते होगा। दया, दान, भक्ति, पूजा, मन्दिर बनाना, करोड़ों के दान देना। उसमें से धीरे-धीरे मोक्षमार्ग होगा। सेठ! लो, सेठ इनकार करते हैं। ऐसा नहीं होगा।

मुमुक्षु : वास्तविक भिन्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों भाव से भिन्न है। आहाहा! कैसी बात है, देखो न! परमसत्य को खुल्ला करके रखा। समाज को कैसे रहेगा? कैसे नहीं? मार्ग यह है, बापू! 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पंथ'। आहाहा! वह यह।

जो आत्मा—अनन्त गुण, संख्या से अनन्त... अनन्त... अनन्त... वे सब पवित्र हैं, शुद्ध हैं। उनका पूरा द्रव्य, वह शुद्ध है। उस द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से जो पर्याय में शुद्ध निर्मलता की अतीन्द्रिय आनन्दसहित अतीन्द्रिय ज्ञान का अंश आवे, अतीन्द्रिय आनन्द आवे, ईश्वरता का अंश आवे, प्रभुता का अंश आवे, स्वच्छता का अंश आवे, कर्ता शुद्ध गुण है, उसका कर्तापने का शुद्ध अंश आवे, करण जो गुण है, उसका शुद्धपने साधन में, शुद्धपने पर्याय में आवे... आहाहा! ऐसे सब शुद्ध परिणमन का अनुभव, वह सर्वथा शुद्ध परिणमन से सहित है। आहाहा! गजब है न! एक लाईन में... आहाहा! बारह अंग का सार भर दिया है!! है?

सर्वथा! जैनधर्म में सर्वथा नहीं होता न? सर्वथा क्यों नहीं होता? आत्मा सर्वथा नित्य है, ऐसा नहीं, अनित्य भी है। ऐसा कहने के लिये। परन्तु शुद्ध परिणमन में कथंचित् अशुद्ध (परिणमन) भी है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रमाण-नय-निक्षेप से अशुद्धता कैसे रह जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुद्धता तो कहीं रह गयी। अशुद्धता बन्ध के कारण में रही। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा सब बन्ध के कारण में रह गया। आहाहा! आवे, हो सही, परन्तु वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं, वह शुद्ध परिणमन नहीं, वह शुद्ध का अनुभव नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कारण तो सही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, फिर कारण-फारण कैसा? निरपेक्ष है, व्यवहार की अपेक्षा से शुद्ध स्वरूप का अनुभव—शुद्ध परिणमन सर्वथा सहित पर से निरपेक्ष है। आहाहा! आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : 'चरणानुसारि द्रव्यम्' ऐसा क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसे बतलाया कि, राग की मन्दता उसके प्रमाण में हो, उसका इतना यहाँ अनुभव हो उतना। उसके कारण होता है, ऐसा नहीं है। ऐसा कहा नहीं वहाँ। जैसे छठवें गुणस्थान में संज्वलन की राग की मन्दता हो तो उतने ही प्रमाण में अपने को यहाँ अनुभव में स्थिरता विशेष आनन्द हो। उसके कारण होता है, ऐसा नहीं। वह तो राग की तीव्र मन्दता जिसे अन्दर हो, उसे यहाँ अनुभव की उग्रता विशेष होती है, ऐसा बतलाया है। चरण अनुसार अर्थात् जो राग है, उसे अनुकूल अनुभव है। वह अनुभव इस राग के कारण है, यह प्रश्न वहाँ नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

चौथे गुणस्थान में राग की विशेषता है तो वहाँ अनुभव इतना कठोर (नहीं), जैसा छठवें का है, वैसा अनुभव वहाँ नहीं होता। इतना बतलाना है। पाँचवें में उससे कुछ मन्द राग है, इससे उसके प्रमाण में वहाँ अनुभव होता है। क्योंकि राग मन्द है, उसके अनुपात में अनुभव (होता है)। उसके कारण होता है, यह प्रश्न वहाँ नहीं है। उससे उसका ज्ञान करने के लिये ऐसा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? और मुनि को छठवें गुणस्थान में राग बहुत मन्द होता है तो उसे अनुसरकर उतनी तीव्रता शुद्धता की होती है, ऐसा बतलाना है। समझ में आया?

चरण अनुसार.... वहाँ आया है न? अर्थात्? फिर से लेते हैं कि यहाँ जितनी शुद्धता उग्र है, उसके प्रमाण में वहाँ राग की मन्दता होती है, ऐसा इसका अर्थ है। चौथे गुणस्थान में शुद्धता अल्प है तो उसके प्रमाण में वहाँ राग की विशेषता है। मात्र इन दो की भिन्नता में राग अधिक और शुद्धता कम, यहाँ राग कम और शुद्धता अधिक है, इतना बतलाना है। समझ में आया? आहाहा! 'द्रव्यानुसार चरणम्, चरणानुसार द्रव्यम्' इसका अर्थ यह है। प्रवचनसार (में है) है, सब (खबर है)। आहाहा! भगवान का मार्ग कहीं पूर्वापर विरोध नहीं होता। सर्वत्र अविरोध है। आहाहा! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वीतराग... आहाहा! उनकी वाणी और सन्तों की वाणी, सब एक है। पूर्वापर विरोधरहित है। आहाहा! वहाँ तो चरणानुयोग का कथन है, इसलिए चरणानुयोग का व्यवहार जिसे अभी राग मन्द है तो उसके प्रमाण में यहाँ शुद्धता विशेष है, ऐसा ज्ञान कराते हैं। राग तीव्र है तो शुद्धता कम है। उसके कारण से है, ऐसा प्रश्न नहीं। राग तीव्र है तो यहाँ शुद्धता कम है। राग मन्द है तो शुद्धता अधिक है। ऐसा चरणानुयोग अर्थात् चरण को

अनुसरकर निर्मलता होती है और निर्मलता को अनुसरकर राग की मन्दता-तीव्रता होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : इतनी अपेक्षा तो आयी....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही होता है। उसके कारण नहीं। उसके कारण (नहीं)। राग मन्द है, इसलिए शुद्धता अधिक है, ऐसा नहीं। यहाँ तो राग मन्द है, उसके अनुसार ऐसा जानना कि यहाँ शुद्धता अधिक है, इतना। राग कुछ तीव्र है तो उसके अनुसार यहाँ शुद्धता थोड़ी है, ऐसा जानना। यह जानने के लिये बात है। आहाहा! समझ में आया? अभी तो गड़बड़ ऐसी हो गयी है। आहाहा! यह तो स्पष्ट बात है।

प्रभु एक ओर शुद्ध आनन्दघन है, उसे अनुसरकर जो अनुभव (होता है), वह सर्वथा शुद्धपरिणमन है और पर के लक्ष्य से जितना राग होता है, वह सर्वथा अशुद्धरूप से है। उसमें जरा भी शुद्धता है, ऐसा नहीं और इसमें जरा अशुद्धता है, ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : राग की अशुद्धता बढ़ी तो यहाँ शुद्धता घट गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ (शुद्धता) बढ़ी है तो राग मन्द होता है। होता है इतना। यहाँ शुद्धता कम हो तो राग अधिक होता है। शुद्धता बहुत हो और राग तीव्र हो, ऐसा होगा? शुद्धता थोड़ी हो और राग अत्यन्त मन्द हो, ऐसा होगा? इतना बतलाना है। इतना चरणानुयोग (चरण) के अनुसार द्रव्यानुयोग (द्रव्यं)। द्रव्यानुयोग अर्थात् द्रव्य नहीं लेना। द्रव्य का परिणमन लेना। समझ में आया? आहाहा!

सर्वथा लिये हुए है। जिसको शुद्धत्व परिणमन होता है... (अब) अधिक स्पष्ट करते हैं। जिससे भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का जिसे शुद्धत्व परिणमन (हुआ), द्रव्य के अवलम्बन से शुद्धत्वदशा होती है, परिणमन अर्थात् दशा, **उस जीव को शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य होता है,...** देखा? **जिसको शुद्धत्व परिणमन होता है उस जीव को शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य होता है,...** ऐसा कि शुद्धस्वरूप का अनुभव हो और अनुभव न हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसे **शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य होता है,...** किसे? जिसे शुद्ध परिणमन होता है उसे।

शुद्धस्वरूप जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति, उसके अनुसार जो शुद्ध परिणमन है... है? उसे

शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य होता है,... दो बातें कीं। पहली बात ऐसी की है कि स्वरूप के अनुभवरूप जो है ज्ञान (वह जीव शुद्धत्व परिणमन से) सर्वथा सहित है। अब ऐसे बदल दिया। **जिसको शुद्धत्व परिणमन होता है...** उसमें पीछे था न? उसमें शुद्ध परिणमन पीछे था, अनुभव पहले था। अब इसमें पहले शुद्धत्वपरिणमन, पश्चात् अनुभव (लिखा है)। आहाहा! कैसी बात है!

क्या कहा यह? भले दो लाईन में अटके, अपने दिक्कत नहीं। आहाहा! पहला ऐसा कहा था कि **शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान....** अर्थात् आत्मा। **वह, जीव के शुद्धत्वपरिणमन को सर्वथा लिये हुए है।** अब बदला। **जिसको शुद्धत्व परिणमन होता है...** यहाँ लिया। उसमें पहले अनुभव लिया था। उसे शुद्ध परिणमन सर्वथा होता है (ऐसा) कहा। अब यहाँ (कहते हैं) **जिसको शुद्धत्व परिणमन होता है उस जीव को शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य होता है,...** आहाहा! कैसी बात की, देखो न!

कोई ऐसा कहता है कि अनुभव हो उसे शुद्ध परिणमन नहीं है। शुद्ध परिणमन हो, उसे अनुभव नहीं है। हमको शुद्ध परिणमन तो है, परन्तु अनुभव नहीं। ऐसी खोटी बात है। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य है, ऐसा समझना पड़ेगा, भाई! बहुत अधिक लम्बा-लम्बा करे... आहाहा! कहो, नवलचन्दभाई! क्या कहा यह?

जिसे यह शुद्ध भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु का आश्रय लेकर जिसे अनुभव हुआ है, शुद्धता का अनुभव (हुआ है), वह शुद्धता का अनुभव, शुद्ध परिणमन सर्वथा सहित है। उसमें किंचित् अशुद्धता है नहीं, एक बात। जिसे शुद्धस्वरूप का परिणमन है, उसे शुद्धस्वरूप का अनुभव अवश्य है। कहो, यह तो समझ में आये ऐसी बात है। वस्तु इस प्रकार से है। यह तो इसमें समझाया। आहाहा! कोई कहे कि हमको शुद्ध अनुभव है परन्तु शुद्ध परिणमन नहीं। वह झूठा है। कोई कहे कि हमको शुद्ध परिणमन है परन्तु अभी अनुभव नहीं है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? लोग मुफ्त के ऐसे झगडे करते हैं। आहाहा! परम सत्य का पुकार है! आहाहा! मुनियों के हृदय का पुकार है। आत्मा अन्दर पुकारता है। आहाहा!

जिसे आत्मा भगवान चिद्घन आनन्दकन्द शुद्धस्वरूप का जिसे अनुभव (हुआ), उसे शुद्ध परिणमन सर्वथा सहित है। उसके अनुभव में जरा भी अशुद्धता का भाग है,

ऐसा है नहीं। अशुद्धता हो, परन्तु वह भिन्न है, ऐसा कहना है। भिन्न है। आहाहा! और जिसे शुद्ध परिणमन है, उसे शुद्ध अनुभव अवश्य है, अवश्य है। उसे शुद्ध परिणमन में अशुद्धता का अंश अनुभव में आता है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान का उपयोग बाहर हो तब भी?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ परिणमन है, उसे तो अनुभवलब्ध कहा जाता है। भले लब्धिरूप हो, परन्तु शुद्ध परिणमन है, वहाँ लब्धरूप भी अनुभव है और अनुभव है, वहाँ शुद्ध परिणमन है। आहाहा! बात बहुत (सूक्ष्म) सिद्ध करते हैं। आहाहा! '**प्रज्ञाछेत्री शितेयं**' तीक्ष्ण धारा! '**शितेयं**' है न? '**शितेयं**' शब्द है न? आहाहा!

सन्देह नहीं,... सन्देह नहीं। आहाहा! देखो! कितना स्पष्ट करते हैं! अब (कहते हैं), **अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता...** देखा? वापस लिया। पहला अनुभव (कहा) था न? उसे यहाँ वापस लिया। **अन्यथा सर्वथा प्रकार....** देखा? सर्वथा प्रकार से! शुद्ध परिणमन नहीं और शुद्ध अनुभव है, ऐसा सर्वथा प्रकार से अनुभव नहीं है। आहाहा! अकेले दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, उसे अनुभव, शुद्ध परिणमन बिल्कुल नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह तो धीर का काम है, बापू! यह कहीं कोई (कथा-वार्ता नहीं है)। आहाहा!

अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता... पहले अनुभव से शुरु किया था न? **समाधान ऐसा है कि शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान वह, जीव के शुद्धत्व-परिणमन को सर्वथा लिये हुए है।** इसलिए यहाँ कहा **अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता; इसलिए शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण है।** आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति मोक्ष का कारण नहीं। है इसमें? **शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण है।** आहाहा! अशुद्धता हो, पूर्ण शुद्ध अनुभव न हो, पूर्ण, (तो) अशुद्धता हो परन्तु मोक्ष का कारण तो शुद्धस्वरूप का अनुभव, वही मोक्ष का कारण है। उसी काल में दया, दान, व्रत का विकल्प उठता हो, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! वह होता है। साधक को बन्ध के कारण का विकल्प भी होता है और शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण भी होता है। होता है, इसलिए दोनों नय का ज्ञान बराबर है। परन्तु उससे यहाँ होता है, और ऐसा होता है उसे ऐसा राग होता है, उसके कारण से होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें (हिन्दी पुस्तक में) लिखा है कि धोखा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्देह नहीं। धोखा नहीं, हिन्दी ऐसी है। सन्देह नहीं, निःसन्देह ऐसा है। जहाँ-जहाँ शुद्ध अनुभव हो, वहाँ-वहाँ शुद्ध परिणमन है और जहाँ-जहाँ शुद्ध परिणमन है, वहाँ-वहाँ शुद्ध अनुभव है। (उसमें) बिल्कुल सन्देह नहीं। और जहाँ वह शुद्ध स्वरूप अनुभव नहीं... है न? आहाहा!

अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता; इसलिए शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण है। लो! आहाहा! दो-तीन लाईन में कितना भर दिया!

मुमुक्षु : अकेला वाँचे तो क्या समझ में आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ हीरा में कैसे अकेले परीक्षा करते हो? शान्तिभाई! वहाँ तो सामने चतुराई अकेले करते हो या नहीं? तो इसमें भी अकेले (कर सकता है)। दूसरा समझावे परन्तु स्वयं अपने को समझे तब न? ऐसी बात है न? आहाहा! बात है, देशनालब्धि होती है, सत् की देशनालब्धि होती है, परन्तु उसे प्राप्त करना है तो इसे स्वयं को। देशनालब्धि से कुछ प्राप्त नहीं होता। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी होती है। त्रिलोकनाथ की सर्वज्ञ के परमागम की, हों! आहाहा! कल्पित आगम आदि बनाये (हों), उनकी वाणी में तो देशनालब्धि का निमित्त भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन काम!

शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण है। यहाँ अनेक प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार के विकल्प करते हैं,... क्या कहते हैं? **उनका समाधान करते हैं। कोई कहते हैं कि जीव का स्वरूप और बन्ध का स्वरूप जान लेना मोक्षमार्ग है।** देखा? अनुभव है, वह शुद्ध परिणमन है और शुद्ध परिणमन है, वह अनुभव है और वह मोक्ष का कारण है। अब इससे विरुद्ध बोलनेवाले, कैसे हैं, उसकी बातें करते हैं। आहाहा! **कोई कहते हैं कि जीव का स्वरूप और बन्ध का स्वरूप जान लेना मोक्षमार्ग है।** यह जान लेना, वह मोक्षमार्ग कहाँ है? वह तो ज्ञान में धारणा हो गयी। वह कहीं अनुभव नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह मोक्षमार्ग है, **जान लेना मोक्षमार्ग है।** बस! बन्ध को जानना, कर्म को जानना, आत्मा है—ऐसा जानना, बस! वह मोक्ष का मार्ग है। ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जानकर पक्ष करे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानकर पक्ष करे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।... यह कर्म के बहुत भंगभेद सिखते हैं। श्वेताम्बर में यह आता है—'बन्धन परिहाणिया' ऐसा आता है। सूयगडांग का पहला श्लोक। बन्ध को जानो। बन्ध को क्या जाने ? उसका यहाँ विरोध है। बन्ध की कर्म की प्रकृति इतनी और उसकी इतनी, १४८ की ऐसी सत्ता होवे और पहले ऐसा होता है और चौथे (गुणस्थान में) ऐसा होता है। ऐसा बन्ध का स्वरूप जानकर जीव है, ऐसा जानना है। है, बस इतना। वह कोई मोक्ष का कारण नहीं। आहाहा! यहाँ तो (कहते हैं), जीव है, वह शुद्ध है, उस शुद्ध का अनुभव वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बात है, भाई! लोगों को मुश्किल पड़े, इसलिए (विरोध करते हैं)। लोग इसलिए चिल्लाहट मचाते हैं न! ऐई! सोनगढ़वाले निश्चय से ही मोक्ष का मार्ग कहते हैं। व्यवहार को मानते नहीं। व्यवहार है, निमित्त है। निमित्त है, (परन्तु) निमित्त से पर में कार्य नहीं होता। व्यवहार है, व्यवहार से निश्चय नहीं होता। समझ में आया ? आहाहा! अनेक प्रकार के विकल्प करता है।

कोई कहते हैं कि जीव का स्वरूप और बन्ध का स्वरूप जान लेना मोक्षमार्ग है। कोई कहते हैं कि बन्ध का स्वरूप जानकर ऐसा चिन्तवन करना कि 'बन्ध कब छूटेगा,...' विकल्प किया करना कि यह कब छूटेगा ? कब छूटेगा ? कब छूटेगा ? ऐसा मोक्ष का मार्ग नहीं है। वह तो राग है। आहाहा! गाथा में आता है न ? उसका स्पष्टीकरण है। मूल गाथा में आता है। कब छूटेगा ? ऐसा बन्ध कब छूटेगा ? वह **'कैसे छूटेगा' ऐसी चिन्ता मोक्ष का कारण है।** ऐसा अज्ञानी कहते हैं। आहाहा!

ऐसा कहते हैं सो वे जीव झूठे हैं... ऐसा कहनेवाले झूठे हैं। आत्मा है और बन्धन है, दोनों को जान लेना, वह मोक्ष का कारण (है, ऐसा जो कहते हैं), वे झूठे हैं। आहाहा! श्लोक बहुत ऊँचा आया है। आहाहा! प्रज्ञाछैनी!

मुमुक्षु : जानकर उसकी भावना करे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी भावना करे ? विकल्प की! विकल्प की भावना करे, वह कहीं भावना नहीं है। 'आतमभावना भावता जीव लहे केवलज्ञान' श्रीमद् में आता

है। वह आतमभावना अर्थात् अन्दर (आत्मा का) अनुभव (करे), वह जीव 'लहे केवलज्ञान' आत्मभावना (अर्थात्) आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है (ऐसा) विकल्प किया करे, वह मोक्ष का कारण बिल्कुल नहीं है। आहाहा! दुनिया कहाँ पड़ी है? प्रभु का मार्ग कहाँ रह गया?

अकेले निश्चय से मोक्ष का मार्ग कहते हैं, यह एकान्त है, ऐसा लोग कहते हैं। एकान्त सत्य है, ऐसा कहा। वह एकान्त झूठा है। बन्ध की चिन्ता, वह शुभराग है। शुभराग से मोक्ष का कारण माने (वह) अत्यन्त झूठा है। दया, दान के विकल्प राग हैं, वह तो झूठा है, परन्तु यहाँ तो बन्ध की चिन्ता, आत्मा ऐसा है, ऐसी चिन्ता करना, वह भी शुभभाव और झूठा है, वह मोक्ष का कारण नहीं। वह मोक्ष का कारण नहीं। आहाहा! है? **वे जीव झूठे हैं—मिथ्यादृष्टि हैं।**

अब, **मोक्ष का कारण जैसा है, वैसा कहते हैं...** लो! **'इयं प्रज्ञाच्छेत्री आत्मकर्मोभयस्य अन्तःसन्धिबन्धे निपतति'** आहाहा! आत्मा है, बन्धन है इतना नहीं। यहाँ तो आत्मा और बन्धन—दो का ज्ञान करके, प्रज्ञारूपी छैनी मारना और अनुभव करना, वह मोक्ष का कारण है। समझ में आया? है? **'प्रज्ञा'** प्रज्ञा का अर्थ करते हैं। **वस्तुस्वरूप से प्रगट है जो प्रज्ञा अर्थात् आतमा के शुद्धस्वरूप अनुभवसमर्थपने से परिणमा हुआ जीव का ज्ञानगुण,...** देखा? यह प्रज्ञा की व्याख्या (की)। आहाहा!

आत्मा के शुद्धस्वरूप... पवित्रस्वरूप का अनुभव समर्थ (अर्थात्) अनुभव करने में सामर्थ्यवाला परिणमित **जीव का ज्ञानगुण, वही है...** प्रज्ञा। उसे प्रज्ञा कहा जाता है। आहाहा! उसे बुद्धि और ज्ञान कहा जाता है।

मुमुक्षु : छह महीने आत्मभावना करे तब होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर्मुहूर्त में होता है। अभी आयेगा—एक समय में होता है। उसमें आयेगा। **'रभसात्'** है अन्दर? भिन्न-भिन्न करता है। **कितने काल के भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है—भिन्न-भिन्न करती है? उत्तर इस प्रकार है—अति सूक्ष्म काल—एक समय में गिरती है,...** लो, अन्दर प्रश्न है। उस ओर की पाँचवीं लाईन। **कितने काल के भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है.... कोई प्रश्न करता है कि कितने काल के भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है...** लो! यही शब्द है। है? एक ही समय है।

मुमुक्षु : पहले भावना की न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब विकल्प है। आहाहा!

मुमुक्षु : अकेला विकल्प या आत्मा का जोर ?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प नहीं, अकेला आत्मा का जोर। विकल्प जरा भी नहीं। विकल्प का सहारा जरा भी नहीं। यह तो पहली बात आ गयी। शुद्ध अनुभव में शुद्ध परिणमन और शुद्ध परिणमन में शुद्ध अनुभव है। अशुद्धता का अंश उसमें जरा भी नहीं। आहाहा! है न ? सामने पाठ है या नहीं ? यह कहीं घर का अर्थ चलता है ? आहाहा! यह कब का लिखा हुआ है ? यहाँ का—सोनगढ़ का है यह ? आहाहा!

मुमुक्षु : सोनगढ़ में प्रकाशित है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकाशित, चाहे जहाँ से प्रकाशित हो, उसमें क्या हो गया ? हीरा चाहे जिस घर में हो, परन्तु हीरा तो हीरा ही है। ढेढ़ के घर में हो तो भी हीरा है, उसमें क्या ? घर बदला, इसलिए हीरा की कीमत गयी ? प्रकाशित चाहे जहाँ ? भावनगर प्रकाशित करे, सोनगढ़ प्रकाशित करे, मुम्बई प्रकाशित करे, जयपुर प्रकाशित करे। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मुमुक्षु : अनुभव तो एक ही समय में होता है, कृपालुदेव में कहते हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही समय।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प का पुरुषार्थ। विकल्प से निर्णय करता है कोई प्रश्न करता है कि कितने काल ऐसा काम है। बहुत सरस! गाथा बहुत अच्छी आयी!! आहाहा!

क्या कहा ? अब, प्रज्ञा किसे कहना ? **आत्मा के शुद्धस्वरूप अनुभवसमर्थपने से परिणमा हुआ जीव का ज्ञानगुण, वही है...** प्रज्ञा और **वही है छैनी।** देखा ? आत्मा का अनुभव करना, वह प्रज्ञाछैनी है। आहाहा! है ? आत्मा के पवित्र—शुद्धस्वरूप का अनुभवसमर्थपने से परिणमित जीव का ज्ञानगुण, वह है प्रज्ञा और वह है छैनी। प्रज्ञाछैनी वह है। आहाहा! यहाँ तो अनुभव करना, वह प्रज्ञाछैनी है, ऐसा कहा। आहाहा! '**निपतति**'

कहा न? दो के बीच डालना। बन्ध और आत्मा के बीच। इसका अर्थ कि आत्मा का अनुभव करना। है?

भावार्थ इस प्रकार है कि सामान्यतया जिस किसी वस्तु को छेदकर दो करते हैं.... यह करौंत द्वारा लकड़ी के दो टुकड़े करते हैं न? **सो छैनी के द्वारा छेदते हैं। यहाँ भी जीव-कर्म को छेदकर दो करना है, उनको दो रूप से छेदने के लिये स्वरूपअनुभव-समर्थ ज्ञानरूप छैनी है;....** आहाहा! उन्हें दो-रूप छेदने के, पृथक् करने के लिये स्वरूपअनुभवसमर्थ ज्ञानरूपी छैनी है। आहाहा! दो करने के लिये 'यह बन्ध का ज्ञान और इसका ज्ञान' ऐसा यहाँ तो दो भी नहीं लिया। दो करने के लिये... आहाहा! अरे! ऐसी बातें शास्त्र में पड़ी है कितनी! हजारों वर्ष से! स्वाध्याय करे नहीं, चिन्तवन करे नहीं, अन्दर में अपनी ओर मनन न करे और यह क्या है? आचार्य सब उत्तराधिकार तो छोड़ गये हैं! इसका पिता उत्तराधिकार छोड़ जाये (तो) यह तुरन्त चाबी ले!

मुमुक्षु : तुरन्त उठा ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मर जाये तो (तुरन्त ले लेवे)। चार-पाँच भाई हों और वह मर जाये, चाबी होती है न? क्या कहलाता है? कड़ी! चाबी पहले ले लेवे, फिर मुर्दा उठावे। यह सब हुए, देखे हुए हैं, हों! नाम, ठाम, गाँव सब आता है। बहुत वर्ष हो गये न यहाँ तो? आहाहा! वृद्ध मरा वहाँ उसकी चाबी (ले लेवे)। मरा वहाँ एक व्यक्ति घुसकर ले लेवे! बापू चाबी रख गये हैं न? कहाँ गयी? (तो कहे), वह तो मैंने ले ली है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भगवान सन्त यह उत्तराधिकार रख गये हैं न, प्रभु! तू और कर्म और दो को भिन्न करना, प्रज्ञाछैनी—आत्मा का अनुभव, वह कारण है, बस! आहाहा! अभी जिसे निर्धार—ज्ञान में निर्णय का ठिकाना नहीं, उसे अनुभव कहाँ से होगा? ज्ञान में ही अभी विपरीतता है, यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, दान करूँगा तो होगा। वह तो मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का अनुभव होगा। आहाहा!

उनको दो रूप से छेदने के लिये स्वरूपअनुभवसमर्थ ज्ञानरूप छैनी है;.... देखा? **अनुभवसमर्थ ज्ञानरूप छैनी है;....** अनुभवसमर्थ ज्ञानरूपी छैनी, ऐसा लेना।

अनुभवसमर्थ ज्ञानरूपी छैनी है। आहाहा! **और तो दूसरा कारण न हुआ,...** यह अनेकान्त करते हैं। वे कहते हैं कि, दूसरे से—व्यवहार से होता है (और) निश्चय से होता है। यह तो एकान्त है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया?

और तो दूसरा कारण... अन्य अर्थात् व्यवहार के राग की मन्दता। दया, दान, व्रत बहुत करे, वह दूसरा कारण हुआ नहीं, होगा नहीं। आहाहा! अब अभी तो सर्वत्र यह ही लगायी है—व्रत करो, अपवास करो, तपस्या करो, भक्ति करो, पूजा करो। क्या कहा जाता है यह? दान दो। दहनपूजा! कर्म दहन की पूजा, कर्म-दहन पूजा करो। यहाँ तो कहते हैं लाख-करोड़ कर न, वह सब राग है, ले! उस राग से कभी तीन काल में मोक्ष का मार्ग नहीं होगा, ले! आहाहा! आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया, वह सब भाव शुभ है; वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा!

अन्दर में आनन्दस्वरूप का अनुभव करना... आहाहा! आहाहा! वह एक ही (कारण) है। **और तो दूसरा कारण न हुआ,...** लो! (कोई ऐसा कहता है कि), दो कारण से मोक्ष होता है। यहाँ तो इनकार करते हैं। व्यवहार और निश्चय—दो कारण से होता है। उपादान और निमित्त—दो कारण से मोक्ष होता है। धर्मचन्दजी! ऐसा है यह। **और तो दूसरा कारण न हुआ, न होगा।** हुआ नहीं परन्तु किसी को कभी हो तो? (तो कहते हैं), नहीं होगा। किसी को और राग की मन्दता करते-करते समकित हो जाये और अनुभव हो जाये। (तो कहते हैं), नहीं। हुआ नहीं और होगा नहीं। तीनों काल की बात ले ली। आहाहा! समझ में आया?

यह लोग कहते हैं, अध्यात्म की भाँग पीकर नाचे हैं, ऐसा कहते हैं। अरे... भगवान! अध्यात्म की (भाँग) नहीं कही जाती, प्रभु! अध्यात्म तो आत्मा कहलाता है, नाथ! तुझे ऐसे कैसे हुआ? आहाहा! अध्यात्म तो आत्मा है। (रहस्यपूर्ण चिट्ठी में) लिखा है, अभी तो अध्यात्म आत्मा है। है न? चिट्ठी में आता है। आहाहा! रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आया है। पत्र का उत्तर देते हैं, उसमें लिखा है। टोडरमलजी ने (लिखा है), अभी तो आत्मा अध्यात्म है। आहाहा! लो, यह तो पाँचवें काल के हैं, अभी तो दो सौ वर्ष हुए हैं। वे ऐसा कहते हैं कि अभी तो अध्यात्म आत्मा है। आहाहा! और वह आत्मा भी 'अपतिगच्छति इति आत्मा' भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूपपने परिणमे, वह

आत्मा। रागपने परिणमे, वह आत्मा? वह तो अनात्मा है, आस्रव है। आहाहा! काम बहुत (कठिन)! मध्यस्थता से एक बार एक घण्टे सुने न, तो इसे ख्याल में आवे कि मार्ग तो यह है। आग्रह रखकर (सुने तो समझ में न आवे)।

आहाहा! **और तो दूसरा कारण न हुआ, न होगा। ऐसी प्रज्ञाछैनी जिस प्रकार छेदकर दो करती है, उस प्रकार कहते हैं... ऐसी प्रज्ञाछैनी...** (अर्थात्) क्या कहा यह? कि स्वरूप के अनुभवसमर्थ ज्ञानरूप छैनी। ऐसा। वह छैनी किस प्रकार छेदकर दो करती है?

'आत्मकर्मोभयस्य' आत्मा-चेतनामात्र द्रव्य,... आहाहा! वह तो चेतना... चेतना... चेतना... चेतन—चेतनामात्र द्रव्य। चेतन भगवान आत्मा—चेतन आत्मा, चेतनामात्र वस्तु। वह तो जाननस्वभाव, दर्शनस्वभाव मात्र वस्तु है। आहाहा! आत्मा चेतनामात्र स्वरूप प्रभु, आहाहा! उसमें कोई पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम उसमें है नहीं। आहाहा! **आत्मा-चेतनामात्र द्रव्य, कर्म-पुद्गल का पिण्ड...** अब कर्म की व्याख्या (की है कि) वह तो पुद्गल का पिण्ड है। **अथवा मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति...** दो लिये। कर्म का पिण्ड वह जड़ लिया और अशुद्ध परिणति इसकी अपनी उसमें ली। उससे भिन्न करना है। देखा? अशुद्ध (परिणति से) भी भिन्न करना है। अशुद्ध को रखकर अन्दर आत्मा का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अशुद्ध परिणति, ऐसी है—दो वस्तुयें... एक ओर चेतनामात्र भगवान तथा एक ओर अशुद्ध परिणति। कर्म, वह तो निमित्त जड़ है। एक ओर अशुद्ध दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम—अशुद्ध परिणमन, वह कर्म तथा एक ओर आत्मा—चेतनामात्र, दो को भिन्न करना है। है?

उनको अन्तःसन्धिवाला... आहाहा! **यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है,...** देखा? वह राग-द्वेष अशुद्ध परिणाम को भी एकक्षेत्रावगाह कहे हैं। वे भावस्वभाव से कहे नहीं। समझ में आया? एक क्षेत्र में (होने पर भी) भाव भिन्न है। सूक्ष्म बात है, विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण ११, गुरुवार, दिनांक-०५-०१-१९७८, कलश-१८१, प्रवचन-१९४

कलशटीका, १८१ (कलश चलता है)। यहाँ तक आया है। **प्रज्ञाछैनी जिस प्रकार छेदकर दो करती है, उस प्रकार कहते हैं...** आया न? यहाँ तक आया था कि **अन्य तो दूसरा कारण न हुआ, न होगा।** यहाँ तक आया था। अर्थात् क्या? कि आत्मा आनन्दस्वरूप का परिणमन और राग से भिन्न (परिणमन होना), वह मोक्ष का कारण है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण हुआ नहीं, होगा नहीं। यहाँ बात आयी है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप को राग से भिन्न करके ज्ञानानन्द शुद्ध परिणमन (करना), वह एक ही मोक्ष का कारण है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मोक्ष का कारण नहीं।

मुमुक्षु : किसी समय आप अनुभव को मोक्ष का कारण कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अनुभव को कहा न? दो बातें की हैं। अनुभव अर्थात् शुद्ध परिणमन। यह तो ऊपर बात हो गयी। देखो! पहली लाईन। **स्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान वह, जीव के शुद्धत्वपरिणमन से सर्वथा लिये हुए है।** ऊपर पहली लाईन है। कल आया था। दो-तीन बार कहा था। शुद्ध अनुभव अर्थात् शुद्ध परिणमन—जीव का शुद्ध परिणमन। जीव का शुद्ध परिणमन अर्थात् शुद्ध जीव का अनुभव। दो बार आ गया था। समझ में आया? है ऊपर?

शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप है जो ज्ञान... अर्थात् आत्मा। पहली लाईन। जीव के **जीव के शुद्धत्वपरिणमन से सर्वथा लिये हुए है।** है? फिर से लिया। **अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता; इसलिए शुद्ध स्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण है।** शुद्ध स्वरूप जो चैतन्य है, उसे राग से भिन्न (करके) शुद्धस्वरूप का अनुभव (करना), वह एक ही मोक्ष का कारण है। अभी बड़े झगड़े हैं न! शुभयोग, वह मोक्ष का मार्ग है (ऐसा लोग कहते हैं)। अब, क्या होगा? उसे बैठा हो (वैसा कहे)।

यहाँ तो अभी इससे विशेष बात करेंगे कि उस शुद्धस्वरूप का परिणमन, उसके प्रदेश—क्षेत्र और अशुद्ध परिणमन का क्षेत्र, दोनों भिन्न है। अपने प्रदेश की अपेक्षा से

एकक्षेत्रावगाह है। पर के प्रदेश—कर्म के द्रव्य के भिन्न हैं। उसकी अपेक्षा से अपने असंख्य प्रदेश, अशुद्ध परिणमन और शुद्ध परिणमन पर से भिन्न है, परन्तु अपने में दो भेद करें तो शुद्ध परिणमन का क्षेत्र भिन्न है, अशुद्ध परिणमन का क्षेत्र भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह 'संवर अधिकार' में आ गया है। संवर अधिकार में! (कहा कि) दो वस्तु एक नहीं है। दो अर्थात् अशुद्ध परिणमन और शुद्ध जीव का परिणमन, दोनों एक नहीं है। एक-दूसरे को आधार आधेय नहीं है। एक-दूसरे के प्रदेश भिन्न है। है असंख्य प्रदेश, जीव के असंख्य प्रदेश, परन्तु उस प्रदेश का अन्तिम भाग—शुभयोग आदि का अशुद्ध परिणमन (जो होता है), उसके प्रदेश—क्षेत्र भिन्न है और (दो) के बीच सन्धि है। आहाहा!

जैसे कर्म के रजकण, द्रव्यकर्म (के) रजकणों का क्षेत्र एक जगह रहने पर भी क्षेत्र भिन्न है—प्रदेश भिन्न है। वे तो अत्यन्त भिन्न हैं। अब यहाँ अन्तर में आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका परिणमन (हो), उसका क्षेत्र, अशुद्ध परिणमन जो शुभयोग (आदि का होता है), उसके प्रदेशों का अंश है, है वह असंख्य प्रदेश में, परन्तु असंख्य प्रदेश का वह अंश पृथक् है, उसका क्षेत्र पृथक् है। आहाहा! है? देखो! आता है।

ऐसी प्रज्ञाछैनी जिस प्रकार छेदकर दो करती है, उस प्रकार कहते हैं... देखो! आया? यहाँ से शुरुआत होती है। है बीच में? '**आत्मकर्मोभयस्य**' इस प्रकार कहते हैं। '**आत्मकर्मोभयस्य**' है? यह तो आलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा! देखो! इसके दो अर्थ किये, देखो!

आत्मा-चेतनामात्र द्रव्य,... भगवान आत्मा तो चेतना उपयोग—दर्शन, ज्ञान मात्र का उपयोग, वह द्रव्य भिन्न है। है? **कर्म-पुद्गल का पिण्ड...** वह भी भिन्न है। **अथवा मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति, ऐसी है—दो वस्तुयें...** देखा? आहाहा! एक ओर शुद्ध चैतन्य उपयोग भगवान, एक ओर कर्म और अशुद्ध परिणति एक क्षेत्र में होने पर भी (अर्थात्) आकाश के एक क्षेत्र में होने पर भी, हों! आकाश के एक क्षेत्र में होने पर भी कर्म का क्षेत्र पृथक् है और पुण्य-पाप, दया, दान शुभयोग का क्षेत्र पृथक् है। आहाहा!

क्यों ? कि उपयोग अन्तर में झुकाने से वह क्षेत्र और उसका भाग पृथक् रह जाता है। उपयोग ज्ञान का, दर्शन का, चेतना का उपयोग, उसे अन्तर में झुकाने से उसके क्षेत्र और उसके भाव में अशुद्ध उपयोग आता नहीं। समझ में आया ? ऐसा है। यहाँ एकक्षेत्रावगाह कहा न ? दोनों को एकक्षेत्रावगाह कहा। मोह-राग-द्वेष के परिणाम और कर्म के पिण्डरूप भाव, दो का क्षेत्र भले एक हो, वह आकाश की अपेक्षा से एक क्षेत्र (कहा)। एक क्षेत्र का अर्थ (यह कि) आकाश की अपेक्षा से क्षेत्र एक है। भाव की अपेक्षा से शुद्ध उपयोग अन्तर में झुकाने से उसका जो क्षेत्र है, उससे अशुद्ध उपयोग का अंश बाहर रह जाता है, इसलिए उसका क्षेत्र भी बाहर है। आहाहा! समझ में आया ? देवीलालजी!

आत्मा असंख्यप्रदेशी, उसके अनन्त गुण शुद्ध और अन्तिम अंश में अशुद्ध राग-द्वेष-मोह, है तो वह भी असंख्य प्रदेश में, परन्तु उनका अन्तिम अंश है, उसमें अशुद्धता जितने क्षेत्र में से उत्पन्न होती है, वह क्षेत्र भिन्न है और जितना शुद्ध उपयोग (हुआ, वह और) अन्दर ज्ञान, आनन्द आदि गुण का क्षेत्र भिन्न है। आहाहा! यह तो धीरे से समझने जैसा है, बापू! आहाहा!

यहाँ तो दो वस्तु कही है, वहाँ भी दो वस्तु कही है। संवर अधिकार। आत्मा शाश्वत् ध्रुव शुद्ध उपयोग से पकड़ में आये, ऐसा है और उस समय अशुद्ध उपयोग, अशुद्ध परिणमन के क्षेत्र का भाग ऐसे बाहर रह जाता है। ऐसे ढलता है, इसलिए उस क्षेत्र का अंश बाहर रह जाता है। आहाहा! उसका जैसे भाव बाहर रह जाता है, वैसे उसका क्षेत्र बाहर रह जाता है। अपने शुद्ध ज्ञानउपयोग का क्षेत्र, वह उपयोग अन्तर में झुकाने से, उसके क्षेत्र में वह उपयोग है, वह शुद्ध उपयोग के क्षेत्र में यह क्षेत्र नहीं है। ऐसी बात है। विशेष (कहते हैं)।

यहाँ दो कहे न ? वह किस प्रकार है ? **दो करती है, उस प्रकार कहते हैं...** दो करते हैं, किस प्रकार ? '**आत्मकर्मोभयस्य**' पाठ तो यह है—'**आत्मकर्मोभयस्य**' इसके अर्थ दो हुए। एक आत्मा, एक ओर कर्म तथा एक ओर यह विकारी परिणामरूपी भावकर्म। '**आत्मकर्मोभयस्य**' भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य द्रव्य और अशुद्ध विकारी शुभभाव। लोग चिल्लाहट यह मचाते हैं न ? शुभयोग मोक्ष का मार्ग है। प्रभु! वह (मार्ग) नहीं, भाई! वह भाव भिन्न है, उसका क्षेत्र भिन्न है, उसका फल भिन्न है।

आहाहा! शुभ का क्षेत्र भिन्न है, भाव भिन्न है और उसका वेदन दुःखरूप है। ...भाई! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : अतद्भाव है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अतद्भाव है। विकार और आत्मा में अतद्भाव है। क्षेत्र भिन्न है, क्षेत्र भी भिन्न है।

मुमुक्षु : क्षेत्र भिन्न होने से अत्यन्त अभाव है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभाव है। वस्तु भिन्न है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

मुमुक्षु : अतद्भाव कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पर से भिन्न करके अतद्भाव कहकर अन्य भाव नहीं परन्तु अतद्भाव है, इतना वहाँ कहा है। यहाँ यह अतद्भाव करके उसका भाव भिन्न और क्षेत्र भिन्न, ऐसा कहा है। आहाहा! वस्तु तो ऐसी है। धीरे-धीरे समझना। आहाहा! यहाँ क्या कहा? देखो!

पुस्तक सामने है न? **ऐसी प्रज्ञाछैनी जिस प्रकार छेदकर दो करती है... छेदकर दो करती है,...** ऐसा है न? कि एक करती है? दो करती है, ठीक! **उस प्रकार कहते हैं... छेदकर दो करती है, उस प्रकार कहते हैं...** आहाहा! यह तो अध्यात्म की बातें, बापू! बहुत थोड़े शब्द में... आहाहा! अन्दर बहुत मर्म भरा है! **छेदकर दो करती है,...** ऐसा शब्द है न? तो छेदकर (अर्थात्) कर्म को और आत्मा को छेदकर दो करती है, इतना ही यहाँ (कहना) है? आहाहा! विकार परिणाम जो परसन्मुख के लक्ष्य से होते हैं, वह वस्तु और यह वस्तु दो को भिन्न करती है। देवीलालजी!

मुमुक्षु : दो है और दो को जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो है। दो है (और) बीच में सन्धि (है वह) बाद में आयेगा। यहाँ तो अभी दो करते हैं, उसकी पद्धति कहते हैं। दो करते हैं, उसकी रीति कहते हैं। देखो!

दो करती है, उस प्रकार कहते हैं... इतनी बात है न? किस प्रकार (दो करती

हैं) ? कि '**आत्मकर्मोभयस्य**' एक ओर आत्मा, एक ओर राग और कर्म। दो को भिन्न करता है। आहाहा! समझ में आया ? है या नहीं अन्दर ? सेठ! है अन्दर ? सेठ को सुनने में बराबर ध्यान है, बराबर सुनता है। यह समझने जैसी बात है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : अनन्त काल से नहीं समझे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ऐसी है, भाई! आहाहा! बहुत संक्षिप्त और बहुत थोड़ी परन्तु गहन (बात) है। प्रभु!

'**आत्मकर्मोभयस्य**' प्रज्ञाछैनी दो को भिन्न करती है। क्या (भिन्न करती है) ? किस प्रकार (करती है) ? कि '**आत्मकर्मोभयस्य**' आहाहा! अब कर्म के दो प्रकार :— एक द्रव्यकर्म, एक भावकर्म (अर्थात् कि) अशुद्ध परिणमन। आहाहा! अनन्त काल में कभी इसने किया नहीं। महँगा पड़ता है। (आगे) कहेंगे, कठिन तो है, परन्तु अशक्य नहीं और यह चैतन्य दल जो ध्रुव... आहाहा! उसका क्षेत्र और उसका भाव, वह एक ओर आत्मा हुआ और इस ओर कर्म तथा दया, दान के, राग के (परिणाम)। यहाँ दिक्कत शुभ की है, इसलिए उसको लेते हैं। शुभ उपयोग का भाग, उसका भाव और उसका क्षेत्र (पृथक् है)। '**आत्मकर्मोभयस्य**' (कहा इसमें) वह कर्म में जाता है। आहाहा! इतना।

आत्मा-चेतनामात्र द्रव्य,... अब आत्मा की व्याख्या की। कर्म की व्याख्या बाद में करेंगे। आत्मा अर्थात् चेतनामात्र, ज्ञानानन्द। आनन्द को (यहाँ) नहीं लिया, क्योंकि व्यक्तरूप से आनन्द नहीं न, इसलिए चेतनामात्र कहकर आत्मा को कहा। क्योंकि चेतना का प्रगट अंश तो है। इसलिए पूरी चीज़ चेतनामात्र वस्तु (है, ऐसा कहा)। आहाहा! जानन-देखन स्वभाव जिसका सत्त्व है, चैतन्य आत्मा का वह सत्त्व है, वह चेतनामात्र है। आहाहा! और **कर्म-पुद्गल का पिण्ड...** यह कर्म है, वह अचेतन है। आहाहा! वह कर्म का पिण्ड **अथवा...** है न ?

मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध परिणति,... आहाहा! मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष भाव, वह अशुद्ध परिणति, मलिन पर्याय है। आहाहा! **ऐसी है—दो वस्तुएँ...** देखो! आहाहा! एक ओर चेतन उपयोगरूप वस्तु, एक ओर रागरूपी मलिन परिणामरूपी वस्तु, (ऐसे) दो वस्तु है। दो एक है नहीं, दोनों एक हुई नहीं। समझ में आया ? आहाहा!

दो वस्तुएँ... (कहा है)। देखा? संवर अधिकार में ऐसा कहा है कि आत्मा और विकार—दो वस्तुएँ हैं। दो वस्तु हैं, ऐसा कहा है। यहाँ यह लिया—दो वस्तुएँ हैं। क्योंकि शुभभाव पुण्यतत्त्व है। वह तत्त्व है—पुण्यतत्त्व है, वह वस्तु है। और आत्मा चेतनामात्र एक वस्तु है। ऐसा कहकर दो वस्तुएँ हैं। आहाहा!

दो वस्तुएँ, उनको अन्तःसन्धिवाला... दो है न? इसलिए अन्तःसन्धिवाला **यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है,...** कर्म और भावकर्म एकक्षेत्रावगाहरूप से है। एक क्षेत्र अर्थात् आकाश (का एक क्षेत्र)। यहाँ एक क्षेत्र अर्थात् आकाश लेना। आहाहा! आकाश के एकक्षेत्रावगाहरूप से है। क्या? आत्मा चेतना वस्तु और पुण्य के परिणाम—शुभयोग, उसका आकाशरूप से (आकाश के प्रदेश की अपेक्षा से) एक क्षेत्र है। जिस आकाश के प्रदेश में शुद्ध चेतना है, उसी प्रदेश में विकार है। परन्तु अपने प्रदेश में देखें तो उसके प्रदेश भिन्न हैं। आहाहा! ऐसा है। अरे! विवाद किसका? प्रभु! तू कौन है अन्दर?

एक समय में कृत्रिम वस्तु के साथ नित्य तादात्म्य तो नहीं परन्तु अनित्यतादात्म्य भी नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह वस्तु ही भिन्न है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वरना पर्याय है, इसलिए अनित्यतादात्म्य (सम्बन्ध है)। अनित्यतादात्म्य का क्षेत्र और भाव नित्यतादात्म्य स्वभाव से भिन्न उसके क्षेत्र और भाव को गिना है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! क्या नाम भाई का?

मुमुक्षु : पृथ्वीचन्द।

पूज्य गुरुदेवश्री : पृथ्वीचन्द। बहुत जिज्ञासा है। यह समझने की चीज़ है, भाई! मार्ग प्रभु का... आहाहा! ऐसी बात मिलना कठिन पड़ गयी, सुनना (कठिन पड़ गयी), अन्दर भिन्न करना तो कठिन पड़ गया (परन्तु सुनना भी कठिन पड़ गया)। आहाहा! अरे! भगवान!

यह **एकक्षेत्रावगाहरूप है,...** अन्तःसन्धि! यहाँ वापस सन्धि कहनी है न? **बन्धपर्यायरूप है, अशुद्धत्व विकाररूप परिणमा है...** अशुद्ध विकाररूप परिणमित है **तथापि परस्पर सन्धि है,...** आहाहा! वह विकार के शुभभाव के और चेतनास्वरूप भगवान के बीच साँध है। दरार... दरार कहते हैं न? बीच में साँध है। दोनों एक नहीं।

दो कहे, वहाँ एक कहाँ से हो ? आहाहा ! दो है, इसलिए दो कहते ही बीच में साँध है। दोनों एक हुए नहीं। द्रव्य शुद्ध चैतन्य है, चेतनाप्रभु ! उसमें मलिन परिणाम हुए ही नहीं। आहाहा ! चेतना जानने-देखनेवाला उपयोगस्वरूप ! 'उपयोग में उपयोग है' आता है न यह ? संवर अधिकार ! यह बात यहाँ लेते हैं। आहाहा ! 'उपयोग में उपयोग है' शुद्धस्वभाव में आत्मा है। अशुद्ध भाव में वस्तु को, प्रदेश को भिन्न गिनकर भाव को (भिन्न गिनकर) वस्तु को दूसरी कहा। यह एक, यह दूसरी, (ऐसा)। आहाहा ! और नव तत्त्व में भी ऐसा कहा न ? आहाहा ! शुभ-अशुभभाव, वह आस्रवतत्त्व है। वह जीवतत्त्व है ? आहाहा ! क्या शैली प्रभु की ! ओहोहो ! चारों ओर देखो तो सत्य भिन्न खड़ा होता है। आहाहा !

नव तत्त्व में पुण्य के परिणाम, जिसे शुभयोग कहते हैं, वह तो आस्रवतत्त्व में और पुण्यतत्त्व में जाता है। वह तत्त्व है या नहीं ? एक वस्तु है या नहीं ? भले पर्यायरूप है, परन्तु वस्तु है न ? आहाहा ! उस शुभभाव में भी अनन्त सप्तभंगी उठती है। जिसमें द्रव्य का शुद्ध उपयोग और द्रव्य उसमें नहीं। उसमें पूर्व पर्याय नहीं, भविष्य की नहीं। परद्रव्य का भाव—अंश नहीं। ऐसी अनन्त शक्ति का सत्त्व वह है। एक दूसरी चीज़ है। आहाहा ! एक ओर भगवान आत्मा—आत्माराम—गाँव ! एक ओर आत्माराम तथा एक ओर राग, ऐसा कहा है न ? अकेला राग शब्द प्रयोग किया है। एक जगह, नहीं ? राग आदि। आहाहा ! इस राग में सब ले लेना। द्वेष, मिथ्यात्व, हास्य, वासना, विपरीत मान्यता (आदि)। आहाहा ! इन दो चीज़ में... आहाहा ! है ? सन्धि है। अशुद्धरूप से परिणमित है, ऐसा तो सिद्ध किया। पर्याय में परिणमन है।

तथापि परस्पर सन्धि है,... आहाहा ! यदि एक हुए हों तो पृथक् पड़े नहीं। अशुद्ध परिणाम और भगवान आत्मा एक हुए हों तो भिन्न पड़े नहीं; इसलिए दो हैं। इसने माना है कि मेरे हैं, वस्तु इसकी नहीं। आहाहा ! समझ में आया ? अभी तो यहाँ शरीर की क्रिया करे तो भी आत्मा करे, ऐसा मानना है। अरर्र ! वह तो कहीं क्षेत्र (दूर रह गया)। यहाँ शुभ उपयोग भी अचेतन—जड़ तत्त्व है। आहाहा ! भगवान चेतनातत्त्व है। ध्रुव चेतनातत्त्व त्रिकाल ज्ञायकतत्त्व ! आहाहा ! और शुभयोग अचेतनतत्त्व, आस्रवतत्त्व, पुण्यतत्त्व है। भिन्न क्षेत्र, भिन्न भाव है। आहाहा ! दो है, इसलिए बीच में एकपना हुआ नहीं। बीच में सांध रही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! फिर कहते हैं, सन्धि में ज्ञान को

डाल। साँध है वहाँ अन्दर ज्ञान को एकाग्र कर। आहाहा! अरे! वीतरागमार्ग जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ का यह मार्ग है।

स्वयं त्रिलोकनाथ है। आहाहा! भगवानस्वरूप जिनस्वरूप है न? तो जिनस्वरूप और रागस्वरूप। जिनस्वरूप—यहाँ चेतना कहा। वह चेतना अर्थात् जिनस्वरूप त्रिकाली चेतनामात्र वीतरागस्वरूप है और राग, वह विकारस्वरूप—रागस्वरूप है। दोनों के क्षेत्र भिन्न, भाव भिन्न है, इसलिए दो के बीच साँध है। आहाहा! यह कहीं पण्डिताई की चीज़ नहीं। यह तो बापू! अन्तर की बातें हैं। आहाहा!

परस्पर.... परस्पर, समझ में आया? राग के भाव और आत्मा में, आत्मा से राग भिन्न और राग से आत्मा भिन्न। परस्पर है न? परस्पर अर्थात् दोनों आये। शुभराग और शुद्ध चैतन्य वस्तु जिन—जिनस्वरूप और रागस्वरूप दो वस्तुयें भिन्न हैं। आहाहा! इसलिए उसमें सन्धि है। **परस्पर सन्धि है...** परस्पर सन्धि है। राग से भिन्न भगवान और भगवान से भिन्न राग। आहाहा! अरे... प्रभु! ऐसा मनुष्य का समय मिला और इस प्रकार से नहीं करेगा तो बापू! दूसरा क्या करने का है? आहाहा!

निःसन्धि नहीं हुआ है,... अनेकान्त किया। साँध है, एक हुए नहीं। क्या कहा? भगवान शुद्ध चैतन्यघन प्रभु और राग के परिणाम—दो के बीच सांध है। निःसन्धि नहीं—दोनों एक हुए नहीं। तीनों काल में कभी दोनों एक हुए नहीं, दो के बीच साँध है। आहाहा! समझ में आया? थोड़े शब्दों में बहुत भरा है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग सुनने को मिलता नहीं, बेचारा क्या करे? कहाँ जाये? आहाहा!

भाषा तो सादी है। ....भाई! भाषा तो सादी है, बापू! समझ में आये ऐसा है। पहले ख्याल तो करे, भाई! आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव का यह फरमान है। प्रभु! तू और राग, दो के बीच सांध है, हों! आहाहा! आहाहा! जैसे यह पत्थर होते हैं न? पत्थर। वहाँ राजकोट में देखे हैं। दिशा को दूर जायें न? वहाँ बड़े पत्थर—लाखों मण के! उसमें बीच में रग होती है, रग! रग होती है, सफेद, लाल बारीक डोरे जैसी रग होती है। लाखों पत्थर (ऐसे पड़े हों उसमें) रग होती है। वहाँ आगे वे लोग छैनी मारे। पहले चूरा करके, खड्डा करके फिर बारूद की वाट करके अन्दर डाले। उनके बीच में साँध होती है न? वह ऊपर का पत्थर अलग पड़ जाता है और नीचे का पत्थर

अलग पड़ जाता है। यह तो नजर से देखा हुआ है, हों! उसकी परीक्षा की हो, ऐसे का ऐसे देखा न हो। बहुत वर्ष पहले की बात है। आहाहा! लाखों मण पत्थर उस ओर हैं। बहुत दूर दिशा को आगे जाते थे न? आहाहा! वह बीच में एक रग की बारीक-बारीक साँध होती है। नीचे का तल और ऊपर के तल के बीच साँध होती है, वहाँ वह बारूद की वाट डाले और फिर अन्दर जहाँ सुलगावे (पश्चात्) वे लोग भागे। भागे, नहीं तो पत्थर उडकर सिर (के ऊपर गिरे तो) फूट जाये। फडाक... फडाक... पत्थर (पृथक् हो जाये)। सन्धि के बीच में (बारूद की वाट रखे तो) ऊपर के पत्थर अलग पड़ जायें, नीचे के पत्थर अलग पड़ जायें। आहाहा! कुदरत के नियम में तो देखो! आहाहा! उस पत्थर के बीच साँध कौन करने गया है? आहाहा! अब, पत्थर के परिणमन में यह स्थिति! देखो तो सही, प्रभु! लाखों पत्थर पृथक् पड़ जाये और वह ऐसे समान दलवाले हों। साँध में टोचना न पड़े। साँध में से टूटे इसलिए वे ऐसे साँधवाले निकले कि ऐसे व्यवस्थित निकले नीचे दूसरा हो परन्तु उसका भाव जो पृथक् पड़े, वहाँ समान होता है। फिर ऊपर के जरा आड़े-टेढ़े हों। क्या कहा, समझ में आया? वह साँध है, वहाँ उस पत्थर की सीधी लाईन और उसकी दोनों की सीधी लाईन होती है। धर्मचन्दजी! ऐसा होता है। देखो न, यहाँ बहुत पत्थर निकालते हैं न? एक ओर समान ही निकलते हैं और एक ओर समान करना पड़ते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ कुदरत के नियम में भी पत्थर की सांध में ऐसा नियम है! आहाहा! कोई करने गया नहीं। आहाहा! तो यह भगवान आत्मा शुद्ध चेतना आनन्दकन्द प्रभु और साथ में रहा हुआ राग, दोनों में ऐसे सपाटी सरीखी है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। राग भिन्न पड़ने पर यहाँ सपाटी में खड्डा पड़ता नहीं। ऐसे सीधा अकेला शुद्ध उपयोग रहता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! कुदरत क्या करती है, देखो न! वहाँ कौन ऐसी साँध करने गया था? परन्तु कुदरत के नियम में ऐसा है कि जहाँ दोपना बतलाना है न कुदरत को, वहाँ बीच में साँध रहती है। आहाहा! यहाँ भगवान को दोपना बतलाना है तो बीच में साँध है। आहाहा! आहाहा!

परस्पर सन्धि है, निःसन्धि नहीं हुआ है... यह पत्थर की रग होती है, उसके नीचे और ऊपर के पत्थर एक हुए नहीं। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान की जलहल

चैतन्यज्योति और राग मलिन परिणाम अचेतन—जड़—अजीव; जीव और अजीव के बीच साँध है। आहाहा! यह श्लोक ही बहुत ऊँचा है! प्रज्ञाछैनी! आहाहा! भाग्यवान को तो कान में पड़े, ऐसी बात, बापू! आहाहा! यह ऐसी चीज़ है! तीन लोक के नाथ कुदराती विकार और आत्मस्वभाव कैसा भिन्न है! पत्थर का स्वभाव कैसा भिन्न! वहाँ कौन रग करने गया था? आहाहा! उस ओर है, नहीं? उस ओर आगे दिशा को जाते थे न? बीच में कहीं आता है। उस ओर आगे जाते हैं वहाँ है। आहाहा! इसी प्रकार सर्वत्र बड़े-बड़े पत्थर लो न! ऐसा सब जगह, इसलिए सब आत्मा में... आहाहा! सभी आत्माओं में कुदरत के नियम प्रमाण दया, दान, व्रत का शुभराग और भगवान चेतना, दो के बीच साँध है। शान्तिभाई!

मुमुक्षु : इसलिए पृथक् पड़ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इसलिए पड़ता है। भिन्न है तो भिन्न हो सकते हैं। ज्ञान और आत्मा एक हैं, वे भिन्न होंगे? कि ज्ञान पृथक् कर डालो और आत्मा पृथक् (कर डालो)। आहाहा! इसी प्रकार राग और आत्मा दो भिन्न हैं, दो के बीच साँध है—तड़ है, वहाँ ज्ञान की छैनी मारनी है। आहाहा! बहुत सरस अधिकार आया है! (आज) ग्यारस है, गुरुवार है न? आहाहा!

टीकाकार ने कितना स्पष्ट किया है। आहाहा! गृहस्थ है। राजमल गृहस्थ हैं। आत्मा कहाँ गृहस्थ था? गृहस्थ तो उसे कहते हैं कि आत्मा के आनन्द में रहे, वह गृह—घर और उसमें स्थ—रहे, वह गृहस्थ। ऐसा 'पंचसंग्रह' में अर्थ किया है। 'अध्यात्म पंचसंग्रह' में गृहस्थ अर्थात् गृह अर्थात् घर। आनन्द और ज्ञान के अनन्त गुण का घर, उसमें स्थ अर्थात् रहे, वह गृहस्थ है। आहाहा! यहाँ लोग ऐसा कहते हैं न? यह पैसेवाले गृहस्थ हैं। और पैसेवाले को भी गृहस्थ कहते हैं। धनाढ्य है, ऐसा नहीं कहते हैं। गृहस्थ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह भगवान भी गृहस्थ है। आहाहा! वह राग से भिन्न पड़कर... पड़ा हुआ ही है, रहा हुआ है, उसे भिन्न करना है। भिन्न है, उसे भिन्न करना है, कहते हैं। एक है, उसे भिन्न करना है—ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? दो-तीन लाईन में तो कितना भरा है, देखो न! पौन घण्टा तो हुआ। सेठ!

मुमुक्षु : माल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : माल है। सच्ची बात है, माल है! आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) **निःसन्धि नहीं हुआ है, दो द्रव्यों का एक द्रव्यरूप नहीं हुआ है...** देखा? उस राग को भी परद्रव्य गिना है। आहाहा! नियमसार में तो भगवान ने निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य कहा है। क्योंकि उसमें से नयी पर्याय नहीं आती, इसलिए (ऐसा कहा है)। और उसे परद्रव्य कहा, किसलिए? कि अपने स्वभाव से भिन्न जाति है, इसलिए परद्रव्य कहा। समझ में आया? नियमसार में समकित को परद्रव्य कहा है। आहाहा! चारित्र—स्वरूप की रमणता, आनन्द की रमणता, वह परद्रव्य है। क्यों? (क्योंकि) जैसे परद्रव्य में से नयी पर्याय नहीं आती, (वैसे पर्याय में से पर्याय) नहीं आती, इसलिए मेरा स्वद्रव्य तो यह है। तो यहाँ तो राग है... आहाहा! यह राग है, वह भगवान द्रव्य से भिन्न परद्रव्य ही है। आहाहा! ऐसा लोगों को कठिन पड़ता है। आहाहा! क्या करे?

प्रभु! भाई! तूने सुना नहीं। तेरे घर की महत्ता को तूने सुना नहीं। तेरी महत्ता राग में एक हुई नहीं, प्रभु! आहाहा! तो राग से इस महत्ता को लाभ मिले, भाई! तुझमें नहीं, तेरी नहीं, तुझसे भिन्न चीज़ है, उससे आत्मा को लाभ—मोक्ष का मार्ग हो, अरे... प्रभु! भाई! तुझे अन्दर समझने में मुश्किल पड़ा, बापू! भाई! मिथ्याश्रद्धा के फल में दुःख बहुत हैं, प्रभु! मिथ्याश्रद्धा के फल में भगवान! अनन्त भव के बीज हैं। अनन्त भव सिर पर (भ्रमते हैं)। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा में अनन्त भव ऐसे सिर पर लटकते हैं। आहाहा! और सम्यग्दर्शन (होने पर) दोनों (पृथक् है), वैसे (पृथक्) करने से अनन्त आनन्द प्रगट हो, ऐसी उसकी तैयारी हो गयी। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! क्या शैली... क्या शैली!! आहाहा! दिगम्बर सन्तों की क्या शैली! गजब शैली!! आहाहा! कहीं ऐसी वाणी सुनने को मिलती नहीं। सम्प्रदाय में कहीं (सुनने को मिलती नहीं)। आहाहा! अरे! इसकी कीमत नहीं और दूसरे सब के साथ समन्वय करना! दूसरे के साथ समन्वय करो—ऐसा कहता है। भाई! राग और आत्मा का समन्वय—एक नहीं होता, प्रभु! आहाहा! अरे! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव और आत्मा के बीच साँध है। आहाहा! दोनों को सन्धि है। दोनों एक नहीं हुए। आहाहा!

दो द्रव्यों का एक द्रव्यरूप नहीं हुआ है... आहाहा! शुभराग महाव्रत का राग हो

परन्तु वह राग और आत्मा दोनों एक हुए नहीं। दो द्रव्य भिन्न है। आहाहा! यह यहाँ का है? यह तो पहले का है। यह सोनगढ़ का है? आहाहा! यहाँ तो उसका अर्थ होता है। आहाहा! प्रभु! तुझे तेरी कीमत नहीं, नाथ! तेरा स्वभाव नित्यानन्द प्रभु! आनन्द का दल और एक ओर विकार के दु:ख का भाव, प्रभु! दो चीज़ें—वस्तुएँ भिन्न हैं, हों! आहाहा! यह शुभराग—दया, दान, व्रत का राग दु:खरूप है और तेरी चीज़ वह प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दमय द्रव्य है, तो वे दो द्रव्य भिन्न हैं। आहाहा!

अरे! भगवान की वाणी कैसी निकलती होगी? आहाहा! त्रिलोकनाथ परमात्मा, आहाहा! उनकी दिव्यध्वनि कैसी होगी! आहाहा! जिसे चक्रवर्ती, इन्द्र, चार ज्ञान के धनी गणधर भी ऐसे सुनने की लालसा से सुने! आहाहा!

क्या कहा? **ऐसा है जो...** कैसा? **बन्ध अर्थात् ज्ञानछैनी बैठने का स्थान,...** है। आहाहा! अर्थात्? कि राग और भगवान दो भिन्न द्रव्य है, इसलिए उस ज्ञान की पर्याय को इस ओर झुकाने की वहाँ सन्धि है। आहाहा! वह भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, (यहाँ) चेतना लिया, चेतनास्वरूप और राग की दो की भिन्नता है, दो द्रव्य भिन्न है। भिन्न है, इसलिए साँध है (और) साँध है, इसलिए चेतना की पर्याय इस ओर झुकायी जा सकती है, क्योंकि दोनों के बीच साँध है। आहाहा! आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानछैनी बैठने का स्थान,... है। अर्थात् क्या? ज्ञान की पर्याय—ज्ञान और राग दो भिन्न है, दो भिन्न द्रव्य है, दो (के बीच) साँध है, इसलिए उस ज्ञान के गुण की वर्तमान पर्याय को ऐसे झुकाया जा सकता है। क्योंकि दोनों भिन्न हैं, इसलिए (झुकाया जा सकता है)। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **ज्ञानछैनी बैठने का स्थान,...** है। आहाहा!

उसमें ज्ञानछैनी पैठती है,... आहाहा! यह प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान का अनुभव। वह अनुभव कहा है न? प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान का अनुभव। वह अनुभव हो सकता है, कहते हैं। क्योंकि राग और प्रज्ञा—चेतना वस्तु भिन्न होने से उसका अनुभव हो सकता है। आहाहा! समझ में आया? बात तो कठिन है, बापू! परन्तु मार्ग तो यह है। वस्तु इस प्रकार से है। आहाहा!

कैसी है प्रज्ञाछैनी ? '**शिता**' कहते हैं कि प्रज्ञाछैनी राग और इस चेतना को भिन्न करने की वहाँ सन्धि है, सन्धि है ही। उसे भिन्न करने की प्रज्ञाछैनी '**शिता**' है '**शिता**' अर्थात् ? **ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर, मिथ्यात्वकर्म का नाश होने पर शुद्धचैतन्यस्वरूप में अत्यन्त पैठन समर्थ है।** '**शिता**' अर्थात् तीक्ष्ण है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह ज्ञानछैनी तीक्ष्ण है। जैसे लोहे की छैनी अणीदार होती है, अणी निकाली हुई घिसकर तैयार हो, ऐसे मारे तो तोड़ डाले; उसी प्रकार प्रज्ञाछैनी तीक्ष्ण है। आहाहा! इसलिए राग से भिन्न करने को प्रज्ञाछैनी का सामर्थ्य है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

'**शिता**' **अत्यन्त पैठन समर्थ है।** मूल तीक्ष्ण है, ऐसा कहना है। '**शिता**' का अर्थ तीक्ष्ण, तीखी है। '**शिता**' का अर्थ आता है—तीखी। आहाहा! तीखी है अर्थात् समझ में आया ? तीक्ष्ण, सूक्ष्म, तीक्ष्ण! ज्ञान और राग के बीच सन्धि है, इसलिए वह प्रज्ञाछैनी तीक्ष्ण है, जैसे लोहे की छैनी तीक्ष्ण, तीखी लकड़ी के दो टुकड़े करे... आहाहा! उसी प्रकार प्रज्ञाछैनी आत्मा को और राग को भिन्न कर डालती है। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान! इसका नाम धर्म की शुरुआत है! आहाहा!

अन्दर इतनी बात की है कि '**शिता**' क्यों कहा ? कि एक तो क्षयोपशम है और भ्रमणा का नाश हुआ है, ऐसा। इसलिए उस **शुद्धचैतन्यस्वरूप में अत्यन्त पैठन समर्थ है।** शुद्धचैतन्यस्वरूप है, उसे टिकने को, स्थिर होने को समर्थ है। इस प्रकार जो राग में स्थिर थी, वह पर चीज़ थी और यह तो अपनी चीज़ है, उसमें स्थिर होने को प्रज्ञाछैनी समर्थ है कि फिर दो टुकड़े हो सके नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १२, शुक्रवार, दिनांक-०६-०१-१९७८, कलश-१८१, प्रवचन-१९५

कलशटीका, १८१ (कलश) है न? भावार्थ, इस ओर नीचे भावार्थ है न? **भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार...** इसका दृष्टान्त देते हैं। **जिस प्रकार यद्यपि लोह-सार की छैनी अति पैनी होती है...** एक तो लोहा, उसमें ऊँचा और उसमें अति तीक्ष्ण। तीन बोल रखे हैं। **लोह-सार की छैनी...** है न? **अति पैनी होती है...** एक तो ऊँचा लोहा, वापस उसकी छैनी अति तीक्ष्ण। **तो भी सन्धि का विचार कर....** कहते हैं, भले ऐसी तीक्ष्ण हो, परन्तु जहाँ साँध हो, वहाँ मारे तो टुकड़े होते हैं। जिसमें सन्धि हो, वहाँ मारे तो टुकड़े होते हैं। ऐसा **विचार कर देने पर छेद कर दो कर देती है;....** लोहे की छैनी (दो टुकड़े करती है)। आहाहा!

उसी प्रकार... अब इस दृष्टान्त का सिद्धान्त (कहते हैं)। **यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान...** यहाँ साधक जीव की बात ली है न? जिसे राग के भाव से भिन्न स्वभावभाव, नित्य स्वभावभाव राग के भाव से भिन्न जाना है। राग अर्थात् विकार और स्वभाव अर्थात् निर्दोष आनन्द का पिण्ड, ऐसा चैतन्यतत्त्व। वह चैतन्यतत्त्व और राग पुण्य-आस्रवतत्त्व, दो को जिसने अन्दर भिन्न जाना है... आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि है।

उस **सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है...** जैसे वह छैनी तीक्ष्ण कही थी न? उसी प्रकार ज्ञान सूक्ष्म है, तीक्ष्ण है, **तो भी...** कोई भी दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो, परन्तु उस राग से चैतन्य नित्य स्वभाव ध्रुव जिसने भिन्न जाना है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव का **ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है, तथापि जीव-कर्म की है जो भीतर में सन्धि...** आहाहा! अन्दर में आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप और राग विकारस्वरूप, दो के बीच में साँध है। जिस जगह, जिस स्थान में साँध है, वहाँ प्रज्ञाछैनी को मारता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अर्थात् जिस जगह राग है, उसी जगह ज्ञानस्वरूप चैतन्य है। परन्तु दोनों में उस स्थान में ज्ञान की पर्याय को राग में न जोड़कर, स्वभाव में जोड़ता है। वह ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण, सूक्ष्म है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जीव और कर्म। कर्म शब्द से यहाँ रागादि (लेना)। **जो भीतर में...** दोनों में बीच में सांध है। कहा था न कल? लाखो मण के बड़े पत्थर होते हैं, (उनमें) बीच में रग

होती है, रग। बारीक रग होती है। कोई सफेद होती है, कोई पीली होती है (ऐसी) बारीक रग होती है। उसी प्रकार भगवान आत्मा, शुद्ध चैतन्यस्वरूप ध्रुव और राग विकारभाव, दो के बीच एकता नहीं, दो के बीच सन्धि—साँध है। आहाहा! अब ऐसा अभी सुनने को मिलता नहीं, वह समझे कब?

यह दो की साँध है, वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान की पर्याय को वहाँ से ऐसे विमुख करता है। उसी साँध में से (विमुख करता है)। वह ज्ञान राग की ओर ढला हुआ था, (उसे) पहले भिन्न तो किया है। अब फिर से वह राग और स्वभाव के बीच ज्ञान की अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण अन्दर में भिन्न करता है। आहाहा! कहो, यह क्रिया नहीं? परन्तु यह क्रिया हाथ नहीं आती, इसलिए फिर बाहर की क्रिया में लग गये। व्रत, तप, भक्ति, पूजा और उपवास, यह सब क्रिया मानो धर्म हो!

यहाँ तो कहते हैं कि यह सब क्रियायें राग हैं और आत्मा का स्वभाव, इन दो के बीच में साँध है—दरार है। आहाहा! उसे सम्यग्ज्ञान की पर्याय जिस जगह राग और स्वभाव की साँध है, वहाँ ज्ञान की पर्याय को वापिस झुकाता है। आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म!

सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है तथापि... साँध में काम करे तो वह काम हो सकता है। जिस जगह राग और स्वभाव, दो के बीच दरार है—साँध है—सन्धि है, नि:सन्धि नहीं, राग और स्वभाव दो एक हुए नहीं... आहाहा! यह **जीव-कर्म की है जो भीतर में सन्धि...** अन्दर में सन्धि (कहा)। **उसमें प्रवेश करने पर...** उसमें ज्ञान की पर्याय को राग और स्वभाव में साँध है, उसमें प्रवेश करने से **प्रथम तो बुद्धिगोचर छेदकर दो करता है,...** अभी तो पहले (यह करता है), केवलज्ञान प्राप्त करने की बात बाद में करेंगे।

प्रथम तो बुद्धिगम्य (रीति से छेद करे)। राग और आत्मा को ज्ञानस्वभाव, इन दो के बीच सन्धि है, वहाँ बुद्धिगम्य द्वारा दो को छेद करे। बुद्धिगोचर—बुद्धिगम्य! अबुद्धिगम्य भले रहे। बुद्धि से तो उसे भिन्न करे। आहाहा! ऐसा मार्ग है!

प्रथम तो बुद्धिगम्य अर्थात् ख्याल में आवे इस प्रकार से। राग और स्वभाव ख्याल

में आवे, इस प्रकार से दो को छेदे। आहाहा! ज्ञानस्वभाव, वह तो कायमी त्रिकाली स्वभाव है। रागभाव क्षणिक विकृत स्वभाव है। दो के बीच एकता नहीं है, भिन्न है। उस जगह ज्ञान को बुद्धिगम्य से (अर्थात् कि) यह ज्ञान ऐसे झुकाता है, वह बुद्धि से झुकाता है। समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है यह!

पहला सम्यग्दृष्टि तो लिया है, बाद में भी राग और स्वभाव की भिन्नता जानी, वहाँ अभी ज्ञान द्वारा इस ओर ढलता है। बुद्धिगम्य (अर्थात्) ख्याल में आवे इस प्रकार से (झुकाता है)। ख्याल में न आवे, इस प्रकार से बाद में करेगा। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। पहले तो बुद्धिगम्य छेदकर दो करे। अर्थात् क्या कहते हैं? अन्दर में सूक्ष्म एकता है तो नहीं, परन्तु भिन्नता सूक्ष्म न कर सके। अत्यन्त सूक्ष्मता—भेद करे, तब तो केवल (ज्ञान) हो जाये। समझ में आया? आहाहा! परन्तु बुद्धिगम्य—ज्ञानगम्य—ख्याल में आवे, इस प्रकार से वह राग के विकल्प को (भिन्न करता है)। चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो (या) चाहे जो (राग हो), इस राग और ध्रुव ज्ञानस्वभाव, दो के बीच एकता हुई नहीं, होगी नहीं—ऐसी भिन्नता में पहले बुद्धिपूर्वक छैनी मारी। आहाहा!

मुमुक्षु : विचार की भूमिका है?

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार, बुद्धि, अभी बुद्धि है। अबुद्धिगम्य बाद में करेगा। ख्याल में आवे, इस प्रकार से (छेद) करे। यह बात प्रथम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की और सम्यग्दर्शन को रखने की है। आहाहा! ऐसी बात पहले सुने, उसे विचार करे और अन्तर में राग से भिन्न करने का प्रयत्न करे, बुद्धिगम्य से, हों! आहाहा!

(यहाँ कहते हैं), **बुद्धिगोचर छेदकर दो करता है, पश्चात्...** देखा? अभी अत्यन्त पृथक् पड़ नहीं गये। बुद्धिगम्य (रीति से) तो भिन्न पड़ गया है परन्तु अत्यन्त भिन्न पड़ जाये, तब तो केवल(ज्ञान) हो जाये। आहाहा! बुद्धि में ज्ञान में ख्याल आ गया है कि राग भिन्न है और स्वभाव भिन्न है। ऐसा बुद्धिगोचर उपयोग में ख्याल आया है। आहाहा! कठिन बात, भाई!...भाई! ऐसा कभी कुछ सुना है?...मार्ग ऐसा है, बापू! पहले सुनना तो चाहिए। आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! पृथ्वीचन्दजी! आहाहा!

मुमुक्षु : बुद्धिगम्य मानसिक ज्ञान कहलाता है या अतीन्द्रिय ज्ञान?

पूज्य गुरुदेवश्री : है अतीन्द्रिय परन्तु बुद्धिगम्य ख्याल में आवे इतना। बिल्कुल ख्याल में न आवे, (ऐसा इतना सूक्ष्म नहीं)। ख्याल में आवे इस प्रकार से उसे (छेद करता है)। यह स्वभाव है और यह राग है, ऐसा ख्याल में इस प्रकार से दोनों को भिन्न करे। आहाहा! कठिन बात, भाई!

पश्चात् सकल कर्म का क्षय होने से... फिर स्वभाव में बुद्धिगम्य से आगे बढ़कर अन्दर में एकाग्र होता है, तब केवलज्ञान होता है, तब सर्व कर्म का नाश होता है। बुद्धिगम्य ज्ञान और राग को भिन्न करने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अंश (प्रगट) होता है। समझ में आया? ख्याल में आवे इस प्रकार से राग अर्थात् विकार चाहे जो शुभराग हो। शुभराग को अभी मोक्ष का मार्ग सिद्ध करते हैं! भगवान! प्रभु! उसमें तेरे हित की बात नहीं, प्रभु! आहाहा! तू भी भगवान है न, नाथ! आहाहा! परमेश्वर है, प्रभु!

यह परमेश्वर का स्वभाव और राग का स्वभाव, दो का भाव भिन्न है। दो की जाति एक नहीं। आहाहा! राग, वह आस्रवतत्त्व का भाव है; भगवान भगवत्स्वरूप, जिनस्वरूप, वीतरागस्वरूप है। आहाहा! इतना ख्याल में इस प्रकार बुद्धिपूर्वक दो को भिन्न करे। आहाहा! गजब बात है, बापू! वीतरागमार्ग! आहाहा! और इस प्रकार हुए बिना व्रत, तप और भक्ति (आदि) सब करे, वह सब एकड़ा बिना के शून्य हैं। आहाहा! अभी ऐसा मार्ग है, उसकी हाँ भी नहीं (आती) और राग—शुभराग मोक्ष का मार्ग है, (ऐसा अज्ञानी सिद्ध करते हैं)। आहाहा! प्रभु! वह दुःखरूप है, वह मोक्ष का मार्ग है, (ऐसा अज्ञानी कहते हैं)।

यहाँ आनन्द सुखरूप है और राग दुःखरूप है। आहाहा! भगवान आत्मा अनाकुलस्वभावी है और राग आकुलता के भाव स्वभाववाला है। दो के बीच (छेद करके) दुःख और आनन्द को बुद्धिपूर्वक पृथक् कर। आहाहा! यह तो अन्तर की धीरज की बातें हैं। यह कोई पठन पूरा कर जाये, जगत को—लाखों लोगों को समझावे, इसलिए ऐसा होता है, यह कुछ नहीं। आहाहा! यह तो ग्यारह अंग अनन्त बार धारण कर गया, परन्तु जो करने का था, वह किया नहीं।

करने का तो (यह है कि) चाहे तो वह राग का विकल्प शुभ हो, यहाँ तो अन्तिम शुभ की बात है। भिन्न करने है, तब पहला शुभ विकल्प है, वहाँ अशुभ नहीं। समझ में

आया? आहाहा! वह शुभराग का विकल्प है, वह आकुलता है और इस ओर आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है, इन (दो को) बुद्धिगम्य करके (अर्थात्) ज्ञान में ख्याल आवे, उस प्रकार से करके भिन्न करे।

आहाहा! देखो! प्रभु का मार्ग! जिनेन्द्रदेव अनन्त जिन परमात्मा, अनन्त तीर्थंकरों ने इस प्रकार से कहा है। दूसरे प्रकार से करने जाये (तो) प्रभु! हाथ नहीं आयेगा और दुःख नहीं टलेगा। बाहर में दुनिया प्रसन्न हो जायेगी और प्रसन्न करा देगी, परन्तु अन्दर में प्रसन्नता नहीं आयेगी, बापू! आहाहा! प्रसन्नता अर्थात् खुशी अर्थात् आनन्द। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप और राग आकुलतास्वरूप, दुःखरूप है, दो को ख्याल में आवे, इस प्रकार से छेद डाल। आहाहा! गजब बात है! ऐसी बात कहाँ है? प्रभु! दुनिया को वापस (ऐसा) लगता है कि यह निश्चयाभास है और व्यवहार से लाभ मानते नहीं। व्यवहार से लाभ मानते नहीं, परन्तु व्यवहार है अवश्य। वह है, तब उसे और स्वभाव को भिन्न करते हैं न? शुभराग है, अन्तिम स्थिति में छेद करने जाये तो (वहाँ) शुभराग है। समझ में आया? आहाहा!

आत्मा ज्ञान—आनन्दस्वभाव और राग (दुःखरूप है), वह विकल्प जो है, वह अभी शुभराग है। वहाँ अशुभराग नहीं। उससे यहाँ भिन्न करना है। आहाहा! वह भी बुद्धिगम्य हो सकता है, इस प्रकार से छेद। अन्दर एकदम एक समय की पर्याय पकड़कर छेदा जा सके, वह तो सामर्थ्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। एक समय की पर्याय को पकड़कर (छेद करे), उतनी सामर्थ्य पहले नहीं (होती), परन्तु बुद्धिगम्य (रीति से) असंख्य समय में ख्याल (में आता है)। काम होता है एक समय में, परन्तु उपयोग का काम चलता है असंख्य समय में। समझ में आया? आहाहा!

'प्रभु का मार्ग है शूरों का, कायर का नहीं काम वहाँ।' आहाहा! यह वीरता (अर्थात्) वी (अर्थात्) विशेष री (अर्थात्) प्रेरे। स्वभाव को वीर्य प्रेरे, वह वीरता कहलाती है। आहाहा! धीरज से (अर्थात्) धी अर्थात् बुद्धि, बुद्धि है न? यह बुद्धि आयी न? धी...र... धी...र... धी अर्थात् बुद्धि को राग से भिन्न करके बुद्धि को 'र' (अर्थात्) प्रेरे। आहाहा! उसे धीर कहा जाता है। धी अर्थात् बुद्धि, र अर्थात् प्रेरे। राग से भिन्न करके ज्ञान में जाये। आहाहा! उसे धीरज और धीर कहा जाता है। उसे वीर कहा जाता है।

बुद्धिपूर्वक वीर्य को राग और स्वभाव को दो को छेदकर... आहाहा! स्वभावसन्मुख ढलता है, यह तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र के अंश की दशा हुई, परन्तु पूरी दशा अभी नहीं हुई। समझ में आया? यह तो इसमें है या नहीं? या नया है? तब यह कहते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है, वह दिखता नहीं, इसलिए केवलीगम्य है। इसलिए अपने व्रत और तप करो। आहाहा! प्रभु! तू क्या करता है? बुद्धिगम्य से जाना जा सकता है। इसलिए बुद्धिगोचर कहा न? आहाहा! यह इसकी रीति और यह इसकी पद्धति है। इस रीति और इस पद्धति से (दूर जाकर) दूसरा करने जायेगा तो वस्तु हाथ नहीं आयेगी, दो भिन्न नहीं पड़ेंगे। आहाहा! और दो की एकता रहेगी, वहाँ तक मिथ्यात्व और संसार में भटकने का है। आहाहा!

एक बार मध्यस्थ होकर देख तो सही, प्रभु! पूर्व के आग्रह-फाग्रह सब छोड़ दे। आहाहा! उसे इस प्रकार से ख्याल में आवे, इस प्रकार से तो छेद, ऐसा कहते हैं बुद्धिगोचर अर्थात् ऐसा कहा न? आहाहा! तेरे ज्ञान में बुद्धिगम्य—बुद्धिगोचर हो सके, इस प्रकार से तो तू उन्हें भिन्न कर। आहाहा! पश्चात्?

पश्चात्... शब्द है न? पहले, ऐसा वहाँ कहा था न? वहाँ प्रथम कहा था न? '**प्रथम तो**' ऐसा था। **प्रथम तो...** उस पृष्ठ पर लाईन है। प्रथम तो बुद्धिगम्य, (ऐसा कहा), अब फिर भी (ऐसा कहते हैं)। **सकल कर्म का क्षय होने से...** अर्थात् कि पश्चात् तो उग्र (पुरुषार्थ द्वारा) स्वभावसन्मुख ढलने से चार घाति (कर्म का) नाश होता है। ऐसा, बात यहाँ से उठायी है। समझ में आया? पहले तो बुद्धिगम्य ख्याल में आवे, इस प्रकार से राग और आत्मा को छेद डाल, प्रभु! भिन्न कर, प्रभु! तेरी सामर्थ्य है। तुझमें अनन्त वीर्य पड़ा हुआ है। आहाहा! उस अनन्त वीर्य में से वीर्य की स्फुरणा बुद्धिगम्य जितनी करके... आहाहा! चाहे तो व्रत का, तप का, दया, दान का (राग) हो, (वह) राग—विकल्प है। आहाहा! यह कठिन पड़ता है, लोगों को यह कठिन पड़ता है। इस प्रकार से सम्प्रदाय में मनवा लिया गया है। अब उससे यह बात दूसरी निकले, इसलिए लोग ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तेरे हित की बात है न! सूक्ष्म पड़े, परन्तु उसे हाँ कर तो सही कि मार्ग तो यह है। समझ में आया?

बहुत संक्षिप्त कहा। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु है, उसे पुण्य-पाप का

भाव—राग जो विकार है, यहाँ तो वास्तविक तो अन्तिम तो पुण्य का ही भाव है, उस पुण्य के भाव के राग को, तुझे उस काल में भले आकुलता हो, ऐसा ख्याल न आवे, परन्तु इस ओर ढली हुई दशा है और इस ओर चैतन्यस्वरूप है, इन दो के बीच बुद्धिपूर्वक तो भिन्न कर। आहाहा! वहाँ भव का छेद होता है। समझ में आया? आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के परिणाम, वे तो राग हैं। वह कहीं धर्म नहीं और वह राग आत्मा के स्वभाव के साथ कभी एक हुआ नहीं। आहाहा! तो तुझे ख्याल में आवे, उस प्रकार से तो छेद, पृथक् कर। आहाहा! पश्चात्... सीधा ऐसा लिया है।

पश्चात् सकल कर्म का क्षय होने से साक्षात् छेदकर... मूल तो बात यह (है) कि पश्चात् सूक्ष्म रीति से स्वभावसन्मुख ढलकर सर्वथा राग का भाव पृथक् पड़ जाता है, तब चार कर्म का नाश हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग! आहाहा! **पश्चात् सकल कर्म का क्षय होने से...** यह तो पहला शब्द रखा। परन्तु **साक्षात् छेदकर...** ऐसा लेना। उसमें बुद्धिपूर्वक छेदकर था, भाई! प्रथम बुद्धिपूर्वक छेदकर, ऐसा था। प्रथम ख्याल में आवे, इस प्रकार से राग को और आत्मा को भिन्न करके। अब उसके बदले 'साक्षात्' शब्द प्रयोग किया। भले पहले 'कर्म' शब्द प्रयोग किया है। परन्तु पहले बुद्धिपूर्वक था, अब साक्षात् छेदकर (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! बिल्कुल भगवान आनन्द का नाथ परिपूर्ण इस ओर ढल गया है। अपने आनन्द के धाम में ढल गया है, आहाहा! जिसमें एक अंश भी राग के सम्बन्ध का रहा नहीं। पहले बुद्धिपूर्वक छेदा था, वहाँ अभी अस्थिरता का राग था। समझ में आया? आहाहा! यहाँ साक्षात् छेदकर अर्थात् कि बिल्कुल राग के अंश के साथ स्वभाव को सम्बन्ध नहीं। एकता तो नहीं, परन्तु अब सम्बन्ध भी नहीं है। एकता पहले तोड़ी, एकता थी नहीं, परन्तु मानी थी, वह एकता तोड़ी। आहाहा! अब साक्षात् छेदकर! आहाहा! राजमल जैसे गृहस्थाश्रम में कैसी टीका करते हैं! आहाहा! मीठी मधुर बात है! आहाहा!

आहाहा! कलशटीका की वीणा बजती है। आहाहा! प्रभु! एक बार सुन न, कहते हैं। दो प्रकार कहे। पहले ख्याल में आवे, इस प्रकार से अन्दर पृथक् कर। पृथक् है, परन्तु उस पृथक् की ओर लक्ष्य नहीं और पर के ऊपर अनादि का लक्ष्य है। भिन्न है, उसके ऊपर तेरा अनादि का लक्ष्य है। इसलिए उसे ख्याल में आवे, इस प्रकार से,

बुद्धिगम्य—तुझे ख्याल में गम्य हो सके, भले उपयोग असंख्य समय का है, परन्तु ख्याल में आ सके, इस प्रकार से राग को—शुभराग को और आत्मा को भिन्न कर। तब उसे सम्यग्दर्शन होगा। यहाँ तो सीधा सम्यग्दृष्टि का ज्ञान लिया। परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भी यही पद्धति है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में भी पहली यह रीति है। परन्तु यहाँ सम्यग्दृष्टि का ज्ञान तीक्ष्ण है, ऐसा करके बुद्धिगम्य है, इस प्रकार वह छेदता है, ऐसा कहा। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : भेदज्ञान पहले प्रज्ञा प्रवीण होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए वहाँ से लिया। सम्यग्दृष्टि का लिया है। तथापि पहले इस प्रकार से ही होता है। आहाहा!

धर्म की पहली सीढ़ी, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी! जाना है तो मोक्ष के महल में, महल में जाना है, परन्तु (उसके) मंजिल की पहली सीढ़ी (यह है)। आहाहा! यह सूक्ष्म परन्तु बुद्धिगम्यरूप से (छेद करता है)। आहाहा! यह जाननेवाला आनन्द है और यह राग है, वह इसके साथ एक नहीं है। ऐसा पहले बुद्धिगम्य छेदकर सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् भी बुद्धिगम्य से उसे भिन्न करता जाता है। अभी बाकी है न इसलिए। ऐसे करते-करते... बुद्धिगम्य (रीति से भिन्न) करते-करते अन्त में साक्षात् हो जाता है, ऐसा कहते हैं। है न? **साक्षात् छेदकर...** आहाहा! अन्दर में राग और आत्मा का स्वभाव साक्षात् पृथक् पड़ जाता है, तब उसे केवलज्ञान होता है। आहाहा! गजब बात की है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : इतने में....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आ गया। गुणस्थान उठ गया, तेरहवाँ हो गया। साक्षात् पृथक् पड़ गया, वहाँ तेरहवाँ (गुणस्थान) हो गया। बुद्धिपूर्वक था, वहाँ तक चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ था। आहाहा! समझ में आया?

यह तो भगवत कथा है। अन्यमति में भागवत कहते हैं। यह तो सच्ची भागवत कथा है। भगवन्तस्वरूप त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव अनन्त केवलियों ने यह विधि और रीति बतायी है। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर अनन्त हो गये, वर्तमान में विराजते हैं

(और) अनन्त होंगे, वे परमात्मा यह विधि बताते हैं। भाई! तुझे हलुवा बनाना हो, क्या कहते हैं? हलुवा! तो आटे में घी को सेंक डाल, आटे को घी में सेंक, फिर गुड़ का पानी डाल। इसी प्रकार पहले भिन्न करने का पुरुषार्थ कर, पश्चात् स्थिरता का पुरुषार्थ कर। आहाहा! अरे रे! आहाहा! परम अमृतस्वरूप भगवान राग में रुक गया। है पृथक् तो भी रुक गया, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह छेदने की क्रिया सातवें गुणस्थान से चालू होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सूक्ष्मरूप से सातवें से होती है। अत्यन्त सूक्ष्म फिर बारहवें (गुणस्थान में) हो जायेगी। यहाँ तो चार घाति का नाश कहा न? आहाहा! उसमें— सात से बारह में तो (फिर) अन्तर्मुहूर्त की क्रीड़ा है। वहाँ बुद्धिगम्य नहीं, वहाँ तो अन्तर के अनुभवगम्य में पड़ा है। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य यह है। लम्बी बहुत अधिक बातें करे, और यह करो, यह करो, यह करो। करने का जहाँ आयेगा, वहाँ राग होगा (और) राग का कर्तव्य तो मिथ्यात्व है। आहाहा! राग का कर्तव्य मेरा है, यह तो मिथ्यात्वभाव है। हाँ, राग से भिन्न पड़ने का कर्तव्य मेरा है, यह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! धन्य भाग्य! आहाहा! ऐसा मार्ग शास्त्र में स्पष्ट रह गया! आहाहा!

मुमुक्षु : रह गया और सुनने को मिला।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिला, इसकी बात तो अभी कैसे करें? परन्तु अब... आहाहा! आहाहा! प्रभु तो रह गये महाविदेह में... आहाहा! उनका यह मार्ग है। आहाहा! भगवान ने तो ऐसा कहा था, भगवान ने तो ऐसा कहा है, वही बात यह है। पहले प्रभु को (-निजात्मा को) पहिचानकर चैतन्यस्वरूप है, उसे बुद्धिगम्य में लेकर राग से भिन्न पड़कर उसे—एकता को छेद डाल। आहाहा! एक है नहीं, एक माना है। उसे छेद— ऐसा कहते हैं। मिथ्यात्व की मान्यता है न? एक है, ऐसी वह मान्यता है। आहाहा! उस मान्यता को छेद और एक नहीं है, ऐसा तुझे हो जायेगा। आहाहा!

चैतन्यबर्फी भगवान! आनन्द का धाम भगवान बर्फी भिन्न पड़ जायेगा, राग भिन्न रह जायेगा। पहले में पहला यह करना है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात सुनने को नहीं

मिले वह क्या करे ? कहाँ करे ? और मुश्किल से अन्दर से बात बाहर आयी, तब अनादर करे। आहाहा!

यहाँ बुद्धिगम्य और उसके साथ साक्षात्, दो शब्द प्रयोग किये हैं। **पश्चात् तो साक्षात् छेदकर...** कर्म का क्षय होता है, ऐसा लेना। परन्तु यहाँ पहले कर्म का क्षय शब्द प्रयोग किया है। कर्म अर्थात् अशुद्धभाव का क्षय होने से, ऐसा लो। वह कर्म है न ? आहाहा! सकल अशुद्धता का क्षय होने से **साक्षात् छेदकर...** आहाहा! **भिन्न-भिन्न करता है।** आहाहा! तब भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। अकेला ध्रुव आत्मा रहता है, अशुद्धता और राग का नाश हो जाता है। आहाहा! पहले से यह ठेठ तक की सन्धि बतायी। आगे कहेंगे, वह सब काम एक समय में होता है। जिसे एकदम करना है न, (उसे)। बुद्धिगम्य उपयोग काम करता है असंख्य समय में, परन्तु काम वहाँ होता है एक समय में। आहाहा! समझ में आया ?

ऐसा सुनने में भी जो शुभभाव होता है, वह पुण्य दूसरे प्रकार का है। बहुत से ऐसा कहते हैं न कि इनके (कानजीस्वामी के) पास लकड़ी है तो उससे पैसे होते हैं। बापू! यह लकड़ी नहीं, यहाँ तो चैतन्य की बातें हैं! ऐसी बात सुनने पर उसे शुभभाव का इतना पुण्य बँध जाये... आहाहा! घण्टे-घण्टे भर ध्यान में रखे तो उसे शुभ ऐसा बँधता है, तब उसे उसके पुण्य का फल मिलता है। यहाँ से कुछ नहीं मिलता। समझ में आया ? वहाँ का वहाँ तुझमें सब पड़ा है। ऐसी यह शैली (आयी है)! उसका जो शुभराग (हो), हाँ करे, उसकी तो बलिहारी है परन्तु इस शुभराग में भी यह सुने, उसमें भी ऐसा पुण्य बँधता है कि उसे भविष्य में तीर्थंकर और वाणी का योग ही मिलता है। आहाहा! समझ में आया ? यह उसके कारण को लेकर हुआ है। इसके कारण नहीं कि इसके कारण यहाँ हुआ है। लकड़ी में कुछ है और पैसे हो जाते हैं, (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : निमित्त तो आप हो न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त करता नहीं न! परन्तु निमित्त का अर्थ ही यह किया है, कैलाशचन्दजी ने बहुत अच्छा अर्थ किया। कैलाशचन्दजी ने दो अर्थ बहुत अच्छे किये हैं और अभी तीसरा यह किया, उन्हें मुम्बई बुलाया... क्या कहलाता है वह ? भूलेश्वर! पत्र लिखा है, हमारे मौसम है तुम पधारो। (वहाँ उन्होंने कहा कि) 'पहली बात यह

कि कानजीस्वामी का जो साधुओं ने विरोध किया है, उसका मैं विरोध करूँगा और जिन प्रमुखों ने साथ में उसकी हाँ की है, उसका मैं विरोध करूँगा तो मैं वहाँ आऊँ।' इतनी हिम्मत! बापू! यह तो सत्य है, प्रभु! यह कोई वाड़ा की बात नहीं। आहाहा! भाई! तेरे अन्तर की बातें हैं, नाथ!

आहाहा! अन्तर अमृत का सागर डोलता है न नाथ! वह राग से भिन्न प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! आहाहा! जैसे शकरकन्द छाल से भिन्न शक्करकन्द पड़ा है। लाल छाल... शक्करकन्द समझते हैं? भाई पृथ्वीचन्दजी! शक्करकन्द नहीं आता? ऊपर लाल छाल होती है न? उस लाल छाल को न देखो तो अन्दर शक्करकन्द है (अर्थात्) शक्कर का पिण्ड है। शक्करकन्द अर्थात् चीनी की मिठास का पिण्ड पूरा, शक्करकन्द। उसी प्रकार भगवान लाल छाल अर्थात् शुभराग है और भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। उसे पहले बुद्धिपूर्वक भेदकर, छेदकर, ऐसा कहा है। वैसे तो भिन्न ही है परन्तु (एक) माना है, इसलिए छेदकर कहा है। क्या कहा यह? राग और भगवानस्वरूप दो भिन्न ही है। दो के बीच साँध है, अर्थात् है तो भिन्न, तथापि छेदकर क्यों कहा? कि, इसने (एक) माना है न? एक माना है, उसे छेदकर। समझ में आया? आहाहा!

उसे मान—बहुमान देने से राग की तुच्छता ज्ञात होने पर, वह जगे बिना न रहे, प्रभु! आहाहा! ऐसा यह भगवान आत्मा, पश्चात् भी कहते हैं, साक्षात्—अशुद्धता के भाव को साक्षात् छेदकर (अर्थात्) बिल्कुल छेदकर... आहाहा! **भिन्न-भिन्न करता है।** आहाहा! थोड़े शब्दों में कितना रखा है! आहाहा! शान्ति से, धीरज से पहले इसे श्रवण करना चाहिए और इसके हित की बात है न, नाथ! बाहर कोई शरण नहीं, शरण तो प्रभु अन्दर आत्मा है। यह तो उसमें ले जाने की बात है, प्रभु! आहाहा!

एक बार प्रश्न हुआ था। अमरेली (में संवत्) १९८६ का चातुर्मास था न? रामजीभाई ने प्रश्न किया था। तुम्हारा भतीजा—रामजी हंसराज। तीन भाई थे। १९८६ का चातुर्मास था न? तब तो पैसे थोड़े थे—दस लाख, पश्चात् करोड़ हुए। तीनों भाई थे। प्रश्न किया। बात सूक्ष्म आयी, (इसलिए) फिर प्रश्न किया, महाराज! ऐसी बात पचती नहीं, हों! ऐसे नम्रता से पूछा था। तीनों भाई थे। ऐसी बात पचती नहीं! (मैंने कहा) भाई! रोटी और रोटला खाते हो तो कोई चार सेर घी का मैसूर लावे तो तुम इनकार करते

हो (कि) नहीं पचेगा? ....भाई! तुम्हारे भतीजे को ऐसा जवाब दिया था। १९८६! कितने वर्ष हुए? ४८ वर्ष! बोले थे। परिचय नहीं न (इसलिए)। तीनों भाई रुके हुए थे चौमासा में। बात सूक्ष्म आयी इसलिए (कहे), महाराज! ऐसी बात पचती नहीं। (मैंने कहा), भाई! रोटी और दाल-भात खाते हो, उसमें कोई चार सेर घी का मैसूर (दे), एक सेर आटा और चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूर दे तो वहाँ इनकार करते हो कि मेरा जठर (नहीं पचायेगा)? पृथ्वीचन्दजी! मैसूर समझते हैं न? यह मैसूर... मैसूर। मैसूरपाक! यह बादाम का पाक होता है न? बादाम! बादाम का मैसूर होता है न? जैसे चने के (आटे का) होता है, वैसे बादाम का होता है। क्या कहा बादाम का? मैसूर! आहाहा! भाई! जिसका प्रेम है, उसे नहीं पचे, ऐसा नहीं कहते। उसे प्रेम है—बादाम का मैसूर! आहाहा! अभी तो सवा सौ रुपये किलो बादाम है। हमारे समय में तब बारह आने की सेर बादाम थी। हमारे तो दुकान में धन्धा था न? बादाम, पिस्ता (आदि का) घर का धन्धा था। यह तो ७० वर्ष पहले की बात है। तब बादाम बारह आने की सेर थी, अभी सवा सौ रुपये की किलो है। उसका भी मैसूर बनाकर लावे तो इनकार करे कि नहीं, पचेगी उतना ही खाऊँगा। पचेगी उतना ही खाऊँगा? भाई! यह पचे उतनी तो हाँ करो! आहाहा! भाई को तो बेचारे को बहुत प्रेम था। अन्त में भी वे आये थे, तब तो ऐसा बोल गये (कि) अब तो बाद की जिन्दगी यहाँ बिताना है। ऐसा बोले थे। परन्तु बाहर में पैसा-बैसा बढ़ गया। बहुत करोड़ों हो गये। सात-आठ करोड़ रुपये! और बाहर में दान करे, उसमें रह गये। स्वाध्यायमन्दिर के बाहर निकले, (तब) अन्त में बोल गये, अब अन्तिम जिन्दगी यहाँ बितानी है। ऐसा बोल गये थे। नरम व्यक्ति थे। आहाहा! परन्तु व्यक्ति समय निकालता नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **साक्षात् छेदकर भिन्न-भिन्न करता है। कैसा है जीव-कर्म का अन्तः सन्धिबन्ध?** अब यह कहते हैं कि भिन्न करता है, परन्तु अन्तर सन्धि कितनी सूक्ष्म है? **कैसा है जीव-कर्म का अन्तः सन्धिबन्ध?** यह सूक्ष्म है। आहाहा! **अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है।** आहाहा! बहुत ही दुर्लक्ष्य—बहुत सूक्ष्म उपयोग करना पड़े, (ऐसा) कहते हैं। ज्ञान का उपयोग बहुत सूक्ष्म... सूक्ष्म... पतला सूक्ष्म करना पड़े। ऐसी उन दोनों की सन्धि **अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है।** आहाहा! दुर्लभ नहीं, दुर्लक्ष्य (है)। उसका लक्ष्य

होना, वह बहुत ही दुर्लभ है, बापू! आहाहा! परन्तु हो सकता है। दुर्लक्ष है परन्तु अशक्य नहीं। आहाहा! जीव को जड़ बनाना होवे तो अशक्य है। परमाणु को जीव बनाना हो तो अशक्य है, परन्तु जीव को जीव रखना, बनाना हो, तब तो शक्य है। आहाहा! ऐसा दुर्लक्ष्य है।

अनादि का उल्टा अभ्यास है। निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया, परन्तु सूक्ष्म राग और चैतन्य की सन्धि सूक्ष्म पड़ी, उसे (पृथक्) नहीं कर सका। मुनि हुआ, दिगम्बर हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये। वह तो सब राग है, प्रभु! आहाहा! राग से अन्दर भिन्न (करना वह) दुर्लक्ष्य है। है? **दुर्लक्ष्य...** अकेला दुर्लक्ष्य नहीं, **अति ही दुर्लक्ष्य...** आहाहा! बापू! यह बातें भले बात आवे, परन्तु अन्दर भिन्न करना, (उसमें) बड़ा पुरुषार्थ है। आहाहा! समझ में आया? बहुत विचक्षणता और सूक्ष्मता चाहिए। आहाहा!

अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है। है तो साँध। राग और भगवान आत्मा के बीच है तो साँध, परन्तु बहुत दुर्लक्ष्य साँध है। आहाहा! सन्धि तो सन्धि है, निःसन्धि हुई नहीं। ऐसा कहते हैं। राग का जो सूक्ष्म विकल्प (आता है, वह) और भगवान सूक्ष्म (है उन) दोनों की सन्धि, वे निःसन्धि (हुए) नहीं, परन्तु दोनों की सन्धि बहुत दुर्लक्ष्य है। लक्ष्य में आना बहुत महापुरुषार्थ माँगता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : इसका मतलब ज्ञान बहुत गहरा जाये, तब पकड़ में आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म... सूक्ष्म... अन्दर है। क्योंकि असंख्य प्रदेश में पर्याय ऊपर है। जीव के असंख्य प्रदेश हैं। यहाँ प्रदेश है, यहाँ सर्वत्र प्रदेश है, उस प्रत्येक प्रदेश में अन्दर में प्रदेश है, उसके ऊपर पर्याय है। वह सर्वत्र ऊपर पर्याय है, उसे अन्दर में झुकाना। यह ऊपर पर्याय है, ऐसा नहीं, यह आत्मा है और ऊपर पर्याय है, ऐसा नहीं। अन्दर असंख्य प्रदेश है, वहाँ-वहाँ ऊपर पर्याय है। ध्रुवता अन्दर में गहरी है। आहाहा! समझ में आया?

अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है। उसका विवरण... करेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १३, शनिवार, दिनांक-०७-०१-१९७८, कलश-१८१, प्रवचन-१९६

कलशटीका, १८१ कलश है, गुजराती में १७२ पृष्ठ। क्या कहते हैं? **कैसा है जीव-कर्म का अन्तःसन्धिबन्ध?** (ऊपर से) दूसरी लाईन। यह आत्मा है, वह शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द है और उसमें राग है, वह राग कर्म है। शुभ-अशुभराग (और चैतन्य) के बीच साँध है। अर्थात् क्या? कि चैतन्यसत्ता ज्ञानानन्दस्वरूप और राग विकारस्वरूप है, दो के बीच साँध है (इसलिए) सन्धि है, दोनों एक नहीं है। दोनों भिन्न हैं। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! शरीर, वाणी, मन की तो बात क्या करना? परद्रव्य तो पर में रहे, परन्तु आत्मा वस्तु चैतन्यघन है, शुद्धस्वभाव का पिण्ड प्रभु है और उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव उत्पन्न होता है, वह राग है। उस राग और आत्मा के बीच साँध है। साँध अर्थात् एक हुए नहीं। अज्ञानी ने अनादि से एक माना है। आहाहा!

भगवान शुद्ध चैतन्य वस्तु, वह जीवतत्त्व—जीवद्रव्य है और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव (हो), वह पुण्य, राग—पुण्यतत्त्व है। अन्दर दो तत्त्व भिन्न हैं। कर्म, शरीर की तो बात क्या करना! वे तो एकदम परद्रव्य हैं। परन्तु आत्मा की पर्याय में राग जो होता है, शुभराग या अशुभराग (होता है), वह विकल्प है, वह अस्ति है परन्तु चैतन्यतत्त्व और राग के अस्ति तत्त्व के बीच सन्धि है, साँध है, दोनों एक नहीं। आहाहा!

कल कहा था न? लाखों मण बड़ा पत्थर होता है न? उस पत्थर के अन्दर सहज ही रग होती है, बारीक रग (होती है)। राजकोट में जंगल गये, तब देखा था। ऐसे पत्थर के दल, (उसमें) एक डोरी जैसी बीच में सन्धि होती है। ऊपर के पत्थर को और नीचे के पत्थर को (भिन्न करती हुई) एक डोरी जैसी बारीक साँध होती है। अन्दर दोनों एक नहीं हैं। प्रकृति के पत्थर के दल में भी एक पत्थर का दल और दूसरे दल के बीच साँध होती है, रग होती है। उसमें नक्काशी (निशान) करके बारुद की वाट रखे, और रखकर भागे। (उसे फूटने) पर एकदम पत्थर उड़ जाये। दो के बीच साँध है, अन्दर भिन्न है। प्रकृति के पत्थर के दल अलग है। आहाहा!

इसी प्रकार आत्मा भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु और राग, चाहे तो दया

का, दान का, भक्ति का (हो), परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की ओर की भक्ति का भी वह राग है... आहाहा! क्योंकि नव तत्त्व में वह राग वह पुण्यतत्त्व है। अथवा वह आस्रवतत्त्व है। उस तत्त्व और चैतन्यतत्त्व के बीच साँध—दरार है, दरार! दोनों एक हुए नहीं। अनादि से अज्ञानी ने एक माने हैं, (परन्तु) एक हुए नहीं। यह यहाँ कहते हैं।

जीव-कर्म का अन्तःसन्धिबन्ध... जीव और राग। कर्म शब्द से यहाँ मूल राग (लेना)। कर्म भले जड़ लो, परन्तु जड़ की ओर के लक्ष्यवाला जो राग है, राग। चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो। जीवतत्त्व भगवान और रागतत्त्व दो की अन्तःसन्धि का बन्ध है। अन्तःसन्धि का सम्बन्ध लगता है। (एक) है नहीं, हैं भिन्न। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, प्रभु! अन्तर का मार्ग सूक्ष्म है। अनन्त काल से वह राग और भगवान दोनों भिन्न हैं, (परन्तु) उनकी भिन्नता इसने की नहीं। है भिन्न। आहाहा! शरीर, कर्म, वाणी और कुटुम्ब-कबीला, अरे! देव-गुरु और शास्त्र वे तो कहीं पर रह गये। परद्रव्य और स्वद्रव्य के बीच तो अत्यन्त अभाव है। परन्तु यहाँ सूक्ष्म सन्धि—प्रज्ञाछैनी कहनी है न? राग का विकल्प जो उठे, वह और निर्विकल्प चैतन्यस्वभाव, दो के बीच अन्तःसन्धि का बन्ध है। देखा? अन्तःसन्धि (कहा है)। है अन्तर में साँधवाला सम्बन्ध। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! क्यों?

अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है। अन्दर भिन्न साँध है, परन्तु दुर्लक्ष्य है। बहुत ही सूक्ष्म लक्ष्य करे तो वह भिन्न भासित हो, वरना तो दुर्लक्ष्य है। आहाहा! अन्तर के ज्ञान की पर्याय को और उस राग के विकल्प को, चाहे तो दया (हो या) परमात्मा की भक्ति हो, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति हो, परन्तु है वह राग, उस राग और आत्मा को अन्तर में सन्धिरूपी बन्ध है, साँधवाला बन्ध है। एक(पने का) बन्ध नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। भाषा कैसी ली है?

अन्तःसन्धिबन्ध... अन्तर साँध है, भिन्न है—ऐसा बन्ध—सम्बन्ध है। आहाहा! आहाहा! प्रभु! तू कौन है? यह तो शुद्ध चैतन्य पवित्र आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु है। वह जिनस्वरूप है। 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो, मतवाला समझे न।' मत (अर्थात्) मत का अभिप्राय हो गया है कि राग और आत्मा एक है अथवा यह राग करते-करते आत्मा का कल्याण होगा अथवा यह राग—

शुभराग है, वह आत्मा को आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करने का कारण है, ऐसा जो माना है, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! क्यों? कि राग और आत्मा को अन्तर में साँध में सन्धि का बन्ध है, एकपने का बन्ध नहीं। आहाहा! समझ में आया?

भगवान जिनस्वरूप प्रभु और राग विकारस्वरूप... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को जो तीर्थंकरगोत्र बाँधने का भाव आवे, उस भाव को और आत्मा को अन्तर में साँधवाला सम्बन्ध है, एकवाला सम्बन्ध नहीं। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु भाव तो जैसा है, वैसा है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यतत्त्व और राग, वह अचेतनतत्त्व है। चाहे तो भगवान की भक्ति (करे), तीन लोक के नाथ के समवसरण में अनन्त बार गया और भगवान की भक्ति भी अनन्त बार की... आहाहा! हीरा के थाल, मणि के—मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल (लेकर) परमात्मा समवसरण में विराजते हैं, वहाँ अनन्त बार गया है। महाविदेहक्षेत्र में अनन्त पुद्गलपरावर्तन मनुष्यदेह के किये हैं, भाई! वहाँ तो साक्षात् भगवान तीनों काल विराजते हैं। उन भगवान के समवसरण में गया, पूजा-भक्ति की, परन्तु वह तो राग है। आहाहा! उस राग और आत्मा के बीच; जैसे यह दो पृष्ठ हैं, ऐसे भिन्न हैं या नहीं यह? भिन्नरूप से सम्बन्ध है, ऐसा। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप भगवान और रागरूप विकार दुःख, दो के बीच साँधरूपी सम्बन्ध है। आहाहा! एकरूपी सम्बन्ध नहीं। देखो! क्यों?

अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है। दो की साँध देखना, वह तो बहुत ही पुरुषार्थ माँगता है, (ऐसा) कहते हैं। आहाहा! किसी सूक्ष्म वस्तु को देखने पर नजर को छोटी-सूक्ष्म करनी पड़ती है। उसी प्रकार यह आत्मा और राग के बीच की सन्धि देखने के लिये बहुत सूक्ष्म उपयोग करना पड़ता है। आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, प्रभु! समझ में आया? वह सूक्ष्म दुर्लक्ष्य है। है? **अति ही दुर्लक्ष्य सन्धि...** वापस भाषा ऐसी प्रयोग की है। आहाहा! बहुत ही अन्दर ज्ञान का सूक्ष्म उपयोग करे तो वह राग और आत्मा के बीच में साँध भिन्न है, वह ज्ञात हो। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! स्थूल उपयोग से तो वह लक्ष्य में नहीं आवे। क्योंकि स्थूल उपयोग में तो राग का सम्बन्ध है। आहाहा! अन्तर में ज्ञान की दशा बहुत ही सूक्ष्म करने पर उसका उपयोग सूक्ष्म होने से, वह

आत्मा और राग की सन्धि बहुत ही दुर्लक्ष्य से ज्ञात होती है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, प्रभु! आहाहा! और इसके बिना भेदज्ञान नहीं होता और भेदज्ञान बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता। आहाहा!

उसका विवरण इस प्रकार है - कि जो द्रव्यकर्म है... जड़कर्म, जड़। ज्ञानावरणीय आदि, वह तो सूक्ष्म मिट्टी-धूल है, वह सूक्ष्म धूल है। वह तो **ज्ञानावरणादि पुद्गल का पिण्ड,...** है। **वह यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है...** जहाँ भगवान आत्मा है, उस क्षेत्र में अर्थात् आकाश के क्षेत्र में, हों! आत्मा का क्षेत्र और कर्म के परमाणु का क्षेत्र भिन्न है। परन्तु यहाँ आकाश के क्षेत्र में जहाँ भगवान आत्मा है, वहाँ ही कर्म के रजकण का पिण्ड है, वह आकाश के एक क्षेत्र में है। आहाहा!

तथापि उसकी तो जीव से भिन्नपने की प्रतीति... वे रजकण हैं, आवें-जायें ऐसी उनकी भिन्नता विचारश्रेणी में तो ज्ञात हो। क्योंकि वह तो भिन्न चीज़ है। आहाहा! मुद्दे की रकम के माल की बात है, प्रभु! आहाहा! कहते हैं कि वह परमाणु का विचार करने से **भिन्नपने की प्रतीति, विचारने पर उत्पन्न होती है;...** रजकण जाते-आते है न? वे तो परमाणु हैं। आहाहा! एक बात।

कारण कि द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डरूप है, यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है, तथापि भिन्न-भिन्न प्रदेश है,... उनके प्रदेश भिन्न हैं। आकाश के प्रदेश में भले एक हो, ऐसा कहते हैं। परन्तु आत्मा के प्रदेश और कर्म के प्रदेश अत्यन्त न्यारे हैं। वे कर्म के प्रदेश आत्मा के प्रदेश को स्पर्शे भी नहीं। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी चुम्बन नहीं करता, यह (समयसार की) तीसरी गाथा में आ गया है। तीसरी गाथा में! प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक वस्तु... भगवान ने देखे हुए छह द्रव्य हैं, उनमें प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा दूसरे द्रव्य को चूमता ही नहीं, स्पर्शता ही नहीं। आहाहा! यह कर्म के रजकण आत्मा के प्रदेश को छुआ ही नहीं-छुए ही नहीं। आहाहा! वे तो अत्यन्त भिन्न हैं। समझ में आया?

द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डरूप है, यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है, तथापि भिन्न-भिन्न प्रदेश है, यह तो अचेतन है... आहाहा! **बँधता है, खुलता है...** यह तो वे रजकण आवें, जायें, छूटें, बँधें। **ऐसा विचार करने पर भिन्नपने की प्रतीति उत्पन्न होती है।** कर्म और

आत्मा के बीच इस प्रकार विचार करने से भिन्नता की प्रतीति होती है और उपजते हैं। आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म, भगवान! आहाहा!

नोकर्म है... अब शरीर (की बात करते हैं)। **नोकर्म है, जो शरीर-मन-वचन उससे भी उस प्रकार से...** है। शरीर के—इस मिट्टी के जो रजकण हैं, वे आत्मा को स्पर्शे ही नहीं। भले आकाश के एक क्षेत्र में हो, परन्तु इस शरीर के रजकण आत्मा को स्पर्शे ही नहीं, स्पर्शे ही नहीं। तथा मन के परमाणु यहाँ हैं, वे भी आत्मा को स्पर्शे नहीं तथा वाणी के परमाणु हैं, वे आत्मा को छूते ही नहीं। आहाहा!

शरीर-मन-वचन उससे भी उस प्रकार से विचारने पर... इस प्रकार से समझ में आया? पुद्गल के जैसे परमाणु हैं, तत्प्रमाण यह शरीर-मन-वचन के परमाणु हैं। वाणी है, वह परमाणु है, यहाँ हृदय में मन है, वह रजकण—सूक्ष्म धूल है। आहाहा! (ऐसा) **विचारने पर भेद-प्रतीति उपजती है।** दो बातें हुईं—एक कर्म की और एक शरीर, मन और वचन की—ये तीनों नोकर्म। इनकी भिन्नता तो स्थूल बात है, इसलिए विचारा जा सकता है और भिन्न प्रतीति की जा सकती है। अब तीसरी एक बात रही। आहाहा!

भावकर्म... आहाहा! **जो मोह-राग-द्वेषरूप...** भावकर्म, वह परसन्मुख की सावधानी के परिणाम हैं और राग-द्वेष के परिणाम **अशुद्ध चेतनारूप...** हैं। वे दो तो अत्यन्त अचेतन थे। मन-वचन-शरीर और कर्म तो अचेतन—अजीव थे। वे मोह और राग-द्वेष परिणाम, वह **अशुद्ध चेतनारूप...** है। आहाहा! चेतना जो शुद्ध त्रिकाली प्रभु के साथ यह परिणाम—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव (होते हैं), वे अशुद्ध चेतनारूप परिणाम है। आहाहा!

अशुद्ध चेतनारूप परिणाम... है न? **वे अशुद्ध परिणाम....** अशुद्ध—मलिन परिणाम **वर्तमान में जीव के साथ एक परिणमनरूप हैं,...** वे तो एकक्षेत्रावगाह थे। मन, वचन, शरीर और कर्म तो आकाश अपेक्षा से एक क्षेत्र में, हों! बाकी अपना क्षेत्र भिन्न है, उनका क्षेत्र भिन्न है। यह जो अशुद्ध पुण्य और पाप के भाव (होते हैं)... आहाहा! दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा (का भाव), ऐसा जो विकल्प—राग है, वह अशुद्ध चेतना है। **अशुद्ध चेतनारूप परिणाम वे अशुद्ध परिणाम वर्तमान में जीव के साथ एक परिणमनरूप हैं,...** परिणमन की अपेक्षा से एकरूप है। आहाहा! है?

तथा अशुद्ध परिणाम के साथ वर्तमान में जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमता है,... क्या कहा यह? भगवान आत्मा व्यापक होकर—पसरकर और पुण्य के परिणाम में व्याप्यरूप से परिणमता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! भगवान आत्मा चेतनरूप है, उसकी पर्याय में पुण्य के परिणाम या पाप के (परिणाम दोनों हों), मुख्य तो अटका है पुण्य के (परिणाम में)। शुभभाव से आत्मा को लाभ होगा, शुभ करते-करते समकित होगा—इस (भाव में) अनादि का अटका है। मिथ्यात्व शल्य। आहाहा! समझ में आया? यह मिथ्यात्व परिणाम भी जीव के अशुद्ध चैतन्यपरिणाम हैं। है? मोह है न? देखो!

आहा! **वर्तमान में जीव व्याप्य-व्यापक...** व्याप्य-व्यापक अर्थात्? भगवान स्वयं पर्याय में पसरता है और पुण्य के परिणाम का व्याप्य होता है। व्याप्य अर्थात् कार्य। पुण्य के, दया, दान, भक्ति के परिणाम का व्याप्य—कार्य होता है और आत्मा उसका व्यापक है, उनका कर्ता होता है। अनादि अज्ञान से (ऐसा होता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रदेशभेद है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेशभेद है (वह अलग)। अभी कहेंगे, (वह) देखो! अभी चले उतनी शैली (लेना)। यहाँ तो अभी सन्धि बतलानी है न? तत्पश्चात् अभी बात आयेगी।

एक परिणमनरूप हैं, तथा अशुद्ध परिणाम के साथ वर्तमान में जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमता है, इस कारण उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है,... आहाहा! समझ में आया? वास्तव में तो दया, दान, व्रत, भक्ति के जो भाव (होते हैं) और आत्मभाव दोनों के प्रदेश भी भिन्न है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! जितने अंश में विकृत (भाव) उत्पन्न होते हैं। है उसके असंख्य प्रदेश का अंश। भगवान असंख्य प्रदेशी आत्मा का एक अंश है, परन्तु जितने अंश में वह विकृति उत्पन्न होती है, वह क्षेत्र भी भिन्न है, भाव भी भिन्न है, फल भी भिन्न है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! मार्ग सूक्ष्म, बापू! ऐसे का ऐसे रह गया है। बाहर में और बाहर में सिरपच्ची करके... आहाहा! अन्दर में उतरने का प्रयत्न किया नहीं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **इस कारण उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है,...** कठिन है, परन्तु अशक्य है—ऐसा नहीं। आहाहा! हो नहीं सकता—ऐसा नहीं, परन्तु कठिन है। आहाहा! यह शुभभाव और भगवान आत्मा, इनका व्याप्य-व्यापकपना हुआ है, कार्य-कारणपना हुआ है, इसलिए इन्हें भिन्न करना कठिन है, परन्तु अशक्य नहीं। आहाहा!

तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर... देखो! कहते हैं कि यह राग के परिणाम और आत्मा के भाव, दो के बीच साँध है। भले जीव उसरूप से पर्याय में व्याप्यरूप से परिणमा है। व्याप्य अर्थात् कार्य, व्याप्य अर्थात् कर्म, कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा! धीरे-धीरे समझने की बात है, बापू! आहाहा! यह व्याप्य-व्यापक होने पर भी, वह राग और आत्मा के बीच सन्धि है। आहाहा! गजब है! पहले कहा (था न)? पहले ऐसे कहा, व्याप्य-व्यापकरूप से है। आहाहा!

इस कारण उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है, तथापि सूक्ष्म सन्धि का... अब वापस लिया। व्याप्य-व्यापक है, तथापि राग और आत्मा के बीच साँध है। आहाहा! गजब बात है न! अरे! प्रभु! तेरी बात सूक्ष्म, परन्तु सुनने को मिले नहीं। बाहर में और बाहर में सिरपच्ची में पड़ा है। अन्दर वस्तु भिन्न रह गयी है। आहाहा! क्या कहना है?

चैतन्य भगवान ज्ञान और आनन्दरूप, ऐसे आत्मा के साथ पुण्य के, दया, दान, भक्ति आदि के परिणाम व्याप्य-व्यापक हैं। आत्मा व्यापक होकर व्याप्यरूप से—पर्यायरूप से परिणमा है, तथापि दो के बीच सन्धि है। आहाहा! तथापि दो के बीच साँध है। आहाहा!

मुमुक्षु : इस प्रकार राग और राग के साथ वर्तता ज्ञान, इन दो के बीच साँध है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों भिन्न हैं, बीच में साँध है। वर्ता भले उसमें, परन्तु वास्तव में तो बीच में साँध है। वास्तव में उसके साथ परिणमा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! स्थूलरूप से ऐसा दिखता है कि आत्मा अशुद्ध परिणामरूप से परिणमा है। शरीर और वाणी, मन और कर्म और परद्रव्य तो कहीं एक ओर रह गये। आहाहा! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि का यह सार है। समझ में आया?

कहते हैं, अन्दर शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनन्त काल से वर्तमान में राग से व्याप्य-व्यापकरूप से हुआ है। वह राग उसका व्याप्य है और आत्मा उसका कर्ता—व्यापक है। आहाहा! अज्ञानरूप से (कर्ता है)। आहाहा! तथापि... है? **तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है।** आहाहा! ज्ञान को राग से सूक्ष्म उपयोग से भिन्न करके आत्मा की ओर झुकाने पर दोनों भिन्न पड़ जाते हैं, तथा प्रतीति होती है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! अभी तो मार्ग को बहुत नोंच डाला है। किसी ने कुछ, किसी ने कुछ (कहा), कोई कहे व्रत से होगा और तपस्या से होगा, कोई तो और कहता है कि भक्ति से होगा। सब एक प्रकार है—सब राग की जाति है।

इस राग के साथ आत्मा वर्तमानरूप से; त्रिकालरूप से नहीं, वर्तमानरूप से व्याप्य—व्यापकरूप से परिणमित है। कर्ता-कर्मपने अज्ञानभाव से परिणमित है। आहाहा! तथापि **सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर...** आहाहा! ज्ञान और राग के बीच साँध है। दोनों एक नहीं हुए। अज्ञान में उन्हें व्याप्य-व्यापकरूप से एकपना लगा है। आहाहा!

मुमुक्षु : लगा है, (परन्तु) है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं।

मुमुक्षु : राग और चालू ज्ञान के बीच प्रदेशभेद कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेशभेद भी है, परन्तु अभी अपने (यह बात चलती है)। भावभेद की बात की है न? अर्थात् वह प्रदेश (भेद का) अभी काम नहीं है। तुमने पहले कहा था, मुझे खबर है, परन्तु अभी वह काम नहीं। उसमें भिन्न करने से भिन्न प्रदेश उसमें आ ही जाते हैं। समझ में आया? आहाहा! क्या मार्ग ऐसा!

वीतराग सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव जिनेश्वर परमात्मा की दिव्यध्वनि में यह आया। आहाहा! 'मुख ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' भगवान के श्रीमुख से ध्वनि (निकली), वह ऐसी ध्वनि नहीं होती। भगवान के मुख में ॐध्वनि होती है। ऐसे शब्दों का भेद नहीं होता। क्योंकि वहाँ वीतरागता हो गयी है। इसलिए वीतराग को शब्दभेद नहीं होता। उन्हें तो एकाक्षरी ॐ ध्वनि होती है। एकाक्षरी ॐ ध्वनि पूरे शरीर में से निकलती है। होंठ हिलते नहीं, कण्ठ हिलता नहीं। आहाहा! तथापि शब्द बोला जाता

है ऐसा 'मुख ॐकार' बाकी ॐकार आता है पूरे आत्मप्रदेश से। 'मुख ॐकार ध्वनि सुनी, अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारे।' आहाहा! 'सुसत्यार्थ शारदा तासु भक्ति उर आन, छन्द भुजंग प्रयाच मैं अष्टक कहुं बखान' बनारसीदास कहते हैं, बनारसीदास। भगवान के मुख में से ॐ ध्वनि निकली, गणधर सन्त चार ज्ञान के धनी, चौदह पूर्व बारह अंग के (धनी) उन्होंने शास्त्र—आगम रचे। आहाहा! उस आगम को सुनकर भविक जीव संशय निवारे। भव्य अर्थात् प्राणी, योग्यता हो, वह मिथ्यात्व को टालता है। आहाहा! किस प्रकार टालता है?

यहाँ यह कहते हैं, देखो! **तथापि सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर...** यह राग और भगवान के बीच (भेद करने से)। रागतत्त्व, वह आस्रवतत्त्व है, मलिनतत्त्व है, दुःखतत्त्व है। आहाहा! चाहे तो तीन लोक के नाथ परमात्मा का स्मरण करो, परन्तु वह राग है और दुःख है। आहाहा! दुःख और आत्मा का आनन्द, वह अज्ञानरूप से वर्तमान में व्याप्य-व्यापक दिखता है, परन्तु **सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है।** आहाहा!

इसके दुःख के परिणाम वे राग हैं, चाहे तो शुभराग हो तो भी दुःख है, आकुलता है। प्रभु अनाकुल है। भगवान आनन्द का नाथ प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप है। आहाहा! दो के बीच की सूक्ष्म सन्धि करने से, सूक्ष्मरूप से दोनों को एक न मानने से, दो के अन्दर साँध है, ऐसा देखने से भिन्न प्रतीति उपजती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! इसे कितने ही एकान्त कहते हैं। यह तो एकान्त है, अनेकान्त चाहिए। राग से भी लाभ होता है, (ऐसा भी मानो) नहीं तो एकान्त होगा। अरे... प्रभु! ऐसा नहीं, भगवन्त! यह राग और आत्मा के बीच सन्धि है, इसलिए राग से लाभ नहीं होगा। राग से तो आत्मा को नुकसान होगा। इसलिए कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय होगा, ऐसा कहो। नहीं तो निश्चय से निश्चय होगा, ऐसा मानो तो एकान्त है। भगवन्त! तू कहता है, ऐसा है नहीं, भाई! आहाहा! समझ में आया? क्या कहा? देखो न!

सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर... दो को एक (करना) तो अनादि से किया ही है, कहते हैं। हैं भिन्न, तथापि एक करके तो माना है। अर्थात्? यह शुभराग करते-करते

अन्दर शुद्ध उपयोग और सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा तो एकान्तरूप से मिथ्यात्व से तो प्रभु! तूने अनन्त काल से माना है। आहाहा! भारी कठिन काम, बापू! आहाहा! तेरी प्रभुता की बढ़ाई है, नाथ! तेरी प्रभुता की बढ़ाई में राग की सहायता की आवश्यकता नहीं। उसे भिन्न करने के लिये राग की सहायता की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! पर की तो आवश्यकता नहीं... आहाहा! (परन्तु राग की भी आवश्यकता नहीं)। उसे सन्धि है, उसमें सन्धि का उपयोग लगाना... आहाहा! वह तेरा काम है। उसमें दूसरे की कोई सहायता नहीं है। आहाहा! कठिन पड़े, ऐसा कहे। कहे भी सही, ऐसा लोग बेचारे कहते हैं कि यह देखो जरा भी (ढीला नहीं रखते)। भगवान की भक्ति से भी लाभ नहीं होगा? देव-गुरु की भक्ति करते-करते कल्याण नहीं होगा? अरे... भगवान! देव-गुरु और शास्त्र तो परद्रव्य है। परद्रव्य पर लक्ष्य रहेगा, तब तक तो राग है। आहाहा!

यह राग और आत्मा के बीच सन्धि है न? इस सन्धि की साँध में देखने से राग और आत्मा दो भिन्न पड़ (जायें), यह उसका उपाय है, बापू! आहाहा! दुनिया क्या कहती है, वह तो सब खबर नहीं? आहाहा! मार्ग तो यह है। कठिन पड़े, सूक्ष्म लगे परन्तु यह करने से ही छुटकारा है, इसके बिना दूसरा उपाय नहीं है। आहाहा! और ऐसा ही हो सकता है। आहाहा! सामने लेख हो, तब विस्तार होता है न? अध्धर से खींचकर (थोड़े ही लिया जाता है?) यह तो सामने सब पड़ा है। आहाहा!

इस कारण उन परिणामों का... इसलिए क्यों (कहा)? **जीव व्याप्य-व्यापकरूप परिणमता है, इस कारण उन परिणामों का जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है, तथापि...** ऐसा होने पर भी, **सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर...** (अर्थात्) सूक्ष्म उपयोग करके राग से भिन्न करने पर उसकी साँध में भिन्न (पने की) प्रतीति होती है। भगवान राग से भिन्न है, उसका अनुभव होता है। आहाहा! बहुत कठिन लगे! इसलिए लोगों ने दूसरे रास्ते ऐसे कर दिये। उल्टे रास्ते चढ़ गये, रास्ता (एक ओर) पड़ा रहा। आहाहा!

अब ऐसी बात हो, वहाँ लोग ऐसा मानते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र को मानते नहीं। यह हमारे देव-गुरु-शास्त्र हैं, ये मुनि नग्न हैं, उन्हें गुरु मानो (ऐसा वे कहते हैं)।

मुमुक्षु : पंच परमेष्ठी में वे आ गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे नहीं, अभी हैं उन्हें मानो, ऐसा कहते हैं। भाई! यह मुनिपना बापू...! आहाहा! यह मुनिपने की दशा प्रभु! आनन्द का प्रचुर संवेदन, वह मुनिपने का भावलिंग है। क्या कहा? मुनि का भावलिंग प्रचुर आनन्द का स्वसंवेदन, अतीन्द्रिय आनन्द का (प्रचुर वेदन है)। सम्यग्दर्शन में आनन्द का अल्प वेदन है। सम्यग्दृष्टि को राग से भिन्न पड़ने से आनन्द का वेदन अल्प है। पंचम गुणस्थान में आनन्द का वेदन इससे विशेष है। श्रावक, सच्चे श्रावक, हों! यह वाडा के श्रावक, वे कहीं श्रावक नहीं। आहाहा! और मुनि को तो प्रभु! णमो लोए सव्व साहूणं—उन मुनि को तो अन्दर में भावलिंग में प्रचुर अर्थात् बहुत, चौथे-पाँचवें गुणस्थान से बहुत अतीन्द्रिय आनन्द का जिन्हें वेदन है और जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की छाप है, मोहरछाप है... आहाहा! उसे मुनिपना कहते हैं, प्रभु! आहाहा! बाहर का अकेला नग्नपना धारण करे, अट्ठाईस मूलगुण पाले, पंच महाव्रत पाले, वह कहीं मुनिपना नहीं। आहाहा! वह तो राग है। यहाँ राग व्याप्य-व्यापक होने पर भी भिन्न करने की तो बात है। आहाहा! और फिर राग से लाभ होगा? पंच महाव्रत के परिणाम आवें सही, परन्तु उस राग से लाभ नहीं होता।

मुमुक्षु : थोड़ा सा तो होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है, वह जगपंथ है। मुनि को भी प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है, वह मुनिपना—भावलिंग है। उन्हें पंच महाव्रत का विकल्प उठता है, वह जगपंथ है, संसारपंथ है। बताया था नहीं? समयसार! समयसार (नाटक) में मोक्ष अधिकार में ४०वाँ बोल है। वह जगपंथ है। आहाहा! नाथ! तेरा पंथ तो अन्दर आनन्द का नाथ जागकर उठा है न! आहाहा! उस आनन्द में रमना, वह तेरा पंथ है। यह पंच महाव्रत के विकल्प आवे, परन्तु वह जगपंथ है, संसारपंथ है, बापू! आहाहा! भारी कठिन काम!

भाई! तेरा स्वभाव ही यह है न, प्रभु! तेरी जाति ही यह है न! आहाहा! उस जाति में जाति से भात पड़े, उस जाति में राग से भात पड़े? आहाहा! कठिन लगे, इसलिए चारों ओर चिल्लाहट पड़ती है न? ऐ... सोनगढिया तो निश्चयाभास है। व्यवहार से (लाभ मानते नहीं) कहे, कहे। 'जामे जितनी बुद्धि उतनो दिया बताय,

वांको बुरो न मानिये, और कहाँ से लाये?' उसे जँचा हो वह बोले। वह कहीं द्वेष करनेयोग्य नहीं है, विरोध करनेयोग्य नहीं है, वह भी भगवान है। अन्दर में तो वह भगवान है। पर्याय में भूला, उस भूल को भगवान टालेगा। आहाहा! समझ में आया? कहो, सेठ! ऐसा अधिकार कभी वहाँ सुना नहीं। आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? तू राग है? राग हो तो वह पुण्यतत्त्व है। वह पुण्यतत्त्व तू है? आहाहा! तू तो जीवतत्त्व है। जीवतत्त्व तो ज्ञायकतत्त्व है, ज्ञायकभाव है। यह क्या है इसमें?

मुमुक्षु : जागता जीव....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बहिन का वचन है, देखो! जागता जीव ध्रुव है न, वह कहाँ जाये? चेतनभाई लाये हैं न? चेतनभाई यह अचेतन को लाये हैं। बहिन का वचन है, जागता जीव ध्रुव है न, वह कहाँ जाये? अवश्य प्राप्त होगा। अर्थात्? अर्थात्? ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु ध्रुव है न! उभो अर्थात् ध्रुव। ज्ञानानन्दस्वरूप ध्रुव है न! ऐसे ध्रुव है न। यह ध्रुव है, वह कहाँ जाये? प्रभु! वह राग में जाये? वह पर्याय में जाये? वह पर में जाये? प्रभु! कहाँ जाये? आहाहा! आहाहा! हसमुखभाई आये या नहीं?

मुमुक्षु : दोपहर को आयेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोपहर को आयेंगे। उन्होंने पटिया किया है।

जागता जीव ध्रुव है न! अर्थात्? यह तो सादी गुजराती भाषा है। शास्त्रीय भाषा— जागता अर्थात् ज्ञायक चैतन्यरस उभो है न, अर्थात् ध्रुव है न! ज्ञायकभाव ध्रुव है न! वह ज्ञायकभाव ध्रुव कहाँ जाये? कहाँ पर्याय में आवे? कहाँ राग में आवे? कहाँ पर में आवे? आहाहा! आहाहा! वह जागता जीव ध्रुव है। उभो अर्थात् उभो है, ध्रुव है। अवश्य प्राप्ति होगी। उसके ऊपर नजर डाल तुझे अवश्य प्राप्ति होगी। आहाहा! कहो, समझ में आया? एक ही लाये हैं न? यहाँ है? ठीक। दूसरा एक यहाँ है। इसमें क्या है? देखो!

द्रव्य उसे कहा जाता है, वस्तु भगवान द्रव्य उसे कहा जाता है कि जिसके कार्य के लिये दूसरे साधन की राह देखनी न पड़े। आहाहा! दो (बोल) लाये थे। दो लाये अपने चेतनजी! तुम लाये या प्रवीणभाई? आहाहा! क्या कहा? प्रभु कि यह जागता

जीव उभो है अर्थात्? ज्ञायक चैतन्यरस का कन्द ध्रुव है न! आहाहा! यह राग में तो न आवे, परन्तु ध्रुव तो उसकी एक समय की पर्याय में भी ध्रुव न आवे। आहाहा! उसका— भगवान आत्मा का ध्रुवपना नित्यानन्द प्रभु, वहाँ नजर डालने से राग से भिन्न पड़ने से अवश्य प्राप्त होगा। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **सूक्ष्म सन्धि का भेद पाड़ने पर भिन्न प्रतीति होती है।** आहाहा! यह तो सिद्धान्त वर्णन किये कि, ऐसा होता है। ऐसा उसके स्वरूप के अनुभव का भाव ही ऐसा है। आहाहा! ज्ञान की पर्याय को अन्दर में सूक्ष्म करके जो राग की ओर उन्मुख है, वह तो वहाँ रही, बाद की पर्याय को अन्तर में झुकाने से, क्योंकि राग और ज्ञान के बीच साँध है, दरार है, भेद है, भिन्न है। आहाहा! इसलिए उस ज्ञान की पर्याय को— वर्तमान पर्याय को सूक्ष्मरूप से उपयोग को अन्तर में झुकान से राग और भगवान दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का यह उपाय है। बाकी सब बातें करे, चाहे जो करे। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अब कहते हैं, **उसका विचार ऐसा है...** अब दृष्टान्त देते हैं। **जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वरूप से स्वच्छतामात्र वस्तु है,...** स्फटिकमणि। मैंने स्फटिकमणि देखा है। वहाँ जामनगर था। जामनगर में इतना स्फटिकमणि है। वहाँ (संवत्) १९९१ में गये थे न? वहाँ छह लाख रुपये का एक सोलेरियम है। छह लाख रुपये की मशीन। ऐसे घुमायी जाती है ऐसे। डॉक्टर व्याख्यान में आये थे। समयसार की १००वीं गाथा चलती थी। (संवत्) १९९०-१९९१ की बात है। तब कहे कि महाराज तुम्हारे दृष्टान्त में लागू पड़ेगा। वहाँ गये थे, उसने एक स्फटिक बताया। एक स्फटिकमणि इतना (बड़ा) था। श्वेत—सफेद! इसी प्रकार यहाँ स्फटिमणि है यह... क्या कहा?

स्फटिकमणि स्वरूप से स्वच्छतामात्र वस्तु है,... उसके स्वरूप से तो स्वयं स्वच्छ ही है। **लाल-पीली-काली पुरी...** अर्थात् फूल या फल। **(आश्रयरूप वस्तु का) संयोग प्राप्त होने से...** संयोग प्राप्त करने से (कहा है)। है? **लाल-पीली-काली इसरूप स्फटिकमणि झलकती है...** फूल रखे तो वह झलकता है, उसके कारण से, यह तो निमित्त कहा, परन्तु उस स्फटिकमणि की पर्याय में ऐसी स्वयं की योग्यता है,

कि जिससे उसमें लाल-पीली झलक होती है, फूल के (कारण) नहीं। फूल के कारण पड़े तो इसके (पाट के) नीचे रखो न तो अन्दर झलक पड़ेगी, (परन्तु) नहीं पड़ती। परन्तु स्फटिकमणि की वर्तमान पर्याय की योग्यता है, इसलिए वह फूल के संयोग में अपने में लाल, पीली झलकरूप होने की योग्यता से होती है। उसमें ऐसा सिद्ध करना है कि फूल के कारण अन्दर लाल-पीली झांईं नहीं आयी है। उसकी योग्यता से (हुआ) है।

इसी प्रकार आत्मा में राग और द्वेष हुए, वे कर्म के कारण नहीं हुए। आहाहा! वह आत्मा की पर्याय की योग्यता के कारण राग-द्वेष होते हैं। वह इसका स्वरूप नहीं परन्तु पर्याय की योग्यता के कारण पुण्य-पाप के, राग-द्वेष के भाव होते हैं। आहाहा! समझ में आया? झलकता है, ऐसा कहा न? **स्वच्छतामात्र भूमिका स्फटिकमणि वस्तु है। उसमें लाल-पीला-कालापन परसंयोग की उपाधि है...** उपाधि है, देखा? झलकता है।

वर्तमान में स्वरूप का विचार करने पर स्वच्छतामात्र भूमिका स्फटिकमणि वस्तु है। भूमिका स्फटिक की है। **उसमें लाल-पीला-कालापन परसंयोग की उपाधि है...** है सही उसकी पर्याय में परन्तु उपाधि है। आहाहा! स्फटिकमणि की पर्याय में लाल-पीले रंग की झलक आयी है। वह चीज़ आयी नहीं। उस चीज़ के कारण (झांईं) हुई नहीं। उस चीज़ के कारण हो तो लकड़ी के नीचे रखो तो होना चाहिए। परन्तु स्फटिक की वर्तमान योग्यता के कारण वह झलक दिखती है। आहाहा! समझ में आया?

स्फटिकमणि का स्वभावगुण नहीं है। लो! **उसी प्रकार...** यह लम्बी बात है। लो! समय हो गया....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मागसर कृष्ण १४, रविवार, दिनांक-०८-०१-१९७८, कलश-१८१, प्रवचन-१९७

कलशटीका, १८१ (कलश, १७२ पृष्ठ) बीच में चलता है। स्फटिकमणि का दृष्टान्त है न? वहाँ से लेते हैं। देखो!

जिस प्रकार स्फटिकमणि... यह दृष्टान्त आ गया है, परन्तु फिर से लेते हैं। **जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वरूप से स्वच्छतामात्र वस्तु है,...** स्फटिकमणि का स्वच्छ (पना) वह उसका स्वभाव है, वही वस्तु है। **लाल, पीली, काली पुरी का (आश्रयरूप वस्तु का) संयोग प्राप्त होने से लाल, पीली, काली इसरूप स्फटिकमणि झलकती है;...** वह तो संयोग पाने से उसकी योग्यता से झलकता है, कहीं संयोग से झलकता नहीं।

मुमुक्षु : संयोग से झलकता है, ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, इसका अर्थ यह। संयोग से झलकता है, (ऐसा कहा) परन्तु झलकता है, उसकी पर्याय स्वयं की योग्यता से है, उसके (संयोग के) कारण नहीं। लाल, पीले फूल यहाँ लकड़ी के नीचे रखो (तो) नहीं होगा। क्योंकि उसकी योग्यता नहीं है। स्फटिकमणि की पर्याय में लाल, पीले फूल का निमित्त (होना) और यहाँ परिणमने की योग्यता (साथ में है)। वह लाल, पीले फूल ने उसे परिणमाया नहीं है। (यदि फूल के कारण से हुआ होता तो) इसके नीचे रखो तो होना चाहिए। वह स्फटिकमणि की पर्याय की स्वयं की योग्यता के कारण से है। ऐसा वापस यहाँ जीव में उतारना है।

यह स्फटिकमणि झलकती है। झलकती है, ऐसा कहा न? स्फटिकमणि झलकती है। वह स्वयं की पर्याय में लाल, पीला आदि झलकती है। फूल आदि तो निमित्तमात्र हैं। उससे यहाँ हुआ नहीं। यहाँ स्वयं को उसी काल में, उस प्रकार से होने की झलक परिणमने की योग्यता से वह हुई है।

वर्तमान में स्वरूप का विचार करने पर स्वच्छतामात्र भूमिका... उसका मूल स्वरूप—भूमिका **स्वच्छतामात्र भूमिका स्फटिकमणि वस्तु है। उसमें लाल, पीला, कालापन परंसयोग की उपाधि है,...** अन्दर लाल, पीला दिखता है, वह उपाधि है।

संयोग निमित्त है, उसकी उपाधि स्वयं से है, **स्फटिकमणि का स्वभावगुण नहीं है।** उसका शाश्वत् जो स्वभावगुण है, वह लाल, पीला होने का स्वभाव नहीं है।

उसी प्रकार... यह दृष्टान्त हुआ। **जीवद्रव्य का स्वच्छ चेतनामात्र स्वभाव है।** आहाहा! भगवान आत्मा का तो स्वच्छ स्वभाव चेतनामात्र है। जानना-देखना स्वभाव वस्तु का स्वरूप वह है। वह वस्तु की स्थिति है।

जीवद्रव्य का स्वच्छ चेतनामात्र स्वभाव है। उसका तो जानना-देखना, यह चेतन ही उसका स्वभाव है परन्तु **अनादि सन्तानरूप मोहकर्म के उदय से मोह, राग, द्वेषरूप रंजक अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है,...** वह अपनी योग्यता से परिणमता है। मोहकर्म का उदय तो निमित्तमात्र है। वास्तव में तो उदय जो है, वह जीव को स्पर्शता भी नहीं। स्फटिकमणि को लाल, काले फूल स्पर्शे नहीं हैं। आहाहा! तथापि उस प्रसंग में—समय में स्फटिक में लाल, पीली होने की योग्यता से होता है। परद्रव्य तो वहाँ स्पर्शता ही नहीं, चूमता ही नहीं।

इसी प्रकार भगवान आत्मा स्वच्छता चेतनामात्र स्वरूप है, उसमें उसे मोहकर्म का सन्तान का अनादि का प्रवाह उदय(मान है, इसलिए) **मोह, राग, द्वेषरूप रंजक अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है,...** अपनी योग्यता से पर्याय में राग और द्वेषरूप परिणमता है। समझ में आया? कर्म तो निमित्त है। वास्तव में तो निमित्त का जो उदय है, वह जीव को स्पर्शा ही नहीं, छूता ही नहीं, स्पर्शता ही नहीं, चूमता ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दूर रहकर छाप पाड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर है, दूर ही है। छाप पाड़ता नहीं। दूर रहता है, उस समय अपनी योग्यता से वहाँ राग-द्वेष और मोह होते हैं, बस! ऐसा है। समझ में आया? यह तो (समयसार की) तीसरी गाथा का सिद्धान्त पहले कहा नहीं? कि प्रत्येक द्रव्य अपने अनन्त धर्म को चूमता है, परन्तु परद्रव्य को चूमता अर्थात् स्पर्शता नहीं। आहाहा! यह सिद्धान्त रखकर सब बात चलती है। आहाहा! समझ में आया?

यह वस्त्र शरीर को स्पर्शता नहीं। यह अँगुली वस्त्र को स्पर्शती नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की पृथक्ता स्वयं की सत्ता के कारण से है। किसी द्रव्य की पृथक्ता में पर

पृथक् के कारण से कुछ हो, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं। आहाहा! समझ में आया?

स्वयं अपनी योग्यता से उदय से (रंजित होता है) अर्थात् उदय तो वहाँ रहा। **मोह, राग, द्वेषरूप रंजक अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है,...** यह आत्मा की पर्याय हुई। परन्तु वह उदय, परमाणु की पर्याय है और यह रंजित परिणाम (हों), वे जीव के अशुद्ध परिणाम हैं। उन परिणाम को और कर्म के उदय को स्पर्शना (होता) नहीं, छूते नहीं, चूमते नहीं, स्पर्श नहीं करते, तथापि यहाँ राग-द्वेष स्वयं की योग्यता से होते हैं। आहाहा! समझ में आया?

तथापि... कहते हैं कि इस प्रकार मोह और राग-द्वेष की झलक पर्याय में परिणमे, **तथापि वर्तमान में स्वरूप का विचार करने पर...** भगवान आत्मा के स्व-रूप—अपने रूप का विचार करने से चैतन्य के स्वरूप का—निज का विचार करने से... आहाहा! है? **चेतनाभूमिमात्र तो जीववस्तु है...** उसमें आया था न? स्वच्छतामात्र स्फटिकमणि! स्वच्छतामात्र वस्तु है। इतना जरा स्वच्छता शब्द है। उसकी भूमि है। यहाँ भूमि अर्थात् अपना अस्तित्व।

अनादि सन्तानरूप से कर्म के उदय से परिणमने पर भी **वर्तमान में स्वरूप का विचार करने पर...** चैतन्य के स्व-रूप का—अपने भाव का—रूप का विचार करने से **चेतनाभूमिमात्र तो जीववस्तु है...** आहाहा! उसकी तो चेतनाभूमि है। उसमें—पर्याय में राग-द्वेष उत्पन्न हुए हैं, (वह) कृत्रिम झलक उत्पन्न हुई है। अपनी भूमि तो चेतनामात्र भूमि है। आहाहा! उस भूमि में से तो चेतना के अंकुर फूटे हैं। चेतनामात्र वस्तु में से चेतना की पर्याय के अंकुर फूटते हैं। कहीं राग-द्वेष के (अंकुर) फूटें? उसका वह स्वभाव नहीं। आहाहा! वहाँ भी सब विवाद कि कर्म का उदय आवे, इसलिए उसे यहाँ राग-द्वेष होते हैं, इसे राग-द्वेषरूप परिणमना पड़ता है। भाषा ऐसी आती है। मोक्षमार्ग(प्रकाशक) में ऐसा आता है। उदय आया, इसलिए यहाँ राग-द्वेषरूप परिणमे। इसका अर्थ क्या? उस समय अपनी काल का निज क्षण—उसरूप से होने का निजक्षण था। अपना वह काल था। राग और द्वेष होने की अपनी भूमिका थी, इसलिए हुए हैं। परद्रव्य के कारण (हुए नहीं)। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसका अर्थ, निमित्त (के साथ) एकता नहीं है, दोनों स्पर्शते नहीं। उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। आहाहा!

चेतनाभूमिमात्र.... है न? आहाहा! उसकी भूमिका तो चेतना है। आहाहा! उसका स्थल, उसकी जगह तो चेतनास्वरूप है। आहाहा! चेतनास्वरूप में से शुद्ध परिणति होना चाहिए। (ऐसा) न होने से निमित्त के सम्बन्ध के लक्ष्य से (राग-द्वेष खड़े करता है)। यहाँ तो चेतना है न, इसलिए लक्ष्य से कहलाता है। जड़ में तो कोई लक्ष्य नहीं।

एक परमाणु में दो गुण की स्निग्धता है, दूसरे परमाणु में चार गुण की स्निग्धता है। दोनों एकक्षेत्रावगाह से एकत्रित होने पर, एकक्षेत्रावगाह अर्थात् आकाश के एकक्षेत्रावगाह से, हों! परमाणु परमाणु के क्षेत्रावगाह से नहीं। आकाश के क्षेत्रावगाह से (इकट्ठे होने पर) एक परमाणु दो गुण (स्निग्धता में से) चार गुण होता है। दूसरा परमाणु चार गुण है, इसलिए चार गुण होता है, ऐसा नहीं है। परन्तु उस समय में चार गुण स्निग्धता होने का स्वयं का स्वभाव था। आहाहा! समझ में आया? ऐसी स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र वस्तु है। उसमें निमित्त का घोटाला डाले तो (विपरीतता होती है)।

अभी तो भाई ने यहाँ की बात का स्पष्टीकरण किया है यहाँ की बात का कैलाशचन्दजी ने, कि सोनगढ़वाले निमित्त को नहीं मानते, ऐसा नहीं है, परन्तु निमित्त से पर में होता है, ऐसा नहीं मानते। यह तो अभी स्पष्टीकरण बाहर आया है। आहाहा!

व्यवहार भी ऐसा है। व्यवहार रागादि अनुष्ठान का कल आया था, नहीं? वह राग आदि व्यवहार है, उससे निश्चय होता है, ऐसा नहीं, परन्तु है, वहाँ वह होता है, वह मानो व्यवहार से हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! परन्तु जैसे निमित्त है और पर को कुछ करता नहीं, (उसी प्रकार) व्यवहार है, परन्तु पर को कुछ करता नहीं। वस्तुस्थिति ऐसी है। थोड़ा अन्तर लगे तो उसमें बड़ा अन्तर है।

यहाँ कहा, भगवान तो चेतनामात्र भूमि है। **उसमें मोह, राग, द्वेषरूप रंजकपना कर्म के उदय की उपाधि है,...** कर्म के उदय की उपाधि है। निमित्त के लक्ष्य से हुआ है, ऐसी उसकी उपाधि है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरी जगह इसी प्रमाण ही अर्थ होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब जगह यही अर्थ होना चाहिए। ऐसा अर्थ होना चाहिए। करे भले दूसरे प्रकार से। आहाहा!

है ? **उसमें मोह, राग, द्वेषरूप रंजकपना कर्म के उदय की उपाधि है,...** अर्थात् ? कि चेतनामात्रभूमि, जिसमें राग-द्वेष ज्ञात होते हैं, वह उपाधि है, ऐसा कहना है। शुद्ध चेतनामात्र वस्तु भगवान है, उसमें जो राग-द्वेष दिखते हैं, वह उपाधि है, बस! निमित्त की उपाधि, यह तो शब्द है। समझ में आया ? निमित्त इसे स्पर्शता नहीं न ? कोई द्रव्य किसी द्रव्य को चूमता नहीं, फिर निमित्त से होता है—यह आया कहाँ से ?

मुमुक्षु : दूर हो तो भी होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर हो तो भी होता है। यह तो इसे लक्ष्य करना है, उसे दूर हो तो होता है। परमाणु में कहीं ऐसा नहीं है। परमाणु तो दूर (रहा)। दूर अर्थात् जैसे सिद्ध का विचार करे, सिद्ध निमित्त है परन्तु भिन्न है, दूर है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मवर्गणा वह उसका स्वयं का स्वतन्त्र स्वभाव है। दूर है, वह दूर है। वह आत्मा से दूर है, परन्तु यहाँ राग करे तो कर्म की पर्यायरूप से पुद्गल परिणमता है। उस समय का (उस) समय का निज काल है। राग के कारण यहाँ कर्मरूप परिणमना पड़ा, ऐसा नहीं है। ऐसा है।

अभी पर्याय की स्वतन्त्रता भी जहाँ न बैठे, जो प्रगट है, जो प्रगट है, उसकी स्वतन्त्रता न बैठे, उसे जो अप्रगट (द्रव्य है), पर्याय की अपेक्षा से अप्रगट (कहा), वस्तु अपेक्षा से प्रगट है, पर्याय की अपेक्षा से अव्यक्त है, अप्रगट है। उसकी स्वतन्त्रता इसे कैसे बैठे ? न्याय कुछ समझ में आता है ? आहाहा! जो प्रगट है, वर्तमान है, वह स्वतन्त्रता से है—ऐसा वर्तमान न बैठे, उसे त्रिकाल जो पर्याय में आया नहीं, पर्याय की अपेक्षा से अव्यक्त है, वस्तु की अपेक्षा से व्यक्त है... आहाहा! वह स्वतन्त्र है, ऐसा इसे कैसे बैठे ? आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया ?

यह **वस्तु का स्वभावगुण नहीं है।** उपाधि है, (ऐसा) कहा न ? यह राग-द्वेष उपाधि है। ऐसा कहा जाता है, निमित्त को अनुकूल कहा जाता है और नैमित्तिक को अनुरूप कहा जाता है। क्या कहा यह ? निमित्त को अनुकूल कहा जाता है। अनुकूल अर्थात् किनारे खड़ा। किनारे खड़ा है। यहाँ होता है, उसे अनुरूप कहा जाता है। परन्तु निमित्त से उसमें होता है, ऐसा नहीं है। नदी के किनारे....

मुमुक्षु : प्रत्येक प्रकार से निमित्त से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह सब बात (आती है)। लाख बात हो परन्तु बात यह है। अनुकूल किसे कहा जाता है? जैसे पानी का प्रवाह चलता है, दो किनारे होते हैं, वे अनुकूल हैं इतना। परन्तु वह किनारे हैं, इसलिए पानी चलता है, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार भगवान आत्मा चेतनास्वरूप अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है। उसमें कर्म का निमित्त और अपने में विकार होने की उपाधि की योग्यता से वहाँ होता है। आहाहा! भगवान आत्मा, वह तो चेतनास्वरूप है। आनन्द और आनन्द का धाम! चेतनास्वभाव उसका स्वरूप है। आहाहा! परन्तु कहाँ सुने यह? समझ में आता ही कहाँ है? पर्याय पर बुद्धि अर्थात् पर से होता है, ऐसा मानकर वहाँ रुक गया है।

यहाँ कहते हैं, **वस्तु का स्वभावगुण नहीं है।** उसका गुण नहीं। भगवान आत्मा का राग-द्वेष (रूप से) होना, ऐसा स्वभावगुण नहीं है। आहाहा! स्वभावगुण तो शुद्धरूप होना, वह उसका स्वभावगुण है। अशुद्धरूप हो, वह पर्याय की षट्कारक की परिणति से होता है। विकृत पर्याय की पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय साधन, पर्याय अपादान, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय आधार है। आहाहा! ऐसी विकृत पर्याय, वह जीव का स्वभावगुण नहीं। ऐसा कहा न? आहाहा! **वस्तु का स्वभावगुण नहीं है।**

इस प्रकार विचार करने पर... देखा? क्या कहा? **इस प्रकार विचार करने पर...** इस प्रकार विचार करने पर। निमित्त की उपाधि में स्वयं के कारण से विकार होता है, परन्तु इसका स्वभाव चेतनागुण है। **इस प्रकार विचार करने पर...** आहाहा! **भेद-भिन्न प्रतीति उत्पन्न होती है...** है? इस प्रकार विचार करने पर भेदभिन्न (अर्थात्) भिन्न की अत्यन्त अनेकता (की) प्रतीति उपजती है। पृथक की अनेकता (उपजती है), एकता नहीं। आहाहा! भेदभिन्न—पृथक् अनेकता, अनेक भिन्न-भिन्न है, ऐसा भासित होता है। आहाहा! है?

भेद-भिन्न प्रतीति उत्पन्न होती है... आहाहा! चेतनामात्र स्वभाव और राग-द्वेष की उपाधि की पर्याय का रंग, उसकी चेतनाभूमि में वह है नहीं, ऐसा दो का भेद-भिन्न विचार करने पर अनेकपने विचारने पर, चैतन्य का एकपना प्रतीति में आता है। आहाहा!

क्या कहा यह, समझ में आया ? भेद-भिन्न विचारने पर चैतन्यभूमि और राग की उपाधि, दो की भेद-अनेकता, भिन्नता विचारने पर... आहाहा ! प्रतीति उत्पन्न होती है। चेतनामात्र भगवान है, ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है, कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा ! चेतनाभूमिमात्र भगवान और पर्याय में उपाधि से हुआ भाव, दो का भेद-भिन्न विचार करने पर दो की भिन्नता को अनेकपने (अर्थात्) दोनों एकपने नहीं, परन्तु अनेकपने विचार करने पर शुद्ध चेतनामात्र भगवान की प्रतीति होती है। आहाहा ! भाषा तो बहुत सरल है, भाव तो कठिन है। आहाहा !

चेतनामात्र भगवान भूमि, यह भूमि कहकर ऐसा कहना है कि उसमें राग का अंकुर पर्याय में फूटे, ऐसी उसकी भूमि नहीं, (भगवान) ऐसा कहते हैं, उसका वह स्थल नहीं। उसका स्थूल तो चेतनास्थल है। उसमें से तो चेतना के अंकुर फूटते हैं। आहाहा ! परन्तु पर्याय में उपाधि देखकर, 'उपाधि वह मैं हूँ'—ऐसा माने, उसकी भेदबुद्धि नहीं होती। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा ! इसलिए उसे एकपना है, उससे पृथक् भासित नहीं होता। अनेक को एकपने भासित होता है। चेतनाभूमि भगवान और राग—दोनों अनेक हैं, उन्हें एकपने भासित होता है। भेदभिन्न करने पर चेतनाभूमि राग से भिन्न प्रतीति में भासित होती है। आहाहा ! समझ में आया ? बहुत अच्छे सादे शब्द !

उसके चेतनास्वभाव की भूमि अर्थात् दल—क्षेत्र और राग का क्षेत्र और भाव भिन्न है। वहाँ कहीं चेतनाभूमि नहीं है। राग में चेतनाभूमि नहीं, वह तो राग की भूमि है। आहाहा !

मुमुक्षु : द्रव्य में कुछ नुकसान नहीं हुआ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में जरा भी नुकसान नहीं हुआ। द्रव्य तो ऐसा का ऐसा शुद्ध स्फटिक अनादि-अनन्त है। यह सब पर्याय की गड़बड़ है। आहाहा ! निगोद में भी पर्याय अक्षर के अनन्तवें भाग खिली है। वस्तु तो वस्तु है, शुद्ध चैतन्यघन है। उसमें कहीं हीनता और न्यूनता आयी नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसा मार्ग !

यहाँ तो परमात्मा सर्वज्ञदेव जिनेन्द्रदेव (ऐसा फरमाते हैं कि) चेतनाभूमिरूपी स्ववस्तु में राग की उत्पत्ति पर्याय में भासित होती है, परन्तु दो को भेद-भिन्न भासित

होने पर, भेद-भिन्न करने पर भगवान तो शुद्ध चेतनामात्र वस्तु भासित होती है। यह राग है, वह उसमें भासित नहीं होता। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : लक्षण उल्टे हैं तो भिन्नता भासित होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों अलग जाति ही है, जाति ही अलग है, इसलिए तो कहा न? उसे स्वच्छतामात्र विचार करने पर... ऐसा आया था न? आहाहा! **स्वरूप का विचार करने पर चेतनाभूमिमात्र तो जीववस्तु है...** आहाहा! पर्याय में द्रव्य की ओर देखने पर शुद्ध चेतनामात्र वस्तु है, परन्तु पर्याय में राग है, उसे देखने पर अनेक है, वह उसे एकपने भासित होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! समझ में आया?

मुमुक्षु : पर्याय में राग है तो भेद कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : (भेद) ज्ञान की पर्याय करे। पहले कहा था न? तब एक शब्द लिया था कि ज्ञान की पर्याय, (यह) चेतनाभूमि है, ऐसे ढलती है। यह चेतनाभूमि है, वह जाने कौन? कि जो राग को भिन्न करके ज्ञान की पर्याय ऐसे ढलती है, वह (उसे) जानती है। आहाहा! है मुद्दे की रकम। सूक्ष्म तो है, भाई! आहाहा!

एक तो अरूपी, उसमें और राग है, वह भी अरूपी। यह ऊपर आया था। कठिन है, ऐसा नहीं आया था? ऊपर आया था। **इसलिए उन परिणामों के जीव से भिन्नपने का अनुभव कठिन है....** ऊपर आया था। राग के परिणाम और जीव के स्वभाव का भिन्न अनुभव (करना) कठिन है, अशक्य नहीं। दुर्लक्ष्य है। दो शब्द प्रयोग किये थे— कठिन और दुर्लक्ष्य (ऐसे दो शब्द) प्रयोग किये थे। पहले आया था न? (ऊपर से) दूसरी लाईन—सन्धि **बहुत ही दुर्लक्ष्य...** है। आहाहा! यह तो सूक्ष्म बातें हैं, भाई! यह कोई पढ़ने से मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अन्दर से चेतनाभूमि और राग का भाव—दो परिणमन इसकी पर्याय में है। कर्म और शरीर तो इसकी पर्याय में नहीं, इसलिए वे तो भिन्न करना ठीक है, ऐसा कहा था न? यह आ गया है। कर्म आवे-जावे, शरीर के रजकण आवे और जाये, इसलिए वे भिन्न हैं, ये तो ठीक है। परन्तु जीव के परिणाम में राग का परिणमन (होता है), उस परिणमन से जीव को पृथक् जानना, वह दुर्लक्ष्य है, कठोर पुरुषार्थ है, ऐसा कहते हैं।

आहाहा! और वह कठिन है। दो बातें की थी। तो भी चेतनाभूमि का विचार करने पर अनेकपने भासित होने से चेतना एकरूप है, ऐसा भासित होता है। ऐसा उसका सहज स्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, इसलिए लोगों को (कठिन लगती है)। वह तो व्रत करो, अपवास करो, यह करो, यह करो, (ऐसा कहे उसमें) समझ में भी आये। अज्ञान! अज्ञान! आहाहा!

भगवान अन्दर चेतनामात्र प्रभु, उसकी भूमि अर्थात् उसका स्थल अर्थात् उसकी जगह अर्थात् उसका भाव। क्षेत्र और भाव दोनों साथ में लिये हैं। वह तो चेतनामात्र प्रभु भगवान है। उसमें दया, दान, व्रतादि के विकल्प का परिणमन, वह तो उपाधि है। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह समाधि नहीं, वह उपाधि है। आहाहा! उससे भिन्न विचारने पर चेतनाभूमि जीव स्वभाव और राग, वह मलिन है, उपाधि है, ऐसे अनेक को अनेकरूप से विचारने पर, जीव का एकपना चैतन्यपना भिन्न ज्ञात हो जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसकी प्रतीति उत्पन्न होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया?

आहाहा! **जो अनुभवगोचर है।** है? अन्तिम (यह) लिया। आहाहा! कहने में क्या आवे? कहते हैं। समझ में आया? यह पहले इनकार किया था न? १८१ में इसी में और इसी में, पृष्ठ में अन्तर है। **इसलिए वचन के द्वारा कहने का समर्थपना नहीं है।** (१७० पृष्ठ पर) नीचे से तीसरी लाईन। है? यह आ गया है। क्या कहा यह? **शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा द्रव्य का परिणमनरूप है, निर्विकल्परूप है, इसलिए वचन के द्वारा कहने का समर्थपना नहीं है। इस कारण इस रूप में कहते हैं...** भाषा इस प्रकार से कही जाती है कि **जीव के शुद्धस्वरूप के अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण,...** बस! इतना कहा जाता है, दूसरा क्या कहलाये? आहाहा! आहाहा! क्या टीका! आहाहा! क्या कहा यह?

जीव के शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण,... आहाहा! यह ज्ञानगुण शुद्ध स्वरूप से परिणमाता है, इतना कहा जाता है। दूसरा क्या कहें? कहते हैं। कहा जाये ऐसा नहीं है, कहते हैं। वह तो अनुभवगम्य है। यहाँ यह रखा। यहाँ यह

रखा, देखो! वह तो **अनुभवगोचर है।** है न? आहाहा! **अनुभवगोचर है।** इसके ज्ञान में इस प्रकार से है, ऐसा पहले पकड़े तो सही।

कोई प्रश्न करता है... कि तुमने तो बहुत कठिन बातें की। तो उसके लिये काल कितना चाहिए होगा? ऐसा पूछता है। एक तो शुद्ध चेतनामात्र वस्तु, कर्म के निमित्त के कारण से उपाधि और विकार और दोनों की अनेकता तथा उनकी अनेकता का विचार करने पर शुद्ध चेतनामात्र की प्रतीति उपजती है न, परन्तु उसका काल कितना? बात तो तुमने बहुत की। बात करने में बहुत काल—बहुत समय गया। प्रश्न पूछता है। आहाहा! प्रश्न पूछता है, है?

कितने काल के भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है.... आहाहा! यह राग और चेतना के बीच अर्थात् कि मूल तो अनुभव है। प्रज्ञा शब्द प्रयोग किया है, परन्तु प्रज्ञा शब्द से अनुभव है। यह पहले आ गया है। ऐसे अनुभव होना और राग भिन्न होना, उसका काल कितना लगे? तुमने बातें बड़ी-बड़ी की, कितने काल की? देवीलालजी! आहाहा! क्या कहा यह?

पहले आ गया था न? बहुत कहा था न? इसलिए कहते हैं कि ऐसा करना और ऐसा करना और ऐसा करना... राग—विकार कर्म के निमित्त की उपाधि है। चाहे तो दया, दान, व्रत का (राग) हो, परन्तु वह विकार—राग है। आहाहा! वह निमित्त की ओर के झुकाववाली उपाधि है, उसकी भूमिका, उसका स्थल देखो तो चेतनामात्र है। उसे भिन्न भान करने पर कठिन लगे परन्तु भिन्न भान करने पर प्रतीति उपजे, ऐसी है। ऐसा कहा था न? कठिन है अवश्य, परन्तु भिन्न भान करने पर, वह प्रतीति हो सकती है। आहाहा! तो प्रभु! उसे कितना काल चाहिए? तुमने बहुत लम्बी-लम्बी (बात की)। एक प्रज्ञाछैनी के श्लोक के दो पृष्ठ भरे।....

कितने काल के भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है - भिन्न-भिन्न करती है? कितने काल में प्रज्ञाछैनी पड़ती है और भिन्न-भिन्न करती है? ऐसा (पूछता है)। आहाहा! **उत्तर इस प्रकार है - 'रभसात्' अति सूक्ष्म काल-एक समय में गिरती है,...** अरे! छद्मस्थ है, उसका उपयोग असंख्य समय का है। विचार करने में असंख्य समय जाते हैं, कि यह

राग है और यह चेतना है। वह भले विचार करने में (असंख्य समय) जाये, परन्तु पृथक् पड़ने में तो एक ही समय (लगता) है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग है, ...भाई! कहीं सुना भी न हो। आहाहा!

मुमुक्षु : पृथक् करने में एक समय और ख्याल में आने में असंख्य समय?

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल में असंख्य समय में आता है, (पृथक्) पड़े एक समय में। श्रीमद् में आता है न? सम्यक्त्व होने पर ज्ञान जात्यान्तर हो जाता है। ऐसा शब्द आता है। जो ज्ञान पर के लक्ष्यवाला था, वह सम्यग्दर्शन होने पर, वह ज्ञान जात्यान्तर हो जाता है। अपनी जाति को जान जाता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

एक समय में गिरती है, उसी काल भिन्न-भिन्न करती है। अर्थात् क्या? अन्दर में एक समय (में) जहाँ ज्ञान और राग पृथक् किये (कि) उस काल में ही भिन्न पड़ जाते हैं। ऐसा कहते हैं। दो बोल कहे न? आहाहा! भिन्न तो भिन्न ही है। राग और स्वभाव दो एक हुए नहीं। इसने माना है। माना है, इसलिए भेद पाड़ने की बात करते हैं। बाकी राग और आत्मा तो भिन्न ही है।

तुम्हारा पत्थर का दृष्टान्त दिया था। राजकोट में बाहर दिशा को जायें, वहाँ पत्थर बहुत पड़ते थे। बहुत वर्ष (पहले की) बात है। चातुर्मास (वहाँ था)। लाखों पत्थर, उसमें सूक्ष्म रग होती है। पत्थर के बीच सूक्ष्म रग (होती है)। आहाहा! कुदरत के पत्थर के दल में भी जहाँ यह रग और अन्तर है... आहाहा! और वहाँ ही छिद्र पाड़कर, वस्त्र की वाट डालकर बारूद डाले। (बारूदगोला फटने पर) ऊपर के पत्थर ऐसे पड़ जायें और नीचे के पत्थर ऐसे रह जायें। वे पत्थर सपाटवाले होते हैं, वहाँ आड़े-टेढ़े नहीं होते। उन दो को वहाँ सपाटी होती है। जहाँ रग है, वहाँ पत्थर सपाट होता है। ऊपर के, नीचे के समान (होते हैं)। समझ में आया? हमने नजरों से देखा है। जंगल में जाते थे, (तब देखा है)। उस ओर—श्मशान की ओर है। जो कुछ देखा हो, उसका विचार किये बिना देखा न हो। जहाँ-जहाँ नजर पड़ती हो, वहाँ-वहाँ का (विचार आ जाता है)। कहा, यह पत्थर है, वह एकेन्द्रिय जीव है, इसे इसकी खबर नहीं तो भी इसके शरीर के रजकण, ऊपर के और नीचे के रजकणों के बीच रग का अन्तर है। यह

तो शरीर है न? दिखता है, वह तो शरीर है, अन्दर एकेन्द्रिय पृथ्वी (काय) जीव तो अरूपी पृथक् है। आहाहा!

रजकण रजकण के बीच भी इतना अन्तर अनादि-अनादि स्वभाव में पड़ा है। आहाहा! तो तू तो चैतन्य है। वे रजकण रजकण की बात है। यह तो चैतन्य भगवान, जिसकी भूमिका ज्ञानानन्द की है। आहाहा! उसके और राग के बीच साँध ही है। निःसन्धि हुए नहीं। यह आ गया है। निःसन्धि हुई नहीं, सन्धि है। आहाहा! तथापि छेदने का क्यों कहते हैं? (क्योंकि) तूने माना है कि यह एक है, इसलिए छेदने का कहते हैं। बाकी भिन्न ही पड़ी है। आहाहा! ऐसा उपदेश सूक्ष्म लगे।

मुमुक्षु : विरल है, विरल।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु स्वरूप ऐसा है, बापू! वे बातें करे, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय और त्रीन्द्रिय की दया पालो और दान करो और पैसे (दो) और पानी दो, आहार (न हो उसे) आहार दो, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। धूल में भी नहीं होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा उपदेश ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत फेरफार हो गया। क्या हो? इससे विरुद्ध लगता है न? लगे, लगे, उसमें कोई नवीनता नहीं है। आहाहा!

कहाँ हीरा चैतन्य भगवान की भूमि जिसका दल असंख्यप्रदेशी, आहाहा! और राग का क्षेत्र एक समय का। वह असंख्यप्रदेशी का अन्तिम भाग है, उतने क्षेत्र में राग की उत्पत्ति (होती है)। वास्तव में तो चैतन्य का क्षेत्र और राग का क्षेत्र भिन्न है और दोनों के भाव भिन्न हैं, दोनों के फल भिन्न हैं। यहाँ आनन्द है, वहाँ आकुलता है। आहाहा! समझ में आया? इस श्लोक का अर्थ ऐसा किया है। अपने तीन-चार दिन से यह चलता है। मुद्दामाल है। आहाहा!

अति सूक्ष्म काल-एक समय में गिरती है, उसी काल भिन्न-भिन्न करती है। ऐसा पड़े और भिन्न होने को दूसरा समय नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **कैसी है प्रज्ञाछैनी?** अर्थात् अनुभव। राग से भिन्न आत्मा का अनुभव **'निपुणैः कथमपि पातिता'** निपुण पुरुष (अर्थात्) **आत्मानुभव में प्रवीण हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव...** आहाहा! जिसने मार्ग

देखा है, वह मार्ग में जाता है। मूल तो ऐसा कहते हैं। आता है न उसमें? 'दिठ मग्गे' धवल में आता है। 'दिठ मग्गे' देखा है। अन्दर राग से भिन्न मार्ग किया हुआ है, देखा—देखा है, वह वहाँ जाता है। आहाहा! समझ में आया? 'दिठ मग्गे' ऐसा शब्द है। यहाँ तो यह शब्द लिया है। देखो!

आत्मानुभव में प्रवीण हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव... क्योंकि उसने तो मार्ग देखा है। आहाहा! भिन्न करके देखा है। आहाहा! **उनके द्वारा... 'कथं अपि'** अर्थ साधारण किया है। **संसार का निकटपना ऐसी काललब्धि प्राप्त होने से... 'कथं अपि'** अर्थात् अनन्त वीर्य और पुरुषार्थ की गति से, ऐसा (अर्थ) है। समझ में आया? किसी भी प्रकार से वीर्य की उग्रता के पुरुषार्थ से। अन्दर वीर्य की स्फुणा—उग्रता होने से अन्दर में जाता है। आहाहा! जो वीर्य राग को रचता है, उस वीर्य को नपुंसक कहा है। आहाहा! इस वीर्य को वीर्य कहा है। पण्डितवीर्य!

संसार का निकटपना ऐसी काललब्धि प्राप्त होने से... 'कथं अपि' किसी भी प्रकार से पुरुषार्थ करके, ऐसा। स्वभाव और विभाव की एकता तोड़ने के पुरुषार्थ द्वारा। किसी भी प्रकार से अर्थात् कि उसका प्रकार है, उस प्रकार से। आहाहा! **स्वरूप में पैठाने से पैठती है।** आहाहा! ज्ञान को पृथक् करने से ज्ञान, ज्ञान में प्रवेश करता है अथवा ज्ञान को पृथक् करने से, राग से ज्ञान में भिन्नता (करने पर) प्रज्ञाछैनी पड़ती है। आहाहा! यह बेचारे व्यवहारवाले को ऐसा कठिन लगता है। तपस्या करो और व्रत करो... परन्तु मूल इस वस्तु के बिना? सम्यग्दर्शन बिना तुझे व्रत और तप आये कहाँ से? आहाहा! उसकी तो बात नहीं होती और ऊपर की बातें सीधी। और उसमें ऐसा कहे कि सम्यग्दर्शन है, वह ज्ञात नहीं होता, वह तो केवली जान सकते हैं। पंचाध्यायी में ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : अनुभव में ज्ञात होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! अनुभूति से ज्ञात होता है। वह तो सम्यग्दर्शन में प्रतीति है, ऐसे सीधे ज्ञात नहीं होता, परन्तु अनुभूति से प्रतीति अविनाभाव में है। आहाहा! आत्मा के आनन्द के अनुभूति की अविनाभावी प्रतीति है। अनुभूति से ज्ञात हो ऐसा है।

भले सम्यग्दर्शन का वह अनुभूति लक्षण नहीं है। प्रतीति का लक्षण अनुभूति नहीं है। सम्यग्दर्शन का लक्षण तो प्रतीति ही है। परन्तु वह प्रतीति अनुभूति के साथ होती है, ऐसे अविनाभाव के कारण अनुभूति से सम्यग्दर्शन का भान होता है। समझ में आया? अरे! ऐसी बातें अब...!

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन का माप फल के ऊपर से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभूति—आनन्द का स्वाद। प्रतीति एकदम नजर में न पड़े, इसलिए अस्पष्ट कही है, परन्तु अनुभव—अनुभूति के स्वाद के साथ वह प्रतीति है, ऐसा अनुभव होता है। न हो, ऐसा नहीं। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि भेदविज्ञान बुद्धिपूर्वक विकल्परूप है,... यहाँ अब क्या कहते हैं? ऐसे पृथक् करना है न? यह शुरुआत है। हो जाता है, तब यह रहता नहीं। यह ज्ञान है और यह राग है, यह विकल्परूप है। अभी यह राग का अंश है। मस्तिष्क में दो आये थे न? दो आये तो विकल्प है। आहाहा! **विकल्परूप है...**

ग्राह्य-ग्राहकरूप है,... ज्ञात होने योग्य और पकड़नेवाला, दो भेद पड़ जाते हैं न? यह जाननेयोग्य है, ऐसा पकड़ता है। ऐसा अन्दर भेद पड़ जाता है। जरा विकल्प है, राग है। **शुद्धस्वरूप के समान निर्विकल्प नहीं है;...** जो अनुभव निर्विकल्प होता है, उस प्रकार से यह नहीं है। पहले विकल्प आवे, इस प्रकार होता है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **इसलिए उपायरूप है।** उसे उपायरूप कहा जाता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं।

जो दिशा परसन्मुख ढलती है, वह राग है—ऐसा अनुमान करके, ऐसे ढलती है, वह राग है और ऐसे ढलती है वह चैतन्य भिन्न है। इतना विकल्प बीच में आता है और उसे उपाय कहा है। पश्चात् टूटे, तब तो वह विकल्प रहता नहीं, अनुभव में (विकल्प) रहता नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौषा शुक्ल २, मंगलवार, दिनांक-१०-०१-१९७८, कलश-१८१, प्रवचन-१९८

(कलश टीका, १८१ कलश चलता है)। **कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव ?** यहाँ से (लेना) है। **'सावधानैः' जीव का स्वरूप और कर्म का स्वरूप उनके भिन्न-भिन्न विचार में जागरूक हैं,...** सावधान है। आत्मा ज्ञानलक्षणवाला और कर्म अचेतन लक्षणवाला है, इन दो को जानने में सावधान—जागृत है। यह आत्मा है, वह चैतन्य लक्षण है और राग है, (वह) अचेतन लक्षण है। ऐसा। है न ?

उनके भिन्न-भिन्न विचार में... उन्हें भिन्न करने में **जागरूक हैं, प्रमादी नहीं हैं।** अस्ति-नास्ति की। अन्दर यह चैतन्य जानन लक्षण से आत्मा भिन्न है और अजान ऐसे अजीव लक्षण से अचेतन लक्षण से कर्म भिन्न है, राग भिन्न है। दो को (भिन्न करने में) सावधानी से जागरूक है। दो को भिन्न करने में सावधान है, ऐसा कहते हैं। मूल बात सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : भिन्न-भिन्न विचारने में....

पूज्य गुरुदेवश्री : विचारने में अर्थात् भिन्न करने में। ज्ञान करने में ऐसे। विचार में अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञान करने में। आहाहा!

प्रमादी नहीं। यह चैतन्यलक्षण आत्मा, अजीव लक्षण जड़, इन्हें भिन्न करने में प्रमाद नहीं, जागृत है। चैतन्य यह है, राग यह है—ऐसा भिन्न करने में प्रमादी नहीं। अस्ति-नास्ति की है।

कैसी है प्रज्ञाछैनी ? यह प्रज्ञाछैनी ली। **'अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती' 'अभितः' सर्वथा प्रकार...** सर्वथा प्रकार से (यह) ज्ञान (चेतन है) और राग अजीव है, ऐसे सर्वथा प्रकार से भिन्न करने में समर्थ है। प्रज्ञाछैनी अर्थात् अनुभव। आहाहा! चैतन्यस्वरूप की ओर झुकने से जो अनुभव (हुआ वह) प्रज्ञाछैनी है। वह भिन्न-भिन्न करने में सर्वथा प्रकार से सावधान है। है न ? **जीव को और कर्म को जुदा-जुदा करती है।** आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म जड़ पदार्थ है, उसे भिन्न किया जाये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कर्म की बात (नहीं है), राग की बात है। मैंने तो राग की

बात की। राग, राग। चैतन्य लक्षण से जीव है, उस लक्षण का अभाव ऐसा अजीव लक्षण से राग। यहाँ राग लेना है। कर्म जड़ है, वह तो कुछ नहीं।

चैतन्य लक्षण से जानन लक्षण, जानन लक्षण से आत्मा और जिसमें जानपना नहीं—ऐसा राग, वह अजीव है। दो को भिन्न करने में सावधान—जागृत है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। मूल की बात है न!

कैसी है प्रज्ञाछैनी ? 'अभितः' सर्वथा प्रकार... अर्थात्? ज्ञान लक्षण से जीव और अज्ञान लक्षण से अजीव, ऐसे दो को सर्वथा प्रकार से भिन्न करने में समर्थ है। आंशिक भिन्न पड़े और आंशिक (भिन्न पड़े) नहीं, ऐसा नहीं है। आहाहा! अन्तर ज्ञान की पर्याय अन्तर्मुख ढलती है, इसलिए उसे राग का लक्षण अजीव भिन्न रह जाता है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **भिन्न-भिन्न करती है।** (जीव और कर्म को) पृथक्-पृथक् करे अर्थात् कि भिन्न-भिन्न करती है। **उस प्रकार कहते हैं...** देखो!

'चैतन्यपूरे आत्मानं मग्नं कुर्वती अज्ञानभावे बन्धं नियमितं कुर्वती' क्या कहते हैं? चैतन्यपूर **स्वपरस्वरूपग्राहक ऐसा जो प्रकाशगुण...** क्या कहते हैं? अन्दर जो प्रकाशगुण है, वह स्वपरग्राहक लक्षण है। अर्थात् चैतन्यप्रकाश चैतन्य को भिन्न करता है और परग्राहक जो राग है, उसे जानकर भिन्न करता है। बहुत सूक्ष्म बात है। दोनों एकदम भिन्न पड़ जाते हैं। जाननलक्षण, वह आत्मा है जाननलक्षण स्व-परग्राहक। क्या कहा यह? जाननेवाला जो है, वह है स्व-पर को जाननेवाला ग्राहक। तथापि वह स्व-परग्राहक ज्ञान पृथक् पड़ता है और पर को जानता जो अजीव को जानता है, वह अजीव को भिन्न रखता है। ऐसी बात है।

स्व-परस्वरूपग्राहक... स्व-पर स्वरूप जाननेवाला। ग्राहक अर्थात् जाननेवाला। जाननेवाला जाननेवाला स्व-परग्राहक है। परन्तु स्व-परग्राहक ऐसा प्रकाश, उसे भिन्न रखता है और पर को जानता है सही, परन्तु पर को भिन्न रखता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है! सम्यग्दर्शन होने के काल की यह पद्धति है। धर्म की पहली सीढ़ी! उसका यह स्वरूप है। बहुत धीरज का काम है। आहाहा!

चैतन्य **स्व-परस्वरूपग्राहक ऐसा जो प्रकाशगुण उसके त्रिकालगोचर प्रवाह**

में जीवद्रव्य को एक वस्तुरूप—ऐसा साधती है;... क्या कहा यह ? कि यह चैतन्य लक्षण है परन्तु सामने वस्तु है, वह त्रिकाल प्रवाहरूप है। जिसके ऊपर दृष्टि जाती है, वह वस्तु त्रिकाल है। त्रिकाल प्रवाह है—ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... चैतन्यलक्षण से लक्षित करने पर त्रिकाल प्रवाहरूप वस्तु कायम है, वहाँ उसका लक्ष्य जाता है। आहाहा! है ?

प्रकाशगुण उसके त्रिकालगोचर प्रवाह... पूर है न ? पूर। पूर अर्थात् ध्रुव। ध्रुव का पूर है, ऐसा कहते हैं। चैतन्यलक्षण से जाता है ध्रुव के पूर में, जो त्रिकाल गम्य है, त्रिकाल वस्तु है, उसके ऊपर उसका लक्ष्य जाता है। आहाहा! ऐसा सुनने को भी मिलता नहीं, वह कब भेद करे ? बाहर के एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय करके हो गया... जिन्दगी बीताता है।

मुमुक्षु : हमारे यहाँ सोनगढ़ में हमेशा बैठना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कायम बैठना आत्मा में!

चैतन्यलक्षण ऐसा जो पूर, लक्षण तो पर्याय का है, परन्तु वह पूर में जाता है, ऐसे ध्रुव में (जाता है)। ध्रुव प्रवाह है न ? ध्रुव प्रवाह! उसमें उसका लक्ष्य जाता है। समझ में आया ? आहाहा!

चैतन्य **स्व-परस्वरूपग्राहक ऐसा जो (चैतन्य) प्रकाशगुण उसके... 'पूरे'** पूर में जाता है। अर्थात् त्रिकाल प्रवाह में लक्ष्य जाता है, दूसरी भाषा से कहें तो ध्रुव में जाता है। चैतन्यलक्षण स्वयं पर्याय है परन्तु वह लक्षण जो ध्रुव पूर है, उसकी ओर ढलता है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त बात! **त्रिकालगोचर प्रवाह में जीवद्रव्य को एक वस्तुरूप—ऐसा साधती है;...** अर्थात् ? प्रकाशगुण द्वारा स्व-परग्राहक जो प्रकाशपर्याय है, उसे ध्रुव में एकत्व करती है। उसे ध्रुव में एकत्व करती है। एकत्व करे अर्थात् कि उसकी ओर ढलती है। समझ में आया ? आहाहा!

पूर बहता है। ध्रुव.... ध्रुव... है.... है.... है.... है.... है.... है.... है.... है.... है.... यह चैतन्य लक्षण को है... है... है... है... है... ध्रुव में झुका लेता है। उसे एक वस्तु करता है। जो राग के साथ एकत्व था, उसके बदले यह चैतन्यप्रकाश ध्रुव के साथ

एकत्व करता है। एक वस्तु करता है, ऐसा कहा। आहाहा! ज्ञान की पर्याय जो राग की ओर ढलती थी, उसे दो रूप किया। ज्ञान और राग दो रूप करती हुई। वह ज्ञान ध्रुव पूर बहता है (वहाँ झुकता है)। पूर—ध्रुव है... है... है... है... है... एकरूप वस्तु करता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जीवद्रव्य को एक वस्तुरूप... करता है। '**आत्मानं**' कहा न? ध्रुव जो आत्मा है, ध्रुव, उसमें इस लक्षण को एकत्व करती है। ऐसे लक्षण को एकत्व करती है। उससे पृथक् करके, ऐसे लक्षण को एकत्व करती है। आहाहा! **एक वस्तुरूप—ऐसा साधती है...** क्या कहा यह? साधती है अर्थात्? पर्याय का जो जानने का प्रकाश गुण है, स्व-परग्राहक ऐसी शक्ति पर्याय में है, ऐसा जो लक्षण है, उसे पूर अर्थात् ध्रुव की ओर झुकाकर एकरूप वस्तु करती है। दोपने माना था, उसे एकरूप करती है। मैं और राग दोनों एक हैं, ऐसा जो माना था, उसे (चैतन्य के साथ) एकरूप करती है। ज्ञानलक्षण ध्रुव में उन्मुख करके एकरूप करता है। आहाहा! ऐसा तो कभी सुना भी नहीं होगा, ...भाई! आहाहा!

आहाहा! ज्ञानलक्षण जानने के लक्षणवाला स्वरूप, वह ऐसे राग की ओर ढलता था, जिसमें ज्ञान नहीं, जिसमें जानपना नहीं, उसमें ढलता था, उस लक्षण को जिसमें जानपने का पूर है, ध्रुव है, प्रवाह है। ज्ञानस्वभाव का, आत्मस्वभाव का प्रवाह है, प्रवाह है, उसमें उसे उन्मुख करता है। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध चेतनामात्र जीव का स्वरूप है, ऐसा अनुभवगोचर आता है;... लो! ज्ञान पूर्ण पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, यह ज्ञान की पर्याय ऐसा जानती है कि यह पूर्ण ज्ञान स्वरूप है, ऐसा अनुभव करती है। समझ में आया? बहुत सरस व्याख्या है! **शुद्ध चेतनामात्र जीव का स्वरूप है, ऐसा अनुभवगोचर आता है;...** इस ओर झुकाया न?

'**अज्ञानभावे**' अज्ञान अर्थात् रागादि भाव में '**नियमितं बन्धं कुर्वती**' **निश्चय से बन्ध का स्वभाव है—ऐसा साधती है।** राग है, वह निश्चय से बन्ध का स्वभाव है और यह ज्ञान का लक्षण पूर में प्रवेश करता है, (तब) एक वस्तुरूप होता है। बन्ध पृथक् पड़ जाता है। आहाहा! यह तो धीर का काम है।

अन्दर इसके लक्षणों को पहले जानना चाहिए। जानकर अन्तर में प्रयत्न करने में क्या पद्धति है ? जो जानने का लक्षण है, वह पूर अर्थात् ध्रुव प्रवाह बहता है। पर्याय का प्रवाह बहता नहीं। पर्याय तो पलटती है। पर्याय पलटती है और ध्रुव का प्रवाह बहता है। अर्थात् कायम है... है... है... है... है... है...उस ओर में ज्ञान की पर्याय को झुकाकर एकरूप करना। आहाहा! इस एक लाईन में बस है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने और अनुभव होने में यह एक प्रकार है। इस प्रकार को तो अभी समझना नहीं, जानना नहीं, प्रगट करना नहीं और इसके बिना सब व्रत और तप करके (धर्म मानते हैं)। वे तो सब अजीव हैं, वे तो बन्ध लक्षणवाले हैं। बन्ध लक्षणवाले में रुके और अबन्ध का पूर जो चैतन्य प्रवाह बहता है, उसमें लक्षण को (ले जाकर) लक्ष्य करता नहीं, वह अज्ञानी वहाँ राग के बन्ध में रुक जाता है। आहाहा! जरा बुद्धि को इसमें सूक्ष्म करनी पड़ती है।

आहाहा! जो ज्ञान—जानने के लक्षण को पकड़े, अभी तो ज्ञान जाननेवाला है, वह पर्याय, हों! उसे पकड़कर फिर अन्तर ध्रुव प्रवाह बहता है। नित्यानन्द आत्मा ध्रुव प्रवाह चलता जाता है, उसमें मग्न करे और राग आदि बन्धभाव को छोड़ दे।

मुमुक्षु : ऐसा करे वहाँ राग छूट जाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझाने में क्या समझावे ? समझाना हो तो ऐसा कहे कि ऐसा हो तो यह छूट जाये, ऐसा। छूटना करे, ऐसा कहा जाता है न ? भाषा क्या करे समझाने की ? ऐसा आता है, देखो!

'अज्ञानभावे' रागादिपना में नियम से बन्ध का स्वभाव है—ऐसा साधती है। राग भिन्न पाड़ती है, ऐसा भले वहाँ न आया, परन्तु यह ज्ञान ध्रुव प्रवाह में झुकाती है। (अज्ञानभाव से) राग को बन्ध भाव में साधता है, इसलिए बन्ध भाव में चला गया है, वह पर में चला गया है। ऐसा। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म आया।

मुमुक्षु : भेदज्ञान और प्रज्ञाछैनी में क्या अन्तर है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इस ओर आया, बस इतना! वहाँ बन्ध को साधता है, ऐसा हो गया। इस ओर झुकाने का नहीं आता तो वह बन्ध का साधता है, ऐसा कहा। साधने के दो प्रकार वहाँ कहाँ है ? यह चैतन्य लक्षण ऐसे गया तो बन्ध को साधता है, ऐसा

कहना (परन्तु) लक्षण तो यहाँ (अन्तर में) गया है, परन्तु उसमें बन्ध जो है, वह वस्तु उसमें नहीं आती। इसलिए भिन्न को साधती है। आहाहा! ऐसा मार्ग! पाठ है न? देखो न!

'**अज्ञानभावे नियमितं बन्धं कुर्वती**' भाषा तो ऐसी ही होगी न? अज्ञानभाव से निश्चय से—नियम से, ऐसा। '**बन्धं कुर्वती**' बन्ध का स्वभाव है, (ऐसा) साधता है, इसलिए इस ओर ढल गया है। बन्धरूप है, ऐसा (जानकर) पृथक् पड़ गया है। साधता है अर्थात् बन्ध पृथक् पड़ गया है। समझ में आया? कोई कहे, ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? निश्चयाभास है। हमको तुम व्यवहाराभास कहते हो। अरे... भगवान! छोड़ दे न, बापू! यह निश्चयाभास और व्यवहाराभास (की) बात (छोड़ दे)। आहाहा! ऐसा कहे कि तुम व्रत और तप कहाँ करते हो? अकेली आत्मा... आत्मा की बात करते हो। परन्तु व्रत और तप हो कहाँ? वह चौथे गुणस्थान में होते हैं? यहाँ बात दूसरी चलती है। पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति और आहार ऐसे लेना और ऐसे चलना, ऐसे बोलना... परन्तु वह सब होता है, किन्तु किस गुणस्थान में होता है? वह तो पाँचवें-छठवें में होता है। चौथे में वह अनुष्ठान नहीं होता। वह अनुष्ठान न करे, इसलिए निश्चयाभासी है, ऐसा कैसे कहा?

मुमुक्षु : अनुष्ठान तो उसे होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो समकित का होता है।

मुमुक्षु : अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं कहते। यह तो कहते हैं, यह व्रत, तप और दीक्षा लेना और दीक्षा देना (वह अनुष्ठान है)। किसी को दीक्षा देते हो? यहाँ ४३ वर्ष हुए किसी को दीक्षा दी है? कोई प्रतिमाधारी हुआ? दीक्षा तो नग्न मुनि हो, तब दीक्षा ली कहलाये। ऐसा वह कहते हैं। क्या करे? आहाहा! यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन—पहली भूमिका की बात चलती है। आहाहा! उसका आचरण—समकित का आचरण उसमें होता है। परन्तु उसके आचरण में वे व्रत, तप, समिति और गुप्ति और यह और वह और दीक्षादेना, वह उसमें कहाँ आते हैं? वे ऐसा कहना चाहते हैं। ग्यारह-ग्यारह प्रतिमा (ले), कितनों ने दीक्षा ली, साधु हुए। तुमने ४३ वर्ष में क्या किया?

मुमुक्षु : ब्रह्मचर्य दीक्षा बहुतों ने ली है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्रह्मचर्य, वह भी शुभभाव है। वह भी बाहर में दिखना चाहिए न? वस्त्र छोड़े, प्रतिमा धारण करे, लंगोटी पहने, ऐसा कहाँ (करते हैं)? आहाहा!... परन्तु यह दशा आवे, तब वह होता है, परन्तु वह दशा तो आचरण की (दशा है)। निश्चय स्वरूपस्थिरता बढ़ जाये, तब ऐसे विकल्प होते हैं, उस भूमिका की बात है। यहाँ तो अभी निश्चय का ठिकाना नहीं, वे सीधे व्रत, तप करने लगे (वे व्रत, तप) कहाँ थे? बालव्रत और बालतप है। मूर्खाई से भरपूर व्रत है। आहाहा!

(यहाँ कहते हैं) अज्ञानभाव को **नियम से बन्ध का स्वभाव है - ऐसा साधती है। भावार्थ इस प्रकार है कि रागादि अशुद्धपने कर्मबन्ध की उपाधि है, जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा अनुभवगोचर आता है।** इसका अर्थ यह कि वह राग अनुभव में आता नहीं। अनुभव में ज्ञानानन्द आता है, अर्थात् राग बन्धभाव में पृथक् रह जाता है, ऐसा इसका अर्थ है। आहाहा! १८१ कलश बहुत जोरदार कलश! तीन-चार दिन से चलता है। तीन-चार दिन हुए न? कितने हुए? आहाहा!

रागादि अशुद्धपने... रागादि अर्थात् दया, दान, व्रत के विकल्प आदि **अशुद्धपने कर्मबन्ध की उपाधि है,...** वह तो कर्मबन्ध की उपाधि है। आहाहा! राग आदि (अर्थात्) दया आदि भाव। दया आदि भाव, वह शुभराग है, उपाधि है। आहाहा! **कर्मबन्ध की उपाधि है, जीव का स्वरूप नहीं है ऐसा अनुभवगोचर आता है।**

कैसा है चैतन्यपूर? ऊपर पूर कहा था न? '**पूरे**' कहा था न? **त्रिकालगोचर प्रवाह में...** अन्दर कहा था। त्रिकालगोचर प्रवाह। वह पूर कैसा है? आहाहा! चार शब्द अलौकिक हैं! यह चैतन्यपूर—जैसे नदी का पूर होता है न? प्रवाह—दल, दल। उसी प्रकार यह चैतन्य का दल ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... पूर है, पूर है, प्रवाह है। ध्रुव का प्रवाह है। ऐसे चैतन्य के ध्रुव के प्रवाह का पूर कैसा है?

'**अन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि**' इतने विशेषण हैं। '**अन्तः**' **सर्व असंख्यात प्रदेशों में एकस्वरूप,...** देखा? यहाँ क्षेत्र लिया। '**अन्तः**' सर्व असंख्य प्रदेश में एकरूप वस्तु है। आहाहा! है भले असंख्य प्रदेश, परन्तु है एकरूप वस्तु। असंख्य हैं, इसलिए भेदरूप

और अनेकरूप वस्तु है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। '**अन्तः**' **सर्व असंख्यात प्रदेशों में एकस्वरूप,...** है। यह एक बोल (हुआ)।

दूसरा बोल—**सर्व काल शाश्वत्....** है। स्थिर पूर है। असंख्य प्रदेश एक (रूप) है। पूर... पूर... ध्रुव है, उसमें स्थिर है अर्थात् शाश्वत् है। **सर्व काल शाश्वत्....** है। आहाहा! असंख्यप्रदेशी का एकरूप। उसे '**अन्तः**' कहा। '**अन्तः**' उसका स्थिररूप शाश्वत्... शाश्वत् है। काल से शाश्वत् है, क्षेत्र से असंख्य प्रदेश एकरूप है। क्षेत्र से असंख्य प्रदेश एकरूप है। यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं नहीं होती। समझ में आया? आहाहा! इसलिए '**अन्तः**' में इसके असंख्य प्रदेश का क्षेत्र बताया। चैतन्यपूर ध्रुव है, जिसमें लक्षण ढल गया है, वह चैतन्यपूर असंख्य प्रदेशी एक वस्तु है और स्थिर है, शाश्वत् है। पलटता नहीं, एकरूप त्रिकाल है। आहाहा! दो (बोल हुए)।

(अब) तीसरा— **सर्व काल शुद्धत्वरूप...** भाव '**विशद**' है। विशद, विशद (अर्थात्) सर्व काल में भगवान शुद्धस्वरूप है। चैतन्य का पूर ध्रुव है, '**अन्तः**' असंख्य प्रदेशी शाश्वत् सर्व काल में शुद्धत्वरूप है। है न? वैसे तो समुच्चय त्रिकाल कहा परन्तु सर्व काल में शुद्धस्वरूप है। वह चैतन्य का पूर ध्रुव है, वह सर्व काल में शुद्धस्वरूप है। आहाहा! चार शब्दों में (कितना भर दिया है)। '**अन्तः**' '**स्थिर**' '**विशद**' '**लसत्**' आहाहा!

सर्व काल शुद्धत्वरूप और... '**लसत्**' आहाहा! वह तो **सर्व काल प्रत्यक्ष ऐसा है...** आहाहा! वस्तु है, वह ध्रुव व्यक्त है। वह सर्व काल में प्रत्यक्ष ही है। चार विशेषण प्रयोग किये हैं। आहाहा! प्रदेश में असंख्य प्रदेश, काल में सर्व काल, भाव में शुद्ध स्वरूप, प्रत्यक्ष में त्रिकाल प्रत्यक्ष। त्रिकाल प्रत्यक्ष लिया। आहाहा! अलौकिक बात है! क्या कहा, इसका योगफल?

इस चैतन्य लक्षण से अन्तर पूर में—ध्रुव में ढलने पर वह वस्तु कैसी है? असंख्य प्रदेशी है, सर्व काल शाश्वत् है और स्वरूप शुद्ध है, उसका स्वरूप शुद्ध है और वह सर्व काल में प्रत्यक्ष है। आहाहा! यह कभी सुना भी नहीं हो। समय कहाँ है? बाहर की बात के कारण निवृत्ति कहाँ है? आहाहा! बस है, एक ही वस्तु (बस है)।

पहले चैतन्य को जो पूर कहा था, चैतन्यपूर में निमग्न करती है, ऐसा कहा था

न ? है न ? ऊपर है। **त्रिकालगोचर प्रवाह में जीवद्रव्य को एक वस्तुरूप—ऐसा साधती है;...** आया था न ? साधती है। उसे एकरूप साधती है। वह बन्ध को साधे अर्थात् भिन्न पड़ गया। आहाहा! यह चैतन्य का पूर जो ध्रुव है, उसका लक्षण तो वर्तमान ज्ञान है। यह ज्ञान स्व-परग्राहक शक्ति का लक्षण इसका है, यह स्व-परग्राहक स्व को पकड़कर अन्दर में एकरूप वस्तु को करता है (—साधता है) और वह वस्तु कैसी है ? पूर, नूर, तेज, प्रवाह। वह असंख्यप्रदेशी है, शाश्वत् है, शुद्धस्वरूप है, प्रत्यक्ष है। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! लोगों को ऐसा रूखा लगता है। किसकी बात करते हो यह ? भगवान! यह तेरे स्वरूप की बात है। आहाहा!

असंख्य प्रदेश में वस्तु सिद्ध की। दूसरे लोगों में कहीं ऐसी वस्तु सिद्ध नहीं की है। और सर्व काल में शाश्वत् सिद्ध किया, शुद्ध स्वरूप में पवित्रपना सिद्ध किया और उसमें प्रत्यक्षपना सिद्ध किया। आहाहा! ज्ञान अन्दर में ढलने पर वह प्रत्यक्ष होता है। उसे कोई पर की अपेक्षा रहती नहीं। आहाहा! अलौकिक बात आयी है! उसमें यह अन्तिम बोल तो अलौकिक है!!

'**अन्तः**' अर्थात् अन्दर। अन्दर वह चीज़ कैसी है ? पूर—वह असंख्यप्रदेशी है, आहाहा! उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेशी है, काल त्रिकाल है, भाव शुद्धस्वरूप है और वह भी प्रत्यक्ष हो सके, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! चाहे जितनी बार कहो (तो भी) इसमें (कुछ पुनरुक्ति दोष नहीं है)। आहाहा!

यहाँ कहना क्या है ? चैतन्यस्वरूप को साधता है, ऐसा कहना है न ? और राग को बन्धरूप से साधता है। इसका अर्थ यह कि इसमें आता नहीं, इसलिए बन्धरूप से साधता है, ऐसा कहने में आता है। इस ओर ऐसे ढलने पर... आहाहा! वर्तमान चैतन्य की पर्याय के लक्षण द्वारा उसका लक्ष्य त्रिकाली ध्रुव प्रवाह में जाता है। जो यहाँ कृत्रिम राग में, पर में, क्षणिक में, उपाधि में जो लक्ष्य था, वह लक्षण उसका नहीं था। जिस लक्षण (का) पर में लक्ष्य जाता था, वह लक्षण उसका नहीं था। समझ में आया ? आहाहा! लक्षण है चैतन्य का और लक्ष्य जाता था बन्ध में! आहाहा! इसलिए संसार खड़ा होता था। जिसका वह लक्षण है, उसमें जो ऐसे जाता है... आहाहा! और वह राग आदि को बन्ध साधा, इसलिए इसमें नहीं आया, परन्तु वह तो क्षणिक था। राग आदि तो क्षणिक था।

यहाँ चैतन्य की पर्याय को, लक्षण को अन्तर्मुख झुकाने से, असंख्य प्रदेश को वह लक्ष्य करता है। असंख्य प्रदेश को वह लक्ष्य करता है। भले उन असंख्य प्रदेश का उसे ख्याल न आवे, परन्तु इतना चौड़ा है, उसे वह लक्ष्य करता है, ऐसा कहते हैं। राग है और द्वेष है, वह इतना चौड़ा नहीं। वह अंश तो क्षणिक, कृत्रिम है। यहाँ चैतन्य लक्षण को लक्ष्य की ओर झुकान से उन असंख्य प्रदेश पर उनका लक्ष्य जाता है, और वह पूर शाश्वत् है, नित्य है। अभी ख्याल में आया, इसलिए अभी है, अभी ख्याल में आया, इसलिए अभी है—ऐसा नहीं है। अभी ख्याल में आया, परन्तु वस्तु शाश्वत् है। आहाहा! और जो ख्याल में मैल था, राग के ऊपर लक्ष्य का मैल था, वह लक्षण राग का नहीं था। इसलिए वह मैल में जाता था। वह लक्षण ऐसे गया, इसलिए वह तो शुद्धस्वरूप है। आहाहा! स्वरूप से—भाव से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और प्रत्यक्ष—चार बोल प्रयोग किये। आहाहा! गजब किया है न! सन्तों ने तो संक्षेप में समेटकर रखा। चार बोल हुए?

'**अन्तः**' सर्व असंख्यात प्रदेश, सर्व असंख्यात प्रदेश, ऐसा। '**स्थिर**' में सर्व काल में शाश्वत् (लिया), वहाँ भी सर्व (लिया)। '**विशद्**' में सर्व काल में शुद्धस्वरूप, वहाँ भी सर्व (लिया) और '**लसत्**' में सर्व काल में प्रत्यक्ष (लिया), वह सर्व (आया)। चारों में सर्व (आया)। आहाहा! इसका पहले निर्णय तो करे कि इस प्रकार से ही प्राप्त होता है, बाकी (दूसरी) कोई पद्धति है नहीं। यह व्रत पालते हुए और भक्ति करते हुए और यात्रा करते-करते होगा... आहाहा! पैसा खर्च करने से होगा....

यहाँ तो राग से भी होगा नहीं, ऐसा कहते हैं। राग को ऐसे कर डाल। जिसका वह लक्षण है, उसकी ओर के प्रवाह में लक्ष्य को झुका। वह ध्रुव प्रवाह है, शाश्वत् टिकता-टिकता तत्त्व वह है और वह असंख्य प्रदेशी है। वह सर्व काल में रहनेवाला है। वह सर्व शुद्धस्वरूप है। वह सर्व प्रत्यक्ष है। आहाहा! गजब बात की! आहाहा!

मुमुक्षु : ध्यान के विकल्प से तो सरल पड़ता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ विकल्प से बात नहीं। यहाँ तो अनुभव की बात है। विकल्प से पहले की थी। ग्राह्य-ग्राहक, पहले कहा था न? भेदविज्ञान बुद्धिपूर्वक (करता है)। ऐसा है और ऐसा है और ऐसा है, तब तक विकल्प था। यह विकल्प नहीं। आहाहा! पहले विकल्प तो आवे न? वह आवे ही पहले। यह आत्मा है, यह राग है—ऐसा

भेदविकल्प आये बिना एकदम तो होता नहीं। तथापि विकल्प से होता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : भेदज्ञान अभ्यास चलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक अपेक्षा से यहाँ विकल्प गिना है। सब भेदज्ञान विकल्प है, ऐसा नहीं। जयसेनाचार्यदेव की टीका में भेदज्ञान को अभेदज्ञान कहा है। यहाँ पहले यह अपेक्षा ली है। साधक ऐसा विचारता है न? इसलिए ग्राह्यग्राहक (कहा)। यह जाननेयोग्य है, ग्रहणयोग्य है। ग्रहण करनेवाला मैं हूँ, ग्रहणयोग्य द्रव्य है, ग्रहण करनेवाला मैं हूँ, ऐसा भेदविकल्प आता है, वह शैली (ली है)। इसलिए टीका में बनारसीदासजी ने इस भेद को विकल्प गिना है। इसके (श्लोक में) विकल्प गिना है। बाकी जयसेनाचार्यदेव में भेदज्ञान अर्थात् अभेदज्ञान लिया है। पर से पृथक् पड़ा, वह इसमें अभेद हो गया। वहाँ ऐसा लिया है। आहाहा! जहाँ-जहाँ जिस प्रकार से अपेक्षा हो, उसे जानना चाहिए न?

मुमुक्षु : जहाँ भेदज्ञान होता है, वहाँ तो निर्विकल्परूप भेदज्ञान है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान में पहले इतना विकल्प आता है न? यह। ऐसे भेदज्ञान को यहाँ लिया है। वास्तविक भेदज्ञान तो अन्दर से पृथक् पड़कर ऐसे स्थिर हो, इसका नाम भेदज्ञान है। इसलिए कहा न कि जयसेनाचार्यदेव में तो यह लिया, भेदज्ञानरूपी अभेद। ऐसा लिया है। आहाहा! यह तो साधक को शुरुआत की पहली दशा में ऐसा भाव आता है। जाननेवाला मैं, ज्ञात हो यह, बन्ध राग, वह पर है, ऐसा विकल्प आवे, तो भी वह विकल्प की भूमिका है, वह अनुभव की भूमिका नहीं। समझ में आया? आज थोड़ा सूक्ष्म विषय आ गया।

मुमुक्षु : विकल्प पुरुषार्थ होने में मदद तो करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी नहीं। राग जरा भी मदद नहीं करता। इसलिए यहाँ कहा न? एकदम निकाल दिया।

मुमुक्षु : राग तो न करे परन्तु मन्द राग तो मदद करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्द राग, मन्द राग बिल्कुल नहीं करता। सीधा निरपेक्ष राग बिना की यह बात है। अन्तिम बोल की यह बात है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निरपेक्ष है। राग और निमित्त और देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त की अपेक्षा नहीं। ऐसा है।

मुमुक्षु : मानसिक ज्ञान मदद न करे तो राग कहाँ मदद करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानसिक ज्ञान भी रागवाला है। आहाहा!

वाह! यहाँ ऊपर कहा था न? '**चैतन्यपूरे आत्मानं मग्नं कुर्वती**' ऐसा था। चैतन्यपूर में आत्मा को मग्न करना। आत्मा अर्थात्? वह तो पर्याय अपनी है न वह। आत्मा की पर्याय को चैतन्यपूर में मग्न करना और अज्ञानभाव को बन्ध में साधना। वह तो वहाँ सध जाती है। इस प्रकार, उसका फिर यहाँ विशेष स्पष्टीकरण किया। वहाँ अभी दो बात ली थी। वहाँ है न? '**चैतन्यपूरे आत्मानं मग्नं कुर्वती अज्ञानभावे बन्धं नियमितं कुर्वती**' दो भाग लिये थे। अब यहाँ अकेला लिया। दो का ऐसा हुआ, फिर छूट गया। अब यह अकेला रहा। आहाहा!

'**अन्तः**' विशिष्टता क्या की? '**अन्तः**' में क्षेत्र लिया। क्यों (क्षेत्र) लिया? कि सामने वस्तु (के ऊपर) जो लक्ष्य जाता है, वह चीज़ कैसी? एक प्रदेश है? दो प्रदेशी है या क्या है? उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेशी है, यह (बात) सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र है नहीं। इसलिए पहला बोल यह लिया। समझ में आया? '**अन्तः**' पश्चात् '**स्थिर**' (लिया)। यह असंख्य प्रदेशी वस्तु स्थिर शाश्वत् है। धीर है, धीर अर्थात् शाश्वत्, शाश्वत्। आहाहा! और काल में शुद्धत्वस्वरूप है। सर्व काल में शुद्धस्वरूप है। सर्व काल में शुद्धस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? और सर्व काल में प्रत्यक्ष '**लसत्**' '**लसत्**' '**लसत्**' है। '**लसत्**' अर्थात् वह प्रत्यक्ष है। उसे कोई राग की और निमित्त की अपेक्षा हो तो ज्ञात हो, ऐसा वह आत्मतत्त्व नहीं है। आहाहा! यह पहली भूमिका की शुरुआत यहाँ से होती है, पश्चात् दूसरी सब बातें। इसका ठिकाना न हो और सीधे यह करो और यह करो और यह करो... और कितने व्रत धारे और हमने कितनी दीक्षा दी और कितनों को प्रतिमा दी... किसको कहना दीक्षा? जैन दीक्षा यह है। वे दरबार कहते थे न? जैन की दीक्षा दो। कौन दे? यह जैन की दीक्षा है। आहाहा!

अन्तर में असंख्य प्रदेश में सर्व काल में रहा हुआ, सर्व काल में शुद्ध स्वरूप, उसमें सर्व प्रत्यक्ष, सर्व प्रत्यक्ष—ऐसा कहा न? देखो! **सर्व काल में प्रत्यक्ष...** वह तो सर्व काल प्रत्यक्ष ही है। पर की अपेक्षा से उसे अनुभव में है नहीं। आहाहा! गजब काम किया है!

मुमुक्षु : चौथे में ऐसे आत्मा को प्रत्यक्ष कर लेता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे (गुणस्थान) की बात है। मति-श्रुत में प्रत्यक्ष होता है। वस्तु का स्वरूप ही प्रत्यक्ष है। वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता ही नहीं। आहाहा! (यहाँ) ज्ञानप्रधान कथन है न ? प्रज्ञाछैनी की बात है न ? प्रज्ञाछैनी तो अनुभव है। ज्ञान से अनुभव करता है। आहाहा! चार बोल लिये।

ऐसा है... 'धाम्नि' केवलज्ञान-केवलदर्शन तेजपुंज है... आहाहा! वस्तु, वस्तु, हों! यहाँ केवलज्ञान, केवलदर्शन पर्याय की बात नहीं। अन्दर केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वरूप। अकेला ज्ञान और अकेला दर्शन। अकेला ज्ञान और अकेला दर्शन। असंख्य प्रदेश में सर्व काल में स्थिर शुद्ध प्रत्यक्ष। क्या (है) ? केवलज्ञान और केवलदर्शन। स्पष्टीकरण किया अन्दर। एक ज्ञान और अकेला दर्शन। ज्ञान और दर्शन, बस! केवलज्ञान और केवलदर्शन। उसमें सब गुण आ गये। आहाहा! आज बहुत अच्छी बात आयी है! यह प्रीतिभोज है!! विवाह होने के पश्चात् तुम्हारे प्रीतिभोज नहीं करते ? तुम्हारे (हिन्दी में) कुछ कहते होंगे। प्रीतिभोजन! आहाहा!

'**धाम्नि**' यह धाम है। किसका ? केवलज्ञान और केवलदर्शन का यह धाम है। आहाहा! अकेला ज्ञान, ज्ञाता और दृष्टा! ज्ञाता और दृष्टा—मुख्य बात यह ली है न ? आहाहा! वह तो सर्व काल में ज्ञाता और दृष्टा, सर्व काल में शुद्ध, सर्व काल में असंख्य प्रदेशी और सर्व काल में प्रत्यक्ष। आहाहा!

मुमुक्षु : आप दीक्षा की ना करते हो परन्तु इसमें निवृत्ति तो बहुत चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : निवृत्ति अन्दर की चाहिए या बाहर की ? बाहर की तो निवृत्ति ही है। पर में पकड़ाया कब है ? पर का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। आहाहा!

अन्तिम पाँचवाँ बोल, उसका स्वरूप लिया। '**धाम्नि**' आहाहा! वह तो धाम है, आनन्दधाम, ज्ञानधाम, दर्शनधाम... आहाहा! उसमें मुख्यरूप से केवलज्ञान और केवलदर्शन। ऐसा असंख्य प्रदेश में धाम। असंख्य प्रदेश में क्या है ? केवलज्ञान और केवलदर्शन और वह भी सर्व काल में शाश्वत् है, सर्व काल में स्वरूप शुद्ध है और वह सर्व काल में प्रत्यक्ष है। यह कहकर बड़ा मांगलिक किया। विशेष कहा जायेगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १८२

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि।
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।।३-१८२।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — भावार्थ इस प्रकार है कि जिसके शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है, वह जीव, ऐसा परिणामसंस्कार (वाला) होता है। 'अहं शुद्धः चित् अस्मि एव' [अहं] मैं [शुद्धः चित् अस्मि] शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, [एव] निश्चय से ऐसा ही हूँ। 'चिन्मुद्रांकितनि-र्विभागमहिमा' [चिन्मुद्रा] चेतनागुण, उसके द्वारा [अंकित] चिह्नित कर दी-ऐसी है [निर्विभाग] भेद से रहित [महिमा] बड़ाई जिसकी, ऐसा हूँ। ऐसा अनुभव जिस प्रकार होता है, उस प्रकार कहते हैं — 'सर्वं अपि भित्त्वा' [सर्वं] जितनी कर्म के उदय की उपाधि है, उसको — [भित्त्वा] अनादि काल से आपा जानकर अनुभवता था, सो परद्रव्य जानकर — स्वामित्व छोड़ दिया। कैसा है परद्रव्य? 'यत् तु भेत्तुं शक्यते' [यत्] जो कर्मरूप परद्रव्य-वस्तु, [भेत्तुं शक्यते] जीव से भिन्न करने को शक्य है अर्थात् दूर किया जा सकता है। किस कारण से? 'स्वलक्षणबलात्' [स्वलक्षण] जीव का लक्षण, चेतन; कर्म का लक्षण, अचेतन — ऐसा भेद, उसके [बलात्] सहाय से। कैसा हूँ मैं? 'यदि कारकाणि वा धर्माः वा गुणा भिद्यन्ते भिद्यन्तां चिति भावे काचन भिदा न' [यदि] जो [कारकाणि] आत्मा, आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में — ऐसा भेद [वा] अथवा [धर्माः] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप द्रव्य-गुण-पर्यायरूप भेदबुद्धि अथवा [गुणाः] ज्ञानगुण, दर्शनगुण, सुखगुण इत्यादि अनन्त गुणरूप भेदबुद्धि, [भिद्यन्ते] जो ऐसा भेद, वचन के द्वारा उपजाया हुआ, उपजता है, [तदा भिद्यन्तां] तो वचनमात्र भेद होओ; परन्तु [चिति भावे] चैतन्यसत्ता में तो [काचन भिदा न] कोई भेद नहीं है; निर्विकल्पमात्र चैतन्यवस्तु का सत्त्व है। कैसा है चैतन्यभाव? 'विभौ' अपने स्वरूप को व्यापनशील है। और कैसा है? 'विशुद्धे' सर्व कर्म की उपाधि से रहित है।।३-१८२।।

पौषा शुक्ल ३, बुधवार, दिनांक-११-०१-१९७८, कलश-१८२, प्रवचन-१९९

कलशटीका १८२ कलश है। १८२ कलश।

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्धेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि।
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।।३-१८२।।

भावार्थ, पहले से भावार्थ करते हैं। **भावार्थ इस प्रकार है कि जिसके शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है...** जिसे सम्यग्दर्शन होता है, अर्थात् कि जिसे यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप त्रिकाल शुद्ध ध्रुव शुद्धस्वरूप का सन्मुख होकर, उस शुद्धस्वरूप के सन्मुख होकर जहाँ अन्तर का अनुभव—सम्यग्दर्शन (होता है), अनुभव अर्थात् शुद्ध चैतन्य वस्तु को अनुसरकर परिणति में आनन्द का और शान्ति का वेदन होना, उसका नाम शुद्धस्वरूप का अनुभव है। एकदम सूक्ष्म बात तो है। मोक्ष अधिकार है न?

शुद्धस्वरूप का अनुभव होता है, वह जीव ऐसा परिणामसंस्कार (वाला) होता है। आहाहा! उस जीव ऐसे परिणाम अर्थात् पर्याय—भाव संस्कारवाला होता है। **'अहं शुद्धः चित् अस्मि एव'** कैसे संस्कार होते हैं? कैसे अनुभव में उसे परिणति—शुद्ध चैतन्य की परिणति—पर्याय में क्या होता है? **मैं... 'शुद्धः चित् अस्मि'** मैं तो **शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ,... 'अस्मि'** आहाहा! सम्यग्दर्शन में अथवा शुद्धस्वरूप के अनुभव में ऐसे परिणाम में होता है कि मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ। समझाना है तो कैसे समझावे? मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ, ऐसा विकल्प भी नहीं। आहाहा! यह धर्म की पहली शुरुआत, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी!

मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ। है? आहाहा! **'शुद्धः चित् अस्मि'** मैं तो शुद्ध ज्ञान, पवित्र भाव, पूर्ण पवित्र चिद्भाव, वह मैं हूँ। **'अस्मि'** वह मैं हूँ। यह प्रथम अनुभव के संस्कार की बात है। शब्द संस्कार प्रयोग किया है। बात यह (है कि) वह भाव वहाँ रहता है, ऐसा। सब्जी में जैसे संस्कार डालते हैं न? वैसे यह आत्मा में अनुभव के संस्कार होते हैं। आहाहा!

प्रथम सम्यक् अनुभव में शुद्ध चैतन्य पवित्र वस्तु है, उसके अनुभव में उसके परिणाम के संस्कार (पड़ते हैं कि) मैं तो शुद्ध चिन्मात्र अस्मि हूँ। आहाहा! यहाँ अस्ति से बात ली है। नास्ति से नहीं ली। वरना मैं राग नहीं, यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं... ऐसा नहीं। आहाहा! मैं एक आत्मा अन्दर... आहाहा! शुद्ध ज्ञान, आनन्द, वीतरागस्वरूप मैं हूँ। ज्ञान अस्मि का अर्थ यह है। मैं वीतराग चिन्मात्र, आनन्दमात्र वस्तु हूँ। आहाहा! समझ में आया? यह इसके संस्कार हैं।

शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ,... 'एव' निश्चय से ऐसा ही हूँ। '**एव**' का अर्थ किया। वास्तव में मैं त्रिकाली ज्ञानपुंज आनन्दकन्द जिनस्वरूप मैं हूँ। आहाहा! बनारसीदास में यह कहा था न? 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' 'घट घट अन्तर जिन बसे' जिनस्वरूप (अर्थात्) ज्ञानस्वरूप कहो, वीतरागस्वरूप कहो, आनन्दस्वरूप कहो, शान्तस्वरूप कहो, अविकारीस्वरूप कहो, ध्रुवस्वरूप कहो, सामान्यस्वरूप कहो। आहाहा! स्वच्छस्वरूप कहो, ईश्वरस्वरूप कहो... आहाहा! वह मैं हूँ। ऐसा निश्चय है। है? **निश्चय से ऐसा ही हूँ।** वास्तव में मैं ऐसा ही हूँ। आहाहा!

'**चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा**' **चेतनागुण उसके द्वारा...** गुण त्रिकाली। चेतन का चेतनागुण, आत्मा के चेतनागुण द्वारा। है न? **चिह्नित कर दी ऐसी है...** चेतनागुण के लक्षण से—चिह्न से (चिह्नित कर) **दी ऐसी है...** '**निर्विभागमहिमा**' आहाहा! चेतना स्वरूप में निर्विभाग महिमा। जिसका भाग नहीं, जिसमें दोपना नहीं। ऐसी जिसकी अन्दर महिमा है। आहाहा! '**चिन्मुद्रांकित**' **चेतनागुण उसके द्वारा...** मुद्रा का अर्थ यह किया। चिन्मुद्रा। यह मुद्रा / छाप है, ऐसा। चेतन... चेतन... चेतन... चैतन्य की मुद्रा छाप है। जैसे अनुभव की आनन्दमुद्रा छाप है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसी वस्तु की चिन्मुद्रा छाप है। यह त्रिकाली की बात चलती है। चिन् चेतन... चेतन... जो उसकी मूल मूद्रा—छाप चेतन है। आहाहा! उसका निर्विभाग—भाग नहीं। जिसमें द्वैतपना नहीं, ऐसा कहते हैं। है न?

'**चिन्मुद्रानिर्विभाग**' **भेद से रहित...** है। आहाहा! एकदम मक्खन निकाला है! चेतनस्वरूप जिसके दो भाग नहीं, निर्विभाग एकरूप वस्तु है। यह सम्यग्दर्शन और अनुभव के यह संस्कार हैं। आहाहा! निर्विभाग जिसकी महिमा अर्थात् कि **बड़ाई जिसकी...**

जिसकी महिमा एकरूप है। दो भागरूपी जिसकी महिमा नहीं। आहाहा! बहुत ही मार्मिक शब्द हैं! यह तो वाचक है, वाच्य तो अन्दर है। आहाहा! ऐसी मेरी महिमा है। अर्थात्? चिन्मात्र ज्ञायकमात्र स्वभाव, जिसके दो भाग नहीं, वह मेरी महिमा और महत्ता है। आहाहा! मैं एकरूप हूँ, वह मेरी महिमा अथवा महत्ता है। वह मेरी सर्वोत्कृष्टता है।

ज्ञानमात्र ध्रुव वीतरागमूर्ति जिनस्वरूप, वह दो भाग बिना की मेरी महत्ता और वस्तु की स्थिति सर्वोत्कृष्ट वह है। आहाहा! **ऐसा हूँ। ऐसा अनुभव जिस प्रकार होता है,...** अब ऐसा अनुभव जिस प्रकार से होता है, **उस प्रकार कहते हैं...**

'सर्वं अपि भित्त्वा' अब नास्ति कही। पहले अस्ति ली थी। **'सर्वं अपि भित्त्वा' 'सर्वं' जितनी कर्म के उदय की उपाधि है उसको... 'भित्वा' अनादि काल से आपा जानकर अनुभवता था...** आहाहा! शुभाशुभराग को अपनेरूप जानकर जो अनुभव करता था, वह अनादि काल की अज्ञानदशा में वह अनुभव था, उसका भेद पड़ गया। **'भित्वा'** है न?

शुभ-अशुभराग, कर्म शब्द से यह राग भाव है। शुभ-अशुभराग जो अनादि काल का (अनुभव था), चेतनस्वरूप निर्विभाग में पर्याय में राग का अनुभव था, उसे **'भित्वा'** भेदकर, छेदकर। आहाहा! **अनादि काल से आपा जानकर...** यह तो एक स्पष्टीकरण किया। पाठ में तो **'भित्वा'** है। किसे भेदा? ऐसा कहते हैं। अनादि काल से राग को— पुण्य-पाप को अनुभव करता था वह **'भित्वा'** ऐसा। यह तो स्पष्टीकरण किया। बाकी ऐसे **'भित्वा'** है, परन्तु किसे भेदा? कि पुण्य और पाप के विकल्प—विकार, अनादि काल से 'यह मैं' ऐसा अनुभव में था, उसे पृथक् किया। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू!

यह व्रत करना और अपवास करना, और यह सब कितना सरल था! ऐसी बातें अब! संघ निकालना, रथयात्रा निकालना, लो! बापू! परन्तु पहली चीज़ जो है, उसका अनुभव न हो, तब तक धर्म की शुरुआत ही नहीं है। आहाहा! शुरुआत के बाद अन्दर स्थिरता—चारित्र होता है, यह बात बाद में। यह क्रिया बीच में आती है, अशुभ से बचने को शुभ(आवे), परन्तु वह भिन्न रीति से आवे, एकपने न आवे। समझ में आया? सूक्ष्म कहना और समझ में आया, (ऐसा) वापस कहना! आहाहा!

भगवान चेतनस्वरूप पूर्ण स्वभाव से भरपूर निर्विभाग—जिसका भाग नहीं, उसका अनुभव करने पर कर्म के निमित्त से होते विकारी भाव, उनका जो अनादि से अनुभव था, इसे '**भित्वा**' अर्थात् छेदकर, उसे भिन्न करके। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की रीति है। आत्मा का अनुभव होने की यह रीति है। आहाहा! **आपा जानकर अनुभवता था... 'भित्वा'** की व्याख्या की है। राग का विकल्प चाहे तो महाव्रत का हो या भगवान के स्मरण का हो, परन्तु वह सब परद्रव्य... आहाहा! **जानकर... 'भित्वा' स्वामित्व छोड़ दिया। 'भित्वा'** की व्याख्या की। स्वामित्व छोड़ दिया। राग—दया, दान, व्रत आदि का जो राग था, उसका स्वामित्व छोड़ दिया। स्वामित्व यहाँ चैतन्य में आया—मैं चैतन्यस्वरूप पूर्ण ज्ञायकभाव एक हूँ। '**अस्मि**' हुआ न? उसमें इसके भाव का अभाव है, इसलिए उसे भिन्न करके... आहाहा! **छोड़ दिया।** स्वामित्व छोड़ दिया, ऐसा कहा। आहाहा! राग रहे सही, परन्तु स्वामित्व छोड़ दिया, मालिकपना छूट गया।

यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम (होते हैं), वे मेरे हैं और जो इस भाव से आत्मा को लाभ मानता है, उसका अर्थ वह (कि उन्हें) अपने ही मानता है। समझ में आया? आहाहा! **स्वामित्व छोड़ दिया। 'भित्वा'** का अर्थ किया। '**भित्वा**' का अर्थ छोड़ दिया है। परन्तु जो राग का अनुभव था, उसका स्वामित्व छूट गया और यहाँ चैतन्य शुद्ध स्वरूप का स्वामित्व—मालिकपना प्रगट हुआ। वह मैं और उसका मैं स्वामी हूँ। ४७वीं स्वस्वामिसम्बन्धशक्ति है न? आहाहा! मेरा जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका मैं स्वामी हूँ, वह भी अभी भेद से कथन तो ऐसा होता है न? परन्तु वही मैं हूँ। आहाहा! ऐसी बात है।

कैसा है परद्रव्य? यह पुण्य और पाप के भाव जो मेरेपने अनुभव में आते थे, स्वामी-मालिकपने मानता (था), वे कैसे हैं? '**यत् तु भेत्तुं शक्यते' जो कर्मरूप परद्रव्य-वस्तु... 'भेत्तुं शक्यते' जीव से भिन्न करने को शक्य है...** अर्थात् कि दूर किये जा सकते हैं। आहाहा!

यह तो दो बातें आ गयी हैं। राग और आत्मा के बीच साँध है। एक नहीं हुए, इसने माना है। शुभराग और चैतन्य शुद्ध वस्तु—दो के बीच साँध है, सन्धि है, दरार है; एक नहीं। क्योंकि वे दो तत्त्व हैं। राग, आस्रवतत्त्व है; भगवान, ज्ञानतत्त्व है। इसलिए

दो तत्त्व के बीच, दो का दोपना रहने में बीच में सन्धि है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कठिन लगे, इसलिए लोगों को (ऐसा कहते हैं) कि सम्यग्दर्शन की खबर नहीं पड़ती, सूक्ष्म वस्तु है, इसलिए व्रत और तप करो।

यहाँ तो यह कहते हैं, अनुभूति से खबर पड़ती है। सम्यग्दर्शन—प्रतीति स्वयं सीधी खबर नहीं पड़ती। समझ में आया? परन्तु साथ में अनुभूति है, उससे अविनाभावी आनन्द का स्वाद है, (इसलिए) सम्यग्दर्शन की खबर पड़ती है। समझ में आया? आहाहा!

अर्थात् दूर किया जा सकता है। क्या कहा यह? '**यत् तु भेत्तुं शक्यते**' वे भिन्न किये जा सकते हैं, क्योंकि वे भिन्न हैं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात आयी है! अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन में होता आत्मा का अनुभव, उसमें होते परिणाम के संस्कार, वह राग से भिन्न पड़ने का शक्य ही है, क्योंकि भिन्न है, भिन्न है; इसलिए भिन्न किया जा सकता है। भिन्न है, इसलिए भिन्न किया जा सकता है। आहाहा!

(भिन्न) **करने को शक्य है...** अर्थात्? '**भेत्तुं शक्यते**' अर्थात्? राग को दूर किया जा सकता है। क्योंकि राग और ज्ञायकभाव एक है नहीं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म वस्तु है। **किस कारण से?** दोनों भिन्न किये जा सकते हैं। क्यों? कि '**स्वलक्षणबलात्**' '**स्वलक्षणबलात्**' दोनों के लक्षण की बात है। दोनों, हों! '**स्वलक्षणबलात्**' स्व अर्थात् दोनों के अपने लक्षण के बल से। स्व अर्थात् अकेले आत्मा का नहीं। '**स्वलक्षणबलात्**' दो द्रव्य के स्व—अपने लक्षण की भिन्नता के कारण से। आहाहा!

'**स्वलक्षणबलात्**' **जीव का लक्षण चेतन, कर्म का लक्षण अचेतन...** राग। कर्म तो जड़ रजकण है, उसका कुछ नहीं परन्तु यह राग (लेना)। राग का लक्षण अचेतन है, भगवान का लक्षण चेतन है। जाननेवाला, वह आत्मा और नहीं जाननेवाला वह अचेतन—राग। आहाहा! दोनों के लक्षण भिन्न हैं। **ऐसा भेद उसके... 'बलात्' सहाय से।** उसके बल से। अर्थात् कि उसकी सहायता से। यह ज्ञानस्वरूप वह चैतन्य; अचेतनस्वरूप वह राग—इस ज्ञान के चैतन्य के प्रकाश में राग की एकता नहीं, इसलिए वह अचेतन है, उसके बल से दोनों को भिन्न किया जा सकता है। समझ में आया? आहाहा! मुद्दे की रकम आयी है। आहाहा!

यहाँ तो अभी बाहर की तकरार (करते हैं)। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार परन्तु होता कैसे है? जहाँ निश्चयस्वरूप का अनुभव हो, वह उसमें स्थिर न हो सके, तब अशुभ से बचने को शुभभाव होता है, परन्तु है वह हेय और बन्ध। है दुःख और राग। आहाहा! भगवान आत्मा का अनुभव, वह अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद है और राग का अनुभव दुःख है। दोनों को उनके लक्षण से भिन्न किया जा सकता है ऐसा उनका स्वरूप ही ऐसा है, ऐसा कहते हैं। '**बलात्**' अर्थात् दोनों के लक्षण के बल से। पाठ ऐसा है न? '**स्वलक्षणबलात्**' दोनों के लक्षण के जोर से, दोनों के लक्षण की भिन्नता से, दोनों के लक्षण की सहायता से दोनों भिन्न किये जा सकते हैं। आहाहा! आज तो सब सूक्ष्म आया। कल (भी) ऐसा आया था। यह तो मोक्ष अधिकार है न? छूटना। छूटने में भेद पड़ता है न?

मुमुक्षु : किससे छूटना?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख से छूटना। मोक्ष में अस्तिरूप से आनन्द है, परन्तु मोक्ष (शब्द) है न? (अर्थात्) छूटना—दुःख से छूटना, राग से छूटना। आहाहा!

मुमुक्षु : भिन्न करे नहीं, भिन्न को भिन्न जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न हैं, उन्हें भिन्न जाने। दोनों के भिन्न लक्षण के सहारे से, दोनों के भिन्न लक्षण के बल से, दोनों के भिन्न लक्षण की सहायता से भिन्न करे। आहाहा! ऐसी बात है। यह तो मूल की बात है।

'**स्वलक्षणबलात्**' भगवान आत्मा का लक्षण जानन प्रकाश है और राग का लक्षण उस प्रकाश से विरुद्ध अचेतन है। ऐसे दोनों के लक्षण की सहायता से, बल से दोनों को भिन्न किया जा सकता है। आहाहा! भाषा तो बहुत सरल है, (परन्तु) भाव (बहुत गम्भीर है)। आहाहा! करनेयोग्य हो तो यह है। 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ, छोड़ी जगत द्वंद्वफंद निज आतम उर ध्यावो' वह यह।

'**स्वलक्षणबलात्**' **कैसा हूँ मैं? 'यदि कारकाणि वा धर्माः वा गुणा भिद्यन्ते भिद्यन्तां चिति भावे काचन भिदा न'** आहाहा! एकदम अभेद स्वरूप को वर्णन करते हैं। सम्यग्दर्शन का विषय एकदम अभेद है। भेद जरा भी नहीं। आहाहा! '**यदि**' **जो**

आत्मा, आत्मा को... पर से तो भिन्न किया। अब यहाँ भेद करते हैं, उस भेद से भीभिन्न। आहाहा! **आत्मा...** कर्ता। **आत्मा को, आत्मा के द्वारा...** यह साधन। **आत्मा में...** आधार, **ऐसे भेद...** आहाहा! ऐसे भेद विकल्प द्वारा अथवा वचन द्वारा पड़ सकते हैं। वस्तु में भेद नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आत्मा, आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा में... यहाँ अर्थ वचन द्वारा लेंगे परन्तु विकल्प द्वारा ऐसे भेद पड़े, परन्तु वस्तु में भेद नहीं। समझ में आया? आहाहा! आत्मा पर से तो भिन्न किया, परन्तु अब अपने में भी भेद नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा (अर्थात्) कर्ता, आत्मा को (यह) कार्य—कर्म, आत्मा द्वारा (अर्थात्) साधन। आत्मा द्वारा जानना, ऐसा भेद भी जिसमें नहीं, कहते हैं। आहाहा! राग द्वारा तो नहीं, राग तो भिन्न कर दिया। अब आत्मा को, आत्मा, आत्मा द्वारा अर्थात् आत्म-साधन, आत्मा द्वारा—साधन, आत्मा के आधार से, साधन को भी आत्मा के आधार से, ऐसे भेद भी जिसमें नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वस्तु तो भेदभेद स्वरूप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभेद है और एकरूप है। आहाहा!

यह कारक हैं। कर्ता, कर्म (आदि) छह है न? वह कारक की बात है। आत्मा... वास्तव में वह कर्ता, कर्म कारक है, वे पर्याय में होते हैं। ध्रुव में कारक है, वे तो ध्रुव हैं। परन्तु भाषा बताते हैं—आत्मा ऐसी वह पर्याय; आत्मा को, वह पर्याय; आत्मा द्वारा (वह) पर्याय; यह कर्ता, कर्म आदि पर्याय में होते हैं। द्रव्य में कर्ता, कर्म होता नहीं। वह तो आरोप से कथन है। आहाहा!

वस्तु जो है, उसमें तो आत्मा, आत्मा को और आत्मा द्वारा। व्यवहार को तो पृथक् किया, व्यवहार से तो होता नहीं, परन्तु ऐसे भेद द्वारा भी आत्मा अनुभव में नहीं आता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा को, आत्मा द्वारा—स्वभाव द्वारा। आत्मा द्वारा (अर्थात्) स्वभाव द्वारा। आत्मा के स्वभाव द्वारा, ऐसा भेद पड़ा न? आत्मा में—मुझमें—आधार, ऐसे भेद हो, विकल्प उठते हों तो कहते हैं कि (भले) हो। वस्तु में नहीं है। आहाहा! वचन द्वारा, व्यवहार द्वारा (कहा जाता है)। यहाँ वचन द्वारा कहा है।

व्यवहार द्वारा। व्यवहार को कथनमात्र ही कहा है। कथनमात्र में ऐसे भेद हो, वस्तु में नहीं है। आहाहा!

अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप... यह भेद उसमें नहीं, ऐसा कहना है। कारक जिसमें नहीं। '**धर्माः**' अर्थात् उत्पाद-व्यय और ध्रुव। आहाहा! अथवा **द्रव्य-गुण-पर्यायरूप भेदबुद्धि...** वह भी वचन द्वारा, विकल्प द्वारा हो तो हो, वस्तु में नहीं है। आहाहा! निर्विकल्प अनुभव में वह कुछ नहीं है। पहले विकल्प के विचारों में भले यह हो, कहते हैं। यहाँ वचन द्वारा कहा है, व्यवहार कहा है न। व्यवहार को कथनमात्र कहा है न? इसलिए कथनी में अन्दर भले भेद पड़ो, वस्तु में नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग! कहो, चन्दुभाई! आहाहा!

प्रथम आत्मा का अनुभव होने के काल में यह स्थिति होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के काल में ऐसा भेद उसमें नहीं होता। आहाहा! यहाँ तो अभी कहे, व्यवहार करते-करते होगा। व्यवहार यह, राग का व्यवहार, हों! यह तो उसकी कथनी का व्यवहार है, उससे भी (होगा) नहीं, कहते हैं। आहाहा!

'**धर्माः**' अर्थात् उत्पाद-व्यय और ध्रुव। उनका स्वभाव। तीन भेद, वह भी जिसमें नहीं, एकरूप वस्तु है। आहाहा! अथवा द्रव्य-गुण और पर्याय। आत्मा द्रव्य, चेतना गुण, पर्याय निर्मल—ऐसे तीन भेद भी जिसमें नहीं। आहाहा! दो बोल हुए। दो बोल कौन से? '**कारकाणि**' और '**धर्माः**' '**कारकाणि**' (अर्थात्) कारक, और धर्म। अब तीसरा एक बोल रहा।

'**गुणाः**' धर्म से गुण अलग जाति की है। उसमें भेद है न? अब यह **ज्ञानगुण, दर्शनगुण, सुखगुण इत्यादि अनन्त गुणरूप भेदबुद्धि...** आहाहा! एकरूप चैतन्य द्रव्य -स्वभाव में अनन्त गुण हैं। वह गुणी है, उसमें ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुण हैं, वह भी वचन का व्यवहार और विकल्प है। आहाहा! वह भी अनुभव के काल में नहीं। ऐसी बात है।

कल एक व्यक्ति कहता था, तुम निश्चय को मानते हो न? कल संघ आया था न? मैंने कहा, हाँ। निश्चय हो तो फिर व्यवहार होता है, ऐसा। साधु-बाधु कोई है

नहीं। बापू! अभी तो सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं। अनेक प्रकार की विपरीत मान्यता कर रहा है। आहाहा! उसमें कहाँ सम्यग्दर्शन, कहाँ साधुपना, श्रावकपना कहाँ से आया वहाँ? कठिन काम तो है।

ज्ञानगुण आदि अनन्त गुण, भेदरूप '**भिद्यन्ते**' है न? '**धर्माः गुणाः भिद्यन्ते**' **ऐसे भेद वचन के द्वारा उपजाया हुआ उपजता है,...** ऐसे भेद वचन द्वारा, विकल्प द्वारा न कहकर, वचन द्वारा कहा। अन्दर मूल तो विकल्प है, अन्तरवचन, अभ्यन्तर वचन। यह ऐसा है और यह ऐसा है। यह आनन्द गुण है, ऐसा जो विकल्प है, उसे अभ्यन्तरजल्प कहा है। अभ्यन्तरजल्प! बाहर का जल्प बाह्य (कहलाता है)। समझ में आया? आहाहा! '**भिद्यन्तां**' **वचनमात्र भेद होओ; परन्तु...** '**चिति भावे**' **चैतन्यसत्ता में तो...** आहाहा! भगवान चैतन्य का अस्तित्व—सत्ता। ज्ञायकभाव का अस्तित्व, वस्तु स्वभाव से एकरूप अस्तित्व। उसमें '**काचन भिदा न**' '**काचन भिदा न**'—**कोई भेद नहीं है,...** आहाहा! यह उसकी विधि है। अनुभव की यह विधि है, सम्यग्दर्शन की यह विधि है। आहाहा! इसके बिना सब व्यर्थ है। व्रत, तप, भक्ति, पूजा और दान... यह सब संसार खाते है। राग, वह स्वयं संसार है। आहाहा!

'**काचन भिदा न**' है न? आहाहा! '**चिति भावे काचन भिदा न**' पूरे श्लोक में अन्तिम शब्द है न? जरा भी भेद नहीं, कुछ भी भेद नहीं। आहा! गुणी के गुण में भेद करना, वह भी कुछ नहीं। आहाहा! रागभाव तो नहीं, परन्तु षट्कारक की क्रिया के विकल्प भी जिसमें नहीं, जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का विकल्प नहीं, और जिसमें यह गुणभेद, गुणी के गुणभेद... ओहोहो! यह विकल्प भी जिसमें नहीं। '**काचन**' कुछ भी नहीं। आहाहा! एक श्लोक में तो बस है। अमृतचन्द्राचार्यदेव का कोई भी श्लोक अद्भुत बात! अद्भुत बात!! भावलिंग जिनका चिह्न है। अतीन्द्रिय स्वसंवेदन, उग्ररूप से वेदन, वह जिनका—मुनि का भावलिंग है। द्रव्यलिंग तो विकल्प और नग्नपना, वह कुछ नहीं। आहाहा! जिसका अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुररूप से—उग्रपने वेदन (होना), वह मुनि का भावलिंग है। वह भावलिंगी मुनि ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसे भावलिंग न हो और अकेला द्रव्यलिंग हो, उसकी तो बात है ही

नहीं। ऐसे भावलिंगी सन्त अनुभव का प्रकार वर्णन करते हुए, भेदता का निषेध करके अकेला निर्विकल्प अनुभव है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

परन्तु... 'चिति भावे काचन भिदा न' अर्थात? वह तो **निर्विकल्पमात्र चैतन्य वस्तु का सत्त्व है।** आहाहा! ऐसे तो **'काचन भिदा न'** नकार किया है, कुछ भी भेद नहीं। (तो) है क्या तब? ऐसा। ऐसा कुछ नहीं तब है क्या यह? **निर्विकल्पमात्र चैतन्य वस्तु का सत्त्व है।** आत्मा का अकेला चैतन्य सत्त्व, ज्ञायक सत्त्व एकरूप सत्त्व वह है। वह अनुभव में यह है। समझ में आया? आहाहा!

'काचन भिदा न' निर्विकल्पमात्र चैतन्य वस्तु का सत्त्व है। कैसा है चैतन्यभाव? निर्विकल्पमात्र चैतन्य वस्तु का सत्त्व जो है, वह है कैसा? आहाहा! निर्विकल्पमात्र चैतन्य वस्तु का सत्त्व है वह है कैसा? कैसा है? **'विभौ'** विशेषण। वि—विशेषण से भू। उस चैतन्य में ही अकेला व्यापक है। विशेष से भू, विभू, विशेष से भू—भवति। वह अपने स्वरूप में ही व्यापक है। आहाहा! वे विभू कहते हैं न? सर्वव्यापक। आत्मा सर्वव्यापक है और अमुक, पूंछड़ा... यहाँ यह लिया है। विभू। अपने विशेषों—गुणों में वह भवति अर्थात् चैतन्यस्वरूपमात्र है। अपने विशेष में भू, विशेषणोंवाला भवति, गुण का अकेला पुंज प्रभु है वह तो! आहाहा! विभू का यह अर्थ है। वे सर्वव्यापक एक आत्मा को विभू कहते हैं। सब होकर एक है। विशेष भू। ऐसा नहीं है। इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कि, ऐसा जब तुम (आत्मा कहते हो), कारक के भेद नहीं, गुण के भेद नहीं, धर्म के भेद नहीं, तब एक ही वस्तु सर्वव्यापक रही। (तो कहते हैं) ऐसा नहीं है। सर्वव्यापक एक, ऐसा नहीं है। अपने में विभू है। अपने में अन्दर वि—विशेष गुण हैं, उसमें भू—भवति अर्थात् उसमें रहा हुआ है। आहाहा! समझ में आया? घण्टे भर की ऐसी बातें! एक-एक घण्टा सूक्ष्म! यह भक्ति करना, पूजा करना, यात्रा निकालना, मन्दिर बनाना सब सीधा-सट्ट था, लो! कौन बनावे? बापू!

कल एक व्यक्ति कहता था, यह सब ऐसा ठाठ यहाँ जम गया है। किया तब हुआ न? बापू! यह बातें सूक्ष्म है, भाई! ऐसे बड़े मकान और... आहाहा! यह तो होने के काल में इनकी पर्यायें होती हैं, कोई इन्हें करता नहीं, भाई! यहाँ तो राग का कर्ता

नहीं, वह तो भेद का कर्ता नहीं न! आहाहा! पर्याय का कर्ता कहना, वह उपचार है। द्रव्य कर्ता और पर्याय कर्म, यह भी उपचार है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। उसे ऐसी जिन्दगी में सुनने को मिली न हो। ...यह तो दया पालो और व्रत पाले और अपवास करो... वर्षीतप करे तो हो गया। पाँच-दस हजार खर्च करे तो हो गया धर्म! धूल में भी धर्म नहीं।

मुमुक्षु : अपवास करे कोई और खर्च करे कोई, उसमें धर्म कहाँ आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये खर्च करते हैं न? मंगलभाई की बहू ने वर्षीतप किया था। मंगलभाई जैसंग उजमशी। ७५ हजार खर्च किये थे। पालीताणा स्पेशल निकाली थी। ऐसा दिखाव कैसा सब! हो...हा... हो...हा... लगे। धूल में भी नहीं, यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही! तेरी चीज़ तो वि—किस गुण में व्यापकरूप से है, तेरे स्वरूप में व्यापकरूप से है, बाहर राग में भी नहीं, ऐसी और पर्याय में भी नहीं ऐसी। आहाहा! उसका निर्णय करनेवाली पर्याय है। पर्याय में वह वस्तु आयी नहीं और पर्याय वस्तु में गयी नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो अभेद का अनुभव, वह पर्याय है, तो पर्याय में वह चीज़ आयी नहीं। चीज़ सम्बन्धी का जितना सामर्थ्य है, उतना सब उसका ज्ञान आया, परन्तु वह वस्तु आयी नहीं। वस्तु वस्तु में रही है। आहाहा! ऐसे भेद को भी निकालकर अकेली अभेद चीज़ (बतायी है)। समझ में आया?

'विभौ' अपने स्वरूप को व्यापनशील है। देखा? अपना स्वरूप। विशेष—भू कहा न? अपने स्वरूप में विशेष, अर्थात् अपना खास स्वरूप। उसके स्वरूप में भू अर्थात् व्यापनशील है। आहाहा! **और कैसा है अनुभव? सर्व कर्म की उपाधि से रहित है।** राग के विकल्पमात्र से अकेला निर्विकल्प आनन्द का अनुभव! आहाहा! वेदान्ती तो ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा और आत्मा का अनुभव, दो? यह है दो, परन्तु अनुभव और यह दो, दृष्टि ऐसे एक है। अनुभव की दृष्टि में वस्तु एक है। समझ में आया? परन्तु अनुभव वस्तु है, एक से भिन्न। आहाहा! ऐसी चीज़ **'विशुद्धे' सर्व कर्म की उपाधि से रहित है।** ऐसा अनुभव है। यह एक श्लोक में अनुभव की व्याख्या की। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १८३

(शार्दूलविक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्।।४-१८३।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु' [तेन] तिस कारण से, [चित्] चेतनामात्र सत्ता [नियतं] अवश्य कर [दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु] दर्शन-ऐसा नाम, ज्ञान-ऐसा नाम, दो नाम-संज्ञा के द्वारा उपदिष्ट होओ। भावार्थ इस प्रकार है कि एक सत्त्वरूप चेतना, उसके नाम दो — एक तो दर्शन, ऐसा नाम; दूसरा ज्ञान, ऐसा नाम। ऐसा भेद होता है तो होओ; विरुद्ध तो कुछ नहीं है, ऐसे अर्थ को दृढ़ करते हैं — 'चेत् जगति चेतना अद्वैता अपि तत् दृग्ज्ञप्तियपं त्यजेत्। सा अस्तित्वं एव त्यजेत्' [चेत्] जो ऐसा है कि [जगति] त्रैलोक्यवर्ती जीवों में प्रगट है, [चेतना] स्वपरग्राहक शक्ति; कैसी है? [अद्वैता अपि] एक प्रकाशरूप है, तथापि [दृग्ज्ञप्तियपं त्यजेत्] दर्शनरूप चेतना, ज्ञानरूप चेतना-ऐसे दो नामों को छोड़े, तो उसमें तीन दोष उत्पन्न होते हैं। प्रथम दोष — 'सा अस्तित्वं एव त्यजेत्' [सा] वह चेतना, [अस्तित्वं एव त्यजेत्] अपने सत्त्व को अवश्य छोड़े। भावार्थ इस प्रकार है कि चेतना, सत्त्व नहीं है-ऐसा भाव प्राप्त होगा। किस कारण से? 'सामान्यविशेषरूपविरहात्' [सामान्य] सत्तामात्र, [विशेष] पर्यायरूप, उनके [विरहात्] रहितपना के कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार समस्त जीवादि वस्तु, सत्त्वरूप है, वही सत्त्व, पर्यायरूप है; उसी प्रकार चेतना अनादिनिधन सत्तास्वरूप वस्तुमात्र निर्विकल्प है, इस कारण चेतना का दर्शन-ऐसा नाम कहा जाता है; कारण कि समस्त ज्ञेयवस्तु को ग्रहण करती है, जिस-तिस ज्ञेयाकाररूप परिणमती है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन, चेतना की पर्याय है, तिसरूप परिणमती है; इसलिए चेतना का ज्ञान-ऐसा नाम है। ऐसी दो अवस्थाओं को छोड़ दे तो चेतना, वस्तु नहीं है-ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो जाये। यहाँ कोई आशंका करेगा कि चेतना नहीं तो नहीं रहो, जीवद्रव्य तो विद्यमान है? उत्तर इस प्रकार है कि चेतनामात्र के द्वारा, जीवद्रव्य साधा है। इस

कारण उस चेतना के सिद्ध हुए बिना, जीवद्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा; अथवा जो सिद्ध होगा तो वह पुद्गलद्रव्य के समान अचेतन सिद्ध होगा; चेतन नहीं सिद्ध होगा। इसी अर्थ को कहते हैं; दूसरा दोष ऐसा — 'तत्त्यागे चितः अपि जडता भवति' [तत्त्यागे] चेतना का अभाव होनेपर, [चितः अपि] जीवद्रव्य को भी [जडता भवति] पुद्गलद्रव्य के समान, जीवद्रव्य भी अचेतन है–ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है। 'च' तीसरा दोष ऐसा कि 'व्यापकात् विना व्याप्यः आत्मा अन्तं उपैति' [व्यापकात् विना] चेतनगुण का अभाव होनेपर, [व्याप्यः आत्मा] चेतनागुणमात्र है जो जीवद्रव्य, वह [अन्तं उपैति] मूल से जीवद्रव्य नहीं है–ऐसी प्रतीति भी उत्पन्न होती है। ऐसे तीन दोष, मोटे दोष हैं। ऐसे दोषों से जो कोई भय करता है, उसे ऐसा मानना चाहिए कि चेतना, दर्शन–ज्ञान — ऐसे दो नाम–संज्ञा विराजमान है। ऐसा अनुभव, सम्यक्त्व है।।४–१८३।।

पौषा शुक्ल ४, गुरुवार, दिनांक-१२-०१-१९७८, कलश-१८३, प्रवचन-२००

१८२ (कलश में) ऐसा आया कि आत्मा अभेदस्वरूप है। उसमें कर्ता-कर्म-करण कारकों के भेद भी उसमें नहीं। तथा उसमें धर्म के भेद नहीं। अस्तित्व आदि धर्म हैं, ऐसे भेद भी उसमें नहीं तथा गुण के भेद उसमें नहीं। गुणी आत्मा और गुण यह, ऐसे भेद नहीं। धर्म में यह लिया—उत्पाद-व्यय-ध्रुव और द्रव्य-गुण-पर्याय। वह भी जिसमें नहीं। तब कोई ऐसा कहे कि एक ही है तो चेतना भी एक ही रूप होनी चाहिए। समझ में आया इसमें?

जब आत्मा (में) कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान (आदि) कारकों के भेद नहीं; धर्म के—उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद नहीं; गुण के—ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि के भेद नहीं तो आत्मा में एक अद्वैत चेतना एक ही होनी चाहिए। क्या कहा, समझ में आया? इसका यहाँ निषेध करते हैं कि चेतना अद्वैत एक ही नहीं है। चेतना दो प्रकार से है। दूसरे सब निषेध किये। समझ में आया? विषय जरा सूक्ष्म है। १८२ (कलश में) तो सब निकाल दिया न?

कारक, धर्म और गुण इसमें है नहीं। यह तो एकरूप चैतन्यस्वरूप अभेद निर्विकल्प

वस्तुमात्र है और वही सम्यग्दर्शन का विषय है। तब कोई ऐसा कहे कि यह सब भेद निकाल दिये हैं तो फिर आत्मा में जो चेतना है, वह भी एक ही रूप होनी चाहिए। उसके सामान्य और विशेष दो रूप नहीं होना चाहिए। समझ में आया? यह कहते हैं, देखो! १८३ (कलश)।

'अद्वैतापि हि चेतना' चेतना है तो अद्वैत एक, परन्तु उसके रूप दो हैं। शशीभाई! यह वेदान्त कहता है न कि, ब्रह्म एक है। वैसे तुमने भी ऐसा कहा, कारक नहीं, गुण नहीं, भेद नहीं, तो आत्मा ब्रह्मस्वरूप एकरूप रहा, तो उसका चेतना नाम का जो गुण है, वह भी एक ही रूप रहा। तो कहते हैं, नहीं, ऐसा नहीं है। चेतना दो प्रकार की है—सामान्य और विशेष। प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष है। तो आत्मा, उसकी चेतना। आत्मा चेतन, उसकी चेतना एकरूप है, ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें कुछ?

आत्मा—चेतन, उसकी चेतना एक ही रूप है, ऐसा नहीं है। दूसरे सब भेद निकाल डाले, परन्तु चेतन की चेतना एक ही रूप है, ऐसा नहीं है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। चेतना दो प्रकार से है—सामान्य और विशेष। इन दो भेद का निषेध नहीं होता। इन दो भेद का निषेध होने पर चैतन्य का निषेध हो जाता है। समझ में आया? १८२ में निकाल तो बहुत डाला। तो फिर यह भी निकाल डालो कि, आत्मा चेतन एक रूप है। उसके दर्शन और ज्ञान, सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद भी नहीं हैं। (परन्तु) ऐसा नहीं है। अनेकान्त किया। वहाँ दो भेद है। कारकों के, धर्म के और गुण के भेदों का निषेध किया परन्तु आत्मा में चेतना जो उसका गुण है, वह एक ही रूप है, ऐसा नहीं है। वह चेतना अद्वैत होने पर भी उसके रूप दो हैं। सामान्य और विशेष। है? देखो!

'तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु' तिस कारण से चेतनामात्र सत्ता अवश्य कर दर्शन ऐसा नाम, ज्ञान ऐसा नाम, दो नाम—संज्ञा द्वारा उपदिष्ट होओ। दूसरा सब निकाल दिया, परन्तु यह चेतना दो प्रकार से है, यह तो बराबर है। समझ में आया इसमें? यह तो सूक्ष्म बात है, भाई! आत्मा वस्तु है, वह एकरूप है, परन्तु उसकी चेतना का भी एक ही रूप है, ऐसा नहीं है। चेतना के दो रूप हैं—सामान्य और विशेष। ऐसा सूक्ष्म कहा।

अवश्य... जरूर। **दर्शन ऐसा नाम, ज्ञान ऐसा नाम, दो नाम—संज्ञा द्वारा उपदिष्ट होओ।** उपदिष्ट हो अर्थात् ज्ञात होते हैं। अन्दर दो गुण है। चेतना सामान्य और विशेष है। सत्तारूप से सामान्य और पर्याय विशेषरूप से विशेष—ऐसे चेतना के दो भेद हैं। अरे..! ऐसी बातें सूक्ष्म बहुत! दया पालने की बात तो कहीं रह गयी, व्रत और भक्ति के परिणाम भी कहीं रह गये। एक वस्तु में छह कारक भी कहीं भिन्न रह गये, उत्पाद-व्यय और ध्रुव तथा द्रव्य-गुण और पर्याय, ऐसे भेद भी कहीं रह गये; गुण-गुणी के भेद—ज्ञान, दर्शन और आनन्द ऐसे गुण और भगवान आत्मा गुणी, ऐसे भेद भी कहीं रह गये। आहाहा! तो यह सब निकाल डालने पर चेतना के भी दो भेद निकाल डालो, तो ऐसा नहीं होता, भाई! समझ में आया इसमें? आहाहा!

आत्मा एक सत्ता है, परन्तु उसकी चेतना के दो भाव—सामान्य और विशेष। दर्शन और ज्ञान। सत्ता और विशेष। दर्शन, वह पूरी सत्ता को स्वीकार करता है। ज्ञान, वह विशेष प्रकार और पर्याय को स्वीकार करता है। आहाहा! ऐसा धर्म का उपदेश! भेद है, प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष है। वस्तु में से कारक आदि के भेद निकाल दिये, इससे एक ही वस्तु है, ऐसा नहीं है। उसमें चेतना जो उसका स्वभाव है, वह सामान्यरूप से, सत्तारूप से एक है, पर्यायरूप से विशेष है। चेतना के दो प्रकार हैं। ऐसी बातें कहाँ (ले गये)?

क्यों? (क्योंकि) इस वस्तु का निर्णय करने जाता है, वह विशेष है और अन्दर वस्तु है, वह चेतना सामान्य है। और वस्तु है। वेदान्त के सामने यह बात है। एक ही ब्रह्म मानकर यह सब निकाल दिया, इसलिए ब्रह्म एक ही है, ऐसा न जानो। आहाहा! प्रत्येक चीज़ में दो प्रकार है। सत्तारूप से सामान्य, पर्यायरूप से विशेष। वैसे ही आत्मा में चेतना सत्तारूप से सामान्य अस्तित्व, पर्यायरूप से विशेष है। क्योंकि विशेष है, वह सामान्य का निर्णय करता है। यदि विशेष और सामान्य दो निकाल दो तो चेतनवस्तु ही नहीं रहती, आत्मा ही नहीं रहता। आहाहा! शशीभाई! तुम्हारे सामने यह सब बात है। वेदान्त के सामने (बात है)। आहाहा!

ज्ञान, ऐसा नाम और दर्शन, ऐसा नाम—दो वाचक है या नहीं? तो वहाँ वाच्य दो

है। दर्शन और ज्ञान ऐसे चेतना के दो प्रकार हैं। सब प्रकार से अद्वैत कर डालने से चेतना के भी अद्वैत कर डालोगे तो वस्तु नहीं रहेगी। समझ में आया? यह तो मोक्ष का अधिकार है न? (इसलिए) एकदम सत्त्व को एकरूप सिद्ध करके वापस चेतना को दो रूप सिद्ध करना है। और दो रूप न हो तो निर्णय कौन करे? जाने कौन? विशेष बिना जानना और निर्णय करने का कौन? इसलिए पर्याय चेतना की विशेष दशा भी है और चेतना की सामान्य दशा भी है। आहाहा! सूक्ष्म तो है, परन्तु अब आया हो, वह तो (लेना तो पड़े न)? समझ में आया?

भावार्थ इस प्रकार है कि एक सत्त्वरूप चेतना,... देखा? एक सत्त्वरूप चेतना। चेतन, वह सत् और चेतना उसका सत्त्व। आत्मा, वह सत्; चेतना, उसका सत्त्व। सत् का सत्त्व। सत् एकरूप, परन्तु सत्त्व में जो चेतना है, उसका एक ही रूप है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **सत्त्वरूप चेतना, उसके नाम दो—एक तो दर्शन ऐसा नाम, दूसरा ज्ञान ऐसा नाम। ऐसा भेद होता है...** ऐसे भेद होते हैं **तो होओ...** भेद है, वह **विरुद्ध तो कुछ नहीं है...** दो भेद पड़े, इसलिए विरुद्ध है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मूल तो यह सिद्ध करना है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है या आत्मा है, उसका निर्णय और जानने की जो पर्याय है या ध्रुव गुण है? उसे जाननेवाली पर्याय है या गुण है? यदि पर्याय है तो विशेष हो गया। गुण है, वह सामान्य हो गया। समझ में आया? है जरा (सूक्ष्म)। आहाहा!

यह आत्मा है, वह एकरूप है। कारक आदि के भेदरहित है, परन्तु ऐसा है वह निर्णय जाने कौन? यह जाने वह विशेष है। वह विशेषपना निकाल डालो और अकेला सामान्यपना रखो तो वस्तु ही नहीं रहेगी, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो जरा सूक्ष्म है। आहाहा! एक-एक श्लोक तो अलौकिक है!

ऐसा भेद होता है तो होओ... वे भेद निकाल डाले, इसलिए यह भेद नहीं होओ, ऐसा नहीं है। वह भेद हो तो हो। आहाहा! **विरुद्ध तो कुछ नहीं है...** वे भेद निकाल दिये, साथ में यह दो भेद निकाल डालो तो विरुद्ध है। दो भेद में विरुद्ध नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें हैं।

एक ब्रह्म है, एक ही रूप है, यह जाना किसने ? विशेष बिना यह जाना किसने ? विशेष ने जाना, इसलिए विशेष और सामान्य दो है। चेतना दर्शनरूप से सामान्य है और उसे जानने की पर्याय विशेषरूप, (ऐसा) दो है। आहाहा! एकेन्द्रिया, दो इन्द्रिया और व्रत, अपवास करे... बापू! वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि उसमें आत्मा अभेदरूप से होने पर भी, उसका चेतना सत्त्व जो स्वभाव (है, उसमें से) ज्ञान, दर्शन आदि गुणों का भेद निकाल दिया, परन्तु उसकी चेतना में से सामान्य और विशेष निकाल डालोगे तो वस्तु ही नहीं रहेगी। वस्तु का जाननेवाला नहीं रहे और ज्ञात हो, ऐसा वह नहीं रहे। समझ में आया ?

जाननेवाला, वह विशेष है और ज्ञात होता है, वह सामान्य है। सत्ता है, (वह) सामान्य है, परन्तु है, उसे जानने की दशा विशेष है। आहाहा!

मुमुक्षु : अकेला सामान्य हो तो जाननेवाला सामान्य-विशेष दोनों आवे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान जाने सबको, परन्तु ज्ञान है विशेष। जानने की कहाँ बात है ? जानता तो स्वयं को जानता है, पर को जानता है, परन्तु वह (स्वयं) विशेष है। दर्शन है, वह विशेष नहीं, दर्शन सामान्य है। अकेला सत्तारूप से है इतना। वह दर्शन इसे जाने और इसे जाने, ऐसा कहाँ है उसमें ? दर्शन तो है, बस! सामान्य। वह सामान्य है, उसका जाननेवाला कौन ? विशेष बिना ज्ञात किसमें हो ? तुम एक ही कह दो कि अद्वैत है, ब्रह्म है, आत्मा भी चेतना एक ही रूप है। परन्तु एकरूप है, ऐसा जाना किसने ? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात डाली है। समझ में आया ?

ऐसे अर्थ को दृढ़ करते हैं... देखा ? **विरुद्ध तो कुछ नहीं है...** दोपने को दृढ़ करता है। चेतना के दो प्रकार को दृढ़ करते हैं। आहाहा! **'चेत् जगति चेतना अद्वैता अपि तत् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्। सा अस्तित्वं एव त्यजेत्' जो ऐसा है कि त्रैलोक्यवर्ती जीवों में प्रगट है स्व-परग्राहक शक्ति;...** स्व-परप्रकाशक शक्ति अर्थात् चेतना। स्व-परप्रकाशक शक्ति अर्थात् चेतना।

कैसी है ? 'अद्वैता अपि' एक प्रकाशरूप है,... उसका स्वभाव प्रकाशरूप है। **तथापि दर्शनरूप चेतना, ज्ञानरूप चेतना, ऐसे दो नामों को छोड़े, तो उसमें तीन दोष**

उत्पन्न होते हैं। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, यह तो भाई! बहुत मस्तिष्क धीर करना है। समझ में आया? कोई ऐसा कहे कि हम तो एकरूप हैं, सब एकरूप है और मैं भी एकरूप हूँ, ऐसा कोई कहे। एकरूप है, वह एकरूप सामान्य में ज्ञात हुआ या विशेष में ज्ञात हुआ? बाबूभाई! सूक्ष्म बातें हैं, यहाँ तो आ गया है। आहाहा! मैंने आत्मा जाना। ऐसा कहनेवाला कहता है कि जाना, वह दशा विशेष है या सामान्य है? यदि विशेष न हो तो जानना, वह दशा ही विशेष रहती नहीं, सामान्य हो जाये। सामान्य में जानना, ऐसा भेद तो रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

दर्शनरूप चेतना, ज्ञानरूप चेतना ऐसे दो नामों को छोड़े,... चेतन, ऐसा जो आत्मा, उसका सत्त्व जो चेतना, वह चेतना यदि दो रूप को छोड़े। आत्मा, उसकी चेतना उसका सत्त्व, इन दो रूप को छोड़े तो तीन दोष उपजते हैं। है न?

प्रथम दोष—'सा अस्तित्वं एव त्यजेत्' वह चेतना 'अस्तित्वं एव त्यजेत्' अपने सत्त्व को अवश्य छोड़े। कारण कि दोपना न हो तो 'है', उसका निर्णय करनेवाली पर्याय नहीं तो 'है' वह भी नहीं रहता। 'है' (वह) किसमें ज्ञात होता है? 'है' किसमें ज्ञात हुआ? यदि जानने की विशेष दशा न हो तो 'है' वह रहता नहीं। वस्तु त्रिकाल है, इसमें यदि विशेषपना न हो तो विशेष बिना 'है' यह भी आया नहीं। 'है' वह रहता नहीं।

अपने सत्त्व को अवश्य छोड़े। 'सा अस्तित्वं एव त्यजेत्' अर्थात्? सामान्य और विशेष, ऐसे चेतना के दो प्रकार न हो तो विशेष, वह जाननेवाला है और सामान्य उसमें ज्ञात होता है। दो प्रकार न हो तो वस्तु ही नहीं रहती। जाननेवाला रहता नहीं, तो वह जाननेवाला जो सामान्य सत्ता है, उसे जाननेवाला रहता नहीं। 'है' उसे निश्चित किसने किया? समझ में आया? आहाहा!

सामान्य एकरूप यदि कहलाओ तो विशेष बिना सामान्य है, ऐसा निर्णय किसने किया? सामान्य और विशेष दोनों नहीं रहते। वह चेतना ही रहती नहीं। आहाहा! यह तो लॉजिक से सब रखा है।

भावार्थ इस प्रकार है कि चेतना सत्त्व नहीं है, ऐसा भाव प्राप्त होगा। क्यों? कि विशेष और सामान्य—ऐसे दो प्रकार न आवे तो जाननेवाला विशेष पर्याय बिना चेतना

सत्त्व है, उसकी अस्ति का स्वीकार नहीं आया तो वे दोनों उड़ जाते हैं। है... लोग नहीं कहते ? कि आत्मा है। भाई का प्रश्न था त्रिभुवनभाई का, कि कारणपरमात्मा है न ? तो कार्य क्यों नहीं आता ? ऐसा प्रश्न था। आत्मा कारणपरमात्मा है तो कारण है तो कार्य आना चाहिए। परन्तु कारणपरमात्मा है, उसकी अस्ति किसने स्वीकार की ? स्वीकार किये बिना कारणपरमात्मा है, ऐसा आया कहाँ ? उसे है कहाँ ? क्या कहा, समझ में आया इसमें ?

कारणपरमात्मा है, वह सामान्य वस्तु (हुई), वह कारण। परन्तु कारणपरमात्मा वस्तु है, उसका पर्याय में अस्तित्व स्वीकार किये बिना 'है' ऐसा उसे कहाँ आया ? भाई! इसका नाम प्रश्न था। आहाहा! कारणजीव त्रिकाल है, कारणपरमात्मा त्रिकाल है। ध्रुव त्रिकाल है, ध्रुव, परन्तु वह ध्रुव है, उसका स्वीकार हुए बिना 'है' उसे कहाँ आया ? समझ में आया ? उसकी स्वीकृति पर्याय में आवे तो उसके लिये कारणपरमात्मा है, तो उसे कार्य आये बिना रहता नहीं। सम्यग्दर्शन का कार्य हुए बिना रहता ही नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

इसी प्रकार यहाँ चेतना है, ऐसा कहना और उसके दो रूप—सामान्य और विशेष न लेना तो विशेष बिना सामान्य की श्रद्धा भी नहीं रही। इसलिए सामान्य और विशेष दोनों रहे नहीं। चेतना ही रही नहीं। आहाहा! समझ में आया ? उस... तस्सूतरि में पड़े हों, उन्हें यह बात ऐसी लगेगी कि क्या है परन्तु यह ? किसके घर की बात है यह ? जैन की बात होगी यह ? जैन के घर की (होगी) ? बापू! जैनपना सूक्ष्म बात है, भाई! जैन में ही शब्द उठता है।

यह कहा था न ? 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो, मतवाला समझे न' 'घट घट अन्तर जिन बसे' परन्तु वह जिन है, ऐसा जाना किसने ? वह जाननेवाला जैन है। समझ में आया ? जैन कोई पक्ष नहीं। 'घट घट अन्तर जिन बसे' जिन बसे—वीतरागमूर्ति प्रभु अनाकुल आनन्द का कन्द नाथ ईश्वर स्वरूप प्रभु, परन्तु स्वीकार किसने किया ? है, ऐसा जाना किसने ? है, वह सामान्य जानता है ? समझ में आया ? आहाहा! वह है, ऐसा जिसने राग की एकता तोड़कर स्वभाव की

(एकता) की, वह पर्याय हो गयी। वह जैनपना हुआ। वह जैन है। जैन कोई वाड़ा नहीं, वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया इसमें? आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन' बाहर के लिबास और क्रियाकाण्ड, वह कहीं जैनपना नहीं है। उस जिनस्वरूप वीतरागमूर्ति का वीतरागपर्याय में स्वीकार हुआ, तब वह जिन है, ऐसा जैनपना पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार यह चेतना है, यह आत्मा है। चेतना है, वह आत्मा है—ऐसी सामान्य चेतना है, वह आतमा है, ऐसा हुआ, परन्तु वह सामान्य चेतना आत्मा है, यह निर्णय किसने किया? आहाहा! यहाँ पर्यायविशेष सिद्ध करनी है। अत्यन्त अद्वैत नहीं परन्तु द्वैत है। चेतना द्वैत है। आहाहा! समझ में आया?

राग और भेद से दूर हटने पर जो पर्याय में जिनपना भासित हुआ अर्थात् वीतरागस्वरूप चेतना है, ऐसा भासित हुआ। वह भास हो गया, वह विशेष हो गया और जो सामान्य-विशेष न मानो तो विशेष सामान्य का निर्णय करता है, वह निर्णय रहता नहीं, सामान्य रहता (नहीं), विशेष रहता नहीं। कितनी बात लॉजिक से की है! आहाहा!

भेद से हटकर, राग से हटकर यह आत्मा जिन है, या आत्मा चेतना स्वरूप ज्ञानमात्र है, ऐसा उसके अस्तित्व का, 'है' सत्ता का निर्णय किया। 'है' ऐसा जो ज्ञान हुआ (तो) हो गये दो प्रकार। सामान्य और विशेष हो गये। कहो, शशीभाई!

मुमुक्षु : श्रद्धा स्वीकार करे तो दर्शन में क्या लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : 'है' यह सत्ता दर्शन है। 'है' सामान्य है, वह दर्शन है और जाननेवाला है, वह ज्ञानपर्याय है। पर्याय विशेष न हो तो सामान्य भी रहता नहीं और सामान्य न हो तो अकेली पर्याय जाने किसे? आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो यहाँ सिद्ध होता है।

सामान्य अर्थात् एकरूपता। परन्तु एकरूपता का निर्णय किसने किया? एकरूपता ने? आहाहा! ऊपर १८२ (कलश में भेद) निकालकर फिर यह बात की है न? ऐसा

आत्मा है कि जिसमें कर्ता, कर्म, करण ऐसे (भेद नहीं हैं)। द्रव्य कर्ता और पर्याय कार्य, ऐसा यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो पर्याय ही कर्ता, कर्म के छह बोल हैं। कर्ता द्रव्य और पर्याय कर्म—कार्य, ऐसा भी नहीं लेना। आहाहा! क्योंकि द्रव्य तो ध्रुव है। ध्रुव में कर्तापन का अंश नहीं होता। भाई! आहाहा! कारक है न? कारक है न? करने की पर्यायरूपी कार्य है, तो कर्तापना द्रव्य को लागू नहीं पड़ता। आहाहा!

पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, यह तो वहाँ बात हो गयी थी न? वहाँ वर्णीजी के पास (पंचास्तिकायसंग्रह की) ६२ गाथा। विकार जो है, वह भी पर्याय के षट्कारक (से) है। द्रव्य को कुछ लागू नहीं पड़ता, द्रव्य-गुण को (लागू नहीं पड़ता)। विकार है, वह विकार की पर्याय का कर्ता विकार, विकार उसका कर्म, विकार उसका साधन, विकार उसने रखा, विकार से विकार हुआ, विकार के आधार से विकार हुआ। यह एक समय की पर्याय के षट्कारक हैं। ये कारक द्रव्य-गुण को लागू नहीं पड़ते और इन कारक को परकारक की अपेक्षा नहीं। समझ में आया? आहाहा! वर्णीजी के साथ यह बात हुई। वे लोग कहे, यह तो अभिन्न की बात है। परन्तु अभिन्न का अर्थ क्या? पर की अपेक्षा नहीं और पर्याय स्वतन्त्र षट्कारकरूप से विकार परिणमता है, तो फिर निर्विकारी परिणति की तो बात क्या करना?

निर्विकारी परिणति में पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय साधन, पर्याय सम्प्रदान—स्वयं ने रखी, स्वयं लेनेवाला और स्वयं देनेवाला, स्वयं अपादान—स्वयं से हुआ और स्वयं के आधार से (हुआ)।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि ऐसा विशेषपना यदि न हो... आहाहा! तो यह सामान्य है, (ऐसा जाना किसने)? चेतना का सामान्यपना चेतना के विशेष में भले न आवे, परन्तु उसके विशेष बिना चेतना का निर्णय जाना किसने? एकान्तवाद जो ब्रह्म है, उसे यहाँ तोड़ डालते हैं। अद्वैत है, (ऐसा) तू कहता है। (तो) पहले द्वैत माना था? उसने अद्वैत माना वह चीज़ क्या है? द्वैत माने, वह भ्रम है और अद्वैत मानना, वह ठीक है। तो द्वैत को छोड़कर अद्वैत को माना किसने? गुण ने? त्रिकाली शक्ति ने या अवस्था ने? आहाहा! वह यहाँ सिद्ध करते हैं। दूसरे प्रकार से सिद्ध करते हैं। आहाहा! समझ में

आया? सूक्ष्म पड़े, परन्तु समझनेयोग्य है। ऐसे निकाल नहीं देना कि यह सूक्ष्म... सूक्ष्म... है।

मुमुक्षु : ध्यान रखे तो बराबर समझ में आये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आये ऐसा है। भाषा तो सादी आती है। भाषा सादी आती है, भाषा के कारण (आती है)। आहाहा!

तीन दोष उत्पन्न होते हैं। प्रथम दोष—'सा अस्तित्वं एवं त्यजेत्' वह चेतना... दो प्रकार न हो तो अपने **सत्त्व को अवश्य छोड़े। भावार्थ इस प्रकार है कि चेतना सत्त्व नहीं है, ऐसा भाव प्राप्त होगा।** क्योंकि चेतना विशेष पर्याय बिना चेतना की सत्ता की ध्रुवता की स्वीकृति तो आयी नहीं। इसलिए सत्ता का तो नाश हो जाये, चेतना का नाश हो जाये। समझ में आया? आगे तो कहेंगे, चेतना वह व्यापक है, आत्मा व्याप्य है। यहाँ दूसरी भाषा है। क्या कहा यह? आत्मा व्यापक है और चेतना व्याप्य है, ऐसा नहीं। यहाँ तो चेतना को सिद्ध करना है, इसलिए चेतना व्यापक है और उसमें आत्मा व्याप्य है। वरना व्यापक होता है द्रव्य में और व्याप्य होता है पर्याय में। परन्तु यहाँ सिद्ध करनी है चेतना को। आहाहा! इसलिए शाश्वत् रहनेवाली चेतना आत्मा में व्यापक है और आत्मा उसका व्याप्य है। आहाहा! लो! जयन्तीभाई आये हैं, आज तो रविवार नहीं। हसमुखभाई आये हैं? ठीक! आज बात अच्छी आयी है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त है परन्तु है मूल चीज़ की अस्तित्व की! आहाहा! भाषा जरा कठिन है।

चेतना सत्त्व नहीं है, ऐसा भाव प्राप्त होगा। बराबर है? यदि उसमें सामान्य और विशेष दो प्रकार न हो तो विशेषपने बिना (यह) सामान्य है, ऐसा निर्णय रहा नहीं। तो सामान्य भी रहा नहीं और विशेष भी रहा नहीं। वह चेतना ही रही नहीं। आहाहा! तो चेतना व्यापक रही नहीं तो फिर आत्मा व्याप्य ही रहा नहीं। क्योंकि चेतना ऐसे त्रिकाली व्यापक है, उसमें व्याप्य आत्मा है। इसलिए वह न रहे तो यह भी न रहे। आत्मा उड़ जाता है। आहाहा! आचार्यों ने भी काम किया है न! जंगल में बसकर... आहाहा! निर्विकल्प स्वसंवेदन आनन्द, प्रचुर आनन्द के वेदन में खड़े हैं, उसमें यह विकल्प आया है और यह टीका हो गयी है। आहाहा! एक बात।

किस कारण से (नहीं) ? अब कहते हैं कि चेतना का सत्त्व ही नहीं, ऐसा हो जाये। क्यों नहीं ? क्या कहा ? कि सामान्य और विशेष दो न हो तो चेतना का सत्त्व ही सिद्ध नहीं होता। क्योंकि चेतना पर्याय में ज्ञात होती है। तो पर्याय नहीं तो जाननेवाला जो ज्ञात हुआ, वह भी न रहा। **किस कारण से ?** अब कहते हैं, देखो!

'सामान्यविशेषरूपविरहात्' 'सामान्य' सत्तामात्र... वस्तु **और 'विशेष' पर्यायरूप,...** देखा ? आहाहा! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है न! समझाने की शैली का क्षयोपशम कितना है! अनुभव तो होता है, वह अलग, परन्तु बात को सिद्ध करने का क्षयोपशम (भी गजब है)! आहाहा! सामान्य और विशेष **पर्यायरूप, उनके रहितपना के कारण।** सत्ता रहती नहीं। सामान्य और विशेष का विरह रह जाता है। अर्थात् सत्ता है, उसे जाननेवाली पर्याय रहती नहीं। तो पर्याय रहती नहीं तो सत्ता है (ऐसा) तो उसने जाना है, तो वह पर्याय नहीं और सत्ता है, वह दोनों रहते नहीं। समझ में आया ?

आहाहा! **'सामान्य' सत्तामात्र और 'विशेष' पर्यायरूप, उनके रहितपना के कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार समस्त जीवादि वस्तु सत्त्वरूप है,...** जैसे जीवादि वस्तु है, **वही सत्त्व पर्यायरूप है,...** प्रत्येक वस्तु है और वह उसकी पर्यायरूप है। तब उस पर्याय से वह वस्तु ज्ञात होती है न ? आहाहा! **उसी प्रकार चेतना अनादिनिधन सत्तास्वरूप...** आत्मा में चेतना है, चेतन आत्मा है। अब यहाँ तो चेतना की बात चलती है, हों! चेतन आत्मा नहीं। आत्मा में चेतना की बात चलती है। क्योंकि आत्मा को तो वहाँ व्याप्य कहेंगे और चेतना को व्यापक कहेंगे। इसलिए यह चेतना की व्याख्या चलती है। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार समस्त जीवादि वस्तु सत्त्वरूप है,... छह द्रव्य (सत्त्वरूप है) **वही सत्त्व पर्यायरूप है,...** वही सत्त्व पर्यायरूप है। पर्यायरूप न हो तो वह सामान्य है, ऐसा जाने कौन ? समझ में आया ? जब सामान्य और विशेष चैतन्य के हो गये तो दोनों में सामान्य-विशेष हो गये। वह भी एक कायम रहनेवाली चीज़ है और उसकी पलटती अवस्था है। इसलिए प्रत्येक में सामान्य और विशेष सिद्ध हो गया। भाई! आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ मेरा क्या कहना है कि इसमें चेतना की व्याख्या चलती है, उसमें **जीवादि वस्तु...** ऐसा कहा। **जीवादि वस्तु सत्त्वरूप है,...** क्योंकि छहों द्रव्य सत् कहे। ऐसा कहने पर उन्होंने छहों द्रव्यों को सिद्ध किया। छहों द्रव्यों में भी पलटती... पलटती अवस्थावाला द्रव्य है और कायम रहनेवाला है। वह यहाँ पलटती स्वयं पर्याय है और कायमवाली चेतना है, ऐसा ही दूसरे का स्वभाव है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : जगत सामान्य-विशेषात्मक और...

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्येक सामान्य और विशेष (स्वरूप है), क्योंकि प्रत्येक द्रव्य एकरूप नहीं रहता। जब चेतना एकरूप नहीं, तब पर्याय से तो सामान्य का निर्णय करता है। तब सामने चीज़ भी एकरूप नहीं दिखती। पर्याय में अन्तर है। पर्याय में अन्तर है, परन्तु वह पर्याय है, वह तो विशेष है, तो वह सामान्य का विशेष है। उसके द्वारा सामान्य का निर्णय किया जा सकता है। आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म अधिकार है, परन्तु ध्यान रखे तो समझ में आये, ऐसा है। ऐई... शान्तिभाई! कभी हीरा-माणेक में कहीं आया नहीं। यह वाडा में कहाँ आया है?

आहाहा! प्रभु तो ऐसा स्वीकार कराते हैं कि आत्मा तो है या नहीं? है, ठीक! अब उसका चेतना कोई स्वभाव है या नहीं? जड़ का स्वभाव चेतना नहीं, परन्तु उसका स्वभाव चेतना स्वभाव है या नहीं? तो यह चेतना अकेली सत्तामात्र है या उसमें विशेषता भी है? यदि विशेषपना न हो तो सत्तामात्र चेतना है, वह आत्मा की चेतना है, ऐसा निर्णय किसने किया? आहाहा! इसलिए पर्याय और सामान्य दो का निषेध होने से जीवादि छहों द्रव्यों का निषेध हो जाता है। छहों द्रव्यों की सिद्धि ऐसे नहीं होती। है न?

जिस प्रकार समस्त जीवादि वस्तु सत्त्वरूप है, वही सत्त्व पर्यायरूप है, उसी प्रकार चेतना अनादिनिधन..... आहाहा! देखा? अभी यहाँ आत्मा अनादिनिधन नहीं लेना। चेतना अनादिनिधन लेना है। आहाहा! **चेतना अनादिनिधन सत्तास्वरूप वस्तुमात्र निर्विकल्प है, इस प्रकार चेतना का दर्शन, ऐसा नाम कहा जाता है;...** त्रिकाल निर्विकल्परूप चेतना है... है... है... इसलिए उसे दर्शन कहा जाता है। आहाहा! है न? **कारण कि समस्त ज्ञेय वस्तु को ग्रहण करती है,...** दर्शन समस्त वस्तु को ज्ञेयरूप से ग्रहण करता है।

जिस तिस ज्ञेयाकाररूप परिणमती है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन चेतना की पर्याय है,... यह पर्याय का विषय छेड़ा है। जबकि दर्शन सबको देखता है, तब वह चेतना सब ज्ञेयाकाररूप से परिणमती है। यह परिणमती है, वह पर्याय... पर्याय हो गयी। आहाहा! समझ में आया? आज सब सूक्ष्म न्याय (आये)। आहाहा!

चेतना अनादिनिधन सत्तास्वरूप वस्तुमात्र निर्विकल्प है, इस प्रकार चेतना का दर्शन ऐसा नाम कहा जाता है;... कायम है इसलिए। **कारण कि समस्त ज्ञेय वस्तु को ग्रहण करती है, जिस तिस ज्ञेयाकाररूप परिणमती है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन चेतना की पर्याय है,...** यह ज्ञान है, यह पर्याय है। आहाहा! ज्ञान की पर्याय में जितने ज्ञेय हैं अथवा स्वयं भी ज्ञेय है न, स्वयं भी? उसके ज्ञेयाकाररूप से चेतना परिणमती है। ज्ञान की पर्याय सत्तारूप से चेतना कायम अनादि-अनन्त है, उसे यह पर्याय उसके ज्ञेयाकाररूप से परिणमती है और पर की जो पर्यायें हैं, उस रूप भी ज्ञान ज्ञेयाकाररूप से परिणमता है। यह पर्याय हुई। समझ में आया?

समस्त ज्ञेय वस्तु को ग्रहण करती है,... देखा? ग्रहण करे अर्थात् ज्ञान (करती है)। वह दर्शन था। **चेतना का दर्शन ऐसा नाम कहा जाता है; कारण कि समस्त ज्ञेय वस्तु को ग्रहण करती है, जिस तिस ज्ञेयाकाररूप परिणमती है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन चेतना की पर्याय है,...** यह पर्याय—अवस्था हुई, विशेष हो गया। ज्ञेयाकाररूप परिणमन विशेष में होता है। सामान्य (में) कहीं ज्ञेयाकाररूप परिणमन होता नहीं। आहाहा! गजब, एक-एक न्याय कठिन है!

ऐसा कहते हैं कि, 'है', अनादि-अनन्त चेतना है, ऐसी चेतना को वर्तमान पर्याय ग्रहण करती है न? इसलिए पर्याय हो गयी। त्रिकाली है, उसे ग्रहण करती है, वह पर्याय हो गयी और त्रिकाली है, वह सत्ता रह गयी। यह दर्शन हुआ। आहाहा! समझ में आया? लो! इसमें ही एक घण्टा जाता है। पाँच मिनिट रहे हैं। आहाहा!

कल भी अधिकार बहुत अच्छा था। व्याख्यान सुनकर जीवराजजी तो प्रसन्न हो गये। आज तो न्याल कर दिया! ऐसा कहा। उसमें और श्वास चला, परन्तु वह निर्बलता का श्वास, हों! वह श्वास नहीं। वह श्वास हो, वह बैठे नहीं। वह तो देह छूट जाये।

चला करे। देह रहने का है तो रहे, न रहने का हो तो चला जाये। आहाहा! भगवान कहाँ जाये? भगवान भी पर्याय में स्वयं को त्रिकाली है, उसे जाने बिना कैसे रहे? आहाहा!

जैसे ज्ञान की पर्याय चेतना सामान्य त्रिकाली को जानती है, तो चेतना सामान्य दर्शन सिद्ध हो गयी और जाननेवाली पर्याय सिद्ध हो गयी। चेतना सामान्य और विशेष सिद्ध हो गयी और वह चेतना सामान्य और विशेष (है ऐसा) सिद्ध हुआ और चेतना सामान्य-विशेष व्यापक सिद्ध हो गयी तो उसमें आत्मा व्याप्य है। उसमें आत्मा इस प्रकार से व्याप्य है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा कभी वहाँ सुना नहीं। शान्तिभाई! ...चन्दभाई! कामाणी भाग्यशाली है परिवार में आकर। यहाँ आकर महीने-महीने रहते हैं। ऐसी बातें हैं, बापू!

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा, यह स्वयं ही सर्वज्ञ प्रभु है! सर्वज्ञस्वभावी वस्तु है। आहाहा! परन्तु सर्वज्ञस्वभाव है, उसे जाने कौन? आत्मा स्वयं सर्वज्ञस्वरूपी ही है, प्रभु! आहाहा! अर्थात? कि ज्ञ—स्वरूप है। अर्थात? उसे विशेषण लगा दो तो सर्वज्ञस्वरूप है। वह सर्वज्ञस्वरूप है, वह तो सत्तारूप त्रिकाल है। परन्तु यह सर्वज्ञस्वरूप है या ज्ञ—स्वरूप है या ज्ञानस्वरूप है, उसे जाननेवाली पर्याय है। आहाहा! पर्याय बिना उसका स्वीकार करे कौन? पर्याय में धर्म होता है, इसका अर्थ यह कि वह पर्याय सर्वज्ञ को स्वीकार करती है तो सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! समझ में आया?

ग्रहण करती है, जिस तिस ज्ञेयाकाररूप परिणमती है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन चेतना की पर्याय है, तिसरूप परिणमती है, इसलिए चेतना का ज्ञान ऐसा नाम है। दर्शन भी अनादि-अनन्त है, इसलिए और जानता है, इसलिए विशेष भी है। आहाहा! चेतना अनादि-अनन्त है, परन्तु वह अनादि-अनन्त जाना किसने? अनादि-अनन्त, अनादि-अनन्त जाने? अनित्य नित्य को जानता है। यह 'चिद्विलास' में आता है। चिद्विलास है न? उसमें आता है। अनित्य नित्य को जानता है। वह यहाँ सिद्ध करना है। पर्याय स्वयं त्रिकाली अनादि-अनन्त चेतना को जानती है। बस! सामान्य-विशेष दो हो गये। उसमें से एकरूप ही माने तो आत्मा का नाश होता है और चेतना का नाश होता है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौषा शुक्ल ५, शुक्रवार, दिनांक-१३-०१-१९७८, कलश-१८३-१८४, प्रवचन-२०१

मोक्ष अधिकार चलता है। यहाँ चेतना को सिद्ध करना है। आत्मा है, वह चेतनास्वरूप है और चेतना दो रूप है—सामान्य और विशेष। यह बात सिद्ध करनी है। क्यों? कि आत्मा चेतना जो है, उसका अनुभव, वह मोक्ष का मार्ग और मोक्ष है। आत्मद्रव्य जो वस्तु है—चेतनामात्र पदार्थ, उसमें कोई दया, दान, व्रत, रागादि भाव है नहीं और वह चेतना एकरूप कहने में आती है, तथापि उसका रूप दो है—सामान्य और विशेष। यदि सामान्य और विशेष न रहे तो वह चेतना ही न रहे। एक बोल यह सिद्ध किया। समझ में आया?

सामान्य अर्थात् दर्शनसत्ता और ज्ञान अर्थात् विशेष पर्याय। जो सत्ता है, उसे जाननेवाली पर्याय विशेष है, सत्ता सामान्य है। दोनों चेतना का रूप है। चेतना एकरूप होने पर भी उसके रूप दो हैं। उसे एक ही रूप माने तो चेतना सिद्ध नहीं होती। चेतना सिद्ध न होने पर जीवद्रव्य सिद्ध नहीं होता। जीवद्रव्य सिद्ध न होने पर जीवद्रव्य का चेतना का जो अनुभव है, वह सिद्ध नहीं होता। थोड़ी सूक्ष्म बात है। आहाहा! समझ में आया?

अपने यहाँ आया है, **ऐसी दो अवस्थाओं को छोड़ दे तो चेतना वस्तु नहीं है, ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो जाये।** यहाँ तक कल आया है। है? बीच में है। **ऐसी दो अवस्थाओं को छोड़ दे...** दो अवस्थाओं को छोड़े तो **चेतना वस्तु नहीं है, ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो जाये।** है? है सेठ! बताओ सेठ को। भाषा सादी है, वस्तु (गम्भीर है)।

यह आत्मद्रव्य जो है, वह पर से भिन्न है। वह चेतनामात्र वस्तु से पर से भिन्न है। उसमें यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जो हैं, वे भी चेतना में नहीं हैं। वह चेतना के नहीं हैं।

मुमुक्षु : चेतना का विकार है, ऐसा कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। विकार पर है। विकार अजीव है। चेतना जीवद्रव्य का सत्त्व है। चेतना जीवद्रव्य का सत्त्व है। विकार, वह अजीव का सत्त्व है। सूक्ष्म बात

है, बहुत संक्षिप्त में लिया है। आहाहा! यहाँ तो अभी चिल्लाहट मचाते हैं न कि व्यवहार से मोक्षमार्ग होता है। यहाँ तो व्यवहार को तो अचेतन कहा है। चेतना जीवद्रव्य का स्वभाव है, उससे वह अचेतन भिन्न है। वह तो भिन्न है, परन्तु चेतना को दो प्रकार से मानो तो चेतना भी रहती नहीं। चेतना को रागवाली मानो यह बात तो है ही नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का जो विकल्प और राग है, वह तो चेतना में जिसका अनुभव करना है, उसमें वह तो है ही नहीं, परन्तु उस चेतना में कारकों और धर्मों और गुणों के भेदों का निषेध किया तो उसमें मानो एकरूप आया। तो भी एकरूप चेतना दूसरे भेद से रहित होने पर भी, चेतना में दो प्रकार—रूप है। उसका स्वरूप ही दो प्रकार से है—दर्शन और ज्ञान। यदि दर्शन और ज्ञान दो रूप से न हो तो वह चेतना ही सिद्ध नहीं होती। चेतना की प्रतीति ही सिद्ध नहीं होती। क्योंकि प्रतीति करनेवाली पर्याय—विशेष है और सत्ता सामान्य है। अब प्रतीति करनेवाला विशेष और सत्ता सामान्य—दो को न स्वीकार करो तो चेतना ही सिद्ध नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? यह तो अकेली लॉजिक-न्याय की सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा!

यहाँ तक आया है। **ऐसी दो अवस्थाओं को छोड़ दे...** तीन दोष हैं। तीन दोष में एक दोष यह कि आत्मा वस्तु है, वह चेतनामात्र वस्तु है। जानन-देखन स्वभावमात्र चेतना वस्तु है। उस वस्तु के दो प्रकार हुए—जानना और देखना। वह जानना और देखना, (ऐसे) दो भेद पड़े। दूसरे भेद निकाल दिये, परन्तु यह भेद निकाल देने से चेतना ही सिद्ध नहीं होती, ऐसा कहते हैं। जैसे गुण-गुणी भेद निकाल दिया, धर्म के अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रुव निकाल दिये, वे भेद हैं, ऐसा... पहले तीन बोल लिये हैं न? उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्याय यह धर्म है। ज्ञान, दर्शन आदि गुण है। वे सब इसमें नहीं, ऐसा कहते हैं। भेद निकाल दिये न? कर्म का लक्षण अचेतन है, इसलिए वह (भी) निकाल दिये। आत्मा, आत्मा द्वारा (ऐसे) छह कारक। छह कारक को निकाल दिया। आहाहा!

आत्मा चेतना का अनुभव करना है और वह अनुभव मोक्ष का मार्ग और पूर्ण अनुभव, वह मोक्ष है। इसलिए आत्मा और चेतना में से छह कारक निकाल दिये। उत्पाद-व्यय-ध्रुव, द्रव्य-गुण-पर्याय धर्म निकाल दिये। और गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र

के भेद के गुण (वे भेद भी) निकाल दिये। परन्तु (वह सब) निकाल देने से उसका एक ही रूप रहे और सामान्य-विशेष न हो तो वह चेतना ही सिद्ध नहीं होती। और चेतना सिद्ध हुए बिना द्रव्य का स्वभाव चेतना है तो द्रव्य सिद्ध नहीं होता। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें! इसमें जरा मस्तिष्क व्यवस्थित चाहिए। थोड़ा थोड़ा...! पहला दोष (यह आता है)।

यहाँ कोई आशंका करेगा... जब पहला निषेध किया न कि दो अवस्थाओं को छोड़े तो चेतना वस्तु नहीं, ऐसी प्रतीति उपजे। तब शंका की, शंका नहीं परन्तु आशंका (की है)। अर्थात्? तुम कहते हो वह खोटा है, ऐसा हमें नहीं लगता, परन्तु तुम कहते हो वह समझ में नहीं आता, इसका नाम आशंका है। शंका (अर्थात्) यह कि तुम कहते हो, वह खोटा है। तुम कहते हो होगा सत्य, परन्तु हमको समझ में नहीं आता, तुम क्या कहना चाहते हो? ऐसी आशंका, जिज्ञासा है, वह रखते हैं पहले।

यहाँ कोई आशंका करेगा कि चेतना नहीं तो नहीं रहो,... इसमें क्या दिक्कत है? जीव तो रहेगा। ऐसा कहते हैं। चेतना दो प्रकाररूप न रहे (तो) न रहो। उसमें जीवद्रव्य को क्या दिक्कत है? जीवद्रव्य तो रहेगा न? ऐसी आशंका करता है। **जीवद्रव्य तो विद्यमान है?** ऐसा कहता है। चेतना के सामान्य-विशेष दो प्रकार कदाचित् सिद्ध न हो और वह चेतना ही भले न हो, परन्तु जीवद्रव्य तो रहेगा न?

उत्तर इस प्रकार है कि चेतनामात्र के द्वारा जीवद्रव्य साधा है। जब तू ऐसा निकाल डाले कि चेतना नहीं और जीवद्रव्य है, परन्तु चेतना से तो जीवद्रव्य को साधा है। जानन-देखन स्वभाव, वह जीवद्रव्य है। वह तो साधा है। जो साधा है, उसे निकाल डाले तो साधन कुछ रहे नहीं। आहाहा! समझ में आया? **उत्तर इस प्रकार है कि चेतनामात्र के द्वारा जीवद्रव्य साधा है।** क्या कहा यह? दो अवस्थारूप चेतना भले न रहो, जीवद्रव्य तो रहेगा न? तब उत्तर ऐसा देते हैं कि जीवद्रव्य को चेतना से तो सिद्ध किया है। जीवद्रव्य अर्थात् क्या? जानन-देखन चेतना, वह जीवद्रव्य। चेतना से तो जीवद्रव्य को सिद्ध किया है और तू चेतना न रहे और जीवद्रव्य (रहे, ऐसा कहे तो) ऐसा बने कहाँ से? न्याय समझ में आता है इसमें? शान्तिभाई! यह सब सूक्ष्म लॉजिक है, वहाँ

हीरा-माणेक में कहीं आये नहीं थे। सेठ भी इनकार करते हैं कि कहीं आये नहीं थे। बात सच्ची! आहाहा!

एकदम मोक्ष का अधिकार अर्थात् मुक्त होना। किससे? कि चेतना के स्वभाववाले द्रव्य से नहीं। मुक्त होना, वह चेतना के स्वभाववाले द्रव्य से नहीं। उससे विरुद्ध पुण्य-पाप, रागादि के दु:ख के भाव से मुक्त होना है। इसलिए (उससे) रहित चेतनावाला जीवद्रव्य सिद्ध किया, परन्तु चेतना के दो प्रकार न माने तो चेतना सिद्ध नहीं होने से (जीवद्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा)। भले चेतना सिद्ध न होने से जीवद्रव्य भले सिद्ध न हो। ऐसा कहा। दूसरा बोल।

चेतना न रहे तो नहीं रहो, जीवद्रव्य तो विद्यमान है? उत्तर ऐसा है कि चेतनामात्र द्वारा जीवद्रव्य... सिद्ध किया है। यह पुद्गल अचेतन है, पाँच द्रव्य अचेतन है और जीवद्रव्य को चेतनामात्र जानन-देखनमात्र से तो जीव को सिद्ध किया है। अब चेतना न रहे तो जीव रहे, ऐसा बने कहाँ से? समझ में आया? बनिये के व्यापार से यह न्याय के तर्क जरा सूक्ष्म हैं। व्यापार में तो पूरे दिन वह की वह बातें किया करे। नया कोई तर्क या न्याय (न आवे)। आहाहा! यहाँ तो न्याय से—लॉजिक से सिद्ध करते हैं।

वस्तु भगवान आत्मा को हमने चेतनावाला कहा है। चेतनावाला भी नहीं, चेतनास्वरूप कहा है। वाला में भी भेद है। चेतनास्वरूप कहा है और वह चेतना पर के भेदरहित है, परन्तु चेतना के सामान्य-विशेष के भेदरहित नहीं। उसके सामान्य-विशेष भेदवाली तो वस्तु है और यदि वह सामान्य-विशेष न हो तो चेतना ही सिद्ध नहीं होती। तब शिष्य कहता है, चेतना सिद्ध न हो तो कोई दिक्कत नहीं। जीवद्रव्य तो रहेगा? आहाहा! तब गुरु कहते हैं कि परन्तु चेतना सिद्ध न हो तो चेतना द्वारा तो जीवद्रव्य को सिद्ध किया है। जीवद्रव्य अर्थात् क्या? कि जानन-देखन चेतना, वह जीवद्रव्य। ऐसा तो जीवद्रव्य को सिद्ध किया है। अब तू चेतना का निषेध कर तो जीवद्रव्य को सिद्ध किया, वह रहे कहाँ? आहाहा! यह पुण्य और पाप है, वह आत्मा है; व्यवहाररत्नत्रय है, वह आत्मा है—ऐसा हमने कुछ सिद्ध नहीं किया। आहाहा! हमने तो चेतना आत्मा है, जानन-देखन भगवान (आत्मा है)। दर्शन और ज्ञान, सामान्य दर्शन और विशेष पर्याय—ज्ञान, यह चेतना वही आत्मा, वह जीव—ऐसा हमने सिद्ध किया है। कोई

व्यवहाररत्नत्रय का राग (या) कोई विकल्प आदि आत्मा, इस प्रकार से हमने सिद्ध नहीं किया। इसका तो हमने निषेध किया है। अब तू चेतना के रूप का ही यदि निषेध कर कि वह भले न हो तो भी जीव रहे। तो चेतना से तो जीव को साध्य किया, सिद्ध किया है। (अब यदि) चेतना न रहे तो जीव सिद्ध नहीं हो सकता। जीव सिद्ध नहीं हो सकता। जीव नहीं रहता, यह फिर आयेगा। समझ में आया? जीव सिद्ध नहीं हो सकता, इतना प्रश्न अभी है। जीव नहीं रहेगा, यह प्रश्न बाद में आयेगा। आहाहा!

धीरे-धीरे समझ में आये ऐसा है। न समझ में आये, ऐसा कुछ नहीं। भाषा तो सादी है, वस्तु सादी है। अत्यन्त शुद्ध निर्लेप चीज़ है। आहाहा! भगवान आत्मा चेतनास्वरूप निर्लेप निर्दोष शुद्ध, वह जीवद्रव्य है और उस चेतना का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। यह अन्तिम लेंगे। अन्तिम शब्द है, एकदम अन्तिम (शब्द है), **ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।** यहाँ तो अभी ऐसे समकित को सिद्ध करते हैं। आहाहा! समझ में आया? दो-चार-पाँच बार बोला जाये तो बाधा नहीं। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा!

आहाहा! चेतना (बिना) जीवद्रव्य तो विद्यमान है। इसका उत्तर कि जीवद्रव्य चेतना से तो हमने सिद्ध किया है। **इस कारण उस चेतना के सिद्ध हुए बिना जीवद्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा;...** आहाहा! कितनी बात रखी! सादी और सरल भाषा! लोगों को अन्दर ज्ञान में विचार में (आना चाहिए कि) यह वस्तु है, आत्मा वस्तु है, वह क्या है? यह चेतना वस्तु है। त्रिकाल जानन-देखन स्वभाव, वह आत्मा है। अब वह जानन-देखन—ऐसी दो अवस्थायें न रहे तो चेतना का ही अभाव होने से जीवद्रव्य सिद्ध नहीं होगा। जीवद्रव्य सिद्ध नहीं होगा अर्थात्? 'है', ऐसा साबित नहीं होगा। सिद्ध होगा अर्थात् मुक्त होगा, ऐसा नहीं। समझ में आया? चेतना से तो जीव को साध्य किया है। यदि चेतना का निषेध करे तो जीव सिद्ध (साबित) नहीं होगा। सिद्ध नहीं होगा अर्थात्? चेतना के अभाव में जीव की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकेगी। जीव का अस्तित्व—निर्णय नहीं हो सकेगा। ऐसी बात ऐसी मीठी, अत्यन्त सरल है! आहाहा!

एकदम सब कुछ निकाल दिया है। षट्कारक नहीं, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों नहीं, ले! उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन नहीं। आहाहा! और फिर ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण, ऐसे अनन्त गुण का भेद (भी) नहीं, एक चेतना रही। आहाहा! अनुभव

करने के लिये चेतना रही। अब वह चेतना (है, वह) जीवद्रव्य है। अब यदि चेतना सामान्य-विशेषरूप से सिद्ध नहीं हो तो जीव ही सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि चेतना द्वारा तो जीव को साबित किया है। जगत में जीव है, उसकी अस्ति है, वह चेतना द्वारा तो अस्ति साबित की है। आहाहा! जीव का अस्तित्व चेतना द्वारा तो साबित किया है। अब तू (ऐसा कहता है कि), चेतना के अभाव से जीवद्रव्य रहेगा। तो साध्य जिससे साध्य किया है, वह न रहे तो जीवद्रव्य साबित किस प्रकार होगा? आहाहा! ऐसी बातें हैं। अन्तिम मोक्ष अधिकार है न? अभी तो यह समकित की बात है, हों! **सिद्ध नहीं होगा...** एक बात यह की।

अथवा जो (जीवद्रव्य) सिद्ध होगा... चेतना बिना तुझे सिद्ध करना है न? तो जीव सिद्ध होगा तो **वह पुद्गलद्रव्य के समान अचेतन सिद्ध होगा,...** आहाहा! चेतना जानन-देखन स्वभाव द्वारा तो जीव की सत्ता—अस्ति साबित की है। अब उसका तू नकार करे तो जीव की सत्ता चेतना बिना रहेगी, वह तो पुद्गलद्रव्य जैसा हो जायेगा, अचेतन होगा। आहाहा! ओहो! आचार्यों ने कितना काम क्षयोपशम से किया है! गजब काम किया है! आहाहा! करुणा से जगत को (दिखाते हैं)।

प्रभु! तू कौन है? तेरी सत्ता की अस्ति ही हम तो चेतना द्वारा सिद्ध करते हैं। इसके बिना जीवद्रव्य सिद्ध नहीं होता और चेतना का तू नकार करके जीवद्रव्य की अस्ति माने, किस प्रकार मानेगा? क्योंकि चेतना द्वारा तो जीवद्रव्य की साबिती की है। चेतना के अभाव से जीवद्रव्य की साबिती होगी नहीं। समझ में आया? धीरे-धीरे तो कहा जाता है। जरा सूक्ष्म बात है। बनिया की बुद्धि बाहर रुक गयी हो, उसे ऐसा सूक्ष्म... सूक्ष्म... सूक्ष्म... (लगता है)। आहाहा! सूक्ष्म नहीं, प्रभु! तेरा स्वरूप यह है।

चेतना, वह तो इसका स्वरूप है, इसका स्वभाव है। वह जीव का सत्त्व है और सत्त्व से तो सत् को सिद्ध किया है। जब उस सत्त्व का तू नकार करे कि सामान्य-विशेषपने भले न हो, जीवद्रव्य तो रहेगा। परन्तु चेतना द्वारा तो जीव है, ऐसा साबित किया है। यदि उस चेतना का अभाव हो तो जीवद्रव्य साबित नहीं होगा। समझ में आया? आहाहा! **पुद्गलद्रव्य के समान अचेतन सिद्ध होगा,...** सिद्ध होगा, परन्तु अचेतन सिद्ध होगा। जीवद्रव्य को सिद्ध तो चेतना द्वारा किया है और तू चेतना का नकार कर दे तो

अचेतन सिद्ध होगा, पुद्गलद्रव्य की भाँति सिद्ध होगा। जीवद्रव्य सिद्ध नहीं होगा। आहाहा!

चेतन नहीं सिद्ध होगा। इसी अर्थ को कहते हैं,... देखो! **दूसरा दोष ऐसा—'तत्त्यागे चितः अपि जडता भवति'** इसका अब अर्थ किया। पहला इसका अर्थ किया था, उसका अब सूत्र रखा। **चेतना का अभाव होने पर... 'चितः अपि' जीवद्रव्य को भी पुद्गलद्रव्य के समान (जड़पना आवे) जीवद्रव्य भी अचेतन है...** आहाहा! पाठ में है, देखो न! पाठ देखो। **'अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्। तत्सामान्यविशेषरूप-विरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।'** ऐसा है, है न? और **'तत्त्यागे चितः अपि जडता भवति'** और व्याप्य बिना व्यापक, यह तीसरा बोल है। **'व्याप्यो विना व्यापका-दात्मा चान्तमुपैति'** नाश होगा। **'तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्।'** आहाहा! क्या कहा?

अद्वैत चेतना को दो प्रकार से न मानो तो चेतना सिद्ध नहीं होगी। चेतना सिद्ध नहीं होने पर सामान्य-विशेषरूप इसका अस्तित्व—होनापना छूट जाता है। सामान्य-विशेषपना चेतना का न हो तो उसका अस्तित्व छूट जाता है। और उसका अस्तित्व छूटने पर जीव चेतना है, यह सिद्ध नहीं होता और तब जीव, अजीव हो जाता है। जीव, पुद्गल हो जाता है। आहाहा! समझ में आया? फिर तीसरा बोल लेंगे।

यहाँ तो **चेतना का अभाव होने पर जीवद्रव्य को भी पुद्गलद्रव्य के समान (जड़पना आवे) जीवद्रव्य भी अचेतन है, ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है।** दो दोष हुए। कौन से दो दोष हुए? कि एक तो चेतना को सामान्य-विशेषपना दो रीति से सिद्ध न करे तो चेतना बिना जीव ही सिद्ध नहीं होगा, यह चेतना ही सिद्ध नहीं होगी, इसलिए जीव सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि चेतना द्वारा तो जीव को सिद्ध किया है। इसलिए चेतना छोड़ने से जीव चेतन बिना का रहेगा और चेतना से सिद्ध किया है, इसलिए जीव सिद्ध नहीं रहेगा। दो बातें हुईं।

अब तीसरी एक बात है—व्यापक बिना व्याप्य नहीं रह सकता। पाठ है न? **'व्याप्यो विना व्यापका-दात्मा चान्तमुपैति'** मूल पाठ है।

जीवद्रव्य को भी पुद्गलद्रव्य के समान (जड़पना आवे अर्थात्) जीवद्रव्य भी अचेतन है, ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है। तीसरा दोष ऐसा कि—'व्यापकात् विना व्याप्यः आत्मा अन्तं उपैति' 'व्यापकात् विना' चेतनगुण का अभाव होने पर... उसे यहाँ व्यापक लिया है। आत्मा व्यापक और चेतनागुण व्याप्य ऐसा यहाँ नहीं लेना। यहाँ तो आत्मा में चेतनागुण अनादि-अनन्त व्यापता है, इसलिए उसे व्यापक कहा है और आत्मा को व्याप्य कहा है।

दूसरी जगह कर्ता-कर्म में व्याप्य-व्यापक आता है, वहाँ द्रव्य व्यापक और पर्याय व्याप्य, ऐसा आता है। व्याप्य-व्यापक आता है न? आानरूप से आत्मा व्यापक है और राग व्याप्य है। अज्ञानरूप से भी व्याप्य-व्यापक आता है। और ज्ञानरूप से आत्मा व्यापक और वीतराग पर्याय, व्याप्य, ऐसा आता है। यहाँ तीसरे प्रकार से सिद्ध किया है।

चेतना जो सामान्य और विशेष स्वरूप से है, वह त्रिकाल है और त्रिकाल व्यापक है, उसका यदि अभाव होगा तो आत्मा व्याप्य है, उसका भी अभाव होगा। ऐसी बात की है। आहाहा! समझ में आया? देवीलालजी! यह धीरे-धीरे समझने जैसी बात है, भाई! यह तो मक्खन की बातें हैं! आहाहा!

विकार को भेद तो निकाल दिये, परन्तु वस्तु का स्वरूप चेतना वीतराग समभाव है। वीतरागी चेतना है। वह वीतरागी चेतना व्यापक है। तीनों काल कायम रहनेवाली है और आत्मा उसे व्याप्य गिनने में आया है। व्यापक के आधार से व्याप्य है। आत्मा के आधार से पर्याय है, व्यापक के आधार से पर्याय व्याप्य है, यह बात यहाँ न लेकर, (उसका) यहाँ काम नहीं। यहाँ तो चेतना ज्ञान और दर्शन उसका स्वरूप ही है। आहाहा! उसका अनुभव होना, वह सम्यक् है। यह सिद्ध करने के लिये यह सब लम्बी बात की है। समझ में आया?

आत्मा वस्तु है, वह पुद्गल आदि, शरीर आदि, रागादि, भेद आदि (से) तो चेतना भिन्न है। परन्तु वह चेतना के दो रूप को चेतना नहीं छोड़ती। ऐसा द्वैतपना छोड़ा। छह कारक, उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी छोड़े, परन्तु चेतना का सामान्य-विशेष दो रूप है, (उसे) नहीं छोड़ती। उसे छोड़े तो चेतना का ही अभाव हो जाये। और चेतना का अभाव होने पर जीव को सिद्ध करने का (साधन रहता नहीं)। चेतना से जीव है, ऐसा तो सिद्ध

किया है, वह रहता नहीं और तीसरा, चेतना व्यापक है, उसका अभाव होने पर आत्मा व्याप्य है, उसका नाश होता है। समझ में आया? बाबूभाई! इसमें समझ में आता है? यह सब बातें बनिये की नहीं, यह अन्दर की बातें हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा चेतना जानन-देखन स्वभाव, वह जीवद्रव्य है। इसलिए कहते हैं कि चेतना के दो प्रकार—सामान्य, विशेष। दूसरे भेद निकाल देने पर, यह दो भेद भी यदि निकाल दे तो चेतना का स्वरूप ही सामान्य-विशेष है, उसे निकाल दे तो चेतनारहित हो जायेगा। और चेतनारहित होने पर जीवद्रव्य को चेतना से तो सिद्ध किया है, साबित किया है, तो जीवद्रव्य साबित नहीं होगा। दो (बातें)। तीसरा, चेतना व्यापक है, कायम रहनेवाली है। दर्शन-ज्ञान, दर्शन-ज्ञान, सामान्य-विशेष कायम (रहनेवाली है), उसका निषेध होने से उसमें आत्मा व्याप्य रहनेवाला है, उसका अभाव हो जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु धर्म का ऐसा क्या? धर्म में धर्म करना। दया पालना, व्रत पालना, अपवास करना।

मुमुक्षु : आप इसे अधर्म कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो वस्तु में है ही नहीं। उसका अनुभव करना, यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। आहाहा! जिसे अनुसरना है और अनुसरकर आनन्द का अनुभव वेदन में लाना है... आहाहा! वह रागादि का वेदन तो दुःखरूप है, वह तो आत्मा में है ही नहीं, ऐसा पहले सिद्ध किया। अब चेतना जो आनन्दमय है, सामान्य-विशेषमय है उसे यदि दो प्रकार से सिद्ध न करो तो चेतना का अभाव हो जायेगा, तो चेतना बिना जीव (का) भी अभाव हो जायेगा। सिद्ध / साबित नहीं होगा। और चेतना व्यापक है, उसके बिना आत्मा—व्याप्य का नाश हो जायेगा। आहाहा! बहुत सरस बात की है! है जरा सूक्ष्म (परन्तु मुद्दे की बात है)। समझ में आया?

चेतनगुण का अभाव होने पर... 'व्याप्यः आत्मा' भाषा है न? यहाँ आत्मा को व्याप्य कहा है और चेतना को व्यापक (कहा है)। कायम रहनेवाला है न? सामान्य-विशेष, सामान्य-विशेष चेतना द्रव्य में कायम रहनेवाली है। उसे व्यापक गिना और

आत्मा को व्याप्य कहा है। आहाहा! अर्थात्? सामान्य और विशेष जो चेतना के आधार से आत्मा है, अब जब यह निकाल डाले तो आत्मा नहीं रहेगा। आत्मा के आधार से चेतना है, यह यहाँ सिद्ध नहीं करना। क्योंकि यहाँ तो चेतना से आत्मा को सिद्ध किया है। समझ में आया? जरा सूक्ष्म है, परन्तु धीरे-धीरे समझने जैसा है, और समझ में आये ऐसा है, कहीं न समझ में आवे, ऐसा नहीं है। अरे! भगवान केवलज्ञान ले सकता है न प्रभु! आहाहा! क्योंकि चेतना में तो ऐसी केवलज्ञान की पर्याय अनन्त पड़ी है। आहाहा!

चेतना का अनुभव होने पर आत्मा का अनुभव हुआ और अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है और सम्यग्दर्शन होने पर उसे केवलज्ञान होता है, होता है और होता ही है। दूज उगे वह पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहती। आहाहा! इससे उसका मूल पहला सम्यग्दर्शन सिद्ध किया है। सम्यग्दर्शन अर्थात्? देखो, कहा।

'व्यापकात् विना' 'व्यापकात्' अर्थात् त्रिकाली चेतना। **'व्यापकात् विना' चेतन गुण का अभाव होने पर...** दूसरे गुणभेद निकाल डाले। यह (भेद) वापस रखा। **'व्यापकात् विना' चेतन गुण का अभाव होने पर चेतनागुणमात्र है जो जीवद्रवय वह 'अन्तं उपैति' मूल से जीवद्रव्य नहीं है ऐसी प्रतीति भी उत्पन्न होती है।** आहाहा! सामने पुस्तक है न? धीरुभाई! घर की वह बहियाँ फिराता है न? पढ़ता है न? पूरे दिन पाप के फिराया करता है, परन्तु यह शास्त्र क्या कहते हैं? आहाहा! तेरी पूँजी क्या है, यह बताते हैं। तेरी पूँजी चेतना-पूँजी है। वह चेतना सामान्य-विशेषरूप पूँजी है। उस चेतना के अभाव से जीवद्रव्य सिद्ध नहीं होगा। जीवद्रव्य नहीं रहेगा और **'व्यापकात् विना'** आत्मा का नाश हो जायेगा। आहाहा!

मूल से जीवद्रव्य नहीं है ऐसी प्रतीति भी उत्पन्न होती है। ऐसे तीन दोष मोटे दोष हैं। मिथ्यात्व के बड़े तीन दोष हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! राग और पुण्य-पाप, वे तो निकाल दिये। इन दो के बीच चेतना और चेतना का धारक द्रव्य, चेतना से सिद्ध किया है, इसलिए चेतना का अभाव होने पर ऐसे तीन दोष सिद्ध होंगे। तीन दोष (से) मिथ्यात्व होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे दोषों से जो कोई भय करता है... है? **ऐसे दोषों से जो कोई भय...** अर्थात्

कि हट जाना चाहता है, दोष से रहित होना चाहता है। आहाहा! **उसे ऐसा मानना चाहिए कि चेतना दर्शन-ज्ञान ऐसे दो नाम—संज्ञा विराजमान हैं।** आहाहा! योगफल किया, देखो तो सही! आहाहा! दिगम्बर सन्तों की बलिहारी है, भाई! ऐसी बात कहीं है नहीं। आहाहा! दूसरे को दुःख लगे, बापू! ऐसी बात कहाँ है? आहाहा!

चेतना का अनुभव करना है, तो वह जीव का अनुभव है। तो चेतना सामान्य-विशेष दो प्रकार से है। दूसरे भेद नहीं, इसलिए इसमें भी (यह) दो भेद नहीं, ऐसा नहीं है। यह दो भेदवाली चेतना, वह व्यापक है, कायम रहनेवाली है, उसमें आत्मा व्याप्य (अर्थात्) उसमें रहा हुआ है। इसलिए चेतना का अनुभव... यह कहते हैं, देखो!

चेतना दर्शन-ज्ञान ऐसे दो नाम—संज्ञा विराजमान हैं। ऐसा अनुभव... अब योगफल लिया। **ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।** आहाहा! यह समकित की व्याख्या! यह (अज्ञानी तो ऐसा मानता है कि) समकित अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की श्रद्धा, अमुक करके छोड़ दिया और अब करो व्रत और तप, यह चारित्र! अरे... प्रभु! यह लोग ऐसा समझते हैं। यह तो हमारे व्रत, तप की निन्दा करते हैं। भगवान! ऐसा नहीं, प्रभु! यह तो वस्तु का स्वरूप है।

मुमुक्षु : व्रत, तप करना नहीं, इसलिए ऐसा कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा भी कहते हैं। व्रत, तप करना अर्थात् क्या? वह तो राग है। जहाँ भगवान है, वहाँ राग है नहीं। भगवान तो चेतना ज्ञानानन्द, ज्ञाता-दृष्टा (स्वरूप है)। दूसरी भाषा में कहें तो, यहाँ ज्ञाता-दृष्ट कहना है। चेतना कहनी है न? ज्ञान विशेष है, दृष्टा सामान्य है। ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप ही आत्मा है। त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल चेतना ऐसे ज्ञाता-दृष्टावाला चेतन, उसका अनुभव करना। आहाहा! उसे अनुसरकर वीतरागी पर्यायरूप से, आनन्द की पर्यायरूप से परिणमना, उसका नाम सम्यक्त्व है। कहो, समझ में आया इसमें? यह तो अभी समकित की व्याख्या है।

मुमुक्षु : है तो मोक्ष का अधिकार।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मूल समकित बिना मोक्ष कहाँ से? मोक्ष का कारण कहाँ से आयेगा? इसलिए कहते हैं। सम्यग्दर्शन बिना मोक्ष के मार्ग की शुरुआत कहाँ

से होगी ? मोक्षमहल की (पहली) सीढ़ी सम्यक्त्व, या बिन ज्ञान-चरित्र वृथा। आता है न ? छहढाला में! मूल बात को भूलता है, प्रभु! उसका तुझे अपमान लगता है, ऐसा न ले। उसमें लाभ का कारण है, ऐसा मान। समझ में आया ? सम्यग्दर्शन इसे कहते हैं। और सम्यग्दर्शन हो, वहाँ फिर सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान हो, वहाँ स्वरूप में रमणता होती है, उसे चारित्र होता है। इसके बिना चारित्र होता नहीं। आहाहा! कहो, इन तीन में पौन घण्टा चला! तीन (बातें चलीं)।

ऐसा अनुभव... कैसा ? **चेतना दर्शन-ज्ञान ऐसे दो नाम—संज्ञा विराजमान हैं।** दो भाव से विराजमान है। नाम भी भले लिया। दो भाव से विराजमान है। इसका जो अनुभव करना... आहाहा! इसका नाम सम्यक्त्व है, इसका नाम धर्म की पहली सीढ़ी है। चारित्र तो बाद में। आहाहा! कहो, इसमें कुछ समझ में आया या नहीं ? तीन दोष की व्याख्या तो हुई। आहाहा!

१८४ (कलश)। अब पर है, वह भिन्न है, यह संक्षिप्त करते हैं।

कलश - १८४

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वतः एव हेयाः।।५-१८४।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'चितः चिन्मयः भावः एव' [चितः] द्रव्य का [चिन्मयः] चेतनामात्र, ऐसा [भावः] स्वभाव है, [एव] निश्चय से ऐसा ही है; अन्यथा नहीं है। कैसा है चेतनामात्र भाव? 'एकः' निर्विकल्प है, निर्भेद है, सर्वथा शुद्ध है। 'किल ये परे भावाः ते परेषां' [किल] निश्चय से [ये परे भावाः] शुद्धचैतन्यस्वरूप से अनमिलते हैं जो द्रव्यकर्म-भावकर्म- नोकर्मसम्बन्धी परिणाम, वे [परेषां] समस्त पुद्गलकर्म के हैं; जीव के नहीं हैं। 'ततः चिन्मयः भावः ग्राह्यः एव परे भावाः सर्वतः हेयाः एव' [ततः] तिस कारण से [चिन्मयः भावः] शुद्धचेतनामात्र है जो स्वभाव, वह [ग्राह्यः एव] जीव का स्वरूप है-ऐसा अनुभव करना, योग्य है; [परे भावाः] इससे अनमिलते हैं जो द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म स्वभाव, वे [सर्वतः हेयाः एव] सर्वथा प्रकार जीव का स्वरूप नहीं है-ऐसा अनुभव करना, योग्य है। ऐसा अनुभव, सम्यक्त्व है; सम्यक्त्वगुण, मोक्ष का कारण है।।५-१८४।।

कलश - १८४ पर प्रवचन

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वतः एव हेयाः।।५-१८४।।

आहाहा! चेतना से सिद्ध करके अब कहते हैं, '**चितः चिन्मयः भावः एव**' '**चितः**' अर्थात् **जीवद्रव्य...** है न? **जीवद्रव्य को...** '**चिन्मयः**' **चेतनामात्र ऐसा...** '**भावः**'

अर्थात् **स्वभाव है।** बस! यह तो उसका चेतनामात्र स्वभाव है। स्वभाववान जीवद्रव्य, स्वभाववान जीवद्रव्य, उसका चेतनामात्र स्वभाव है। जानना-देखना चेतना, वह उसका स्वभाव है। कोई दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव, वह उसका स्वभाव नहीं। आहाहा! ऐसा (कहे) इसलिए ऐसा कहे कि, सब चारित्र को उड़ाते हैं। परन्तु चारित्र उसे नहीं कहा जाता, भाई! सम्यग्दर्शन बिना के व्रत, तप, वे सब बालव्रत और बालतप कहे हैं न? मूर्खाई से भरपूर व्रत, तप हैं, प्रभु! भाई! तेरे हित की बातें हैं। तेरा अहित कैसे हो रहा है, उसका स्पष्टीकरण होने पर हित की बात की है। उसे मेरी निन्दा है, ऐसा नहीं मानना चाहिए, भाई! प्रभु! यह तो तेरी बात है न! आहाहा!

तेरी प्रभुता चेतनामय के कारण से है। तेरी प्रभुता कोई दया, दान के, व्रत के विकल्प के कारण नहीं। आहाहा! तेरी प्रभुता की बात करते हुए तुझे ऐसा हो जाये कि अरे रे! हमारे व्रत, तप को तो खोटा सिद्ध करते हैं। निन्दा (करते हैं)। ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : दुःख का निषेध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख का निषेध है, पाप का निषेध है। वह पूरा पाप है।

चिन्मय भाव आया न? देखो न! '**चितः**' जीवद्रव्य। चिन्मय, चिन्मय। चिन्वाला, ऐसा भी नहीं कहा। चेतनामात्र भगवान। जानन-देखनमात्र। ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमात्र प्रभु है। आहाहा! **चेतनामात्र ऐसा स्वभाव है,... 'एव' निश्चय से ऐसा ही है,... 'एव'** शब्द आया न? **निश्चय से ऐसा ही है,...** भगवान आत्मा चेतनामात्र। चित् चेतनामात्र, चित् चेतनामात्र। जीव चेतनामात्र। स्वभावमात्र ही वह है। आहाहा! उसका स्वभाव त्रिकाल चेतनामात्र स्वभाव है। आहाहा!

ऐसा ही है,... 'एव' कहा न? **निश्चय से ऐसा ही है, अन्यथा नहीं। 'एव'** की अस्ति करके नास्ति की। '**एव**' अर्थात् निश्चय। दूसरे प्रकार से नहीं, इसमें से निकाला। यह अनेकान्त निकाला। आहाहा! समझ में आया? यह चेतनामात्र है।

'एकः' निर्विकल्प है,... कैसा है चेतनामात्र भाव? 'एकः' देखा वापस वे दो प्रकार तो उसका स्वरूप है, परन्तु है स्वयं निर्विकल्प, राग बिना की चीज़ है। दोरूप है,

इसलिए उसमें राग है, ऐसा नहीं है। उसका स्वरूप ही वह है। आहाहा! समझ में आया?

कैसा है चेतनामात्र भाव? 'एकः' निर्विकल्प... है। राग बिना का निर्भेद, निर्विकल्प है। आहाहा! **निर्भेद,...** है। उसमें भेद नहीं। दोपना है, इसलिए वहाँ राग का भेद है, ऐसा नहीं। आहाहा! **सर्वथा शुद्ध है।** चेतना... आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव, वह जीवद्रव्य, वह निश्चय है और वही निर्विकल्प है और वही निर्भेद है। उसमें भेद नहीं। आहाहा! और वह **सर्वथा शुद्ध है।** सर्वथा शुद्ध है भगवान चेतना, दृष्टा-ज्ञाता स्वभाव, वह तो सर्वथा शुद्ध है।

'किल ये परे भावाः ते परेषां' 'किल' निश्चय से... 'ये परे भावाः' शुद्ध चैतन्यस्वरूप से... शुद्ध चैतन्यस्वरूप से **अनमिलते हैं,...** वे विकल्प रागादि हैं, वे शुद्ध चैतन्यस्वरूप से मिलान नहीं खाते, अनमेल हैं। आहाहा! अनमेल भाव को साधन कहना और इसे साध्य कहना (उसमें) बड़ा अन्तर है, परन्तु क्या हो? चाहे जैसे हो, परन्तु वस्तु तो यह है। भले उसे माननेवाले थोड़े रहें, अरे! दूसरे न भी माने, उससे क्या? वस्तु तो यह है। और इसका नाम दिगम्बर धर्म है। समझ में आया?

'भावाः ते परेषां' आहाहा! **शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अनमिलते हैं...** अनमेल दो बार लेंगे। कौन अनमेल? एक तो जड़कर्म। शुद्ध चैतन्य के साथ अनमेल जड़कर्म के साथ मिलान नहीं खाता। **भावकर्म...** शुभ-अशुभ दया, दान के विकार के परिणाम वे शुद्ध चेतना के साथ अनमेल भाव हैं। आहाहा! उनके साथ मिलान नहीं खाता। आहाहा! शुद्ध चेतनामात्र स्वभाव के साथ वे शुभ-अशुभभाव मिलान नहीं खाते। अनमेल भाव हैं। ऐसी बात है।

नोकर्म... (अर्थात्) शरीर। **द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म सम्बन्धी परिणाम...** वापस ये तीनों परिणाम, हों! **'ते परेषां' वे समस्त पुद्गलकर्म के हैं,...** यह व्यवहाररत्नत्रय का राग पुद्गलकर्म का है। गजब है न! भगवान के (-आत्मा के) नहीं। आहाहा! ऐसा है। वस्तु बहुत वैसी (कठिन) हो गयी।

द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म सम्बन्धी परिणाम... हुए न? दया, दान, व्रत, भक्ति

आदि के परिणाम भावकर्म के.... आहाहा! पुद्गलकर्म के हैं, ऐसा यहाँ तो कहा। इसके नहीं तो उसके हैं, ऐसा (कहना है)। भगवान का तो ज्ञाता-दृष्टा चेतना दर्शन स्वभाव है न! उसके साथ यह रागादि अनमेल है। इसे चेतन कहना तो उसे पुद्गल कहना। आहाहा! अनमेल हैं इसलिए चेतन के साथ मिलते नहीं। चेतना के साथ मिलन नहीं खाते तो उसे अचेतन-पुद्गल कहना। आहाहा! यह सब विवाद उठते हैं। धर्मचन्दजी! तुम्हारे सम्प्रदाय में से यह सब विवाद उठते हैं। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है न! आहाहा!

जानन-देखन चेतनस्वभाव के साथ जो विकल्प उठे, चाहे तो भगवान की भक्ति का (विकल्प हो), वह अनमेल पुद्गलकर्म है। आहाहा! भक्तिवाले को कठिन पड़े। देव-गुरु की भक्ति से कल्याण होगा! उसे कठिन पड़े। क्या हो? भाई! वस्तु की मर्यादा ही यह है। आहाहा! जानन-देखन स्वभाव, त्रिकाली चेतन स्वभाव के साथ रागादि, शरीर तो नोकर्म है, कर्म तो अजीव है परन्तु यहाँ तो दया, दान के परिणाम भी पुद्गलकर्म है, ऐसा कहा है। पुद्गलकर्म के परिणाम हैं, ऐसा भी कहा नहीं। यहाँ तो वह पुद्गलकर्म के हैं (ऐसा कहा है)। आहाहा!

जीव के नहीं। यह अस्ति-नास्ति की। यह अनेकान्त है। वे ऐसा कहते हैं कि व्यवहार से भी होता है और निश्चय से होता है, यह अनेकान्त है। यहाँ कहते हैं कि अपने स्वभाव से होता है और पर से नहीं होता, यह अनेकान्त है। आहाहा! ऐसा है। न रुचे, न सुहावे। वह **जीव के नहीं।** आहाहा! तो क्या करना? विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौषा शुक्ल ६, शनिवार, दिनांक-१४-०१-१९७८, कलश-१८४, प्रवचन-२०२

यह कलशटीका चलती है। सिद्धान्त जो सत्य है, उसकी टीका हुई, उसका कलश है, कलश। जैसे मन्दिर पर कलश होता है, वैसे यह कलश है। सार, सार चीज़ है। सार! १८४ (कलश)।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वतः एव हेयाः।।५-१८४।।

'चितः चिन्मयः भावः एव' क्या कहते हें ? कि जो यह चित् अर्थात् जीव पदार्थ है, वस्तु है, जीवद्रव्य तत्त्व है, वह चिन्मय है। वह ज्ञानमय है, चैतन्यमय है, चैतन्य प्रज्ञाब्रह्म! जीव वस्तु जो है, इस देह से भिन्न, यह (शरीर) तो जड़ है, उसका जाननेवाला जड़ से भिन्न है, वह चित् वस्तु का कायमी असली स्वभाव ज्ञानस्वभाव है—प्रज्ञा स्वभाव है, जानना-देखना स्वभाव है और जानना-देखना (ऐसे) स्वभाव के साथ आनन्द स्वभाव है। अणीन्द्रिय आनन्द उसका मूल स्वभाव है। सूक्ष्म बात है, भगवान! आज हिन्दी चलता है।

'चितः' जीवद्रव्य... जीव वस्तु—जीव पदार्थ देह से भिन्न **चेतनामात्र ऐसा स्वभाव है,...** उसका स्वभाव तो जानना-देखना ऐसा स्वभाव है और अतीन्द्रिय आनन्द उसका स्वभाव है, वह आत्मा है। **कैसा है चेतनामात्र भाव ?** है न ? **निश्चय से ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है।** क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव ही है, अन्यथा नहीं, अन्य नहीं। वह जानन-देखन (स्वभाव की) मूर्ति प्रभु है। ज्ञान की मूर्ति, ज्ञान का स्वरूप और ज्ञान स्वभाव का पिण्ड प्रभु आत्मा है। आहाहा! है ?

चेतनामात्र भाव है। **निर्विकल्प है,...** उस वस्तु में भेद नहीं। पुण्य-पाप, दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प हैं, वह तो उसमें है ही नहीं, परन्तु यह आत्मा और चेतन स्वभाव, ऐसा भेद भी नहीं। वह चेतन स्वभावमय भगवान आत्मा अभेद, निर्भेद है। भाषा समझ में आती है ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा, यहाँ आत्मा को ही भगवान कहते हैं। क्योंकि भग + वान, दो शब्द हैं। भग की व्याख्या ऐसी है कि ज्ञान और आनन्द जिसकी लक्ष्मी है। भग का अर्थ लक्ष्मी होता है। जिसकी लक्ष्मी ज्ञान और आनन्द—भग—लक्ष्मी, ज्ञान और आनन्द वान है। ज्ञान और आनन्द जिसका रूप है, जिसका वान है। लोग नहीं कहते हैं कि इसका शरीर का सफेद वान है, काला वान है। उसी प्रकार भगवान आत्मा... आहाहा! ज्ञान और आनन्द उसकी लक्ष्मी, उसका स्वरूप है। भग+वान, उसका वह वान—स्वरूप है। यह बीच में जो दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के विकल्प जो वृत्तियाँ उठती हैं, वह सब विकार है, दोष है, पर है। आहाहा! ऐसे आत्मा की अन्तर में दृष्टि करके अनुभव करना, तब अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, उसका नाम धर्म की प्रथम शुरुआत कही जाती है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान चिन्मय वस्तु! दया, दान, व्रत, भक्ति, तप या यह करुणा, कोमलता और पर की सेवा करना, यह सब भाव राग—विकार है। वह बेकार है, वह अपनी चीज़ नहीं, वह अपने में है नहीं। विकृत भाव नया उत्पन्न किया है, वह उपाधि और दोष है। उससे भिन्न भगवान आत्मा निर्विकल्प है। चेतनमय ज्ञानमय, जैसे शक्कर मिठासमय है, वैसे अफीम कड़वाहटमय है, कड़वास कहते हैं न? उसी प्रकार भगवान ज्ञानमय, जाननस्वभाव, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। प्रज्ञा और ब्रह्म अर्थात् आनन्द! आहाहा! उसके स्वरूप की अन्तर में दृष्टि हो, तब आत्मा का जितना अस्तित्व है, उतना प्रतीति में आता है, तब उसने सम्यक् सत् का स्वीकार किया, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा!

निर्विकल्प है, निर्भेद है,.... है? भेद नहीं। भेद नहीं का अर्थ (यह कि) वह चीज़ जो है, उसमें यह आत्मा और यह आनन्द और यह ज्ञान, ऐसे भेद नहीं हैं। वह आनन्द और ज्ञानमय ही वस्तु है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! समझ में आया? **निर्भेद है, सर्वथा शुद्ध है।** है? शुद्ध चैतन्यघन पवित्रता का पिण्ड वह है। आहाहा! जैसे शक्कर मिठास का पिण्ड है, जैसे शक्करकन्द होता है न? यह समझ में आता है? डॉक्टर! शक्करकन्द होता है, वह समझ में आता है? शक्करकन्द! हमारे (गुजराती में) शक्करिया कहते हैं, शक्करकन्द! (लोग) शिवरात्रि में खाते हैं न? इसके ऊपर की जो लाल छाल है, उसे न देखो तो पूरी चीज़ शक्करकन्द—शक्कर की मिठास का पिण्ड

है। शक्करकन्द कहते हैं, शक्करकन्द! शक्कर अर्थात् चीनी की मिठास का पिण्ड है। (ऊपर की) लाल छाल न देखो तो।

उसी प्रकार आत्मा में दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के जो विकल्प राग है, वह तो लाल छाल है, इससे भिन्न अन्दर शक्करकन्द जैसे शक्कर की मिठास का पिण्ड है, उसी प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। आहाहा! समझ में आया? यह चीज़ अनन्त काल में कभी भी सुनी नहीं, समझा नहीं। पशु के अनन्त अवतार किये, मनुष्य के अवतार अनन्त हुए, मनुष्य मरकर पशु अनन्त बार हुआ, पशु होकर नरक में अनन्त बार गया। नीचे नरक है। बहुत हिंसा, माँस, शराब खाता है, पीता है, उस प्राणी को नीचे एक नरकगति है, (वहाँ जाना पड़ता है)। जैसे यह मनुष्यगति है, पशुगति है, वैसे नरकगति नीचे है। यह सब लॉजिक से सिद्ध होता है, हों! यह सब सिद्ध करने जायें तो (यह बात) चले नहीं। अनन्त बार नरक में भी गया, अपनी चीज़ आनन्दकन्द प्रभु क्या है? उसका अनुभव, उसे अनुसरकर होना, आनन्द और ज्ञान को अनुसरकर (परिणमन) होना, ऐसे अनुभव बिना उसे पशु और नरक और तिर्यंच और मनुष्य भव अनन्त किये। साधु भी अनन्त बार हुआ, हजारों बार त्यागी हुआ, (परन्तु) उसमें कुछ है नहीं? स्त्री का त्यागी हुआ, राज का त्यागी हुआ, व्यापार-धन्धा, दुकान छोड़ दी, बाबा हो गया, परन्तु उसमें कुछ है नहीं।

अन्दर में आनन्दकन्द प्रभु है, उसका जहाँ तक अनुभव, सत्कार, स्वीकार, अन्तर के आनन्द का अनुभव न हो, तब तक उसके जन्म-मरण मिटते नहीं। चौरासी (लाख) योनियों में अनन्त बार उपजता है। चौरासी लाख योनियाँ हैं, एक-एक योनि—उत्पत्तिस्थान में अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। अनन्त काल है, आत्मा अनादि है, (उसकी) आदि है? है... है... है... ऐसे अनन्त काल में है... है... है... है... कभी आत्मा नहीं था, ऐसा नहीं है। है... है... है... है... वर्तमान है, भविष्य में है। वह तो त्रिकाल रहनेवाली चीज़ है। उस चीज़ में आनन्द और ज्ञान भरा है, उसके अनुभव बिना... यह कहते हैं, देखो!

'किल ये परे भावाः ते परेषां' 'किल' निश्चय से शुद्ध चैतन्यस्वरूप से... भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप के साथ **अनमिलते हैं...** मिलान नहीं होता। चैतन्य स्वरूप आनन्द और ज्ञानस्वभाव के साथ अनमेल—मेल नहीं खाते, ऐसे पुण्य-पाप के विकार

भाव अनमेल हैं। उसके साथ मिलान नहीं होता। भिन्न चीज़ है। आहाहा! है? **'किल' निश्चय से... 'परे भावाः ते परेषां' निश्चय से शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अनमिलते हैं...** क्या? कौन अनमेल है?

द्रव्यकर्म... जड़कर्म है। अन्दर में कर्म है। यह पुण्य-पाप के भाव करता हे तो कर्म बँधते हैं। कर्म के कारण पुण्य हो तो यह पैसा मिल जाये, पाप हो तो निर्धनता हो जाये, ऐसी कर्म चीज़ है। बुद्धि बिना के खाली बारदान हों। बारदान समझ में आया? बुद्धि बहुत न हो, तो भी पाँच-पाँच लाख पैदा करते हैं। क्योंकि पूर्व के पुण्य के रजकण पड़े हों, उसके कारण से मिलते हैं। वह कहीं बुद्धि से, प्रयत्न से मिलते नहीं।

मुमुक्षु : उसमें तो पुरुषार्थ करना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी पुरुषार्थ काम नहीं करता। यह तो कहा नहीं? हमने तो बहुत देखा है न? बुद्धि के बारदान जैसे महीने में पाँच-पाँच लाख पैदा करते हैं। बारदान समझे? खाली, थोथा जैसे। और बुद्धि के खां, बहुत बुद्धिवाला हो तो भी दो हजार पैदा करने में पसीना उतरे। वह कहीं बुद्धि के (कारण से नहीं मिलते)। सोगानी! कैसे होगा यह? होशियारी करे तो पैसा मिले, ऐसा होगा या नहीं? नहीं? कितना देखा है! कुछ माल नहीं होता। महीने में पाँच लाख की आमदनी, दस लाख की आमदनी (हो)। अरे...! अभी है न! अरबस्तान में। डॉक्टर! अरबस्तान में एक देश है। देश छोटा है परन्तु उसमें पेट्रोल बहुत निकला, पेट्रोल! कितना? कुँए निकले हैं। देश छोटा है। वह एक घण्टे की डेढ़ करोड़ की आमदनी है। क्या? आमदनी! एक घण्टे की डेढ़ करोड़ की आमदनी है। अभी है। अरबस्तान में है। हमने तो सब सुना है न! इसकी अपेक्षा भी दूसरा एक देश अबरस्तान में (ऐसा) है कि उसे भी इतना पेट्रोल निकला है, देश छोटा है परन्तु कुँए बहुत निकले तो एक दिन की एक अरब की आमदनी है। आमदनी! क्या कहा? एक दिन की एक अरब की आमदनी है। है तो माँस खानेवाले हल्के लोग, परन्तु पूर्व का पुण्य है तो मिलता है। बाद में तो नरक में जानेवाले हैं। मरकर तो नीचे नरक में जायेंगे। परन्तु पूर्व के पुण्य के कारण एक दिन की एक अरब की आमदनी है। आहाहा! उसमें क्या हुआ? वह कहीं बुद्धि का फल है? बुद्धिवाले बहुत हैं। महीने में दो हजार पैसा करना हो तो भी बहुत मेहनत करनी पड़े, नौकरी करे

और सेवा करे और मक्खन चोपड़े। मक्खन अर्थात् बड़े लोगों के गुणगान करे, तब मुश्किल से दो हजार पैदा करे। वह कहीं बुद्धि का फल नहीं। वह तो पूर्व के पुण्य के कर्म पड़े हों, उसका वह फल है। उसे द्रव्यकर्म कहा जाता है। द्रव्यकर्म अर्थात् जड़ कर्म। उसके कारण से उसे (पैसा) मिलता है। वह द्रव्यकर्म भी आत्मा से भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

द्रव्यकर्म... एक बात आयी। **भावकर्म....** भावकर्म अर्थात् क्या? भावकर्म शब्द है? डॉक्टर! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, भगवान का स्मरण यह सब भाव राग है। उस राग को यहाँ भावकर्म—मलिन कहते हैं। वृत्ति का उत्थान है। भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसमें जो भगवान का नाम स्मरण (करता है), भगवान... भगवान... भगवान... ईश्वर... ईश्वर या णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आईरियाणं... ऐसा करना, वह एक विकल्प है, वृत्ति है, राग है, विकार है, भावकर्म है, मलिन है, जहर है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो अलौकिक बातें हैं! वह भावकर्म भी आत्मा से भिन्न है।

आत्मा तो चैतन्य आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है। उससे भावकर्म—हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ राग, वह विकार है, वह भावकर्म है, वह विकृत भाव है, वह भिन्न है और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा शुभभाव है, वह भी राग है, वह भी मलिन है। वह भी आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। यह डॉक्टर-बॉक्टर सबकी ऑनरेरी सेवा करते हैं न? वह सब राग है, कहते हैं। यद्यपि नौकरी तो करते हैं। बड़े हॉस्पीटल में जाये फिर अपनी डॉक्टरी चले। दो-चार महीने हॉस्पीटल में मुफ्त काम करे, मुफ्त! मुफ्त समझे? पैसे लिये बिना। पश्चात् अपनी दुकान चले, इसलिए करते हों। ऐसा माने कि ऑनरेरी (निःशुल्क) है, परन्तु अन्दर आशा यह है। वह सब राग और विकार भाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह शुभकर्म करने से आत्मा का रास्ता साफ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, नुकसान करता है। यह बात चलती है। यहाँ यही बात चलती है। शुभकर्म को भावकर्म कहते हैं। जितने शुभकर्म हैं, वे सब वृत्तियाँ हैं, राग है, विकल्प है। वह आत्मा का स्वरूप नहीं, नुकसान करता है। सूक्ष्म बात है। पूरी दुनिया को हम तो जानते हैं न! यह बात दुनिया से अत्यन्त भिन्न है।

मुमुक्षु : दुनिया में फिर क्या काम करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : करने का कुछ नहीं। अन्दर पुण्य से भिन्न होकर आत्मा के आनन्द का, ज्ञान का अनुभव करना, वह (करने का है), बाकी सब मिथ्या है, भ्रम है।

मुमुक्षु : संसार किस प्रकार चलेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार कहाँ चलाना है? संसार का तो नाश करना है। यहाँ तो संसार का नाश तो करना है। संसरण इति संसार:, संसार का अर्थ क्या? संसरण इति संसार:। भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसमें से हटकर पुण्य और पाप के शुभभाव करता है, वह सब संसार है। उसमें चार गति भटकने की मिलती है। चौरासी लाख योनियाँ मिलती हैं, उसमें परिभ्रमण टलता नहीं। आहाहा! ऐसी बात भारी कठिन!

इसने कभी (गम्भीरता से) लिया ही नहीं, कभी सुना ही नहीं यह अन्दर चीज़ क्या है? सुना ही नहीं, प्रेम से सुना ही नहीं। सुनता है, परन्तु प्रेम से सुना नहीं। ऐसे तो अनन्त काल में अनन्त बार सुना है परन्तु यह चीज़ क्या है? और यह राग क्या है? उसका भेद, पर से भिन्न है, ऐसी बात प्रेम से सुनी नहीं। आहाहा! समझ में आया? बात तो ऐसी है, भगवान! क्या करे? आहाहा!

दूसरे को आहार-पानी देने का भाव, समझे? आहार, पानी / जल, औषध, रोगी हो तो मुफ्त औषध दो, वह सब भाव राग है, भावकर्म है, पुण्य है, मलिन है, आत्मा अमृत स्वरूप से विरुद्ध जहर है। यहाँ सूक्ष्म बात करते हैं।

मुमुक्षु : इसमें करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना यह कि, राग से भिन्न होकर अपने ज्ञान का अनुभव करना। इसके बिना संसार का अन्त तीन काल में आनेवाला नहीं। हमने तो पूरी दुनिया देखी है न डॉक्टर! यह तो ८८ वर्ष हुए। कितने? ८८ (हुए), ९० में दो कम। तुमको ४८ हुए हैं, यहाँ ८८ हुए है। दुकान छोड़े ६५ वर्ष हुए हैं। पालेज में हमारी दुकान थी। भरूच और बड़ोदरा के बीच पालेज है। वहाँ हमारे पिताजी की दुकान थी। अभी दुकान है। वहाँ हम रहे थे, पाँच वर्ष दुकान चलायी थी। सत्रह वर्ष की उम्र से। सत्रह से बाईस पाँच वर्ष। बाईसवें वर्ष में छोड़ दी। बाईस वर्ष की उम्र में दुकान छोड़ दी। अभी तो ८८

हुए। हमने तो सब देखा है, पूरी दुनिया देखी है। दस हजार मील तो हिन्दुस्तान में मोटर में तीन बार घूमे हैं। दस-दस हजार मील, एक-एक बार, ऐसे तीन बार हिन्दुस्तान में घूमे हैं। बड़ी मोटर है न? क्या कहलाती है वह? 'मंगलवर्धिनी' नहीं, वह तो नाम है। प्लेमाउथ ऐसा कुछ कहते हैं। देखा है, सब देखा है। वह चीज़ दूसरी है। आहाहा!

यहाँ तो भगवान भावकर्म उसे कहते हैं... यह आत्मा है, उसका परमार्थ से सर्वज्ञस्वभाव है। शान्ति से सुनना, प्रभु! बात तो अलौकिक है! पूरी दुनिया से अलग है। यह आत्मा जो अन्दर है, उसका स्वभाव सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ! ज्ञान स्वभाव पूर्ण है। तो ऐसा सर्वज्ञ स्वभाव (कि) जिसका अन्तर में अनुभव करते-करते प्रगट दशा में सर्वज्ञभाव प्रगट होता है, वर्तमान में दशा (प्रगट होती है), स्वभाव में है, वह अनुभव करते-करते जब दशा में सर्वज्ञ (होता है अर्थात् कि) तीन काल-तीन लोक को जानने की शक्ति की व्यक्तता प्रगट होती है, उसे सर्वज्ञ परमात्मा कहा जाता है। उन सर्वज्ञ परमात्मा की यह वाणी है। इच्छा बिना ॐध्वनि निकलती है। आत्मा अन्दर सर्वज्ञस्वरूपी है, शक्ति—स्वभाव—सामर्थ्य—गुण—भाव, उसका अनुभव करते-करते वर्तमान दशा में, वर्तमान हालत में, वर्तमान क्या कहते हैं? पर्याय, पर्याय यह नहीं समझे। हालत, वर्तमान दशा, वर्तमान दशा में सर्वज्ञपना प्रगट होता है।

जैसे लैंडीपीपर—छोटी पीपर होती है। चौंसठ पहरी चरपराहट अन्दर भरी है, वह घोंटने से बाहर आती है। वह है, वह आती है, प्राप्त की प्राप्ति है। वह घोंटने से आती हो तब तो कोयला और लकड़ी को घोंटने से आना चाहिए। तो उसमें से है, वह आती है। उसी प्रकार आत्मा में... चौंसठ अर्थात् पूर्ण रुपया रुपया पूर्ण सर्वज्ञ और पूर्ण आनन्द से भरा पड़ा प्रभु आत्मा है। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

वह जब अन्दर में अनुभव करके, राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग भी जहर है, नुकसानकारक है, ऐसे भिन्न करके अपने आत्मा का अनुभव करता है, तब अन्तर पहला सम्यक्—सत्य दर्शन होता है। जैसी चीज़ है, उसके दर्शन, देखना, प्रतीति होती है। पश्चात् अन्तर में लीनता करते... करते... करते... करते... सर्वज्ञपना प्रगट होता है। उन सर्वज्ञ की यह वाणी है। सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें इच्छा नहीं होती, परन्तु ॐ ध्वनि

निकलती है। 'मुख ॐ ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' ॐ ध्वनि—ॐ ऐसी आवाज इच्छा बिना निकलती है। वह यह वाणी है। सूक्ष्म बात है।

उस वाणी में यह आया कि '**परेषाम् भावः**' आहाहा! द्रव्यकर्म—जड़कर्म पर है, भावकर्म पर है। आहाहा! शुभकर्म कहते हैं न? शुभकर्म—सत् कर्म! यह सब राग है।

मुमुक्षु : सदाचार?

पूज्य गुरुदेवश्री : सदाचार। सदाचार तो किसे कहते हैं? सदाचार! सत्... सत् आचार। सत्—ज्ञान और आनन्द, उसका आचार, उसे सदाचार कहते हैं। राग, वह सदाचार नहीं। दुनिया से भिन्न चीज़ है। सदाचार—सत् भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है, वह सत् है, उसका आचार आनन्द और ज्ञान में रमणता करना, वह सदाचार है। लौकिक सदाचार—यह क्रियाकाण्ड, दया, दान, व्रत, तप को लौकिक सदाचार कहते हैं, परन्तु वह बन्ध का कारण है, संसार का कारण है। उसमें संसार मिलता है, भव मिलता है। भव का नाश उसमें नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? उसे भावकर्म कहते हैं।

करुणा, कोमलता, राग की मन्दता, वह सब भावकर्म, विकार है, वह वृत्ति का उत्थान है। चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञान और आनन्द का कन्द, उसमें वृत्ति का उत्पन्न होना, वह सब राग—मैल है। चाहे तो दया, दान, अनुकम्पा, भक्ति, पूजा, व्रत, तप, अपवास करना, वह सब वृत्तियाँ हैं, वह राग है। उसे यहाँ भावकर्म कहते हैं। उससे भगवान अन्दर भिन्न है। भारी कठिन! जगत को कहाँ (पड़ी है)? अनन्त काल से भटकता है, रुलता है। अपनी चीज़ की क्या महत्ता है और चीज़ में कितनी शक्तियाँ—सामर्थ्य है, उसकी प्रतीति की खबर नहीं है।

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा ज्ञानमय, अतीन्द्रिय आनन्दमय है, वह इन्द्रिय से और राग से जानने में नहीं आता। वह तो अपने अन्तर आनन्द और ज्ञानस्वभाव से, अपने स्वभाव से स्वभाव जानने में आता है। तब उसे सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्य जैसी चीज़ है, उसकी प्रतीति और देखना कहा जाता है। तत्पश्चात् स्वरूप में रमणता,

आनन्द, आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द में अनुभव हुआ था, उस अतीन्द्रिय आनन्द में लीनता करते... करते... करते... पर्याय—वर्तमान हालत में अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण होना, उसका नाम सर्वज्ञ और परमात्मा कहा जाता है। आहाहा! यह बात है। दूसरी सब बातें गड़बड़ है। समझ में आया? यह कहा न? देखो न!

अनमिलते हैं... भगवान ज्ञानानन्दस्वभाव के साथ इस राग का मिलना होता ही नहीं। अनमेल (कहा) है न? आहाहा! जैसे शक्कर के साथ अफीम अनमेल है, मिलती नहीं है, भिन्न चीज़ है। उसी प्रकार भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु के साथ पुण्य के परिणाम या पाप के भाव अनमेल हैं। वह विकार है, भगवान अन्दर अविकारी स्वरूप है। अनन्त काल में कभी सुना नहीं, किया नहीं। ऐसा का ऐसा अनन्त बार बाबा हो गया, संन्यासी हुआ, साधु हुआ, नग्न हुआ परन्तु अन्तर आत्मज्ञान और राग के विकल्प से भिन्न चीज़ है, ऐसे अनुभव बिना भव का भ्रमण मिटता नहीं। डॉक्टर! यहाँ ऐसी बात है। आहाहा! यह कहते हैं, देखो!

द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म... नोकर्म अर्थात् शरीर। यह शरीर, वाणी को नोकर्म कहते हैं। इन तीनों से भिन्न चीज़ अन्दर है। जड़कर्म, जिससे पैसे मिले—लक्ष्मी मिले या दरिद्रता मिले, ऐसा कर्म। और भावकर्म (अर्थात्) पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभ क्रिया—राग और नोकर्म (अर्थात्) शरीर और वाणी, इन सबसे भगवान भिन्न है। आहाहा! है?

नोकर्मसम्बन्धी परिणाम.... परिणाम अर्थात् दशा—अवस्था। **वे समस्त पुद्गलकर्म के हैं,....** वे जड़ के हैं, आत्मा के नहीं। आहाहा! यहाँ तक तो कल आया था। आज फिर से लिया। यहाँ तक कल आया था। आज डॉक्टर आये हैं, इसलिए हिन्दी में फिर से लिया है। आहाहा!

एक ओर भगवान आत्माराम तथा एक ओर पुण्य-पाप के परिणाम और शरीर, कर्म—एक ओर गाँव। ये दोनों चीज़ भिन्न है। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल हुआ अनादि से परिभ्रमण चौरासी लाख योनि में करता है। अनन्त अवतार किये। कीड़ा, कौआ, कुत्ता, कौआ, नरकयोनि, स्त्री, पुरुष ऐसे भव अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनादि

से करता आया है। साधु भी अनन्त बार हुआ, त्यागी हुआ, परन्तु आत्मा और राग की वृत्ति से, विकल्प से भावकर्म से भिन्न है, ऐसे अनुभव बिना जन्म-मरण मिटे नहीं, यह बात है। समझ में आया? चाहे तो आज समझो, चाहे तो कल समझो, चाहे तो अनन्त काल (के बाद समझो), परन्तु यह समझे बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा।

मुमुक्षु : भक्तिमार्ग भी तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्तिमार्ग यह पुण्य—राग है, विकार है। आता है, निश्चयभक्ति तो अपनी। अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता होना, वह निश्चय सत् भक्ति है और परमात्मा की भक्ति है, वह राग है, पुण्य है। पाप से बचने के लिये पुण्य आता है, परन्तु (वह) राग हेय है। उपादेय नहीं, आदरणीय नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : हेय अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : हेय अर्थात् छोड़नेयोग्य। छोड़नेयोग्य है। कमजोरी से आता है परन्तु अन्दर चीज़ जो है, वह आदरणीय है। आनन्द प्रभु सच्चिदानन्द! सच्चिदानन्द—सत् शाश्वत् चिद् ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द। उस अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का पिण्ड सत् आत्मा है, उसका अनुभव करना, वह मुक्ति का कारण और धर्म है। बाकी सब व्यर्थ है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई!

मुमुक्षु : लोक की सेवा कब करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता था? धूल की! शरीर में रोग आवे, वह डॉक्टर भी मिटा नहीं सकता। डॉक्टर की देह भी क्षण में छूट जाती है। उसकी—जड़ की अवस्था होती है, उसे आत्मा रोक नहीं सकता। अपना (आत्मा का) अधिकार उसमें है नहीं। आहाहा! यह कहा न? नोकर्म। नोकर्म अर्थात् शरीर, वाणी, उसके ऊपर आत्मा का अधिकार नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! समझ में आया? आहाहा!

अन्दर प्रभु विराजता है, भाई! तुझे खबर नहीं। तुझे खबर नहीं। वह चीज़ अन्दर ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द प्रभु है। उससे शरीर, कर्म, पुण्य-पाप के, दया, दान, रागादि के भाव भिन्न हैं, अनमेल है। इस चैतन्यस्वभाव के साथ विकार के भाव का मिलान नहीं होता। अनमेल हैं। है न? **अनमिलते हैं...** आहाहा! कभी सुना नहीं,

दरकार की नहीं। ऐसी की ऐसी जिन्दगी (व्यतीत की)। ऐसा किया और वैसा किया और ऐसा किया... करते-करते (जिन्दगी पूरी की), मैं करूँ... मैं करूँ... यह करना वह मरना है। भगवान तो ज्ञान, आनन्द में मैं पर का करूँ, वह तो राग है और राग है, वह तो आत्मा को नुकसान करनेवाला है। आहाहा!

मुमुक्षु : सूक्ष्म बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा, भगवान! सूक्ष्म तो है। हमको खबर नहीं? यहाँ तो ८८ वर्ष हुए। ६५ वर्ष तो दुकान छोड़े हुए। ६५, ६५ समझ में? ६० और ५। दुकान छोड़े हुए ६० + ५ हुए। दुकान है, पालेज में दुकान है, बड़ी दुकान है। ३०-३५ लाख रुपये हैं। ३-४ लाख की आमदनी है, अभी दुकान है। हमको तो छोड़े हुए ६५ वर्ष हुए। वह तो धूल थी। आहाहा! बड़े भाई ने बहुत कहा था कि दुकान में नहीं आना, दुकान छोड़ दो, देश में रहो। मैं आजीविका दूँगा, परन्तु संसार न छोड़ो। बड़े भाई थे। आजीविका दूँगा, तुम देश में रहो। दुकान छोड़ दे, दुकान में नहीं आना। परन्तु मैंने कहा, अब संसार में रहने का भाव नहीं होता। पहले दीक्षा ली। स्थानकवासी है न? ढूंढिया। मुँहपत्तीवाले। उसमें हमारे पिताजी का धर्म था तो उसमें दीक्षा ली थी। २१ वर्ष और चार महीने उसमें रहे। और साढ़े तेईस वर्ष संसार में (गृहस्थी में) रहे, ४५ वहाँ और ४३ यहाँ हुए। (कुल) ८८ हुए। आहाहा! यह तो सब जंगल था। यहाँ तो पूरा जंगल था, पशु बैठते थे। अब तो करोड़ों रुपये डल गये हैं, करोड़... एक करोड़! २६ लाख का तो यह एक मकान (परमागममन्दिर) है। केवल संगमरमर का है। २६ लाख का और पौने चार लाख अक्षर हैं न? वे शास्त्र के हैं। परन्तु बात बहुत सूक्ष्म, भगवान!

मुमुक्षु : यह अक्षर है, वह क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अक्षर जड़ है। मशीन से उत्कीर्ण हैं, हिन्दुस्तान में पहली बहली इटली से मशीन आयी है। इटली से (आयी हुई) मशीन से पौने चार लाख अक्षर उत्कीर्ण हैं। २६ लाख का तो मकान है और उद्घाटन के समय बहुत लोग आये थे— छब्बीस हजार। उद्घाटन समझे न? छब्बीस हजार लोग! तो ग्यारह लाख का खर्च तो वह हुआ। ३७ लाख का खर्च तो यह हुआ। वह तो सब धूल है। बाहर की चीज़ ऐसी

होती है, होनेवाली होती है। आहाहा! भाव हो तो उसमें शुभ है। परन्तु वह भी पुण्य है, राग है, जहर है, नुकसान करनेवाला है। आहाहा! बात तो ऐसी बहुत कठिन है, भगवान! क्या हो? अनन्त-अनन्त काल चौरासी लाख योनि में अवतार करते-करते चला आया है।

मुमुक्षु : एकसाथ तो आत्मा का अनुभव होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभव एकसाथ होता है। जब करता है, तब एकसाथ होता है। क्रियाकाण्ड करे तो होता है, ऐसा नहीं है। उसे पर की अपेक्षा है नहीं। सूक्ष्म बात है। वह तो सब खबर है। सबका ख्याल है। करोड़ों श्लोक देखे हैं, करोड़ों ग्रन्थ देखे हैं। पूरी जिन्दगी इसमें गयी है। ७१ वर्ष से। १७ वर्ष से सब शास्त्रों का अभ्यास है। ७१ वर्ष से शास्त्र का अभ्यास है! हमने दूसरा कुछ किया ही नहीं। परन्तु यह चीज़ अन्दर (आयी वहाँ)... ओहो! सर्व शास्त्र अभ्यास निरर्थक है।

यहाँ आत्मा आनन्दमूर्ति भगवान, आहाहा! सूक्ष्म है, प्रभु! वह सीधे ही (अनुभव में आता है)। पहले उसका ज्ञान होता है कि आत्मा क्या है? विकार क्या है? भावकर्म क्या है? उसकी भिन्नता का ज्ञान होता है। परन्तु होता है पर की अपेक्षा रखे बिना आत्मा का अनुभव होता है। अपने आत्मा के अनुभव में पर की कोई अपेक्षा है नहीं। यह स्वतन्त्र कर्ता—करनेवाला है। कर्ता उसे कहते हैं, स्वतन्त्ररूप से करे वह कर्ता। तो अपना अनुभव स्वतन्त्ररूप से करे। राग और निमित्त की, सत् कर्म की अपेक्षा बिना (अनुभव करे), उसका नाम कर्ता—स्वतन्त्ररूप से करे, (उसे) कहा जाता है। बहुत अन्तर है, बहुत अन्तर, बहुत अन्तर है, हमको खबर है। बहुत अन्तर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसम्बन्धी परिणाम....** है? **वे समस्त पुद्गलकर्म के हैं,....** वे तो सब जड़ हैं, जड़। आत्मा नहीं है। आहाहा! जैसे यह पुद्गल मिट्टी है, मिट्टी है न? यह तो धूल है। उसी प्रकार अन्दर पुण्य-पाप के भाव हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के (भाव हैं), वे भी पुद्गल अचेतन हैं। उसमें चैतन्य के, ज्ञानस्वरूप चैतन्य के तेज का अंश नहीं है। वह अन्ध है। आहाहा! रागादि होते हैं, भगवान की भक्ति, पूजा होती है परन्तु वह अन्ध है। उसमें चैतन्य चमत्कार जाननेवाले

भगवान का एक अंश भी राग में नहीं है। तो वह राग अन्ध है और भगवान चैतन्य जागृत है। आहाहा! भाई! समझ में आता है न? आहाहा! नैरोबी से आये हैं, अफ्रीका। यहाँ बहुत लोग बाहर से आते हैं।

यहाँ कहते हैं, **वे समस्त पुद्गलकर्म के हैं, जीव के नहीं हैं।** है? है डॉक्टर? वह पुद्गलकर्म के हैं, जड़ के हैं। भाव—पुण्य—दया, दान, व्रत परिणाम, वे जड़ के हैं, जीव के नहीं। आहाहा! **'ततः चिन्मयः भावः ग्राह्यः एव परे भावाः सर्वतः हेयाः एव' तिस कारण से 'चिन्मयः भावः' शुद्ध चेतनामात्र है जो स्वभाव वह....** ग्राह्य है। आहाहा! जानना... जानना... जानना... जानना... जो स्वभाव है, वह ग्राह्य (अर्थात्) पकड़नेयोग्य है। वह पकड़ने और अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! ग्राह्य है (अर्थात्) ग्रहण करनेयोग्य है।

ज्ञानमय भाव भगवान अन्दर चैतन्यप्रकाश मूर्ति, चैतन्य के नूर का पूर है। आहाहा! क्षेत्र भले छोटा हो, परन्तु अन्दर चैतन्यप्रकाश का नूर—तेज का पूर है। उस तेज पूर से रागादि भिन्न है। वह तेज पूर ग्राह्य है। आहाहा! ऐसा तो कभी सुना भी नहीं हो। डॉक्टर! बातें कठिन है, भगवान! क्या कहें? यह चीज़, ऐसी बात है। आहाहा!

यहाँ प्रभु कहते हैं, भगवान तो अन्दर चिन्मय वस्तु है न! आनन्दमय सच्चिदानन्द प्रभु है न! वह चीज़ ग्राह्य है। वह ग्रहण करनेयोग्य, आदर करनेयोग्य तो वह चीज़ है। आहाहा! तथा पुण्य और पाप, सत्कर्म आदि कहलाते हैं, वे ग्राह्य नहीं, प्रभु! ऐसी बात है, भगवान! आहाहा! प्रभु चैतन्य आनन्दमय प्रभु, वह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, वह ग्राह्य है। वह वस्तु है, सत् है, शाश्वत् है, तत्त्व है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान जो सत् स्वरूप है, वही ग्राह्य—ग्रहण करनेयोग्य हो तो वह एक चीज़ है। उसमें जो कोई पुण्य और पाप, शुभ-अशुभभाव, शुभकर्म या अशुभकर्म जो उत्पन्न होते हैं, वे सब (पुद्गलकर्म के हैं)। यह कहते हैं, देखो!

'ग्राह्य एव' जीव का स्वरूप है, ऐसा अनुभव करना योग्य है;.... आहाहा! मुमुक्षु — मोक्ष के अभिलाषी को इस एक जीव का अनुभव करनेयोग्य है। मुमुक्षु कहो या योगी कहो, भाई! संस्कृत में मुमुक्षु का अर्थ योगी किया है। संस्कृत है न? इसकी

सब संस्कृत टीका है। सब देखा है न! मुमुक्षु का अर्थ यह किया। बहुत करके सिद्धान्त तो इसमें है, हों! सिद्धान्त है, इसमें है, बाद का सिद्धान्त आता है उसमें है। '**मोक्षार्थिभिः**' '**मुमुक्षुभिः**' '**योगिभिः**' बाद का श्लोक आता है न? पाठ में है। मूल संस्कृत है। इस श्लोक का संस्कृत है, संस्कृत।

'**मोक्षार्थिभिः**' मोक्ष का जिसे प्रयोजन है। पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का जिसे प्रयोजन है। मोक्ष अर्थात् मुक्ति। दुःख से, संसार से मुक्ति का जिसका अभिप्राय (हुआ है), ऐसा मुमुक्षु। उसे योगी कहते हैं, बाकी सब भोगी है। आहाहा! समझ में आया? भले त्यागी होकर बैठा हो। राजपाट (छोड़कर बैठा हो), परन्तु अन्दर राग का प्रेम है, वे सब भोगी हैं, योगी नहीं। आहाहा!

यहाँ परमात्मा योगी तो उसे कहते हैं कि मोक्षार्थी—जिसे पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति (चाहिए है), उसे मुमुक्षु कहते हैं और उसे योगी कहते हैं। क्यों? कि अपना जो ज्ञान और आनन्द त्रिकाली स्वभाव है, उसमें अपना जुड़ान कर दिया। योग (अर्थात्) जुड़ान... जुड़ान... जुड़ान। योग कर दिया इसका नाम योगी है। और जहाँ तक राग में जुड़ान है, वहाँ तक वह भोगी है, योगी नहीं, चाहे तो साधु हुआ हो (तो भी)। आहाहा! सत् कर्म में राग होता है और राग का प्रेम है, राग में रूका है, वहाँ तक वह भोगी है, योगी नहीं। आहाहा! उसका संस्कृत है। यह तो संस्कृत में से हिन्दी बनाया है।

आहाहा! कहते हैं, **शुद्ध चेतनामात्र है जो स्वभाव वह....** ग्राह्य है, **ऐसा अनुभव करना योग्य है;....** देखा? ग्राह्य का अर्थ किया। अन्दर जो पुण्य और शुभ-अशुभकर्म जो राग है, विकल्प है, उससे भिन्न जो चीज़ अन्दर है, वह ग्राह्य है। वह अनुभव करनेयोग्य है। वह चीज़ जो पड़ी है, आनन्दकन्द प्रभु, उसे अनु—अनुसरकर होना भवना—होना, उसे अनुसरकर होना, वह करनेयोग्य है। बाकी राग का अनुसरण होना, वह तो भव बन्ध का कारण और संसार है। आहाहा! दया, दान और व्रत, भक्ति, पूजा, यह सब संसार है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। संसार मिले, यह धूल मिले। यह पैसे के—धूल के सेठिया होते हैं न? धूल के धनी! करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़, अरब करोड़... यह पूर्व के ऐसे कोई पुण्य किये हों तो उससे मिले। उससे संसार का अभाव हो या धर्म हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा!

दो अरब और चालीस करोड़। कहा था। गोवा में था। गोवा में है न? गोवा। 'दीव', 'दमण' और 'गोवा' उसमें एक जैन था, स्थानकवासी था। (उसके पास) दो अरब चालीस करोड़ रुपये थे। दो अरब चालीस करोड़! २४० करोड़। पाँच मिनिट में देह छूट गयी। ६१ वर्ष की उम्र! आहाहा! दुखता है, डॉक्टर को बुलाओ। उसकी स्त्री को... क्या कहलाता है वह? हेमरेज होता है न? हेमरेज होता है न? हेमरेज हुआ था। गोवा में तो चालीस लाख का मकान है। रहने का चालीस लाख का बड़ा (मकान), तो हेमरेज के लिये मुम्बई आये थे। स्त्री तो असाध्य थी, परन्तु रात्रि में डेढ़ बजे खड़े हुए (और कहा) मुझे दुःखता है। बुलाओ डॉक्टर को! डॉक्टर आवे वहाँ चले गये, देह छूट गयी। पैसा क्या धूल करे? दो अरब चालीस करोड़! चालीस लाख का मकान! और उसकी स्त्री उस मकान में हेमरेज में डेढ़ वर्ष तक असाध्य रही। डेढ़ वर्ष हेमरेज! कुछ भान नहीं। चालीस लाख का मकान! धूल में क्या है? आत्मा अन्दर है, उसकी तो खबर नहीं।

आनन्द और ज्ञान की लक्ष्मी का तो भण्डार भगवान है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... बेहद स्वभाव, जिसके ज्ञान की बेहद अपरिमित शक्ति! और अतीन्द्रिय आनन्द की अपरिमित शक्ति का भण्डार भगवान है, उसकी तो कीमत नहीं, उसकी तो महिमा नहीं, उस ओर का झुकाव नहीं, उस ओर की सन्मुखता नहीं और राग और दया, दान, व्रत के सन्मुख है (वह) भिखारी संसार में भटकनेवाला है। भिखारी है, रंक है, रंक! रंक समझ में आता है? भिखारी कहते हैं न? रंक कहते हैं। शास्त्र में संस्कृत में वरांका कहते हैं। संस्कृत में उसे वरांका (कहते हैं)। वरांका अर्थात् भिखारी, रंक। आहाहा! बादशाह तो यह है। अन्दर चिदानन्द भगवान शुभ-अशुभ राग की क्रिया से भिन्न ग्राह्य होता है, वह बादशाह है। वह राजा है, वह सेठ है। वह सेठ है—वह श्रेष्ठ है। सेठ अर्थात् श्रेष्ठ है। बाकी सब हेठ है। समझ में आया? देवीलालजी! ऐसी बात है। आहाहा!

मुमुक्षु : माँगे, वह भिखारी या दान दे वह भिखारी?

पूज्य गुरुदेवश्री : भिखारी, दान दे तो भी भिखारी है। उसमें भी माँगता है न कि यह दान दूँ तो मुझे कुछ मिलेगा। यहाँ तो अलग प्रकार है, भगवान! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं और ऐसा है कि ग्राह्य भगवान चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप जिसका स्वभाव है, उसकी मर्यादा नहीं होती। अपरिमित अमर्यादित जिसमें आनन्द और ज्ञान स्थित हैं। वही चीज़ ग्राह्य है। धर्मी जीव को जन्म-मरण का अन्त लाने के लिये वही चीज़ ग्राह्य अर्थात् अनुभव करनेयोग्य है। जड़कर्म-भावकर्म और नोकर्म... यह कहेंगे। देखो!

उसके साथ **अनमिलते हैं जो....** आत्मा के आनन्द और ज्ञान के साथ मिलान नहीं खानेवाले। मिलान नहीं खाता (ऐसी) अन्दर भिन्न चीज़ है। अनमेल द्रव्यकर्म (अर्थात्) जड़कर्म। भावकर्म (अर्थात्) पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ कर्म। नोकर्म (अर्थात्) शरीर। वह **हेया—सर्वथा प्रकार जीव का स्वरूप नहीं है....** आहाहा! ऐसा है, भगवान! बात तो ऐसी है। पहले तो इसकी समझ करनी पड़ेगी। पश्चात् अन्दर में प्रयोग करना। अभी समझ का ठिकाना नहीं, वह अन्दर में प्रयोग किस प्रकार करेगा? आहाहा! समझ में आया?

दो बातें की हैं कि भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप स्वच्छ प्रभुत्व (स्वरूप), अपरिमित शक्ति का प्रभु ही अनुभव करनेयोग्य है, वहाँ ही जानेयोग्य है, वहाँ सन्मुख होनेयोग्य है और उससे जितने पर जड़कर्म और पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव, षट् कर्म आदि कहते हैं, वे सब हेय हैं। सब छोड़नेयोग्य है। है?

'सर्वतः हेयाः' सर्वथा प्रकार जीव का स्वरूप नहीं है... आहाहा! **ऐसा अनुभव करना योग्य है।** आहाहा! ऐसी बात है। एक ओर आत्माराम, एक ओर पुण्य-पाप के भाव, शरीरादि गाँव! दोनों भिन्न चीज़ है। आहाहा! तो एक है ग्राह्य, एक है छोड़नेयोग्य। रागादि भाव दया, दान, व्रत, आदि के विकल्प हैं, वे छोड़नेयोग्य हैं और स्वभाव जो उनसे भिन्न है, आनन्दकन्द प्रभु है, वह ग्रहण करनेयोग्य—अनुभव करनेयोग्य है। यह माल है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ है, वह विपरीत चीज़ है। आहाहा!

डॉक्टर बहुत सेवा करे, इसलिए इसे ऐसा कि बहुत लाभ हो जाये, (ऐसा नहीं है)। सेठिया बहुत करोड़ो रुपये गौशाला में और दया में खर्च करे। भगवान! सूक्ष्म बात है, प्रभु! पर की दया कौन पाले? उसका आयुष्य हो तो बचे। तो पर क्या उसकी दया पाले? उसका आयुष्य जिस देह में रहने की स्थिति लाया है, तब तक रहेगा। स्थिति

पूरी होने पर छूट जायेगा, तो दूसरा कोई मार सकता नहीं और दूसरा कोई जिला सकता नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

यहाँ दो बातें की। एक ओर भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु! यहाँ गुजराती भाषा है। यहाँ एक बहिन है, बहिन! उनके शब्द हैं। गुजराती भाषा है, परन्तु उसमें बहुत सिद्धान्त भरे हैं। देखो! जागता जीव ध्रुव है न! क्या कहते हैं? भाषा गुजराती है। जागता जीव ध्रुव है न! अर्थात् जाननेवाला... जाननेवाला... जीव ध्रुव... ध्रुव... उभो अर्थात् ध्रुव है न! जागता—ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... ऐसा जो जीव का स्वभाव है, वह ध्रुव है। वह शाश्वत् रहनेवाली चीज़ है। उसे पकड़ने से धर्म होता है। और है तो प्राप्त होता है, न हो तो प्राप्त (कहाँ से होगा)? यह तो है न! अन्दर आनन्दकन्द प्रभु सच्चिदानन्द... आहाहा! द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित ग्राह्य करनेयोग्य तो वह चीज़ अन्दर है... है... है... सत्ता मौजूदगी। आत्मतत्त्व की मौजूदगी अस्ति ज्ञान और आनन्द से अस्ति है। उसे अन्तर सन्मुख होकर ग्राह्य करनेयोग्य है। जितने शुभ-अशुभ आदि विकल्प—वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब सर्वथा हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं। आहाहा! है?

ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है;.... ऐसा आनन्द का अनुभव करना और राग को छोड़ना, इसका नाम सत्य दर्शन और सत्य प्रतीति है। सम्यक् सत्य है। इसके अतिरिक्त सब असत्य है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १८५

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।६-१८५।।

खण्डान्वयसहित अर्थ — 'मोक्षार्थिभिः अयं सिद्धान्तः सेव्यतां' [मोक्षार्थिभिः] सकल कर्म का क्षय होनेपर होता है अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभवते हैं-ऐसे हैं जो कोई जीव, उनके द्वारा [अयं सिद्धान्तः] जैसा कहेंगे वस्तु का स्वरूप, उसका [सेव्यतां] निरन्तर अनुभव करो। कैसे हैं मोक्षार्थी जीव? 'उदात्तचित्तचरितैः' [उदात्त] संसार-शरीर-भोग से रहित है [चित्तचरितैः] मनका अभिप्राय जिनका, ऐसे हैं। कैसा है वह परमार्थ? 'अहं शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः सदा एव अस्मि' [अहं] स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ जो मैं जीवद्रव्य, [शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः] शुद्धज्ञानस्वरूप प्रकाश, [सदा] सर्व काल [एव] निश्चय से [अस्मि] हूँ। 'तु ये एते विविधाः भावाः ते अहं नास्मि' [तु] एक विशेष है — [ये एते विविधाः भावाः] शुद्धचैतन्यस्वरूप से अनमिलते हैं जो रागादि अशुद्धभाव, शरीर आदि, सुख-दुःख आदि नाना प्रकार अशुद्धपर्याय, [ते अहं नास्मि] ये सब जीवद्रव्यस्वरूप नहीं हैं। कैसे हैं अशुद्धभाव? 'पृथग्लक्षणाः' मेरे शुद्धचैतन्य स्वरूप से नहीं मिलते हैं। किस कारण से? 'यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यं' [यतः] जिस कारण से [अत्र] निजस्वरूप का अनुभव करनेपर, [ते समग्राः अपि] जितने हैं रागादि अशुद्धविभावपर्याय, वे [मम परद्रव्यं] मुझे परद्रव्यरूप हैं, कारण कि शुद्धचैतन्यलक्षण से मिलते हुए नहीं हैं; इसलिए समस्त विभावपरिणाम, हेय हैं।।६-१८५।।

पौष शुक्ल ६, शनिवार, दिनांक-१४-०१-१९७८, कलश-१८५, प्रवचन-२०३

कलशटीका, १८५ कलश है। १८५ कलश है न?

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।

एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा–
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।६–१८५।।

सूक्ष्म बात है, अनन्त काल से किया नहीं। अनन्त काल से परिभ्रमण करते-करते पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव अनन्त बार किये। जिसे शुभकर्म कहते हैं, ऐसे दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा भी अनन्त बार की, परन्तु वह तो राग है। उससे कहीं जन्म-मरण का अन्तर नहीं आता। आहाहा! यहाँ तो जन्म-मरण का अन्त लाने की, धर्म की चीज़ जिसका अन्त अनन्त आनन्दरूपी मुक्ति प्राप्त हो, (उसकी बात है)। अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हो, उसका नाम मुक्ति। अनन्त दुःख से मुक्त और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से सहित, उसका नाम मुक्ति है। देखो! है पहला?

'**मोक्षार्थिभिः**' पहला शब्द पड़ा है। मोक्षार्थी—जिसे अपना अतीन्द्रिय (आनन्द) परिपूर्ण प्राप्त करने का अभिप्राय है और जिसे अपना आनन्दस्वरूप भगवान है, उसमें जिसने अपनी दृष्टि का योग जोड़ दिया है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल परिभ्रमण करते हुए नरक, पशु—ऐसे अनन्त भव किये हैं। अरबोंपति मनुष्य भी अनन्त बार हुआ है और सो बार माँगे और एक ग्रास मिले, ऐसा भिखारी भी अनन्त बार हुआ है। परन्तु कभी इसने आत्मज्ञान किया नहीं। सम्यग्दर्शन आत्मज्ञान अनुभव क्या चीज़ है, उसका पता लिया नहीं। पण्डिताई में पण्डित हो गया, परन्तु अपने स्वरूप के ज्ञान का पण्डित नहीं हुआ।

यहाँ कहते हैं कि '**मोक्षार्थिभिः अयं सिद्धान्तः सेव्यतां**' पहली व्याख्या की। मोक्षार्थी का अर्थ **सकल कर्म का क्षय होने पर होता है अतीन्द्रिय सुख,...** क्या कहते हैं? कर्म और राग-द्वेष जो अशुद्ध परिणाम का नाश होकर अनन्त अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है, उसे मोक्ष कहते हैं। आहाहा! **उसे उपादेयरूप अनुभवते हैं....** आहाहा! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द अनाकुल आनन्द का पिण्ड प्रभु, उसमें से उसका अनुभव करता है और मोक्षार्थी हुआ है। राग और दुःख से मुक्त होने का भाव और अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति का अभिप्राय जिसे हुआ है, उसे मोक्षार्थी कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो यह कहा, मोक्षार्थी किसे कहते हैं? कि जिसे अपने आत्मा के अतीन्द्रिय

आनन्द का नमूना अन्दर अनुभव में आया है और उसके कारण से पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का जिसे अभिप्राय है। आहाहा! है ? उपादेयबुद्धि का अर्थ क्या ? कि, अन्दर में जो शुभ-अशुभराग होता है, वह अशुद्धभाव मलिन है। जिसे शुभकर्म कहते हैं न ? शुभ आचरण, सत् कार्य, वह सब शुभराग है। उस राग से भिन्न होकर अपने आनन्दस्वरूप का जिसे आनन्द का नमूना वेदन में आया है, नमूना आया है। नमूना समझ में आता है ? उस नमूना में अतीन्द्रिय आनन्द है, वह उपादेय है, (ऐसा) उसे मोक्ष की दशा का अभिप्राय है। आहाहा! जिसे अन्दर में शुभराग और अशुभराग होता है, उसे जो उपादेय मानता है, वह परिभ्रमण के अभिप्राय (वाला) है, जिसमें मिथ्यात्व का अभिप्राय है। चौरासी लाख योनि में भटकने का उसका अभिप्राय है।

आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! तेरी चीज़ अन्दर ऐसी है। सच्चिदानन्द प्रभु, उसका अंश जिसने अतीन्द्रिय आनन्द का पर्याय—दशा में (स्वाद चखा है), स्वभाव में तो है ही, परन्तु वर्तमान दशा में अतीन्द्रिय आनन्द का अंश जिसने प्रगट किया है, वह मोक्ष को उपादेय मानता है और अपने अतीन्द्रिय आनन्द को आदरणीय मानता है। सूक्ष्म बात है। डॉक्टर! डॉक्टरी में कहीं नहीं आती। आहाहा!

तत्त्व है न ? आत्मतत्त्व है न ? है न ? मौजूदगी चीज़ है न ? तो तत्त्व है तो उसमें उसका कोई स्वभाव है या नहीं ? वस्तु है तो वस्तु का कोई स्व-भाव (है या नहीं) ? उसका स्व-भाव अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द उसका स्व-रूप, स्व-भाव है। आहाहा! उसका जिसने आंशिक अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन किया हो, वह **अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभवते हैं....** आहाहा! मोक्षार्थी की व्याख्या यह है, मुमुक्षु की व्याख्या यह है, योगी की व्याख्या यह है।

अपना आनन्द और ज्ञानस्वरूप नित्यानन्द ध्रुव, उसमें अपनी दशा को जोड़ दिया है, उसे मुमुक्षु कहते हैं, उसे धर्मी, योगी कहते हैं। राग की सत् क्रिया आदि दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा में जिसका प्रेम है और उसमें जुड़ान है, उसे भोगी कहते हैं। (वह) भोगी है, वह रोगी है। यह रोग। आहाहा! देवीलालजी!

मुमुक्षु : भोग छोड़कर जंगल में गया....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु भोग क्या ? किसका भोग छोड़ना ? राग है, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग है, उसे छोड़ना, उसका नाम भोग छोड़ा। शरीर से स्त्री का त्याग किया, ब्रह्मचर्य पालन किया, वह कोई ब्रह्मचर्य नहीं। आहाहा! ब्रह्म अर्थात् आनन्द, चरी अर्थात् रमना। अतीन्द्रिय आनन्द में रमना, उसे यहाँ ब्रह्मचर्य कहते हैं। शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, आजीवन बालब्रह्मचारी (रहा), वह कोई ब्रह्मचारी नहीं। समझ में आया ? अन्तर में ब्रह्म—प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप भगवान, ऐसे आनन्दमय प्रभु का अनुभव करना। ब्रह्म अर्थात् आनन्द और चरी अर्थात् रमना। अतीन्द्रिय आनन्द में रमना, इसका नाम ब्रह्मचर्य है। यह ब्रह्मचर्य जिसे अन्तर में उपादेय रूप से स्वीकार हुआ है, (वह ब्रह्मचारी है)। आहाहा!

शुभ-अशुभराग है, वह संयोगी विकारी भाव है। उसका सेवन है, वह मैथुन है, ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भगवान! शुभ-अशुभराग वृत्ति उठती है, वह विकार है। वह स्वभावभाव से (विरुद्ध ऐसे) विकारी भाव, संयोगी भाव, विभाव भाव, कर्म के निमित्त के आधीन होकर विकृतदशा उत्पन्न हुई, उसका सेवन करता है, वह व्यभिचारी मिथ्यादृष्टि है। शान्ति से सुनना! बात तो जगत से निराली है। समझ में आया ? यह व्यभिचार जिसने छोड़ दिया है और अव्यभिचार आत्मा को आनन्द के अन्तर में उपादेयरूप से (जानकर) परिणति, दशा में अतीन्द्रिय आनन्द आया, उसने अतीन्द्रिय आनन्द को उपादेयरूप से स्वीकार किया, वह मोक्षार्थी है। आहाहा! आहाहा! अन्दर चीज़ क्या है ? अन्तर में अतीन्द्रिय अनन्त... अनन्त... (आनन्द भरा है)।

नारियल होता है न ? नारियल। श्रीफल। श्रीफल है न ? उसमें ऊपर की जो छाल होती है न ? छाल। वह चीज़ कोई श्रीफल नहीं है और बीच में काचली होती है। काचली को क्या कहते हैं ? नरेटी। वह भी श्रीफल नहीं है। और उस नरेटी के निकट लाल छिलका है। जो खोपरापाक बनाते हैं तो लाल छिलका निकाल डालते हैं। लाल छिलका होता है न ? सूक्ष्म पतला (होता है)। काचली, छाल और लाल छिलका तीनों से अन्दर भिन्न श्रीफल जो है, वह शुद्ध, श्वेत-सफेद, मीठा गोला है, उसे श्रीफल कहते हैं।

इसी प्रकार आत्मा, यह जो शरीर छाल है, अन्दर कर्म जड़ है। जिसके कारण से पुण्य-पाप के कारण से यह लक्ष्मी-धूल मिले, न मिले—ऐसा जो कर्म है, वह काचली

है और जो शुभ-अशुभभाव हैं, वे लाल छिलके हैं। उन लाल छिलकों के पीछे, जैसे वह श्रीफल सफेद, श्वेत और मीठा है, उसी प्रकार अन्दर शुद्ध और आनन्द आत्मा में पड़ा है। समझ में आया? यहाँ तो अलौकिक बातें हैं, भगवान! लौकिक तो सब अनन्त बार किया। व्रत, तप, भक्ति, पूजा और दान भी अनन्त बार किये, वह सब राग है। वह कोई मोक्ष का मार्ग या धर्म नहीं। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं, **अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभवते हैं....** देखा? उसे मोक्षार्थी कहते हैं। आहाहा! है भाई? शब्द है अन्दर? आहाहा! जैसे वह श्रीफल अन्दर सफेद, श्वेत मीठा गोला है, उसी प्रकार अन्दर आत्मा शुभ-अशुभराग की क्रिया से, कर्म से और शरीर से भिन्न अन्दर मीठा अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द, सफेद अर्थात् शुद्ध, शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड अन्दर आत्म भगवान है। उसका जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव में थोड़ा स्वाद आया है, वह मोक्षार्थी है। उस राग से सर्वथा मुक्ति होना। राग अर्थात् दुःख, चाहे तो शुभराग हो तो भी दुःख है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग हैं, दुःख है। दुःख से मुक्ति और पूर्ण आनन्द से सहित होना, उसका नाम मोक्ष है। वह मोक्षार्थी अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेकर उपादेय जाना है, उसे मोक्षार्थी कहते हैं। आहाहा! बहुत कठिन बात! जगत के अभ्यास से यह अभ्यास अलग प्रकार का है। सोगानी! वहाँ पैसा-फैसा में कुछ है नहीं। धूल में कहीं (है नहीं)। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : इनके पिताश्री थे। न्यालचन्द्र सोगानी। आत्मा के आनन्द का अनुभव था। उनके पुत्र को बहुत खबर नहीं हो। पत्र में लिखा है। पहली पुस्तक नहीं लिखी? पुस्तक में। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव था। यहाँ आये थे। पहले बहुत वाँचन किया था। शास्त्र, योगी, जोगी, जप, तप, समाधि ऐसा और वैसा बहुत किया था परन्तु कुछ मिला नहीं, उसमें है नहीं। फिर यहाँ आये थे। आने के बाद इतना कहा, न्यालचन्दभाई, इनके पिता, न्यालचन्दभाई। इतना कहा, मूल तो अजमेर के हैं, बाद में कलकत्ता रहते थे। मूल अजमेर के हैं। इतना कहा कि भाई! अन्दर जो विकल्प / राग उठता है, उससे अन्दर भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा! बस! इतना कहा और अपने यह रसोड़ा है न? समिति है न? वहाँ रहे थे। वहाँ गये और शाम से सवेरे तक राग के

विकल्प से भिन्न करते... करते... करते... करते... करते... पूरी रात्रि जगे और जहाँ सवेरा हुआ, दोनों को भिन्न कर दिया। सम्यग्दर्शन, यह जो अनुभव कहते हैं, उसे यहाँ रसोड़ा में (समिति में) किया है। यहाँ आये थे। पहले जब आये थे, उनका देह छूट गया। वे तो स्वर्ग में गये हैं। अभी स्वर्ग में है। पश्चात् मोक्ष में जायेंगे, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होकर मुक्ति होगी। परन्तु यह बात बहुत सूक्ष्म है।

अभी सम्प्रदाय में तो यह करो और यह करो और यह करो... व्रत करो और अपवास करो और यात्रा करो, भक्ति करो और दान करो, और दया करो, यह बात चलती है। यहाँ तो भगवान कहते हैं कि इन सब क्रियाकाण्ड में राग की उत्पत्ति होती है, वह तो आकुलता है, दुःख है। आहाहा! उस दुःख से जिसने अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भेद करके, राग से भिन्न करके, जिसने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अंश (प्रगट किया), त्रिकाल में से अंश प्रगट करके उपादेय जाना, वही मोक्ष का अर्थी कहा जाता है। बाकी सब राग के अर्थी, पुण्य के अर्थी हैं। धूल... धूल है, सब पुण्य है। यह पैसा मिलता है न दो-पाँच करोड़? धूल है, मिट्टी है। हम पैसेवाले हैं, हम लक्ष्मीवाले हैं। (ऐसा माननेवाले) मूढ़ हैं।

हम तो आनन्दमय आत्मा हैं। अतीन्द्रिय आनन्द की लक्ष्मी / सम्पदा हमारी है। रागादि, वह तो विपदा है। आहाहा! और लक्ष्मी आदि विपदा का निमित्त है, आहाहा! दुःख का निमित्त है। उससे छूटकर जो मोक्षार्थी हुए... आहाहा! है?

ऐसे हैं जो कोई जीव उनके.... 'अयं सिद्धान्तः' इस परमार्थ का अर्थात् जैसा कहेंगे वस्तु का स्वरूप उसका निरन्तर अनुभव करो। आहाहा! **'सेव्यतां'** यह सिद्धान्त जो है, यथार्थ वस्तु है, आनन्दकन्द प्रभु शुद्ध है, उसका सेवन करो, उसका अनुभव करो तो तुम्हारा कल्याण होगा और मोक्ष होगा। नहीं तो कल्याण नहीं होगा। आहाहा! कठिन बात है, अशक्य नहीं, परन्तु कठिन तो है। कठण समझे? कठिन। अशक्य नहीं, न प्राप्त करे, (ऐसा कुछ नहीं)। ऐसी चीज़ अन्दर है। आहाहा!

कहते हैं कि **जैसा कहेंगे वस्तु का स्वरूप....** यह **'सिद्धान्तः' निरन्तर अनुभव करो।** आहाहा! भगवान! तुझे यदि आत्मा की पूर्ण आनन्ददशारूपी मुक्ति अथवा सर्वथा

दु:ख से छूटने की मुक्ति—ऐसी दशा यदि तेरे अभिप्राय में हो तो इस आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव करो, इसकी सेवा करो। आहाहा! पर की सेवा तो आत्मा कर सकता नहीं। आहाहा! समझ में आया? मैं पर की सेवा करूँ, (ऐसा) राग करे, परन्तु पर की सेवा कर नहीं सकता। परद्रव्य स्वतन्त्र पदार्थ है और स्वतन्त्र पदार्थ है, (वह अपनी) वर्तमान बदलती अवस्था से स्वतन्त्र है। उसकी अवस्था बदलती है, उसका दूसरा कर्ता है—ऐसा है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू! भगवान!

यहाँ तो कहते हैं कि मोक्षार्थी जीव इस एक की सेवा करो। आहाहा! **कैसे हैं मोक्षार्थी जीव?** मोक्ष अर्थात् बन्धन से छूटने का अभिप्राय (जिसका है) और अबन्धस्वभावी भगवान की पूर्ण प्राप्ति का उपाय जिसने जाना है, वह मोक्षार्थी जीव '**उदात्तचित्तचरितैः**' आहाहा! उदात्त है। **संसार...** यह राग भाव संसार है। आहाहा! राग से भिन्न भगवान की जिसे अभिलाषा है, ऐसा जिसका चरित्र अर्थात् अभिप्राय उदात्त है। **संसार शरीर भोग से रहित है,...** आहाहा! राग से, शरीर से और राग के भोग से (जो रहित है)।

स्त्री है, स्त्री का शरीर माँस-हड्डियाँ हैं, उनका भोग कोई नहीं कर सकता। वह तो जड़-मिट्टी है, भगवान तो अरूपी है। आत्मा में रंग, गन्ध, स्पर्श है ही नहीं। तो स्त्री के शरीर का सेवन तो कोई अज्ञानी प्राणी भी कर नहीं सकता, मात्र अज्ञानी पर के ऊपर लक्ष्य करके यह ठीक है, ऐसा राग उत्पन्न करता है, उस राग का सेवन करता है, शरीर का नहीं। आहाहा! शरीर तो जड़, मिट्टी, धूल है। आत्मा भगवान तो अरूपी है, जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है ही नहीं। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है ही नहीं (तो) वह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श के भोग का अनुभव कैसे करे? मात्र अज्ञानी अपने आनन्दस्वरूप का भान नहीं, उसके अनुकूल शरीर का सुन्दर रूप आदि देखकर 'ठीक है', ऐसा राग उत्पन्न करता है, उस राग का सेवन करता है, उस राग का भोग है। शरीर का भोग तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता। आहाहा! बात में बहुत अन्तर!

यह लड्डू खाना, उसे आत्मा खा नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। वह तो जड़ है। बादाम, पिस्ता, वह तो मिट्टी है। आत्मा वह खा नहीं सकता। मात्र अपने आनन्दस्वरूप का भान नहीं, उस चीज़ पर लक्ष्य करके, 'ठीक है', 'यह चीज़ मजावाली है', ऐसे राग

का भाव उत्पन्न करता है, उस राग का भोग करता है। समझ में आया? वह भोग यहाँ कहते हैं।

संसार-शरीर... संसार शब्द से विकारभाव और शरीर शब्द से यह मिट्टी, धूल। यह मिट्टी है न? और **भोग...** राग का अनुभव। पहले संसार में सामान्य राग लिया। दया, दान आदि कोई भी शुभ-अशुभराग। वह संसार है और यह शरीर और इस राग का भोग। तीन से जिसकी वृत्ति विरक्त है। आहाहा! भगवान! ऐसी बात है। आहाहा!

तू भगवान है न! प्रभु! तुझे खबर नहीं। तू पामर होकर प्रभुता को भूल गया। आहाहा! अन्दर भगवान परिपूर्ण आनन्द से भरा है। आहाहा! शुद्ध चैतन्य आनन्द गोला अन्दर है। गोला कहते हैं न? नारियल का गोला! उसे भूलकर राग, शरीर और राग का भोग, वह संसार है। वह चार गति में भटकने का कारण है। उससे जो विरक्त है। राग, शरीर और भोग में रक्त है, वह संसार में भटकनेवाला है और तीन से जो विरक्त है, रक्त से विरक्त है (वह संसार से मुक्त होनेवाला है)। आहाहा! समझ में आया? है?

भोग से रहित है,... 'चित्त' मन का अभिप्राय जिनका, ऐसे हैं। आहाहा! अन्तर का अभिप्राय—आशय, जो संसार, शरीर और भोग से विरक्त है, जिसके आत्मा का अभिप्राय (ऐसा है), उसे यहाँ मोक्ष का अर्थी कहा जाता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म पड़े, क्या करे? मार्ग तो यह है। दुनिया बाहर में भटकती है। ऐसा करो और ऐसा करो और ऐसा करो... ऐसी कर्ताबुद्धि (रखती है)। 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, शकट का भार ज्यों श्वान खींचे' शकट—जैसे गाड़ा होता है न? गाड़ा। (उसके) नीचे कुत्ता हो (उसकी पीठ जरा छूती है तो मानता है कि) यह गाड़ा मुझसे चलता है। उसी प्रकार यह दुनिया, शरीर, वाणी, मन, यह बाहर की क्रिया मुझसे होती है, ऐसे कुत्ते की भाँति अज्ञानी मानता है। आहाहा! उससे दृष्टि में, अभिप्राय में विरक्त है। आहाहा!

गृहस्थाश्रम में भी हो, तथापि जल में जैसे तेल की बिन्दु हो, वह ऊपर रहती है, अन्दर नहीं जाती, जल में तेल कहते हैं न? तेल की बूँद हो, वह अन्दर प्रवेश नहीं करती, भिन्न रहती है; उसी प्रकार भगवान आत्मा जल समान निर्मल आनन्दकन्द में पुण्य-पाप का राग—चिकनाई, तेल समान राग अन्दर में प्रवेश नहीं करता। आहाहा!

प्रवेश नहीं करता, उसमें जो धर्मी (उससे) विरुक्त है। आहाहा! अन्तर में जिसका आशय—अभिप्राय—प्रतीति—श्रद्धा, राग और शरीर और भोग से दृष्टि उठा ली है और उनसे रहित प्रभु आत्मा चेतनस्वभाव भगवान में जिसका अभिप्राय लग गया है, आहाहा! उसे यहाँ धर्मी, मोक्षार्थी, मुमुक्षु, योगी, धर्म की शुरुआत करनेवाला योगी कहते हैं। इसके बिना सब भोगी हैं। आहाहा! यहाँ कोई पैसा-फैसा की कीमत नहीं है। पैसा करोड़ मिले और धूल मिले... वह मिट्टी-धूल है। यह शरीर मिट्टी-धूल है। यह तो धूल है। इसकी तो राख होगी, इसकी तो श्मशान में राख होगी। इतनी भी राख नहीं होगी। जलेगा तो थोड़ी राख होगी और हवा आयेगी तो उड़ जायेगी। यह तो जड़, मिट्टी—धूल है। आत्मा कहाँ है? आत्मा तो अविनाशी प्रभु अन्दर चिदानन्द घन है। आहाहा!

जिसकी संसार, शरीर और भोग (में विरक्ति है)। धर्मी जीव की भोग में (से) सुखबुद्धि उड़ जाती है। क्या कहते हैं? पैसे में, शरीर में, स्त्री में, अधिपतिपने में, कोई पाँच-पचास हजार का मासिक वेतन मिलता हो, ऐसे पर में से धर्मीजीव की सुखबुद्धि उड़ जाती है। उसमें कोई सुख है ही नहीं। सुख तो अन्दर भगवान आत्मा में है। आहाहा! आहाहा! ऐसी जिसकी पर में से सुखबुद्धि उड़ गयी है, वह पर से विरक्त है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा धर्म किस प्रकार का? वे तो कहे, दया पालो, व्रत करो, सेवा करो, देशसेवा करो, देश की सेवा क्या कहा जाता है, वे मरते हैं उसे? शहीद। शहीद होते हैं। धूल में भी नहीं। आहाहा!

यहाँ तो शहीद अन्दर राग को मारकर, अन्दर चिदानन्दस्वभाव में अनुभव में आना, उस राग से विरक्त होना, वह मोक्षार्थी का शहीदपना है। बाकी सब बातें थोथा है। आहाहा! 'गाँधीजी' व्याख्यान में आये थे। राजकोट (में)। यह मोहनलाल गाँधी नहीं? वे व्याख्यान में आये थे। तब तो हमने ऐसा कहा था। (संवत्) १९९५ के वर्ष। १९९५। कितने वर्ष हुए? चालीस में एक कम। ३९ वर्ष हुए। व्याख्यान में आये थे। हमने तो कहा था, मैं पर को जिला सकता हूँ, वह मूढ़ जीव है। उसके आयुष्य बिना जी नहीं सकता और मैं जिला सकता हूँ (ऐसा माननेवाला मूढ़ है)। समझ में आया? भगवान आत्मा आनन्दकन्द प्रभु ज्ञान, वह राग और पर की क्रिया कैसे करे? आहाहा!

पर की क्रिया और राग का कर्ता माने, वह जीव स्वरूप का विरोधी है, स्वरूप का द्वेषी है। निज स्वरूप का द्वेषी है। आहाहा! 'द्वेष अरोचक भाव' सूक्ष्म बात है, प्रभु!

यह पुण्यपरिणाम होते हैं न? दया, दान, व्रत, भक्ति शुभभाव, जिसे शुभ आचरण कहते हैं, उसका जिसे प्रेम है, उसे आत्मा आनन्दमय है, उसके प्रति द्वेष है। 'द्वेष अरोचक भाव' आनन्दमूर्ति भगवान ज्ञानस्वरूप जिसे रुचता नहीं और राग, दया, दान, व्रत आदि राग रुचते हैं, उसे स्वभाव के प्रति द्वेष है, अरुचि है, अप्रीति है, राग के प्रति प्रीति है। सूक्ष्म बात है, ऐसी कभी सुनी नहीं। समझ में आया? आहाहा!

राग अपना मानता है, (वह) केंसर हुआ है। सड़ान हो गयी है, सड़ान। सड़ान कहते हैं क्या (कहते हैं)? भगवान आनन्द, ज्ञानस्वरूप प्रभु! चिद्घन, ज्ञान का घन, समूह, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड, ध्रुव में राग के कण को अपना मानना... यह क्या कहा? केंसर (हुआ है)। लक्ष्मीचन्दभाई! ऐसी बात है। आहाहा! सेठ नहीं आये? (उनकी तबियत बराबर नहीं है)। ठीक! सागर के सेठ हैं, दो करोड़-चार करोड़ के आसामी! दो लाख का मकान बनाकर यहाँ रहते हैं। आते हैं, सुनने के लिये हमेशा आते हैं। यह चार करोड़ धूल है।.....

यहाँ तो जिसे प्रभु का प्रेम नहीं... एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। एक म्यान, दो तलवारें! तलवार कहते हैं? इसी प्रकार जिसे राग का—शुभराग का भी प्रेम है, उसे आत्मा आनन्द का प्रेम नहीं। और जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का प्रेम है, उसे राग का प्रेम नहीं। एक म्यान में दो नहीं रह सकते। आहाहा! ऐसा यहाँ कहा, देखो!

क्या कहा? **मन का अभिप्राय जिनका, ऐसे हैं। कैसा है वह परमार्थ? 'अहं शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः सदा एव अस्मि'** आहाहा! धर्मी जीव के अभिप्राय में, आशय में, दृष्टि में, रुचि में, पोसाण में यह आत्मा पोसाता है, उसे राग नहीं पोसाता। आहाहा! यह बनिया व्यापार करते हैं न? पोसावे तो माल लेते हैं न? ढाई रुपये का माल हो और यहाँ तीन रुपये में चले तो माल ले, परन्तु ढाई रुपये में ले और यहाँ दो रुपये में चले तो माल ले? वह माला पोसाता नहीं। इसी प्रकार जिसे आत्मा में राग पोसाता है, उसे आत्मा पोसाता नहीं।

ज्ञानी के चरित्र का अभिप्राय... आहाहा! कैसा है? यहाँ आया न? चिन्मय ज्योति—मैं तो स्वसंवेदन प्रत्यख हूँ। **जो जीवद्रव्य...** आहाहा! देखो! यह जीव—आत्मतत्त्व है, वह मैं ज्ञानमय ज्योतिमय, ऐसा मैं प्रत्यक्ष हूँ। प्रत्यक्ष का अर्थ मेरे अनुभव में राग और निमित्त की अपेक्षा नहीं। व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प की जिसमें अपेक्षा नहीं, ऐसा मैं चिन्मय ज्योति हूँ। ऐसा धर्मी अपने अनुभव में मानता है तो धर्मी कहा जाता है। नहीं तो अधर्मी कहा जाता है। है? क्या कहा? देखो!

मन का अभिप्राय जिनका, ऐसे हैं। 'अहं शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः' मैं तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ जो मैं जीवद्रव्य.... आहाहा! अन्दर मेरा ज्ञान, वर्तमान ज्ञान की जो दशा है, उस दशा मैं प्रत्यक्ष होनेवाला आत्मा हूँ। मेरे आत्मा को जानने में मन की और राग की अपेक्षा नहीं। ऐसा स्वसंवेदन—स्व अर्थात् अपना सं—प्रत्यक्ष, वेदन करना, ऐसा प्रत्यक्ष आत्मा है। आहाहा! कठिन बात, भाई! शब्द-शब्द में कठिन! प्रत्यक्ष आत्मा है। इन्द्रिय से जानने में नहीं आता। दया, दान, व्रत के विकल्प से भी जानने में नहीं आता। आहाहा!

स्वसंवेदन—शुद्ध चैतन्य वस्तु, वह अपनी शुद्ध पर्याय—शुद्ध दशा, स्वाभाविक दशा, विकार रहित दशा में आत्मा प्रत्यक्ष होता है, ऐसा जीवद्रव्य है। आहाहा! उसमें है या नहीं? उसमें है, उसका अर्थ होता है। आहाहा! है?

'**अहम्**' '**अहम्**' की व्याख्या की है। मैं कौन हूँ? कि **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ....** आहाहा! स्व अर्थात् अपना आनन्द और अपना अतीन्द्रिय ज्ञान, उससे मैं प्रत्यक्ष हूँ, (ऐसा) मैं आत्मा हूँ। आहाहा! समझ में आया? '**अहम्**' अस्ति—मौजूदगी बताते है। मैं '**अहम्**' प्रत्यक्ष स्व—अपने से अपना शुद्ध पवित्र; पुण्य-पाप के राग से रहित पवित्र परिणाम से मैं प्रत्यक्ष होनेवाला, (ऐसा) मैं जीवद्रव्य हूँ। आहाहा! धर्मी जीव की ऐसी प्रथम में प्रथम धर्म की पहली सीढ़ी ऐसी होती है। पहली सीढ़ी! सीढ़ी कहते हैं न? सोपान। आहाहा! उसकी पहली सीढ़ी यह है।

मैं '**अहम्**' तो '**अहम्**' मैं क्या हूँ? मैं तो अपने से आनन्द और ज्ञान की दशा से प्रत्यक्ष होनेवाला जीवद्रव्य '**अहम्**' वह मैं हूँ। आहाहा! मैं रागवाला तो नहीं, पुण्यवाला तो नहीं। वाळा... वाळा कहते हैं न? वाळा नहीं निकलता? रोग में वाळा होता है। अपथ्य पानी होता है न? पानी में वाळा निकलता है तो पीड़ा होती है। एक वाळा

निकले वहाँ पीड़ा होती है तो यह तो कितने वाळा? मैं लक्ष्मीवाला, मैं स्त्रीवाला, परिवारवाला कितने वाळा हैं तुझे? वह मैं नहीं। आहाहा!

मैं तो '**अहम्**' 'स्वसंवेदन' अपने में ज्ञान से, आनन्द से वेदनेवाला। 'प्रत्यक्ष' अर्थात् पर की अपेक्षा बिना (ज्ञात होऊँ), ऐसा मैं आत्मा हूँ। इसका नाम धर्मी और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। सम्यक् अर्थात् सत्य दृष्टि। सत्य भगवान आत्मा की दृष्टि, उसे ऐसी हुई। आहाहा! समझ में आया? अलौकिक बातें हैं, भगवान! दुनिया में तो बहुत (बात) चलती है। सम्प्रदाय के नाम से कर्मकाण्ड (किये)। इतनी क्रिया की, यह क्रिया की, बस! उससे कल्याण होगा, इससे कल्याण होगा।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही, तेरी वस्तु में तू जो राग करता है, वह वस्तु में है ही नहीं। है नहीं तो उससे लाभ होगा, ऐसा कैसे बने? तेरी चीज में तो आनन्द और ज्ञान और शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्त... शान्तरस, उपशमरस (भरा है)। रागादि कषाय जो विकार है, वह दुःखरस है। भगवान आत्मा आनन्दरस है। तो '**अहम्**' स्वसंवेदन हूँ। मैं मेरे से ज्ञात होनेयोग्य आत्मा हूँ। आहाहा! गुरु से भी मैं ज्ञात होनेयोग्य नहीं, ऐसा कहते हैं। गुरु तो परद्रव्य है। मैं तो मुझसे ज्ञात होनेयोग्य हूँ। मैं मेरा गुरु हूँ। आहाहा! समझ में आया? आया?

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ जो मैं जीवद्रव्य.... 'शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः' मैं तो **शुद्ध ज्ञानस्वरूप प्रकाश....** हूँ। ज्योति अर्थात् प्रकाश। शुद्ध ज्ञानस्वरूप प्रकाश की (ज्योति हूँ)। जैसे सूर्य का प्रकाश है, वह जड़ है, वह प्रकाश अजीव है। मैं शुद्ध चिन्मय प्रकाशमूर्ति सूर्य हूँ। ज्ञान के प्रकाश का पुँज मैं हूँ। आहाहा! इस प्रकाश के अस्तित्व को भी जाननेवाला मैं हूँ। इस जड़ प्रकाश को तो खबर भी नहीं कि मैं जड़ हूँ। ऐसा मैं मुझे और पर को प्रकाशित करूँ, ऐसा शुद्ध ज्ञानमय प्रकाशमय मैं हूँ। आहाहा! ऐसा मार्ग! निवृत्ति नहीं मिलती, फुरसत नहीं मिलती। चौबीस घण्टे—पूरे दिन स्त्री, पुत्र, धन्धा... छह-सात घण्टे सोवे, दो-चार घण्टे स्त्री को प्रसन्न करने में और भोग में जाये, खाने में जाये, थोड़ा (समय) हँसी-मजाक में जाये... अर र र! जिन्दगी चली जाती है। और धर्म के नाम से आवे तो व्रत, तप और भक्ति में रुक जाये। जिन्दगी चली जाती है, नाथ, प्रभु! यह अवसर, भव का अन्त करने का यह भव है। आहाहा! समझ में आया?

मैं चिन्मय ज्योति... है? '**अस्मि**' आहाहा! **शुद्ध ज्ञानस्वरूप प्रकाश...** शुद्ध ज्ञानस्वरूप प्रकाश, यह सूर्य का प्रकाश तो जड़ है, अजीव है और आताप देनेवाला है। सूर्य का प्रकाश तो आताप देनेवाला है। मेरा प्रकाश तो शान्ति देनेवाला है। आहाहा! अपनी चीज़ की महिमा नहीं और अपनी महिमा नहीं तो पर की महिमा छूटती नहीं। आहाहा! और जिसे पर की महिमा छूट गयी, उसे अपनी महिमा आती है। और अपनी महिमा जिसे नहीं, उसे पर की महिमा है। राग और राग का फल पुण्य और धूल, यह पैसा-बैसा मिले, पाँच-पच्चीस लाख, करोड़-दो करोड़ धूल, पुत्र, स्त्री, लड़के (मिले तो माने कि) हम सुखी हैं। मूढ़ है, सुखी कहाँ दुःखी है। आहाहा! सूजन है, सूजन! सूजन समझते हो? शरीर में क्या सूजन... सूजन कहते हैं न? शरीर में सोजा आता है।

अभी एक (बात) आयी नहीं थी? अमेरिका में। दक्षिण अमेरिका में एक प्लेन टूट गया। अखबार में आया है। दक्षिण अमेरिका, बड़ा प्लेन था वह जंगल में टूट गया। जंगल... जंगल... जहरी मेंढ़क, सर्प, बिच्छू। उसमें सब छूट गया। चूरा उड़ गया, सब मर गये। एक सत्रह वर्ष की जर्मनी की लड़की थी, वह असाध्य हो गयी थी। सब मर गये। साध्य (होश आया और देखा तो) जंगल... आहाहा! जंगल हजारों कोस में (फैला हुआ), कहीं गाँव नहीं। अखबार में आया है। पेपर... पेपर। उसने ग्यारह दिन इस प्रकार से निकाले। खाने की चीज़ नहीं, पीने की चीज़ नहीं और पूरे शरीर में सूजन चढ़ गयी। बिच्छू काटे, मेंढ़क काटे... करडे को क्या कहते हैं? काटे। शरीर में सूजन चढ़ गयी। आयुष्य था तो मर नहीं गयी। ग्यारह दिन निकाले। कोई मनुष्य नहीं, अकेले पशु-पक्षी। बारहवें दिन एक झोंपड़ी मिली। वह झोंपड़ी शिकारी की थी। वह शिकारी शिकार करने आये। आये और इस स्त्री को देखा। अरे! बहिन! तू यहाँ कहाँ? प्लेन का नाश हो गया और मैं अकेली रह गयी हूँ। मेरे माता-पिता सब मर गये हैं। प्लेन के टुकड़े हो गये हैं। मैं ग्यारह दिन से जंगल में घूमती हूँ। पूरे शरीर में (सूजन), पैर में कीड़े (पड़ गये)। ईयळ को क्या कहते हैं? कीड़े। इतने-इतने कीड़े हो गये। शिकारी आये तो उन्हें ऐसा हो गया कि अर र र! यह कन्या यहा? उसे गाँव में दवाखाने ले गये। ग्यारह दिन बीच, आयुष्य था न? देह की स्थिति थी, उसका नाश नहीं हो सकता। चाहे जितने (रोग) हो, पूर्व की आयुष्य की स्थिति है। अन्दर एक आयुष्यकर्म है। उस कर्म

प्रमाण वहाँ रहता है। इतने ग्यारह दिन जंगल में रही। पूरे शरीर में सूजन चढ़ गयी।

इसी प्रकार जिसे आत्मा के आनन्द का भान नहीं, वह पर चीज़ मेरी है, उसे यह सूजन हो गयी है। रोगी हुआ है। उसमें कोई भगवान परमात्मा मिले, आत्मा के भानवाले परमात्मा (मिले), उन्होंने कहा कि अरे! यह चीज़ तेरी नहीं, भगवान! तेरी चीज़ में तो आनन्द पड़ा है न, नाथ! अतीन्द्रिय चैतन्य के नूर के तेज का पूर तू है न! उसकी दृष्टि लगा दी तो परिभ्रमण का रोग मिट गया।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि मैं तो ऐसा स्वसंवेदन चैतन्य ज्योति प्रकाश हूँ, चैतन्य के प्रकाश का पुँज मैं हूँ। आहाहा! है? प्रकाश! **सर्व काल...** त्रिकाल, वापस एक समय नहीं। मैं तो त्रिकाल शुद्ध चैतन्यप्रकाश पुँज हूँ। आहाहा! अनादि का मैं तो चैतन्यप्रकाश का पुँज ही हूँ। आहाहा! ऐसी दृष्टि होती है, तब सम्यग्दर्शन होता है। साधु तो दूसरी चीज़ है, वह तो कोई अलौकिक बात है! सम्यग्दर्शन (होने के बाद), साधु तो अलौकिक बात है। बापू! आहाहा! साधु किसे कहना! यह तो बातें.... आहाहा!

साधु तो उसे कहते हैं कि अन्दर में साधे इति साधु। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का (सागर है)। समुद्र में जैसे किनारे ज्वार आता है, ज्वार। उसी प्रकार आत्मा की पर्याय/दशा में अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आती है। आत्मा में अतीन्द्रिय का समुद्र भरा है। उसकी दशा में अतीन्द्रिय (आनन्द की) ज्वार आता है। प्रचुर स्वसंवेदन जिसका लक्षण है, ऐसा पाठ है। (समयसार) पाँचवीं गाथा। आहाहा! उसे साधु कहते हैं। बापू! वह साधु करोड़ों-करोड़ों में एक मिलना कठिन! माने, चाहे जो माने कि हम साधु हैं और संन्यासी हैं और त्यागी हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि साधु पहले भी यह दशा होती है। यह दशा आने के बाद अन्दर आनन्द में रमना, अतीन्द्रिय आनन्द में रमना, उसका नाम संन्यासी और साधु कहते हैं। आहाहा! आया? कहाँ आया? **सर्व काल निश्चय से हूँ।** आहाहा! मैं तो त्रिकाल ज्ञानप्रकाश का पुंज हूँ। विकल्प जो रागादि उठते हैं, वे मेरे नहीं। यह विशेष भाव कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल ७, रविवार, दिनांक-१५-०१-१९७८, कलश-१८५, प्रवचन-२०४

कलशटीका १८५ (कलश)। फिर से लेते हैं। अर्थ है न? अर्थ। '**मोक्षार्थिभिः अयं सिद्धान्तः सेव्यतां**' यह शब्द पड़े हैं, इनका क्या अर्थ है? '**मोक्षार्थिभिः**' जिसको अन्दर आत्मा आनन्दस्वरूप है (-ऐसा भान हुआ, वह मोक्षार्थी है)। यह आत्मा है, वह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। यह इन्द्रिय के विषय में जो आनन्द मानता है, वह तो दुःख है, वह कहीं सुख नहीं। सुख अन्तर आत्मा में है।

कल कहा नहीं था? शक्करकन्द का दृष्टान्त दिया था न? शक्करकन्द। शक्करकन्द समझ में आता है? शक्करकन्द की ऊपर की लाल छाल, इसके अतिरिक्त पूरा शक्करकन्द। शकर अर्थात् चीनी की मिठास का पिण्ड। इससे शक्कर नाम पड़ा है। शक्करकन्द! शक्कर की मिठास का पिण्ड। ऊपर की लाल छाल के अतिरिक्त। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा... सूक्ष्म बात है, भगवान! अन्दर में शुभ-अशुभराग जो होता है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का शुभभाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग की वासना का पापभाव (होता है वह) दोनों लाल छाल की भाँति पर चीज़ है। अपनी चीज़ अन्दर (भिन्न है)। जैसे लाल छाल से भिन्न शक्करकन्द है, वैसे भगवान आत्मा शुभ-अशुभभाव मलिन भाव है, उनसे भिन्न अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द आत्मा है। आहाहा! कैसे जँचे?

मुमुक्षु : यह आत्मा कहाँ छुप गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : भान नहीं होता, अन्दर नजर करे तो दिखाई दे न? जहाँ है, वहाँ नजर करे तो दिखाई देता है। बाहर देखता है, अपनी दशा में बाहर देखता है, यह... यह... यह... परन्तु देखनेवाला कैसा है? और कौन है? उसकी तो खबर नहीं। दुनिया की सब चतुराई की, परन्तु अन्दर चीज़ क्या है, उसकी तो कभी दरकार नहीं की। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' अपनी चीज़ अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द और ज्ञानमूर्ति है।

यहाँ पहले शब्द का अर्थ करना है। मोक्षार्थी—इस पहले शब्द का अर्थ करना

है। क्या ? जिसे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द है, उस पूर्ण अतीन्द्रिय की जिसे अभिलाषा है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप जो आत्मा में है, उस पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करने का जिसका अभिप्राय है। अभिप्राय समझ में आता है ? आशय। उसे यहाँ मुमुक्षु कहते हैं, उसे योगी कहते हैं। अर्थातृ अपनी चीज़ जो अतीन्द्रिय आनन्दमय है, अन्दर वस्तु है न ? पदार्थ है, तत्त्व है, अस्ति है, मौजूद चीज़ है। अन्दर में जो पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, यह शरीर तो जड़, मिट्टी—धूल है, परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, यह कमाना, कमाना, यह सब भाव मलिन भाव हैं। इन मलिनभाव के पीछे अन्दर अतीन्द्रिय आनन्दकन्द प्रभु आत्मा है, उसका जिसे प्रयोजन है—मोक्षार्थी। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करने का जिसका अभिप्राय है, उसे मोक्षार्थी कहते हैं। दूसरी भाषा में उसे मुमुक्षु कहते हैं, तीसरी भाषा में उसे योगी कहते हैं। योगी अर्थात्... यह बाहर के बाबा योग (करे), वह योगी नहीं। अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप में, योग अर्थात् जुड़ान होना। अपनी वर्तमान दशा को त्रिकाली ध्रुव अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द में एकाग्र होना, जुड़ना, वर्तमान दशा को अन्दर में मिलाना, उसका नाम योगी, मुमुक्षु, मोक्षार्थी (कहलाता है)। जिसके अभिप्राय में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का आशय है। आहाहा! शर्तें बहुत, शर्तें बहुत! यह मोक्षार्थी की इतनी व्याख्या है।

मोक्ष अर्थात् दुःख से रहित होना और अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, उससे पूर्ण सहित होना, इसका नाम मोक्ष है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप भाव होते हैं, वह दुःख है। डॉक्टर! यह कमाना और दवा करना और विकल्प और यह सब दुःख है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : आपकी दवा करने आवे....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी राग है। यहाँ तो सत्य है, वह सत्य रहेगा। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा का इंजेक्शन।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा का इंजेक्शन अलग है।

यहाँ भगवान आत्मा... भाई! यह वस्तु क्या है ? भग अर्थात... भगवान शब्द पड़ा है न ? तो इसका अर्थ, भग अर्थात् लक्ष्मी होता है। कैसी लक्ष्मी ? अन्तर में आनन्द

और ज्ञान जिसमें पड़े हैं, वह लक्ष्मी। वह लक्ष्मीवान आत्मा है। यह शरीरवान नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प जो राग उठता है, दया, दान, काम, क्रोध का (राग उठता है), वह भी इसका नहीं, इसके स्वरूप में नहीं। आहाहा! जरा बात तो सूक्ष्म है, यह श्लोक सूक्ष्म है।

मोक्षार्थी कहा न? तो यहाँ समकिती लिये हैं। लालचन्दभाई! आहाहा! जिसे बन्धन के दुःख से रहित होना है और जैसा अन्दर आत्मा का अबन्धस्वरूप—मुक्तस्वरूप है, उसकी वर्तमान दशा में प्राप्ति करनी है, उसे यहाँ मोक्षार्थी कहा जाता है। उसे मुमुक्षु कहा जाता है। पूर्ण आनन्द की अभिलाषा करनेवाले को मुमुक्षु कहते हैं। उसे अन्तर में चैतन्यमूर्ति में पुण्य-पाप के राग से भिन्न होकर अन्तर में एकाग्र होना है तो उसे यहाँ योगी कहते हैं। बाकी इस जगत के योगी-फोगी सब भोगी हैं। समझ में आया?

इस मोक्षार्थी के तीन अर्थ हैं—मुमुक्षु, योगी, पूर्ण आनन्द प्राप्त करने का जिसे आशय है, उसका नाम मोक्षार्थी है। सेठ! भाषा समझ में आती है? यह हिन्दी भाषा है। भाव सूक्ष्म है। आहाहा! मोक्षार्थी '**अयं सिद्धान्तः**' '**अयं सिद्धान्तः**' यह स्वरूप। सिद्धान्त अर्थात् स्वरूप, वस्तु का स्वरूप। आत्मा वस्तु जो है, वस्तु है उसमें रहे हुए, बसे हुए, ज्ञान, आनन्द आदि गुण हैं। यह '**अयं सिद्धान्तः**' यह वस्तु का स्वरूप है, इसका नाम सिद्धान्त है। आहाहा! सिद्ध हुई ऐसी चीज़। वस्तु अन्दर आनन्दकन्द प्रभु, उस वस्तु के स्वरूप को सिद्धान्त कहते हैं। '**अयं सिद्धान्तः**' मोक्षार्थी को '**सेव्यतां**' आहाहा! यह शब्द थोड़े हैं परन्तु यह तो अध्यात्म है। समझ में आया?

जिसे आत्मा के आनन्द की प्राप्ति करनी है और जिसे पुण्य-पाप, राग-द्वेष आदि विकल्प—वृत्तियाँ उठती है, वह दुःख है, उस दुःख से मुक्त होने का जिसका अभिप्राय है और जिसके अभिप्राय में पूर्णानन्द की प्राप्ति का अशय है, और जिसका अभिप्राय अन्तर स्वरूप में जुड़ान कर दिया है, उसे यहाँ मोक्षार्थी कहते हैं। जुड़ान समझ में आता है? जोड़ना। जो राग-द्वेष में जुड़ा है, उसे अन्तर में जोड़ना। सूक्ष्म बात है, प्रभु!

'**मोक्षार्थिभिः अयं सिद्धान्तः**' अर्थात् वस्तु का स्वरूप। '**सेव्यतां**' सिद्धान्त अर्थात् सिद्ध हुआ वस्तु का स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दकन्द प्रभु, उसे '**सेव्यतां**' उसका सेवन

करना, अनुभव करना। आहाहा! अनादि काल से राग अर्थात् विकल्प जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, उनकी सेवना है, वह दुःख की सेवना है, वह दुःखी है। वह प्राणी जो करोड़ोंपति या अरबोंपति कहलाता है, वे सब प्राणी दुःखी हैं। क्योंकि आत्मा के आनन्द से विपरीत पर की प्रीति का राग करता है और पर में ठीकपना करता है और प्रतिकूलता में द्वेष करता है, वह राग-द्वेष दुःख है। आहाहा! लक्ष्मी के ऊपर लक्ष्य जाता है, वह दुःख है। भगवान आत्मा के प्रति लक्ष्य छोड़कर लक्ष्मी के प्रति लक्ष्य जाना, वह राग—दुःख है। अपने आनन्द के भोग का—अनुभव का लक्ष्य छोड़कर स्त्री के भोग में सुख है, (ऐसा जो मानता है), वह दुःख है। आहाहा!

बड़ा करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ का मकान हो, (उसमें) वास्तु करते हैं न? वास्तु! वास्तु समझ में आता है? क्या कहते हैं? गृहप्रवेश। तुम्हारे जैसे बड़े-बड़े डॉक्टर को बुलावे और बड़ा महोत्सव करे। उसमें जो राग है, वह भी दुःख है। पचास करोड़ का मकान बनाया और उसमें यह बनाया, पाँच करोड़ का खर्च किया, बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं को बुलाया और आज तो बहुत आनन्द आया... धूल भी आनन्द नहीं, सुन न! राग है, दुःख है, आकुलता है। अनाकुल आनन्दस्वरूप भगवान से... यह आयेगा। '**पृथग्लक्षणाः**' बाद में आयेगा।

'**मोक्षार्थिभिः अयं सिद्धान्तः सेव्यतां**' '**मोक्षार्थिभिः**' **मोक्षार्थियों अर्थात् सकल कर्म का क्षय होने पर होता है...** पूर्ण विकार का नाश होने पर। कर्म शब्द से पुण्य और पाप, विकारी भाव। उसके असंख्य प्रकार, उन सबका नाश होने से। शब्द तो बहुत सूक्ष्म है। **होता है अतीन्द्रिय सुख,....** उस राग का भाव जो असंख्य प्रकार का है, शुभ और अशुभ, जिसे शुभकर्म कहते हैं न? शुभ! कल डॉक्टर कहते थे न? शुभकर्म, शुभकर्म। वह शुभकर्म राग है। व्रत और दया, दान, अनुकम्पा और पर की सेवा... वह सब राग है। वह राग है, वह दुःख है। यह डॉक्टर है। सर्जन डॉक्टर है। चन्दुभाई आये नहीं। उनकी बहिन को ठीक नहीं है। यह आये हैं। कलकत्ता के डॉक्टर हैं।

आहाहा! अतीन्द्रियसुख को **उपादेयरूप अनुभवते हैं....** आहाहा! जिसे अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा में भरा है, उस ओर की रुचि और पोसाण से, अपना अभिप्राय

उसमें जुड़ने से आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द को उपादेय अर्थात् स्वीकार, सत्कार करता है और राग का अस्वीकार और असत्कार करता है। आहाहा! समझ में आया? वह मोक्षार्थी है। है? **अनुभवते हैं ऐसे हैं जो कोई जीव...** ऐसा लिया। मोक्षार्थी की व्याख्या ही यह की है।

कोई भी चीज़ हो तो उसका स्वभाव तो होता है न? शक्ति होती है न? सत्त्व होता है न? तत्त्व होता है न? तत्त्व अर्थात् भाव। कोई भी चीज़ हो, उसका भाव होता है। वस्तु है, वह भाववान है, और उसका भाव होता है। आत्मा भाववान है और उसका भाव अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द भाव है। उस भाव का जिसे सेवन है, सम्यग्दृष्टि को—धर्मी को वर्तमान में आत्मा के आनन्द के अनुभव का सेवन है। उसने अतीन्द्रिय आनन्द को उपादेय माना है। उपादेय अर्थात् आदरणीय। स्वीकार किया है और रागादि भाव का अस्वीकार किया है, उसका नाम धर्मी कहा जाता है। कठिन शर्तें! समझ में आया? लॉजिक सूक्ष्म है।

उनके द्वारा '**अयं सिद्धान्तः**' '**अयं सिद्धान्तः**' अर्थात् वस्तु। है? वस्तु का स्वरूप। भगवान आत्मा का स्वरूप अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्दस्वरूप। यह सिद्धान्त है। यह सिद्ध हुई वस्तु है। इसका जिसे अनुभव है, उसे यहाँ धर्मी और मोक्षार्थी कहा जाता है। आहाहा! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव सूक्ष्म है। दुनिया को तो जानते हैं न? हमें तो पूरी दुनिया की खबर है न! यहाँ तो शरीर को ८८ वर्ष हुए! ८८! दो आठ। आहाहा!....

यह भगवान अन्दर प्रभु स्थित है... आहाहा! उसका जिसे अभिप्राय है, जिसे मोक्ष का अभिप्राय है, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति और पूर्ण दुःख के अभाव का जिसे अभिप्राय है, उसने वस्तु का स्वरूप सेवन किया। आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा! जैसे यह परमाणु मिट्टी—धूल है तो इसमें भी रंग, गन्ध, रस, स्पर्श शक्ति है। यह देखो, यह रंग है न? यह रजकण है, रजकण—परमाणु, मिट्टी। यह एक चीज़ नहीं। इसके टुकड़े करते... करते... करते... अन्तिम टुकड़ा रहे, उसे परमाणु कहते हैं। परम अर्थात् छोटे में छोटा छोटा। इसके टुकड़े करते-करते अन्त में बाकी रहे उसे परमाणु कहते हैं। उस परमाणु में भी रंग, गन्ध, रस, स्पर्श भरे हैं। उसमें शक्ति—गुण वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श पड़े हैं। उस वस्तु में वस्तु का स्वभाव पड़ा है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा में आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान, ईश्वरता और प्रभुता, स्वच्छता आदि शक्तियाँ अन्दर भरी हैं। आहाहा! उसका जिसने आस्वाद लिया है, उसे यहाँ मोक्षार्थी, वस्तु का स्वरूप सेवक ऐसा कहा जाता है। आहाहा! धीरे-धीरे समझना, भाई! यह बात ही पूरी दुनिया से अलग है। पूरी दुनिया से बात अलग है। पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। उगमणा-आथमणुं समझ में आता है? पूर्व-पश्चिम। आहाहा!

कहते हैं, इस वस्तु के स्वरूप का सेवन करो। किस प्रकार? **निरन्तर अनुभव करो।** आहाहा! धन्धा-बन्धा राग है। यहाँ तो राग को छोड़कर एकदम आत्मा का काम करना है, उसे आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान अन्दर है, वह राग से भिन्न है, भेद है, पृथक् है। आगे लेंगे। रागादि विकल्प जो दया, दान के उठते हैं या आमदनी का, कमाने का, उससे आत्मा पृथक् है और आत्मा से राग पृथक् है, आत्मा से राग विपरीत है, आत्मा से राग अज्ञान है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो दया, दान का राग उठता है, काम-क्रोधादि का (राग उठता है), वह अज्ञान है। वह अज्ञान और ज्ञानस्वरूप, दोनों भिन्न चीज़ अन्दर है। पृथक् है, विपरीत है, भिन्न है, अज्ञान है। आहाहा! ऐसी बात है, भगवान! धर्म कोई साधारण चीज़ (नहीं है)।

कल मकरसंक्रांति गयी न? तो वे हरिजन लोग बोले, मकरसंक्रांत पुण्य पर्वणि। पुण्य पर्वणि। अनाज दो, तुमको पुण्य होगा। कल मकरसंक्रांति गयी न? हरिजन बाहर निकले (और बोले) पुण्य पर्वणि मकर संक्रांत, कोई दान दो, कोई अनाज दो, कोई ऐसा दो, तुमको पुण्य होगा। वह तो कदाचित् हो तो राग की मन्दता हो तो शुभभाव हो, परन्तु है तो वह दुःख। आत्मा तो उससे अन्दर भिन्न चीज़ है। आहाहा!

भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का दल है, पिण्ड है। शक्करकन्द कहा न? इसी प्रकार शक्करकन्द आत्मा है। शक्कर अर्थात् चीनी की मिठास का पिण्ड है, वैसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास का पिण्ड है। आहाहा! समझ में आया? यह वस्तुस्वरूप। सिद्धान्त का अर्थ वस्तुस्वरूप। सेवन करना। उसका कायम अनुभव करो तो तुझे मुक्ति होगी, नहीं तो मुक्ति होगी नहीं। समझ में आया? अभिप्राय में तो ऐसा रखना कि यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसका सेवन करना वही रास्ता—धर्म है। यही कहते हैं, देखो!

मोक्षार्थी जीव—कैसे हैं मोक्षार्थी जीव ? 'उदात्तचित्तचरितैः' तीन शब्द पड़े हैं। उदात्त अर्थात् रहित। किससे ? **संसार शरीर भोग से रहित है,....** आहाहा! उदात्त अर्थात् ऐसे अधिक हो गया। संसार अर्थात् पुण्य-पाप के भाव हैं। यह शरीर है और राग का भोग है। चाहे तो शुभ-अशुभराग का भोग। विषय का भोग, स्त्री आदि का भोग (करता है वह) कोई स्त्री का भोग नहीं करता। उस ओर लक्ष्य करता है (और) राग का भोग करता है। शरीर तो माँस, हड्डियाँ, जड़ धूल है। आत्मा को उसका कोई भोग है नहीं। उस ओर लक्ष्य करके, 'ठीक है, मजा आता है'—ऐसा भाव—राग उत्पन्न करता है, उस राग का भोग है। उस भोग को दृष्टि में से छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। है शब्द ? कैसा है ?

संसार शरीर भोग से रहित है,.... यह उदात्त का अर्थ है। उदात्त का अर्थ वास्तव में तो पर से पृथक् (होता है)। ऐसी पर से उदात्त चीज़ है। तो पर क्या ? संसार, शरीर और राग का भोग। वह उदात्त (अर्थात्) उससे भिन्न। आहाहा! **रहित है, 'चित्तचरितैः' मन का अभिप्राय जिनका, ऐसे हैं।** क्या कहते हैं ? जिसके मन का—आत्मा का अभिप्राय, आशय, श्रद्धा, जिसके आत्मा का अभिप्राय है कि मैं तो मेरी वस्तु—चीज़ का सेवन करूँ। ऐसे जीव को यहाँ मोक्षार्थी और धर्मी कहा जाता है। बीच में राग आता है। जब स्थिर न हो सके (तो) राग आता है, परन्तु उस राग को छोड़नेयोग्य मानता है, आदरणीय मानता नहीं। छोड़ना समझ में आता है न ? राग आता तो है, (जब तक) पूर्ण वीतराग परमात्मदशा न हो (वहाँ तक राग आता है परन्तु छोड़नेयोग्य मानते हैं)। जैसे विष्टा होती है न ? विष्टा होती है तो वह रखनेयोग्य है ? मैसुख खाया हो, मैसुख! मैसुख समझ में आता है ? मैसुख पाक। पौन सेर, सेर खाया हो, चार सेर घी पिलाये हुए आटे में, एक सेर चने का आटा और चार सेर घी (डालकर बनावे), उसे मैसूर कहते हैं। और एक सेर गेहूँ का आटा और चार सेर घी, उसे शक्करपारा कहते हैं। हमने तो सब देखा है न! सब खाया है, सब खबर है। मैसूर खाया हो, उसकी विष्टा हो, वह रखने की है ? कल तो मैसूर खाया था तो विष्टा बहुत अच्छी है (ऐसा करके विष्टा रखता है) ? रोटी की विष्टा खराब है, परन्तु चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूर खाया हो (तो वह रखनेयोग्य है ?) तुमको कल थोड़ा दिया था न ? वह मैसूर था। मेरे लिये कोई लाया

था। आँख के लिये। मैं तो खाता नहीं, मैं तो चार फुलके—रोटी खाता हूँ, इसके अतिरिक्त कुछ खाता नहीं। वह मैसूर खाया हो, उसकी विष्टा हो, वह रखनेयोग्य है ?

इसी प्रकार अन्तर में पुण्य और पाप के भाव (हों, वे) जहर के समान हैं। विष्टा नहीं कहा, कड़क लगे। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अनाकुल शक्ति का पिण्ड प्रभु आत्मा अमृत का सागर है, उससे विपरीत पुण्य-पाप के भाव (होते हैं), वे विपरीत, दुःखरूप, जहर है। आहाहा! अज्ञानी अनादि से जहर का अनुभव करता है। परन्तु उस जहर से भिन्न भगवान अन्दर आत्मा आनन्दकन्द है, उसका अनुभव, अभिप्राय, दृष्टि कभी नहीं करता। जिसका चारित्र का अभिप्राय... है ? जिसके चित्त का चरित्र—आत्मा का अभिप्राय। चित्त का अर्थ मन लेना। चित्त अर्थात् ज्ञान। जिसका ज्ञान का—आत्मा का अभिप्राय है, वह शरीर, भोग और संसार से अन्दर से विरक्त होकर, आनन्दस्वरूप में रक्त होकर, अनुभव करो। तुझे आनन्द आयेगा, संसार से तेरी मुक्ति होगी, तुझे बन्धन में से (छूटकर) अबन्धभाव प्रगट होगा। समझ में आया ? आहाहा! यह अभिप्राय का जोर हुआ, भाई!

जिसके ज्ञान में अभिप्राय—चित्त का चरित्र है। अन्दर जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका अभिप्राय चारित्र—रमणता ऐसी है कि, पूर्ण स्वरूप मेरी चीज़ है, उसका अनुभव करना, वह उसका अभिप्राय है। आहाहा! समझ में आया ? यह कल चला था। यह तो थोड़ा फिर से लिया। वह की वह बात कहीं आती नहीं। दूसरी बार पढ़ें तो दूसरा आवे, तीसरी बार पढ़ें तो तीसरा आवे। अन्दर तो भण्डार भरे हैं! आहाहा!

भगवान! तू चेतननेत्र है न! यह नेत्र तो जड़ है, धूल है। अन्दर चैतन्य प्रकाश का नेत्र है। चैतन्यस्वरूप, वह चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर भरा है। वह जिसके ज्ञान में, अपने स्वभाव में, अपने स्वरूप का सेवन करने का अभिप्राय है, वह मोक्षार्थी है, वह अपना अनुभव करो। पर का अनुभव छोड़ो। आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्षार्थी का धन्धा क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धन्धा-फन्धा पाप है। यह डॉक्टर का धन्धा पाप है। यह सर्जन है, सर्जन। किसका सर्जन है ? ऑपरेशन करनेवाला। ऑपरेशन में भी भाव तो

यह है न कि पैसा मिलेगा। (वह) पाप है। कितने ही डॉक्टर तो ऐसे होते हैं, राजकोट में बड़ा अस्पताल होता है न? तो दो महीने, तीन महीने ऑनरेरी करे। ऑनरेरी—मुफ्त। हेतु तो यह है कि यहाँ बराबर प्रसिद्धि हो जाये, फिर अपनी दुकान बराबर चले। भाई! यह सब चलता है न? दो, तीन, चार महीने ऑनरेरी करे। डॉक्टर मुफ्त जाये, परन्तु हेतु क्या? चार, छह महीने अस्पताल में काम करे तो प्रसिद्ध हो जाये। प्रसिद्ध होवे तो फिर अपनी दुकान चले। यह सब पाप है। आहाहा!

यहाँ पाप की बात तो एक ओर दूर रहो, परन्तु दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, ईश्वर स्वरूप भगवान का स्मरण (करना), वह सब राग है। क्योंकि भगवान तो ज्ञान और आनन्द है। उसमें वृत्ति उठती है, विकल्प उठता है, वह तो राग है। वह भगवान आत्मा वस्तु का स्वरूप जो है, जिसका अभिप्राय उदात्त है। उसका चरित्र—अभिप्राय अन्दर में रमना, वह अभिप्राय है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! साधारण लोग तो दया पालो और व्रत करो, अपवास करो, और यह गिरनार की यात्रा करो, यह सब राग है, यह कोई धर्म-फर्म नहीं। धर्म तो अन्दर में पुण्य और पाप के राग से भिन्न करके अपने स्वरूप का अनुभव—सेवन करना, इसका नाम परमात्मा धर्म कहते हैं। आहाहा! मानो, न मानो, मार्ग तो यह है। आज करो, कल करो, बाद में करो, परन्तु यह करने से ही संसार का छुटकारा होगा। बन्धन से मुक्ति हो, इसके बिना बन्धन से मुक्ति होगी नहीं। समझ में आया?

क्या (कहते) हैं? जिसका अभिप्राय, ज्ञान का अभिप्राय ऐसा है कि मैं तो मेरी चीज़ का सेवन करूँ। मेरी चीज़ है, वह ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, उसका मैं अनुभव करूँ, ऐसा जिसका अभिप्राय है, तो उसका अनुभव करो। आहाहा! पहले इसका निर्णय तो करे कि यह चीज़ ऐसी है। समझ में आया? अरे! कभी किया नहीं। अनन्त काल हुआ, साधु भी अनन्त बार हुआ। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो।' छहढाला में आता है। छहढाला है न? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो, पै (निज)आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो।' पाँच महाव्रत पालन किये, अट्ठाईस मूलगुण लिये, दया, दान किये, व्रत किये, परन्तु वह तो सब राग की क्रिया है।

उसमें सुख नहीं, वह तो दुःख है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! दुनिया से भिन्न परम सत्य तो यह है। समझ में आया?

जिसका ऐसा अभिप्राय है, वह सेवन करो। **कैसा है वह परमार्थ?** आहाहा! वह प्रभु वस्तु कैसी है? जिसका सेवन करना कहा न? '**सेव्यतां सिद्धान्त**' सिद्धान्त अर्थात् वस्तु। वस्तु स्वरूप कैसा है? अन्तरात्मा (कैसा है)? '**अहं शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः सदा एव अस्मि**' आहाहा! '**अहम्' स्वसंवेदन प्रत्यक्ष....** आहाहा! '**अहम्**' यह है, यह है। यह स्व अपने से वेदन—संवेदन, ज्ञान और आनन्द का अपने से वेदन होना, वह '**अहम्**' वह प्रत्यक्ष है। '**अहम्**' यह आत्मा, उसके आनन्द और ज्ञान का वेदन करना, वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का अर्थ? जिसमें कोई मन और राग की अपेक्षा नहीं, ऐसी अन्दर चीज़ है। उस चीज़ का अनुभव करना, वह प्रत्यक्ष है। आहाहा! भारी कठिन बातें! मार्ग तो ऐसा है, भाई! दुनिया ने सब सस्ता कर दिया। यह व्रत पालो और भक्ति करो और ऐसा हो जाये। बापू! वह तो जिन्दगी चली जायेगी, मनुष्य भव मिला, वह व्यर्थ चला जायेगा। आहाहा!

मनुष्य का अर्थ यह है, 'मनुष्यति ज्ञायते इति मनुष्यः' मनुष्य का अर्थ यह है। ज्ञायते इति। ज्ञायकस्वरूप जो है, उसका ज्ञान करे, वह मनुष्य कहलाता है। उस ज्ञायक का ज्ञान किये बिना पर का ज्ञान करे, उसे तो पशु कहते हैं। पशु क्यों कहते हैं? 'पश्यति बध्यति इति पशु' पशु की संस्कृत व्याख्या है। पशु—'पश्यति बध्यति इति पशु' अपने स्वरूप की दृष्टि का अभिप्राय नहीं और राग तथा द्वेष का सेवन करता है, वह बध्यति—वह आवरण से बन्धन में पड़ता है। वह पशु है। बध्यते—पशु बध्यति है। आहाहा! पश्यति बध्यति। पाश में, विकार में बन्धन में आ जाता है, वह पशु कहा जाता है। आहाहा! ऐसे अरबोंपति, करोड़ोंपति हो, परन्तु अन्दर में आत्मा का भान नहीं और राग और पुण्य-पाप का सेवन करता है, परन्तु अन्दर में भगवान आत्मा अनुभव करना रह जाता है, उसे पशु कहते हैं। पशु का अर्थ—पश्यति बध्यति इति पशु। आवरण से बन्ध हो जाता है और आत्मा का भान नहीं, उसे पशु कहा जाता है। 'मनुष्या स्वरूपेण मृगा चरन्ति' मनुष्य के रूप में मृग जैसा हिरण। हिरण... हिरण कहते हैं न? मृग। आहाहा! मृग की नाभि में कस्तूरी है, मृग की नाभि में कस्तूरी, उसकी कीमत मृग को नहीं है

और उसकी गन्ध मानो बाहर से आती हो (ऐसा उसे लगता है) तो बाहर शोधता है। उसी प्रकार यह मनुष्य होकर अन्तर में आनन्द पड़ा है, वह नाभि में जैसे कस्तूरी पड़ी है, वैसे अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है, वह मानो बाहर से आनन्द मिलेगा, (ऐसा मानता है)। स्त्री में से, इज्जत में से, कीर्ति में से, पैसे में से (मिलेगा, ऐसा माननेवाले) पशु तुल्य मृगा चरन्ति। वह मृग जैसा है। बात तो ऐसी है, डॉक्टर! दुनिया से अलग प्रकार है। आहाहा!

यह कहते हैं कि '**शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः**' मैं तो हूँ। स्वसंवेदनप्रत्यक्ष! आहाहा! मैं तो स्वसंवेदन—स्व अर्थात् अपने आनन्द और ज्ञान का वेदन... वेदन—अनुभव प्रत्यक्ष (अर्थात्) पर की अपेक्षा बिना (करूँ), ऐसा मैं आत्मा हूँ। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! हमको खबर है तो न! सूक्ष्म तो है। लोगों में क्या चलता है, हमने तो सबको देखा है न! पूरा हिन्दुस्तान दस हजार मील तीन बार घूमे हैं। दस-दस हजार मील! मोटर होती है न? प्लेमाउथ एक मोटर है। रविवार को थोड़ा बाहर निकलते हैं। बैटरी बिगड़ती है न? आज थोड़े बाहर निकलेंगे। बैटरी बिगड़े नहीं। बड़ी पचास हजार की मोटर है। वह तो बहुत वर्ष की पड़ी है। बाहर निकले तो काम आवे, बाकी तो पड़ी है। हिन्दुस्तान में तीन बार घूमे हैं। बहुत देखा, यात्रा देखी, लाखों लोग देखे... प्रभु! मार्ग कोई दूसरी चीज़ है। आहाहा!

अन्तर में देखनेवाले को देखना, देखनेवाला पर को देखता है, उसे छोड़कर देखनेवाले को अन्दर में देखना। मैं कौन हूँ? श्रीमद् राजचन्द्र हुए हैं, सुना है? डॉक्टर! श्रीमद् राजचन्द्र हुए हैं। श्रीमद् राजचन्द्र नहीं हुए? जिन्हें जातिस्मरणज्ञान था। पूर्व भव का ज्ञान छोटी उम्र में था। आठ वर्ष की उम्र में (ज्ञान था)। तैंतीस वर्ष में देह छूट गयी। बहुत क्षयोपशम! अजब-गजब शक्ति! वे सोलहवें वर्ष में कहते थे, 'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?' सोलह वर्ष में (कहते हैं)। शरीर के सोलह वर्ष, आत्मा तो अनादि-अनन्त है, वह तो अविनाशी है, उसका तो कभी नाश होता नहीं। सोलह वर्ष की उम्र में कहते हैं, मैं कौन हूँ? और वास्तविक स्वरूप—यथार्थ स्वरूप क्या है? वह यथार्थ स्वरूप जाने बिना... आहाहा! उसका अनुभव किये बिना चौरासी लाख के अवतार छूटेंगे नहीं, प्रभु! आहाहा! वह चाहे जो क्रियाकाण्ड करे, व्रत पाले,

अपवास करे, भक्ति करे, करोड़ों रुपये के मन्दिर चलावे, सब राग है, वह कोई धर्म नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो यह कहते हैं, मैं तो स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हूँ। कोई चीज़ मैं बनाऊँ या उसमें कुछ करूँ तो मेरे आत्मा को लाभ होगा, ऐसा मैं हूँ नहीं। आहाहा! है अन्दर? **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ जो मैं जीवद्रव्य....** आहाहा! ऐसा मैं जीव वस्तु हूँ। '**शुद्धं चिन्मयं ज्योतिः**' शुद्ध ज्ञानमय ज्योति! ज्ञान जलहल ज्योति चैतन्यमूर्ति! जैसे यह अग्नि की ज्योति है, वैसे मैं चिन्मय ज्ञानज्योति चैतन्य अन्दर हूँ। ध्रुव अनादि-अनन्त वस्तु मैं (हूँ)। चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय ज्योति हूँ, वह मेरा धाम है, वह मेरा स्थान है, वह मेरा क्षेत्र है, वह मेरी सर्वस्व चीज़ है। चिन्मय ज्योति! ज्ञानमय ज्योति मैं सर्वस्व हूँ। अरे! आहाहा! ऐसा है, बापू! क्या हो? दुनिया में तो बाहर में अभी साधु हो जाओ, दीक्षा ले लो, ठीक! आत्मा क्या, उसका भान नहीं होता। साधु हुआ तो क्या हुआ? समझ में आया? अपनी चीज़ के अनुभव और ज्ञान बिना साधु हुआ तो क्या हुआ? अनन्त बार हुआ।

यहाँ यह कहते हैं, **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ...** आहाहा! में तो ज्ञान, चिन् अर्थात् ज्ञान, चित् 'न' का त् होता है। चिन् ज्योति अर्थात् चित्ज्योति। चित् ज्योति अर्थात् ज्ञानज्योति। मैं तो ज्ञान के प्रकाश का पूर—नूर हूँ। ज्ञान के प्रकाश का—समझण का तेज पुंज हूँ। वह मैं हूँ। है? **चिन्मयं—शुद्ध ज्ञानस्वरूप प्रकाश सर्व काल...** सदा काल। '**एव**' अर्थात् '**अस्मि**' हूँ। '**अस्मि**' हूँ। सर्व काल मैं तो चिन्मय ज्योति हूँ। ऐसी दृष्टि करके अन्तर में रमना, अनुभव करना, वही पूर्ण आनन्द की प्राप्ति का उपाय है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा! **निश्चय से हूँ।** यहाँ तक कल आया था। कल दोपहर में यहाँ तक आया था। आज फिर से लिया है। हमारे चन्दुभाई कहे, फिर से लो।

अब, यहाँ (कहते हैं), '**तु ये एते विविधाः भावाः ते अहं नास्मि**' '**तु**' **एक विशेष है** (कि) '**विविधाः भावाः**' **शुद्ध चैतन्यस्वरूप से....** मैं शुद्ध पवित्र चिन्मय ज्योति से **अनमिलते हैं...** मेरे चैतन्यस्वभाव के साथ मिलान नहीं खाते, एक नहीं होते। मेरी जाति से अनमेल भिन्न चीज़ है। क्या? **रागादि अशुद्ध भाव...** चाहे तो शुभराग दया, दान का हो या चाहे तो पाप का राग हो, परन्तु वह राग तो अपने शुद्ध ज्ञानमय मूर्ति से अनमेल भाव है, भिन्न चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा अन्दर में भेदज्ञान करना, उसका

नाम धर्म और अनुभव है। आहाहा! ऐसा लम्बा! एक घण्टे सुनना कठिन पड़े। सब सूक्ष्म बातें! मार्ग तो ऐसा है, बापू! भाई! आहाहा!

बोटाद में एक थे। ...रुस्तमजी वह मकान है न? किसका? भूल गये। मस्तराम! वह व्याख्यान में हमेशा आते थे। रुस्तमजी थे। बहुत लोग आते थे। यहाँ ६५ वर्ष तो दीक्षा लिये हो गये। साठ और पाँच। दुकान छोड़ी। बहुत-बहुत देखा है। यह चीज़ तो बहुत महँगी, भाई! आहाहा! सुनने को मिलती नहीं, फिर समझे तो कहाँ?

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि, प्रभु! तेरा चैतन्यस्वभाव जो आनन्द है, उससे अनमेल; जैसे गेहूँ में कंकड़ होते हैं, कंकड़ कहते हैं न? बोला ऐसा जाता है, कोई पूछे, बहिन! क्या करती हो? तो कहे, गेहूँ बीनती हूँ। ऐसा कहे। गेहूँ बीनती है? कंकड़ बीनती है परन्तु बोले गेहूँ। बहिन! क्या करती हो? तो कहे, गेहूँ बीनती हूँ। गेहूँ क्यों कहते हैं? कि मैं चावल, दाल बीनती नहीं, ऐसा बतलाने के लिये। वरना बीनती है तो कंकड़। कंकड़ बीनती है, निकाल डालती है। इसी प्रकार आत्मा में पुण्य और पाप के भाव कंकड़ हैं। समझ में आया? आहाहा!

आत्मा का अनुभव करना, इसका अर्थ यह कि पुण्य-पाप के भाव दृष्टि में से, आश्रय में से छोड़ना। आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! प्रभु! तेरी बलिहारी है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : दया पालना तो जीव की शोभा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दया किसकी? अपनी। पर की दया कौन पाल सकता है? इसे स्त्री का प्रेम नहीं? पति को पत्नी का प्रेम है या नहीं? तो पत्नी मर जाती है तो क्यों रोकता नहीं? पर को रख सकता है तो (रखे)। डॉक्टर हो तो भी मर जाती है उसकी स्त्री। बराबर है न? भाई! पच्चीस वर्ष की उम्र हो, पत्नी बाईस वर्ष की हो (और) मर जाये तो रखता है? रख सकता है? क्या रखे? उसकी स्थिति हो तो रहे, नहीं तो कौन रख सकता है? स्त्री को रख सकता नहीं तो पर की दया पाल सकता है? आहाहा! क्यों पत्नी प्रिय में प्रिय है, जिसे लोग अर्धांगिनी कहते हैं, अर्धांगिनी! आधा अंग! मेरा अंग और उसका अंग दो होकर एक अंग है। धूल भी नहीं। अर्धांगना कहाँ से लाया? वह

भिन्न है, तू भिन्न है। उसका प्रेम हो (तो भी रख नहीं सकता)। बड़े-बड़े डॉक्टर हों तो कहीं रख नहीं सकते। आँसू बहाते हैं। आहाहा! और पत्नी अन्त में कहती है, तुम्हारी उम्र छोटी है, मैं जाती हूँ और तुम्हारी प्रकृति जरा ऐसी है तो दूसरी करना, नहीं तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा? तुमने तो कहाँ विवाह किया है? जिसने विवाह किया हो, उसे ऐसा चलता है। पच्चीस-तीस वर्ष की छोटी उम्र होती है न? और स्त्री मर जाती हो, डॉक्टर हो, वकील हो... यह तो हमारे घर की बात है, हों! हमारे घर में हुआ है। हमारे शिवलाल थे न, दुकान के भागीदार थे। उनकी उम्र तो बड़ी थी। ५३ वर्ष की (उम्र थी) और पत्नी मर गयी। तो पत्नी कहती गयी, तुम्हारी प्रकृति जरा ऐसी है तो तुम विवाह कर लेना। बालक नहीं था। ५३ वर्ष की उम्र थी। ५३ समझे? पचास और तीन। हमारे भागीदार थे। वह कह गयी परन्तु फिर ५३ वर्ष में मिले कौन? ५३ वर्ष में कौन पैसा दे? वह तो स्थूल बुद्धि थी, बनिया थे तो भी कोली जैसी बुद्धि थी। हमारी दुकान के भागीदार थे। (संवत्) १९५९-६८ नौ वर्ष दुकान में रहे। १९५९ के वर्ष से १९६८ वर्ष—नौ वर्ष रहे। पाँच वर्ष तो मैंने दुकान चलायी। सत्रह वर्ष की उम्र से बाईस (वर्ष तक)। वे हमारे भागीदार थे। उनकी पत्नी मर गयी तो ऐसा कहती गयी कि तुम करो। फिर पैसा देने के लिये व्यर्थ प्रयास करे। कौन दे उसे? तुमको कौन सम्हालेगा? तुम्हारी प्रकृति बराबर नहीं। कोई पत्नी हो तो तुमको सम्हालेगी। कौन सम्हाले? धूल सम्हाले? आहाहा! मूर्खाई के घर है सब! ममता... ममता... ममता...

मैं कौन हूँ? मैं कहाँ हूँ? मुझे कौन सम्हाले? मैं मुझे सम्हालूँ। मैं आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप हूँ, उसकी सम्हाल करूँ। दूसरे की सम्हाल मैं कर नहीं सकता। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, देखो!

शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अनमिलते हैं... कौन? **रागादि अशुद्धभाव,... 'रागादि'** शब्द पड़ा है न? तो राग, द्वेष, विषय, वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट आदि। वे सब अशुद्ध परिणाम—मलिन परिणाम हैं। रागादि—दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव भी राग—अशुद्ध है। वह राग शुद्ध नहीं, अपना स्वभाव नहीं। यह कहते हैं।

रागादि अशुद्धभाव, शरीर आदि सुख-दुःख आदि... शरीर में कोई अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुःख लगे, वे **नाना प्रकार अशुद्ध पर्याय,... 'ते अहं न अस्मि' ये सब**

जीव-द्रव्यस्वरूप नहीं हैं। वह मैं हूँ। आहाहा! शरीर में रोग हो, निरोगता हो, वह जड़ की चीज़ है, मेरी नहीं, वह मुझमें नहीं। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह राग है, वे मेरे नहीं। आहाहा! कितने से छूटना? तो कहते हैं कि सर्वस्व। ऐसा कहा। देखो! है? **शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अनमिलते हैं...** कौन? **'ये एते विविधाः भावाः'** रागादि अशुद्ध (भाव), सुख-दुःख आदि प्रकार, अशुद्ध पर्याय **ये सब जीव-द्रव्यस्वरूप नहीं हैं।** वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! मेरी चीज़ से भिन्न पड़ जाये, वह चीज़ मेरी नहीं। रागादि छूट जाते हैं। आत्मा निर्मल होता है, शुद्ध परमात्मा (होता है) तो राग रहता नहीं। इसलिए राग यदि अपनी चीज़ हो तो पृथक् कैसे पड़े? भिन्न कैसे पड़े? पृथक् है तो पृथक् पड़ जाता है। इसलिए अपनी चीज़ है नहीं। समझ में आया? आहाहा!

वह रागादि अशुद्ध भाव मैं नहीं। **ये सब जीव-द्रव्यस्वरूप नहीं हैं। कैसे हैं अशुद्धभाव? 'पृथग्लक्षणाः'** इसमें तीन अर्थ हैं। **मेरे शुद्ध चैतन्यस्वरूप से नहीं मिलते हैं।** पुण्य और पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव, मेरी चैतन्य जाति है, जाननस्वभाव है, उससे यह पुण्य-पाप के भाव पृथक् लक्षण हैं। क्योंकि मैं चैतन्य हूँ। इस राग में चैतन्य का अभाव है। तो वह अज्ञान है। मैं चैतन्य हूँ तो वह राग विकार है, मैं निर्मल हूँ तो वह विकार है तो वह विपरीत है। पृथक् लक्षण है, विपरीत है, अज्ञान है। आहाहा! समझ में तो आता है न? भाषा तो सादी है, परन्तु मार्ग तो भगवान ऐसा है। आहाहा!

मेरी चीज़ जो अन्दर है—ज्ञानज्योति जलहल ज्योति! लोग अग्नि सदा रखते हैं न? अग्नि सदा रखते हैं। तुम्हारे पारसी में तो अग्नि बहुत रखते हैं। खबर है। हमारे यहाँ पारसी थे न? भाई! हम चरण करने गये थे। वे पारसी के गुरु थे। वहाँ चरण करने ले गये थे। वहाँ व्याख्यान चलता था। (संवत्) १९९५ के वर्ष की बात है। सामने घर था। चरण करने गये थे। वे पारसी के गुरु थे तो अग्नि सदा चौबीस घण्टे रखे। यह खबर है। वह अग्नि नहीं, यह चैतन्य अग्नि सदा अपने में रखना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

बहिन का एक शब्द है न? अग्नि में दीमक नहीं लगती। पहला शब्द क्या है? कंचन को जंग नहीं लगती। कंचन है न? सोना! उसमें जंग लगती है? काई... काई नहीं होती। लोहे को काई होती है, कंचन को काई नहीं होती। कंचन में जंग नहीं, अग्नि

में दीमक नहीं। बारीक जीवांत होती है। दीमक होती है, बहुत पतली, सफेद (होती है)। तेज धूप पड़े तो जल जाती है। अग्नि में दीमक नहीं लगती। पहला क्या कहा? कंचन को जंग नहीं लगती। इसी प्रकार भगवान आत्मा में आवरण और अशुद्धता और हीनता नहीं। यह बहिन के शब्द हैं।

यहाँ एक बहिन है। असंख्य भव (वर्षों) का (वर्षों का) जातिस्मरणज्ञान है। असंख्य अरब वर्ष का! भव नौ, परन्तु असंख्य अरब वर्ष की स्थिति का है। उनकी यह वाणी है। अभी पुस्तक प्रकाशित हुई है, बीस हजार प्रकाशित हुई है। दस हजार नयी प्रकाशित होती है। उसमें ऐसा एक शब्द है। अग्नि में दीमक (नहीं)। उधई अर्थात् दीमक... दीमक। सूक्ष्म दीमक नहीं होती? अग्नि में दीमक होगी? इसी प्रकार कनक को जंग लगेगी? काई। उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर चिदानन्द प्रभु है, उसमें कर्म और राग-द्वेष का आवरण नहीं, राग-द्वेष की अशुद्धता नहीं और कमी (हीनता) नहीं। अपने पूर्ण स्वभाव से भरपूर ऐसा न्यूनता रहित आत्मा चीज़ है। आहाहा! जरा सूक्ष्म है। तुमको द्रव्यदृष्टिप्रकाश दिया, उस समय याद था। एक पुस्तक है। परन्तु तुमको न समझ में आये, ऐसी चीज़ है। बहुत सूक्ष्म बात है। बहिन की बात है।

यहाँ कहते हैं, **'पृथग्लक्षणाः' मेरे शुद्ध चैतन्यस्वरूप से नहीं मिलते हैं।** आहाहा! इसलिए मेरी चीज़ भिन्न है, वह चीज़ भिन्न है। ऐसा भेदज्ञान करके अपने आत्मा में अनुभव करना, वही मुक्ति होने का, आनन्द प्राप्त करने का उपाय है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पौष शुक्ल ७, रविवार, दिनांक-१५-०१-१९७८, कलश-१८५, प्रवचन-२०५

कलशटीका १८५ कलश चलता है न? यहाँ आया है। **कैसे हैं अशुद्धभाव? 'पृथग्लक्षणाः'** क्या कहते हैं? जिसे धर्म करना हो, तो धर्म तो आत्मा का शुद्ध स्वभाव जो परिपूर्ण पड़ा है, उसकी दृष्टि करने से और उसका अनुभव करने से धर्म होता है। जो शुद्ध चैतन्य है, उसका अनुभव करने से रागादि भाव जो है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो, या अशुभराग हो, वे आत्मा के स्वभाव से पृथक् लक्षण हैं, भिन्न स्वरूप है। सूक्ष्म बात है।

चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के परिणाम हों, वे राग हैं, वह आत्मा चैतन्य लक्षण, आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव करने से वह राग पृथक्—भिन्न लक्षणवाला है। और अपने चैतन्यस्वरूप से वह राग विपरीत लक्षणवाला है। और उस चैतन्यस्वरूप का अन्तर्दृष्टि से अनुभव करने पर वे रागादि जो हैं, वह अज्ञान भाव है। अज्ञान भाव का अर्थ मिथ्यादृष्टिपना नहीं, परन्तु उस रागभाव में चैतन्यस्वरूप का, चैतन्य की किरण—अंश का अभाव है, इस कारण रागभाव को अज्ञान कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म! सेठ कहते थे कि हम कक्षा में कुन्दकुन्दाचार्य का पढ़े हैं, परन्तु यह दृष्टि नहीं। वह तो कहते थे।

यह तो सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्रदेव के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि है। उस दिव्यध्वनि के अनुसार दिगम्बर सन्तों ने शास्त्र रचे। आहाहा! ऐसी बात अन्यत्र कहीं है नहीं। समझ में आया? उनके सम्प्रदाय में भी गड़बड़ हो गयी है। अपना शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु, उसकी दृष्टि हुए बिना, सम्यग्दर्शन हुए बिना व्रत, तप, भक्ति आदि भाव है, वह धर्म है—ऐसा मानता है, वह दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! क्योंकि भगवान चैतन्यस्वभाव पूर्ण स्वरूप अन्दर है और अतीन्द्रिय अनाकुल आनन्द का रसकन्द प्रभु आत्मा तो है। उससे वह पुण्य और पाप के भाव दुःखरूप हैं, आकुलता है। स्वभाव से पृथक्—भिन्न लक्षण है। स्वभाव चैतन्यस्वरूप का अनुभव, उससे वह राग अज्ञान भाव है। और चैतन्यस्वरूप के अनुभव में राग, स्वभाव से विपरीत भाव है—ऐसी बात है, भगवान! वीतराग दिगम्बर सन्तों की वाणी ऐसी है। ऐसी वाणी कहीं है नहीं। उसका स्वरूप ही यह है। समझ में आया?

अनन्त काल हुआ... सवेरे कहा था न? छहढाला में आता है—'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' आता है न? भाई! छहढाला में आता है। 'मुनिव्रत धार...' दिगम्बर मुनि हुआ, नग्न मुनि हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत धारण किये। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक...' ग्रैवेयक (अर्थात्) ग्रीवा के स्थान में देव के स्थान हैं नौ ग्रैवेयक। वहाँ अनन्त बार उत्पन्न हुआ। परन्तु आत्मज्ञान—इस राग से भिन्न, जो क्रियाकाण्ड का विकल्प जो राग है, उससे भिन्न भगवान अन्दर है, उसका अनुभव और दृष्टि नहीं की। उसके बिना जन्म-मरण का अन्त आया नहीं। आहाहा! बात सूक्ष्म है, भगवान!

यहाँ आचार्य यह कहते हैं, अमृतचन्द्राचार्य। कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर मुनि संवत् ४९ में यहाँ भरत में हुए और भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं। वर्तमान मौजूद विराजते हैं। पाँच सौ धनुष का देह है। करोड़ पूर्व का आयुष्य है। अरबों वर्ष से केवलज्ञान में विराजते हैं और समवसरण में इन्द्र और गणधर, सिंह-बाघ आते हैं। अभी महाविदेह में दिव्यध्वनि होती है। उनके पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। आहाहा! दिगम्बर मुनि थे। एक मोरपिच्छी, कमण्डल (रखते थे)। अन्दर में आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... मुनि का भावलिंग तो अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र प्रचुर स्वसंवेदन है। यह पाँचवीं गाथा में है। समयसार की पाँचवीं गाथा में है। हमारा—मुनि का निज वैभव... यह धूल का नहीं। धूल अर्थात्? पैसा! यह पैसा धूल है न? यह हमारी लक्ष्मी नहीं। शरीर भी हमारी लक्ष्मी नहीं और अन्दर में पाप का विकल्प तो मुनि को होता नहीं। पंच महाव्रत आदि का शुभराग होता है, वह भी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! वह भी दुःखरूप भाव है। मैं उससे भिन्न स्वसंवेदन (स्वरूप हूँ)। अपने पहले आ गया। आ गया न अन्दर? **स्वसंवेदनप्रत्यक्ष...** पाँचवीं लाईन है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष! आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का अपने स्वभाव से प्रत्यक्ष वेदन करना और उग्र आनन्द का (वेदन करना)। सम्यग्दृष्टि को भी स्वसंवेदन, आनन्द के अंश का वेदन है। सम्यग्दृष्टि को, न हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि है, उसे अपने चैतन्यस्वभाव में जो आनन्द है, उसका एक अंश तो व्यक्त—प्रगट है।

सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में श्रेणिक राजा, भगवान के समय में हुए। क्षायिक

समकिती! चारित्र नहीं था, व्रत नहीं थे परन्तु आत्मा का भान हुआ, अन्दर आत्मा का वेदन था और उसमें तीर्थंकरगोत्र बँध गया परन्तु पूर्व में मुनि की असातना (की थी)। सच्चे सन्त थे, उनके गले में (मरा हुआ) सर्प डाल दिया था, उससे सातवें नरक का आयुष्य बँध गया था, परन्तु उनकी रानी चेलना रानी समकिती थी, ज्ञानी थी, अनुभवी थी, आनन्द की अनुभवी! वह उन्हें मुनि के पास ले गयी। सर्प डाला हुआ था, (इसलिए चेलना को कहा), 'मैं सर्प डाला है, जो तुम्हारे गुरु ने सर्प निकाल दिया होगा।' चेलना कहती है, हमारे गुरु ऐसे नहीं होते। हमारे गुरु तो ऐसे शान्त आनन्द... आनन्द... आनन्द... अतीन्द्रिय आनन्द में रमनेवाले, झूले में झूलनेवाले हैं, चलो! वहाँ देखा तो सर्प (ऐसा का ऐसा था), हजारों चीटिंयाँ, लाखों चींटियाँ (चढ़ गयी थीं)। चेलना ने धीरे से (सर्प को) उठा लिया। मुनि तो अन्दर आनन्द में थे। ऐसे आँख बन्द थी... ओहोहो! श्रेणिक को लगा, (श्रेणिक कहते हैं) 'महाराज! मैंने तो ऐसा अपराध किया था।' फिर उन्हें आत्मज्ञान हुआ। हजारों रानियाँ थी, राज था परन्तु आत्मज्ञान—समकित हुआ। मुनि के निकट समकित हुआ।

समकित का अर्थ अन्दर में राग के विकल्प जो विकार हैं, उनसे भिन्न भगवान आनन्द, ज्ञानस्वरूप है, उसका भान करके प्रतीति, अनुभव होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वह सम्यग्दर्शन हुआ, परन्तु नरक का आयुष्य पहले बँध गया था, वह तो टूटता नहीं। सातवें नरक का आयुष्य बँध गया था, तो चौरासी हजार वर्ष की स्थिति रह गयी। आत्मज्ञान प्राप्त हुआ, आनन्द का अनुभव हुआ। चारित्र नहीं, व्रत नहीं। व्रत तो सम्यग्दर्शन होने के बाद आनन्द की उग्रता का वेदन आता है, तब उसे व्रत का विकल्प उठता है। उसे व्यवहार कहा जाता है। वह तो उन्हें था नहीं। तो नरक में तो गये। अभी नरक में हैं, चौरासी हजार वर्ष की स्थिति है। ढाई हजार वर्ष व्यतीत हुए, साढ़े ८१ हजार वर्ष बाकी है। वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होंगे। आगामी चौबीसी में श्रेणिक राजा का जीव, व्रत, तप, त्याग नहीं था तो भी सम्यग्दर्शन हुआ, अन्तर आनन्द का स्वाद आया, उसकी स्थिति में वहाँ नरक में भी आनन्द का स्वाद आता है। जितनी कषाय है, उतना दुःख है; जितना कषाय और मिथ्यात्व गया है, उतना सुख है। वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होंगे। आगामी चौबीसी में पहले तीर्थंकर होंगे। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का

प्रताप है और सम्यग्दर्शन बिना व्रत, तप चाहे जो क्रिया करे परन्तु एक भी जन्म—भव का अन्त नहीं आता।

यह यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान में हो या पाँचवें गुणस्थान में हो, श्रावक, सच्चा श्रावक, हों! और सच्चा मुनि हो तो वह ऐसा कहता है कि यह सब रागादि अशुद्ध भाव **चैतन्यस्वरूप से नहीं मिलते हैं।** अशुद्ध भाव पृथक् लक्षण है। आहाहा! मेरी चीज़ के साथ उसका मिलान नहीं खाता। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को राग आता है, रौद्रध्यान भी होता है और मुनि को आर्तध्यान भी होता है, परन्तु मेरी चीज़ से वह चीज़ भिन्न है। मेरे आनन्द और चैतन्यस्वरूप के साथ राग का मिलान नहीं खाता। ऐसा समकिती को अन्दर अनुभव होता है। सेठ! (बाहर की) कॉलेज से यह दूसरी कॉलेज है। सेठ कहते थे कि हम कॉलेज में पढ़े हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव की पुस्तक पढ़े थे (परन्तु) यह दृष्टि नहीं थी। आहाहा!

यह दृष्टि तो अलौकिक चीज़ है, भगवान! लाखों में, करोड़ों में किसी को भान होता है! परन्तु सन्मुख होने की तैयारी कर सकता है। हजारों, लाखों लोग भी मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, रागादि मैं नहीं, ऐसे पृथक् लक्षण से सम्यक्त्व सन्मुख होता है। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि हुआ, अपने स्वरूप के आनन्द और ज्ञान का वेदन आया और रागादि है, तो वे मेरे स्वरूप के लक्षण से उनका लक्षण मिलता नहीं, मेरी चीज़ के साथ वे मिलान नहीं खाते। जैसे अनाज में कंकड़ होता है, वह अनाज की चीज़ नहीं है। गेहूँ में कंकड़ होते हैं, वह गेहूँ की चीज़ नहीं है। उसी प्रकार मेरे आनन्दस्वरूप भगवान में वे पुण्य-पाप के कंकड़ उठते हैं, वह मेरी चीज़ नहीं है। वह तो निकाल डालने की चीज़ है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, प्रभु!

कहते हैं, **अनमिलते हैं...** है न? '**पृथग्लक्षणाः**' स्वरूप के साथ मिलान नहीं खाते। आहाहा! मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप वस्तु हूँ और आनन्द लक्षण से लक्षित प्रभु हूँ, उसके साथ राग का भाव अनमेल है। किसी प्रकार से मिलता नहीं होता। आहाहा! है? यहाँ तक आया था।

किस कारण से? किस कारण से अनमेल है? जैसे गेहूँ और कंकड़ एक चीज़

नहीं, भिन्न चीज़ है, वैसे भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप आनन्द और दया, दान, रागादि के भाव हैं, वे कंकड़ समान अनमेल (चीज़ है)। मेरे चैतन्य के लक्षण से मिलान नहीं खाते। वह भिन्न चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग ऐसा है, भगवान! यहाँ तो अभी ऐसा कर डाला है कि व्रत करो और तप करो, उससे कल्याण हो जायेगा। प्रभु! यह तो अनन्त बार हुआ है। वह चीज़ कोई अपूर्व नहीं है। भव का अन्त करने की वह चीज़ नहीं है। वह चीज़ तो (अपूर्व है)।

सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा, सत् अर्थात् शाश्वत् अविनाशी चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द का अतीन्द्रिय सुख का पूर आत्मा भरा है। उससे राग का लक्षण भिन्न है, मेरी चीज़ के साथ वे मिलते नहीं। सम्यग्दृष्टि उसे छोड़ देता है। दृष्टि में से छोड़ देता है। आदरणीय नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है। गृहस्थाश्रम में हो तो भी अपने ज्ञान के चैतन्य लक्षण से लक्षित होनेवाला, लक्षित अर्थात् जाननेयोग्य होनेवाला, अपना चैतन्यस्वभाव राग से भिन्न है, चैतन्यस्वभाव से लक्षित होनेवाला मेरा लक्षण है... ओहोहो! और राग अचेतन लक्षण—पृथक् लक्षण—स्वरूप के साथ मिलता नहीं। इस प्रकार धर्मी अपने को राग से पृथक् जानता है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? अर्थ करने में अन्तर पड़ता है। ऐसे करते-करते, व्यवहार करते-करते (कल्याण) होगा। यह राग है, वह तो अनन्त बार किया। और व्यवहार आता भी है, सम्यग्दृष्टि को आत्मा का सम्यक् अनुभव होने पर भी, जब तक वीतराग न हो, तब तक भक्ति आदि का राग आता है। परन्तु उसे वे हेय मानते हैं, छोड़नेयोग्य मानते हैं, निकालनेयोग्य मानते हैं, रखनेयोग्य मानते हैं—ऐसा नहीं है। आहाहा! सोगानी! तुम्हारे पिताजी का 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' पढ़ा है या नहीं? पढ़ा है? द्रव्यदृष्टि प्रकाश। उसमें बहुत भरा है! समझ में आया? आहाहा!

चैतन्य स्वरूप से नहीं मिलते हैं। किस कारण से? 'यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यं' आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत के विकल्प—राग की वृत्ति उठे, वह मेरी चीज़ भिन्न परद्रव्य है। मेरी चीज़ नहीं। इस प्रकार धर्मी जीव, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी—सम्यग्दर्शन (हो), उसमें ऐसा मानता है। आहाहा! है? क्या कहा?

'यतः अत्र ते समग्राः' राग का समग्र भाग। गुण आनन्द और भगवान आत्मा आनन्दी, ऐसा भेद का विकल्प—राग उठता है, वह समग्र राग मेरी चीज़ से तो भिन्न है।

आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! यह तो अरूपी आत्मतत्त्व की सम्यग्दृष्टि की बात है। यह बात कोई साधारण नहीं। शब्द भले सादा आवे, परन्तु उसका वाच्य—भाव अपूर्व है। कभी मिला नहीं, कभी भी सुना नहीं अन्दर में। आहाहा!

कहते हैं कि '**समग्राः अपि भाव**' समग्र क्यों लिया है? चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो, चाहे तो आत्मा में पंच महाव्रत का विकल्प हो, वे '**समग्राः अपि**' है? '**मम परद्रव्यं**' **जिस कारण से निजस्वरूप का अनुभव करने पर,....** '**अत्र**' है न? **निजस्वरूप का अनुभव करने पर,....** अपना निज स्वरूप चेतन ज्ञायक जानन-आनन्द को अनुभव करने पर '**ते समग्राः अपि**' **जितने हैं रागादि-अशुद्धविभावपर्याय...** जितने अशुद्ध रागादि भाव हैं, शुभ हो या अशुभ, दोनों अशुद्ध हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, वह अशुभ पापभाव है और दया, दान, व्रत, तप, भक्ति शुभभाव है, परन्तु वह शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध हैं। आहाहा! समझ में आया?

'**समग्राः अपि**' सभी रागादि—राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि के विकल्प अशुद्ध विभाव पर्याय है। मलिन दशा है, मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! मैं तो निर्मलानन्द प्रभु हूँ। सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ी (वाला), धर्म की पहली सीढ़ी में ऐसा मानता है। समझ में आया? आहाहा! मनुष्यपना मिला, परन्तु वास्तविक तत्त्व की दृष्टि नहीं की तो वह पशु जैसा अवतार है। चाहे तो करोड़ोंपति हो या अरबोंपति हो, उसमें आत्मा को कोई लाभ है नहीं। समझ में आया?

क्या कहा? निजस्वरूप से भिन्न रागादि विभावपर्याय **मुझे परद्रव्यरूप है...** आहाहा! पहले पर्याय कहा। पुण्य-पाप के भाव, वे विकारी पर्याय—अवस्था—हालत कहा, परन्तु अब तो ऐसा कहा कि वह परद्रव्य है, मेरा द्रव्य ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? है?

राजमलजी की टीका है, श्लोक अमृतचन्द्राचार्य के हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के मूल पाठ है। एक हजार वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्य हुए। कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले हुए और तत्पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अमृतचन्द्राचार्य (हुए)। दिगम्बर सन्त (अर्थात्) चलते सिद्ध! आनन्द के झूले में झूलते थे! झूलते-झूलते श्लोक लिख गये। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं कि '**समग्राः अपि**' आहाहा! '**मम परद्रव्यं**' परद्रव्य है। जैसे शरीर आत्मा से परद्रव्य है। वैसे दया, दान के भाव भी परद्रव्य है। सेठ! है अन्दर? स्वाध्याय तो बहुत किया था, परन्तु दृष्टि नहीं थी। (वे) कहते थे कि यह दृष्टि नहीं थी। बात तो सच्ची है। आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा विराजते हैं। वर्तमान में भी दिव्यध्वनि होती है और इन्द्र, नरेन्द्र सभा में जाते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त संवत् ४९ में भगवान के पास गये थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये। भगवान का यह सन्देश है। आहाहा! पति परदेश में गया हो और कोई नया माल लेकर आवे तो पत्नी कहती है कि, क्या लाये? इसी प्रकार यहाँ भगवान के पास गये थे तो सन्त कहते हैं कि प्रभु! वहाँ से आप क्या लाये? तो कहे, मैं यह लाया हूँ! आहाहा!

मेरी चीज़ में तो अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। अतीन्द्रिय आनन्द के एक अंश के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन के भोग सड़ी हुई बिल्ली और श्वान जैसे लगते हैं। क्या कहा यह? सम्यग्दृष्टि को अपने आनन्दस्वभाव का वेदन और अनुभव होने से इन्द्र के इन्द्रासन, इन्द्राणियाँ, जिन्हें अनाज का भोजन नहीं, जिन्हें हजार वर्ष में कण्ठ में से अमृत झरता है, उसका भोग भी समकिती को सड़े हुए श्वान और बिल्ली जैसे गन्ध मारे, वैसे दुःख लगता है। समझ में आया? और अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को उस भोग में मिठास अर्थात् आह्लाद आता है। आह्लाद अर्थात् मजा आता है। वह भाव मिथ्यादृष्टि का है। वह परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि धर्मी जीव को अशुद्ध राग आता है, भोग का राग भी आता तो है, जब तक त्यागी-मुनि न हो, तब तक राग आता है, परन्तु वह जानता है कि यह राग तो दुःख है। राग में शान्ति की गन्ध नहीं, दुःख की गन्ध आती है। आहाहा! समझ में आया? धर्मी सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से, अपने चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से रागादि दया, दान, महाव्रत का विकल्प परद्रव्य गिनने में आये हैं। परद्रव्य गिनने में आये हैं। अपने स्वद्रव्य चैतन्य से वे भिन्न हैं। इस कारण से वे परद्रव्य हैं, हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं, दुःखरूप है, आकुलता है।

मैं आत्मा तो अनाकुल आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसी दृष्टिवन्त को '**ते समग्राः अपि**' भाव परद्रव्यरूप है। **परद्रव्यरूप है,...** आहाहा! पहले तो पर्याय कही थी। पहले कहा

था न? अशुद्ध विभावपर्याय। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे अशुद्ध विभाव-विकारी पर्याय-अवस्था है। अवस्था वस्तु त्रिकाली नहीं है। अवस्था है, हालत है। यहाँ उसका योगफल करते हुए ऐसा कह दिया कि जो पुण्य-पाप का भाव आता है, वह अशुद्ध मलिन दशा है, वह मेरी चीज़ से पर है, इसलिए वह परद्रव्य है। आहाहा! ऐसी चीज़ है, भाई! और जिसे यह दृष्टि हुई, उसका भव अन्त आ गया। एक-दो-चार भव में मोक्ष होगा। और यह दृष्टि बिना महाव्रत पाले, क्रियाकाण्ड तपस्या करे, महीने-महीने के, छह-छह महीने के अपवास (करे) परन्तु अनन्त भव में भटकेगा। आहाहा! कहो, समझ में आया?

परद्रव्यरूप हैं, कारण कि शुद्ध चैतन्यलक्षण से मिलते हुए नहीं हैं;... आहाहा! शुद्ध चिद्घन भगवान चैतन्यलक्षण जाननस्वभाव से लक्ष्य में आनेवाला प्रभु, ऐसे जानन स्वभाव के लक्षण से दया, दान, व्रत के परिणाम अपने लक्षण से मिलते नहीं। अपने लक्षण से भिन्न हैं,इस कारण धर्मी अपनी चीज़ से राग को परद्रव्यस्वरूप जानता है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? सेठ! (यह) सोनगढ़ का है? (वे) तो कहते थे कि हम कॉलेज में पढ़े हैं, परन्तु यह नहीं। ऐसा अन्तर होगा न? दृष्टि में अन्तर लिया न? आहाहा! यह मार्ग, भाई!

'प्रभु का मार्ग है शूरों का' 'वीर का मार्ग है शूरों का, कायर का वहाँ काम नहीं।' आहाहा! अन्यमत में कहते हैं, 'हरि का मार्ग है शूरों का, कायर का वहाँ काम नहीं जो न...' इसी प्रकार यहाँ भी 'प्रभु का मार्ग है वीरों का, कायर का नहीं काम जो न...' कायर मनुष्य का काम नहीं है। प्रभु! यह तो वीर का मार्ग है। अन्तर की दृष्टि करने से चैतन्यलक्षण का अनुभव होने से राग को परद्रव्य मानता है। जो राग को अपना मानता है, वह कायर, नपुंसक, हीजडा है। हीजड़ा समझ में आता है? नपुंसक होता है न? पावैया, नहीं?

प्रभु पाठ में ऐसा कहते हैं, आत्मा में वीर्य गुण है। आत्मा में एक वीर्य—आत्मबल नाम का गुण है। यह ४७ शक्ति में आ गया है। इसका स्वरूप क्या? वह तो शुद्ध चैतन्य की रचना करे, वह वीर्य है। अपने शुद्ध स्वरूप में एक वीर्य—बल नाम का गुण है, वह शुद्ध रचना (करे), पवित्र परिणाम की रचना करे, वह वीर्य है। जो पुण्य परिणाम की रचना करे, वह वीर्य नपुंसक है। जैसे नपुंसक को वीर्य नहीं होता (तो) पुत्र नहीं होता। उसी प्रकार पुण्य के परिणाम में धर्म की प्रजा उत्पन्न नहीं होती।

आहाहा! सेठ! बात ऐसी है। सागरवाला सेठ भगवानदास शोभालाल। बहुत करोड़पति हैं। यहाँ तो करोड़पति की कुछ कीमत नहीं होती। यहाँ तो आत्मा की कीमत है। आहाहा!

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान का जिसे अन्तर्मुख होकर दृष्टि में स्वीकार हुआ, उसका आनन्द का स्वाद आया, उस लक्षण से राग लक्षण मेरी चीज़ नहीं है। वह तो परद्रव्य है। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान—राग से भगवान भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान (करना, वह सिद्ध होने का उपाय है)। '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।**' यह संवर अधिकार में है। अभी तक जो सिद्ध परमात्मा होते हैं, सिद्ध—णमो लोए सव्व सिद्धाणं, वे भेदज्ञान से सिद्ध हुए हैं। राग से भिन्न करके अपनी चीज़ का अनुभव करके सिद्ध हुए हैं। '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।**' जो कोई मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे सब पुण्य—दया, दान, राग से भिन्न होकर प्राप्त हुए हैं। और जो कोई संसार में भटकते हैं, (वे) '**अस्यैवाभावतो बद्धा**' राग से भिन्नता नहीं करते और राग को अपना मानते हैं और राग से मुझे लाभ होता है, (ऐसा मानते हैं), वे बँधते हैं, मिथ्यात्व से बन्धन होता है और चार गति में भटकते हैं। '**अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।**' कोई भी प्राणी संसार में बन्धन में पड़ता है, (वह) भेदज्ञान के अभाव से बन्धन में पड़ता है। समझ में आया? आहाहा! कठिन बात लगती है न, इसलिए लोग खलबलाहट करते हैं। करो, वस्तु तो यह है, मार्ग तो यह है। जिनदेव का मार्ग ऐसा है।

वह लड़की आज बोली थी नरेन्द्र की लड़की। पाँच वर्ष की लड़की है न? 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' नरेन्द्र की पाँच वर्ष की छोटी लड़की है, उसे यह सब शब्द याद है। कण्ठस्थ किया है। 'जागता जीव ध्रुव है न!' यह गुजराती शब्द है। जागता अर्थात् चैतन्य स्वरूप, उभो अर्थात् ध्रुव है न! अन्तर चैतन्य सत्ता शाश्वत् ध्रुव है न! वह कहाँ जाये? वह कहाँ राग में आती है? वह पर्याय में आती है? वह तो ध्रुव चीज़ है। और उभो है अर्थात् ध्रुव है। और उसकी दृष्टि करने से अवश्य प्राप्त होता है। राग से और पुण्य से और व्यवहार से प्राप्त नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? वह लड़की आज बोली थी। दोपहर में आयी थी। 'घट घट अन्तर जिन बसे' उसकी माँ सिखाती होगी। पाँच वर्ष की लड़की है। 'घट घट अन्तर जिन बसे' इस शरीर के घट में जिन बसता है, आत्मा जिन है। बनारसीदास का वाक्य है। उसमें से सब लिया है।

इस कलशटीका में से बनारसीदासजी ने समयसार नाटक बनाया है। उसमें ये शब्द पड़े हैं। 'घट घट अन्तर...' यह घट—शरीर में, उसमें अन्तर में आत्मा जिन है। वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर है। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन' जैनपना कहीं सम्प्रदाय—वाड़ा नहीं है। पुण्य और पाप के भाव से विरक्त होकर अपने जिन स्वरूप में रक्त अर्थात् लीन होना, उसका नाम 'घट घट अन्तर जैन' कहा जाता है। सम्प्रदाय के जैन, वे जैन हैं नहीं। समझ में आया?

'घट घट अन्तर जिन बसे' भगवान वीतरागस्वरूप ही विराजता है। पर्याय में—अवस्था में जो अरिहन्त परमात्मा वीतराग हुए तो वीतरागता आयी कहाँ से? बाहर से आती है? अन्दर में पड़ी है। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न' अपने मत के अभिप्राय से मतवाला गहल—पागल होकर 'मत मदिरा के पान सो' अपने अभिप्राय की मदिरा पी है, उसके कारण से 'मतवाला समझे न' यह अभिप्राय में मत हुआ है। राग से कल्याण होगा, व्यवहार करते-करते (धर्म) होगा, वह मतवाला पागल हो गया है। गहल—पागल है। वह समझता नहीं। अन्दर राग से भिन्न मेरी चीज़ है, उसे समझता नहीं। समझ में आया?

यह कहते हैं, **कारण कि शुद्ध चैतन्यलक्षण से मिलते हुए नहीं हैं;....** आहाहा! शुद्ध चैतन्य जानन स्वभाव और आनन्दस्वभाव, वह चैतन्य का स्वभाव है, उससे पुण्य-पाप के भाव मिलान नहीं खाते, मेल नहीं खाते। दोनों एक नहीं है, दो के बीच सन्धि है, दो के बीच सांध है। सन्धि है, नि:सन्धि हुए नहीं। राग की क्रिया और भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप दोनों एक हुए नहीं। अज्ञानी एक मानता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। यह लेते हैं न?

चैतन्यलक्षण से मिलते हुए नहीं हैं; इसलिए समस्त विभावपरिणाम हेय हैं। आहाहा! समस्त विभाव—चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति हो, अरे! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी विभाव है और हेय है। क्योंकि बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? विभाव है। जिससे बन्धन होता है, वह भाव धर्म नहीं। धर्म से बन्धन नहीं होता। धर्म तो अविकारी निर्दोष परिणाम है। अपने चैतन्य के निर्मल आनन्द के (परिणाम हैं)। चैतन्य का भाव है, वह बन्ध का कारण नहीं होता। और

बन्ध का कारण होता है, वह धर्म नहीं है। आहाहा! समझ में आया? विभाव कहा न? **समस्त विभावपरिणाम...** कहा न? भाई! इसमें यह भी आ गया न? आहाहा!

(संवत्) १९८५ के वर्ष में हम (सम्प्रदाय में) थे, पहले उसमें थे न? इक्कीस वर्ष और चार माह स्थानकवासी साधु थे। हमारे पिताजी स्थानकवासी थे। स्थानकवासी समझे न? यह ढूंढिया! मुँहपत्ती (बाँधते हैं वे)। हमारे पिताजी (स्थानकवासी थे)। उसमें हमारा जन्म हो गया तो हम उसमें दीक्षित हुए। दीक्षित हुए, उसमें १९८५ का वर्ष था। हम दिगम्बर के सब शास्त्र देखते थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय में सब पढ़ते थे न! १९८५ के वर्ष! कितने वर्ष हुए? ४९, पचास में एक कम। व्याख्यान चलता था। बोटाद में 'बोटाद' सम्प्रदाय है। उसमें हम दीक्षित हुए थे और हमारी प्रसिद्धि तो पहले से बहुत है न! बहुत लोग, हजार-पन्द्रह सौ लोग व्याख्यान में! १९८५ का वर्ष, पौष महीना था। यह पौष महीना (चलता) है न? समग्र सभा में इतना कहा... ४९ वर्ष पहले, पचास में एक कम। सभा में बहुत पैसेवाले बैठते थे। लाखोंपति, पचास-पचास हजार वार्षिक आमदनीवाले सब सेठिया बैठते थे। हमने तो कहा कि भैया! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव धर्म नहीं है। उसमें थे। और जो पंच महाव्रत के परिणाम हैं, वे धर्म नहीं हैं, आस्रव है। खलबलाहट (हो गयी)! हमारी तो प्रसिद्धि बहुत थी, उसमें भी प्रसिद्धि थी न! छोटी उम्र में दीक्षा ली थी। तेईस-साढ़े तेईस वर्ष में (दीक्षा ली थी)। बहुत प्रसिद्धि थी। सेठिया तो कोई बोले नहीं, परन्तु एक गुरुभाई बैठे थे, उन्हें नहीं जँचा। वोसरे... वोसरे... (बोलने लगे)। यह श्रद्धा हमें नहीं चाहिए, ऐसा (उन्होंने) कहा। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है, भाई! पंच महाव्रत के भाव को भगवान तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय में आस्रव कहते हैं। बन्ध का कारण कहते हैं और जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी आस्रव है। आस्रव बिना बन्धन नहीं होता। इसलिए शुभभाव—तीर्थंकरगोत्र बँधने का कारण भी आस्रव—राग है। आहाहा! पचास वर्ष (पहले) की बात है। समझ में आया? बड़ी सभा थी....

१८६, १८६ कलश।

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः।।७-१८६।।

खण्डान्वय सहित अर्थ - 'अपराधवान् बध्येत एव' शुद्ध चिद्रूप अनुभवस्वरूप से भ्रष्ट है... भगवान आत्मा... आहाहा! शुद्ध चैतन्य निर्मल स्वरूप से भ्रष्ट है, वह जीव राग को अपना मानता है, इस कारण से **'बध्येत'—ज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा बाँधा जाता है ?** आहाहा! समझ में आया ? क्या कहा ? जो कोई शुद्ध चिद्रूप ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव से भ्रष्ट है। किस प्रकार ? वह कहेंगे। वह ज्ञानावरणदि कर्मों से बन्धन होता है।

कैसा है ? 'परद्रव्यग्रहं कुर्वन्' 'परद्रव्य' शरीर, मन, वचन, रागादि अशुद्ध-परिणाम... वे परद्रव्य हैं। आहाहा! शरीर तो मिट्टी है, धूल है, वह तो पुद्गल है, वह कहीं आत्मा नहीं, आत्मा तो भिन्न है, शरीर से भिन्न है, फिर मन से भिन्न है। यह जो मन है, मन... आठ पंखुड़ी का यहाँ मन है, विचार करने में निमित्त है, वह जड़ है और यह वचन बोलते हैं, वह भी जड़ है। आवाज उत्पन्न होती है, वह जड़ है, वह आत्मा नहीं। आहाहा! **शरीर, मन, वचन,...** उससे भिन्न और **रागादि अशुद्धपरिणाम...** और पुण्य-पाप के मलिन परिणाम, **उनका आत्मबुद्धिरूप स्वामित्व को...** वह मेरी चीज़ है, ऐसा माननेवाले को। राग मेरा है, पुण्य मेरा है, व्रत के परिणाम मेरे हैं, शरीर मेरा है, मन मेरा है, वचन मेरे हैं—ऐसा माननेवाले को। है ?

आत्मबुद्धिरूप स्वामित्व को करता हुआ। आहाहा! **'बध्येत'** उसे अपना मानता हुआ अज्ञानी कर्म से बँधता है, वह अपराधी है। आहाहा! गुनहगार है। दृष्टान्त देंगे। जैसे चोर पर की चीज़ चोरता है तो गुनहगार है; उसी प्रकार भगवान आत्मा अपना शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप को छोड़कर शरीर, वचन, मन और पुण्य-पाप के भाव को अपना मानता है, आत्मबुद्धि करता है, वह भी आत्मा के हैं और उनसे मुझे लाभ होगा, (ऐसा जो मानता है) वह गुनहगार-अपराधी है। आहाहा! है या नहीं ? आहाहा! समझ में आया ? क्या कहा ?

शुद्ध चिद्रूप अनुभवस्वरूप से भ्रष्ट है... किस कारण से ? **कैसा है ? 'परद्रव्यग्रहं कुर्वन्'** वह परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! जैसे चोर दूसरे की चीज़ ले लेता है, तो वह चोर है, गुनहगार है। उसी प्रकार भगवान आत्मा अपना चैतन्य अनन्त शान्ति का सागर भगवान, अपने स्वरूप को छोड़कर मन, वचन, काया और पुण्य-पाप के भाव को अपना मानता है, वह गुनहगार अपराधवान चोर है। यह अन्तर का चोर है, वह बाहर का चोर है। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है।

आत्मबुद्धिरूप स्वामित्व... कहा न? '**ग्रहं**' कहा न? राग को ग्रहण करता है। यह महाव्रत के परिणाम मेरे हैं। दया, दान का भाव आया, परन्तु वह राग मेरा है—(ऐसा मानकर) उसका स्वामी होता है। उसे आत्मबुद्धि में अपना मानता है, वह गुनहगार है और नये आठ कर्मों से बँधता है। आहाहा! है या नहीं? पण्डितजी! संस्कृत के प्रोफेसर हैं। जयपुर में संस्कृत के बड़े प्रोफेसर हैं। अभी वहाँ रहते हैं। प्रोफेसर-ब्रोफेसर सब शून्य है। आहाहा!

यहाँ तो चैतन्यमूर्ति प्रभु अन्दर भिन्न, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप की मूर्ति अर्थात् स्वरूप, उससे भ्रष्ट होकर मन, वचन और काया और अशुद्ध विकारी भाव में अपनेपन की बुद्धि करता है (अर्थात्) वह आत्मा है, आत्मा को लाभ का कारण है, (वह) आत्मा की चीज़ है (ऐसा माननेवाला) गुनहगार है, वह अपराधी प्राणी है, चार गति में भटकनेवाला है। आहाहा! समझ में आया? है? **आत्मबुद्धिरूप स्वामित्व को करता हुआ।** गुनहगार है।

अब दूसरी बात। '**अनपराधः मुनिः न बध्येत**' '**अनपराधः**' **कर्म के उदय के भाव को आत्मा का जानकर नहीं अनुभवता है...** आहाहा! जो कोई प्राणी कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए पुण्य के, पाप के भाव, कर्म के निमित्त से प्राप्त शरीर, वाणी, मन को अपने स्वरूप अनुभव नहीं करता, उसे अपना नहीं मानता, वह निरपराधी-अनपराधी जीव है। आहाहा! समझ में आया? है?

'**अनपराधः मुनिः न बध्येत**' '**अनपराधः**' **कर्म के उदय के भाव को आत्मा का जानकर नहीं अनुभवता है ऐसा है जो परद्रव्य से विरक्त...** परद्रव्य से विरक्त। रागादि भाव, परद्रव्य से विरक्त और अपने चैतन्यस्वभाव में रक्त है, वह अनपराधी है, वह अपराध करता नहीं। (जो) अपने चैतन्यस्वरूप से विरक्त और पुण्य-पाप के भाव में रक्त है, वह अपराधी-गुनहगार आठ कर्म का बन्धन करके भटकता है। आहाहा! भाषा तो समझ में आती है न? सेठ! भाषा तो सादी है, भाव तो बहुत गम्भीर है। मार्ग तो ऐसा है, भगवान! अरे! सुनने को मिलता नहीं, समझण में आता नहीं। आहाहा! अनन्त काल से परिभ्रमण करते-करते चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त बार जन्म धारण किये। आहाहा! इस सम्यग्दर्शन बिना। मिथ्यादर्शन-मिथ्याश्रद्धा अपराध—राग मेरा, वाणी मेरी, वचन मेरे, शरीर मेरा, पुण्य मेरा, पाप मेरा, पुण्य का फल यह धूल

(—संयोग) मिले (वे मेरे), लक्ष्मी मेरी—ऐसा माननेवाला गुनहगार अपराधी है। आहाहा! वह अपराधी गुनाह से आठ कर्म को बाँधता है।

निरपराधी जीव अपने आनन्दस्वरूप में अपनी चीज़ मानता है और रागादि भाव कि जिसमें पुण्यबन्ध होता है, वह राग भी मेरा नहीं, ऐसा (माननेवाला) निरपराधी प्रायः नये कर्म से बँधता नहीं और कर्म से छूटता है। समझ में आया? बात तो बहुत बड़ी है, भगवान! निवृत्ति नहीं, निवृत्ति नहीं। पूरे दिन धन्धा। पैसा कमाना, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन्धे में बाईस घण्टे पाप में रचे-पचे रहे, एकाध-दो घण्टे मिले, (उसमें) देवदर्शन करे और थोड़ा-बहुत पुण्य बाँधकर चला जाये। (आत्मा) क्या चीज़ है? और किस प्रकार वह चीज़ प्राप्त हो? और किस चीज़ को अपनी मानने से संसार में भटकना पड़ता है, उसका निर्णय करने का अवकाश नहीं। समझ में आया? यह कहते हैं।

अनपराधी मुनि। मुनि का अर्थ किया—**परद्रव्य से विरक्त सम्यग्दृष्टि जीव...** आहाहा! अन्दर अपनी चैतन्य चमत्कारी वस्तु भगवान विराजता है, वह मेरी चीज़ है और जितने दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव उत्पन्न होते हैं, वे मेरे नहीं, वे पर हैं, ऐसा (माननेवाला) अनपराधी जीव कर्म से बँधता नहीं, वह गुनहगार नहीं है। आहाहा! दुनिया में पर की चोरी करे वह गुनहगार कहने में आता है। यहाँ भी रागादि पर है, उन्हें अपना मानता है, वह भी गुनहगार है, ऐसा कहते हैं। परमात्मा के घर में वह गुनहगार है। आहाहा! समझ में आया? **कर्म के उदय के भाव को आत्मा का जानकर नहीं अनुभवता है, ऐसा है जो परद्रव्य से विरक्त सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड के द्वारा नहीं बाँधा जाता है।** आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार कोई चोर परद्रव्य को चुराता है, गुनहगार है, गुनहगार होने से बाँधा जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव परद्रव्यरूप है जो द्रव्यकर्म... जड़कर्म और **भावकर्म...** पुण्य-पाप के भाव और **नोकर्म...** शरीर, मन, वाणी को आत्मा जानकर **उनको आपा जान...** आत्मा जानकर **अनुभव करता है...** मेरे हैं, ऐसा मानता है। आहाहा! वह स्वरूप अनुभव से भ्रष्ट है। आहाहा! वह अपने चैतन्यस्वरूप से भ्रष्ट है और राग में रुक गया है, अपनी चीज़ को जानता नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)